महाभारतकालीन समाज

मूल-लेखक
सुखमय भट्टाचार्य

अनुवादिका
पुष्पा जैन

प्रस्तावना
डॉ० मोतीचन्द

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गाधी मार्ग
इलाहाबाद – १ द्वारा प्रकाशित

प्रथम सस्करण १९६६

हिंदी अनुवाद, १९६६
पुष्पा जैन

सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

मूल्य २५.००

लेखकीय भूमिका

शक संवत १८५९ मे मैं विश्वभारती के खोजकार्य मे नियुक्त हुआ था। कविगुरु रवीन्द्रनाथ के निर्देशानुसार महाभारत मे वर्णित तत्कालीन सामाजिक आचार-व्यवहार पर खोजकार्य शुरू किया। कुछ प्रबध लिखे जा चुके तो कविगुरु ने 'शिक्षा' नामक प्रबध देखने की इच्छा प्रकट की। इस प्रबंध को पढकर उन्होने उस पर दो मन्तव्य लिखे, जो उस ग्रथ के 'शिक्षा' प्रबध की पादटीका मे उद्धृत किये गये है।

रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के उपरान्त शक सवत १८६८ के वैशाख महीने मे ये सब सकलित प्रबध बगला भाषा के ग्रथ रूप मे 'महाभारतेर समाज' के नाम से प्रकाशित हुए। यह ग्रथ 'विश्वभारती खोज ग्रथमाला' के अन्तर्गत आ जाता है।

शक सवत १८८१ के कार्तिक महीने मे ग्रथ का द्वितीय सस्करण प्रकाशित हुआ। बगाली पाठक-पाठिकाओ ने इस ग्रथ को सादर ग्रहण करके मेरे श्रम को सार्थक बना दिया।

महाभारत भारतीय सभ्यता के प्राचीनकाल का इतिहास होने के साथ-साथ हिन्दुओ का धर्मग्रथ भी है। स्वय वेदव्यास ने इसे पचम वेद कहा है। विषयवस्तु की गुरुता एव आकृति की विशालता मे यह ग्रथ ससार का अद्वितीय ग्रथ है। इसकी उपमा ढूंढे नही मिलती। समुद्र के समान यह ग्रथ स्वय ही अपनी उपमा है। मनुष्य जीवन की ऐसी कोई अवस्था नही है, जिस पर महाभारत के दृष्टान्त या उपदेश लागू न होते हो। स्वय ग्रन्थकार ने इस ग्रथ के सबध मे जो कुछ कहा है, उसी से इसका काफी परिचय मिल जाता है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्।। आदि २।३९०

'जो महाभारत मे नही है वह भारत मे नही है" यह प्राचीन उक्ति व्यास-वचन की प्रतिध्वनि मात्र है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत प्रधानत इतिहास होते हुए भी भारतवर्ष का श्रेष्ठ धर्मग्रथ है। अध्यात्मशास्त्र के रूप मे भी इसकी तुलना का दूसरा ग्रथ नही मिलता। उपनिषद् व दर्शन आदि के चरम तत्व की आलोचना महाभारत मे ही सर्वापेक्षा अधिक हुई है। इसके अन्तर्गत वर्णित 'श्री-

मद्‌भगवद्‌गीता', 'सनत्सुजातीय,' 'मोक्षधर्म' आदि अशो की तुलना भी किसी दूसरे अध्यात्मशास्त्र से नही की जा सकती। महाभारत का आदर हर सम्प्रदाय ने सिर झुकाकर किया है। यद्यपि कौरव-पाडवो के युद्ध को लेकर ही महाभारत की रचना हुई है, तथापि युद्ध का वर्णन इसका गौण उद्देश्य रहा है। ऐतिहासिक घटनाओ एव उपाख्यानो के माध्यम से मनुष्य का हर अवस्था मे पथप्रदर्शन तथा सत्य का प्रचार ही महाभारत का प्रधान उद्देश्य है।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है—"देश मे जो विद्या, जो चिन्तनधारा इधर-उधर निक्षिप्त थी, यहाँ तक कि कही-कही लुप्तप्राय हो गई थी, उनको सग्रह करके सहेत करने की दृढ भावना किसी समय पूरे देश मे जाग्रत हुई थी। अपने आत्मोत्कर्ष के युग-व्यापी ऐश्वर्य को यदि अच्छी तरह न समझा जाय तो वह अनादृत व अपरिचित रहने के कारण क्रमश जीर्ण होकर विलुप्त हो जाता है। किसी काल मे इसी आशका ने देशभर मे चेतना की एक लहर ला दी थी और फिर अपने सूत्रछिन्न रत्नो को पुन ढूँढ कर, इकट्‌ठा करके फिर से सूत्रबद्ध करने की एव उसे हर काल के हर व्यक्ति के व्यवहार के लिए उत्सर्ग करने की एक प्रबल इच्छा व्याप्त हो गई थी। अपनी विराट् चिन्मयी प्रवृत्ति को फिर से समाज मे साक्षात् प्रतिष्ठित करने के लिए देश उत्सुक हो उठा था। जो विषय केवल कुछ विशिष्ट पडितो के अधिकार मे था, उसे अखड रूप मे जनसाधारण के समक्ष रखने का यह एक आश्चर्यजनक अध्यवसाय था। इसके अन्दर एक प्रबल चेष्टा, अक्लान्त साधना एव एक सम्पूर्ण दृष्टि थी। इस प्रयत्न की महिमा को शक्तिमयी प्रतिभा ने अपना लक्ष्य बनाया था, इसका स्पष्ट प्रमाण 'महाभारत' नाम मे मिलता है। महाभारत के महत् उज्ज्वल रूप को जिन्होने अपनी कल्पना मे देखा था उन्ही ने 'महाभारत' नामकरण किया था। वह रूप काल्पनिक होने के साथ-साथ भौमडलिक भी था। उन्होंने भारतवर्ष की आत्मा को अपनी आत्मा के अन्दर देखा था। उसी विश्वदृष्टि के प्रबल आनन्द मे उन्होने भारतवर्ष मे चिरकाल तक स्थायी रहनेवाली शिक्षा की प्रशस्त-भूमि तैयार कर दी। वह शिक्षा, धर्म, कर्म, राजनीति, तत्वज्ञान आदि के रूप मे बहुव्यापक रही। उसके बाद से भारतवर्ष ने अपने निष्ठुर इतिहास के हाथो आघात पर आघात सहे, उसकी मर्मग्रथि, बार-बार विश्लिष्ट हुई, दैन्य एव अपमान से वह जर्जर हो गया, किन्तु इतिहास-विस्मृत इस युग की उस कीर्ति ने ही अब तक लोक-शिक्षा की जलसिंचन पणाली को अनेक धाराओ द्वारा पूर्ण व सचल कर रखा है। गाँव-गाँव मे, घर घर मे आज भी इसका प्रभाव विद्यमान है। उस मूल उद्‌गम से यदि शिक्षा की यह धारा निरन्तर प्रवाहित न होती रहती, तो दुख, दारिद्रय व असम्मान से यह देश मनुष्यता को बर्बरता के अधकूप मे विसर्जित कर देता।

भारतवर्ष मे महाभारतीय विश्वविद्यालय के जिस युग का उल्लेख मैंने किया है, उस युग मे तपस्या थी, इसलिये उसका लक्ष्य भडार भरना नही था, उसका उद्देश्य था, सर्वजनीन चित्त का उद्दीपन उद्‌बोधन और चरित्रनिर्माण"।

उन्होने अन्यत्र कहा है—"ऐसा प्रतीत होता है मानो गगा और हिमालय की तरह ही रामायण और महाभारत भारतवर्ष के अग ही हैं। वाल्मीकि और व्यास उपलक्ष्य मात्र है।...भारत की धारा ने इन दो महाकाव्यो मे अपनी कथा व सगीत को बचाये रक्खा है। ..रामायण और महाभारत भारतवर्ष के चिरकालीन इतिहास है। ..एकान्तचित्त होकर श्रद्धा सहित विचार करना चाहिये कि हजारो वर्षों से सम्पूर्ण देश ने इन ग्रथो को किस रूप मे ग्रहण किया है। मैं चाहे कितना भी बड़ा समालोचक क्यो न होऊँ, किंतु यदि सम्पूर्ण देश की इतिहास प्रवाहित सर्वकालीन विचारधारा के आगे यदि मेरा मस्तक नत न हो तो वह औद्धत्य लज्जा का कारण है। रामायण और महाभारत को भी मैं विशेषतया इसी प्रकार देखता हूँ। इसके सरल अनुष्टुप छंद मे भारतवर्ष का हृत्पिण्ड हजारो वर्षो से धडकता आया है"।[१]

कविगुरु की इस सश्रद्ध समीक्षा के बाद महाभारत के संबध में और कुछ कहने के लिए नही रह जाता। हम तो इस कालजयी ग्रथ के सौंदर्य पर मुग्ध व विस्मित होकर केवल इसके रचयिता ऋषि कवि के चरणो मे अपना प्रणाम निवेदित करते है—

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविते धसे।

प्राच्य पडितो का सिद्धान्त है कि कौरव-पाडवो का युद्ध ईसा के जन्म से ३१०१ वर्ष पूर्व हुआ था और परीक्षित के शरीर-त्याग के बाद जनमेजय के सर्पसत्र से पहले महाभारत की रचना हुई थी। अर्थात् ईसा से ३०४१ वर्ष पूर्व महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना शुरू की और तीन साल मे यह रचना पूर्ण हुई। पाश्चात्य पडितो ने महाभारत को २००० वर्ष बाद का ग्रथ माना है। इस सबध मे प्राच्य पडितो का अभिमत ठोस तर्क व प्रमाणो पर आधारित है। महाभारत में आये ज्योतिष-वचनो की सहायता से भी उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। खोज के इच्छुक पाठक-पाठिकाओ को भारताचार्य, महामहोपाध्याय श्रीयुत हरिदास सिद्धान्तवागीश महाशय के महाभारत की भूमिका मे इन विषयो पर बहुत से तथ्य मिल सकते हैं।

उपाख्यान के भाग को मिलाकर महाभारत की श्लोकसख्या एक लाख है और उसे छोडकर चौबीस हजार। महाभारत का सक्षिप्त वृत्तान्त या सूची

---

१. 'प्राचीन साहित्य'।

अनुक्रमणिका अध्याय मे (आदि १ला अध्याय) डेढ सौ श्लोको मे वर्णित हुई है।

इस विशाल ग्रथ की रचना करके महर्षि व्यास ने सर्वप्रथम अपने पुत्र शुकदेव को यह पढाया, तदुपरान्त पैल, सुमन्त, जैमिनी और वैशम्पायन —इन चारो शिष्यो को इसकी शिक्षा दी। आदिपर्व के प्रथम अध्याय मे इन विषयो का विस्तृत वर्णन हुआ है।

महाभारत का प्रथम प्रचार तक्षशिला मे (पजाब के रावलपिडी जिला मे) जनमेजय के सर्पसत्र मे हुआ। व्यासदेव भी उस यज्ञ मे उपस्थित थे। महाराज जनमेजय और ब्राह्मणो के विशेष आग्रह पर महर्षि ने अपने निकट वैठे अपने शिष्य वैशम्पायन को महाभारत सुनाने का आदेश दिया। गुरु के आदेश से मुनि वैशम्पायन ने उस यज्ञ मे भारत-कथा सुनाई। वहाँ वहुत से मुनि, ऋषि व गुणी व्यक्ति उपस्थित थे। महाभारत की दूसरी आवृत्ति नैमिषारण्य मे, कुलपति शौणक के द्वादशवर्षी यज्ञ मे हुई। वहाँ वक्ता थे लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा और उपस्थित याज्ञिक व दर्शकगण श्रोता थे। अत 'महाभारतकालीन समाज' का मतलव आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व के समाज से हुआ।

महाभारत मे तीन स्तर देखने मे आते हैं। रचनाकाल मे वहुत पहले की घटनाओ व उपाख्यान आदि को भी इसमे स्थान मिला है—रामायण का वर्णन, नलोपाख्यान, सावित्री की कहानी आदि। प्राय प्रत्येक पर्व मे पुरातन इतिहास की बहुत सी कथाएँ लिपिबद्ध हुई हैं, विशेषत शाति और अनुशासन पर्व के भीष्म-युधिष्ठिर सवाद मे प्राचीन इतिहास के अनगिनत उदाहरण मिलते हैं। उन सव वर्णनो को प्राक्महाभारतीय स्तर रूप मे लिया जा सकता है। महाभारत मे वर्णित पात्र-पात्रियो के चरित्र एव तात्कालिक दूसरे इतिवृत्त को महाभारतीय स्तर रूप मे लिया जा सकता है। महाभारत की रचना के बाद अर्थात् कलियुग के आचार-व्यवहारो का भी थोडा सा वर्णन मार्कण्डेय सभास्या (वनपर्व) आदि मे मिलता है, इन प्रकरणो को परमहाभारतीय स्तर रूप मे लिया जा सकता है। अतएव समझना चाहिए कि प्राक्महाभारतीय समाज पाँच हजार वर्षों से भी प्राचीन है और परमहाभारतीय समाज महाभारत के रचनाकाल से दो-चार सौ वर्ष वाद का है। अर्थात् आज से साढे चार हजार वर्ष पूर्व के प्राय एक हजार वर्षों का भारतीय इतिहास महाभारत मे वर्णित हुआ है।

किसी-किसी प्राच्य व पाश्चात्य पडित ने महाभारत के बहुत से अशो को प्रक्षिप्त कहा है। यहाँ तक कि उन्होंने तो श्रीमद्भगवद्गीता को भी प्रक्षिप्त कहने से नही छोडा। किसी-किसी ने तो प्रक्षिप्त अश समझने का नया ढग भी निकाल

लिया है। जिस प्रकार यह कहना ठीक नही है कि इसमे कोई भी अंश प्रक्षिप्त नही है, उसी प्रकार यह कहना भी युक्तियुक्त नही है कि स्वार्थान्ध व्यक्तियो ने इसमे जहाँ-तहाँ अपने श्लोक जोड दिये हैं। मुद्रण प्रणाली के प्रचलन से पहले अनेक कारणो से मूल पाठ मे परिवर्तन और परिवर्द्धन का होना कोई विचित्र वात नही है। देशभेद, लिपिभेद, कीडो द्वारा खाये स्थान पर अनुमानिक सयोजन, कथक व पाठक द्वारा रचित क्रोडपत्र एव उनकी लिखी किंवदतियो का उनकी मृत्यु के उपरान्त दूसरे लेखको द्वारा मूल मे जोडा जाना आदि कारण अवश्य थे, अन्यथा पाठभेद, अध्याय व श्लोकों की सख्या मे असामजस्य नही रहता, किन्तु तब भी महाभारत जैसे वृहद् ग्रथ का प्रक्षिप्त अंश निर्धारित करना आसान काम नही है। विरोधी वचनो के समाधान की चेष्टा किये बिना ही उसे प्रक्षिप्त कहकर टाल देना भी एक प्रकार का दु साहस ही है। अपनी रुचि के विपरीत अश को प्रक्षिप्त कहकर अपना सिद्धान्त स्थापित करना ऐसे तो आसान है, परन्तु शास्त्र-समीक्षा की भारतीय पद्धति यह नही है। भारतीय पडित पद-वाक्य व प्रमाण शास्त्र (व्याकरण, पूर्वमीमासा और न्याय) की सहायता से शास्त्रो के पूर्णतया अन्तर्विरोधी अंशो के समाधान की भी चेष्टा करते हैं और अपनी इस चेष्टा मे बिल्कुल ही असफल होने पर हारकर उस विरोधी अश को प्रक्षिप्त कहते है। पूना के भडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित महाभारत के प्रकाशन-काल मे मैंने भी दीर्घकाल तक कार्य किया था। उस समय मुझे भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो की हस्तलिखित महाभारत की अनेक पाडुलिपियाँ पढने का अवसर मिला था। विभिन्न प्रदेशो की उन पाडुलिपियो मे मुझे तो कही भी आकाश-पाताल का अन्तर नही दिखाई दिया। दीर्घकाल का व्यवधान होने के कारण ग्रथ मे काफी परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ है यह तो सत्य है, किन्तु अब वेदव्यास रचित यथार्थ अश निकालना शायद बिल्कुल ही असाध्य है। और अपनी अक्षमता के कारण ही मैंने यह दु साहस नही किया।

मनुष्य के सघ को समाज कहते हैं। महाभारत मे मनुष्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। 'हसगीता' (शाति २९९वाँ अध्याय) मे उद्धृत है—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि"
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित"

अर्थात्—मैं एक गुह्य महत् तत्व वतलाता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नही है।

महाभारतकार ने मनुष्य को मनुष्य के रूप मे ही देखा है, उसे देवत्व मे उन्नीत

नही किया। स्वाभाविक व अस्वाभाविक बातो के विचित्र समावेश से महाभारत भरपूर है। देवता और मनुष्य की मित्रता, ऋषियो की तपस्या तथा उनका सामयिक स्खलन, वर और शाप का देना, स्त्री-पुरुष का नि सकोच मिलन, अस्वाभाविक जन्म-वृत्तान्त आदि अनेक प्रकार की घटनाओ का वर्णन होने के कारण महाभारत मानो मर्त्यलोक का ग्रथ होते हुए भी त्रिलोकवासियो का पाठ्यग्रथ बन गया है। इसके पात्र पात्रियो का जीवित चरित्र-चित्रण जितना विचित्र है, सामाजिक आचार-व्यवहार भी उतना ही विचित्र है, किन्तु उस काल के बहुत से आचार आज भी भारतीय हिन्दू समाज मे ज्यो के त्यो विद्यमान है यह देखकर बहुत ही आश्चर्य होता है। प्राचीनकाल से चले आ रहे इन आचरणो के माध्यम से हम इस काल के मनुष्य के बारे मे भलीभाँति समझ सकते हैं। महाकाल के निर्विकार साक्षी की तरह निरासक्त होकर महर्षि ने अपनी इस अपूर्व रस-समृद्ध सहिता की रचना की है। श्री कृष्ण को साक्षात् भगवान बताते हुए भी बीच-बीच मे उनके चरित्र मे मानवीयता दिखाई गई है। एक महामति विदुर के अलावा हर एक के चरित्र मे दो-चार दुर्बलताएँ अवश्य प्रस्फुटित हुई हैं। भीष्म, द्रोण, गाधारी, युधिष्ठिर कोई नही छूटा। सरल भाषा अपने जन्म का वर्णन करने मे भी सत्यनिष्ठ ग्रथकार का कठ कपित नही हुआ, यद्यपि उस युग मे भी कानीन पुत्र का समाज मे कोई बहुत अच्छा स्थान नही था। महर्षि व्यास की यह अपूर्व सत्यनिष्ठा महाभारत मे पद-पद पर दिखाई देती है।

रवीन्द्रनाथ के आदेश को शिरोधार्य करके मैंने महाभारतकालीन समाज का चित्र.कन करने की चेष्टा की है। मनुष्य का वास्तविक परिचय समाज द्वारा ही होता है। पादटीका मे उद्धृत प्रमाण शक सवत १८२६ मे कलकत्ता के बगवासी प्रेस से प्रकाशित प डित प्रवर पचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित महाभारत से लिये हैं।

महाभारत मे अठारह पर्व हैं यथा—आदि, सभा, वन, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शाति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासिक, मौषल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। हरिवश आदि ग्रथ महाभारत के परिशिष्ट माने जाते हैं, महाभारत मे हरिवश को परिशिष्ट रूप मे लिया गया है। हरिवश के तीन पर्व हैं—हरिवश, विष्णु और भविष्य। अपनी पुस्तक मे मैंने हरिवश से भी प्रमाण लिये हैं। पादटीका मे प्रमाण उद्धृत करते हुए पर्व के नाम का प्रथम अक्षर या प्रथम दो अक्षर लिये गये है। जैसे—विराट पर्व का साकेतिक 'वि', आदि पर्व का 'आदि' इत्यादि। जिस विषय मे एकार्थक बहुत सी उक्तियाँ महाभारत मे मिलती है, वहाँ वक्तव्य के समर्थन मे दो-एक उक्तियाँ सम्पूर्ण लेकर बाकी के पर्व, अध्याय व श्लोक-सख्या एक साथ दे दी है।

प्राय. तीन वर्ष पूर्व श्रीयुत पद्मकुमार जैन का एक प्रस्ताव आया था, जिसमे उन्होने 'महाभारतेर समाज' का अपनी पत्नी श्रीमती पुष्पा जैन से अनुवाद कराकर प्रकाशित करने की अनुमति माँगी थी। मैंने यह प्रस्ताव सोत्साह स्वीकार कर लिया था।

इस ग्रथ के अनुवाद मे श्रीमती पुष्पा जैन ने यथोचित सतर्कता बरती है। बगला के दूसरे सस्करण मे थोडा-बहुत परिवर्तन व परिवर्धन हुआ था, उसी सस्करण का हिन्दी अनुवाद किया गया है।

अधिक से अधिक पाठक इस ग्रथ को पढे इसी से मेरा, जैन महाशय का और उनकी पत्नी का श्रम सार्थक होगा। इति।

२५ वैशाख
शक सवत १८८१

—श्री सुखमय भट्टाचार्य
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शाति निकेतन, पश्चिम बगाल

प्रस्तावना

महाभारत को प्राचीन भारतीय संस्कृति, इतिहास धर्म, राजनीति, तत्वज्ञान तथा उपाख्यानों का खजाना माना गया है। भारतीय जीवन-धारा का कोई भी ऐसा अंग नही है जिसे व्यास ने न छुआ हो और जिसकी व्याख्या न की हो इसीलिए कहा गया है **व्यासोच्छिष्ठं जगत्सर्वं**। पौराणिक विश्वास तो यही है कि व्यास ने स्वय महाभारत की एक ही समय मे रचना की पर आधुनिक खोजो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाभारत का यह रूप एक समय का न होकर सदियो मे परिवर्धित हुआ। जैसे-जैसे भारतीय सभ्यता विकसित होती गई और उसकी विचारधाराओ मे उन्नति होती गई, तथा जैसे-जैसे सास्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमियो मे परिवर्तन होते गये वैसे-वसे ही महाभारत मे विकास की ये सब सामग्रियाँ एकत्रित होती गई। महाभारत की विचारधाराओं और भौगोलिक आधारो मे जो विसंगतियाँ पाई जाती है उन सबका मुख्य कारण यही है कि महाभारत एक कालिक न होकर बहुकालिक है। तथा उसमे एक ही विचारधारा को प्रश्रय न देकर अनेक विचारधाराओ को जिनका आपस मे मेल नही खाता था पर जिनका भारतीय तत्वज्ञान से अविच्छिन्न सबध है प्रश्रय दिया गया है।

पर महाभारत केवल दर्शन या तत्वज्ञान और धार्मिक विचारो का ही पुजीकरण नही है। महाभारत के सारे प्रासाद की रचना मानवता की नींव पर उठाई गई है इसीलिए इसके पात्र देवता न होकर मनुष्य है और मानव मे जो सारी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ होती है उनमे है। मानवता को ही धर्म का प्रतीक मानने के कारण व्यास ने धर्म की व्याख्या ही कुछ दूसरे तरीके से की है। व्यास के अनुसार धर्म वाह्याचारों और विश्वासो का प्रतीक न होकर वह शक्ति है जो समाज को धारण करती है। तथा जिसके आधार पर समाज का सगठन होता है तथा सामाजिक व्यक्तियो का एक दूसरे के साथ मे सबध का निराकरण होता है। इसीलिए व्यास ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है—**धारणात् धर्म मित्याहु** अथवा **नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजा**। व्यास का धर्म मानवधर्म था और इसीलिए महाभारत के पात्र मानव हैं। मानवता का उनकी दृष्टि मे इतना मूल्य था कि उन्होने मनुष्य को देवताओ से भी बडा मानकर कहा—नहि **मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्**—मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नही है।

मानवता को ही सबके ऊपर रखने के कारण महाभारत मे उन सब बातो का उल्लेख हुआ है जिनसे मानव-जीवन का निकटतर सबध है, यह जीवन एकागी न होकर बहुमुखी है जिसके अन्तर्गत विवाह-पद्धति, नारी-जीवन और नारी का स्थान, सस्कार, चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रम, शिक्षा, कृषि और पशुपालन, शिल्प, वेषभूषा तथा शृगार-पटार, पारिवारिक व्यवहार, व्यापार, अतिथिसेवा, धर्म, उपासना, राजधर्म, दर्शन इत्यादि सभी बाते आ जाती है। इन सब विषयो पर पडित गुणमय भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक मे विस्तारपूर्वक विचार किया है तथा महाभारत से ही उद्धरण देकर उन विषयो की पुष्टि की है। उनकी शैली इतनी रोचक है कि जिस विषय को वे हाथ मे लेते हैं उसका सजीव चित्र सामने खडा हो जाता है। पर ऐतिहास दृष्टिकोण से महाभारत का अध्ययन करनेवालो के सामने यह प्रश्न बराबर बना ही रहता है कि शास्त्रीजी ने महाभारत के आधार पर भारतीय जीवन, राजधर्म और तत्वज्ञान के जो पहलू हमारे सामने उपस्थित किए है क्या वे एक ही युग के है, अथवा भिन्न भिन्न युगो की परपराओ की कडियाँ जोडकर समाज और धर्म के चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। इसमे सदेह नही कि महाभारत मे अनेक स्तर है और उन स्तरो के कारण विचारों मे तथा सामाजिक और राजनीतिक विचारधाराओं मे असगतियाँ भी दीख पडती हैं। इन स्तरो का निराकरण कैसे किया जाय और फिर उन्हे एकत्रित करके युग-विशेष मे भारतीय सस्कृति का चित्र कैसे खीचा जाय यह प्रश्न हमारे सामने बराबर बना रहेगा। श्री भट्टाचार्य का प्रयत्न इस दृष्टि से स्तुत्य है कि उन्होंने प्रस्तुत सामग्री के आधार पर महाभारत का विश्लेषण करके प्राचीन भारत का एक सागोपाग चित्र उपस्थित किया है। और इस तरह श्री हापकिन्स के काम को आगे बढाया है।

पर महाभारतकालीन समाज का चित्र खीचने के पहले यह आवश्यकता अधिक जान पडती है कि जिस समाज का शास्त्रीजी ने चित्र खीचा है उसके भौगोलिक आधार क्या थे, उस समाज का बृहत्तर भारत तथा निकटपूर्व के देशो से क्या सबध था तथा भारत की महाजाति के सगठन मे समय-समय पर मध्य एशिया और ईरानी नस्ल के कबीलो ने क्या योगदान दिया इस सबध मे लोग जाने। सभापर्व मे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ प्रकरण तथा पाडवो के दिग्विजय यात्रा के प्रकरणों से हमे उस भारतीय सस्कृति का जो चित्र मिलता है जिसका विस्तार भारत की भौगोलिक सीमा तक ही स्थिर न होकर वक्षु और परिवक्षु प्रदेश तथा द्वीपातरो तक फैला हुआ था तथा यहाँ के व्यापारी स्थल मार्ग से एशिया माइनर मे अतारवी तक जाते थे तथा समुद्री व्यापारी लाल सागर होकर स्थल मार्ग से यवनपुरी यानी सिकदरिया तक पहुँचते थे। इतना ही नही युधिष्ठिर को भेंट देने वालो मे केवल इस देश के

लोग ही नही थे। उनमे शक, पह्लव, दरद, कक, हूण इत्यादि अनेक मध्य एशिया के लोग भी थे जो न केवल समय-समय पर इस देश मे आकर बस भी जाते थे, वे अपने देशो से भारत के साथ बराबर व्यापारिक और सास्कृतिक सबध कायम करने के लिए प्रयत्नशील भी रहते थे। स्मृतिकार इन विदेशियो के उन आचार-विचारो से जिनका भारतीय आदर्शों से मेल नही खाता था असतुष्ट होकर उनकी भर्त्सना करते थे। महाभारत मे भी इनकी कोई विशेष प्रशसा नही की गई है पर ऐतिहासिक और पुरातात्विक दृष्टि से इस बात मे सन्देह नही कि भारतीय हिन्दू समाज ने जो रूढिगत होता जा रहा था इन आगतुको से एक नई सस्कृति और एक नया दृष्टिकोण पाया जिसकी स्पष्ट छाप हम भारतीय जीवन और कला के अनेक अगो पर स्पष्ट रूप से देख सकते है।

इसमे मुझे जरा भी सन्देह नही है कि महाभारत सबधी अनेक विवादग्रस्त प्रश्नो के बावजूद प० सुखमय भट्टाचार्य ने महाभारतकालीन समाज का जो चित्र हमारे सामने रखा है वह विद्वत्तापूर्ण है। इससे महाभारत सम्बन्धी अध्ययन को प्रोत्साहन मिलेगा ऐसी आशा की जा सकती है।

इस ग्रथ की अनुवादक श्रीमती पुष्पा जैन के सबध मे भी कुछ कहना अनुचित न होगा। उन्होंने ऐसी सरल और सुबोध हिन्दी मे इस बगला पुस्तक का अनुवाद किया है कि इसके पढने वाले को मूलग्रथ की भाषा का आनद आ जाता है।

प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई। —(डॉ०) **मोतीचन्द**
३१-५-१९६६

अनुवादिका के दो शब्द

हिन्दी पाठकों के समक्ष श्री सुखमय भट्टाचार्य के बगला ग्रथ 'महाभारतेर समाज' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। अपनी प्रथम पुस्तक '१२ बगला श्रेष्ठ कहानियाँ' के प्रकाशन के बाद मैं इस उलझन मे थी कि अब कौन सी पुस्तक हाथ मे लूँ। उपन्यास, कहानी की ओर कोई विशेष झुकाव न था और कोई ठोस कार्य करना चाहती थी। मेरे पतिदेव ने पडितजी की इस पुस्तक के अनुवाद का आग्रह करते हुए कहा कि इस अनुवाद के प्रकाशन से हिन्दी भाषा की एक बडी कमी पूरी हो जायेगी।

मुझे सदेह था कि मैं लेखक व पाठको के साथ न्याय कर पाऊँगी या नही। इस उलझन से छुटकारा दिलाया हिन्दी जगत के देदीप्यमान तरुण लेखक स्वर्गीय डा० रागेय राघव ने, जो अपने जीवन के अतिम काल मे अपने असाध्य रोग का उपचार कराने बम्बई आये थे और कुछ काल के लिए हमारे साथ ठहरे थे। यह अनुवाद उन्ही की पुण्य स्मृति को समर्पित है। उनकी दी हुई प्रेरणा आज भी निरतर व अबाध कार्य के लिए प्रेरित करती रहती है।

किसी भाषा की किसी पुस्तक को अनुवाद के लिए हाथ मे लेने पर अनुवादक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह लेखक और पाठक के साथ पूरा न्याय करे। मैंने इस अनुवाद मे पूरा प्रयत्न किया है कि लेखक को यह महसूस न हो कि जो कुछ वह कहना चाहते थे, उसे मैं अच्छी तरह व्यक्त नही कर पाई और पाठक कही इससे ऊब कर इसे ताक पर उठाकर न रख दे। अनुवाद मे बहुत से शब्द ऐसे हैं जो पाठको को कुछ अप्रचलित व नये लगेगे; लेकिन मुझे बाध्य होकर वे शब्द उसी प्रकार रखने पडे है, जैसे कि मूल पुस्तक मे थे। उन शब्दो के सरल पर्यायवाची शब्द ढूँढने को मैंने बहुत कोशिश की परन्तु समानार्थक शब्द न मिलने पर मैंने उन्हे ज्यो का त्यो रखना उचित समझा। एक चीज पाठको के समक्ष और आयेगी वह है पुनरावृत्ति। लेकिन जानते हुए भी मुझे ये पुनरावृत्तियाँ ज्यो की त्यो रखनी पड़ी है। पुस्तक के विषय को देखते हुए और अनुवादक होने के नाते मुझे यह अधिकार नही था कि मैं अपनी ओर से कुछ घटा या बढा सकूँ।

'महाभारत' के उद्गम, विकास, काल और भाषा से संबंधित साहित्य अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं मे तो प्रचुर मात्रा मे प्राप्य हैं, परन्तु हिन्दी मे इस प्रकार की कोई भी पुस्तक देखने मे नही आई जिसमे महाभारतकाल के आचार-व्यवहार, अर्थ-काम आदि जीवन के समस्त पहलुओ पर विस्तृत प्रकाश डाला गया हो। प्राच्य विद्या विशेषज्ञ सौरेन्सन, बार्थ, सिल्वेंलवी, पिश्चैल, जैकोवी, वाप, औल्डन बर्ग, हौपकिन्स, लास्सैन, वेवर, लुडविग तथा विन्टरनिट्स आदि अधिकारियो ने महाभारत के अलग-अलग अंगो का तो विवेचन किया है और विवाद भी खडे किये हैं, परन्तु जहाँ तक इस अल्पविज्ञ अनुवादिका को सूचना है, किसी एक ही पुस्तक मे इतने विस्तार से महाभारत ग्रंथ पर ही आधारित तत्कालीन समाज का चित्रण किसी ने भी नही किया है जितना प० सुखमय भट्टाचार्य जी ने। मराठी के महान लेखक और विद्वान चिंतामणि वैद्य की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'महाभारत मीमासा' के नाम से ३० वर्ष से भी अधिक हुए प्रकाशित हुआ था, जो अब अप्राप्य है। गीता प्रेस की ओर से महाभारत की नामानुक्रमणिका प्रकाशित हुई है और सौरेन्सन का मूल्यवान ग्रंथ भी 'महाभारत की नामानुक्रमणिका' के नाम से हाल ही मे प्रकाशित हुआ है। पर हिंदी मे अब तक इस विषय की कोई पुस्तक उपलब्ध नही है। आशा है कि हिन्दी-जगत इसका स्वागत करेगा।

अंत मे मैं पंडित जी को आभार प्रदर्शित करती हूँ कि उन्होने इस ग्रंथ के अनुवाद की अनुमति दी और पुस्तक के अनुवाद मे अपना पूर्ण सहयोग दिया। उन सब विद्वानो के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होने अपनी मूल्यवान सम्मतियाँ देकर अनुवाद मे सहायता की और कठिनाई पडने पर उसे दूर करके निरन्तर आगे बढने के लिये उत्साहित किया। डा० मोतीचंद तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का तो मैं जितना भी आभार प्रकट करूँ थोडा है। मेरे इस प्रयास की सफलता का श्रेय तो वास्तव मे आप लोगो को ही है। पुस्तक का विश्लेषण इतनी अच्छी तरह से करके आपने पाठको के लिये सहज मार्ग बना दिया है। मैं तो हृदय से आभारी हूँ कि आप लोगो ने मेरा उत्साह बढाते हुए भविष्य मे आगे कार्य करते रहने की प्रेरणा दी। लोकभारती प्रकाशन संस्था और साहित्य सम्मेलन प्रेस को धन्यवाद है कि उन्होने पुस्तक के मुद्रण मे विशेष रुचि दिखाई व सतर्कता बरती।

—पुष्पा जैन

अनुक्रम

● प्रथम खण्ड

● द्वितीय खण्ड

● तृतीय खंड

प्रथम खण्ड

विवाह (क)

भारतीय सामाजिक ढाँचे मे विवाह का स्थान सर्वप्रथम है। इस कारण 'विवाह' से ही हमारी आलोचना आरभ होती है।

सुदूर प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष का स्वैराचार—समाज मे विवाह-प्रथा अनादिकाल से चली आ रही हो, ऐसी बात नही, नर-नारी का यथेच्छ मिलन ही प्राचीन प्रथा थी। नारी का बहुत से पुरुषो के प्रति एव पुरुष का बहुत सी नारियो के प्रति आकृष्ट होना सामाजिक रूप से दोष नही माना जाता था। बल्कि इस प्रकार के स्वैराचार को ही उस युग मे धर्म के रूप मे ग्रहण किया जाता था। श्रुति मे भी देखा जाता है कि वामदेव्य व्रत मे समागमार्थिनी नारी की मनोवासना पूर्ण करना धर्मकृत्यो मे गिना जाता था।

स्वैराचार ही प्राकृतिक है—पशु-पक्षी भी चिरकाल से इसी प्रकार के व्यवहार के अभ्यस्त है। उनमे वह प्राचीन प्रथा वैसी ही चली आ रही है, उसमे कोई परि-वर्तन नही हुआ है।

महाभारत के समय भी उत्तर कुरु मे यही आचार था—उत्तर कुरु मे यह प्रथा काफी दिनो तक वर्तमान रही। पाडु की उक्ति से पता लगता है कि उनके राजत्वकाल मे भी उत्तरकुरु मे विवाह-प्रथा प्रचलित नही हुई थी। इस प्रकार के आचरण को स्त्रियो के प्रति विशेष अनुग्रह बताया गया है।[1]

श्वेतकेतु द्वारा विवाह-मर्यादा की स्थापना—कालान्तर मे समाज मे विवाह-प्रथा शुरू हुई। उद्दालक नामक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम विवाह-प्रथा का नियम बनाया। कहा गया है कि एक बार श्वेतकेतु अपने माता-पिता के पास बैठे थे। उसी समय एक ब्राह्मण वहाँ आया और उनकी माँ का हाथ पकड़कर

---

१. अनावृताः किल पुरा स्त्रियः आसन् वरानने। इत्यादि। आदि १२२।४-८
द्रष्टव्य नीलकंठ।
अनावृताः स्त्रियः सर्व्वा नराश्च वरवर्णिनी।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः॥ वन ३०६।१५
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते।
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्म्मः सनातनः॥ आदि १२२।७

बोला, 'चलो, हम लोग चलें।' श्वेतकेतु को उस अज्ञातकुलशील ब्राह्मण की इस अशिष्टता पर अत्यन्त क्रुद्ध होते देख उद्दालक बोले, 'वत्स, क्रुद्ध मत होओ; स्त्रियाँ भी गाय की तरह आवरणहीना एव स्वैराचारिणी होती है।'

ऋषिपुत्र पिता के वाक्यो से शान्त नही हुए। वे और भी क्रुद्ध होकर बोले, "मैं यह नियम बनाता हूँ कि अब से मनुष्य समाज मे स्त्री-पुरुष दोनो मे से कोई भी यौन व्यापार मे स्वच्छदाचरण को प्रश्रय नही दे सकेगा। मेरा नियम उल्लघन करने वाले को भ्रूणहत्या का पाप लगेगा। लेकिन जो नारी पुत्रोत्पादन के निमित्त पति का आदेश मिलने पर भी दूसरे पुरुष के साथ सभोग न करके आदेश का उल्लघन करेगी, उसी पाप की भागिनी होगी।"[१]

दीर्घतमाकर्त्तृक नारियो के लिये एकपतित्व-विधान—दीर्घतमा नामक एक ऋषि जन्मान्ध थे। उन्होने प्रद्वेषी नाम की किसी सुन्दरी ब्राह्मण कन्या से पाणि-ग्रहण किया था। कामधेनु के पुत्र से गोधर्म का अध्ययन करके वे उसी तरह के (प्रकट मैथुन) आचरण मे प्रवृत्त हुए। उनके इस अशिष्ट आचरण से क्रुद्ध होकर आश्रम के मुनियो ने हर तरह से उनका साथ छोड दिया। प्रद्वेषी को भी उन पर पहले जितनी श्रद्धा नही रही। अध दुर्विनीत पति उन पर ही आश्रित थे। एक दिन उन्होने पति से कहा, "मैं अब तुम्हारा भरण-पोषण नही कर सकूँगी।" पत्नी के कठोर वचनो से क्रुद्ध होकर दीर्घतमा बोले, "मैने अब से यह नियम बना दिया कि कोई भी स्त्री कभी भी एक से ज्यादा पति नही रख सकेगी। पति के जीवित रहते या मृत्यु के बाद जो नारी दूसरे पुरुष को ग्रहण करेगी, वह समाज द्वारा निन्दित होगी। पतिहीना नारियाँ किसी भी ऐश्वर्य का उपभोग नही कर पायेगी।"[२]

दीर्घतमा के अनुशासन का व्यतिक्रम—दीर्घतमा कृत नियम महाभारत की समसामयिक समाज-व्यवस्था मे कोई बहुत आदृत नही हुए। इस विषय पर आगे आलोचना होगी।

ऋतुकाल छोड़कर स्वच्छन्द विहार—ऋतुकाल के दिनो को छोडकर नारियाँ इच्छानुकूल विहार कर सकती थी, केवल ऋतुकाल मे पति के अलावा दूसरे पुरुष का ससर्ग नही करती थी, यह नियम भी कभी समाज मे प्रचलित था।[२क]

---

१. मर्यादेयम् कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना। इत्यादि। आदि १२२।१०-२०

२. जात्यन्धो वेदवित् प्राज्ञः पत्नी लेभे स विद्यया। इत्यादि। आदि १०४।२३-३७

२ (क) ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रिया भर्त्ता पतिव्रते। इत्यादि। आदि १२२।२५, २६

विवाह संस्कार और उसकी पवित्रता—विवाह स्त्री व पुरुष का एक विशेष सस्कार है। यह बहुत ही पवित्र बन्धन है। महाभारत के 'आश्रम धर्म' एव 'पतिव्रताधर्म' की आलोचना मे इस विषय पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा। गार्हस्थ्य धर्म की समस्त सुख-शान्ति व कर्त्तव्यनिष्ठा इसी पवित्र बधन पर आधारित है।

विवाह का प्रधान उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति—विवाह का प्रधान उद्देश्य पितृऋण का परिशोध करना है। सन्तानोत्पत्ति द्वारा वह ऋण उतरता है। पितरो की अविच्छिन्न सततिधारा की रक्षा करने से ही वे प्रसन्न होते है। (चतुराश्रम प्रकरण देखिए)।

गृहस्थ के लिये विवाह एक आवश्यक कर्त्तव्य—ब्रह्मचर्य-पालन के बाद जो गृहस्थ होना चाहता हो, पत्नी ग्रहण करना उसके लिये अनिवार्य है। जरत्कारु के साथ उनके पितृगण का जो कथोपकथन वर्णित है, उसमे स्पष्टत उल्लिखित है कि गृहस्थ के लिये स्त्री-ग्रहण एक आवश्यक कर्त्तव्य है, नही तो पितृगण नरकगामी होते हैं।[१]

पुत्रलाभ की श्लाघ्यता—जगत मे जितने भी पार्थिव लाभ हैं, उन सबमे पुत्रलाभ ही सबसे अधिक श्लाघनीय है। धर्मपत्नी द्वारा पुत्रोत्पत्ति होने से वश की अविच्छिन्न सतति-धारा रक्षित होती है।[२]

एकमात्र पुत्र के विवाह की अपरिहार्यता—जो व्यक्ति अपने पिता का एकमात्र पुत्र हो, उसके लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य निषिद्ध है। पुत्रोत्पत्ति के निमित्त उसे पत्नीग्रहण करनी ही होगी। जरत्कारुतत्पितृसवाद मे यह बात बारबार कही गई है।[३]

द्वापरयुग से स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तानोत्पत्ति—कहा गया है कि सत्ययुग मे मनुष्य की मृत्यु स्वेच्छाधीन थी। यम का भय बिल्कुल नही था। उस काल मे

---

१. आदि १३ वाँ अ०।
रतिपुत्रफला नारी। सभा ५।११२, उ० ३८।६७
उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा। उ० ३७-३९

२. विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद् विशिष्यते॥ अनु ६८।३४
कुलवशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन्। आदि ७४।९८
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य। वन १९९।४

३. आदि १३ श अ। आदि ४५ श और ४६ श अ०।

सकल्प करते ही सन्तान की उत्पत्ति हो जाती थी। त्रेतायुग मे भी मैथुनधर्म का प्रचलन नही हुआ था, नारी के स्पर्शमात्र से ही सन्तान की उत्पत्ति हो जाती थी। द्वापरयुग मे आकर स्त्री-पुरुष का सयोग पहले-पहल शुरू हुआ। (ये सब उक्तियाँ युक्तियुक्त हैं कि नही, यह विद्वानो के लिये विवेचनीय हैं)। पुत्रोत्पत्ति के निमित्त स्त्रीग्रहण के प्रचलन को भी तभी से समाज मे स्थान मिला।[1]

सभवत बहुत प्राचीनकाल मे विवाह-प्रथा समाज मे व्यापक रूप से प्रचलित नही हुई, इस कारण ही भिन्न-भिन्न युग मे व्यवहारवैषम्य का उल्लेख है।

साधारण स्त्री-पुरुषो के लिये विवाह न करना कोई अच्छा आदर्श नहीं था—सौ मे से निन्यानबे स्त्री-पुरुष उस काल मे विवाहबधन मे आबद्ध होते थे। जो स्त्री-पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे, उनकी बात अलग थी, उनके प्रति साधारण मनुष्यो की अगाध श्रद्धा थी। उदाहरण के लिये देवव्रत भीष्म व तपस्विनी सुलभा का नाम लिया जा सकता है।

परस्त्री मे आसक्ति अतिशय निन्दित—परन्तु जो विवाह का दायित्व ग्रहण न करके स्वच्छद रूप से विचरण करते थे, वे समाज मे अतिशय घृणा के पात्र समझे जाते थे। परस्त्री मे आसक्ति इहलोक व परलोक दोनो के लिये अकल्याण-कारी है। इसलिए जो गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते थे, उन्हे विवाह करना ही पडता था। विवाह का बधन बहुत ही पवित्र समझा जाता था। भार्या को सहधर्मिणी कहा जाता था।

भार्या ही त्रिवर्ग का मूल—"भार्या ही मनुष्य के त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम-प्राप्ति का प्रधान साधन है"—आदि असख्य वाक्य विवाह के समर्थन मे कहे गये है। धर्मचारिणी भार्या के साथ मिलकर ससारयात्रा का निर्वाह करने से धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) तीनो एक साथ प्राप्त होते हैं। गृहस्थधर्म मे त्रिवर्ग के बीच परस्पर कोई विरोध नही है। एकमात्र पतिव्रता भार्या की सहायता से पुरुष धर्म, अर्थ व काम रूप त्रिवर्ग का एक साथ उपभोग कर सकता है।[2]

---

१. यावद् यावदभूच्छ्रद्धा देह धारयितुम् नृणाम्।
तावत्तावदजीवस्ते नासीद् यमकृत भयम्॥ इत्यादि। शा २०७।३७-४०

२. परदारेषु ये सक्ता अकृत्वा दारसग्रहम्।
निराशाः पितरस्तेषा श्राद्धकाले भवन्ति हि॥ इत्यादि। अनु १२९।१०२
अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। इत्यादि। आदि ७४।४१-४८
यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामाना त्रयाणामपि सगम॥ वन ३१२।१०२

विवाह (क)

धर्मपत्नी का स्थान उच्च—समाज की शुचिता एवं अन्यान्य नाना प्रकार की उन्नति का प्रधान हेतु विवाह-प्रथा है, यह उस समय के मनीषियो ने विशेष रूप से सोचा था। धर्मपत्नी को उन्होने जो गौरव दिया है, वह प्राचीन समाज की सभ्यता का एक उज्ज्वल चित्र है, इसमे सन्देह नही है। विवाह-सस्कार द्वारा गृहस्थ जीवन को मधुर बनाने का आदर्श बहुत जगह बहुत रूपो मे प्रकट हुआ है।

नारी का उज्ज्वल रूप—नारी के कन्या, सहधर्मिणी व माता के रूप मे असाधारण स्नेह, प्रेम व भक्ति का जो आश्चर्यजनक निदर्शन मिलता है, वही असल मे उस समय के समाज का एक उज्ज्वल पवित्र चित्र हमारी आँखो के सामने उपस्थित करता है।

गृहस्थ का दायित्व—पति-पत्नी के प्रणय मे भी अखिल विश्व के कल्याण का दायित्व निहित था। गृहस्थाश्रम का दायित्व कितना अधिक था, यह आगे के प्रकरण मे (चतुराश्रम) विस्तृत रूप से बताया जायगा। केवल इन्द्रियो की परितृप्ति के उद्देश्य से विवाह के कर्त्तव्य का स्थिरीकरण नही हुआ था। परिपूर्ण मानव-जीवन-यापन करना ही उसका उद्देश्य था। (इस विषय मे 'नारी प्रबध' देखिए) भार्या और गार्हस्थ्य सबधी अध्यायो को पढने से उस समय के समाज की विचारधारा का आदर्श अच्छी तरह समझा जा सकता है।

पति व पत्नीवाचक कुछ शब्दो के अर्थ—पतिवाचक व पत्नीवाचक कई शब्दो के व्युत्पत्तिगत अर्थ भी उल्लिखित है। पति भार्या का भरण-पोषण व प्रतिपालन करे, ऐसा भर्ता व पतिशब्द मे निर्देश किया गया है।[1] पत्नी को पुत्र प्रदान करने के कारण पति को 'वरद' कहा जाता है।[2] पत्नी पुरुष द्वारा पोषित है, इस कारण उसे 'भार्या' कहा जाता है।[3] पति (शुक्र रूप मे) स्वय भार्या के गर्भ मे प्रवेश करके पुत्ररूप मे जन्मग्रहण करता है, इस कारण पत्नी को 'जाया' कहा गया है।[4]

---

१. भार्याया भरणाद् भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः ॥ आदि १०४।३०।—शा २६५।३७। अश्व ९०।६२

२. पुत्रप्रदानाद्वरदः। अश्व ९०।५३

३. भर्तव्यत्वेन भार्या च। शा २६५।५२

४. भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः॥ आदि ७४।३७
आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत। वन १२।७०। वि० २१।४१

पत्नी सदा आदर की पात्री है, इसलिये उसे 'दारा' कहा गया है।[१] पति के व्यसनी होने से पत्नी दुखी होती है, इसलिये उसे 'वासिता' कहा गया है।[२]

मातृवाचक कुछ शब्दो की निरुक्ति—जठर मे धारण करती है, इसलिये माता को 'धात्री', जन्म की हेतु है, इसलिए 'जननी', सन्तान के अगो का पोपण करने के कारण 'अम्बा', वीरपुत्र प्रसव करने के कारण 'वीरसू', और शिशु की सुश्रूषा करने के कारण 'शुश्रु' नामो मे अभिहित किया गया है।[३]

विवाह की अवस्था का स्थिरीकरण—वर व कन्या की उम्र के सवध मे महाभारतकार ने वहुत सक्षेप मे दो-एक वातें कही हैं। तीस वर्ष का वर दस वर्प की वयस्का, एव इक्कीस वर्ष का वर सात वर्ष की नग्निका से पाणिग्रहण करे। आचार्य गौतम ने समावर्तन काल मे प्रौढ शिष्य उतक से कहा था, "यदि तुम आज पोडशवर्पीय युवक होते, तो मैं अपनी कन्या को तुम्हें समर्पित कर देता।" इस उक्ति से पता चलता है कि पुरुष सोलह साल की अवस्था मे भी विवाह कर सकता था।[४]

नग्निका विवाह एक भी नहीं—अजातरजस्का, अनागतयौवना कुमारी का विवाह करना ही शास्त्रीय विघान था। किन्तु समाज मे इस आदर्श का वहुत कम पालन हुआ। विवाह के सव चित्र युवक-युवती विवाह के मिलते है। वालिका विवाह एक भी नजर मे नही आता।

महाभारत की महिलाएँ यौवन-काल मे विवाहित—महाभारत मे जिन प्राचीन इतिहासो का उल्लेख हुआ है, उन सवसे पता लगता है कि दमयन्ती, सावित्री, शकुन्तला, देवयानी, शर्मिष्ठा आदि कोई भी विवाह के समय अनागतयौवना वालिका नही थी। एकमात्र सीता अवश्य वालिका थी, किन्तु उनके पिता ने जो भीषण प्रतिज्ञा की थी, उससे शायद दीर्घकाल तक अविवाहित रहना भी सम्भव था। अतएव वाल-विवाह का दृश्य महाभारत मे उद्धृत प्राचीन इतिहास मे भी नही मिलता, यह कह सकते हैं।

---

१. दारा इत्युच्यते लोके। इत्यादि। अनु ४७।३० (द्रष्टव्य नीलकठ)।

२. व्यसनित्वाच्च वासिताम। शा २६५।५२

३. कुक्षिसधारणाद्धात्री जननाज्जननी स्मृता। इत्यादि। शा २६५।३१, ३२

४ त्रिंशद्वर्षो दशवर्षा भार्या विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्॥ अनु ४४।१४
युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान्। इत्यादि। अश्व ५६।२२

महाभारत की पात्राओ मे सत्यवती, अम्बिका, अम्बालिका, गाधारी, कुती, द्रौपदी, माद्री, सुभद्रा, चित्रागदा, उलूपी आदि प्रमुख महिलाओ मे प्रत्येक अपने पूर्ण यौवन-काल मे परिणीता हुई थी। उस काल मे जो युवतियाँ स्वयवरा होती थी, उनकी तो वात ही अलग है, लेकिन पिता-माता आदि प्रमुख अभिभावक भी प्राय बाल्यकाल बीत जाने पर ही कन्या का विवाह करते थे। कुन्ती ने तो विवाह के पूर्व पितृगृह मे ही सन्तान (कर्ण) प्रसव की थी, ऋषि कुणिगर्ग की कन्या ने विवाह के विषय मे पिता की आज्ञा का उल्लघन किया था, इस तरह के उदाहरण भी महाभारत मे मिलते है।[1] एक वालिका के लिये इतना साहस दिखाना सभव नही था।

वयस्का कन्या माता-पिता की दुश्चिन्ता का कारण—यद्यपि युवती-विवाह का प्रचलन ही अधिक था, तव भी घर मे अविवाहिता वयस्का कन्या के रहने पर पास-पडोसी कन्या के पिता को जब-तब सचेत करते रहते थे। सावित्री के पिता अश्वपति से नारदमुनि ने जिज्ञासा की थी, "कन्या तो युवती हो गई है, अव इसका विवाह क्यो नही कर देते ?" अश्वपति ने भी वर का निश्चय करते समय सावित्री को उपदेश देते हुए कहा था, "जो पिता यथासमय कन्या का विवाह नही करता, वह समाज मे निन्दनीय है।"[2]

पड़ोसियो की अकारण जिज्ञासा—कन्या की उम्र कुछ अधिक होते ही पिता कुछ चिन्तित हो जाते थे, विशेषत पडोसियो की अवाछित दृष्टियो के कारण और भी आकुल होते थे।[3]

पितृगृह मे ऋतुमती होने के तीन वर्ष बाद कन्या को वर-निरूपण की स्वतन्त्रता—पितृगृह मे ऋतुमती होने के बाद तीन साल तक कन्या प्रतीक्षा करे कि पिता उपयुक्त वर ढूँढता है या नही। तीन साल वाद पिता के मत की प्रतीक्षा किये विना अपना पति चुन ले। महाभारत मे यह विधान है।[4]

आठ प्रकार के विवाह—विवाह के आठ प्रकार का विधान मिलता है।

---

१. शल्य ५२।६-८।

२. किमर्थं युवतीं भर्त्रे न चैनां संप्रयच्छसि। वन २९३।४
अप्रदाता पिता वाच्यः। वन २९२।३५

३. वैदर्भीन्तु तथायुक्ता युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम्॥ वन ९६।३०

४. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्ज्जयेत्॥ अनु ४४।१६

जैसे—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गाधर्व, राक्षस एव पैशाच। स्वयभूय (आदिमनु) ने इन आठ प्रकार के विवाहो की व्यवस्था की थी।[१]

ब्रह्म—वर की विद्या, बुद्धि, वश आदि के बारे मे विशेष रूप से पता लगाकर सद्वशज, सच्चरित्र वर को कन्या का सरक्षक यदि कन्या सम्प्रदान करे, तो वह विवाह 'ब्राह्म' होता है।[२]

दैव—यज्ञ मे वृत ऋत्विक् को यदि कन्या दान की जाय, तो उस विवाह को 'दैव' कहते है।[३] (राजा लोमपाद ने दैवविधान से ऋष्यश्रृग के साथ शाता का विवाह किया था।)

आर्ष—कन्या के शुल्क रूप मे वर से दो गायें लेकर कन्यादान करने को 'आर्ष' विवाह कहते है।[४]

प्राजापत्य—वर को धनसम्पत्ति से सन्तुष्ट करने के वाद यदि उसे कन्या दान की जाय, तो उस विवाह को 'प्राजापत्य' के नाम से जानना चाहिए।[५]

आसुर—कन्यादाता को वहुत सा धन देकर या कन्या के परिवार वालो को नाना प्रकार से प्रलोभित करके यदि कन्या ग्रहण की जाय, तो उसे 'आसुर'-विवाह कहेंगे।[६]

गाधर्व—वर व कन्या के परस्पर प्रणय के फलस्वरूप जो विवाह सम्पादित हो, उसका नाम 'गाधर्व' विवाह है। दूसरी जगह कहा गया है कि कामी पुरुष यदि सकामा कुमारी के साथ एकात मे ससर्ग करे, तो वह मिलन ही 'गाधर्व' विवाह है।[७]

---

१. अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मत. स्मृताः। इत्यादि। आदि ७३।८, ९।१०२। १२-१६।
२. शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्या योनिं च कर्म च। इत्यादि। अनु ४४।३, ४
३. ऋत्विजे वितते कर्मणि दद्यादलकृता स दैव.। अनु ४४।४ (नीलकठ)
४. आर्षे गोमिथुन शुल्कम्। अनु ४५।२०
गोमिथुन दत्वोपयच्छेत स आर्षः। अनु ४४।४ (नीलकठ)।
५ यो दद्यादनुकूलत·। अनु ४४।४ (नीलकठ)।
६ धनेन वहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च वांधवान्। इत्यादि। अनु ४४।७
७. अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर।
गधर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः॥ अनु ४४।६
सा त्व मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि।
गधर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि॥ आदि ७३।१८, २७

विवाह (क)

राक्षस—कन्याकर्त्ता के कन्याप्रदान मे असम्मत होने पर भी उद्धत परिणेता यदि कन्यापक्ष वालो पर अमानुषिक अत्याचार करके सिर पीटती और रोती-बिलखती कन्या को बलपूर्वक ले जाता है, तो उस विवाह को 'राक्षस' विवाह कहते है।[1]

पैशाच—सुप्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ बलात्कारपूर्वक रमण करने का नाम 'पैशाच' विवाह है।[2]

विवाह का धर्म-अधर्म—उपर्युक्त विवाहो मे ब्राह्म, दैव व प्राजापत्य ये तीन धर्मसम्मत है। आर्प व असुर विवाह मे कन्याकर्त्ता वर से धन ग्रहण करता है, इसलिए ये दोनो विवाह धर्मसम्मत नही है। विशेषत असुर-विवाह अत्यन्त निन्दनीय है। गाधर्व एव राक्षस विवाह उतने प्रशस्त न होते हुए भी क्षत्रियो के लिये अधर्मकारक नही हैं। पैशाच विवाह सर्वथा परित्याज्य है।[3]

जातिविशेष में विवाह के प्रकारभेद—अन्यत्र कहा गया है कि ब्राह्म, दैव, आर्ष एव प्राजापत्य विवाह ब्राह्मणो के लिए प्रशस्त है। क्षत्रियो के लिए ये चार एव गाधर्व और राक्षस विवाह प्रशस्त हैं। वैश्य और शूद्र के लिए 'असुर' विवाह भी निन्दनीय नही है। पैशाच विवाह का शास्त्र समर्थन नही करता। राक्षस विवाह भी किसी अन्य प्रशस्त विधान के साथ मिश्रित होने पर निन्दनीय नही है।[4]

मिश्रित विवाह-विधि—उल्लिखित आठ विवाह-विधियो मे से कोई एक बिल्कुल विशुद्ध रूप से हमेशा समाज मे पूर्ण नही होती थी। कभी-कभी देखा गया है कि एक ही विवाह मे दो विधान मिश्रित हुए हैं। दमयन्ती के स्वयवर मे ब्राह्म एव ग.धर्व विवाह मिश्रित थे। रुक्मिणी का विवाह राक्षस व गाधर्व मिश्रित था, सुभद्रा के विवाह मे राक्षस व प्राजापत्य विधियाँ मिश्रित थी।[5]

गांधर्व व राक्षस-विधि को लोग कोई बहुत अच्छा नहीं समझते थे—गाधर्व और राक्षस विवाह के क्षत्रियो मे काफी प्रचलित होते हुए भी लोगो की दृष्टि मे

---

१. हत्वा छित्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते॥ अनु ४४।८

२. अनु ४४।८ (नीलकंठ)। आदि ७३।९ (नीलकंठ)।

३. पंचानान्तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कथञ्चन॥ अनु ४४।९। आदि ७३।११

४. प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय। इत्यादि। आदि ७३।१०-१३
प्रसह्य हरणञ्चापि क्षत्रियानां प्रशस्यते। आदि २०९।२२, १०२।१६

५. अनु ४४।१० (नीलकंठ)।

वह निन्दनीय ही माना जाता था। एकमात्र पात्र व पात्री का परस्पर मिलन होते ही गाधर्व विवाह सम्पन्न हो जाता था। किसी के भी अभिभावक की सम्मति की आवश्यकता नही होती थी। और राक्षस विवाह एकमात्र वर की इच्छा व दैहिक वल पर आधारित था। मार्जित भाषा मे उसे राक्षस विवाह कहने पर भी वह प्रथा एक प्रकार से गुडई मे गण्य थी। इसी कारण शायद समाज मे काफी लोग उन्हें वहुत पसन्द नही करते थे। स्वयवर प्रथा भी काफी अशो मे गाधर्व विवाह जैसी ही है। इसलिए स्वयवर को भी सव लोग प्रशस्त पद्धति मे नही गिनते थे।[1]

समाज मे गाधर्व व राक्षस-विधि का प्रसार—समाज मे ऊँचे आदर्शो के वीच स्थान न मिलने पर भी गाधर्व विवाह का वर्णन ही अधिक मिलता है। भ्राता विचित्रवीर्य के लिये भीष्म द्वारा काशिराज की कन्या का हरण, दुर्योधन का चित्रागद कन्या का हरण, अर्जुन का सुभद्राहरण एव कृष्ण का रुक्मिणीहरण राक्षस विधान के अन्तर्गत ही आते है। दूसरो मे अन्य विधानो के मिश्रित होते हुए भी भीष्म का हरण तो केवल शारीरिक वल ही प्रकट करता है।

ब्राह्मविधान ही सर्वापेक्षा प्रशस्त—ब्राह्मविधान दूसरे विधानो से श्रेष्ठ समझा जाता था। कहा गया है कि जो ब्राह्मविधान से कन्यादान करते हैं, वे इस लोक मे दास, दासी, क्षेत्र, अलकार आदि उपभोग्य वस्तुओ को प्राप्त करते है एव मृत्यु के वाद इद्रलोक मे वास करते हैं।[2]

विवाह मे शास्त्रीय विधि-निषेध—कौन सी कन्या विवाह के योग्य है, कौन-सी अयोग्य, इस विषय मे अनेक प्रकार के विधि-निषेध महाभारत मे वर्णित है। वर के सवध मे भी दो-चार वाते मिलती हैं। कन्या विवाह योग्य है या नही, इसका निर्णय करने के लिए शारीरिक शुभाशुभ लक्षणो को भी देखने का नियम था। वाहरी तौर पर शुभलक्षणा दिखाई देने वाली कन्या शास्त्रानुसार विवाह-योग्य है कि नही, इस पर भी ऋषि-वचनो के अनुसार अच्छी तरह विचार करना पडता था। लोगो की धारणा थी कि शास्त्रीय निषेध अमान्य करने पर यो तो विवाह मे कोई वाधा नही पडेगी, लेकिन निषेध का उल्लघन करने से वर व कन्या दुर्भाग्य ग्रस्त रहेंगे और ऐहिक व पारलौकिक श्रेय-प्राप्ति मे नाना प्रकार के विघ्न आयेगे।

---

१. एतत्तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधव.। अनु ४५।५

२ यो ब्रह्मदेयान्तु ददाति कन्यान्। वन १८६।१५
दासी दासमलकारान् क्षेत्राणि च गृहाणि च।
ब्रह्मदेया सुतां दत्वा प्राप्नोति मनुजर्षभ॥ अनु ५७।२५

उस समय की शास्त्र व्यवस्था आज तक हिन्दू समाज मे अपरिवर्तित रूप से ही चली आ रही है।

हिन्दू समाज मे विवाह का स्थान—मैंने पहले ही कहा है कि केवल शारीरिक उपभोग वर्णाश्रम समाज के विवाह का चरम लक्ष्य नही था। हिन्दू लोग विवाह को धर्म के अन्यतम अपरिहार्य अगरूप मे मानते थे, एव शास्त्रीय सस्कारो मे भी विवाह को ही सबसे अधिक प्राधान्य देते थे। गार्हस्थ्य धर्म और समाज-भित्ति का मूल ही थी विवाह सस्कार की पवित्रता।[१]

वर-कन्या के वंश की परीक्षा—विवाह मे सर्वप्रथम यह देखा जाय कि वर एव कन्या का पितृवश और मातामह वश प्रशस्त हो। उत्कृष्ट या समान कुल की कन्या ग्रहण करने से विवाह का फल शुभ होता है।

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाद्वापि—वश की तरफ से अपेक्षाकृत नीच होने पर भी यदि रूप-गुण मे कन्या सर्वांग सुन्दरी हो तो उस स्त्रीरत्न को निम्न कुल की होने पर भी ग्रहण कर लेना चाहिए।[२]

कन्या का बहिरंग शुभाशुभ विचार—हीनागी, अधिकागी, वयोज्येष्ठा, प्रव्र-जिता, अन्यासक्ता, पिंगलवर्णा, चर्मरोगग्रस्ता, कुष्ठरोग से पीडित, तथा मिरगी व सफेद कोढ वाले कुल की कन्या विवाह के लिए अतिशय निन्दनीय मानी गई हैं। वुद्धिमान पुरुष शास्त्रोक्त शुभलक्षणा कन्या को ग्रहण करे, नही तो अनेक प्रकार के अनिष्ट की आशका रहती है।[३]

वर के शारीरिक लक्षणो का विचार—जिन अशुभ लक्षणो के कारण कन्या को वर्जित वताया गया है, वर के लिये भी वे समस्त लक्षण सम्पूर्ण रूप से लागू होते है। "सर्वागसुन्दरी कन्या को माता-पिता उसके अनुरूप वर को सौप दे, अन्यथा उन्हे ब्रह्महत्या के समान पाप लगेगा"—इसी उक्ति से समझा जा सकता है कि वर के शारीरिक शुभलक्षण देखना भी जरूरी माना जाता था।[४] महाभारत

---

१. भार्यापत्योर्हि संबंधः स्त्रीपुंसोः स्वल्प एव तु।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः॥ अनु ४५।९

२. स्त्रीरत्नं दुष्कुलाद्वापि विषादप्यमतं पिबेत्। शा १६५।३२
कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः॥ आदि ११०।६।

३. वर्जयेद्व्यंगिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम॥ इत्यादि। अनु १०४।१३१-१३६
महाकुले प्रसूतांच प्रशस्तां लक्षणैस्तथा। अनु १०४।१२४

४. आतमजा रूपसम्पन्नां महती सदृशे वरे। इत्यादि। अनु २४।९

के शास्त्रीय—(अदृष्ट फल के लिये जो किया जाता है) सिद्धान्त मनुसहिता के अनुरूप हैं। विधिनिषेध के सम्पर्क मे मनु का अनुशासन पालन करना ही महाभारत का उद्देश्य है। इसलिये देखा जाता है कि मनु के वचन उद्धृत करके व्यासदेव अपने अभिमत का समर्थन करते है।

पिता व मातामह का सबध-विचार—मनु की व्यवस्था के अनुसार वर अपने वश व नाना के वश मे विवाह नही कर सकता। नाना के कुल के साथ रक्तसबध होने के कारण पचम स्थानीय कन्या तक विवाह के अयोग्य है। नाना से गणना करके ऊपर या नीचे पाँच पीढियो के किसी व्यक्ति की शाखा से जो कन्या पाँच पीढियो मे आये, उससे विवाह नही किया जा सकता। उसी प्रकार पिता से गणना करके ऊपर या नीचे सात पीढियो मे अगर किसी पुरुष की सप्तम स्थानीया कन्या हो, तो वह भी विवाह के अयोग्य है।[1]

समान गोत्र-प्रवर परित्याग—समानगोत्रा या समान प्रवरा कन्या से विवाह करना निषिद्ध है।[2]

मातुल कन्या से विवाह—मनु के ये नियम समाज मे हर जगह अमल मे नही लाये गये। अर्जुन ने सुभद्रा से, सहदेव ने मद्रराजकन्या से, शिशुपाल ने भद्रा से एव परीक्षित ने उत्तर की कन्या इरावती से विवाह किया। प्रत्येक कन्या परिणेता के मामा की कन्या थी।[3]

परिवेदन परिवेत्ता प्रभृति—मातुल कन्या से विवाह की प्रथा अभी तक दक्षिण भारत मे प्रचलित है। सहोदर भाइयो मे ज्येष्ठ के अविवाहित रहते, कनिष्ठ विवाह नही कर सकता था। अगर करता था, तो उसे शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त करना पडता था। अविवाहित ज्येष्ठ भ्राता एव विवाहिता पत्नी को भी प्रायश्चित्त करना पडता था। पुत्रवधू की तरह व्यवहार करने के लिये कनिष्ठ भ्राता अपनी पत्नी को ज्येष्ठ भ्राता के सामने उपस्थित करके, बाद मे ज्येष्ठ भ्राता की अनुमति से उसे पुन पत्नीरूप मे ग्रहण करके प्रायश्चित्त करता था। किन्तु ज्येष्ठ भ्राता यदि गृहस्थ बनने का अनिच्छुक हो और कनिष्ठ को विवाह की अनुमति दे अथवा

---

१. असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
इत्येतामनुगच्छेत त धर्मं मनुरब्रवीत्॥ अनु ४४।१८
मातु. स्वकुलजा तथा। अनु १०४।१३१

२. समार्षा व्यगिताम्। इत्यादि। अनु १०४।१३१

३. सभा ४५।११॥ आदि २२०।८। आदि ९५।८०। श्रीमद्भागवत १।१६।२

ज्येष्ठ यदि पतित हो, तो कोई भी पाप नही होगा। भ्राताओ में उल्लिखित नियम का उल्लघन करके जो विवाह करता है—उसे 'परिवेत्ता' और अविवाहित ज्येष्ठ को 'परिवित्ति' कहा जाता है।[१]

नियम का उल्लंघन, भीम का हिडिम्बा से विवाह—युधिष्ठिर के विवाह से पहले ही भीमसेन ने गधर्वविधान से हिडिम्वा का पाणिग्रहण किया था। इससे पता लगता है कि उल्लिखित शास्त्रनियम का भी व्यतिक्रम हुआ था। कुन्ती व युधिष्ठिर ने कामातुर हिडिम्वा की कातर प्रार्थना पर भीमसेन को अनुमति दी थी—यहाँ तक कहा जा सकता है।[२]

ज्येष्ठा व कनिष्ठा कन्या के विवाह का नियम—श्वसुर की ज्येष्ठा कन्या के विवाह से पहले कनिष्ठा का पाणिग्रहण करना निषिद्ध है एव कनिष्ठा के पाणि-ग्रहण के वाद उसकी ज्येष्ठा भगिनी से जो व्यक्ति विवाह करे, उसे भी प्रायश्चित्त करना पडता है। किन्तु ज्येष्ठा यदि आमरण ब्रह्मचर्य पालन करना चाहे अथवा दीर्घकाल से रोगभुक्त होने के कारण उसका विवाह न हो तो, कनिष्ठा के विवाह से वर या कन्या किसी को पाप नही लगेगा। जो ज्येष्ठा के विवाह से पहले कनिष्ठा से विवाह करता है, उसे 'अग्रेदिधिषु' कहा जाता है। कनिष्ठा के विवाह के वाद जो ज्येष्ठा से विवाह करता है, उसे 'दिधिषूपपति' कहा जाता है।[३]

भ्रातृहीना कन्या विवाह के अयोग्य—जो कन्या भ्रातृहीना हो, उससे विवाह नही करना चाहिए। इस निषेध का कारण भी बताया गया है। पुत्रहीन व्यक्ति दौहित्र द्वारा किये गये श्राद्ध से सद्गति लाभ कर सकता है। यदि कोई पुत्रहीन कन्यावान व्यक्ति मन ही मन यह सकल्प करे कि—"मेरी कन्या के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही मुझे एव मेरे पूर्व पुरुषो को पिंडदान देगा," तो वह दौहित्र माता-मह का 'पुत्रिकापुत्र' कहलायेगा, यह शास्त्रो का सिद्धान्त है। इस अवस्था मे दौहित्र मातामह के वश का ही श्राद्ध करेगा, पितृकुल का कुछ भी नही कर सकेगा। अत इसके द्वारा पितृपितामह के वश की रक्षा नही होती। इसलिए अपुत्रक व्यक्ति की कन्या को ग्रहण न करना ही उचित है—ऐसा शास्त्रो का मत है। इसी कारण

---

१. परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते।
पाणिग्राहस्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः॥ इत्यादि। शा १६५।६८-७०
परिवित्तिः परिवेत्ता। इत्यादि। शा ३४।४

२. आदि १५५ वाँ अ०।
भिक्षिते पारदार्यञ्च तद्धर्मस्य न दूषकम्। शा ३४।४

३. दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रेदिधिषुरेष च॥ शा ३४।४

साधारणत भ्रातृहीना कन्या से लोग विवाह नही करते थे। किन्तु यदि पता चले कि कन्या के पिता का वैसा कोई अभिप्राय नही है, तो विवाह शास्त्रसगत है।[१]

गुरुकन्या से विवाह निषिद्ध—कच-देवयानी सवाद मे प्रकट होता है कि दोनो मे एक दूसरे के प्रति यथेष्ट आसक्ति थी, बल्कि कच की अपेक्षा देवयानी की आसक्ति ही अधिकतर प्रकट हुई है। देवयानी के आत्मनिवेदन के उत्तर मे कच ने कहा है—"तुम धर्मत मेरी भगिनी हो, तुम गुरुपुत्री हो, इसी कारण तुम्हारे प्रस्ताव से सम्मत नही हो सका था।"[२] अस्वीकृता देवयानी के कच को अभिशाप देने पर कच बोले—"देवयानी, मैं तो ऋषियो द्वारा प्रतिपादित धर्म की बात ही कह रहा था, अभिशाप देने का तो कोई कारण है नही।"[३]

इस प्रकरण की आलोचना मे देखा जाता है कि गुरुकन्या से विवाह करना प्राचीन काल से ही शास्त्रनिषिद्ध था।

निषेध के प्रतिकूल समाज मे व्यवहार—महाभारत मे गुरुकन्या से विवाह के अनेक उदाहरण मिलते है। इससे लगता है कि उस समय से ही उस निषेध का माहात्म्य, चाहे किसी भी कारण से क्यो न हो—समाज मे काफी शिथिल पड गया था। ऋषि उद्दालक ने शिष्य कहोड को एव आचार्य गौतम ने शिष्य उतक को कन्या दान की थी।[४] यह दीर्घकाल तक एकत्र वास करने के फलस्वरूप हो अथवा गुरु व गुरुपत्नी के अत्यधिक स्नेह के आकर्षण से हो, उल्लिखित दोनो शिष्यो ने समावर्तन के बाद गुरुकन्या को पत्नीरूप मे ग्रहण किया था। शुक्राचार्य यदि कच से अनुरोध करते, तो वे भी देवयानी का पाणिग्रहण कर लेने मे आपत्ति नही करते—उनकी उक्ति मे यह इगित भी होता है।[५] इससे पता लगता है कि शास्त्रीय निषेध होने पर भी वह नियम समाज मे सर्वत्र प्रतिपालित नही हुआ। (आधुनिक समाज

---

१. यस्यास्तु न भवेद् भ्राता पिता वा भरतर्षभ।
   नोपयच्छेत ता जातु पुत्रिका-धर्मिणी हि सा॥ अनु ४४।१५
   पुत्रिकाहेतुविधिना सज्ञिता भरतर्षभ॥ इत्यादि। आदि २१५।२४, २५
२. भगिनी धर्मतो मे त्व मैव वोचः सुमध्यमे। इत्यादि। आदि ७७।१४-१७
३. आर्ष धर्म ब्रुवोणोऽह। इत्यादि। आदि ७७।१८
४. तस्मै प्रादात् सद्य एव श्रुतञ्च,
   भार्याञ्च वै दुहितर स्वा सुजाताम्॥ वन १३२।९
   ददानि पत्नीं कन्याञ्च स्वा ते दुहितर द्विज। अश्व ५६।२३
   ततस्ता प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम्। अश्व ५६।२४
५. गुरुणा चाननुज्ञात.। आदि ७७।१७

मे तो गुरुकन्या से विवाह करने के यथेष्ट उदाहरण मिलते है।) हर जगह देखने को मिलता है कि शास्त्रो के आदर्श एव समाज के व्यवहार मे कभी भी पूरा मेल नही रहा।

विमाता की बहन से विवाह—अन्तत जो आचार विसदृश लगते है, ऐसे व्यवहार भी विवाह आदि मे देखने को मिलते है। भीमसेन ने अपनी विमाता माद्री की बहन से विवाह किया था।[1]

जातिभेद मे कन्याग्रहण—जाति व वर्ण के हिसाब से भी विवाह के अनेक विधि निषेध महाभारत मे वर्णित है। ब्राह्मण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की कन्या को पत्नीरूप मे ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य कन्या को, वैश्य वैश्य कन्या को एव शूद्र केवल शूद्रकन्या को ग्रहण करने का अधिकारी है। किसी-किसी ने कहा है कि चारो वर्णो के लिये शूद्रकन्या ग्रहण करने का अधिकार, शास्त्रानुमोदित है। किन्तु अनेक ऋषि इस मत से सहमत नही है। उन्होने कहा है—द्विज यदि शूद्र कन्या की कोख से सतान उत्पन्न करेगा, तो वह प्रायश्चित्त का अधिकारी होगा।[2]

ब्राह्मण की ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की क्षत्रिय पत्नी की प्रधानता—ब्राह्मण की ब्राह्मणजातीय एव क्षत्रिय की क्षत्रियजातीय पत्नी ही प्रधान होती है। उनकी गर्भजात सतानो मे धन-विभाजन के विषय मे भी पक्षपात है। ('दायविभाग' प्रबन्ध मे इसके बारे मे कहा जायगा)।[3]

विवाह निश्चित करना अभिभावक का अधिकार ही समीचीन प्रथा—स्वयवर प्रथा जनसाधारण मे बहुत समादृत नही मानी जाती थी—यह पहले ही कह दिया गया है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था कि—"सावित्री दमयन्ती आदि साध्वियो के स्वयवर के सम्बन्ध मे भी समाज की धारणा कोई बहुत अच्छी नही थी। कन्या को अपना वर स्वय ढूंढने की अनुमति देना अभिभावको के लिए सर्वथा गर्हित था। स्त्रियो को स्वतन्त्रता देना एक तरह से असुर धर्म के अन्तर्गत

---

१. इयं स्वसा राजचमूपतेश्च
प्रवृद्धनीलोत्पलदामवर्णा ।
पस्पर्द्ध कृष्णेन सदा नृपो ये।
वृकोदरस्यैष परिग्रहोऽग्रयः॥ आश्र २४।१२

२. तिस्रो भार्या ब्राह्मणस्य द्वे भार्ये क्षत्रियस्य तु॥ इत्यादि। अनु ४४।११-१३। अनु ४७।४

३. ब्राह्मणी दु भवेज्ज्येष्ठा क्षत्रिया क्षत्रियस्य तु। अनु ४४।१२, अनु ४७।३१

माना जाता था। प्राचीन काल मे ऐसा व्यवहार नही था। भार्या व पति का सवध वहुत ही कोमल होता है। यद्यपि परस्पर एक दूसरे के प्रति अनुराग, युवक-युवतियो की एक साधारण मनोवृत्ति है, तव भी केवल सामयिक उत्तेजना मे अधे होकर स्वतत्र रूप से विवाह-वधन मे आवद्ध होने का परिणाम सुखकर नही होता।"[१]

विपक्षमत की प्रबलता—उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि विवाह के विपय मे युवक-युवती की निरकुश स्वाधीनता उस काल के समाज मे भी विवेकवान व्यक्ति वहुत पसन्द नही करते थे। किंतु समग्र महाभारत की आलोचना करने पर यह अवश्य कहना पडेगा कि उस समय भी इस मत के विरोधियो का एक सशक्त दल था एव उनका प्रतिकूल आचरण ही समाज मे विजयी हुआ था। इस प्रसग मे निम्नलिखित प्रकरण उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते है।

दुष्यन्त-शकुन्तला-सवाद—राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला से कहा था—"तुम्हारा शरीर तुम्हारे अधीन है, पिता की आज्ञा की प्रतीक्षा करने से क्या लाभ ? आत्मा ही आत्मा की वधु है, आत्मा ही आत्मा की गति है। अतएव तुम स्वय ही मुझे आत्म-समर्पण कर सकती हो।"[२]

पराशर-सत्यवती-सवाद—सत्यवती ने पराशर से कहा था—"भगवन्, मैं पिता के अधीन हूँ, अत आप सयत हो। मेरा कौमार्य दूषित हो गया, तो मुझे घर मे स्थान कैसे मिलेगा ?" इसके वाद अनेक प्रकार के वरदानो द्वारा सम्मत करके ऋषिवर ने सत्यवती का कौमार्य भग किया।[३]

सूर्य-कुन्ती-सवाद—कुन्ती देवी ने एक वार पिता के घर ही रजस्वला-अवस्था मे सूर्य को आह्वान किया। किन्तु सूर्य को उपस्थित देखते ही भयभीत चित्त से प्रार्थना करती हुई कुती वोली—"देव ! मेरे माता-पिता व प्रमुख गुरुजन मुझे दान करने के अधिकारी है। दया करके मझे अधर्म मे लिप्त मत कीजियेगा।" कहना न होगा कि कुन्ती की प्रार्थना विफल गई।[४]

पण-प्रथा, कन्या शुल्क ही अधिक प्रचलित—महाभारत के काल मे भी किसी-किसी समाज मे शुल्क प्रथा विद्यमान थी। उन दिनो कन्यापक्ष ही अधिकतर शुल्क

---

१. स्वय-वृतेन साज्ञप्ता पित्रा वै प्रत्यपद्यत। इत्यादि। अनु ४५।४-९

२ आत्मनैवात्मनो दान कर्त्तुमर्हसि धर्मत.। आदि ७३।७

३. विद्धि मा भगवन् कन्या सदा पितृवशानुगाम्। आदि ६३।७५

४. पिता माता गुरवश्चैव येऽन्ये।
देहस्यास्य प्रभवन्ति प्रदाने॥ वन ३०५।२३

लेता था। वरपक्ष के पण ग्रहण के साक्षात् दृष्टान्त न मिलने पर भी एक जगह उस प्रथा की निदा की गई है। अत लगता है कि वरपक्ष भी शुल्क ग्रहण करता था।[1] किसी-किसी अभिजात वश मे कन्यापक्ष का शुल्कग्रहण कुलप्रथा के रूप मे वर्तमान था।

मद्रदेश में (पंजाब) वरकर्ता भीष्म ने मद्रराज की पुरी मे उपस्थित होकर माद्री का विवाह पाडु के साथ करने का प्रस्ताव किया। मद्रराज शल्य सानन्द सम्मति देते हुए बोले—"ऐसे वर को भगिनीदान करना बहुत ही प्रशस्य है, किन्तु तब भी आपको थोडा शुल्क देना पडेगा—यह बात कहते हुए मुझे लज्जा आ रही है, परन्तु आप तो हमारे कुलधर्म के बारे मे जानते ही है ? साधु हो या असाधु, कुलधर्म तो छोड नही सकता।" शल्य के वाक्यो से भीष्म सतुष्ट हुए एव शुल्क स्वरूप अनेक प्रकार के रत्न आदि देकर माद्री को लेकर चले आये।[2]

ऋचीक का पत्नीग्रहण—ऋचीक मुनि द्वारा कान्यकुब्ज नरेश गाधि से कन्या की प्रार्थना पर गाधि ने उत्तर दिया—"आपसे कहते हुए सकोच हो रहा है, किन्तु हमारी कुलप्रथा है, इसलिये बिना कहे भी नही रहा जायगा। एक हजार श्वेतवर्ण द्रुतगामी अश्व हमारे वश की कन्याओ का शुल्क है, अश्वो का एक कान लाल रग का होना चाहिये।" ऋचीक ने राजा वरुण से इस तरह के एक हजार घोड़े लिये और गाधि को देकर उनकी कन्या सत्यवती को ग्रहण किया।[3]

काशिराज दुहिता माधवी का शुल्क—गालव चरित मे कहा गया है कि गालव ने काशिराज ययाति की अपरूप सुन्दरी कन्या माधवी को ग्रहण किया एव विभिन्न राजाओ से शुल्क लेकर निर्दिष्ट काल के लिये शुल्कदाताओ की पत्नी रूप मे माधवी को प्रदान किया।[4]

इन सब वर्णनो से पता लगता है कि किसी-किसी सभ्रान्त वश मे भी कन्या-शुल्क लेने की प्रथा थी।

शुल्कग्रहण विक्रय के समान—कहा गया है कि कन्या या पुत्र के विवाह मे

---

१. नैव निष्ठाकरं शुल्कं ज्ञात्वासीत्तेन नाहृतम्। इत्यादि। अनु ४४।३१-४६
यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति। अनु ४५।१८

२. पूर्वं प्रवर्त्तितं किंचित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः। इत्यादि। आदि ११३। ९-१६

३. कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवः सुमहाबलः। इत्यादि। वन ११५।२०-२९। अनु ४।१०

४. उ० ११६ वाँ अध्याय—११९ वाँ अ०।

शुल्क ग्रहण करना उन्हे शुल्कदाताओ को वेच देना है। शुल्कग्रहण पूर्वक विवाह करने को दान नही कहा जाता।[१]

शुल्क की निन्दा—अति प्राचीन काल से ही शुल्कग्रहण प्रथा की निंदा होती चली आ रही है। इस विषय मे पौराणिक गण महर्षि यम की एक गाथा की चर्चा करते हैं। गाथा यह है—"जो व्यक्ति अपने पुत्र या कन्या का विक्रय करता है अर्थात् जो उनके विवाह मे शुल्क ग्रहण करता है, वह कालसूत्र नामक नरक मे जाकर अत-हीन यन्त्रणा भोगता रहता है। आर्ष विवाह मे शुल्क स्वरूप जो गायो की जोडी लेने की प्रथा है, वह भी सगत नही है। क्योकि कम हो या अधिक, शुल्कस्वरूप कुछ लेना ही विक्रय के समान है। लोभ वश कोई-कोई शुल्क प्रथा का आचरण करते हैं यह सच है, किन्तु वह धर्मसगत नही है। इसी प्रकार राक्षस विवाह भी अत्यन्त पापजनक है। पशु वेचना भी अनुचित है, फिर मनुष्य की तो वात ही क्या है। विशेषत पुत्र व कन्या का विक्रय करना तो अतिशय गर्हित है।"[२]

कन्या के निमित्त अलकार ग्रहण करना दोषयुक्त नहीं—अन्यत्र कहा गया है कि कन्या का पिता यदि कन्या को अलकारादि देने के लिये वरपक्ष से शुल्क ग्रहण करे, तो उसमे कोई दोष नही है। इस रूप मे ग्रहण करना विक्रय नही है। वरपक्ष से आभरण आदि लेकर कन्या को दे देने की प्रथा वहुत पहले से प्रचलित है।[३]

शुल्कदाता ही सच्चा वर—कन्या का पिता यदि वरपक्ष से शुल्क ग्रहण करे तो वह फिर किसी दूसरे वर के साथ कन्या का विवाह नही कर सकता। दूसरा कोई पुरुप धर्मानुसार इस कन्या से विवाह नही कर सकता।[४]

शुल्कदाता के विवाह से पूर्व विदेश चले जाने पर अन्य पुरुष के ससर्ग से पुत्रो-त्पत्ति—शुल्कदान के वाद विवाह से पूर्व ही यदि शुल्कदाता दीर्घकाल के लिये कही

---

१. न हि शुल्कपरा सन्त· कन्या ददति कर्हिचित्॥ अनु ४४।३१

२. यो मनुष्य· स्वकं पुत्र विक्रीय धनमिच्छति।
कन्या वा जीवितार्थाय य· शुल्केन प्रयच्छति॥ इत्यादि। अनु ४५।१८-२२
अन्योऽप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं पुनः प्रजाः। अनु ४५।२३
ददातु कन्या शुल्केन। अनु ९३।१३३। अनु ९४।३१
स्वसुता चोपजीवतु। अनु ९३।११९
विक्रयञ्चाप्यत्यस्य क· कुर्यात् पुरुषो भुवि। आदि २२१।४
न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रेया कथञ्चन।' अनु ४४।४६

३. अलकृत्वा वहस्वेति यो दद्यादनुकूलत·। इत्यादि। अनु ४४।३२, ३३

४. यापुत्रकस्य ऋद्धस्य प्रतिपाल्या तदा भवेत्। अनु ४५।२

विदेश चला जाय, तो वह वाग्दत्ता कन्या किसी दूसरे उत्तम पुरुष के ससर्ग से सन्तान प्रसव कर सकती है। किन्तु वह सन्तान शुल्कदाता की सन्तान कहलावेगी, बीजी का उस पर कोई अधिकार नही होगा।[१]

प्रथम प्रस्तावक वरपक्ष—गुरुजनो की रुचि के अनुसार इन्ही के कर्त्तृत्व मे जो विवाह सम्पन्न होता था, उसमे प्रथम प्रस्ताव वरपक्ष की तरफ से होता था। शान्तनु, धृतराष्ट्र, पाडु, विदुर आदि प्रमुख व्यक्तियो के विवाह मे उनकी तरफ से ही पहले प्रस्ताव किया गया था।[२] अभिमन्यु के विवाह मे कन्यापक्ष प्रथम प्रस्तावक था। अज्ञातवास के बाद अर्जुन आदि वीरो का परिचय जान पाते ही मत्स्यराज ने उन्हे विशेष रूप से सम्मानित करने के लिये अर्जुन को कन्यादान करने की इच्छा प्रकट की। वह प्रस्ताव नीतिसगत न समझने पर अर्जुन ने उत्तरा को पुत्रवधू के रूप मे ग्रहण करने का प्रस्ताव किया और अत मे वही हुआ।[३]

परिवार मे वयोवृद्ध व्यक्ति का दायित्व—परिवार मे जो व्यक्ति बडा होता था, वही पुरोहित आदि के साथ कन्या के अभिभावक के घर जाकर सबध का प्रस्ताव करता था। धृतराष्ट्र, पाडु व विदुर के विवाह मे भीष्म वरकर्त्ता थे।

पुरोहित भेजने का नियम—कभी-कभी विवाह का प्रस्ताव लेकर स्वय न जाकर पुरोहित को भी भेजा जाता था। अर्जुन के लक्ष्यभेद के बाद द्रुपदराज ने अज्ञातवासी पाडवो के पास अपने पुरोहित को भेजा था।[४]

ब्राह्मणो की मध्यस्थता—ब्राह्मणो मे कोई-कोई कार्यवश देश-विदेश का भ्रमण करता था और प्रसगत पात्र या पात्री की भी खोज करता था। सम्भवत. वह लोग घटक की तरह होते थे।[५]

स्वयंवर द्वारा कन्या-प्रार्थना—वर के स्वय कन्यादाता के यहाँ जाकर कन्या के लिए प्रार्थना करने के भी उदाहरण महाभारत मे विरल नही है। महर्षि अगस्त्य

---

१. तस्यार्थेऽपत्यमीहेत येन न्यायेन शक्नुयात्। अनु ४५।३
२. अभिगम्य दाशराजं कन्या वव्रे पितुः स्वयम्। आदि १००।७५
ततो गाधारराजस्य प्रेषयामास भारत। आदि ११०।११
तामहं वरयिष्यामि पाडोरर्थे यशस्विनीम्॥ आदि ११३।६
ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः।
विवाह कारयामास विदुरस्य महामतेः॥ आदि ११४।१३
३. वि. ७१ वाँ व ७२ वाँ अध्याय।
४. पुरोहितं प्रेषयामास तेषास्।आदि १९३।१४
५. अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गांधारीं सुबलात्मजाम्। आदि ११०।९

ने विदर्भराज के निकट उपस्थित होकर कन्या के लिये प्रार्थना की थी।[१] ऋचीक मुनि ने कान्यकुब्जपति गाधि के कन्या के लिये प्रार्थना की थी।[२]

राजा प्रसेनजित से जमदग्नि ने कन्या के लिये प्रस्ताव किया था।[३] शान्तनु ने केवटराज के निकट उपस्थित होकर सत्यवती को माँगा।[४] अर्जुन ने मणिपुर-पति चैत्रवाहन के निकट उपस्थित होकर सत्यवती के लिये प्रार्थना की।[५]

पहले प्रस्ताव किये विना कन्यादान—पहले किसी भी तरह का प्रस्ताव किये विना अश्वपति अपने मंत्री, मित्र, पुरोहित व कन्या सावित्री को साथ लेकर द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान को कन्यादान करने के उद्देश्य से उनके आश्रम मे उपस्थित हुए, यद्यपि दरिद्र होने के कारण द्युमत्सेन पहले राजी नही हुए, किन्तु अश्वपति के वहुत अनुरोध करने पर अत मे सम्मति देने के लिये वाध्य हुए।[६]

वाग्दान—अभिभावको द्वारा जो विवाह सम्पन्न होते थे, उनमे कन्यापक्ष वाले वरपक्ष वालो को जो वचन देते थे, इसका नाम था 'वाग्दान'।[७]

अनिवार्य कारण से वाग्दान के वाद भी दूसरे पात्र को कन्यादान—वाग्दान के वाद यदि वर के शारीरिक या चरित्रगत दोप के वारे मे पता लगे, तो दूसरे पात्र को कन्यादान करना ही उचित है। पाणिग्रहण से पूर्व केवल वाग्दान द्वारा कौमार्य भग नही होता।

सव जगह ऐसा नियम नहीं था—यह हरेक को मान्य नही था। सावित्री ने अपने पिता से कहा था—"सिर्फ एक ही पात्र को कन्या दी जा सकती है, अत एक वार जिसको मन ही मन स्वामी रूप मे वरण कर लिया है, अव वही मेरा पति है।"[८]

स्वयवर पिता के घर, राक्षस विवाह ससुराल मे—स्वयवर-सभा का अनुष्ठान कन्या के पिता के यहाँ होता था और राक्षस-विवाह एकमात्र वर के घर

---

१. वरये त्वा महीपाल लोपामुद्रां प्रयच्छ मे। वन ९७।२

२. ऋचीको भार्गवस्ताञ्च वरयामास भारत। वन ११५।२१

३. स प्रसेनजितं राजन्नधिगम्य जनाधिपम्।
रेणुका वरयामास स च तस्मै ददौ नृप ॥ वन ११६।२

४. स गत्वा पितर तस्या वरयामास ता तदा ॥ आदि १००।५०

५. अभिगम्य च राजानमवदत् स्व प्रयोजनम्। आदि २१५।१७

६. वन २९४ वाँ अध्याय।

७ दास्यामि भवते कन्यामिति पूर्वं न भापितम्। अनु ४४।३४

८. तस्मादाग्रहणात् पाणेर्याचयन्ति परस्परम्। इत्यादि। अनु ४४।३५, ३६
यथेष्ट तत्र देया स्यान्नात्र कार्या विचारणा। अनु ४४।५१
सकृत् कन्या प्रदीयते। वन २९३।२६

होता था। दूसरे विवाहो के बारे मे इस तरह का कोई नियम नही था। कभी वर के घर कन्या को लाकर विवाह हुआ करता था और कभी वर को कन्या के घर बुला लिया जाता था। भीष्म ने सत्यवती को हस्तिनापुर लाकर शान्तनु के साथ उसका विवाह किया था।[१] गाधार राजपुत्र शकुनि ने भगिनी सहित हस्तिनापुर उपस्थित होकर धृतराष्ट्र के साथ गाधारी का विवाह किया था।[२]

भीष्म माद्री को लेकर हस्तिनापुर गये और शुभलग्न मे पाडु के साथ उनका विवाह किया।[३] विदुर का विवाह भी हस्तिनापुर मे ही सम्पन्न हुआ था।[४]

कन्यादाता के घर विवाह—द्रौपदी का विवाह उनके पिता के घर हुआ। लक्ष्यभेद के बाद द्रुपदराजा को पता लगा कि पाडुपुत्र अर्जुन ही द्रौपदी का वर है। तब उन्होने पुरोहित भेजकर पाडवो को अपनी नगरी मे आने का निमत्रण भेजा। उनके घर ही पाँचो पाडवो का विवाह सम्पन्न हुआ।[५] अभिमन्यु का विवाह भी उनकी ससुराल मे ही हुआ था।[६]

उल्लिखित दोनो विवाहो के समय पाडव गृहहीन वनवासी थे । ससुराल मे विवाह होने का यह कारण भी रहा होगा।

बराती—द्रौपदी व उत्तरा दोनो के विवाह मे वरपक्ष वाले बहुत से सगे-सबधी साथ लाये थे । पुरोहित व अन्य विज्ञ ब्राह्मणो को भी ससम्मान बराती बनाया गया था।

वर की माँ व अन्य महिलाएँ भी बरात मे जाती थीं—वर के साथ उसकी माँ एव अन्य सबधी महिलाएँ भी जाती थी।[७]

विवाहोत्सव मे सगे-संबंधियो का निमन्त्रण—विवाह का निमन्त्रण मिलने पर सभी सगे-सबधी विवाहोत्सव मे सम्मिलित होने की चेष्टा करते थे। उस समय भी समाज मे दूसरे उत्सवो की अपेक्षा विवाहोत्सव ही प्रधान माना जाता था।[८]

---

१. आगम्य हस्तिनपुरं शान्तनोः सं न्यवेदयत्। आदि १००।१००
२. ततो गांधारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्यगात्। इत्यादि। आदि ११०।१५, १६
३. स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगाः सुतः। इत्यादि। आदि ११३।१७, १८
४. ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः। इत्यादि। आदि ११४, १३
५. आदि १९९ वाँ अध्याय।
६. वि : ७२ वाँ अध्याय।
७. कुंती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वीमन्तःपुरं द्रुपदस्याविवेश। आदि १९४।९
वि : ७२ वाँ अध्याय
८. वि : ७२ वाँ अध्याय।

लग्न-निश्चय—दोनो पक्षो की सम्मति से विवाह का लग्न तय किया जाता था। निर्दिष्ट शुभ लग्न मे कन्या का पिता या दूसरा कोई सबधी अग्नि की साक्षी से कन्यादान करता था।

विवाह मे होम आदि अनुष्ठान—वर अग्नि मे आहुति देकर अग्नि को साक्षी वनाकर कन्या को धर्मपत्नी के रूप मे ग्रहण करता था। मन्त्रपूर्वक पत्नीग्रहण प्रकृत विवाह है—महाभारत का यही अभिमत है।[1] उमा-महेश्वरसवाद मे कहा गया है कि यद्यपि वर व कन्या के अभिभावको के एक दूसरे को वचन दे देने से ही विवाह सम्पन्न हो जाता है, तथापि अग्नि के साक्ष्य से वर-कन्या का परस्पर प्रतिज्ञा करना ही सहधर्माचरण का आधार है। सहधर्माचरण दम्पति का सनातन धर्म है।[2]

पुरोहित द्वारा होम—द्रौपदी के विवाह-वर्णन मे देखने को मिलता है—पुरोहित धौम्य ने मत्र द्वारा प्रज्वलित अग्नि मे आहुति प्रदान की।[3]

दम्पति की अग्निप्रदक्षिणा—दम्पति एक दूसरे का हाथ पकडकर अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे।[4]

पाणिग्रहण—वर द्वारा कन्या का पाणिग्रहण विवाह के अन्यतम प्रधान अग के रूप मे विवेचित होता था। गाधर्व एव स्वयवर विधान मे भी पाणिग्रहण का नियम था। शकुन्तला, देवयानी, द्रौपदी आदि के विवाह मे यह अनुष्ठान यथारीति सम्पादित हुआ था।[5] पाणिग्रहण एक आवश्यक कर्त्तव्य होने के कारण विवाह का दूसरा नाम 'पाणिग्रहण' पडा।

---

१. बन्धुभि' समनुज्ञाते मन्त्रहोमौ प्रयोजयेत्। इत्यादि। अनु ४४।२५-२७
अनुकूलामनुवशा भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम्। अनु ४४।५६

२. स्त्रीधर्म. पूर्व एवाय विवाहे वन्धुभिः कृत.।
सहधर्मचरी भर्त्तुर्भवत्यग्निसमीपतः॥ अनु १४६।३४
दम्पत्योरेष वै धर्मः सहधर्म कृत. शुभ.॥ अनु १४६।४०
हुत्वा सम्यक् समिद्धाग्निम्। वि० ७२।३७

३ तत. समाधाय स वेदपारग'।
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलित हुताशनम्॥ आदि १९९।११

४ प्रदक्षिण तौ प्रगृहीतपाणी। आदि १९९।१२

५. जग्राह विधिवत् पाणौ। ७३।२०
पाणि कृष्णायास्त्व गृहाणाद्य पूर्वम्॥ आदि १९९।५
पाणिग्रहणमन्त्राश्च प्रथित वरलक्षणम्। द्रो० ५३।१६
पाणिधर्मो नाहुषाय न पुभि' सेवित. पुरा॥ आदि ८१।२१

सप्तपदी के वाद विवाह पूर्ण होता है—विवाह-सस्कार मे एक शास्त्रीय अनुष्ठान और भी है, उसका नाम है 'सप्तपदीगमन'। वर और कन्या को सात पद साथ उठाने पडते है। आमरण सब कार्यों मे दम्पति एक दूसरे के सगी और सहायक हैं, इसका ही एक इशारा सप्तपदी अनुष्ठान मे निहित है। इस क्रिया के न होने तक विवाह सम्पूर्ण नही होता। पित्रादि द्वारा अग्नि की साक्षी से कन्यादान, वर का पाणिग्रहण और मेरी भार्या है, आदि कई अनुष्ठानो को ही विवाह कहा जाता है। सप्तपदी (फेरे) ही विवाह का प्रधान अग है। सप्तपदी के वाद कन्या पितृगोत्र त्यागकर पतिगोत्र को प्राप्त होती है।[1]

हरिद्रास्नान—विवाह मे और एक अनुष्ठान था, जो केवल आचार रूप मे ही गिना जाता था। वर व कन्या हल्दी का चूर्ण एक दूसरे के शरीर पर मल देते थे। नीलकठ ने कहा है—पाणिग्रहण से पूर्व कई मागलिक अनुष्ठान होते थे, इन्ही मे हरिद्रास्नान भी एक था।[2]

विवाहमडप-वर्णन—विवाह-मडप को उत्कृष्ट अगर द्वारा धूपित किया जाता था, चन्दन से लीपकर अनेक प्रकार की सुगधित पुष्पमालाओ से भूषित किया जाता था। विवाह-मडप की सौदर्य-वृद्धि मे सामर्थ्यानुसार कोई भी त्रुटि नही रखता था। मागलिक शख एव तूर्य-निनाद से विवाह-गृह मुखरित रहता था। लोगो के आनन्द की, कोलाहल की कोई सीमा नही रहती थी। 'दीयता', 'भोज्यता' आदि शब्दो से और आत्मीय-अनात्मीय स्त्री-पुरुषो के आवागमन के कारण विवाह-गृह मे एक मुहूर्त के लिये भी शाति नही रह पाती थी। महाभारत मे जिन दो-चार विवाहघरो का चित्र खीचा गया है, वह वहुत ही उज्ज्वल है।[3]

स्वयंवर-वर्णन—स्वयवर सभाओ के उत्सव-मुखरित मडप मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पडित, मूर्ख, धनी, दरिद्र सभी उपस्थित रहते थे। कन्याप्रार्थियो की साजसज्जा मे भी तडक-भडक की कमी नही रहती थी। वे भी कानो मे कुडल,

---

१. पाणिग्रहणमन्त्राणा निष्ठा स्यात् सप्तमे पदे ॥ अनु ४४।५५
तन्वेषां निश्चिता निष्ठा निष्ठा सप्तपदी स्मृता ॥ द्रो ५६।१६

२. पादप्रक्षालन कुर्यात् कुमार्याः सन्निधौ मम ॥ उ ३५।३८। नीलकंठ द्रष्टव्य।
सर्वमगलमन्त्र वै। अनु ४४।५४। नीलकठ द्रष्टव्य।

३. तूर्यौघशतसकीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः। इत्यादि। आदि १८५।१८-२२
तत. शखाश्च भेर्यश्च पणवानक-गोमुखाः। इत्यादि। वि ७२।२७
तन्महोत्सवसंकाश हृष्टपुष्टजनावृतम्।
नगरं मत्स्यराजस्य शुशुभे भरतर्षभ॥ वि ७२।४०

गले मे वहुमूल्य हार, मूल्यवान वस्त्रो तथा उत्तरीय आदि से सुसज्जित होते थे। चदन, कुकुम आदि सुगधित द्रव्यो का अनुलेप करके उत्कठा मिश्रित आनन्द से प्रत्येक वराती प्रतीक्षा करता था। (कोई-कोई तो दो-तीन सप्ताह पहले ही कन्या के पितृगृह मे उपस्थित हो जाता था) यथासमय शुभमुहूर्त मे सुवसना, सर्वाभरण-भूषित कन्या हाथ मे पुष्पमाला या काचनमाल लिये सभामडप मे प्रवेश करती। चारो दिशाएँ तूर्यध्वनि से मुखरित रहती। पुरोहित सभामडप मे ही कुश-कडिका करके अग्नि मे वेदमन्त्रो के पाठ के साथ घृताहुति देते। उपस्थित ब्राह्मण समस्वर मे स्वस्तिवचन का पाठ करते। उसके वाद पितृपक्ष के आदेश से तूर्यध्वनि वद होती। सभा नि शव्द हो जाती। कन्या का भाई (अथवा वहन या कोई भी निकट सवधी) अभ्यागत प्रार्थियो मे से प्रत्येक का नाम और गोत्र वताकर वहन को परिचित कराता। कन्या यदि पहले से ही किसी की शूरवीरता की कहानी सुनकर उस पर आकृष्ट होती, तो उसी के गले मे वरमाला डाल देती। माला के साथ वर को शुक्लवस्त्र देने की प्रथा भी थी। इसके वाद कन्या का पिता शास्त्रीय विधान के अनुसार शुभमुहूर्त मे मनोनीत वर के हाथ मे कन्या का हाथ पकडा देता।[१]

कन्यादान द्वारा प्रदत्त दहेज—कन्या के विवाह मे हर कोई यथाशक्ति कन्या को अलकृत करने मे कृपणता नही दिखाता था। वर को भी यथेष्ट परिमाण मे उत्कृष्ट वस्त्राभरण आदि कन्या का पिता ही देता था। विवाह के वाद वर को हाथी, घोडे, मणि, माणिक्य, वस्त्र, अलकार, दास, दासी आदि यथाशक्ति दहेज मे दिये जाते थे।[२] दहेज देने के जितने भी उदाहरण मिलते हैं, सव धनी समाज के मिलते हैं। दरिद्रो मे किस तरह व्यवहार होता था, महाभारत मे इसका कोई उदाहरण नही है।

भोजन-पान—विवाह मे सम्मिलित, निमन्त्रित, अनिमन्त्रित सभी की विधिवत् अभ्यर्थना करके उन्हे अच्छी तरह खिलाया-पिलाया जाता था।[३]

---

१. आदि ११२ वाँ अध्याय। आदि १८५ वाँ अ०। वन ५७ वाँ अ०
आदाय शुक्लावरमाल्यदाम, जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती। आदि १८८।२७

२ कृते विवाहे द्रुपदो धन ददौ। इत्यादि। आदि १९९।१५-१७
तेषा ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम्॥ इत्यादि। आदि २२१।४४।५०
तस्मै सप्तसहस्राणि हयाना वातरहसान्। इत्यादि। वि० ७२। ३६, ३७
दत्वा स भगिनीं वीर यथार्हञ्च परिच्छदम्। आदि ११०।१७

३. उच्चावचान् मृगान् जघ्नु.। वि० ७२।२८
भोजनानि च हृद्यानि पानानिविविधानि च॥ वि० ७२।४०

ब्राह्मणो को दान—उपस्थित ब्राह्मणो की शास्त्रानुसार अर्चना करके दक्षिणा मे उन्हे धन, रत्न आदि दिये जाते थे। दोनो पक्ष ब्राह्मणो को दान देते थे।[1]

आत्मीय स्वजनो द्वारा उपहार प्रदान—विवाह के बाद सगे-सबधी वर व कन्या को अनेक प्रकार के वस्त्र, अलकार आदि उपहार मे देते। जो स्वय उत्सव मे सम्मिलित नही हो पाते, वे किसी के हाथ भेज देते। पाडवो के विवाह के बाद श्री-कृष्ण ने प्रचुर मात्रा मे उत्कृष्ट उपहार भेजे थे। अभिमन्यु के विवाह मे भी तरह-तरह के उपहार लेकर वे स्वय उपस्थित हुए थे।[2]

वर के घर कन्यापक्षवालो का सत्कार—नये सबध स्थापित होने के बाद नववधू के भाई या पितृपक्ष से किसी दूसरे निकट सबधी के वर के घर आने पर आमोद-प्रमोद की धूम मच जाती थी। और फिर लौटते वक्त वरपक्ष वाले भी उन्हे अनेक प्रकार के मणिरत्नादि वस्तुएँ उपहार मे देते थे।[3] यहाँ भी जितने वर्णन मिलते है, सब धनी समाज के ही है, मध्यवित्त व दरिद्रो के उत्सव आदि का कोई चित्र नही मिलता। धनी समाज के नियम सभवत सभी समाजो मे अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रचलित थे। आनन्द सबके लिए ही समान था। हर बात मे ही श्रेष्ठो का अनुकरण समाज मे सदा से प्रचलित रहा है।

---

१. अर्च्चयित्वा द्विजन्मनः। वि० ७२।३७
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं यदुपाहरदच्युतः॥ वि० ७२।३८

२. ततस्तु कृतदारेभ्यः पांडुभ्यः प्राहिणोद्धरिः।
वैडूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च॥ इत्यादि। आदि १९९।१३-१८

३. रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः। आदि २२१।६२

विवाह (ख)

विवाह मे वर्ण-विचार—उस काल के समाज मे ब्राह्मण के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य किसी भी कन्या के साथ विवाह करना निषिद्ध नही था। क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य कन्या से विवाह करते थे। वैश्य केवल वैश्य कन्या मे ही विवाह कर सकता था। शूद्र के लिये किसी दूसरे वर्ण की कन्या से विवाह करने का नियम नही था।

प्रतिलोम विवाह की निन्दा—महाभारत मे प्रतिलोम विवाह को बहुत निन्दनीय बताया गया है। क्षत्रिय राजा ययाति ने ब्राह्मण कन्या देवयानी का पाणिग्रहण किया था। पहले तो धर्मग्लानि के डर से उन्होने देवयानी की प्रार्थना स्वीकार नही की। बाद मे जब शुक्राचार्य ने कहा—"तुम विवाह करो, तुम्हारे अधर्म का प्रतीकार मैं करूँगा"—तभी राजा विवाह के लिये तैयार हुए।[1]

विदुर यदि चाहते, तो क्षत्रिय कन्या से विवाह न कर सकते, ऐसी बात नही थी, धर्मनाश के डर से ही उन्होने पारशवी (जिसका पिता ब्राह्मण एव माता शूद्र थी) कन्या से विवाह किया।[2]

शकुन्तलोपाख्यान मे भी देखने को मिलता है कि दुष्यन्त ने शकुन्तला को ब्राह्मणदुहिता समझकर जरा निराश स्वर मे ही उसका कुलशील जानने के लिये प्रश्न किया था। शकुन्तला का जन्मवृत्तान्त सुनते ही जरा भी हिचकिचाये बिना अत्यन्त आग्रह सहित उन्होने उससे विवाह का प्रस्ताव किया था। प्रतिलोम विवाह का प्रचलन होता, तो ब्राह्मण कन्या से विवाह करने मे क्षत्रियो को आशका का कोई कारण न रहता, दुष्यन्त पहले ही प्रस्ताव कर सकते थे।[3]

द्रौपदी की स्वयवर सभा मे ब्राह्मण आदि समस्त जातियो के पुरुष उपस्थित थे। कर्ण भी लक्ष्यभेद के उद्देश्य से सभा मे गया था। उसके धनुष पर बाण चढाते

---

१ विद्धौशनसि भद्रन्ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि।
अविवाह्या हि राजानो देवयानी पितुस्तव॥ आदि ८१।१८-२०

२. अथ पारशवीं कन्या देवकस्य महीपते.। इत्यादि। आदि ११४ १२, १३

३. आदि ७१ वाँ और ७२ वाँ अध्याय।

ही द्रौपदी उच्च स्वर मे बोल पडी—"मैं सूतपुत्र को वरण नही करूँगी।"[1] उस सभा मे उपस्थित व्यक्तियो मे से किसी ने भी कर्ण को मना नही किया। धृष्टद्युम्न भी उपस्थित थे, उन्होने भी कुछ नही कहा, जब कि कर्ण को सभी सूतपुत्र के रूप मे जानते थे। इससे लगता है कि प्रतिलोम विवाह निषिद्ध या निन्दित होते हुए भी समाज मे विल्कुल ही अप्रचलित नही था। जिन स्वयवरो मे वीरत्व ही प्रण होता हो, उन स्थलो पर जाति-धर्म पर विचार करना सम्भव हो सकता है कि नही, यह भी विचारणीय है। वीरत्व या रण-कौशल देखकर कोई कन्यादान करना चाहे, तो फिर जाति-वर्ण आदि पर विचार करने की बात ही कहाँ उठती है।

अनुलोम विवाह—अनुलोम विवाह के उदाहरण असख्य मिलते हैं। पराशर का सत्यवती से विवाह (आदि ६३ वाँ अ०) च्यवनऋषि का सुकन्या से विवाह (वन १२२ वाँ अ०) ऋचीक का गाधिकन्या से विवाह (वन ११५।२१, अनु० ४।१९), ऋष्यश्रृग का शान्ता से विवाह (वन ११३ वाँ अ०), अगस्त्य का लोपामुद्रा से विवाह (वन ९७ वाँ अ०), जमदग्नि का रेणुका से विवाह (वन ११६।२) आदि अनुलोम विवाह के उदाहरण है। विवाह से पूर्व शान्तनु सत्यवती को धीवरकन्या के रूप मे ही जानते थे। धीवरकन्या से विवाह किया जा सकता है कि नही—इस विषय मे कोई सन्देह ही उनके मन मे पैदा नही हुआ था, कुठाहीन चित्त से उन्होने दाश-राज के समीप उपस्थित होकर कन्या के लिये प्रार्थना की थी। इससे भी अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि अनुलोम विवाह निन्दनीय नही था। (आदि १००वाँ अध्याय)

द्विजाति का शूद्राग्रहण निन्दनीय—द्विजाति का शूद्रजातीय पत्नी ग्रहण करना किसी-किसी समाज मे प्रचलित होने पर भी निन्दनीय माना जाता था। काफी लोग थे, जो इस व्यवहार का समर्थन नही करते थे।[2] कृतघ्नोपाख्यान मे एक मध्यदेशी ब्राह्मण की कथा वर्णित है। अपना परिचय देते हुए उसने बताया था—"मैं कोल-भीलो मे रहता हूँ, मेरी भार्या शूद्रा है विशेषत पुनर्भू (जो पहले किसी दूसरे के साथ ब्याही जा चुकी हो)। ब्राह्मण विल्कुल ही दुराचारी था, यह उस प्रकरण को देखने से अच्छी तरह समझ मे आ जाता है।[3] और भी एक स्थान पर किसी ब्राह्मण की निषाद-पत्नी का वर्णन मिलता है।[4]

---

१. दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चैर्जगाद नाहं वरयामि सूतम्॥ आदि १८७।२३
२. अहोस्विदन्ततो नष्टं श्राद्धं शूद्रपिताविव। द्रो ६९।३
३. मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये। इत्यादि। शा १७१।५
४. निषादी मम भार्येऽय निर्गच्छतु मया सह। आदि २९।३

द्विजाति के शूद्राग्रहण मे मतभेद—महाभारत मे विवाह-कथन प्रकरण मे किसी के मत का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि द्विज केवल सभोग के निमित्त शूद्रा भार्या गहण कर सकता है, किन्तु उनके द्वारा उत्पन्न सन्तान -सतति को धर्मानुसार पारलौकिक कार्य करने का अधिकार नही दिया जायेगा और किसी का मत है कि शूद्रा से विवाह द्विजाति के लिये विल्कुल गर्हित है। क्योकि पति स्वय पुत्र रूप मे पत्नी के गर्भ मे आता है।[१]

विभिन्न जाति के मिलन से उत्पन्न सन्तान का परिचय—अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान समाज मे कही पिता के परिचय से, कही माता के परिचय से गृहीत होती थी। देवयानी की सन्ताने पिता की जाति से परिचित थी, जननी के ब्राह्मण कन्या होने पर भी वे ब्राह्मण नही कहलाई। कृष्णद्वैपायन धीवरपालिता क्षत्रिय-कन्या के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी पिता के परिचय अर्थात् ब्राह्मण रूप मे ही समाज मे गृहीत हुए थे। विदुर ब्राह्मण के औरस पुत्र होने पर भी जननी की जाति के अनुसार शूद्र रूप मे ही समाज मे परिचित थे । इससे पता लगता है कि सन्तान के जाति-परिचय के बारे मे कोई निर्दिष्ट नियम नही था।

वर्ण-सकर सन्तान का मातृजाति से परिचित होने का नियम—साधारणत विभिन्न जातीय स्त्री-पुरुष के मिलन से जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसका जननी की जाति मे ही परिचित होने का नियम है।[२] किन्तु महाभारतकालीन समाज मे यह नियम सर्वत्र प्रचलित नही था। समान वर्ण वर-कन्या का विवाह सर्वोपेक्षा प्रशस्त माना जाता था।

महाभारत के अनुशीलन से और भी एक विशेषता लक्ष्य मे आती है। अधिकाश धार्मिक व वीर पुरुषो का जन्मवृत्तान्त साधारण नियम के व्यतिक्रम की सूचना देता है। अनेक स्थलो पर पिता व माता की जाति विभिन्न मिलती है। इस प्रकार के विवाह का कोई विशेष कारण था कि नही, यह सोचने का विषय है।

देवता, यक्ष आदि के साथ मनुष्य का विवाह—देवता, यक्ष, राक्षस, नाग, सुपर्ण आदि भिन्न जातीय स्त्री-पुरुषो मे विवाह की प्रथा भी समाज मे प्रचलित थी। नाग, सुपर्ण आदि भी मनुष्य थे, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। राक्षस

---

१. रतर्थ्यमपि शूद्रा स्यान्नेत्याहुरपरे जना ।
अपत्यजन्म शूद्राया न प्रशसन्ति साधव.॥ अनु ४४।१२ नीलकठ द्रष्टव्य।

२. भार्याश्च तस्यो विप्रस्य द्वयोरात्मा प्रजायते।
आनुपूर्व्या द्वयोर्हीनौ मातृजात्यौ प्रसूयत.॥ अनु ४८।४ नीलकंठ द्रष्टव्य।

नामक जिस सम्प्रदाय को हम विभीषका की दृष्टि से देखते हैं, वह भी वस्तुत वैसा नही था। वह लोग शायद मनुष्यो मे ही अपेक्षाकृत उग्रपथी लोग थे । देवता भी इसी प्रकार सम्भवत विशेप शक्तिसम्पन्न मनुष्य-सम्प्रदाय का ही नामान्तर है। इस प्रकार सोचे विना विवाह-सवध के सामञ्जस्य की रक्षा नही की जा सकती। महाभारत मे वर्णित बहुत से विवाह जाति वैचित्र्य के उदाहरण है, जैसे—शान्तनु एव गगा का विवाह, जरत्कारु ऋषि एव वासुकिभगिनी का विवाह, भीम व हिडिम्बा का विवाह, अर्जुन व उलूपी का विवाह, महर्षि मन्दपाल व शारगी का परिणय आदि। नागराज वासुकि ने भीम को अपने दौहित्र का दौहित्र वताया है।[1] इससे प्रमाणित होता है, महाभारत की रचना के बहुत पहले से समाज मे ये व्यवहार प्रचलित थे।

सौन्दर्य के आकर्षण से विवाह—जहाँ केवल सौन्दर्य के आकर्षण से विवाह सम्पन्न हुआ हो, इस तरह के उदाहरण भी महाभारत मे वहुत मिलते है। शान्तनु के साथ गगा के विवाह को, अर्जुन के साथ चित्रागदा और उलूपी के विवाह को एव भीम के साथ हिडिम्वा के विवाह को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। किसी-किसी जगह युवक प्रथम प्रस्तावक है, तो किसी जगह युवती ने पहले आत्मसमर्पण किया है।

स्त्री-पुरुष के मिलन की आकांक्षा का प्राधान्य—यद्यपि सन्तानोत्पत्ति द्वारा वशधारा की रक्षा करना ही विवाह का प्रधान उद्देश्य माना जाता था, लेकिन वह आदर्श तात्कालिक समाज मे सिर्फ मुँह की वात तक ही सीमित था। स्त्री-पुरुष के मिलन की आकाक्षा को ही महाभारत मे प्रधानता दी गई है। पुत्र होते हुए भी शान्तनु का पुर्नविवाह, विचित्रवीर्य का एकाधिक विवाह, पाडु के दो विवाह एव ब्रह्मचारी अर्जुन के उलूपी और चित्रागदा परिणय से हम इस निष्कर्प पर पहुँच सकते है।

आदर्श-स्खलन—आदर्श एक वात है, समाज की गति दूसरी वात। कोई भी समाज किसी भी काल मे आदर्श का पूर्ण रूप से अनुसरण नही कर सका। महाभारत मे काफी ऊँचे आदर्शो का विधान होते हुए भी समाज इन्हे मानकर नही चल सका। इसीलिए विवाह आदि जैसे प्रधान-प्रधान विषयो मे भी समय-समय पर आदर्श से च्युत होने के दृष्टात मिलते है। महाभारत की तो विशेषता यही है। प्रत्येक पात्र के चरित्र मे मनुष्यसुलभ दो-चार दोप या दुर्वलताएँ अवश्य मिलती है। विवाह मे भी शायद वही दुर्वलता विजयी हुई है।

---

१. तदा दौहित्रदौहित्रः परिष्वक्त. सुपीडितम्। आदि १२८।६५

विवाह का प्रधान उद्देश्य—शास्त्रीय विधान के अनुसार विवाह का प्रधान उद्देश्य पुत्रलाभ है। महाभारत मे वहुत जगह इस सबध मे कहा गया है।[1]

पुत्र शब्द का अर्थ—इहलोक व परलोक दोनो मे जो समस्त अकल्याणो से रक्षा करे, वही पुत्र का पुत्रत्व है।[2]

पुत्र के प्रकार-भेद—महाभारत मे वारह प्रकार के पुत्रो का उल्लेख किया गया है।

(क) **स्वयजात**—विवाहिता पत्नी से जिस पुत्र की स्वय उत्पत्ति की जाय, उसकी सज्ञा 'स्वयजात' है।

(ख) **प्रणीत**—विवहिता पत्नी से किसी दूसरे उत्तम पुरुष द्वारा जो पुत्र-लाभ किया जाय, उसका नाम 'प्रणीत' है।

(ग) **परिक्रीत**—दूसरे पुरुष को धन द्वारा प्रलोभित करके अपनी विवाहिता पत्नी से नियोग कराने के फलस्वरूप जो पुत्र उत्पन्न होता है, उसे 'परिक्रीत' कहते हैं।

(घ) **पौनर्भव**—दूसरे की विवाहिता पत्नी को यदि कोई पुरुष द्वितीय बार स्त्रीरूप मे ग्रहण करे, तो द्वितीय पति के औरस से उस स्त्री के गर्भ मे जिस पुत्र की उत्पत्ति होती है, इसकी सज्ञा 'पौनर्भव' है। पौनर्भव पुत्र पिता के पुत्ररूप मे ही समाज मे गृहीत होता है।

(ङ) **कानीन**—विवाह से पूर्व ही कुमारी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो, वह 'कानीन' कहलाता है।

(च) **स्वैरिणीज**—विवाहिता स्वैरिणी महिला के गर्भ मे पति के अलावा कोई समान जातीय या उत्तम जातीय पुरुष जिस पुत्र का उत्पादन करे, उस पुत्र को 'स्वैरिणीज' कहते हैं।

---

१. बहुकल्याणमिच्छन्त ईहन्ते पितरः सुतान्। शा १५०।१४
भार्याया जनित पुत्रमादर्शेस्विव चाननम्। इत्यादि। आदि ७४।४९, ६६
अनपत्य. शुभाल्लोकान्न प्राप्स्यामीति चिन्तयन्। आदि १२०।३०
तत्तारयति सन्तत्या पूर्वप्रेतान पितामहान्। आदि ७४।३८
कुलवशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन्। आदि ७४।९८
वृथा जन्म ह्यपुत्रस्य। वन १९९।४
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्। आदि ७४।१११
अग्निहोत्र त्रयी विद्यासन्तानमपि चाक्षयम्।
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कला नार्हन्ति षोडशीम्॥ आदि १००।६८

२. सर्वथा तारयेत् पुत्र. पुत्र इत्युच्यते बुधैः। आदि १५९।५

उल्लिखित छह प्रकार के पुत्रो मे 'स्वयजात' और 'पौनर्भव' पुत्र को 'औरस' पुत्र कहा जाता है। कानीन पुत्र 'औरस' न होते हुए भी 'व्यवहित-औरस-पुत्र' कहा जाता है। 'प्रणीत', 'परिक्रीत' एव 'स्वैरिणीज' इन तीनो प्रकार के पुत्रो को 'क्षेत्रज पुत्र' कहते है। उल्लिखित छह प्रकार के पुत्रो को 'बधुदायाद' कहा जाता था, अर्थात् वे पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते थे ।

अन्य जिन छह प्रकार के पुत्रो का उल्लेख किया जायगा, वे पिता की सम्पत्ति के अधिकारी नही होते थे , इसलिये उन्हे 'अबधुदायाद' कहा गया है।

(छ) **दत्त**—माता-पिता जिस पुत्र को अन्य अपुत्रक व्यक्ति के पुत्ररूप मे दान कर देते है उसे 'दत्त' कहते है।

(ज) **क्रीत**—मूल्य के विनिमय से यदि किसी का पुत्र खरीद कर लाया जाय, तो उस पुत्र को 'क्रीत' कहते हैं।

(झ) **कृत्रिम**—यदि कोई बालक स्वय उपस्थित होकर किसी को पिता कह कर सम्बोधित करे, तो उस पुत्र को 'कृत्रिम' सज्ञा दी जाती है।

(ञ) **सहोढ़**—यदि विवाह के समय ही पात्री गर्भवती हो, तो उस गर्भजात सन्तान को 'सहोढ' कहा जाता है।

(ट) **ज्ञातिरेता**—सहोदर से भिन्न दूसरी जाति के पुत्र को 'ज्ञातिरेता' कहा जाता है।

(ठ) **हीनयोनिधृत**—अपनी अपेक्षा अधम जातीय स्त्री से उत्पादित पुत्र को 'हीनयोनिधृत' कहा जाता है।

उल्लिखित बारह प्रकार के पुत्रो मे क्रमश पूर्व-पूर्व के पुत्र प्रशस्त है।[1]

पंचविध पुत्र—अन्यत्र पॉच प्रकार के पुत्रो का वर्णन किया गया है। औरस, लब्ध, क्रीत, पालित एव क्षेत्रज ये पाँच प्रकार के पुत्र इहलोक मे धर्म व प्रीति की वृद्धि करते है और परलोक मे पितृगण को नरक से परित्राण दिलाते है।[2]

बीस प्रकार के पुत्र—भीष्म-युधिष्ठिर-सवाद मे बीस प्रकार के पुत्रो का उल्लेख किया गया है। पूर्वोक्त बारह प्रकार के पुत्रो के अलावा जिन आठ प्रकार के पुत्रो का वर्णन मिलता है, वे विभिन्न जातीय स्त्री-पुरुष के मिलन से उत्पन्न वर्णसकर सन्तान होती है।[3]

---

१. स्वयंजातः प्रणीतश्च परिक्रीतश्च वा सुतः। इत्यादि। आदि १२०।३३-३५ नीलकण्ठ द्रष्टव्य।

२. स्वपत्नीप्रभवान् पंच लब्धान् क्रीतान् विवर्द्धितान्। इत्यादि। आदि ७४। ९९, १००

३. अनु ४९ वाँ अध्याय।

पुत्रिकापुत्र मातामह का वशरक्षक—'पुत्रिकापुत्र' मातामह के वशरक्षक के रूप मे गृहीत होता था। भ्रातृहीना कन्या को अविवाहयोग्य क्यो माना गया है, इसके बारे मे बताते वक्त इस विषय पर विस्तृत रूप मे कहा जा चुका है।[१] बभ्रुवाहन (अर्जुन का पुत्र) अपने मातामह के पुत्रिकापुत्र थे।[२] टीकाकार नीलकठ ने कहा है कि दक्षिण केरल मे पुत्रिकापुत्र ही मातामह की सम्पत्ति का अधिकारी होता है, औरस पुत्र को सम्पत्ति नही मिलती।[३]

क्षेत्रजपुत्र पर क्षेत्री का ही अधिकार, बीजी का नहीं—क्षेत्रज पुत्र के सबध मे जो नियम है, उससे पता लगता है कि क्षेत्रज हमेशा पाणिग्रहीता का पुत्र माना जाता था, बीजी का नही। व्यास के औरस से जन्म लेने पर भी धृतराष्ट्र आदि तीन भाई विचित्रवीर्य के ही क्षेत्रज पुत्र कहलाये। पचपाडव भी पाडु के पुत्ररूप मे समाज मे गृहीत थे। महाभारत मे इस तरह के अनेको उदाहरण उद्धृत हैं। अनुशासन पर्व के पुत्रविभाग प्रकरण मे भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं, "यदि कोई परस्त्री के गर्भ मे पुत्रोत्पत्ति करे, तो उस पुत्र पर उत्पादक का ही अधिकार होता है, किन्तु यदि लोकापवाद के भय से उत्पादक पिता उस पुत्र का त्याग करे, तो जिस नारी के गर्भ से पुत्र जन्मा हो, उसका पाणिग्रहीता ही पुत्र का पिता होगा।"[४] महाभारत मे कही भी इस नियम के अनुकूल कोई उदाहरण नही मिलता। इससे लगता है कि वह नियम इस काल के समाज मे प्रचलित नही था। सर्वत्र क्षेत्री ही पुत्र का अधिकारी होता था, बीजी का कोई अधिकार समाज स्वीकार नही करता था।

कुमारी की सन्तान पर पाणिग्रहीता का अधिकार—यदि कोई व्यक्ति गर्भवती कुमारी से विवाह करता था, तो उस गर्भजात सन्तान को समाज मे पाणिग्रहीता की सन्तान के रूप मे ही स्थान मिलता था।[५] किन्तु महाभारत मे गर्भवती कन्या से विवाह का कोई उदाहरण नही मिलता। अत इस विषय मे उस काल के समाज मे कैसा नियम प्रचलित था, यह समझने का कोई उपाय नही है।

---

१. विवाह (क) पृ० १४

२. पुत्रिकाहेतुविधिना सज्ञिता भरतर्षभ। इत्यादि। आदि २१५।२४, २५

३. अद्यापि पुत्रिकापुत्रस्यैव राज्यमिति दक्षिणकेरलेषु आचारो दृश्यते। नीलकठ टीका आदि २१५।२५

४. आत्मज पुत्रमुत्पाद्य यस्त्यजेत् कारणान्तरे।
न तत्र कारण रेतः स क्षेत्रस्वामिनो भवेत्॥ अनु ४९।१५

५. पुत्रकामो हि पुत्रार्थे या वृणीते विशाम्पते।
क्षेत्रज तु प्रमाण स्यान्न वै तत्रात्मज. सुत.॥ अनु ४९।१६ द्रष्टव्य—नीलकंठ

'कृतक'–पुत्र के संस्कारादि का नियम––जिस पुत्र को माता-पिता गुप्त रूप से परित्याग कर देते थे, उस पुत्र का दयावश जो व्यक्ति लालन-पालन करता था, वही उसका पिता होता था। ऐसे पुत्र को 'कृतक'-पुत्र कहा जाता था। उस पुत्र के नामकरण आदि सस्कार से पहले यदि पालक पिता को उसके माता-पिता का पता लग जाता, तो पिता की जाति और धर्म के अनुसार उसकी सस्कार क्रिया करने का नियम था, और यदि जाति-धर्म किसी के वारे मे पता नही लगता, तो अपने जाति-गोत्र के अनुसार ही सस्कारादि करने पडते थे।[1] कुन्ती द्वारा परित्यक्त कर्ण का राधा व अधिरथ नामक किसी सूत दम्पत्ति ने पालन किया था, एव सूतजाति के विधान के अनुसार ही कर्ण के विवाह तक के सव सस्कार किये।

कानीन पुत्र का नियम––जातपुत्रा कुमारी से जो विवाह करता था, कानीन पुत्र उसी को पिता वताकर अपना परिचय देता था।[2]

कृष्णद्वैपायन 'कानीन' होते हुए भी 'शान्तनु' पुत्र के नाम से परिचित नहीं हुए––कृष्णद्वैपायन को सत्यवती के कानीन पुत्र होते हुए भी कही भी शान्तनु पुत्र नही कहा गया है। 'सत्यवतीसुत' एव 'पाराशर्य' के नाम से ही परिचित हैं। अत. उल्लिखित शास्त्रीय विधान समाज ने सर्वत्र स्वीकार नही किया था।

कर्ण पाडु के ही कानीन पुत्र––कर्ण असल मे पाडु के ही कानीन पुत्र थे। किन्तु लोक-लज्जा के डर से उन्हे नदी मे वहा देने के कारण समाज मे यह वात अप्रकट थी कि वे कुन्ती के गर्भजात है। इसी कारण वे सूत दम्पत्ति के कृतक-पुत्र थे।

कानीन व अध्यूढ-पुत्र की निन्दा––कानीन व अध्यूढ पुत्र को समाज मे प्रशस्त स्थान नही प्राप्त था, उनका जीवन जैसे अभिशप्त था। महाभारतकार ने उन्हे 'किल्विष' (पाप) की सज्ञा दी है। पालक पिता अपने वर्ण-गोत्र के अनुसार उनका वैदिक सस्कार करे––इस नियम मे उनके प्रति किंचित् अनुग्रह प्रकट होता है। अन्यगोत्र या अन्यवर्णज होते हुए भी सस्कार द्वारा सस्कर्त्ता के ही वर्ण एव गोत्र का तो होगा, किन्तु उन वर्णोचित क्रियाकलापो मे कानीन पुत्र को अधिकार दिया जायगा कि नही, इस विपय मे महाभारतकार ने कुछ नही कहा है। 'किल्विप'–विशेषण से अन्दाज लगता है कि उनके अधिकार भी सम्भवत सीमित थे, व्यासदेव के कानीन होते हुए भी, उनकी वात साधारण से पृथक् थी।[3]

---

१. मातापितृभ्यां यस्त्यक्तः पथि यस्तं प्रकल्पयेत्।
न चास्य मातापितरौ ज्ञायेतां स हि कृत्रिमः॥ इत्यादि। अनु ४९।२०-२५

२. वोढारं पितरं तस्य प्राहुः शास्त्रविदो जनाः। उ १४०।८

३. कानीनाध्यूढजौ वापि विज्ञयौ पुत्र किल्विषौ।
तावपि स्वाविव सुतौ संस्कार्याविति निश्चयः॥ अनु ४९।२५। द्र०—नीलकंठ

कुमारी का सन्तान-प्रसव कलक—पिता के घर कुमारी का सन्तान प्रसव करना समाज मे वहुत वडा कलक माना जाता था। कुन्ती देवी ने कुमारी अवस्था मे ही गर्भधारण कर लिया था, किन्तु गर्भकाल उन्होने वहुत ही गोपनीय रूप से विताया था। एक धात्री के अलावा कोई भी यह वात नही जानता था। यथासमय उन्होने सन्तान प्रसव की। दूसरे ही क्षण कलक की वात ध्यान मे आते ही उन्होने धात्री से परामर्श लेकर एक मजूषा को अच्छी तरह मोम से निश्छिद्र वनाया। अनिच्छा होते हुए भी समाज के डर से रोते-रोते उस मजूषा मे सद्य जात शिशु को लिटाया और पेटी उठाकर नदी की ओर चली। वहुत ही अधीर होकर पेटी को नदी के स्रोत मे वहा दिया। रोते-रोते देवताओ से पुत्र के कल्याण के लिये प्रार्थना की और गभीर रात्रि मे उस धात्री के साथ राजभवन लौटी। इस असहाय वेदना को वे जीवन भर हृदय मे छुपाये रही, समाज के प्रतीकार के डर से किसी पर सत्य प्रकट नही किया। कर्ण की मृत्यु के वाद उनकी पारलौकिक क्रिया के लिये युधिष्ठिर से कहते समय पहले-पहल सत्य प्रकट किया।[१]

इस घटना से अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि कानीन पुत्र एव अध्यूढ-पुत्र को समाज मे अच्छा स्थान नही मिलता था। कुमारी का गर्भधारण भी अत्यन्त गर्हित कहा जाता था। इसी कारण कुन्ती समाज के डर से जीवन भर तिल-तिल करके जलती रही। कुन्ती के चरित्र-चित्रण से भी यह पता लगता है कि इस घटना के वाद से ही उनके अत करण ने जैसे कठोरता का अवलम्वन ले लिया था। महाप्रस्थानिक पर्व मे धृतराष्ट्र व गाधारी के साथ प्रव्रज्याग्रहण के समय भी कुन्ती की यह मनोदशा प्रकट हुई है। वाद मे उन्होने व्यासदेव को कर्ण का जन्म-वृत्तान्त आद्योपात कह सुनाया था।

वहुपुत्र-प्रशसा—किसी-किसी जगह वहुपुत्रोत्पत्ति की प्रशसा की गई है। आरण्यक मे गयामाहात्म्य वर्णन के प्रसग मे कहा गया है—"गृहस्थ व्यक्ति वहु पुत्रो की कामना करें। क्योकि वहुत से पुत्र होने पर कोई पितरो का गया-श्राद्ध करेगा, कोई अश्वमेधयज्ञ द्वारा पितरो की प्रीति का अर्जन करेगा और कोई पितरो की तृप्ति के उद्देश्य से नीलवृष उत्सर्ग करेगा।"[२]

---

१. गूहमानापचारं सा वधुपक्षभयात् तथा।
उत्ससर्ज्ज कुमारं तं जले कुन्ती महाबलम्॥ आदि १११।२२
वन ३०७ वाँ अ०।

२. एष्टव्या वहवः पुत्रा यद्ये कोऽपि गया व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमूत्सृजेत्॥ वन ८४।९७

एकमात्र पुत्र अपुत्र रूप मे गण्य—एक पुत्र तो पुत्र ही नहीं माना गया है। शान्तनु ने भीष्म से कहा था—"धर्मज्ञ कहते है, कि एकपुत्रता तो सन्तानहीनता मे गण्य है। जिसके एक ही पुत्र हो, उसकी वशरक्षा का भरोसा बहुत कम होता है।"[1]

शान्तनु की यह उक्ति ठोस प्रमाण स्वरूप नही ली जा सकती। क्योकि उस समय वे सत्यवती के असाधारण रूप लावण्य पर मग्ध होकर उसे पत्नी रूप मे पाने के लिये व्याकुल थे । इसीलिये "एक पुत्र पुत्र ही नही है" आदि शास्त्रवचनो की दुहाई देकर वे उपयुक्त पुत्र देवव्रत को कौशल से अपने मनोभाव समझाने की चेष्टा कर रहे थे ।

तीन पुत्र होने से अपुत्रतादोष खत्म होता है—दानधर्म मे कहा गया है कि तीन पुत्रों के जन्म के बाद अपुत्रत्वदोष का नाश हो जाता है। इन सब उक्तियो का तात्पर्य दूसरा है। शब्द का लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने से काम नही चलेगा, क्योकि एक पुत्र के पैदा होते ही गृहस्थ पितृऋण से मुक्त हो जाता है। अतएव कहना पडेगा कि बहुपुत्रोत्पत्ति की प्रशसा ही इसका उद्देश्य है।[2]

बहुपुत्रक की निन्दा—अन्यत्र देखा जाता है कि जिनके पुत्रो की सख्या अधिक होती थी, वे कोई बहुत प्रसन्न नही होते थे । दरिद्र का बहु-पुत्रक होना अभिशाप ही माना जाता था।[3] बहु-पुत्रक दरिद्र पिता को समाज मे करुणा की दृष्टि से देखा जाता था। दानधर्म मे कहा गया है, "बहुपुत्रक को दान देने से दाता उत्तम गति को प्राप्त होता है।"[4] दूसरे रूप मे उनकी थोडी-बहुत सहायता करना समाज के लिये उचित है, इसीलिये क्या यह फलश्रुति बनाई है ?

रुचिभेद से मतिभेद—व्यक्तिगत रुचि के अनुसार ही शायद एक पुत्र और बहु-पुत्र की निन्दा व प्रशसा की गई है। इन सब विषयो मे कभी भी सबका एकमत नही रह सकता। उस समय भी माता-पिता इन सब विषयो पर अलग-अलग तरह से सोचते थे —उल्लिखित मतभेद इसी का प्रमाण देता है।

पितृत्व एवं मातृत्व का गौरव—देश की शासन-प्रणाली सुव्यवस्थित होने एव अर्थलाभ के अनेक पथ होने के कारण पितृत्व या मातृत्व साधारण समाज मे दु सह

---

१. अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्म्मवादिनः॥ आदि १००।६७

२. अपुत्रतां त्रयः पुत्राः। अनु ६९।१९

३. अगतिर्बहुपुत्रः स्यात्। अनु ९३।१२८

४. भिक्षेव बहुपुत्राय श्रोत्रियाया हिताग्नये।
दत्वा दश गवां दाता लोकानाप्नोत्यनुत्तमान्॥ अनु ६९।१६

अभिशाप का वोझ नही समझा जाता था। इसीलिये वहुसतान के माता पिता की चिन्ता का कोई कारण था, ऐसा नही लगता। उस काल के समाज मे स्वच्छद जीवन यापन मे कोई भी समस्या दिखाई नही देती। इसी कारण देखने मे आता है कि सन्तान का मुख देखने के लिये वहुत से माता-पिता अत्यन्त कष्टसाध्य तपस्या मे आत्मनियोग करने मे जरा भी नही हिचकिचाते थे। सपत्नीक अश्वपति, द्रुपद और सोमदत्त की तपस्या-वर्णन से यह अच्छी तरह समझ मे आ जाता है। ('देवता' प्रवध देखिये)

वध्यात्व वेदनादायक—उपयुक्त उम्र मे सन्तान का मुख न देख पाने पर स्त्रियो के कष्ट की सीमा नही रहती थी। नारियो के लिये वध्यात्व असह्य वेदना का कारण था।[१]

नियोग प्रथा या अन्यान्य उपायो द्वारा सन्तानोत्पत्ति के विधान मे भी यही मनोभाव प्रकट होता है कि नही, यह सोचने का विषय है।

धनी की सतानसख्या कम, दरिद्र की अधिक—प्राय देखने मे आता है कि धनी व्यक्ति की सन्तानो की सख्या कम होती है। वहुत से वडे वडे परिवारो मे पुत्र का गोद लेना जैसे परम्परागत नियम वन जाता है। जो व्यक्ति सन्तान का उपयुक्त भरण-पोषण करने मे अक्षम होता है, नियति उसी का घर वच्चो से भर देती है, दरिद्र समाज मे अपुत्रक व्यक्ति विरले ही मिलते हैं। महाभारत मे ठीक इसी तरह की एक उक्ति है—"जो निर्धन पिता सन्तान नही चाहते, उनके घर तो वच्चो की भीड लग जाती है और जो धनी हैं, जो शिशु का लालन-पालन करके उसे मनुष्य वनाने मे समर्थ होते हैं, वे पुत्र का मुख देखने को तरसते रहते हैं, विधि की यही विचित्र लीला है।[२] चिकित्साशास्त्र के विद्वान उसे विधि की लीला न कहकर अन्य कारणो का उल्लेख कर सकते हैं, किन्तु महाभारतकार इस विषय मे सिर्फ अदृष्ट की दुहाई देकर ही विरत हो गये हैं।

नियोग-प्रथा—सन्तानोत्पत्ति मे असमर्थ होने पर कोई-कोई पुरुष अपनी पत्नी से किसी दूसरे उत्कृष्ट पुरुष के सयोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति की व्यवस्था करते थे। किसी-किसी जगह पति की मृत्यु होने पर अपुत्रा नारी वश-लोप के डर से किसी उत्तम पुरुष के सयोग से गर्भधारण करती थी। इसी प्रकार के सयोग को 'नियोग-प्रथा' कहते थे और इस-प्रकार उत्पन्न पुत्र को "क्षेत्रज" कहा जाता था।

---

१. अप्रसूतिरकिञ्चनः। अनु ९३।१३५

२. सन्ति पुत्रा सुबहवो दरिद्रानामनिच्छताम्।
नास्ति पुत्र. समृद्धाना विचित्रं विधिचेष्टितम्॥ शा २८।२४

नियोग-प्रथा धर्म-विर्गाहित नहीं—यह नियम धर्मविर्गाहित नही है—महाभारत का यही अभिप्राय है। उस समय के समाज मे यह प्रथा प्रचलित थी।[1] परवर्ती काल मे यह रीति समाज मे अचल हो गई। मनुसहिता मे भी इस रीति के पक्ष व विपक्ष दोनो मे आलोचना की गई है। अन्यान्य स्मृतिग्रथो मे कलियुग के लिए इस प्रथा का निषेध किया गया है। स्मृतिनिवधकारो ने भी एक वाक्य मे कह दिया है—कलियुग मे यह नियम नही चल सकेगा।

ब्राह्मण के औरस से क्षत्रिय का जन्म—परशुराम ने क्रमानुसार इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय हीन किया। तव विधवा क्षत्रिय रमणियाँ वशरक्षा के निमित्त ब्राह्मणो की शरणापन्न हुई। सशितव्रत ब्राह्मणो ने धर्मबुद्धि से समागमार्थिनी विधवाओ का गर्भाधान किया। उन्होने सिर्फ ऋतुकाल मे ही अभिगमन किया था, कामनावश स्पर्श भी नही किया। इस प्रकार फिर से पृथ्वी पर क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति हुई थी।[2]

'तपस्वी' 'सशितव्रत' आदि विशेषण शब्दो से पता चलता है कि उन सब क्षत्रिय जनक ब्राह्मणो ने इन्द्रिय-लालसावश क्षत्रिय नारियो के साथ सभोग नही किया, धर्मरक्षा निमित्त उन्हे ऐसा करना पडा था।

विचित्रवीर्य की मृत्यु—धृतराष्ट्र, पाडु व विदुर के जन्मदाता श्रीकृष्णद्वैपायन ही थे। काशिराज कन्या अम्बिका व अम्बालिका से विवाह करने के सात वर्ष वाद यक्ष्मा रोग से विचित्रवीर्य की मृत्यु हो गई। तब तक उनकी कोई सन्तान नही जन्मी थी।[3]

धर्मरक्षा निमित्त सत्यवती का भीष्म से अनुरोध—विचित्रवीर्य की जननी सत्यवती धर्मरक्षा निमित्त भीष्म से अनुरोध करती हुई बोली, "तुम श्रुति, स्मृति, वेदाग आदि सब शास्त्रो के तत्त्व से अवगत हो, अत शान्तनु के वश की प्रतिष्ठा का भार अब तुम्हारे ऊपर है। अकाल मे परलोकगत नि सन्तान विचित्रवीर्य की रूप-

---

१. सन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्त्तुमिहार्हसि। आदि १०३।१०
मर्मैतद्ववचनं धर्म्यं कर्त्तुमर्हस्यनिन्दिते। आदि १२२।२५
सज्जना चरिते पथि। सभा ४१।२४

२. तदा निःक्षत्रिये लोके भार्गवेण कृते सति।
ब्राह्मणन् क्षत्रिया राजन् सुतार्थिन्योऽभिचक्रमुः॥ इत्यादि। आदि ६४।५-८
आदि १०४।५, ६

३. ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगह्यत॥ इत्यादि। आदि १०२।७०, ७१

यौवन-सम्पन्न दोनो बहुएँ पुत्रकामी है। हे भीष्म, तुम मेरे नियोग के अनुसार उनके गर्भ मे सन्तान की उत्पत्ति करके धर्म की रक्षा करो।" दूसरे सुहृद् व्यक्तियो ने भी इस सम्बन्ध मे देवव्रत से अनुरोध किया।

भीष्म की अस्वीकृति—प्रत्युत्तर मे देवव्रत ने विमाता से कहा, "माता, आपने जो भी कहा है, वह धर्मशास्त्रो द्वारा अनुमोदित है, इसमे सन्देह नही है। किन्तु आप तो मेरी प्रतिज्ञा को जानती है। मै किसी भी तरह प्रतिज्ञा भग नही कर सकता।"[1]

गुणवान ब्राह्मण से नियोग करने का भीष्म का प्रस्ताव—इसके बाद दीर्घतमा के उपाख्यान का वर्णन करते हुए भीष्म माता से बोले—"माता, किसी गुणवान ब्राह्मण को धनरत्न आदि देकर इस कार्य मे नियोग करने को मै उचित समझता हूँ।"[2]

सत्यवती-व्यास सवाद—सत्यवती के महर्षि कृष्णद्वैपायन का प्रस्ताव करते ही भीष्म ने सन्तुष्ट मन से समर्थन किया। सत्यवती के कृष्णद्वैपायन को स्मरण करने पर वे आकर उपस्थित हुए। अन्यान्य कथा-वार्त्ताओ के बाद सत्यवती असली बात पर आई, बोली—"वत्स, विचित्रवीर्य तुम्हारा छोटा भाई था, उसकी दोनो युवती विधवा पत्नी पुत्रकामी है, तुम धर्मत उनको गर्भाधान कराकर कुरुवश की रक्षा करो।"[3] व्यास बोले, "माता, आप निवृत्ति एव प्रवृत्ति धर्म के रहस्य से अवगत है। हे महाप्राज्ञे, आपकी बुद्धि धर्मानुकूल है। मै आपके नियोगानुसार धर्मरक्षा के निमित्त भ्रातृवधुओ का गर्भाधान करूँगा। यह सनातन धर्म मे भी उक्त है। दोनो बहुओ को मेरे निदेशानुसार एक साल तक व्रत करके शुद्ध होना पडेगा। व्रतादि द्वारा विशुद्ध हुए बिना कोई भी नारी मेरा तेज सहन नही कर पायेगी।"[4]

धृतराष्ट्रादि का जन्म—सत्यवती ने, दीर्घकाल तक राज्य को अराजक अवस्था रखना अनुचित है, यह कहकर शीघ्र ही गर्भाधान कराने के लिये कृष्णद्वैपायन से अनुरोध किया। अम्बिका व अम्बालिका दोनो ही कृष्णद्वैपायन का तेज नही सह

---

१. आदि १०३ वां अध्याय।

२. ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम्।
विचित्रवीर्य क्षेत्रेषु य समुत्पादयेत् प्रजा.॥ आदि १०५।२

३. यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मत ॥ इत्यादि। आदि १०५।३७, ३८

४. वेत्थ धर्मं सत्यवति परञ्चापरमेव च॥ इत्यादि। आदि १०५।३९–४३

पाई। फलस्वरूप अम्बिका का पुत्र हुआ जन्मान्ध और अम्बालिका का पाडुवर्ण। सत्यवती ने पुन अम्बिका को भेजा। किन्तु स्वय न जाकर अम्बिका ने अपनी दासी को उत्कृष्ट वस्त्राभूषणो से सुसज्जित करके शयन-मन्दिर मे भेज दिया। दासी की सयत्न परिचर्या से महर्षि तृप्त हुए और दासी के गर्भ से दीर्घदर्शी विदुर का प्रादुर्भाव हुआ।[1]

पाडु द्वारा कुन्ती का नियोग—किन्दम मुनि के अभिशाप से सन्तानोत्पत्ति मे असमर्थ होने पर पाडु ने कुन्ती से किसी उत्कृष्ट पुरुष द्वारा गर्भाधान करने के लिए अनुरोध किया।[2] अधर्म की आशका से पहले तो कुन्ती सम्मत नही हुई, वाद को पाडु द्वारा उद्धृत वहुत से दृष्टात व शास्त्र-वचनो से आश्वस्त होकर क्रमानुसार धर्म, वायु और इन्द्र से गर्भधारण करके उन्होने तीन पुत्र प्रसव किये।[3]

नकुल व सहदेव की उत्पत्ति—माद्री ने भी कुन्ती की सहायता से अश्विनी-कुमारो का प्रसाद पाकर नकुल व सहदेव को जन्म दिया।[4]

महाभारत की मूल घटना मे उल्लिखित कई क्षेत्रज सन्तानो का परिचय मिलता है। उसके अलावा और भी कई पुरानी घटनाएँ महाभारत मे उल्लिखित हुई है। क्षत्रियहीन पृथ्वी पर पुन क्षत्रियो की उत्पत्ति के सबध मे पहले कहा जा चुका है। राजा सौदास ने अपनी स्त्री मदयन्ती के गर्भ से सन्तानोत्पत्ति के निमित्त अपने कुल-पुरोहित महर्षि वशिष्ठ को नियुक्त किया था। मदयन्ती व वशिष्ठ से उत्पन्न पुत्र का नाम अश्मक था।[5]

वलि के लिए दीर्घतमा की पुत्रोत्पत्ति—धर्मज्ञ राजा वलि ने दीर्घतमा मुनि को अपनी पत्नी सुदेष्णा को गर्भाधान कराने के निमित्त नियुक्त किया था। मुनि को वृद्ध एव अध देखकर स्वय उनके पास न जाकर सुदेष्णा ने एक धात्री को भेज दिया। दीर्घतमा के औरस द्वारा उस धात्रेयी के गर्भ से काक्षीवान आदि पुत्रो ने जन्म लिया। वाद मे दीर्घतमा से समस्त विवरण जानने पर राजा ने पुन सुदेष्णा को उनके पास भेजा। सुदेष्णा ने क्रमानुसार पाच पुत्र प्रसव किये। उनके नाम थे—अग, वग,

---

१. आदि १०६ वाँ अध्याय।

२. तदनाचक्ष्व श्रेयसो वा त्व विद्धचपत्य यशस्विनि। आदि १२०।३७

३. आदि १२३ वाँ अध्याय।

४. आदि १२४ वाँ अध्याय।

५ सौदासेन च रम्भोरु नियुक्ता पुत्रजन्मनि।
मदयन्ती जगामर्षि वशिष्ठमिति नः श्रुतम्। इत्यादि। आदि १२२।२१, २२
गच्छन्त्याज्ञया देवी वशिष्ठमुपचक्रमे। आदि १७७।४३

कलिंग, पुण्ड्र और सूक्ष्म। प्रत्येक के नाम पर एक एक देश ने प्रसिद्धि प्राप्त की।[1] वलि राजा पुत्रोत्पत्ति के लिए असमर्थ थे, ऐसा महाभारत मे लिखा हुआ नही है। सम्भवत उत्कृष्ट धार्मिक पुत्र-लाभ के लिए उन्होने मुनि को नियुक्त किया होगा।

नियोग प्रथा से शारदण्डायिनी के तीन पुत्र—शारदण्डायिनी नामक किसी महिला ने अपने पति के आदेश से एक सिद्ध ब्राह्मण द्वारा गर्भधारणपूर्वक दुर्जय आदि तीन महारथी पुत्रो को जन्म दिया था।[2]

आचार्यपत्नी का सन्तान-प्रसव—आचार्य उद्दालक ने सन्तानोत्पत्ति के लिए अपनी पत्नी से एक शिष्य का नियोग कराया। शिष्य के औरस से श्वेतकेतु का जन्म हुआ।[3] ऐसे तो वे सव व्यवहार वहुत ही जघन्य मालूम देते है, लेकिन जहाँ धर्म-बुद्धि प्रवल हो, वहाँ काम की प्रेरणा को प्रश्रय नही मिल पाता, यही इन घटनाओ का मूल है या नही, यह विचारणीय विषय है।

नियोगप्रथा द्वारा तीन पुत्रो से अधिक की आकाक्षा करना निन्दनीय—तीन पुत्रो के जन्म के वाद पाडु ने पुन कुन्ती से किसी उत्तम पुरुष द्वारा गर्भधारण करने के लिए कहा। कुन्ती ने उत्तर दिया, "आपद्काल मे भी तीन सन्तान से अधिक की कामना करने की वात किसी शास्त्र मे नही है। जो नारी चार वार परपुरुष का ससर्ग करती है, उसे स्वैरिणी कहा जाता है, और जो पाँच वार ऐसा कार्य करती है, वह वेश्या के समान है।"[4]

नियोगप्रथा मे धर्म की आशका—यद्यपि नियोग प्रथा को धर्मसगत कहा गया है, तव भी वहुत से लोग उसमे आशका करते थे। सत्यवती ने गोपनीय रूप से अम्विका के निकट उपस्थित होकर अनेक कथावार्ताओ के वाद वडी मुश्किल से उन्हे सहमत किया था।[5] पाडु ने जव कुन्ती से क्षेत्रज पुत्रोत्पादन का प्रस्ताव किया, तो कुन्ती वोली, "हे धर्मज्ञ, आप पर पूर्ण रूप से आसक्त इस धर्मपत्नी को ऐसा आदेश मत दीजिए।"[6]

---

१. जग्राह चैनं धर्मात्मा वलि सत्यपराक्रम।
ज्ञात्वा चैन स वव्रेऽथ पुत्रार्थे भरतर्षभ॥ इत्यादि। आदि १०४। ४३-५५

२. श्रृणु कुति कथामेता शारदण्डायिनीं प्रति। इत्यादि। आदि १२०।३८-४०

३. उद्दालक श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः। शा ३४।२२

४. नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत।
अत. पर स्वैरिणी स्याद्वन्धकी पचमे भवेत्॥ आदि १२३।७७

५. सा धर्मतोऽनुनीयैना कथञ्चिद्धर्मचारिणीम्॥ आदि १०५।५४

६. न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथञ्चन। आदि १२१।२

अनेको प्राचीन उदाहरण देने पर भी पाडु जब कुन्ती को सहमत नही कर सके, तो बोले—"हे भीरु, हम लोगो के जन्म का वृत्तान्त तो तुम जानती ही हो। कुरुवश की रक्षा के निमित्त कृष्णद्वैपायन ने हम लोगो का पितृत्व स्वीकार किया था। शास्त्र-कारो ने कहा है, धर्म हो या अधर्म, पत्नी को हमेशा पति का आदेश शिरोधार्य करना चाहिए। हे अनवद्यागि, विशेषत. पुत्र के मुख-दर्शन की दुर्दमनीय लालसा ने मुझे व्याकुल कर रखा है। मैं करबद्ध होकर प्रार्थना करता हूँ कि मेरी इच्छा पूर्ण करो। तुम्हारे अनुग्रह से ही मैं उत्तम गति को प्राप्त होऊँगा।" पाडु की करुण प्रार्थना पर हारकर कुन्ती को सहमत होना पडा।[1]

पुत्रोत्पत्ति के निमित्त पति का आदेश मिलने पर भी जो नारी परपुरुष का ससर्ग नही करती, वह पाप मे लिप्त होती है।[2] मुँह से धर्म की दुहाई देने पर भी यह नियम धर्मसगत है या नही, इसमे स्वय पाडु को भी सदेह था। माद्री की प्रार्थना पर पाडु के मनोभाव प्रकट हुए थे। कुन्ती के पुत्रो को देखकर माद्री ने भी एक दिन एकान्त मे पाडु पर अपनी मनोभिलाषा प्रकट की थी कि वह भी नियोग प्रथा से क्षेत्रज पुत्र का मुँह देखना चाहती है। पाडु बोले, "मेरे मन मे भी यह आकाक्षा थी, पर तुम मन मे क्या कहोगी, इस आशका से तुम पर प्रकट करने का साहस नही हुआ।[3]

क्षेत्रज पुत्र को समाज बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था—सर्वसाधारण क्षेत्रज पुत्र को बहुत अच्छी दृष्टि से नही देखता था। अस्त्रविद्या परीक्षा के रगमच पर कर्ण के अर्जुन को द्वन्द-युद्ध के लिये ललकारने पर भीम ने सूतपुत्र कहकर कर्ण का उपहास किया। उस विद्रूप के प्रत्युत्तर मे दुर्योधन ने कहा, "भीम, कर्ण का उप-हास करना तुम्हारे लिये उचित नही है। तुम्हारे जन्म का वृत्तात भी हम लोग जानते है।"[4] जयद्रथ, दु शासन, व दुर्योधन पाडवो को प्राय 'पाडु के क्षेत्रज पुत्र' कहकर सम्बोधित किया करते थे। उस सत्य उक्ति मे भी एक गूढ इगित रहता

---

१. अस्माकमपि ते जन्म विदितं कमलेक्षणे।
कृष्णद्वैपायनाद्भीरु कुरूणां वंशवृद्धये॥ इत्यादि। आदि १२२। २३-३२

२. पत्या नियुक्ता या चैव पत्नी पुत्रार्थमेव च।
न करिष्यति तस्याश्च भविष्यति तदेव हि॥ आदि १२२।१९

३. ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया॥ आदि १२४।७

४. भवताञ्च यथा जन्म तदप्यागमितं मया॥ आदि १३७।१६

था। जन्म के विषय को लेकर मजाक करने पर मनुष्य स्वभावत ही उत्तेजित हो जाता है।[1]

अर्थिनी ऋतुस्नाता उपेक्षणीया नहीं—यदि कोई ऋतुस्नाता स्त्री किसी पुरुष से प्रार्थना करे, तो उसकी उपेक्षा करना महाभारत मे पाप बताया गया है।[2]

शर्मिष्ठा के गर्भ से ययाति की पुत्रोत्पत्ति का उपर्युक्त शास्त्रानुशासन द्वारा समर्थन किया गया है।[3]

क्षत्रिय विधवाओ के गर्भ से ब्राह्मणो की, वलिराजा की पत्नी सुदेष्णा की दासी के गर्भ से दीर्घतमा मुनि, एव अम्बिका की दासी के गर्भ से कृष्णद्वैपायन द्वारा पुत्रोत्पत्ति भी शास्त्र द्वारा समर्थित हो सकती है। टीकाकार नीलकठ ने इस विपय पर श्रुति को उद्धृत करते हुए कहा है—समागमार्थिनी नारी को निराश करना उचित नही है, यह वामदेव्य व्रत मे उल्लिखित है। कामातुर परस्त्रीगमन से तेजस्वी पुरुष को पातक भले ही न लगता हो, किन्तु सर्वसाधारण के लिये परस्त्रीगमन दोपयुक्त है इसमे कोई सन्देह नही। स्त्रियो का भी परपुरुष से ससर्ग करना पाप होता है। तेजस्वियो के आचरण साधारण समाज के लिये अनुकरणीय नही है।[4]

विधवा विवाह—विधवा स्त्रियो का ब्रह्मचर्य पालन करना ही उत्तम धर्म है। (सहमरण और ब्रह्मचर्य के सवध मे 'नारी' प्रवन्ध द्रष्टव्य है) महाभारत मे विधवा के द्वितीय वार पतिग्रहण का विधान भी मिलता है। पति के अभाव मे देवर को पतिरूप मे वरण करने के समर्थन मे दो-चार वाक्य ही कहे गये है।[5] किन्तु देवर को पतिरूप मे वरण करने के कई उदाहरण मिलते है। पुत्र-निरूपण प्रसग मे 'पौनर्भव' पुत्र का उल्लेख किया गया है। 'पौनर्भव' पुत्र की जननी एक

---

१ पाडो क्षेत्रोद्भवाः सुता॰॥ द्रो ३८।२५
योऽसौ पाडो किल क्षेत्रे जातः शक्रेण कामिना॥ द्रो ७२।४

२. ऋतु वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम्।
भ्रूणहेतुच्युते ब्रह्मन् स इह ब्रह्मवादिभि.॥ इत्यादि। आदि ८३।३३-३५
प्रमाणदृष्टो धर्मोऽय पूज्यते च महर्षिभि.। आदि १२२।७

३. पूजयामास शर्मिष्ठा धर्मञ्च प्रत्यपादयेत्॥ आदि ८२।२४

४. दृश्यते च वेदे "न काचन परिहरेत्"। इत्यादि। नीलकठ आदि १२२।७-१८

५ नारी तु प्रत्यभावे वै देवर कुरुते पतिम्। अनु ८।२२
उत्तमाद्देवरात् पुस काक्षन्ते पुत्रमापदि। आदि १२०।३५
देवर प्रविशेत् कन्या तप्येद्वापि तपः पुन.। अनु ४४।५२
पत्यभावे यथैव स्त्री देवर कुरुते पतिम्। शा ७२।१२

बार से अधिक विभिन्न पति ग्रहण करती रहती हैं।[1] नल राजा के अज्ञातवासी होने पर उनकी पत्नी दमयन्ती ने अयोध्या मे सवाद भेजा कि राजा नल बहुत दिनो से लापता है, वे जीवित हैं या नही, यह भी पता नही लगता। अतएव आगामी कल दमयन्ती अन्य व्यक्ति को पतिरूप मे वरण करेगी। सवाद मिलते ही तत्क्षण अयोध्यापति ऋतुपर्ण दमयन्ती के पाणिग्रहण के उद्देश्य से चल दिये। यदि नारी का अन्य पतिग्रहण समाज मे बिल्कुल ही अप्रचलित होता, तो इस सवाद एव ऋतुपर्ण के यात्रा पर चल पडने मे कोई सामञ्जस्य नही होता।[2]

उस समय दमयन्ती दो सन्तानो की जननी थी, अजातपुत्रा नही। इससे पता लगता है कि इस काल के समाज मे किसी-किसी अवस्था मे विवाहिता पुत्रवती नारी भी इच्छा होने पर अपर पुरुष को पतिरूप मे ग्रहण कर सकती थी।[3]

नागराज कौरव की कन्या उलूपी ने पहले किसी नागजातीय पुरुष से विवाह किया था। अपने पति के सुपर्ण द्वारा अपहृत होने पर वैधव्य का अवलम्बन लेकर वह पिता के घर रहती थी। अर्जुन के तीर्थयात्रा-काल मे एक बार गगाद्वार (हरिद्वार) मे स्नान करने के लिये नदी मे अवतरण करने पर उलूपी उन्हे आकर्षित करके अपने पिता की पुरी मे ले गई। अर्जुन के रूप पर मोहित होकर उनके साथ ससर्ग की प्रबल आकाक्षा प्रकट करने पर अर्जुन ने वह रात्रि नागराज भवन मे बिताई।[4] इस वर्णन से पता लगता है कि अर्जुन ने "न काचन परिहरेत" इस नियम का पालन किया था। किन्तु अन्यत्र वर्णित है कि उलूपी के पिता ने स्वय अर्जुन को कन्या दी थी। अर्जुन ने कामार्ता उलूपी को पत्नीरूप मे ग्रहण करके उसके गर्भ से इरावान् नामक एक पुत्र की उत्पत्ति की।[5] (कोई-कोई विद्वान कहते है कि उलूपी विधवा नही थी, उसका पति सिर्फ अपहृत हुआ था।) विधवा के गर्भ से क्षेत्रज पुत्र की उत्पत्ति के अलावा ऐसे कई विवाहो के उदाहरण महाभारत मे मिलते हैं।

कलियुग मे निषिद्ध—टीकाकार नीलकठ ने कहा है, विधवाओ का अन्य पति-

---

१. 'पौनर्भवः पूर्वमन्येन ऊढ़ाः' इत्यादि। नीलकंठ, आदि १२०।३३

२. सूर्योदये द्वितीयं सा भर्तारं वरयिष्यति।
न हि स ज्ञायते वीरो नलो जीवति वा न वा॥ वन ७०।२६

३. हयांस्तत्र विनिक्षिप्य सूतो रथवरंच तम्।
इन्द्रसेनाञ्च तां कन्यामिन्द्रसेनञ्च बालकम्॥ वन ६०।२३

४. आदि २१४ वाँ अध्याय।

५. अर्जुनस्यात्मजः श्रीमान्निरावान् नाम वीर्यवान्।
स्नुषायां नागराजस्य जातः पार्थेन धीमता॥ इत्यादि। भी ९०।७-९

ग्रहण या देवर द्वारा सुतोत्पत्ति कलिकाल मे विहित नही है। शास्त्रो मे इसका निपेध है।[१]

दासियो की नैतिक शिथिलता—धनी परिवारो मे जो दासियाँ रहती थी, उनकी नैतिक शुचिता वहुत ही शिथिल थी। मालिक के साथ हर तरह के सम्पर्क मे जैसे उन्हे जरा भी आपत्ति नही थी। अधिकाश परिवारो मे दासी की यही दुर्गत थी। विशेपत उत्सव आदि मे सुन्दरी-दासो का दान कुलीनता का अन्यतम अग समझा जाता था। (नारी-प्रवध मे इस विपय पर कहा जायगा) पति के जीवित रहते दासी का अन्य पति-ग्रहण या स्वामी का इन्द्रियतर्पण करना दासियो के लिये सामाजिक दोष नही समझा जाता था। विराटसभा के कीचक द्वारा द्रौपदी की लाछना सहृदय पाठक मात्र के लिये कष्टदायक है। कीचक के पास द्रौपदी को भेजने के लिये राजमहिषी का पड्यन्त्र भी कम घृणाजनक नही है। इस सवध मे राजा विराट की भीरुता एव अधर्म-पक्षपात भी उल्लेख योग्य है। परिचारिकाओ पर पडने वाली नरपशुओ की गिद्ध दृष्टि का कोई विशेप प्रतिकार विराट के राज्य मे था, ऐसा नही लगता। दूसरी किसी भी जगह ऐसा जघन्य चित्र नही मिलता।[२]

कुरुसभा मे दु शासन द्वारा अपमानित पाचाली को लक्ष्य करके कही गई कर्ण की एक उक्ति वहुत ही अशिष्ट लगती है। कर्ण ने कहा था—"हे सुन्दरी, पाडव तो अव पराजित हो गये हैं, तुम इच्छानुसार दूसरे पति का वरण कर लो। दासियो के लिये अन्य पुरुष-सेवा जरा भी निन्दनीय नही है।"[३] ऐश्वर्य मे अधे दुर्योधन का द्रौपदी को वाम उरु दिखाने मे भी दासी को अपमानित करने का इशारा स्पष्ट है।[४]

कर्ण की उक्ति सुनकर भीमसेन को युधिष्ठिर पर वहुत गुस्सा आया। वहुत ही गुस्से मे भरकर उन्होंने युधिष्ठिर से कहा था, "सूतपुत्र पाचाली से जो कह रहा है, वह शास्त्र-विरुद्ध नही है। तुम्हारे व्यसन के कारण ही तो आज ये सव अप्रिय वातें सुननी पड रही हैं।"[५] इससे पता चलता है कि भद्रसमाज मे भी परिचारिकाएँ अपना मान-सम्मान नही रख पाती थी। इस विषय मे सामाजिक अवस्था वहुत ही कलुपित थी। परिचारिकाओ का विवाह सिर्फ मुँह की वात थी, उनके सतीत्व का

---

१. कलौ देवरात् सुतोत्पत्तेर्निषेधात्। नीलकठ—अनु० ४४।५२
२ वि० १५ वाँ और १६ वाँ अध्याय।
३. अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्य दास्ये विदित तत्तवास्तु॥ सभा ७१।३
४ द्रौपद्या प्रेक्षमाणाया सव्यमूरुमदर्शयेत्। सभा ७१।१२
५ नाह कूप्ये सूतपुत्रस्य राजन् एष सत्य दासधर्म. प्रदिष्टः। सभा ७१।७

कोई मूल्य नही था। साधारण लोगो के मन मे भी उनके सतीत्व की बात नही आती थी। विचित्रवीर्य की ज्येष्ठा पत्नी अम्बिका ने जरा भी इतस्तत किये बिना दासी को अपने वस्त्राभूषणों से सुसज्जित करके शयनमन्दिर मे भेज दिया था। कृष्ण-द्वैपायन के अनुग्रह से परिचारिका विदुर की जननी हुई।[१] महाभारत की घटनाओ से बहुत पहले बलिराजा की पत्नी सुदेष्णा के व्यवहार मे अम्बिका के व्यवहार के अनुरूप परिचय मिलता है। उन्होने भी पति के आदेश का उल्लघन करके एक अलकृता परिचारिका को दीर्घतमा मुनि के शयनकक्ष मे भेज दिया था।[२] इन दोनो राजमहिषियो के आचरण से अनुमान लगता है कि दासियो को किसी भी तरह की स्वतन्त्रता नही थी। उनकी आशा-आकाक्षा, कर्तव्य-अकर्तव्य सब कुछ एक ही वाक्य था—"यथा नियुक्तास्मि तथा करोमि"। दोनो दासियो मे से किसी ने भी तो जरा भी आपत्ति नही की। दूसरी जड वस्तुओ की तरह परिचारिकाओ को भी इच्छानुसार व्यवहार मे लाने का अधिकार प्रभुओ को था।

दासियाँ भी प्रभुओ की स्त्रियों के रूप मे गण्य थीं—विदुर को कहा गया है—"कुरुवशविवर्द्धन'।[३]

दासी का गर्भजात महर्षिपुत्र 'कुरुवशज' क्यो कहा गया, यह प्रश्न सबसे पहले मन मे आता है। तो क्या दासियाँ भी राजाओ को स्त्री रूप मे गृहीत होती थी? इस प्रश्न का उत्तर भी महाभारत मे मिलता है। विदुरजननी परिचारिका को महाभारत मे विचित्रवीर्य की क्षेत्र (स्त्री) कहा गया है।[४] अतएव आसानी से यह सोचा जा सकता है कि अन्त पुरचारिणी परिचारिकाएँ भी धनी समाज मे हर तरह के सुखभोग की पात्री थी।

शर्मिष्ठा ने ययाति से कहा था—"महाराज, आप मेरी सखी के पति हैं, सखी के पति को पतिरूप मे वरण करना अन्याय नही है। मैं देवयानी की दासी हूँ, अत-एव देवयानी की तरह मैं भी आपके अनुग्रह की आशा कर सकती हूँ। दया करके

---

१. ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम्।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता। आदि १०६।२४

२. स्वां तु धात्रेयिकां तस्मै वृद्धाय प्राहिणोत्तदा। आदि १०४।४६

३. जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंश विवर्द्धनाः। आदि १०६।३२
विदुरः कुरुनन्दनः। आदि ११४।१४

४. एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि। आदि १०६।३२
"क्षेत्रत्वं दास्या अपि इत्यनेनैव गम्यते इति केचित्।" नीलकंठ। आदि १०६।३२

मेरी वासना पूर्ण करिये।"[१] इस प्रार्थना के ढग से ही पता लगता है कि स्वामी से सन्तानोत्पत्ति की कामना करना दासी के लिये दूषणीय नही था।

रक्षिता-पोषण—गाधारी जव प्रौढगर्भा थी, तव एक वेश्या ने धृतराष्ट्र की परिचर्या की थी। इसी के गर्भ से युयुत्सु नामक पुत्र का जन्म हुआ था। वह वेश्या दासियो मे गण्य थी, यह महाभारत मे कही भी नही मिलता। सामाजिक आचरण के रूप मे इन सब उदाहरणो को लिया जा सकता है। ये व्यवहार काफी अशो मे रखैल रखने-जैसे हैं।[२]

पुरुष का एक साथ एक से अधिक विवाह—चाहने पर पुरुष एक साथ एक से अधिक विवाह कर सकता था।

पत्नी-वियोग होने पर पुर्नविवाह—पत्नी-वियोग होने पर पुर्नविवाह करने मे कोई वाधा नही पडती थी। कहा गया है कि पुरुषो के लिये वहुपत्नीत्व दोष नही है, इससे धर्महानि नही होती।[३] विचित्रवीर्य, पाडु एव युधिष्ठिर आदि पाँच भाइयो की प्रत्येक की एक से अधिक पत्नियाँ थी। युधिष्ठिर ने गोवासन शैव्य की देविका नामक कन्या स्वयवर मे प्राप्त की थी। शल्य की भगिनी काली और काशिराज-दुहिता वलन्धरा, ये दोनो भीम की पत्नियाँ थी। धृष्टकेतु की भगिनी करेणुमती नकुल की भार्या थी। मद्रराजसुता विजया एव जरासध की दुहिता सहदेव की पत्नियाँ थी और अर्जुन के वहुविवाह तो सर्वविदित हैं।[४]

एकपत्नीत्व की प्रशसा—वहुविवाह के समाज मे प्रचलित होने पर भी महाभारत मे एकपत्नीत्व को ही प्रशस्त कहा गया है।[५]

---

१. समावेतौ मतौ राजन् पति सख्याश्च य पति.।
सम विवाहमित्याहु. सख्या मेहसि वृत. पतिः॥ आदि ८२।१९
देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी।
सा चाहञ्च तया राजन् भजनीये भजस्व माम्॥ आदि ८२।२३

२. गाधार्यां क्लिश्यमानायामूदरेण विवर्द्धता।
धृतराष्ट्र महाराज वैश्या पर्यचरित् किल॥ इत्यादि। आदि ११५
४१-४३

३. न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकता नृणाम्॥ आदि १५८।३६
नापराधोऽस्ति सुभगे नराणा बहुभार्यता॥ ,अश्व ८०।१८
एकस्य वहव्या विहिता महिष्य कुरुनन्दन। आदि १९५।२७

४. आदि ९५वाँ अ०। आश्र २५।१२। श्रीमद्भागवत् ९।२२ अ०।

५. शा १४४ वाँ अ०।

पत्नियो के प्रति समान प्रीति-व्यवहार कर्त्तव्य—एक से अधिक पत्नियाँ होने पर सबके प्रति समान प्रीति-व्यवहार करना उचित है, चन्द्र व दक्ष के उपाख्यान द्वारा ऐसा उपदेश दिया गया है। चन्द्र की सत्ताईस पत्नियाँ थी। उनमे वे एक ही (रोहिणी) को अधिक चाहते थे। इसी कारण दक्ष के अभिशाप से वे यक्ष्माग्रस्त हो गये।[1]

बहुपत्नीत्व प्राचीन काल से ही प्रचलित—बहुत प्राचीन काल से ही समाज मे बहुपत्नीत्व प्रथा चली आ रही है। ब्रह्मा के मानसपुत्र दक्ष प्रजापति ने मारीच काश्यप को तेरह एव धर्म को दस कन्याएँ दान की थी। इसी प्रकार इन्होने चन्द्र को सत्ताईस कन्याएँ दान की थी।[2]

दुश्चरित्रा व अप्रियवादिनी स्त्री परित्याज्य—अप्रियवादिनी एव दुश्चरित्रा पत्नी का परित्याग करना ही उत्तम है—यह महाभारत का उपदेश है। अप्रियवादिनी से सम्पर्क न रखने पर भी उसका भरण-पोषण पति को ही करना पडेगा, किंतु दुश्चरित्रा का भरण-पोषण करने के लिये पति बाध्य नही है। ऐसी अवस्था मे अगर इच्छा हो, तो कर भी सकता है और नही करे, तो उसमे भी कोई क्षति नही है।

प्रायश्चित्त-व्यवस्था—हर अवस्था मे पाप का प्रायश्चित्त करना ही पडेगा। व्यभिचार जैसे पाप का प्रायश्चित्त पुरुष व स्त्री दोनो के लिए समान है।[3]

बलात्कार में स्त्री का दोष नहीं—उस युग मे स्त्री जाति नर-पशुओ की पाशविकता का शिकार बिल्कुल ही नही होती थी, ऐसी बात नही है। (नारी-प्रबध द्रष्टव्य।) किसी महिला के बलात्कृत होने पर समाज मे उसके लिए दडविधान नही था, बल्कि उसके पति को ही कापुरुष कहा जाता था। चिरकारिकोपाख्यान मे कहा गया है कि नारियो को स्वतन्त्रता प्राप्त नही थी, वे पुरुषो के अधीन थी। आपद्-विपद् मे पुरुष यदि उनकी रक्षा न कर सके, तो वह पुरुष ही नही है। पुरुषो की अक्षमता के लिये नारी को दोष देना उचित नही है।[4]

---

१. शल्य ३५ वाँ अ०।

२. शल्य ३५ अ०। शा २०७ वाँ अ०।

३. भार्यां चाप्रियवादिनीम्। शा ५७।४५

स्त्रियास्तथापचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका। शा ३४।३०

भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः।

यत् पुंसः परदारेषू तदेनां चारयेद् व्रतम्॥ शा १६५।६३

४. नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति।

सर्वकार्यापराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चाङ्गनाः॥ शा २६५।४०

पुरुष स्त्री का भरण-पोषण करता है, इसीलिये उसे भर्त्ता कहा जाता है, और स्त्री का वह हर प्रकार से पालन करता है, इसलिये उसे पति कहते हैं। यदि किसी की पत्नी दुराचारी द्वारा आक्रान्त हो और पति उसका उद्धार न कर सके, तो समझना चाहिये वह पति विल्कुल कापुरुष है, भर्त्ता या पति नाम के लिये अयोग्य है।[1]

स्वेच्छा से व्यभिचार की कठोर सजा—यदि कोई स्त्री स्वेच्छा से पति का त्याग करके अन्य पुरुष के साथ व्यभिचार मे लिप्त हो, तो उसे कठोर सजा देने की व्यवस्था है। पति तो उसे त्याग ही देगा, लेकिन इसके वाद राजा किसी प्रकट स्थान पर सवके सामने कुत्तो से उसको नुचवायेगा। स्वेच्छा से व्यभिचारिणी स्त्री एव पर-स्त्री गामी व्यभिचारी पुरुष दोनो का एक साथ उत्तप्त लोहे की शय्या पर सुलाकर वध कराना राजा का कर्त्तव्य है।[2]

परदार-गमन की निन्दा व पापख्यापन—पुरुष के लिये भी परस्त्री-गमन अत्यन्त पापजनक है, यह वहुत स्थानो पर उल्लिखित है। इससे वडा आयु-क्षयकारी दुष्कार्य और कुछ भी नही हो सकता। तरह-तरह के नरको व कठोर प्रायश्चित्त का वर्णन देखने से ही पता लगता है कि इस विषय मे विशेष रूप से सावधान करने के लिये तात्कालिक समाज मे कितनी कठोर व्यवस्था थी।[3]

नारी के बहुपतित्व का प्रचलन नहीं था—पुरुष के एक ही समय एक से अधिक विवाहो के समान, नारी के एक ही समय मे एक से अधिक पुरुषो को वरण करने के दृष्टान्त विरले ही मिलते हैं।

द्रौपदी के पांच पति नियम का व्यतिक्रम मात्र—द्रौपदी के पाँच पति एक साथ वरने को नियम का व्यक्तिक्रप कहा जा सकता है। क्योकि पाँचो भाई पाचाली से विवाह करेंगे, युधिष्ठिर के मुँह से कुन्ती देवी का यह अभिप्राय सुनकर द्रुपद राजा वहुत ही शकित हो गये थे। राजा द्रुपद ने युधिष्ठिर से कहा, "तुम शुचि व धर्मज्ञ हो, तुम्हारे मुख पर ऐसी लोकवेद-विरोधी वात ? तुम्हारी इस वुद्धिभ्रष्टता का कारण

---

१. भरणाद्धि स्त्रियो भर्त्ता पात्याच्चैव स्त्रिय. पतिः।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्त्ता न पुन. पतिः॥
शा २६५।३७

२. श्रेयास शयन हित्वा यान्य पाप निगच्छति।
श्वभिस्तार्मर्द्दयेद् राजा सस्थाने वहुविस्तरे॥ इत्यादि। शा १६५। ६४, ६५

३. अनु १०४ वाँ अ०। शा १६५ वाँ अ०।

मैं समझ नही पा रहा हूँ।"[1] समाज मे बहुपतित्व का प्रचलन होता, तो द्रुपदराजा निश्चय ही इतने आश्चर्यचकित नही होते। युधिष्ठिर ने भी जननी के आदेश पर निर्भर होकर ही इस तरह का प्रस्ताव किया था।[2]

युधिष्ठिर ने द्रुपद से कहा था—"महाराज, धर्म की गति बहुत सूक्ष्म है, हम उसका निर्णय करने मे असमर्थ हैं। पूर्वज महापुरुषों के पथ का अनुसरण करना ही हमारा कर्त्तव्य है।"[3] युधिष्ठिर की बात सुनकर राजा द्रुपद बहुत चिन्तित हुए। ठीक उसी समय महर्षि व्यासदेव आकर उपस्थित हुए। उन्होने प्राचीन युग की दो नारियों के बहुपतित्व का उपाख्यान उन्हे सुनाया। उससे भी द्रुपद का सशय दूर नही हुआ। तब द्रौपदी के पूर्वजन्म का वृत्तान्त विशद रूप से सुनाकर पचपति का कारण बताया। व्यासदेव के मुँह से समस्त विवरण जानकर पाचालराज ने सानन्द पचपाडव सहित कन्या के विवाह के लिये सम्मति दे दी।[4]

प्राचीन युग में जटिला व बार्क्षी का बहुपतित्व—प्राचीन युग की जिन दो नारियो के बहुपतित्व का उल्लेख किया गया है, उनमे एक का नाम जटिला और दूसरी का बार्क्षी था। जटिला ने सात ऋषियो से एक साथ विवाह किया था, और वार्क्षी प्रचेता नामक स्त्री दस सशितव्रत पुरुषो के साथ विवाह-सूत्र मे आबद्ध हुई थी। वे दसो व्यक्ति आपस मे भाई-भाई थे।[5]

माधवी के एक के बाद एक, चार विवाह—गालवोपाख्यान मे आया है कि ययाति की कन्या माधवी ने एक के बाद एक चार पुरुषों से विवाह किया था।[6]

---

१. लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्म्मं धर्मविच्छुचिः।
कर्त्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी। आदि १९५।२८
न चाप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः॥ आदि १९६।८

२. एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते। आदि १९५।२३
एवञ्चैव वदत्यम्बा । आदि १९५।३०

३. सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्। आदि १९५।२९

४. आदि १९७ वाँ और १९८ वाँ अध्याय।

५. श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा॥
तथैव मुनिजा बार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः।
संगताभूद्दश भ्रातॄनेकनाम्न प्रचेतसः॥ आदि १९६।१४, १५

६. उ ११६।२१

इन सब प्राचीन प्रमाणो के रहते हुए भी द्रुपद की उक्ति से अच्छी तरह समझ मे आता है कि महाभारत के काल मे स्त्रियो का बहुपतित्व समाज द्वारा समर्थित नही था।

कुरु आदि मे नारियो का बहुपतित्व—कुरु आदि उत्तर प्रान्तो मे उस समय भी नारियो का पति रूप मे बहुत से पुरुषो का वरण एव स्वातन्त्र्य-प्रथा कुछ प्रचलित थी। कुन्ती से कही गई पाडु की उक्ति से यह समझा जा सकता है।[1]

सब पतियो को समान रूप से न देखना पाप का हेतु—सब पतियो के प्रति द्रौपदी का समान भाव नही था, उसने अर्जुन को ही अपने पति रूप मे वरण किया था। महाभारतकार ने इस पक्षपात को पाप का हेतु बताया है।

पाचाली के प्रति सबकी अच्छी धारणा नहीं थी—दु शासन द्वारा अभद्रता सहित द्रौपदी को राजसभा मे लाते देख कर कर्ण ने कहा था, "देवताओ ने स्त्रियो के एक पति का विधान बनाया है, द्रौपदी तो अनेको की पत्नी है। अतएव वह बधकी (वेश्या) है। एक वस्त्र मे अथवा निर्वस्त्र करके उसे राजसभा मे लाने मे कोई दोष नही है।"[2]

बहुपतित्व निषिद्ध—एक नारी का बहुपति-ग्रहण अतिशय गर्हित है, इस विषय मे कई स्पष्ट उक्तियाँ महाभारत मे उल्लिखित है।[3] इसीलिये पहले कहा गया है कि द्रौपदी का विवाह सामाजिक नियम का व्यतिक्रम मात्र था, उसका समर्थन करने के लिये प्राचीन व्यवहार, पूर्व जन्म के कर्मफल और सबसे अधिक माँ के आदेश पर ज्यादा महत्त्व देना पडा है। नियम का व्यतिक्रम न होकर यदि सामाजिक व्यवहार के अनुरूप होता, तो आशका व उसके समाधान के लिये नाना प्रकार की कल्पनाओ की आवश्यकता नही थी।

पात्रनिर्वाचन मे दरिद्र का अनादर—विवाह के निमित्त पात्रनिर्वाचन मे दरिद्र हमेशा समाज मे उपेक्षित रहा है। पितरो के आदेश से पत्नीग्रहण के इच्छुक

---

१. उत्तरेषु च रम्भोरु! कुरुष्वद्यापि पूज्यते। आदि १२२।७

२. इय त्वनेकपतिका बधकीति विनिश्चिता। इत्यादि। सभा ६८।३५, ३६
पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनजये। महा प्र २।६

३. एको भर्त्ता स्त्रिया देवैर्विहित. कुरुनन्दन। सभा ६८।३५
नैकस्या बहव. पुसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित्॥ आदि १९५।२७
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूना द्विजसत्तम। आदि १९६।७
स्त्रीणामधर्मं सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लंघने। आदि १५८।३६
नापराधोऽस्ति सुभगे नराणा बहुभार्यता।
प्रमदानां भवत्येष मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी॥ अश्व ८०।१४

जरत्कारु ने कहा है—"मैं तो दरिद्र हूँ, मुझे कौन कन्या देगा ?"[1] अगस्त्य मुनि ने विदर्भराज के निकट उपस्थित होकर उनकी कन्या लोपामुद्रा को पत्नी रूप मे ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। मुनि की इच्छा जानकर राजा सकट मे पड गये। इच्छा पूरी न होने पर मुनि द्वारा अभिशप्त होने का डर था और दूसरी तरफ यह सकट था कि दरिद्र को कन्या कैसे दे। वाद मे बाध्य होकर लोपामुद्रा की इच्छानुसार उन्होने अगस्त्य को कन्या दे दी। दरिद्र को कन्यादान करने मे बहुत लोग सकुचाते थे, सुदर्शनोपाख्यान मे भी यही बात मिलती है।[2] समाज की यह भावना शाश्वत है। कोई भी जहाँ तक बने, दरिद्र को कन्यादान नही करना चाहता।

धनी की कन्या से विवाह करना दरिद्र के लिये संकटदायक—एक बार ऋतुस्नाता लोपामुद्रा ने पति से कहा, "मैं अपने पिता के यहाँ प्रासाद मे जिस तरह के पलग और शय्या पर शयन करती थी, उसी तरह के प्रासाद मे उसी तरह की शय्या की व्यवस्था करो। तुम भी मालाचन्दनादि से विभूषित होओ, और मुझे भी आभरणो से अलकृत करो। इस पवित्र गैरिकवस्त्र का परिधान करके मेरी तुम्हारे समीप आने की इच्छा नही होती।" पत्नी के वाक्य सुनकर अगस्त्य मुनि विपत्ति मे पड गये। स्त्री की अभिलाषा भी पूर्ण करनी थी, क्योकि इधर ऋतुकाल के सोलह दिनो मे से केवल दो-चार दिन अवशिष्ट थे। मुनि ने भिक्षा माँग कर अत्यन्त कष्ट से पत्नी की अभिलषित वस्तुएँ सगृहीत करके धर्म की रक्षा की।[3] दरिद्र के लिये धनी की कन्या से विवाह करने का परिणाम आनन्दप्रद नही होता, इस आख्यान मे यह उपदेश अत्यन्त स्पष्ट है।

समान घर में संबंध सुखकर—अन्यत्र कहा गया है कि जिनकी आर्थिक अवस्था एव शिक्षा-दीक्षा समान हो, उनमे परस्पर विवाह आदि सबध व मित्रता स्थापित करना अच्छा है। धनी व दरिद्र मे आदान-प्रदान का फल अच्छा नही होता।[4]

---

१. दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः। आदि १३।३०

२. प्रत्याख्यानाय चाशक्तः प्रदातुञ्चैव नैच्छत। इत्यादि। वन ९७।३-७

दरिद्रश्चासवर्णश्च ममायमिति पार्थिवः।
न दित्सति सुतां तस्मै तां विप्राय सुदर्शनाम्॥ अनु २।२२

३. वन ९७ वाँ और ९८ वाँ अध्याय।

४. ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोर्विवाहः सख्यञ्च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥ आदि १३१।१०
समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः। उ ३३।१२१

पत्नी या ससुर पर बोझ बनकर रहना दुखदायक—पत्नी के रुपये-पैसे अपने ऊपर खर्च करना एव श्वसुर पर बोझ बन कर अपने भरण-पोषण की व्यवस्था करना जिस तरह आजकल समाज मे बहुत सुखकर नही है, उसी तरह तात्कालिक समाज मे भी नही था। इस तरह घृणित जीवन यापन करना पुरुष के लिये अभिशाप समझा जाता था।[१]

---

१. भार्यया चैव पुष्यतु। अनु ९४।२२
श्वशुरात्स्वस्य वृत्ति स्यात्।

गर्भाधानादि-संस्कार

दस सस्कार—वर्णाश्रम समाज मे गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन एव विवाह ये दस सस्कार अत्यन्त प्राचीन काल से ही धर्म के अन्यतम प्रधान अगरूप मे चले आ रहे है। उपनयन सिर्फ द्विजाति के लिये विहित है। दूसरे नौ सस्कार शूद्र के भी होते है। कभी समाज मे कन्याओ का भी उपनयन सस्कार होता था, बाद मे वह वर्जित हो गया। महाभारत मे सब सस्कारो का वर्णन विशद रूप से नही मिलता। जिन दो-चार के वर्णन मिलते है, उन पर इस प्रकरण मे प्रकाश डाला जायगा।

किसी-किसी धर्मसूत्र व स्मृतिसहिता मे ब्राह्म सस्कार, यज्ञ, दैव सस्कार, पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ एव सोमसस्थ वर्ग के भेद से चालीस सस्कारो का उल्लेख मिलता है। किन्तु मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर आदि के स्मृति-ग्रथो मे दस सस्कारो का ही उल्लेख है। चालीस सस्कारो के बारे मे महाभारत मे भी कोई उल्लेख नही मिलता।

(क) गर्भाधान या ऋतुसंस्कार—महाभारत मे गर्भाधान का विस्तृत वर्णन मिलता है। गृह्यसूत्र एव मन्वादिस्मृति के साथ महाभारत की विधि मे कोई अन्तर नही है। होम के समय वह्नि जिस तरह काल की प्रतीक्षा करती है, उसी तरह ऋतुकाल मे स्त्रियाँ पुरुष की कामना करती है। अतएव ऋत्वभिगमन प्रत्येक विवाहित के लिये धर्मकृत्यो मे गण्य है। ऋतुकाल के दिनो को छोडकर जो स्त्रीसम्भोग से विरत रहते है, वे गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचर्य मे प्रतिष्ठित होते है।[1]

ऋतु-अभिगमन आवश्यक कर्त्तव्य—"केवल ऋतुकाल के दिनो मे जो सन्तान की कामना से सभोग करते है, उनकी सन्तान बलिष्ठ, दीर्घजीवी, धार्मिक व सत्य-परायण होती है। पशु-पक्षी भी प्राचीन काल से ही ऋतुकाल के अलावा प्रवृत्त नही होते, मनुष्य की तो बात छोडिये। आधि-व्याधि-विमुक्त सन्तान का पिता

---

१. होमकाले यथा वह्निः कालमेव प्रतीक्षते।
ऋतुकाले तथा नारी ऋतुमेव प्रतीक्षते।। इत्यादि। अनु १६२। ४१, ४२

वनने की इच्छा हो तो सयतचित्त होकर सिर्फ ऋतुकाल मे ही अभिगमन करना आवश्यक कर्त्तव्य है।"[1]

अनृतुगमन निन्दनीय—ऋत्वभिगमन धर्मकृत्यो के अन्तर्गत है। अन्य काल मे स्वच्छद विहार महाभारत के अनुसार अत्यन्त निन्दनीय है।[2]

ऋत्वभिगमन न करना पाप—सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से धर्मपत्नी के साथ सभोग करना गृहस्थो के लिये श्रेष्ठ धर्म है। ऋतुकाल मे स्त्री की उपेक्षा करना पाप होता है।[3] एक पुत्र का जन्म न होने तक यही विधान है। उसके वाद उपेक्षा मे भी पाप नही होता।

ऋत्यभिगमन से ब्रह्मचर्य स्खलित नहीं होता—ऋत्वभिगमन से ब्रह्मचर्यव्रत स्खलित नही होता। गृहस्थो मे जो ब्रह्मचारी होते हैं, वे दीर्घायु को प्राप्त होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत करते हैं।[4]

चतुर्थ रात्रि से अभिगमन—ऋतुमती पत्नी का तीन रात पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए। चतुर्थ रात्रि से सोलहवी रात तक गर्भाधान के लिए विहित हैं।

---

१. स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी। शा ६१।११
अभ्यगच्छन् ऋतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा।
तथैवान्यानि भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि॥ इत्यादि। आदि। ६४। १०-१२

२. अभ्यगच्छन् ऋतौ नारीं न कामान्नानृतौ तथा। आदि ६४।१०
ऋतुकालाभिगामी च। अनु १४३।२९
ग्राम्यधर्मं न सेवेत स्वच्छन्देनार्थ कोविद।
ऋतुकाले तु धर्मात्मा पत्नीमुपशयेत् सदा॥ अनु १४३।३९
स्वदार-निरता ये च ऋतुकालाभिगामिन.। अनु १४४।१३
न चापि नारीमनृताह्वयीत। शा २६८।२७
नानृतावाह्वयेत् स्त्रियम्। शा २४२।७
अनृतौ मैथुन यातु। अनु ९३।१२४

३. यात्रार्थं भोजन येषा सन्तानार्थञ्च मैथुनम्॥ शा ११०।२३
स्वभार्यामृतुकालेषु। इत्यादि। द्रो० १६।३२

४. भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव ह। अनु ९३।११
नान्यदा गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्यन्तु तत् स्मृतम्॥ अनु १६२।४३
ब्रह्मचर्येण जीवितम्। अनु ७।१४

विषम मे कन्या एवं सम में पुत्र का जन्म—विषम रात्रि मे गर्भाधान होने से साधारणत कन्या एव सम रात्रि मे गर्भाधान होने से पुत्र का जन्म होता है।[१]

संभोग की गोपनीयता—बिल्कुल निर्जन स्थान मे गोपनीयता से सभोग करने का नियम है। सभ्य समाज मे ये सब नियम स्थान या काल द्वारा निर्णीत नही हुए और भविष्य मे भी नही होगे।[२]

परित्याज्य काल—अमावस्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एव रवि-सक्राति के दिनो मे पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इन दिनो को पर्वकाल कहते हैं। पर्वकाल मे स्त्रीससर्ग से पाप होता है।[३] दिन के समय एव रजोदर्शन के शुरू के तीन दिन सहवास बिल्कुल निषिद्ध है। इस निषेध की उपेक्षा करने से नाना प्रकार के रोगो का जन्म होता है एव मनुष्य अकाल मृत्य को प्राप्त होता है।[४]

प्रथम तीन रात्रि परित्याग—ऋतुकाल मे प्रथम तीन रातो को सहवास करना गर्हित है। उन दिनो स्त्री का स्पर्श करना या उससे बातचीत करना पापजनक है। कहा गया है कि जो व्यक्ति उन दिनो पत्नी-सहवास करता है, वह ब्रह्महत्या के पाप का भागी होता है। सम्भवत कामुक पुरुषो को रोकने के लिये ही पाप का इतना बडा डर दिखाया गया है।[५]

गर्भिणीगमन गर्हित—गर्भिणीगमन को भी बहुत बडा अन्याय बताया गया है।[६]

---

१. स्नातां चतुर्थदिवसे रात्रौ गच्छेद्विचक्षणः। इत्यादि। अनु १०४।१५१, १५२

२. मैथुनं सततं गुप्तमाहाराञ्च समाचरेत्। अनु १६२।४७

३. नायोनौ न च पर्वसु। शा २२८।४५
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत्। अनु १०४।८९
अमावस्यां पौर्णमास्यां चतुर्दश्याञ्च सर्वशः।
अष्टम्या सर्वपक्षाणां ब्रह्मचारी सदा भवेत्। अनु १०४।२९

४. न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बंधकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत्॥ अनु १०४।१०८

५. उदक्यया च सम्भाषां न कुर्वीत कदाचन॥ अनु १०४।५३
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्। अनु १०४।१०८
रजस्वलासु नारीषु यो वै मैथुनमाचरेत्।
तमेषा यस्यति क्षिप्रं व्येतु वो मानसो ज्वरः॥ शा २८१।४६

६. न चाज्ञातां स्त्रियं गच्छेद् गर्भिणीं वा कदाचन। अनु १०४।४७

अभिगमन के वाद शुद्धि—ऋतुकाल मे स्त्रीसभोग के वाद स्नान करके पवित्र होना पडता है।[१]

सहवास काल मे उत्कृष्ट सन्तान की कामना—स्त्री-पुरुष दोनो ही उत्कृष्ट सन्तान लाभ की कामना करते है। सहवास के समय यह कामना करना वहुत ही आवश्यक है। साधारणत पुरुप की अपेक्षा स्त्री को ही उत्कृष्ट सतान लाभ की आकाक्षा अधिक होती है। क्योकि गर्भाधान के वाद गर्भिणी हमेशा ही गर्भस्थ सन्तान की मगल कामना करती है।[२]

अत्यासक्ति निन्दनीय—जो व्यक्ति स्त्री-सहवास को ही परम पुरुपार्थ मानता है और काम-भावना से पत्नी पर अत्यन्त आसक्त होता है, वह पुरुप नितान्त कापुरुप कहलाता है।[३]

उत्कृष्ट सन्तान-लाभ के निमित्त तपस्या—तपस्या, देवार्चन, यागयज्ञ का अनुष्ठान, वन्दना, तितिक्षा, ब्रह्मचर्य, उपवास, व्रत आदि सत्कार्यो द्वारा माता-पिता धार्मिक, सुन्दर एव दीर्घायु सतान लाभ कर सकते है। केवल ऐन्द्रिक कार्य पूरा करने से सुपुत्र लाभ नही होता। प्रजापति, ब्रह्मा, श्रीकृष्णद्वैपायन व भगवान श्रीकृष्ण को दीर्घकाल की तपस्या के फलस्वरूप ही सत्पुत्र लाभ हुए थे। सत्पुत्र लाभ के निमित्त श्रीकृष्ण की कठोर तपस्या की वात महाभारत मे वर्णित है।[४]

माता-पिता की शुचिता का फल—माता-पिता से ही पुत्र की उत्पत्ति होती है। सहवास के समय उनकी मानसिक अवस्था जैसी ही सन्तान की मानसिक अवस्था होती है। साधारणत माता-पिता के पुण्य वल से ही सतान धर्मपरायण होती है। अतएव माता-पिता की शुचिता वहुत आवश्यक है, विशेपत सहवास करते समय।[५]

---

१. मैथुनेन सदोच्छिष्टा.। अनु १३१।४

२ दम्पत्यो प्राणसश्लेषे योऽभिसधि कृत किल।
तं माता च पिता चेति भूतार्थो मातरि स्थित ।। शा २६५।३४

३. सम्भोगसविद्विषम । उ ४३।१९। उ ४५।४
पानमक्षास्तथा नार्यं· · ·प्रसगोऽत्र दोषवान्।। शा १४०।२६

४. बहुकल्याणमिच्छन्त ईहन्ते पितर. सुतान्।
तपसा दैवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया। शा १५०।१४। शा ७।१३, १४
एव विधस्ते तनयो द्वैपायन भविष्यति। शा ३२३।२७ अनु १४ वाँ अध्याय।
आराध्य पशुभर्त्तार रुक्मिण्या जनिता सुता.।। अनु १४।३२

५. सुक्षेत्राच्च सुवीजाच्च पुण्यो भवति सभव.। शा २९६।४

काम धर्म के अनुकूल—भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है, "सब प्राणियो मे धर्म के अनुकूल कामरूप मे मैं ही अवस्थित हूँ।" काम शब्द का अर्थ वासना है। जिस कामना से धर्म की क्षति नही होती, वही भगवत्स्वरूप है। कौन सी कामना धर्म के अनकूल है और कौन सी प्रतिकूल, यह वेद, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रो द्वारा जानना चाहिये। सहगमन शास्त्र द्वारा नियमित हुआ है—ऋतुकाल मे पुत्र की कामना से प्रवृत्त हो—इत्यादि। अतएव उच्छृखलता से शास्त्र के नियमो की उपेक्षा न करके सयत होकर काम का उपभोग करना दूषणीय नही है।[1]

महाभारत मे सकलित वचनो से पता चलता है कि वश की प्रतिष्ठा के निमित्त सुसन्तान लाभ करना हो तो माता-पिता के लिए सयम व तपस्या आवश्यक है। उच्छृखल मिलन से स्वस्थ, सबल सन्तान की आशा नही की जा सकती। इसीलिये गर्भाधान-सस्कार के सबध मे इतनी बातें कही गई हैं।

गर्भाधान-संस्कार धर्म, अर्थ व काम का हेतु—भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है, "गर्भाधान-सस्कार धर्म, अर्थ व काम का हेतु है। धार्मिक सद्वृत्त पुरुष गर्भाधानोक्त विधान के अनुसार यदि सत्पुत्र की कामना से पत्नी सहवास करे, तो योनि-सस्कार-रूप धर्म, पुत्ररूप अर्थ एव सम्भोग रूप काम इन तीनो का लाभ करने मे समर्थ होता है। गर्भाधान सस्कार की शुचिता पर समाज का कल्याण निर्भर होता है। सयम ही उपभोग का प्रधान सहायक है।"[2]

(ख) पुंसवन, (ग) सीमन्तोन्नयन—पुसवन व सीमन्तोन्नयन के सबध मे कोई विस्तृत विश्लेषण नही किया गया है। सस्कारो मे इनका भी नाम लिया गया है।[3]

(घ) जातकर्म—सन्तान का जन्म होने के वाद जो वैदिक सस्कार करने का नियम है, उसका नाम जातकर्म है। महाभारत मे वहुत स्थानो पर जातकर्म का उल्लेख किया गया है। पुत्र के जातकर्म का जो विधान है, कन्या के लिये भी वही है। महाराज शान्तनु को कृप व कृपी वन मे पडे मिले। वे उन्हे अपने घर ले आये और दोनो के जातकर्मादि सस्कार किये गये। अश्वपति ने सावित्री के जात-

---

१. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ भी ३१।११

२. यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थ निश्चये।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा॥ शा १२३।३ नीलकंठ द्रष्टव्य।

३. भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा। शा २६५।२० नीलकंठ द्रष्टव्य।

कर्मादि सस्कार किये। शिखण्डी के भी सव सस्कार किये गये थे। और भी वहुतो के जातकर्मादि सस्कार का वर्णन मिलता है।[१]

नवजात सन्तान के कल्याण के लिये दान-दक्षिणा—सतान के जन्म लेने पर उसकी कल्याण कामना से तरह-तरह की दान-दक्षिणा दी जाती थी। तव आनन्द-मय घर से कोई भी खाली हाथ नही लौटता था।[२]

शिशु को आशीर्वाद—आत्मीय स्वजनो मे, जो उस समय उपस्थित रहते थे, वे नवजात शिशु का मुंह देखकर धनरत्न आदि आशीर्वादपूर्वक देते थे।[३] यह रीति अभी भी समाज मे चली आ रही है।

(ङ) नामकरण—शिशु का नामकरण भी एक वैदिक सस्कार है। जन्म के ग्यारहवें या वारहवे दिन इस सस्कार के करने का विधान है। महाभारत मे इस सस्कार का भी विस्तृत विवरण नही मिलता है। दो-एक जगह वहुत सक्षेप मे कहा गया है।[४]

(च) निष्क्रमण, (छ) अन्नप्राशन—निष्क्रमण व अन्नप्राशन के सवध मे उल्लेख न होने पर भी जातकर्मादि शव्द मे "आदि" शव्द के द्वारा इन दोनो को ग्रहण कर लिया गया है।

---

१ ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वश.। इत्यादि। आदि ७४।११९
जातकर्मादि सस्कार कण्व· पुण्यकृता वरः। आदि ७४।३
जातकर्मादिकास्तस्य क्रिया स मुनिसत्तम। आदि १७८।२
सस्कारै सस्कृतास्ते तु॥ आदि १०९।१८
अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् सस्कारान् पाडवास्तदा॥ आदि १२८।१४
स हि मे जातकर्मादि कारयामास माधव। उ १४१।९। शा २३३।२। आदि २२१।७१। आदि २२१।८७। उ १९०।१९। अनु ९५।२६
तत नवर्द्धयामास सस्कारैश्चाप्ययोजयत्। आदि १३०।१८
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे स नृपसत्तमः। वन २९२।२३। उ १९०।१९

२ यस्मिन् जाते महातेजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिर·
अयुत गा द्विजातिभ्य प्रादान्निष्कांश्च भारत॥ आदि २२१।६९

३ तस्य कृष्णो ददौ हृष्टो वहुरत्न विशेषत।
तयान्ये वृष्णिशार्दूला . ॥अश्व ७०।१०

४. अभिमन्युमिति प्राहुरार्ज्जुनि पुरुषर्षभम्। आदि १२१।६७
नाम चास्याकरोत प्रभु.। अश्व ७०।१०

(ज) चडाकर्म, (झ) उपनयन—चूडा व उपनयन सस्कार का विस्तृत विवरण महाभारत मे नही है। सिर्फ नाम लिया गया है।[१]

(ञ) विवाह—विवाह के सबध मे विवाह प्रकरण मे प्रकाश डाला जा चुका है।

गोदान—दस सस्कारो मे यद्यपि गोदान का स्थान नही है, तथापि गोदान नामक एक वैदिक क्रिया थी। केशछेदन उसका मुख्य अग था। गो शब्द का एक अर्थ 'केश' और दान शब्द का एक अर्थ 'छेदन' भी है।[२]

उपकर्म—उपकर्म नामक एक और वैदिक अनुष्ठान का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। गृहस्थ के लिए विहित सस्कारो से बाहर होने के कारण इसका नाम उपकर्म है। पिता प्रवास से घर वापस आने पर पुत्र के सिर पर हाथ रखकर कई मत्रो का जप किया करता था। वही जप उपकर्म का प्रधान अग है।[३]

---

१. जातकर्माण्यानुपूर्व्यात् चूड़ोपनयनादि च।
चकार विधिवद् धौम्यस्तेषां भरत सत्तम। आदि २२१।८७
जातकर्माणि सर्वाणि व्रतोपनयनानि च। अनु ९५।२५
क्रिया स्यादासमावृत्तेराचार्ये वेदपारगे। शा २३३।२

२. गोदानानि विवाहश्च। अनु ९५।२५

३. जातकर्मणि यत प्राह पिता यच्चोपकर्मणि॥ शा २६५।१६

नारी

नारी के सबंध मे जितने भी वर्णन मिलते है, वे सब एक दूसरे के इतने अन्तर्विरोधी लगते हैं कि कही-कही तो सामजस्य बनाये रखना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। नारी को नरक का द्वार भी कहा गया है और दूसरी तरफ उसे स्वर्गारोहण के लिये सोपान भी बतलाया गया है।

नारी व पुरुप के मिलन मे ही गृहस्थ का ससार है। गार्हस्थ्य-निर्वाह मे नारी को विशिष्ट स्थान दिया गया है। उनके अधिकारो को महाभारत मे खडित नही किया गया है, बल्कि किसी-किसी जगह तो अधिकार का क्षेत्र अस्वाभाविक रूप से प्रशस्त कर दिया गया लगता है। हस्तिनापुर के कोप का भार द्रौपदी पर डालना, प्रशास्य मत्रणा सभा मे गाधारी का साहचर्य आदि घटनाओ को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। पुरुप व नारी के कर्मक्षेत्र मे अनेक प्रकार की भिन्नता होते हुए भी एक के कर्म मे दूसरे की सहायता को विशेप रूप से स्वीकार किया गया है।

पुत्र व कन्या मे समानता—सम्पूर्ण महाभारत मे कन्या को दु:सह बोझ समझे जाने का एक भी उदाहरण नही मिलता। कन्या का जन्म होने पर पिता के चेहरे पर चिन्ता की एक रेखा तक नही होती थी। किसी ब्राह्मण कुमारी के शब्दो मे अवश्य किंचित् व्यतिक्रम दिखाई देता है—"कृच्छ्रन्तु दुहिता किल।"[1] रामायण के एक ऋपि ने आक्षेप किया है—"कन्यापितृत्व दु ख हि सर्वेपा मानकाक्षिणाम्।"[2] किन्तु महाभारतीय समाज मे कन्या का जन्म पिता के लिये 'भार' माना जाता था, ऐसा नही लगता। दुहिता को कृच्छ्रस्वरूप क्यो कहा गया, इसका कारण समझ मे नही आता। दृष्टान्त तो इसके उल्टे ही देखने को मिलते हैं।

नारी के स्थान विचार मे प्रधान वस्तु चरित्र—उस काल की नारियाँ थी पूर्ण अश मे पुरुप की कर्मसगिनी। महाभारत मे सर्वत्र नारी का सहयोग ही दिखाई देता है। नारी की अज्ञता मे कही भी पुरुप की गति अवरुद्ध नही होती। गाधारी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, सत्यभामा, विदुला आदि स्त्रियो के चरित्र मे जो ओजस्विता और रमणीयता का सम्मिश्रण देखने मे आता है, वही उस काल की नारी का स्थान

---

१. आदि १५९।११
२. उत्तरकाड ९।११

विचार करने मे हमारा प्रधान आधार है। सब नारियाँ वैसी ही तेजस्विनी एव कर्त्तव्यपरायण थी यह तो नही कहा जा सकता, क्योकि साधारण समाज की, या समाज के निम्न स्तर की नारियो के सबध मे कोई उदाहरण नही मिलता। ऐसी जगह नारियो के काम-काज के सबध मे जो विधि-निषेध व्यवस्थित हुए है, उनकी सहायता से अनुमान करने के अलावा और कोई चारा नही है। महाभारत मे जिन नारी चरित्रो से हमारा साक्षात् परिचय होता है, उनका परिचय केवल नारीत्व रूप मे सीमित नही है, परिपूर्ण मनुष्यत्व रूप मे वे परिचित हैं। उनकी पूर्णता व महिमा बहुत ही उच्च प्रकार की है।

कन्या के भी जातकर्मादि संस्कार—पुत्र एव कन्या मे कोई बहुत ज्यादा अन्तर नही था। जातकर्मादि सस्कार जिस तरह पुत्र के किये जाते थे, उसी तरह कन्या के भी किये जाते थे। महाराज शान्तनु वन मे पडे हुए कृप व कृपी (गौतम के पुत्र-कन्या) को उठाकर अपने घर लाये और शास्त्रानुसार उनके नामकरण आदि सस्कार किये।[१] महाराज अश्वपति ने भी सावित्री के जातकर्म आदि सब सस्कार किये थे।[२]

पितृगृह में कन्या की शिक्षा—विवाह से पूर्व कन्या को पितृगृह मे अनेक विषयो की शिक्षा दी जाती थी। ('शिक्षा' मे स्त्रीशिक्षा प्रकरण देखिए)। कोई-कोई कुमारी पूजा-अर्चनादि भी करती थी। पिता के घर गाधारी की शिवपूजा का उल्लेख किया गया है।[३] कुती ब्राह्मण एव अतिथियों की परिचर्या पर नियुक्त थी।[४]

दत्तक पुत्र की तरह कन्या का भी दान—सन्तानहीन व्यक्ति दूसरे की कन्या भी लेते थे, यह प्रथा काफी अशो मे दत्तक ग्रहण करने के समान थी। यदुश्रेष्ठ शूर ने अपनी कन्या पृथा, अपने फुफेरे भाई कुन्तीभोज को दे दी थी।[५] कुन्तीभोज

---

१. यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा॥ अनु ४५।११
ततः संवर्द्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत्।
प्रातिपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत्॥ आदि १३०।१८

२. प्राप्ते काले तु सुषुवे कन्यां राजीवलोचनाम्।
क्रियाश्च तस्या मुदितश्चक्रे च नृपसत्तमः॥ वन २९२।२३

३. अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गांधारीं सुबलात्मजाम्।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम्॥ आदि ११०।९

४. नियुक्ता सा पितुगहे ब्राह्मणातिथिपूजने॥ आदि १११।४

५. अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे।
प्रददौ कुंतिभोजाय सखा सख्ये महात्मने॥ आदि १११।३

ने उसे अपनी लडकी की तरह पाला और स्वयवर-विधान द्वारा उसका विवाह किया। कुतीभोज की कन्या होने के कारण पृथा का नाम 'कुती' हो गया था। वाद मे सर्वत्र कुती को कुतीभोज की कन्या कहकर उल्लेख किया गया है।[१] इससे पता चलता है कि पालिता कन्या भी दत्तक की तरह होती थी। कन्या भी समाज मे पुत्र की तरह आदृत न होती, तो कुन्तीभोज शायद अपने भाई की कन्या को नही लेते। स्नेहवश यदि ले ली हो, तो भी विचित्र वात नही है।

पितृगृह मे वालिका का काम-काज—पिता के घर कन्याएँ किसी-किसी पारिवारिक कार्य मे काफी सहायता करती थी। धीवरकन्या सत्यवती पिता के आदेश से नदी पार कराने वाली नौकाओ मे मल्लाह का काम करती थी।[२]

कुती की अतिथि परिचर्या की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। महर्षि कण्व फल सग्रह करने के लिये जाते वक्त अतिथि सत्कार का भार शकुन्तला पर छोड गये थे। इसलिये दुष्यन्त के पुकारते ही तापसीवेशधारिणी शकुन्तला ने राजा की अभ्यर्थना की और पाद्य आदि देकर कुशल-प्रश्न पूछा।[३]

विवाह काल तक कन्या पिता के घर ही प्रतिपालित होती थी। विवाह के उपयुक्त वयस होने पर साधारणत वरपक्ष की तरफ से ही सवध के प्रस्ताव आते थे।

किसी-किसी कुमारी का नैष्ठिक ब्रह्मचर्य—साधारणत सब कन्याएँ ही विवाहित होकर घर-गृहस्थी चलाती थी। कोई-कोई नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का भी पालन करती थी। साधारणतया कुमारी कन्याओ की सख्या वहुत कम थी।

योगिनी सुलभा—सुलभा नाम की एक योगिनी वालब्रह्मचारिणी थी। मोक्षविद्या की चर्चा के उद्देश्य से वे देश-देशान्तरो का भ्रमण किया करती थी। मिथिला के धर्मध्वज नामक राजा जनक की सभा मे उपस्थित होकर उन्होने जिस योग व अध्यात्म ज्ञान का परिचय दिया था, वह मोक्षधर्म मे वर्णित है। पहले उन्होंने

---

१. नियुक्ता सा पितुर्गहे ब्राह्मणातिथि पूजने॥ आदि १११।४
दुहिता कुतिभोजस्य पृथा पृथुललोचना। आदि ११२।१

२. आजगाम तरीं धीमास्तरिष्यन् यमुनां नदीम्।
सा तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्या ब्रवीत्तदा। आदि १०५।८
साऽब्रवीद्दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरीम्। आदि १००।४८
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मन.। आदि १००।४९

३. श्रुत्वाथ तस्य त शब्द कन्या श्रीरिव रूपिणी।
निश्चक्रामाश्रमात् तस्मात् तापसीवेषधारिणी। इत्यादि। आदि ७१।३-५

भिक्षुणी के वेश मे राजसभा मे प्रवेश किया। राजा उनके असाधारण रूप-लावण्य एव योगज-दिव्यकाति देखकर आश्चर्यचकित हो गये। धर्मध्वज द्वारा यथा रीति अर्चित होने पर योगिनी सुलभा ने राजा की योगशक्ति की परीक्षा करने के उद्देश्य से योग-बल द्वारा अपनी बुद्धि आदि वृत्ति को राजा की बुद्धि-वृत्ति से मिलाकर राजा को निश्चल करने की चेष्टा की। राजा भी योग-प्रक्रिया मे अभिज्ञ थे। वे जरा भी विचलित हुए बिना तरह तरह के अटपटे प्रश्न पूछकर सुलभा की परीक्षा करने लगे, किन्तु सुलभा का मोक्षशास्त्र मे असाधारण पाडित्य देखकर मुग्ध हो गये और श्रद्धा से सिर झुका दिया। अपना परिचय देते हुए सुलभा ने राजा से कहा—"राजन्, मैंने प्रधान नामक राजर्षि के वश मे जन्म लिया है, मैं ब्रह्मचारिणी हूँ, मुझे अपने उपयुक्त वर नही मिला। मैंने गुरुजनो से विद्या ग्रहण की है और अब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का अवलम्बन लेकर एकाकिनी भ्रमण कर रही हूँ। मैंने लोगो के मुँह से सुना था कि आप मोक्षधर्म मे प्रवीण है, इसलिये आपसे मिलने के उद्देश्य से मिथिला आई हूँ।"[१]

तपस्विनी शाण्डिल्य दुहिता—प्राचीन काल मे कुरुक्षेत्र के पास एक सिद्ध आश्रम था। शाण्डिल्य दुहिता ने वहाँ तपस्या करके सिद्धि-लाभ किया था। वह भी बालब्रह्मचारिणी थी।[२]

सिद्धा शिवा—शिवा नामक वेदपरायण एक ब्राह्मण दुहिता ने समग्र वेदो का अध्ययन करके बाद को तपस्या द्वारा सिद्धिलाभ किया। ये भी ब्रह्मचारिणी थी।[३]

नारी के नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के विरोध मे एक उदाहरण—शल्यपर्व के सारस्वतोपाख्यान मे कहा गया है कि कुणिर्गर्ग ऋषि की कन्या वृद्धावस्था पर्यन्त तपस्या मे सलग्न रही। वे इतनी वृद्ध हो गई थी कि एक जगह से उठकर दूसरी जगह भी नही जा सकती थी। अतएव उन्होने वह जीर्ण कलेवर त्यागकर परलोकगमन की कामना की। उन्हें देहत्याग की इच्छुक जानकर नारद ऋषि बोले, "तुम तो असस्कृता (अविवाहित) हो, तुम्हें तो किसी भी अच्छे लोक मे स्थान नही मिलेगा।"[४]

---

१. शा ३२० वाँ अ०।

२. अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी।
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी॥ इत्यादि। शल्य ५४। ६-८

३. अत्र सिद्धा शिवा नाम ब्राह्मणी देवपारगा।
अधीत्य साखिलान् वेदान् लेभे स्वं देहमक्षयम्॥ उ १०९।१९

४. असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकस्तवानघे॥ शल्य ५२।१०

वाद मे उस वृद्धा तपस्विनी ने प्राकश्रृंगवान् नामक ऋषिकुमार से विवाह किया और अल्प समय पश्चात ही परलोकगामी हुई। नारद के इस विधान के विपरीत उदाहरण ही अधिक मिलते है। अतएव यह विधान माना नही जा सकता।

टीकाकार नीलकठ ने कहा है—विवाह से पहले एव विधवा होने पर नारियाँ सन्यास की अधिकारिणी है।[1] इस उक्ति से पता लगता है कि नीलकठ ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का समर्थन नही किया। नीलकठ के काल मे शायद नारियो का नैष्ठिक ब्रह्मचर्य सव पसन्द नही करते थे। लेकिन उसके वावजूद भी, आज भी वाराणसी आदि तीर्थस्थानो मे नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी तपस्विनियाँ देखने मे आती हैं।

ब्रह्मवादिनी प्रभास-पत्नी—हरिवश मे उल्लिखित है कि अष्टम वसु प्रभास की पत्नी, विश्वकर्मा की जननी, वृहस्पति की भगिनी, ब्रह्मवादिनी एव योग-सिद्धा थी। परिव्राजिकाओ की तरह उन्होने भी अनेक देशो का भ्रमण किया था।[2] इस उदाहरण से पता लगता है कि जननी होकर भी, चाहने पर नारी सन्यास ग्रहण कर सकती थी।

स्त्रियो की पराधीनता—स्त्रियो की स्वतन्त्रता महाभारत मे स्वीकृत नही हुई है। बाल्यावस्था मे पिता के, यौवन मे पति के एव वृद्धावस्था मे पुत्र की देख-रेख मे रहना पडता था। किन्तु जो चिरकौमार्य का व्रत लेती थी, उनके लिये यह नियम लागू नही था।[3]

विवाहिता स्त्री का सामयिक रूप से पितृगृह आदि जाना—विवाहिता स्त्रियो का घर पतिगृह है, साधारण रूप से यही नियम था, परन्तु कारणवश कभी-कभी पिता के घर या दूसरे सबधी के घर भी चली जाती थी। पाडव जव वनवास के लिये निकले, तो सुभद्रा आदि स्त्रियाँ अपने-अपने वच्चो को लेकर पितृगृह चली गई

---

१. 'स्त्रीणामपि प्राग् विवाहाद् वैधव्यादूर्ध्वं वा सन्यासेऽधिकारोऽस्ति।'
नीलकंठ टीका—शा ३२०।७

२. वृहस्पतेस्तु भगिनी वरस्त्री ब्रह्मवादिनी।
योगसिद्धा जगत् कृत्स्नमसक्ता विचचार ह॥ हरि प० ३।१६०

३. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ अनु ४६।१४।
अनु २०।२१
नास्ति त्रिलोके स्त्री काचित् या वै स्वातन्त्र्यमर्हति॥ अनु २०।२०
प्रजापतिमत ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ अनु २०।१४

थी। उनके भाई आकर उन लोगों को लिवा ले गये थे।[1] कृष्ण जब पाडवों से मिलने वन मे गये, तो सत्यभामा उनके साथ थी।[2]

दीर्घकाल तक पितृगृह में रहना निन्दनीय—विवाहिता स्त्रियो के दीर्घकाल तक पिता के घर रहने को लोग अच्छी नजरो से नही देखते थे।[3]

संतानहीन विधवाओ का पितृगृह मे निवास—सतानहीन निराश्रित विधवाओ का पिता के घर रहना ही अधिक प्रचलित था।[4]

पातिव्रत्य ही आदर्श सतीत्व—पातिव्रत धर्म पर वहुत जोर दिया गया है। महाभारत मे सतीत्व-वर्णन की वहुलता देखने मे आती है। विवाहिता नारी का परमधर्म था पतिभक्ति। पति के परिवार के सब लोगो को सन्तुष्ट करना ही सती का प्रधान कार्य माना जाता था। इसीलिये गाधारी को विवाह के बाद समस्त कुरुवश की भलाई के लिये व्यस्त पाया जाता है।[5]

सतीत्व परम धर्म—सावित्री, दमयन्ती, शकुन्तला, गाधारी, द्रौपदी, सत्यभामा, सुभद्रा आदि नारियो के चरित्र पर दृष्टिपात करने से पता लगता है कि महाभारत मे वेदव्यास ने आदर्श सतीत्व का ही चित्राकन किया है। सतीत्व की रक्षा मे नारी का चरित्र अधिक उज्ज्वल हो उठता है। क्या घर और क्या जगल, हर जगह नारी अपने पति की परम सहायक एव सहधर्मिणी रही है। नारी ही गृहलक्ष्मी है।

नारी की तेजस्विता—शकुन्तला, गाधारी, कुन्ती एव द्रौपदी के चरित्रो मे हम असाधारण तेज पाते है।

शकुन्तला—पुत्र सहित शकुन्तला जब हस्तिनापुर दुष्यन्त के दरबार मे उपस्थित हुई, तो दुष्यत ने उसकी उपेक्षा की। उस समय की फड़कते ओठो वाली

---

१. सुभद्रामभिमन्युञ्च रथमारोप्य कांचनम्।
आरुरोह रथं कृष्णं पांडवैरभिपूजितः॥ इत्यादि। वन २२।४७-५१

२. उपासीनेषु विप्रेषु पांडवेष महात्मसु।
द्रौपदी सत्यभामा च विविशाते तदा समम्॥ वन २३२।१

३. नारीणां चिरवासो हि बांधवेषु न रोचते।
कीर्त्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम्॥ आदि ७४।१२
विप्रवासमलाः स्त्रियः। उ ३९।८०। ज्ञातीनां गृहमध्यस्था। अनु ९३।१३२

४. भगिनी चानपत्या। उ ३३।७४

५. गान्धर्यापि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः।
तुष्टिं कुरूणां सर्व्वेषां जनयामास भारत॥ आदि ११०।१८

शकुन्तला का जो चित्र अकित हुआ है वह उसकी तेजस्विता का द्योतक है। उसने राजा को जो नीतिसगत कठोर वचन कहे थे, क्रोध मे भी उस तरह के सन्तुलित, समयोपयोगी वचनो का प्रयोग करना हर किसी के लिये सभव नही है। तेजस्विता के साथ धैर्य व बुद्धिमत्ता का ऐसा सम्मिश्रण शकुन्तला के चरित्र की असाधारण विशेषता है।[1]

विदुला—विदुला नाम की क्षात्रधर्मरत दीर्घदर्शिनी एक नारी का वर्णन भी मिलता है। उसका पुत्र सजय सिंधुराज द्वारा पराजित होकर बहुत ही दीनता से काल-यापन कर रहा था। जननी ने पुत्र को युद्ध के लिये उत्साहित करने के हेतु तरह-तरह के वीरता भरे उपदेश देते हुए कहा, "पुत्र, तुम क्षत्रिय-सन्तान हो। भूसे की आग की तरह धीरे-धीरे मत जलो। अधिक नही कर सको, तो सिर्फ एक मुहूर्त के लिए ही दावाग्नि की तरह अपनी शिखा फैलाकर दिखा दो कि तुम क्षत्रिय-सन्तान हो। यदि तुम वीरता का प्रमाण नही दे सकते, तो तुम्हारी मृत्यु ही उत्तम है। जिस पुत्र मे शौर्य-वीर्य कुछ भी नही है, उसे पुत्र कहकर बुलाने मे भी शर्म आती है। विदुला का पुत्रानुशासन अध्याय पढने से नितान्त आलसी, कापुरुष मे भी कर्म-प्रेरणा जाग्रत हो जायगी।[2]

गाधारी—गाधारी भी अत्यन्त तेजस्विनी थी। दु शासन जब अपमानित करने के लिये द्रौपदी को बाल पकड कर घसीटते हुए कुरु-सभा मे ले आया, तो गाधारी क्षोभ और लज्जा से म्रियमाण सी हो गई। बाद मे एक दिन धृतराष्ट्र के समीप उपस्थित होकर कहा, "राजन्, तुम अपराध मे मत डूबो, अशिष्ट पुत्रो के प्रत्येक आचरण का अनुमोदन करना तुम्हें शोभा नही देता। तुम युधिष्ठिर आदि के परामर्श से चलो। धर्मज्ञ विदुर तुम्हारे मत्री हैं, जैसा वे कहें, वैसा करो। कुल-कलकी दुर्योधन का परित्याग कर दो। लगता है, तुम्हारा पुत्रस्नेह ही इस वश के विनाश का कारण होगा। अब और गलती मत करो, अपना कर्त्तव्य निश्चित करो, पुत्रस्नेह के आकर्षण मे धर्म का विसर्जन मत करो।[3]

दोनो पक्षो की शान्ति के निमित्त पाँच गाँव माँगने के लिए श्रीकृष्ण पाडवो के दूत बनकर कुरुसभा मे उपस्थित हुए। उनकी युक्तिसगत सब बातें व्यर्थ गई। तब धृतराष्ट्र के आदेश से विदुर दीर्घदर्शी गाधारी को राजसभा मे लेकर आये।

---

१. आदि ७४ वाँ अ०।

२. उ० १३३ वाँ अ०।

३. त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्राः मा त्वा दीर्णाः प्रहासिषु ।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यता कुलपासनः॥ इत्यादि। सभा ७५।८-१०

गाधारी ने धृतराष्ट्र के मुख से सब वृत्तान्त सुनकर कहा, "राज्यलोभी, धर्मार्थ-लोभी अशिष्ट पुत्र को तुमने ही तो इतना सिर चढाया है, उस पापबुद्धि के सारे कुचक्रो का तुम्ही तो अनुमोदन करते रहते हो, मेरी बात तो कभी सुनी नही।" बाद मे उन्होने विदुर को भेजकर दुर्योधन को राजसभा मे बुलवाया और उसे बहुत समझाया-बुझाया।[1]

कुन्ती—विदुला के वाक्य उद्धृत करके कुन्ती ने ही युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्साहित किया था। उन्होने कृष्ण से कहा था, "दरिद्रता और मृत्यु एक ही चीज हैं। क्षत्रिय-सन्तान शक्ति-सामर्थ्य होते हुए भी निर्बल की तरह अभिभूत होकर रहे, यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। कृष्ण, तुम युधिष्ठिर से कहना, मैंने उसे विदुला के वचन स्मरण करा दिये है, क्षत्रिय-सन्तान युद्ध मे भयभीत न हो। मैं क्षत्रिय-कन्या एव क्षत्रिय-पत्नी हूँ और चाहती हूँ कि क्षत्रिय-जननी के रूप मे भी अपना परिचय दे सकूं।"[2]

द्रौपदी—द्रौपदी के चरित्र मे और सब चीजो के साथ-साथ दृढता भी काफी दिखाई देती है। वनपर्व मे युधिष्ठिर के साथ हुए उनके वार्तालाप मे क्षत्रिय-नारीसुलभ महाशक्ति का परिचय मिलता है।[3] दुर्दान्त लम्पट कीचक से भी वे डरी नही, उनके एक जोर के धक्के से वह हतभागा छिन्नमूल वृक्ष की तरह गिर पडा था।[4] वह हर प्रकार से एक परिपूर्ण स्त्री थी। उनके विकास के सर्वांगीण चित्र ने सारे महाभारत को उज्ज्वल बना दिया है। युधिष्ठिर ने पासा खेलते हुए जब उन्हे भी दॉव पर लगा दिया, तो दु शासन के हाथो अपमानित होकर भी उन्होने धैर्य नही छोडा। युधिष्ठिर के लिये दो-चार कटुवाक्यो का प्रयोग करना उस समय उनके लिये स्वाभाविक था, लेकिन पातिव्रत्य के अलावा और किस प्रवृत्ति ने उनकी इस स्वाभाविक इच्छा का दमन किया, यह कहा नही जा सकता। इस तरह के चित्तविक्षेप के समय भी वे विकल नही हुईं। वनवास काल मे अम्लान-वदना द्रौपदी ने सब तरह के दु ख-कष्ट सहे। उनके चरित्र जैसा मृदु-कठोर नारी चरित्र महाभारत मे एक भी नही है।

जुआ खेलते वक्त द्रौपदी को दाँव पर लगाने में नारीत्व की मर्यादा (२)—समाज मे स्त्रियो का स्थान बहुत ऊँचा था, इसके प्रमाण यद्यपि महाभारत मे हर

---

१. उ १२९ वां अध्याय।

२. दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्तं पर्यायमरणं हि तत्। इत्यादि। उ १३४।१३-४१

३. अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणादपि गर्हितम्। इत्यादि। वन २८।१२-३६

४. पपात शाखेव निकृत्तमूलः। वि १६।८

स्थान पर नही मिलते, फिर भी मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रियो के प्रति यथेष्ट सम्मान प्रदर्शित किया जाता था। युधिष्ठिर ने जुआ खेलते हुए द्रौपदी को दाँव पर लगा दिया था। यदि क्षत्रिय-धर्म पालन के अनुरोध से उन्होने ऐसा किया था, तव तो कहने की कोई वात ही नही है, वरन् इससे युधिष्ठिर के साथ-साथ द्रौपदी का भी महत्त्व ही प्रकट होता है। अन्यथा इस आचरण का तात्पर्य समझना कठिन है।

भार्या की प्रशंसा—भार्या की प्रशसा करते हुए कहा गया है—भार्या ही मनुष्य का आधा अग है, भार्या श्रेष्ठ सखी है, भार्या ही धर्म, अर्थ व काम की मूल है।[1] जिनकी भार्या साध्वी एव पतिव्रता हो, वे धन्य होते है। धर्म, अर्थ एव काम ये तीनो भार्या के अधीन हैं। हर कार्य मे भार्या पुरुष की परम सहायक है। रोग-शोक से पीडित पुरुष का भार्या जैसा कोई उपचार नही है। जिसके घर मे साध्वी प्रियवदा भार्या का अभाव हो, उसके लिये घर और जगल दोनो एक समान हैं।[2] पत्नी की साधुता से ही पुरुष का जीवन मधुर हो उठता है। धर्म, अर्थ, काम, सतान, पितृतृप्ति आदि पत्नी के ही अधीन हैं। भार्या के प्रति सद्व्यवहार करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।[3]

पत्नी मातृवत् सम्माननीया—भार्या लक्ष्मी से भिन्न नही है, उसके साथ जन्म-जन्मान्तर का सवध होता है। पत्नी मातृवत् सम्मान योग्य है। गृहस्थ का आनन्द, धर्म आदि सव कुछ पत्नी के अधीन है। अतएव पत्नी के प्रति असद्-व्यवहार करना उचित नही है।[4]

---

१. अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यत.॥ आदि ७४।४१

२. शा १४४ वाँ अ०।

३. धर्मकामार्थकार्याणि शुश्रूषा कुलसन्तति।
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितृणामात्मनस्तथा॥ अश्व ९०।४७

४. भार्यावन्त प्रमोदन्ते भार्यावन्त. श्रिया युता॰। आदि ७४।४२
श्रियः एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता॥ अनु ४६।१५
एतस्मात् कारणाद् राजन् पाणिग्रहणमिष्यते।
यदाप्नोति पतिभार्यामिह लोके परत्र च॥ आदि ७४।४७
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम्॥ आदि ७४।४८
सुसंरब्धोऽपि रामाणा न कुर्यादप्रिय नरः।
रतिं प्रीतिञ्च धर्मज्ञ तास्वायत्तमवेक्ष्य हि॥ आदि ७४।५१

स्त्री जाति की पूज्यता—स्त्री जाति सर्वथा पूज्यनीया है। जिस परिवार मे स्त्रियो का यथायोग्य सम्मान किया जाता है, उसमे देवता निवास करते है। स्त्रियाँ हर अवस्था मे परम पवित्र होती है। जहाँ स्त्रियो का सम्मान नही किया जाता, वहाँ कोई भी शुभ आयोजन सफल नही होता। जिस परिवार मे स्त्रियाँ मनोदु ख से दु खी रहती है, उसमे हर शुभ कर्म विफल जाता है।[1]

परिवार मे नारी का सम्मान—हर परिवार मे गृहलक्ष्मियाँ विशेष रूप से सम्मानित होती थी। द्रौपदी के सवध मे कहे गये युधिष्ठिर के एक वाक्य से पता लग जाता है कि धर्मपत्नी का स्थान कितना ऊँचा था। उन्होने कहा था—"वह द्रौपदी हमारी प्रिय भार्या है, प्राणो से अधिक प्यारी है, माता की तरह परिपाल्या है व ज्येष्ठा भगिनी की तरह पूज्य है।"[2] माता व वडी वहन हर परिवार मे सम्मान व भक्ति की पात्री होती थी। इसलिये पत्नी को दोनो की उपमा दी गई है। नकुल और सहदेव वन मे चलने से क्लान्त हो गई द्रौपदी के पाँव दवाया करते थे।[3]

नारी का स्वभावजात गुण—धीरता, कोमलता, व्याकुलता नारी के स्वभाव-जात गुण है, यह ऋषि-मुनि कह गये हैं।[4]

पतिव्रता का आचरण—नारी को मधुर स्वभाव वाली होना चाहिये। सुवचना,

---

१. पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप।
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥ अनु ४६।५
पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः॥ उ ३८।११
अपूजिताश्च यत्रैता सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।
तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः॥ अनु ४६।६
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया।
नैव भान्ति न वर्द्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव॥ अनु ४६।७

२. इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी।
मातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा॥ वि ३।१७

३. तस्या यमौ रक्ततलौ पादौ पूजितलक्षणौ।
कराभ्यां किणजाताभ्यां शनकैः संतवाहतुः॥ वन १४४।२०

४. मृदुत्वञ्च तनुत्वञ्च विक्लवत्वं तथैव च।
स्त्रीगुणा ऋषिभिः प्रोक्ता धर्मतत्त्वार्थनिश्चये॥ अनु १२।१४

सुखदर्शना व अनन्यचित्ता होकर धर्माचरण मे पति की सहायता करनी चाहिए। जो नारी पति को देवता मानती है, वही धर्मभागिनी होती है। जो हमेशा पुत्र-मुख-दर्शन की तरह पति-मुख-दर्शन से आनन्दित होती है, वही साध्वी है। जो पत्नी पति के कठोर वचन सुनकर भी प्रसन्नमुख सद्व्यवहार कर सके, वही असली पतिव्रता होती है।[1] साध्वी रमणी को पति के अलावा और किसी का भी उच्छिष्ट भोजन व पादप्रक्षालन नही करना चाहिये। दमयन्ती ने चेदिराजपुरी मे और द्रौपदी ने विराटपुरी मे रहते समय इन सब नियमो का पालन किया था। (वन ६५।६८, २६५।३, वि० ९।१२)।

पुत्र की अपेक्षा पति प्रिय—जो स्त्री दरिद्र, दीन, व्याधिमुक्त, पथश्रम से क्लान्त पति की पुत्र की तरह प्यार से सेवा करती है, वही धर्मप्राण है। जो कुटुवियो का भरण-पोषण करती है, काम, भोग, ऐश्वर्य या सुख मे कभी भी पति के अलावा किसी दूसरे पुरुष का ख्याल नही करती, वही धर्मचारिणी कहलाती है। साध्वी नारी पुत्र की अपेक्षा पति को अधिक चाहती है।[2]

तपस्विनी गृहिणी—प्रात अँधेरे उठकर जो गृह कार्यो मे लग जाती हैं, गोवर द्वारा घर को लीप पोत कर साफ करती हैं, अग्निकार्य (खाना वनाना) आदि निपाटती हैं, देवता व अतिथियो की सेवा मे सहायता करती हैं, परिवार के सव

---

१. सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तु: सा धर्मचारिणी॥ इत्यादि। अनु १४६। ३५, ३६
दैवत परम पति.। अश्व ९०।५१। शा १४५ वा अ०—१४८ वाँ अ०।
पुत्रवक्त्रमिवाभीक्ष भर्त्तुर्वदनमीक्षते।
या साध्वी नियताहारा सा भवेद्धर्मचारिणी॥ इत्यादि।-अनु १४६। ३८-४२

२. दरिद्र व्याधित दीनमध्वना परिकर्शितम्।
पति पुत्रमिवोपास्ते सा नारी धर्मचारिणी॥ इत्यादि। अनु १४६। ४४, ४५
पुत्रलोकात् पतिलोका वृण्वाना सत्यवादिनी।
प्रियान् पुत्रान् परित्यज्य पाडवाननुरुध्यते॥ उ ९०।४४
काम स्वपितु बालोऽय भूमौ मत्यवश गतः।
लोहिताक्षो गुडाकेशो विजयः साधु जीवतु। अश्व ८०।१३

लोगो के भोजन कर लेने पर स्वय अन्नग्रहण करती है, सास-ससुर आदि के प्रति भक्ति भाव वरतती है, वही तपस्विनी होती है।[1]

जो सरल प्रकृति व सत्यभाषिणी होती है, देवता व अतिथि की परिचर्या से आनन्दित होती है, जो कल्याणमयी एव पतिव्रता हैं, लक्ष्मी स्वय इन सती लक्ष्मियो की आश्रित होकर निवास करती है।[2] यही सदगृहिणी के लक्षण माने जाते थे। जो इसके विपरीत आचरण करती हैं, उनका स्थान वहुत भिन्न होता है। समाज की दृष्टि मे वे वहुत हेय होती हैं।

सास की वुराइयाँ करते फिरना, उसे घर के कामो मे सलग्न रखना, एव पति के प्रति दुर्व्यवहार करना, अत्यन्त गर्हित है। शपथप्रकरण मे इन सव वातो का उल्लेख किया गया है। उस काल मे, शपथ लेते हुए कहा जाता था, "जिसने अमुक गर्हित कार्य किया हो, उसने पति के प्रति दुर्व्यवहार किया हो।" अर्थात् उस पाप का फल उसे ही भोगना पडेगा। किसी साध्वी के मुँह से इस तरह का शपथवाक्य सुनकर लोग मन मे सोचते थे कि जिसने इतने वडे पाप (पति के प्रति दुर्व्यवहार) के नाम से शपथ खाई है, उसने ऐसा गर्हित काम नही किया होगा।[3]

सांसारिक कार्यों में स्त्री का दायित्व—परिवार के सब छोटे-मोटे कार्यों की देख-रेख करना स्त्री का ही काम था। द्रौपदी सत्यभामा सवाद मे आया है

---

१. कल्योत्थानरतिर्नित्यं गृहशुश्रूषणे रता।
सुसंमृष्टक्षया चैव गोशकृत्कृतलेपना॥
अग्निकार्यपरा नित्यं सदा पुष्पबलिप्रदा।
देवतातिथिभृत्यानां निर्वाप्य पतिना सह॥
शेषानमुपभुञ्जाना यथान्याय यथाविधि।
तुष्टपुष्टजना नित्यं नारी धर्मेण युज्यते॥
श्वश्रुश्वशुरयोः पादौ तोषयन्ती गुणान्विता।
मातापितृपरा नित्य या नारी सा तपोधना॥ अनु १४६।४८-५१

२. सत्यस्वभावार्जवसयुतासु वसामि देवद्विजपूजिकासु। इत्यादि। अनु ११। ११-१४

३. श्वश्वापवादं वदतुभर्त्तुर्भवतु दुर्मनाः। अनु ९४।३८
नित्य परिभवेच्छ्वश्रु भर्त्तुर्भवतु दुर्मनाः।
एका स्वादु समश्नातु विसस्तैन्यं करोति या॥ अनु ९३।१३१
यदा श्वश्रु स्नुषा वृद्धां परिचारणे योक्ष्यते। शा २२७।११३

कि गृहस्थी के हर कार्य मे द्रौपदी का एक विशेष स्थान था। उनके ऊपर भार डाल कर ही पाडव निश्चिन्त होकर अपना-अपना कार्य कर पाते थे।[१]

पुरुष के विकास मे नारी की सहायता—यदि इन सब उदाहरणो को उस काल के सामाजिक चित्रो के रूप मे लिया जाय, तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि पुरुष का सम्पूर्ण विकास नारी की कार्य-कुशलता पर निर्भर होता है। महाभारत मे इसके दृष्टान्त पद-पद पर मिलते हैं। पति के सर्वांगीण विकास मे पत्नी के गृह-कार्य बहुत ही सहायक थे।

भोजनादि का तत्त्वावधान—विशेषत खाने-पीने के मामले मे हर तरह की खोज-खबर रखना स्त्रियो का ही काम था। काम-काज के अवसरो पर स्वय भूखी रहकर सबकी खोज-खबर लेने एव शृखलाबद्ध सब कार्य सम्पादित करने मे उस काल की औरतें बहुत पटु होती थी।"[२]

पातिव्रत्य का फल—एक स्थान पर कहा गया है कि जो नारी पतिसेवा जैसे धर्मपथ पर चलती है, वह अरुन्धती की तरह स्वर्ग मे भी पूजी जाती है।[३] पतिव्रता स्त्री का माहात्म्य तरह-तरह से चित्रित हुआ है। देवता भी जिस लोक से वचित रहते है, पतिव्रता स्त्री को वह सहज रूप से प्राप्त हो जाता है।[४]

सतीत्व एक प्रकार का योग—महाभारत के अध्ययन द्वारा पता चलता है कि सतीत्व एक तरह का 'योग' है। यौगिक प्रक्रिया द्वारा ऐश्वर्य लाभ किया जा सकता है, यह योगशास्त्र मे प्रसिद्ध है। सतीधर्म के प्रतिपालन से भी नारी अनन्त ऐश्वर्य की अधिकारिणी होती है। इस तथ्य को समझाने के लिये अनेको उपाख्यानो का उल्लेख किया गया है।

पतिव्रता उपाख्यान—वनपर्व के पतिव्रता उपाख्यान मे योग-ऐश्वर्य के बारे मे बहुत कहा गया है। एक कथा यह भी है—कौशिक नाम का एक ब्राह्मण वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रो का अध्ययन करता था। एक दिन वह वृक्ष के नीचे

---

१. मयि सर्व समाजस्य कुटुम्बं भरतर्षभा ।
उपासनरता सर्वे घटयन्ति वरानने ।। वन २३२।५४

२ अभुक्त भुक्तवद्वापि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाम्पते ।। सभा ५२।४८

३. इम धर्मपथ नारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुधतीव नारीणा स्वर्गलोके महीयते ।। अनु १२३।२०

४. सति नानाविधा लोका यास्त्वं शक्र न पश्यसि ।
पश्यामि यानहं लोकानेक पत्न्यश्च या स्त्रिय ।। अनु ७३।२

वैठा वेद की आवृत्ति कर रहा था, इसी समय पेड पर वैठे एक वक ने ब्राह्मण के ऊपर वीट कर दी। ब्राह्मण ने क्रुद्ध होकर उसकी तरफ देखा। ब्राह्मण की क्रुद्ध-दृष्टि से वक का प्राणशून्य शरीर नीचे आ गिरा। इससे ब्राह्मण को वहुत खेद हुआ और वह भिक्षावृत्ति करके जीवन यापन करने लगा। एक वार किसी गृहस्थ के दरवाजे पर जाकर उसने भिक्षा के लिये प्रार्थना की। घर की मालकिन उसे प्रतीक्षा करने के लिये कहकर वर्तन माँजने लगी। ठीक उसी समय उसका भूखा-प्यासा पति घर आया। गृहलक्ष्मी ब्राह्मण से थोडी देर और प्रतीक्षा करने को कहकर पति की सेवा मे लग गई। वाद मे जव ब्राह्मण को भिक्षा देने गई, तो देखा ब्राह्मण गुस्से से आगववूला हो रहा था। स्त्री ने क्षमा-प्रार्थना करते हुए समस्त घटना कह सुनाई। ब्राह्मण शान्त होने के वजाय और भी जल-भुन गया। पतिव्रता स्त्री वोली, "गुस्सा करके मेरा क्या विगाडोगे, मै कोई वक तो हूँ नही!" ब्राह्मण पतिव्रता का अलौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान देखकर अत्यन्त लज्जित हुआ। अपनी तपस्या का अधूरापन समझने पर एव क्रोधजय करने का उपदेश सुनकर पतिव्रता के निर्देशानुसार शास्त्रो के तत्त्व जानने के लिये वह मातृपितृभक्त व्याध के पास मिथिला चला गया। इस उपाख्यान से पता लगता हे कि पतिसेवा से ही उस स्त्री ने असाधारण यौगिक क्षमता अर्जित की थी।[1]

गांधारी का कृष्ण को अभिशाप—महाभारत मे वताया गया है कि इस तरह की असाधारण शक्ति पतिव्रताओ को सहज प्राप्त थी। पुत्रशोक से अधीर गाधारी ने कुरुक्षेत्र की श्मशानभूमि मे कृष्ण को शाप दिया था—"हे कृष्ण, मेरे पुत्रो और पाडवो मे कलह थी, तुम चाहते, तो उसे मिटा सकते थे। समर्थ होकर भी तुमने उपेक्षा की। मैं तुम्हे शाप देती हूँ कि तुम्हारे सव ज्ञाति (पितृवश मे उत्पन्न) आपसी कलह द्वारा विनष्ट होगे और तुम भी वुरी मौत मरोगे। पतिसेवा द्वारा मैंने जो पुण्य अर्जित किया, उसी पुण्य के वल पर मैंने तुम्हें अभिशाप दिया है।"[2]

आदिपर्व के वसिष्ठोपाख्यान मे भी एक पतिव्रता के आँसुओ का अग्नि मे परिणत होना दिखाया है।[3]

दमयन्ती द्वारा व्याध का भस्म होना—दु खी दमयन्ती के क्रोध से लम्पट

---

१. वन २०४ वाँ अध्याय।

२. पतिशुश्रूषा यन्मे तपः किञ्चिदुपार्जितम्।
तेन त्वां दुरवापेन शपस्ये चक्रगदाधर॥ स्त्री २५।४२

३. तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन् भुवि।
सोऽग्निः समभवद्दीप्तस्तञ्च देशं व्यदीपयत्॥ आदि १८२।१६

व्याध तत्क्षण भस्म हो गया था।[1] सती के असाधारण माहात्म्य को प्रकट करना ही इन सब उदाहरणो की सार्थकता है। उस काल मे पातिव्र‌्य धर्म को वहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था, इसमे सन्देह नही है। सम्भवत स्वर्गादि फलश्रुतियाँ भी नारियो को पातिव्रत्य की ओर आर्कषित करने के उद्देश्य से ही रची गई थी।

सावित्री-उपाख्यान—सावित्री-उपाख्यान सर्वजनविदित है। सतीत्व की शक्ति से सावित्री ने अनेक असम्भव कार्यों को भी सभव वना दिया था।[2]

पातिव्रत्य समाज का आदर्श—नारी को पतिव्रता एव उत्तम गृहिणी वनाना ही समाज का आदर्श था। हर जगह पतिव्रता के माहात्म्य का इस तरह कीर्तन किया गया है कि लगता है, उस समय के समाज मे नारी को गृहलक्ष्मी रूप मे पाना ही सवसे वडी वात थी। और नारियो के आदर्शरूप मे सीता, सावित्री, दमयन्ती एव गाँव की पतिव्रता कुलवधुएँ विद्यमान थी। ये सब उपाख्यान भी सतीधर्म के उदाहरण स्वरूप ही लिये गये हैं।

कल्याणी को किस तरह आशीर्वाद दिया जाता था—गुरुजन कल्याणी को किस तरह आशीर्वाद देते थे, इसका एक नमूना आदिपर्व मे मिलता है। नववधू द्रौपदी के सास कुन्ती देवी को प्रणाम करने पर उन्होने आशीर्वाद देते हुए कहा—"इन्द्राणी जैसे इद्र की, स्वाहा जैसे अग्नि की, रोहिणी जैसे सोम की, दमयन्ती जैसे नल की, भद्रा जैसे वैश्रवण की, अरुधती जैसे वशिष्ठ की, एव लक्ष्मी जैसे विष्णु की अनुगामिनी हैं, तुम भी इसी तरह पति की अनुगामिनी बनो। वीरपुत्र की माता वनो, सुख से जीवन विताओ, सुहागिन, पतिव्रता और यज्ञपत्नी वनो। पतियो द्वारा जीती गई पृथ्वी के मणि-रत्न आदि अश्वमेध यज्ञ मे ब्राह्मणो को दान करो।"[3]

---

१ उक्तमात्रे तु वचने सत था मृगजीवन.।
व्यसु. पपात मेदिन्यामग्निदग्ध इव द्रुम'॥ वन ६३।३९

२. वन २९६ वाँ अध्याय।

३ यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले॥
यथा वैश्रवणे भद्रा वशिष्ठे चाप्यरुन्धती।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्व भव भर्तृषु॥ आदि १९९।५, ६
जीवसूर्वीरसुर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता॥ आदि १९९।७
पतिभिर्निर्ज्जितामूर्वी विक्रमेण महावलै।
कुरु ब्राह्मणसात् सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ॥ आदि १९९।१०

उसी नववधू ने जब पाँचो पतियो के साथ वन गमन किया, तो फिर कुन्ती ने उपदेश देते हुए कहा—"वत्से, इस महान् विपत्ति मे भी शोक मत करना, तुम शील एव आचार मे उत्कृष्ट हो, विशेषत. स्त्रीधर्म से अभिज्ञ हो। पतियो के साथ कैसा व्यवहार करोगी, उन्हे यह बताने की जरूरत नही है, तुम साध्वी हो, तुम्हारे द्वारा पितृकुल एव भर्तृकुल दोनो कुल अलकृत हुए हैं।"[1]

अनुशासन पर्व मे गाधारी के प्रश्न के उत्तर मे उमा ने जिस तरह स्त्रीधर्म की व्याख्या की है, उससे भी लगता है कि उस काल मे पातिव्रत्य ही स्त्री का चरम लक्ष्य था। धर्म, अर्थ और काम इन तीनो मे पति की सहायता करना नारी जीवन की परम सार्थकता समझी जाती थी। पति को देवता के समान समझना, स्त्रियो का ऊँचा आदर्श माना जाता था। हर बात मे एक ही स्वर दिखाई पडती है।

अग्नि की साक्षी में सहधर्मिणीत्व का ग्रहण—पिता, भाई आदि जब कन्या का विवाह करते हैं, तब अग्नि के सम्मुख नारी पति की सहधर्मिणी रूप मे स्वीकृत होती है।[2]

स्वतन्त्र रूप से यज्ञादि मे अनधिकार—पति को छोडकर स्वतन्त्र रूप से याग-यज्ञ, व्रत, उपवास आदि धर्मकार्य करने का विवाहिता स्त्री को अधिकार नही है। उसे तो एकमात्र पति-सेवा से ही स्वर्गप्राप्ति हो जाती है, महाभारत का यही कहना है। पति की अनुमति मिलने पर ही वह व्रत-उपवास आदि कर सकती है।[3]

शाण्डिली-सुमना-संवाद—शाण्डिली-सुमना-सवाद मे भी स्त्रियो का धर्म वर्णित हुआ है। वहाँ भी शाण्डिली सुमना को सतीधर्म पर जो उपदेश देती है, वह ठीक अनुशासन पर्व के १४६वे अध्याय की उक्ति के समान है। एकमात्र पतिसेवा करके ही शाण्डिली ने देवलोक मे स्थान पाया था।[4]

प्रोषितभर्तृका का व्यवहार—पति जिसे अच्छा न समझता हो, ऐसा कोई काम नही करना चाहिये। मगलसूत्र धारण (?) करके ताम्बूल आदि का वर्जन करके

---

१. वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येद व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा॥
न त्वां सन्देष्टुमर्हामि भर्तॄन प्रति शुचिस्मिते।
साध्वी गुणसमापन्ना भूषितं से कुलद्वयम्॥ सभा ७९।४, ५

२. स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभि. कृतः।
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः॥ अनु १४६।३४

३. नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासक।
धर्म. स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्ग जयन्त्युत॥ अनु ४६।१३
यथाप्रत्याश्रयो धर्मः स्त्रीणां लोके सनातनः॥ अनु ५९।२९

४. अनु १२३ वाँ अध्याय।

पति के ध्यान मे काल-यापन करना चाहिए। अजन, रोचना, सुगधित तेल, स्नान माला, गधादि का अनुलेपन एव अन्यान्य प्रसाधन प्रोषितभर्तृका के लिए सम्पूर्ण रूप से परित्याज्य हैं। हर तरह के आमोद-प्रमोद से दूर रहकर उसे केवल पति की कल्याण कामना मे रत रहना चाहिये।[१]

नारी का युद्ध करना (?)—महाभारत मे नारी कही भी योद्धा के वेश मे दिखाई नही देती। शिखण्डी को यदि नारी रूप मे लिया जाय, तो वस वही एकमात्र उदाहरण है, किन्तु शिखण्डी तो वाद मे पुरुषत्व को प्राप्त हो गया था।

विवाहिताओ का अन्त पुर वास—विवाहिता नारियाँ साधारणत अत पुर मे ही वास करती थी। लेकिन भद्रसमाज मे अन्त पुर प्रथा हर जगह प्रचलित नही थी।[२]

अन्यत्र गमन के लिये अनुमति ग्रहण—विवाहिता महिला को अगर पित्रालय आदि जाना होता था, तो सास-ससुर आदि गुरुजनो से अनुमति लेनी पडती थी।[३]

उत्सव आदि मे बहिर्गमन—विशेष-विशेष उत्सवो मे नारियाँ भी योग देती थी।[४]

सभ्रान्त घर की महिलाएँ शिविका मे आती-जाती थीं—शिविका का व्यवहार काफी होता था। पालकी आदमी ही ले जाते थे। यह नियम आज भी बहुत से स्थानो मे प्रचलित है। पूर्वी वगाल के ग्रामाचलो मे अभी भी पालकी और शिविका (डोली) का व्यवहार होता है।[५]

---

१. प्रवास यदि मे जाति भर्त्ता कार्येण केनचित्।
मगलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा॥ इत्यादि। अनु १२३।१६, १७

२. नगरादपि याः काश्चिद्गमिष्यन्ति जनार्दनम्।
द्रष्टु कन्याश्च कल्याण्यस्ताश्च यास्यन्त्यनावृताः॥ उ ८६।१६
या नापश्यश्चन्द्रमसम्। आश्र १५।१३

३. युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः। अश्व ५२।५५

४. शातकुम्भमय दिव्य प्रेक्षागारमुपागमत्।
गाधारी च महाभागा कुन्ती च जयताम्वर।
स्त्रियश्च राज्ञ. सर्वस्ताः सप्रेष्या. सपरिच्छदाः॥ आदि १३४।१५

५. तत. कन्यासहस्रेण वृता शिविकया तदा।
पितुर्नियोगात्त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात्॥ आदि ८०।२१
प्रास्थापयद् राजमाता श्रीमतीं नरवाहिना॥
यानेन भरतश्रेष्ठ स्वन्नपानपरिच्छदाम्॥ वन ६९।२३
द्रौपदी प्रमुखाश्चापि स्त्रीसधा. शिविकायुता.॥ इत्यादि। आश्र २३।१२
प्रषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरंगिणीम्। आदि ७३।२१

पुरुष भी स्त्रियो के साथ रहते थे—उत्सव आदि मे या किसी अन्य कारण से महिलाएँ जब बाहर जाती थी, तो पुरुष भी उनके साथ जाते थे। ब्राह्मण आदि हर जाति के लोगो मे यह नियम था। धनी परिवार की महिलाओ के तत्त्वावधान के लिए उस समय एक अध्यक्ष नियुक्त होता था।[1]

मुनि-ऋषियो का सपत्नीक पर्यटन—लोक-शिक्षा के उद्देश्य से मुनि-ऋषि देश-विदेश का पर्यटन करते वक्त अपनी-अपनी पत्नी को साथ ही रखते थे। उपयुक्त श्रोता या जिज्ञासु मिलने पर दोनो ही उपदेश देते थे।[2]

सभा-समिति में नारियों का आसन—सभा-समिति आदि मे नारियो के बैठने की व्यवस्था अलग की जाती थी। कौरव-पाडवो की परीक्षा के उद्देश्य से जो प्रेक्षागार बनाया गया था, उसमे भी महिलाओ के बैठने के लिए एक तरफ ऊँचा मच बनाया गया था। गाधारी, कुती आदि महिलाएँ उसी मच पर बैठी थी।[3]

सोमरस पान—कुन्ती की एक उक्ति से पता चलता है कि पति के साथ सोमरस पान करने का अधिकार स्त्री का भी था।[4]

वानप्रस्थ अवलम्बन—वयस होने पर पुत्रवधू के ऊपर गृहस्थी का भार छोडकर कोई-कोई स्त्री वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करती थी। सत्यवती, कुन्ती, गाधारी सत्यभामा आदि महिलाओ के प्रव्रज्याग्रहण का वर्णन महाभारत मे हुआ है।[5]

---

१. मुहूर्त्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः।
सदारास्तापसान् द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः॥
स्त्रीसंघाः क्षत्रसंघाश्च यानसंघसमास्थिताः।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानाञ्च योषितः॥ आदि १२६।१२, १३
स्त्र्यध्यक्षगुप्ताः प्रययुः॥ आश्र २३।१२

२. साध्वी चैवाप्यरुन्धती। अनु ९३।२१

३. मंचांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः।
विपुलानुच्छ्रयोपेतान् शिविकाश्च महाधनाः॥ आदि १३४।१२

४. पीतः सोमो यथाविधि। आश्र १७।१७

५. वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत। आदि १२८।१२
श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनाः।
तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरम्॥ आश्र १७।२०
गांधारीसहितो धीमानभ्यनन्दद् यथाविधि॥ आश्र १५।२
सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य सम्मताः।
वनं प्रविविशु राजन्! तापस्ये कृतनिश्चयाः॥ मौ० ७।७४

उद्देश्य की सफलता के निमित्त तपस्या—सुलभा, शिवा आदि ब्रह्मचारिणियो की तपस्या का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति था। प्रतिहिंसा वृत्ति को चरितार्थ करने के निमित्त काशिराज-कन्या अम्बा ने तपस्या मे आत्मनियोग किया था। अबा काशिराज की ज्येष्ठा कन्या थी। उसने मन ही मन शाल्वपति को अपने पति रूप मे वरणकिया था। भीष्म को यह बात मालूम नही थी, वह दूसरी दोनो बहनो के साथ विचित्रवीर्य का विवाह करने के निमित्त अबा को भी उठा लाये थे। बाद मे अबा के मुख से उसके सकल्प के विषय मे सुनकर वृद्ध ब्राह्मणो एव धाय को साथ करके अबा को शाल्वपति के पास भेज दिया। शाल्वपति ने अबा को अन्य-पूर्वा समझकर ग्रहण नही किया। अबा ने भीष्म को ही अपने दुर्भाग्य का कारण समझा और उनके निधन का सकल्प करके तपस्या मे निरत हो गई। कठिन तपस्या करने के बाद उसने स्वय ही चिता जलाकर अपने शरीर की आहुति दे दी। उसके बाद अगले जन्म मे द्रुपद दुहिता शिखण्डी के रूप मे जन्म लिया और महादेव के वरदान से पुरुषत्व लाभ किया।[1]

स्त्रियो की निन्दा—साधारणत नारी की काफी प्रशसा होते हुए भी कही-कही उसका व्यतिक्रम हुआ है। नारद-पचचूडा-सवाद मे नारद के प्रश्न के उत्तर मे पचचूडा ने नारी के जिस स्वरूप का वर्णन किया है, उससे पता लगता है, नारी दोषो की खान है। उसे पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि का जरा भी ज्ञान नही होता। मनुष्य के चरित्र मे जितने भी प्रकार के दोष हो सकते है, वे सब नारी के चरित्र मे होते हैं।[2] श्रीमद्भागवत मे भगवान ने कहा है, पूर्वजन्म के पापो के फलस्वरूप ही जीव स्त्रीरूप मे जन्म ग्रहण करता है।[3] स्त्रियो के सबध मे और भी दो-चार जघन्य उक्तियाँ देखने को मिलती हैं।[4]

---

१. उ १८८ वाँ—१९० वाँ अध्याय। २. अनु ३८ वाँ अध्याय।

३ मा हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्यु पापयोनय.।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ भी ३३।३२

४. न हि स्त्रीभ्य पर पुत्र पापीय किंचिदस्ति वै। अनु ४०।४
निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुति.॥ अनु ४०।१२
ईप्सीतश्च गुण स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता॥ आदि २०२।८
असत्यवचना नार्य कस्ते श्रद्धास्यते वच ॥ आदि ७४।७३
स्त्रीसु राजसु सर्वेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुसु।
भोगेष्वायुषि विश्वासं क' प्राज्ञ. कर्त्तुमर्हति॥ उ० ३७।५७
दरिद्रस्येव योषिता। द्रो २८।४२
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती॥ आदि २३३।३१

नारियो की निन्दा, वैराग्य-उत्पत्ति के निमित्त—और नारियो की जो निन्दा की गई है, वह शायद पुरुष के मन मे वैराग्य की उत्पत्ति करने के लिए की गई है। धर्म की विरोधी कामना का त्याग करके सयम धारण करने का उपदेश देना ही इस निन्दा का यथार्थ उद्देश्य है। असत् स्वभाववाली स्त्रियो की अपवित्र लीला की परिधि से दूर रहने के लिए महत्त्वाकाक्षी व्यक्ति को सावधान करना भी इन निन्दाओ का उद्देश्य हो सकता है। यदि इनका शाब्दिक अर्थ ही ग्रहण किया जाय, तो अन्यान्य प्रशसामुखर अध्यायो के साथ इनका सामजस्य बनाये रखना कठिन हो जाता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी कामिनी-काचन का खराब पक्ष ही देखते है, इससे उनकी विषयासक्ति शिथिल होती है। इसी कारण देखा जाता है कि सन्यासी सम्प्रदाय के बहुत से लोग कामिनी व काचन को एक ही सूत्र मे बाँधकर दोनो की बुराई करते फिरते हैं और दूसरी तरफ मातृजाति के प्रति श्रद्धा करने का उपदेश देते है। ये दोनो बातें परस्पर विरोधी नही हैं। ब्रह्मचारी व सन्यासियो को ससार के आकर्षण से दूर रखने के निमित्त ही नारी जाति की निन्दा की गई है।

विवाहादि मे यौतुकस्वरूप नारी प्रदान—विवाह मे दहेज के रूप मे[१], श्राद्ध मे देय द्रव्यस्वरूप,[२] एव किसी विशेष व्यक्ति के सम्मान मे उपहारस्वरूप[३] अन्यान्य द्रव्यो के साथ अलकृता नारी भी दान की जाती थी। इस विषय मे महाभारत मे बहुत प्रमाण पाये जाते है। यहाँ तक कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ मे निमन्त्रित ब्राह्मणो को दक्षिणा मे स्वर्ण आदि के साथ स्त्रियाँ भी दी थी।[४] यह प्रथा अवश्य राजा-महाराजाओ तक ही सीमित थी, दूसरों के लिये इतना बडा दान देना तो सभव भी नही था। लेकिन इस प्रथा की अतिम परिणति क्या होती थी, इसके बारे मे कुछ नही कहा गया है। उन प्रदत्ता नारियो को समाज मे कैसा कौन-सा स्थान प्राप्त था, गृहीता के औरस द्वारा उनके गर्भ द्वारा सन्तान आदि होती थी कि नही और अगर होती

---

१. तथैव दासीशतमग्र्यौवनम्। आदि १९८।१६
द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह॥ आदि ८१।३७
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेशानां सवर्चसाम्॥ आदि २२१।४९

२. सालंकारान् गजानश्वान् कन्याश्चैव वरस्त्रियः॥ आश्र १४।४

३. ददाम्यलंकृता कन्या वसूनि विविधानि च। वि ३४।५
दासानामगुतञ्चैव सदाराणां विशाम्पते॥ सभा ५२।२९
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च॥ अश्व ८५।१८
नारीं चापि वयोपेता भर्त्रा विरहितां तथा॥ शा १६८।३३

४. रुक्मस्य योषिताञ्चैव धर्मराजः पृथग्ददौ॥ सभा ३३।५२

थी, तो समाज मे उनका क्या स्थान था, आदि वातो पर कोई प्रकाश नही पडता। ('विवाह' प्रकरण मे थोडा-वहुत प्रकाश डाला गया है। देखिए ४४वाँ पृष्ठ)।

नारी-धर्षण—उस काल का समाज भी लम्पटो के उपद्रव से मुक्त नही था। स्वेच्छाचारी धर्षको (सतीत्व हरण करने वाले) की कलुषित दृष्टि से प्राप्तवयस्का युवती की रक्षा के लिये हमेशा सतर्क रहना पडता था। वृष्णि और अधककुल की विधवाओ को हस्तिनापुर लाते हुए रास्ते मे पचनद प्रदेश मे दस्युओ ने आक्रमण किया था। स्वय अर्जुन उनके रक्षक थे, पर वे भी उनकी रक्षा नही कर पाये, डाकू, सुन्दरी विधवाओ को वलपूर्वक उठा ले गये थे। महावीर अर्जुन का वीर्य भी उनके सामने पराभूत हो गया था।[१]

दुश्चरित्रा नारी—उसी समय काफी स्त्रियाँ स्वेच्छा से दस्युओ के साथ चली गई। अर्जुन उन्हे भी नही रोक पाये या हो सकता है, रोकने की चेष्टा ही न की हो। वृष्णि व अधक कुल की विधवाओ की यह दुर्बुद्धि पाठको को वहुत दुख देती है। यदि परपुरुष को ग्रहण करने की इच्छा प्रवल हो, तो भी अज्ञातकुलशील दस्युओ के साथ जाने मे क्या सार्थकता हो सकती है।[२]

धर्षिता नारी का स्थान—जो नारियाँ नरपशुओ के वलात्कार से पीडित होती थी, समाज उनकी किसी भी प्रकार की निन्दा नही करता था। ऐसे मौके पर परिवार के पुरुष ही अपनी अक्षमता के लिये अपराधी माने जाते थे। पुरुप की अक्षमता के कारण जो नारियाँ बलात्कृत की जाती थी, उनके प्रति समाज की दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण होती थी।[३] लेकिन जो नारी स्वेच्छा से कलकिनी बनती थी, उसे कठोर सजा देने का विधान था। (देखिए "विवाह (ख)" पृष्ठ ५०)।

साधारण घरों की विधवाओं का स्थान—अभिजात कुलो की विधवाएँ सुख-सम्मान से ही दिन विताती थी। सत्यवती, कुन्ती, उत्तरा और दुर्योधन आदि की पत्नियाँ इसका उदाहरण हैं। किन्तु साधारण दरिद्र घरो मे विधवाओ

---

१. अहङ्कृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम्।
अयुक्तैस्तव सम्बन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम्॥ आदि १५८।११
प्रेक्षतस्त्वेव प्रार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः।
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय॥ मौ ७।६३

२. कामाच्चान्याः प्रवव्रजु॥ मौ ७।५९

३. नापराधोऽस्ति नारीणां नर एवापराध्यति।
सर्वाकार्यपराध्यत्वान्नापराध्यन्ति चांगनाः। शा २६५।४०। द्र० नीलकठ।

को शायद वे सब सुविधाएँ प्राप्त नही थी। एक ब्राह्मण-पत्नी के मुख से कहलवाया गया है कि जमीन पर पडे मास के टुकडो पर जिस तरह गिद्धो की लोलुप दृष्टि रहती है, पतिहीना नारी भी उसी तरह अनेको की अभिलषित होती है। इस एक प्रसग को छोडकर सम्पूर्ण महाभारत मे और कही भी इस तरह की उक्ति नही पाई जाती।[१]

सहमरण—पति की मृत्यु होने पर कोई-कोई महिला अपने पति की सहगामिनी बनने के लिए पति की चिता मे ही अपने शरीर की आहुति दे देती थी। यह सहमरण प्रथा सर्वत्र व्यापक रूप से प्रचलित नही थी। पाडु की मृत्यु पर माद्री सती हुई थी, किन्तु कुन्ती ने दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद वानप्रस्थ का अवलम्बन लिया था। वसुदेव की पत्नी देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा, इन चारो ने पति के साथ सहगमन किया था। कृष्ण के देह त्यागने पर उनकी कई पटरानियो ने उनका अनुगमन किया था, लेकिन सबने नही।[२]

सहमरण प्रशंसा—यद्यपि सहमरण की प्रशसा काफी की गई है, लेकिन समाज मे यह प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित नही थी। सत्यवती, कुती, सत्यभामा आदि विधवाओ के ब्रह्मचर्य-पालन के दृष्टातो से यह अच्छी तरह समर्थित हो जाता है। उल्लिखित ब्राह्मण पत्नी के वचनो से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।[३] सहमरण के पक्ष एव विपक्ष मे हजारो वर्षों से मतभेद चला आ रहा था। उपर्युक्त उदाहरणो से पता लगता है कि उस काल मे भी समाज मे दोनो पक्षो का समर्थन किया जाता था।

---

१. उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियं॥ आदि १५८।१२

२. पूर्वं मृतं च भर्त्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति॥ आदि ७४।४६
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी। आदि १२५।३१
तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा।
अन्वारोहन्त च तदा भर्त्तारं योयितां वराः॥ मौ० ७।१८
तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वरांगनाः।
ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चतस्रः पतिलोकगाः॥ मौ० ७।२४
रुक्मिणी त्वथ गान्धारी शैव्या हैमवती सती।
देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जातवेदसम्॥ मौ० ७।७३

३. यापि चैवंविधा नारी भर्त्तारमनुवर्त्तते।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता॥ शा० १४९।१५

पति पुत्रवती की मृत्यु, सौभाग्य का फल—साध्वी महिलाओ की सदा यही आकाक्षा रहती थी कि वे पति-पुत्र से पहले ही परलोकगामी हो, एव इस तरह की मृत्यु को अपना सौभाग्य मानती थी। नारियो की इस आकाक्षा मे आज तक कोई परिवर्तन नही हुआ है। आज भी सधवा पुत्रवती की मृत्यु को हिन्दू सौभाग्य का फल ही मानते हैं।[1]

(नारी की शिक्षा-दीक्षा आदि विषय 'शिक्षा' प्रकरण मे आलोचित होगे)।

---

१. व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणा पूर्वं भर्त्तुः परा गतिम्।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदु.॥ आदि १५८।२२

चातुर्वर्ण्य

वर्णाश्रम समाज—महाभारतकालीन समाज को 'वर्णाश्रम समाज' का नाम दिया है। उस समय तक 'हिन्दू' शब्द का प्रचलन नही हुआ था। जिस समाज मे शास्त्रीय वर्ण व जाति और ब्रह्मचर्यादि आश्रमो की व्यवस्था प्रचलित थी, उसी का नाम 'वर्णाश्रम समाज' है। सनातन धर्म के सबध मे किसी भी तरह की आलोचना करने के लिए पहले वर्ण-धर्म की ही व्याख्या करनी पडती है। क्योकि वर्णभेद मे अनुष्ठान व रीति नीति का पार्थक्य स्पष्ट था।

वर्ण व जाति—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र ये चार 'वर्ण' के नाम से अभिहित थे। इन चारो वर्णों मे समान वर्ण के स्त्री-पुरुष से उत्पन्न सन्तान भी माता-पिता के वर्ण से ही परिचित होती थी, किन्तु विभिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुष के ससर्ग से जो सतान होती थी उसका सिर्फ जाति द्वारा समाज मे परिचय होता था, उसका वर्ण कोई नही होता था। मूर्द्धाभिसिक्त, अम्बष्ठ, आदि जाति होती थी, किन्तु वर्ण नही। परवर्ती काल मे, भाषा मे वर्ण व जाति का इस तरह विचारपूर्वक प्रयोग कोई बहुत नही दिखाई देता। आजकल वर्ण के अर्थ मे भी जाति शब्द का व्यवहार होता है। वर्ण एव जाति के सबध मे चर्चा की जाये तो महाभारत से अनेक तथ्य मिल सकते हैं।

देवताओ मे जातिभेद—देवताओं मे भी जातिभेद पाया जाता है।[1]

मनुष्यो मे जन्म के द्वारा ही वर्ण निश्चित किया जाता था, महाभारत मे यही उल्लिखित है, ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय, इस तरह वर्ण स्थिर करने को ही जन्मगत कहा जाता है। और अगर क्षत्रियपुत्र अपने कार्यों द्वारा ब्राह्मणत्व का लाभ करे अथवा ब्राह्मणपुत्र शूद्रत्व को प्राप्त हो तो जन्मगत वर्ण मे परिवर्तन होने पर कर्मगत वर्ण स्थिर करना पडता है। इन दोनो तरह से ही वर्ण व जाति के सबध मे बहुत कुछ कहा गया है।

---

१. इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत्। शा २२।११
एवमेते समाम्नाता विश्वेदेवास्तथाश्विनौ। इत्यादि। शा २०८।२३, २४

वर्णसृष्टि—जन्मगत वर्ण की जो व्याख्या है उसमे देखा जाता है कि भगवान ने स्वय ही वर्ण की सृष्टि की है। उन्होने मुख से ब्राह्मण, वाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य एव पाँवो से शूद्र की सृष्टि की।[१] पुत्र हमेशा पिता का ही प्रतिरूप होता है, यह श्रुतिप्रसिद्ध है, अतएव पिता का जो वर्ण होता है, पुत्र का भी जन्म से ही वही वर्ण होता है।[२]

जन्मगत वर्णजाति के विषय मे उक्ति—सब प्राणियो का जन्म से ही अपना-अपना कर्म निश्चित होता है।[३] जन्मगत जातिधर्म किसी भी अवस्था मे परित्याज्य नही है।[४]

ब्राह्मण कुल मे जन्म लेने से ही ब्राह्मण पूजनीय होता है।[५]

सब प्राणियो को मित्रस्वरूप देखना, दान, अध्ययन, तपस्या आदि करना ब्राह्मण का ही कर्म है। राजा को ये सब कर्म करने का अधिकार नही है। इससे प्रमाणित होता है कि जिस जाति मे जन्म होता है उससे भिन्न जाति के कर्त्तव्य-कर्म करने का अधिकार मनुष्य को नही होता। अतएव जन्म द्वारा ही जाति निश्चित होती है।[६]

व्यासदेव ने अपने पुत्र शुकदेव को उपदेश देते हुए कहा था—"बहुत से जन्मो के सुकर्मो के फलस्वरूप ही प्राणी ब्राह्मणकुल मे जन्म लेता है। ऐसे दुर्लभ ब्राह्मण जन्म को अवहेलना से नष्ट करना उचित नही है, विषय-भोगो के लिये ब्राह्मण-कुल मे जन्म नही होता। वेदाध्ययन, तपस्या आदि ब्राह्मणसन्तान का

---

१. मुखतः सोऽसृजद्विप्रान् बाहुभ्या क्षत्रियास्तथा।
वैश्याश्चाप्यूरुतो राजन् शूद्रान् वै पादतस्तथा॥ भी ६७।१९
ब्राह्मणो मुखत. सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्या क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्या वैश्य एव च॥ इत्यादि शा ७२।४, शा० २९६।६

२. यदेतज्जायतेऽपत्यं स एवायमिति श्रुति.॥ शा २९६।२

३. स्वयोनितः कर्म सदा चरन्ति। वन २५।१६

४. कुलोचितमिद कर्म पितृपैतामह परम्॥ वन २०६।२०
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्॥ भी ४२।४८

५. ब्राह्मणो नाम भगवान् जन्मप्रभृति पूज्यते॥ शा २६८।१२

६. मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययन तपः।
ब्राह्मणस्यैव धर्म स्यान्न राज्ञो राजसत्तम॥ शा १४।१५

कर्त्तव्य कर्म है। यहाँ भी देखा जाता है कि शुकदेव जन्म के द्वारा ही ब्राह्मण कहलाये थे।[१]

जन्म से ही ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का क्षत्रिय ऐसा माना जाता है, एव उसी के अनुसार हर एक के वर्णोचित सस्कार किये जाते है।[२] जन्म से ही ब्राह्मण अन्यान्य वर्णों का गुरु होता है।[३] ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न दस वर्ष का बालक सौ साल के क्षत्रिय के पितातुल्य होता है।[४]

ब्राह्मणो के धन का अपहरण करना उचित नही है। बालक अथवा दरिद्र ब्राह्मण का भी तिरस्कार नही करना चाहिये।[५] पशुपक्षी आदि के रूप मे अनेको बार जन्म लेकर प्राणी मनुष्य योनि मे सर्वप्रथम चडाल के रूप मे जन्म लेता है। क्रमश. अच्छे कर्मों के फलस्वरूप शद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वश मे जन्म होता है।[६] बालक से लेकर वृद्ध तक, हर ब्राह्मण सम्मान करने योग्य है। ब्राह्मण विद्वान हो या मूर्ख, हर अवस्था मे पूज्य है। अग्नि का जिस तरह असस्कृत होते हुए भी माहात्म्य नष्ट नही होता, उसी प्रकार ब्राह्मण भी चाहे जैसी अवस्था मे क्यो न हो, उसकी जन्मगत विशेषता नष्ट नही होती।[७]

---

१. सम्पतन् देहजालानि कदाचिदिह मानुषे।
ब्राह्मण्यं लभते जन्तुस्तत् पुत्र परिपालय ॥ इत्यादि। शा ३२१।२२-२४

२. यत् कार्यं ब्राह्मणेनेह जन्मप्रभृति तच्छृणु।
कृतोपनयनस्तात भवेद् वेदपरायणः॥ इत्यादि। शा ३२६।१४-१९

३. जन्मनैव महाभाग ब्राह्मणो नाम जायते।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक्॥ अनु ३५।१
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनुजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥ शा ७२।६

४. क्षत्रिय शतवर्षी च दशवर्षी द्विजोत्तमः।
पितापुत्रौ च विज्ञेयौ तयोर्हि ब्राह्मणो गुरुः॥ अनु ८।२१

५. न हर्त्तव्यं विप्रधनं क्षन्तव्यं तेषु नित्यशः।
बालाश्च नावमन्तव्या दरिद्राः कृपणा अपि॥ अनु ९।१८

६. अनु २८ वां अ०।
तिर्यग्योन्याः शूद्रतामभ्युपैति, शूद्रो वैश्यं क्षत्रियत्वञ्च वैश्यः। इत्यादि। अनु ११८।२४

७. येषां वृद्धश्च बालश्च सर्वः सम्मानमर्हति। इत्यादि। अनु १५१।१९-२३

ब्राह्मण के कर्त्तव्य वर्णन-प्रसग मे कहा गया है कि जातकर्म से ब्राह्मण का सस्कार शुरू होता है। उसके सस्कार अन्य वर्णों के सस्कारो से अलग होते हैं।[१]

अश्वत्थामा क्षत्रिय वृत्ति अर्थात् युद्धादि मे निरत थे तब भी वे ब्राह्मण ही माने जाते थे। इसी कारण भीम ने उनका वध नही किया था।[२]

द्रोणाचार्य का वध करने के कारण धृष्टद्युम्न को धिक्कारते हुए सात्यकि ने कहा है, "तुमने ब्राह्मण का वध किया है, तुम्हारा मुँह देखना भी पाप है।" द्रोणाचार्य भी ब्राह्मण की निर्दिष्ट वृत्ति से जीविकोपार्जन नही करते थे, वरन् अति रुद्रकर्मा क्षत्रिय की तरह ही रहते थे, तब भी उन्हे ब्राह्मण ही कहा गया है।[३] वनवास काल मे असह्य दुख से अधीर होकर भीम के दुर्योधन को युद्ध के लिये ललकारने पर, यधिष्ठिर ने उन्हे समझा-बुझा कर युद्ध रोकना चाहा। इस पर भीम ने क्रुद्ध होकर कहा, "आपकी दया तो ब्राह्मणो के लिये ही उचित है, क्यो आपने क्षत्रिय-कुल मे जन्म लिया? क्षत्रियवश मे तो प्राय क्रूरबुद्धि पुरुष ही जन्म लेते है।" युधिष्ठिर का चरित्र ब्राह्मणोचित होने पर भी भीम ने उन्हे ब्राह्मण नही कहा।[४] श्रीमद्भागवत मे भी पाया जाता है कि भगवान ने अर्जुन को तरह-तरह से वर्णाश्रमतत्त्व समझाया है। "क्षत्रियो के लिये धर्मयुद्ध से श्रेयस्कर कुछ भी नही है, धर्मयुद्ध मे निहत होने पर तुम स्वर्ग को प्राप्त होगे और यदि विजयी हुए तो पृथ्वी के अधीश्वर बनोगे।" अर्जुन की ब्राह्मणसुलभ दया का भगवान ने अनुमोदन नही किया। गुण व कर्म के अनुसार वर्ण स्थिर करने से भगवान की कही हुई उन बातो का कोई मूल्य नही रह जाता।[५]

शम-दम आदि गुण न होने पर ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न व्यक्ति असाधु ब्राह्मण माना जाता था। इसी प्रकार भीरु क्षत्रिय, चातुर्यहीन वैश्य एव प्रतिकल आचरण करने वाला शूद्र भी असाधु कहकर पुकारे जाते थे। इससे प्रमाणित होता है कि

---

१. जातकर्म प्रभृत्यस्य कर्मणा दक्षिणावताम्। इत्यादि। शा २३३।२

२. जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद्गौरवेण च॥ सौ १६।३२

३. त्वाच ब्रह्महण दृष्ट्वा जनः सूर्यमवेक्षते।
ब्रह्महत्या हि ते पाप प्रायश्चित्तार्थमात्मन.॥ द्रो १९७।२१

४. घृणी ब्राह्मणरूपोऽसि कथ क्षत्रेषु जायेथा।
अस्यां हि योनौ जायन्ते प्रायश क्रूरबुद्धय.॥ वन ३५।२०

५. धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ भी २६।३१
हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्॥ भी २६।३७

यथोचित गुण न रहने पर भी आदमी जिस वर्ण मे पैदा होता था उसी का माना जाता था, दूसरा वर्ण ग्रहण नही कर सकता था।[१]

ब्राह्मण कुल मे जन्म लेकर क्षात्रधर्म का अवलम्बन लेने के कारण अश्वत्थामा ने अपने भाग्य को धिक्कारते हुए शिष्ट पुरुषो के अधर्म आचरण के लिये खेद प्रकट किया था।[२] युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे यज्ञ की वेदी के पास सब वर्णों के लोगो को नही जाने दिया गया था।[३] वर्ण या जाति जन्मगत नही मानी जाती तो प्रत्येक की उसके कर्म द्वारा परीक्षा करके यह निश्चित करना चाहिए था कि वह यज्ञवेदी के निकट जाने लायक है या नही।

ब्राह्मण का हृदय तो नवनीत की तरह कोमल होता है लेकिन वचन उस्तरे की धार की तरह तीक्ष्ण होते है। क्षत्रिय के पक्ष मे इसका बिल्कुल उल्टा होता है, उसके वचन बडे मीठे होते है और हृदय कठोर।[४] जन्मगत ब्राह्मण एव क्षत्रिय को लक्ष्य करके ही यह बात कही गई है, प्रत्येक के चरित्र की परीक्षा करके नही। कर्ण की क्षतयन्त्रणा सहन करने की क्षमता देखकर ही परशुराम ने उन्हे क्षत्रिय कहा था। पौरोहित्य, मन्त्रित्व, दौत्य आदि कार्यों से ब्राह्मणत्व विशुद्ध नही रह पाता। जो ब्राह्मण इन वृत्तियो द्वारा जीवन यापन करते है वे क्षत्रिय के समान है। जो ब्राह्मण अपने जन्मोचित कर्मो से पराङ्मुख होते हैं वे शूद्र के समान है।[५]

---

१. अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः।
अदक्षो निन्द्यते वैश्यः शूद्रश्च प्रतिकूलवान्॥ सौ ३।२०

२. सोऽस्मि जातः कुलश्रेष्ठे ब्राह्मणानां सुपूजिते।
मन्दभाग्यतयास्म्येत क्षत्रधर्ममनुश्रितः। सौ ३।२१

३. न तस्यां सन्निधौ शूद्र कश्चिदासीन्न चाव्रती।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन्! युधिष्ठिरनिवेशने॥ सभा ३६।९

४. नवनीत हृदय ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निशितस्तीक्ष्णधारः।
तदुभयमेतद् विपरीत क्षत्रियस्य वाङ् नवनीतं हृदय तीक्ष्णधारम्।
आदि ३।१२३
अति तीक्ष्णन्तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः॥ उ २१।४

५. ऋत्विक् पुरोहितो मंत्री दूतो वार्त्तानुकर्षकः।
एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत॥ शा ७६।७
जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबंधवः।
एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणाना भवन्त्युत॥ शा ७६।४

यहाँ 'समान' शब्द लक्ष्य करने योग्य है। कर्म के द्वारा यदि वर्ण परिवर्त्तित होता तो "क्षत्रिय के समान" या "शूद्र के समान" न कहकर 'क्षत्रिय' एव 'शूद्र' ही कहा जाता।

प्रत्येक जाति अपने अपने जन्मोचित कार्यो द्वारा अपनी सार्थकता को प्राप्त होती है। जिस वश मे जन्म हो उसी वश के अनरूप कार्य करना उचित है, यही महाभारत का अभिप्राय है।[1] वर्णसकर के फलस्वरूप जिस ब्राह्मण की उत्पत्ति हो, जो दुष्कर्मो द्वारा पतित हो अथवा पतितो के साथ जिसका सबव हो, उस ब्राह्मण को श्राद्ध आदि कार्यों के लिये नही बुलाना चाहिए। यहाँ भी देखा जाता है कि पतित होने पर भी उसे ब्राह्मण ही कहा गया है।[2]

जिस कर्म पर अपना जन्मगत अविकार हो, उसे छोडकर यदि कोई ब्राह्मण शूद्र का कर्म करने लगे तो वह भी शूद्र के समान हो जाता है। उसका स्पर्श किया अन्न ग्रहण करना दूसरे ब्राह्मणो के लिये निपिद्ध है। यहाँ भी शूद्र के समान कहा गया है, 'शूद्र' नही।[3] जो किसी सकटग्रस्त की सहायता जैसे सावुकार्य करते रहते हैं वे शूद्र हो या चाहे जो हो हमेशा सम्मान के पात्र हैं। जाति अगर जन्म से ही निर्धारित न होती तो 'शूद्र हो या चाहे जो हो' यह उक्ति निरर्थक हो जाती। इस तरह के महात्मा पुरुप को ब्राह्मण ही कह दिया जाता।[4]

शुभ कर्मो द्वारा जिनका मन पवित्र हो गया है, जो जितेन्द्रिय है, वे शूद्र होते हुए भी द्विजवत सम्माननीय है। जाति तो जन्मगत ही होती है किन्तु साधु कर्मो द्वारा सम्मान प्राप्त किया जा सकता है।[5] ब्राह्मणी के गर्भ से नाई के औरस से मतग का जन्म हुआ। ब्राह्मणत्व प्राप्ति के निमित्त मतग ने कठोर तपस्या की थी,

---

१ दमेन शोभते विप्र क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्य शूद्रस्तु नित्य दाक्ष्येण शोभते॥ शा २९३।२१

२ सकीर्णयोनिर्विप्रश्च सबधो पतितश्च य।
वर्जनीया बुधैरेते निवापे समुपस्थिते॥ अनु ९१।४४

३ शूद्रकर्म तु य. कुर्यादवहाय स्वकर्म च।
स विज्ञेयो यथा शूद्रो न च भोज्यः कदाचन॥ अनु १३५।१०

४. अपारे यो भवेत् पारमप्लवे य प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्य· सर्वथा मानमर्हति॥ शा ७८।३८

५. कर्मभि शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत् स्वयम्॥ इत्यादि।
अनु० १४३।४८,४९

किन्तु इद्र ने उसे ब्राह्मणत्व प्राप्ति का वरदान नही दिया। अनेक जन्मो की तपस्या से ब्राह्मण-कुल मे जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त होता है, यही इद्र-मतग सवाद का सार है।[1] इतने वडे ज्ञानी होकर भी विदुर अपना परिचय 'शूद्र' कहकर ही देते थे। सनत्सुजातीय के प्रारम्भ मे उन्होने स्वय कहा है, "मैंने शूद्रा के गर्भ से जन्म लिया है, इसलिये अध्यात्मशास्त्र के कथन का अधिकार मुझे नही है।"[2]

अगर कर्म द्वारा ही जाति निर्धारित होती तो वर्णसकर प्रकरण की सार्थकता कैसे रहती, क्योकि फिर तो जो जिस जाति के कर्म करता उसी जाति का माना जाता और वर्णसकरता तो केवल जन्म के द्वारा ही निश्चित होती है। अतएव जाति जन्मगत ही होती है।[3] ब्राह्मण आदि चार वर्णो के अलावा और भी कई जातियाँ मानी गई हैं, उन्ही का नाम सकर है। अतिरथ, अवष्ठ, उग्र, वैदेहक, श्वपाक, पुक्कश, निषाद, सूत, मागध, मद्रनाभ, आहिंडक, चर्मकार, श्वपाक आदि बहुत सी जातियाँ विभिन्न वर्ण और जाति के माता-पिता के मिलन से उत्पन्न होती है।[4] उल्लिखित प्रमाणो को, जन्म द्वारा जाति-निर्णय, के पक्ष मे उद्धृत किया जा सकता है।

कर्म द्वारा वर्ण व जाति—कर्म द्वारा ब्राह्मणादि वर्ण और जाति निर्धारित की जाती थी, इसके प्रमाण भी महाभारत मे कम नही है।

जो ब्राह्मणो के निर्दिष्ट कर्म (यजन, याजन, अध्यापना, तपस्या आदि) करते थे, उन्हे ब्राह्मण कहा जाता था। जो क्षत्रिय के कर्म जैसे राज्यशासन आदि करते थे, उन्हे क्षत्रिय कहा जाता था। इसी तरह वैश्य और शूद्र का भी निर्णय किया जाता था।

सर्परूपी नहुष के प्रश्न के उत्तर मे ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए युधिष्ठिर ने कहा था, "सत्य, दया, कोमलता, दान, क्षमा, तपस्या आदि गुण जिस व्यक्ति मे हों वही ब्राह्मण है।" युधिष्ठिर का उत्तर सुनकर नहुष ने फिर से प्रश्न किया, "सत्य' दान, क्षमा आदि गुण तो जन्मगत शूद्र मे भी पाये जाते हैं?" उत्तर मे युधिष्ठिर ने कहा—"शूद्र के गुण (परिचर्या आदि) यदि ब्राह्मण मे पाये जायेगे तो मैं उसे शूद्र ही कहूँगा, और ब्राह्मण के गुण (शम, दम आदि), यदि शूद्र मे होगे तो मैं उस शूद्र को ब्राह्मण ही कहूँगा।"[5] जो शूद्रा माता के गर्भ से जन्म लेकर भी सत्कर्म करते है, वे क्रमश. वैश्यत्व, क्षत्रियत्व एव ब्राह्मणत्व का लाभ

---

१. अनु० २८ वां एवं २९ वां अध्याय।

२. शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे॥ उ ४१।५

३. ततोऽन्ये त्वतिरिक्ता ये ते वै संकरजाः स्मृताः। इत्यादि। शा २९६।७-९

४. शा २९६ वां अध्याय। अनु ४८ वां अध्याय।

५. वन १८० वां अध्याय।

करते हैं।[1] यक्ष युधिष्ठिर सवाद मे, जब यक्ष, ब्राह्मणत्व किस तरह प्राप्त होता है, यह प्रश्न पूछता है तो युधिष्ठिर कहते हैं—"कुल, वेदाध्ययन आदि कुछ भी द्विजत्व का कारण नही है, एकमात्र चरित्र द्वारा ही द्विजत्व प्राप्त होता है।"[2] उमा-महेश्वरसवाद मे महेश्वर के मुख से सुना जाता है—"जो सच्चरित्र, दयालु, अतिथि-परायण, निरहकार गृहस्थ है वह नीच जाति मे जन्म लेने पर भी द्विजत्व लाभ करता है। और जो ब्राह्मण होकर भी चरित्रहीन, सर्वभक्षी, निन्दितकर्मा होता है, वह शूद्रत्व प्राप्त करता है।"[3]

वर्णभेद पहले नही था। ब्रह्मा द्वारा सृष्ट होने के कारण सब मनुष्य ब्राह्मण कहे जाते थे। बाद मे जो कामभोगप्रिय, क्रोधी, साहसी, रजोगुणप्रधान थे, वे क्षत्रिय कहे जाने लगे। जो रज एव तम गुणयुक्त थे और जो गो-पालन और कृषि द्वारा जीविकानिर्वाह करने लगे, वे वैश्यत्व को प्राप्त हो गये और जो लोभी, मिथ्याप्रिय, सर्वकर्मोपजीवी, शौचाशौचविचारहीन थे, वे शूद्र कहे जाने लगे। इस प्रकार ब्राह्मण ही कर्म द्वारा विभिन्न वर्णों को प्राप्त हुए हैं।[4]

भृगुभरद्वाज सवाद मे कहा गया है—जो जात-कर्मादि सस्कार द्वारा सस्कृत, वेदाध्ययनशील, सध्या, स्नान, जप, तप आदि षट्कर्मो मे निरत होते हैं, वही ब्राह्मण हैं। जो युद्ध के लिये तत्पर, प्रजापालन मे रत व वेदाध्ययन सम्पन्न होते हैं, वे क्षत्रिय, जो वाणिज्य, कृषि व पशुपालन मे रत एव वेदाध्ययन सम्पन्न होते हैं, वे वैश्य, और जो सर्वभक्षी, अपवित्र, अनाचारी होते हैं वही शूद्र हैं। उल्लिखित कर्म ही वर्णविभाग का कारण है। जो सदा शौच व सदाचार का पालन करते हैं, प्राणि-मात्र पर दया करते है वही द्विज हैं।[5] कर्म द्वारा वर्ण निर्धारित करने के विषय मे उमामहेश्वर सवाद के पूरे अध्याय मे बहुत सी बातो के बाद अत मे महेश्वर कहते

---

१ शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठत·।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्व तथैव च॥ इत्यादि वन २११।११, १२

२ श्रृणु यक्षकुल तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारण हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न सशय॥ वन ३१२।१०८
न योनिर्नापि सस्कारो न श्रुत न च सन्तति·।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्॥ अनु १४३।५०, ५१।

३. एतै कर्मफलैर्देवि न्यूनजाति कुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति सस्कृत·॥ अनु १४३।४६, ४७

४. शा १८८ वां अध्याय।

५ शा १८९ वां अध्याय।

है—"शूद्रकुल मे जन्म लेकर भी किस तरह ब्राह्मणत्व प्राप्त किया जा सकता है और ब्राह्मण भी किस तरह धर्मच्युत होकर शूद्रत्व को प्राप्त होता है, यह गुह्यतत्व मैंने तुम्हे वतलाया है।"[१]

कौरव-पाडवो की शस्त्रविद्यापरीक्षा के समय कर्ण के सभास्थल पर उपस्थित होने पर भीम ने सूतपुत्र कहकर उनका उपहास किया था। प्रत्युत्तर मे दुर्योधन ने भीम से कहा था—"अग्नि की जल से, वज्र की दधीचि की अस्थियो से भगवान गुह की अग्नि, कृत्तिका, रुद्र व गगा इन चारो से उत्पत्ति हुई है। विश्वामित्र आदि क्षत्रियो ने भी ब्राह्मणत्व का लाभ किया था। आचार्य द्रोण कलश से और गौतम शरस्तम्व से उत्पन्न है। अतएव मनुष्य के कर्म द्वारा उसे ऊँच-नीच समझना चाहिये, जन्म से नही।"[२] विश्वामित्र ने क्षत्रियकुल मे जन्म लेकर भी कठोर तपस्या करके ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था।[३] महर्षि भृगु के प्रसाद से क्षत्रिय हैहयराज ब्रह्मर्षि वने थे।[४]

सिंधु द्वीप व देवापि ने सरस्वती के उत्तरी तीर पर महर्षि आर्ष्टिषेण के आश्रम मे ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था।[५]

उल्लिखित प्रमाणो से पता चलता है कि मनुष्य चाहे किसी भी जाति के माता-पिता के घर जन्म लेता था पर उसके गुण व कर्म के अनुसार ही उसकी जाति या

---

१. एतत्ते गुह्यमाख्यातं यथा शूद्रो भवेद्द्विजः।
ब्राह्मणो वाच्युतो धर्माद् यथा शूद्रत्वमाप्नुते॥ अनु १४३।५९

२. सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम्।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम्॥ इत्यादि। आदि १३७।१२-१७

३. स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकां विष्टभ्य तेजसा।
ततापं सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्॥ आदि १७५।४७
क्षत्रभावादपगतो ब्राह्मणत्वमुपागतः। उ १०६।१८
तपसा वै सुतप्तेन ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्॥ शल्य ४०।११
ततो ब्राह्मणता यातो विश्वामित्रो महातपः॥ अनु ४।४८
तत्प्रसादान्मया प्राप्तं ब्राह्मण्यं दुर्लभं महत्॥ अनु १८।१७
स लब्ध्वा तपसोऽग्रेण ब्राह्मणत्वं महाशयाः॥ शल्य ४०।२९

४. एवं विप्रत्वमगमद् वीतहव्यो नराधिपः।
भृगोः प्रसादाद् राजेन्द्र क्षत्रियः क्षत्रियर्षभ॥ अनु ३०।६६

५. तस्मिन्नेव तदा तीर्थे सिन्धुद्वीपः प्रतापवान्।
देवापिश्च महाराज ब्राह्मण्य प्राप्नतुमर्हत्। शल्य ४०।१०

वर्ण निर्धारित किये जाते थे। देखने से ऐसा लगता है कि ये सब वचन व व्यक्तिगत उदाहरण जन्मानुसार जातिनिर्धारण के प्रतिकूल प्रदर्शित हुए हैं।

दोनो मतो का सामञ्जस्य-विधान—आलोचित दोनो मत एक दूसरे के बिल्कुल अन्तर्विरोधी है। दोनो मे सामजस्य स्थापित करने के लिये निम्नलिखित सम्भाव्य विषयो पर नजर रखनी पडेगी।

(क) कालभेद मे दोनो प्रकार के वर्ण-विभाग। (ख) देशभेद मे विभिन्न व्यवस्था। (ग) जन्मगत एव कर्मगत जाति रूप मे दोनो की सत्यता।

इन तीनो मे, पहले दो बहुत समीचीन नही लगते, क्योकि वेद व मनुसहिता मे वर्ण और जातिभेद के यथेष्ट उदाहरण देखने को मिलते हैं किन्तु उस भेद को जन्मगत माना गया है। महाभारत ने वेद को स्वतन्त्र प्रमाण माना है। मनु के वचनो पर भी महाभारतकार की श्रद्धा असीम है। [देखिये "विवाह(क)पृष्ठ१४]

देशभेद के अनुसार जाति के सबध मे विभिन्न व्यवस्था थी कि नही, इसका कोई प्रमाण महाभारत मे नही मिलता।

अब प्रश्न उठता है कि जन्मगत जाति के अनुसार यदि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय—इस प्रकार विभाग किया जाये तो जो सर्वप्रथम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहे गये उनकी जाति किसने निर्धारित की थी? इस प्रश्न के उत्तर मे भीष्म पर्व की भगवद्-उक्ति उपस्थित की जा सकती है। भगवान ने कहा है—"सत्वादि गुणो के एव याग-यज्ञ, शम, दम, युद्ध, वाणिज्य, परिचर्या आदि कर्मो के विभाग द्वारा मैंने चार प्रकार के वर्णो की सृष्टि की है।"[1]

पूर्व जन्म के कर्मानसार जीव के सत्वादि गुण थोडे-बहुत होते ही है। शरीर-धारण के पूर्व क्षण मे जीव मे जिस तरह का गुण होता है, ईश्वर उसी तरह की जाति मे जीव को जन्म देते हैं। पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही ब्राह्मणादि कुल मे जन्म होता है, यह बात उपनिषद् मे भी कही गई है। 'रमणीय चरणा रमणीया योनिमापद्यन्ते' इत्यादि। (छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।७)। जन्म के बाद जाति के अनुसार ही कर्म करने पडते हैं। सबसे पहले कब इस प्रकार वर्ण विभाग हुआ, इसका कोई उल्लेख महाभारत मे नही मिलता। आदि सृष्टि मे भगवान के किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य बनाने मे उनके पक्षपात करने की आशका होती है। समस्त सृष्टि के बारे मे ही यह आशका है। इसके उत्तर मे दार्शनिकगण कहते हैं कि सृष्टि की एक धारा है, जो अनादि है। आस्तिक दर्शनो मे भी सष्टि धारा के अनादित्व को स्वीकार किया गया है। अन्यथा पक्षपात दोष से भगवान की रक्षा

---

१. चातुर्वर्ण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागशः॥ भी २८।१३

नही की जा सकती। उल्लिखित भगवद्-उक्ति के अत मे कहा गया है "कर्त्ता होते हुए भी वास्तविक पक्ष (रूप) मे मुझे अकर्त्ता ही समझना।" यह उक्ति भी समस्त सृष्टि-प्रवाह के अनादित्व का समर्थन करती है।[1] भगवान ने यह भी कहा है कि स्वभावजात गुण के अनुसार जीव का कर्म विभाग किया गया है।[2]

इस रीति से विचार करने पर यह नही कहा जा सकता कि समाज मे अलग-अलग काल मे अलग-अलग जातिभेद की व्यवस्था थी। तृतीय पक्ष (ग) का अवलम्वन लेने पर दोनो की सत्यता थी, यह सिद्ध करना पडता है। सम्भवत महाभारत का यही अभिप्राय है और यही अधिक युक्तियुक्त भी है। दो-चार प्रमाणो की सहायता से इसे सिद्ध करने की कोशिश करता हूँ। चातुर्वर्ण्य प्रथा दो रूपो मे विद्यमान थी, एक तो औपाधिक अथवा रूढ रूप मे जिसे अव तक जन्मगत कहा गया है और दूसरी स्वभाविक अथवा गणगत रूप मे।

द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा एव कृपाचार्य औपाधिक ब्राह्मण एव स्वाभाविक क्षत्रिय थे। केवल ब्राह्मण के औरस से उनका जन्म हुआ था, ब्राह्मणोचित वृत्ति का अवलम्वन उन्होने नही लिया था, क्षत्रिय-वृत्ति युद्धविग्रह आदि के अनुशीलन द्वारा ही जीवन यापन करते थे। इसी तरह दुर्योधन, दु शासन आदि को औपाधिक क्षत्रिय कहा जा सकता है। गुणगत रूप से उनमे वैश्यत्व व शूद्रत्व का मिश्रण था। एक-आध बार तो युद्धक्षेत्र से भाग भी खडे हुए थे। विदुर, धर्मव्याध, तुलाधार आदि प्रमुख व्यक्ति शूद्र एव वैश्य थे, किन्तु गुणो से वे श्रेष्ठ ब्राह्मणत्व के अधिकारी थे। स्वाभाविक ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि धर्म सत्वादि गुणो पर निर्भर हैं। सत्वगुण-प्रधान व्यक्ति ब्राह्मण, सत्वयुक्त रज प्रधान व्यक्ति क्षत्रिय, तमोयुक्त रज प्रधान व्यक्ति वैश्य एव रजोयुक्त तम प्रधान व्यक्ति शूद्र होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के कर्मो से उसके चरित्र मे जिन गुणो का विकास होता था, उन्ही के अनुसार स्वाभाविक जाति निश्चित की जाती थी।

स्वाभाविक ब्राह्मण का स्वरूप वताते हुए कहा गया है, जो क्रोध एव मोह का त्याग कर सकते हो, देवता उन्ही को ब्राह्मण कहते हैं। जो सत्यवादी, इन्द्रियों का दमन करने वाला एव ऋजुस्वभावी हो, वही असली ब्राह्मण है।[3] जो किसी भी

---

१. तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धकर्त्तारमव्ययम्॥ भी २८।१३

२. कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ भी ४२।४१

३. क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम।
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ इत्यादि वन २०५।३२-३९

अवस्था मे सत्य से विचलित न हो वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है।[1] क्षमा ही ब्राह्मण का वल है[2] जो समस्त प्राणियो पर मैत्रीभाव रक्खे, वही ब्राह्मण है।[3]

जो सव प्राणियो की रक्षा करे वही क्षत्रिय है।[4]

ब्राह्मण को किसी की हिंसा नही करनी चाहिए, उसका स्वभाव सौम्य होना चाहिये।[5] सव पर जिसकी समान दृष्टि हो निर्गुण निर्मल ब्रह्म जिसमे प्रतिष्ठित हो वही प्रकृत द्विज है।[6]

जिसका जीवन केवल धर्म के लिये उत्सर्ग होता हो, जिसका धर्मानुष्ठान भगवान के उद्देश्य से किया गया हो, काल स्वय जिसके निकट पुण्य के निमित्त उपस्थित हो, उसे देवता ब्राह्मण कहकर पुकारते हैं।[7] जो हर अवस्था मे सन्तुष्ट रहे वही असली ब्राह्मण है।[8] इन सव उक्तियो से समझा जा सकता है कि स्वाभाविक ब्राह्मण साधारण मनुष्य की तुलना मे वहुत उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। और भी बहुत सी जगह इस प्रकार की ब्राह्मण-प्रशसा मिलती है।[9] यह प्रशसा केवल ब्राह्मण सन्तान की नही है, जिनमे उल्लिखित गुण हो वही प्रशसा के योग्य हैं, उनकी प्रशसा मे वहुत से उपाख्यान भी उद्धृत हुए हैं।

कुलोचित कर्म की प्रशसा—जो जिस कुल मे जन्म ले वह उसी कुल के कर्त्तव्य कर्म करे, उसके हितैषी यही कामना करते थे । युद्ध का समस्त आयोजन हो जाने

---

१. य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ।। उ ४३।४९

२. ब्राह्मणाना क्षमा बलम् ।। आदि १७५।२९

३. सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।। आदि २१७।५
कुर्य्यादन्यन्नवा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।। शा ६०।१२ । शा २३७।१३
ब्राह्मणे दारुण नास्ति मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।। अनु २७।१२

४. कुर्य्यादन्यन्नवा कुर्य्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ।। शा ६०।२०

५ तस्मात् प्राणभृत. सर्वान्न हिंस्याद् ब्राह्मण. क्वचित् ।
ब्राह्मणः सौम्य एवेह भवतीति परा श्रुतिः ।। आदि ११।१४

६. ब्राह्मः स्वभावः सुश्रोणि सम. सर्वत्र मे मति. ।
निर्गुण निर्मल ब्रह्म यत्र तिष्ठति स द्विजः ।। अनु १४३।५२

७. जीवित यस्य धर्मार्थं धर्मोऽर्यर्थमेव च ।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मण विदु ।। इत्यादि शा २४४।२३, २४

८. येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः । इत्यादि । शा २४४।१२-१४

९. शा ३८।३५ । शा ३४२ वाँ अध्याय । अनु० ९ वाँ, ३३ वाँ, ३४ वाँ, ५४ वाँ और १५१ वाँ अध्याय ।

पर अर्जुन के मन मे वैराग्य का उदय हुआ और वे धनुप-वाण छोडकर बैठ गये।
तव भगवान कृष्ण ने उन्हे युद्ध के लिये उत्साहित करने के निमित्त वार वार उनकी क्षत्रियता का स्मरण कराया।[1] पुत्र शुकदेव को ब्राह्मणत्व मे प्रतिष्ठित करने के निमित्त महर्षि वेदव्यास ने उन्हे वहुत उपदेश दिये।[2]

जन्मोचित कर्म को "सहज कर्म" के नाम से अभिहित किया गया है।[3] जो सत्पुरुप उसी कर्म को करता था वह चाहे किसी भी जाति का हो, समाज मे साधु पुरुप के रूप मे ही सम्मानित होता था। ब्राह्मण कौशिक ने मिथिला के वाजार मे, मासविक्रेता व्याध से कहा था, "तात, यह घोर कर्म (पशुवध व मास-विक्रय) तुम्हारे लिये वहुत ही खराव है, तुम्हारा यह अशोभनीय कर्म देखकर मुझे वडा अनुताप हो रहा है।" उत्तर मे व्याध वोला—"हे द्विज, यह वृत्ति हमारी परम्परागत है, अतएव यही मेरा धर्म है। मैं श्रद्धासहित गुरुजनो की सेवा करता रहता हूँ। देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग एव भृत्यो को देने के वाद जो अवशिष्ट रह जाता है इसी का मैं व्यवहार करता हूँ। परनिन्दा, परचर्चा, असूया, मिथ्या आदि मुझमे स्थान नही वना पाते।"[4] यहाँ भी देखा जाता है कि मनुष्य के ग्रहण करने योग्य सत्य, दया आदि गुणो के अनुशीलन से अपनी जन्मगत वृत्ति द्वारा जीवन विताने वाले एक व्याध को भी ब्राह्मण सन्तान के उपदेशक गुरु का सम्मान मिला है। वर्णजाति को गौण रख कर गुणियो का सम्मान करने के वहुत से उदाहरण महाभारत मे मिलते है। युधिष्ठिर के यज्ञ मे शूद्रो की भी यथारीति अभ्यर्थना की गई थी।[5]

साधु-चरित्र गुणवान का समाज मे सम्मान—ब्राह्मण आदि चार वर्णो एव अन्य जातियो मे ब्राह्मण ही यद्यपि सवकी अपेक्षा समाज मे अधिक सम्मान पाता था, लेकिन तव भी कुत्सित आचारवाला ब्राह्मण कही भी सम्मानित नही होता था। शास्त्रनिर्मित कर्मो के अनुष्ठा१ा चरित्रवान ब्राह्मण को ही सम्मान मिलता था। जन्म चाहे किसी भी जाति मे क्यो न हुआ हो, लेकिन मनुष्य चरित्र की साधारण सद्वृत्तियो का जिसके चरित्र मे जितना ही अधिक विकास होता था, वह उतने ही

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता (भीष्म पर्व)।

२. शा० ३२१ वाँ अध्याय।

३. सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। भी० ४२।४८

४. वन २०६ वाँ अध्याय।

५. विशश्च मान्यान् शद्रांश्च सर्वानानयतेति च॥ सभा ३३।४१
ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रञ्च धर्मज्ञ सद्वृत्तमभिपूजयेत्॥ अनु० ४८।४८

सम्मान का अधिकारी होता था। पूरा समाज साधु, सच्चरित्र पुरुष को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। विदुर शूद्रा माता के गर्भ से पैदा हुए थे, स्वय भी उन्होंने सर्वत्र अपना परिचय शूद्र कहकर ही दिया है, लेकिन महाभारत के पात्रो मे उनके जैसा दृढचित्त और कोई नही है। वे सर्वत्र उसी रूप मे सम्मान के अधिकारी रहे है। भगवान कृष्ण की भी विदुर पर यथेष्ट श्रद्धा थी। कृष्ण के विदुर का आतिथ्य स्वीकार करने पर समाज मे उनका सम्मान और भी बढ गया था। महाभारत मे विदुर के लिये 'महात्मा' विशेपण का प्रयोग किया गया है। युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि क्षत्रिय भी उन्हे चरण छूकर प्रणाम करते थे। प्रणाम करना सगत था कि नही, यह प्रश्न यहाँ नही उठायेंगे। लेकिन इससे विदुर के प्रति लोगो की अगाध श्रद्धा अवश्य प्रकट होती है।[1]

धर्मव्याध, तुलाधार आदि व्यक्ति अपेक्षाकृत नीच जाति मे जन्म लेने पर भी सवकी श्रद्धा पाने मे समर्थ हुए थे। इन सब उदाहरणो से पता चलता है कि किसी भी जाति मे जन्म लेने पर सम्मान पर कोई असर नही पडता था। जाति के साथ चरित्र का कोई सबध नही था। जन्मगत जाति के अनुसार सामाजिक स्तर एव काजकर्म नियन्त्रित होते हुए भी वह समाज की श्रद्धा आर्कषित करने के लिये यथेष्ट नही था। द्रोणाचार्य, कृप आदि प्रमुख योद्धा जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणोचित श्रद्धा व सम्मान प्राप्त नही कर सके।[2] ब्राह्मण कुल मे जन्म लेकर भी ब्राह्मणोचित कर्म न करने के कारण वे केवल नाम के ब्राह्मण या 'ब्राह्मणब्रव' थे। ब्राह्मण की तरह उनकी श्रद्धा करना किसी के लिये सभव नही था। समाज मे हमेशा से यही विचारधारा चली आ रही है। दूसरी जातियो के सबध मे भी यही बात थी। अपने-अपने वर्णोचित कार्य करते हुए जो साधु पुरुष की तरह जीवन व्यतीत करते थे, वही वर्णाश्रम समाज मे आदर्श व्यक्ति के रूप मे सम्मानित होते थे।[3]

जाति जन्मगत—उपर्युक्त विवेचना से पता चलता है कि जाति तो जन्म के अनुसार ही निश्चित की जाती थी, लेकिन सामाजिक सम्मान या गौरव कर्म पर निर्भर था। जन्म एव कर्म दोनो की ही जिनमे विशिष्टता होती थी, वे सबकी

---

१. निर्याय च महाबाहुर्वासुदेवो महामना।
निवेशाय ययौ वेश्म विदुरस्य महात्मन.॥ उ ९१।३४।
अन्येषा चैव वृद्धाना कृपस्य विदुरस्य च॥ आदि १४५।२
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्। सभा ५८।४। वन २५६।८

२ बीभत्सो विप्रकर्माणि विदितानि मनीषिणाम्। इत्यादि। द्रो० १९६।२४, २५

३. तथा माया प्रयुजानमसह्य ब्राह्मणब्रुवम्। इत्यादि। द्रो० १९६।२७

असीम श्रद्धा के पात्र होते थे ।[1] भीष्म, भीम, अर्जुन, अभिमन्यु आदि क्षत्रिय इसके उत्कृष्ट उदाहरण है। तुलाधार एक वणिक (जिसका पिता क्षत्रिय एव माता शूद्रा हो) थे (शा० २६० वाँ अ०) धर्मव्याध मासविक्रेता थे (वन२०६ वाँ अ०) लेकिन समाज मे क्या उनका सम्मान कम था !

कर्म द्वारा जाति स्वीकार करना असंगत—कर्म द्वारा जाति स्थिर की जाती थी, इस सिद्धान्त को माना जाय तो बहुत सी चीजो का औचित्य बनाये रखना मुश्किल हो जाता है। जैसे—

(क) जातकर्मादि सस्कार करने का ब्राह्मण सन्तान के लिये जो नियम है, क्षत्रिय सन्तान के लिये वे नही है। इसी तरह वैश्य और शूद्र के भी नियम अलग-अलग हैं। प्रत्येक जाति के नियम दूसरी तीन जातियो से भिन्न है। कर्म के द्वारा वर्ण विभाग किया जाय तो सद्योजात शिशु का वर्ण स्थिर नही किया जा सकता, और उनके जातकर्मादि सस्कार नही किये जा सकते।

(ख) उपनयन द्विजाति का प्रधान सस्कार है, इस जगह भी ब्राह्मण तीनो वर्णों से भिन्न है। उपनयन से पूर्व किसी बालक के गुण व कर्म देखकर उसका वर्ण स्थिर करना सभव नही है। विशेषत ब्राह्मणत्व आदि गुणसम्पन्न किसी शूद्र सन्तान के यज्ञोपवीत की व्यवस्था कही भी दिखाई नही देती।

(ग) एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न समय मे विभिन्न वर्ण के कर्म कर सकता है। भीष्म, द्रोण, कृष्ण, विदुर, युधिष्ठिर आदि महाभारतीय व्यक्तियो के विभिन्न वर्णोचित कर्मो का परिचय मिलता है। कर्म के द्वारा जाति परिवर्त्तन मान लेने पर उनकी कोई भी जाति स्थिर नही की जा सकती। इस सिद्धान्त को मानने से किसी की भी एक जाति नही रह सकती। एक ही व्यक्ति की कालविशेष मे बार-बार जाति परिवर्त्तित होती रहेगी। और फिर समाज मे विशृखलता आने मे कोई सदेह नही रहेगा। यह भी हो सकता है कि किसी व्यक्ति के गुण तो ब्राह्मणोचित हो, लेकिन कर्म क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र के हो, फिर उसका कौन-सा वर्ण निश्चित किया जायगा ? और व्यक्ति के सहज गुण किस वर्ण के हैं, इसका फैसला ही कौन करेगा ?

विश्वामित्र आदि की जाति का परिवर्त्तन तपस्या का फल या साधारण नियम का व्यतिक्रम मात्र—तप शक्ति से असभव भी सभव हो जाता है। यौगिक प्रक्रिया द्वारा तो शरीर के तत्त्वो तक को बदला जा सकता है। तप सिद्ध व्यक्ति के प्रसाद

---

१. तपः श्रुतं च योनिश्चाप्येतद् ब्राह्मण्यकारणम्।
त्रिभिर्गुणैः समुदितस्ततो भवति वै द्विजः॥ अनु० १२१।७

से भी वहुत कुछ हो सकता है। विश्वामित्र की माता का मन्त्रपूत हव्यान्नभक्षण भी भूलने वाली चीज नही है। मन्त्रशक्ति व तप शक्ति मे महाभारतकार कही भी सन्देह प्रकट नही करते, वरन् सर्वत्र उनकी श्रद्धा व विश्वास ही देखने को मिलता है। ब्राह्मणजनक चरु का माहात्म्य वहुत वार वर्णित हुआ है।[1] सिन्धु-द्वीप व देवापि के ब्राह्मणत्व प्राप्तिस्थल पर ब्राह्मणत्व का अर्थ ब्रह्मज्ञान है कि नही, यह भी विचारने योग्य विषय है।

गोत्रकारक ऋषियो की तपस्या—अगिरा, कश्यप, वशिष्ठ व भृगु इन चारो को मूल गोत्र कहा गया है। गोत्रकारक ऋषि तपस्या द्वारा गोत्र की प्रतिष्ठा किया करते थे।[2]

सकर जाति—अतिरथ, अम्वष्ठ, उग्र, वैदेहक, श्वपाक, पुक्कश, निषाद, सूत, मागध, तक्षा, सैरध्र, आयोगव, मद्गुर, आहिडक आदि अनेक सकर जातियो के नाम एव उनके कर्म वर्णसकर अध्याय मे वर्णित हुए है। लोभ, काम, एव वर्णविषय मे अज्ञानता, इन तीन कारणो से सर्वप्रथम सकर जाति की उत्पत्ति हुई।[3]

चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा इस काल की सामाजिक स्थिति के अनुकूल थी। आज भी समाज मे वर्णव्यवस्था प्रचलित है, लेकिन समाज मे सव इस व्यवस्था को श्रद्धा की दृष्टि से देखते है यह कहना ठीक नही होगा। कुछ लोग जन्मगत वर्णनिर्णय के प्रतिकूल अपने मत को सिद्ध करते है। भारतीय आस्तिक शास्त्रो मे कर्मफल व जन्मान्तरवाद ने एक विशिष्ट स्थान अधिकृत कर रक्खा है। जन्मान्तरवाद को छोड देने से वहुत से प्रश्नो का उत्तर ढूंढे नही मिलता। पूर्वजन्म के पुण्यफल से उच्च वर्ण व अभिजात वश मे जन्म होता है, और पाप के फल से हीन वर्ण व नीच वश मे। जन्म पूरी तरह दैवाधीन है। जिस जाति मे जन्म होता है, श्रद्धापूर्वक उसीके कर्त्तव्य कर्म करना सच्चा आदर्श है, इस जन्म मे इसी को मान लेना पडेगा, क्योकि ससार मे विश्वामित्र जैसे तपस्वी वहुत कम पैदा होते हैं। समग्र महाभारत के वर्णविभाग व उसके कारणो की आलोचना करने के लिये जन्मान्तरीय कर्मफल को ही प्रधान रूप मे ग्रहण करना पडता है।

---

१. वन ११५ वाँ अध्याय। अनु० ४ था अध्याय।

२. मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव।
अगिरा. कश्यपश्चैव वशिष्ठो भृगुरेव च ॥ शा० २९६।१७। द्र० नीलकठ।

३. शा० २९६ वाँ अध्याय। अनु० ४८ वाँ अध्याय।

चतुराश्रम

वर्णधर्म के साथ आश्रम का सबध बहुत घनिष्ठ है। आश्रमवासी नही होगा तो वर्णधर्म रहेगा कहाँ और किस तरह? इसी कारण चातुर्वर्ग्य की आलोचना के बाद ही चतुराश्रम की आलोचना करनी पडती है।

आश्रम चार है--शास्त्रकारो ने कहा है, प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी आश्रमधर्म का पालन करना चाहिये। आश्रम चार है ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और सन्यास। जीवन के एक-एक स्तर पर एक-एक आश्रम के धर्म-पालन का विधान मिलता है। समाज की स्थिति व क्रमोन्नति के निमित्त प्राचीन भारत मे चतुराश्रम की प्रतिष्ठा की गई थी। प्रत्येक का व्यक्तिगत जीवन सुगठित होकर मोक्ष की ओर अग्रसर हो, इस उद्देश्य को लेकर ही शायद चतुराश्रम का उपदेश दिया गया है। भारतीय सामाजिक धर्म की स्थापना चातुर्वर्ण्य, एव व्यक्तिगत जीवन धर्म की स्थापना चार आश्रमो पर हुई है। इसीलिये महाभारतीय सामाजिक धर्म को वर्णाश्रमधर्म और समाज को वर्णाश्रम समाज के नाम से अभिहित किया गया है।

ससार मे हम लोगो के बहुत से कर्त्तव्य है। अर्थ एव काम मे मनुष्य की आसक्ति स्वाभाविक है। केवल प्रवृत्तिवश चलने से कर्त्तव्य मे अनेक त्रुटियाँ हो जाती है, इस कारण नियमित रूप से अर्थ व काम की सेवा करने का विधान दिया गया है। ब्रह्मचर्याश्रम मे विद्या, शिक्षा व सयम रूप व्रत का पालन करके गार्हस्थ्य के प्रारभ मे उसका उद्यापन करना, गार्हस्थ्य मे धर्माविरुद्ध अर्थ व काम का उपभोग एव मन को मोक्षाभिमुख करना, गार्हस्थ्य के अत मे विषय-वासना का परित्याग करके निर्लिप्त भाव से रहना, यही वानप्रस्थ का उद्देश्य है। सन्यास आश्रम मे मुक्ति की चेष्टा की जाती है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारो का नाम पुरुषार्थ है अर्थात् जीव की अभिलाषा है। इस पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि से जीव कृतकृत्य होता है। जीव की यह चरितार्थता ही शायद आश्रम-धर्म व्यवस्था का लक्ष्य है।

आश्रम धर्म की व्यवस्था ईश्वरकृत--मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाने के लिये स्वय भगवान ने आश्रमधर्म की व्यवस्था की है।[1]

---

१. पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा--इत्यादि। शा० १९१।८

चारो वर्ण अधिकारी—ब्राह्मणादि चारो वर्ण आश्रम धर्म पालन के अधिकारी है। शूद्रो मे सिर्फ अच्छे शूद्र को ही यह अधिकार दिया गया है, किन्तु वेदाध्ययन हर शूद्र के लिये निषिद्ध है। निषेध होते हुए भी विदुर के वेदाध्ययन की बात मिलती है।[1]

जीवन के प्रथम काल मे ब्रह्मचर्य—जीवन के प्रथम काल मे ब्रह्मचर्य का अवलम्बन लेना पडता है। उपनयन सस्कार के बाद ब्रह्मचारी के लिये गुरु के घर रहने का विधान है। (शूद्र के गुरुगृहवास का कोई चित्र महाभारत मे नही मिलता)।

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य—ब्रह्मचारी गुरु की सेवा करे, नतमस्तक हो उनके प्रत्येक आदेश का पालन करे। गुरु के सो जाने पर स्वय सोने जाय और गुरु के उठने से पहले ही शय्यात्याग कर दे।[2] शिष्य एव भृत्य के जो-जो कार्य हैं, गुरु के वे सब कर्म शिष्य को प्रसन्नवदन होकर करने चाहिये। अध्ययन के आरम्भ मे शुद्ध भाव से गुरु के दोनो चरण पकडकर विनीत भाव से प्रार्थना करनी चाहिये, "भगवन्, मुझे विद्या दान कीजिये।" ब्रह्मचर्य के प्रतिकूल तीक्ष्ण गध, रस का व्यवहार न करे। व्रत एव उपवास करके शरीर को कष्टसहिष्णु बनाये। इस प्रकार जीवन का प्रथम चतुर्थांश, साधारणत चौबीस वर्ष तक, गुरु के घर रहने का नियम है।[3]

ब्रह्मचारी शुद्ध होकर प्रात एव साय दोनो वक्त सूर्य व अग्नि देवता की उपासना करे, उसके बाद वेदाभ्यास मे प्रवृत्त हो, गुरुगृह मे भिक्षा प्राप्त हविष्य का भोजन करके, वेद का अध्ययन करे। प्रात एव साय अग्नि मे होम करे और गुरु की आज्ञानुसार ब्रह्मचर्य के सभी नियमो का पालन करे।[4] ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए आचार्य की सेवा द्वारा वेद के तत्त्व से अवगत हो।[5] उपयुक्त रूप से ब्रह्मचर्य पालन करना दुष्कर कार्य है। काम, क्रोध आदि रिपुओ को वशीभूत करने के लिये ब्रह्मचारी को कठोर तपस्या करनी चाहिये। समस्त प्रलोभनो से स्वय

---

१. आश्रमा विहिता सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्। शा ६३।१३
वेदवेदागतत्त्वज्ञा सर्वत्र कृतनिश्चया.। आदि १०९।२०

२ आदि ९१ वाँ अध्याय। शा २४१ वाँ अध्याय।

३. शा २४१ वाँ अध्याय।

४ शा १९१ वाँ अध्याय।
एवमेतेन मार्गेण पूर्वोक्तेन यथाविधि।
अधीतवान् यथाशक्ति तथैव ब्रह्मचर्यवान्॥ इत्यादि। अश्व० ४६।१-४

५ ब्रह्मचारी व्रत नित्य नित्यं दीक्षापरो वशी। इत्यादि। शा० ६१।१९-२१

को मुक्त रक्खे, विशेषत स्त्रियों से बातचीत करना तो बिल्कुल ही निषिद्ध है। गुरुपत्नी के सबध मे यह नियम लागू नही है। चित्त मे किसी भी प्रकार का विकार उपस्थित होने पर तत्क्षण विचारपूर्वक कठिन प्रायश्चित्त करने का विधान है। शरीर व मन की समस्त बराइयो से सावधानीपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। विशेषत शुक्ररक्षण ही ब्रह्मचारी के प्रधान कर्त्तव्य मे गिना जाता है।[1]

ब्रह्मचर्य से अमरत्व—ब्रह्मचर्य की सहायता से मनुष्य अमरत्व का लाभ कर सकता है।

ब्रह्मचर्य के चार चरण—ब्रह्मचर्य के चार चरण है। प्रथम चरण है, गुरु-शुश्रूषा, वेदाध्ययन, अभिमान एव क्रोध को जीतना। द्वितीय चरण है आचार्य के प्रिय कर्मो का पूर्ण रूप से अनुष्ठान, आचार्यपत्नी एव पुत्रो की यथोचित सेवा। तृतीय चरण है आचार्य के अनुग्रह को स्मरण रखते हुए हमेशा उनके प्रति श्रद्धा रखना और चतुर्थ है विनीत भाव से निरभिमानी होकर गुरु को भक्तिपूर्वक दक्षिणा देना।[2]

ब्रह्मचर्य का माहात्म्य—ब्रह्मचर्य-व्रत पालन के लाभो के सबध मे सनत्सुजात पर्व के सनत्सुजात-उपदेश मे (३४४वाँ अ०) बहुत सी बाते कही गई है। जैसे देवताओ ने भी ब्रह्मचर्य की शक्ति से ही देवत्व प्राप्त किया है। ऋषियो की ब्रह्मलोक प्राप्ति ब्रह्मचर्य के ही अधीन है। जो लोग ब्रह्मचर्य के तत्त्व से अवगत है, ससार मे उन्हे भय का कोई कारण नही है। वे निर्भय, आत्मतृप्त तथा चिरप्रफुल्ल है। ब्रह्मचर्य द्वारा हर वस्तु प्राप्त की जा सकती है।[3]

ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ—जो मन-वचन-कर्म से ब्रह्म की सेवा करे वही ब्रह्मचारी है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है ईश्वर एव वेद।[4]

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का गुणगान—आमरण ब्रह्मचर्य या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का बहुत रूपो मे गुणगान हुआ है। निष्ठा शब्द का अर्थ है मृत्यु। मृत्यु पर्यन्त जो ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय, उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। जो मृत्यु पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसके लिये तीनो लोको मे कुछ भी अप्राप्य नही रह जाता। वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी महापुरुष मृत्यु के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, ब्रह्मचर्य के तेज से उनकी पापराशि भस्म हो जाती है। तपस्वी ब्रह्मचारियो से इन्द्र

---

१. सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु॥ इत्यादि। शा २१४।११-१५

२. विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या। इत्यादि। उ ४४।२-१५

३. ब्रह्मचर्येण वै लोकान् जयन्ति परमर्षयः। शा २४१।६

४. ब्रह्मण्येव चारः कायवाङ्मनसां प्रवृत्तिर्येषाम्। शा १९२।२४ (नीलकंठ)

भी डरता है। ऋषियो मे जो अलौकिक क्षमता पाई जाती है, वह भी ब्रह्मचर्य का ही फल है। ब्रह्मचर्य मनुष्य को दीर्घजीवी बनाता है।[1]

नैष्ठिक ब्रह्मचारी पर पितृऋण नहीं रहता—जो आमरण ब्रह्मचर्य पालन करते हैं, उनपर पितरो का कोई ऋण नही रहता। अतएव गार्हस्थ्य धर्म के अनुसार विवाहादि न करने पर भी वे पाप के भागी नही होते।[2] जो गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट नही होते थे, उन्हे नैष्ठिक ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी कहा जाता था। भीष्म, सुलभा (शा० ३२०) शिवा (उ० १०९) आदि ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी उसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

समावर्त्तन—ब्रह्मचारी गुरु की अनुमति से उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा दान द्वारा व्रत का उद्यापन करके गुरु का आशीर्वाद लेकर अपने घर लौट आते थे। इसी का नाम 'समावर्त्तन' है।[3]

स्नातक—ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद ही गृहस्थाश्रम है। जो ब्रह्मचारी गार्हस्थ्य मे प्रवेश करते थे, उन्हें 'उपकुर्वाण' कहा जाता था। गृहस्थ होने के लिये तत्पर ब्रह्मचारी की सज्ञा स्नातक है। समावर्त्तन के बाद, विवाह से पूर्व तक ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था। स्नातक के तीन प्रकार हैं— विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। अल्प समय मे जो सिर्फ एक वेद का पाठ करके गुरु के घर से लौट आते थे, उन्हें विद्यास्नात कहा जाता था। जो गुरु के घर रहकर बारह वर्ष तक सिर्फ व्रत का पालन करते थे, उन्हें व्रतस्नातक कहते थे। और जो विद्या व व्रत दोनो के अतिम छोर तक जाते थे, उन्हें विद्याव्रत स्नातक कहा जाता था।[4]

भारत के गुरुगृह बहुत पहले समाप्त हो चुके है। कई चतुष्पाठियो व विद्यालयो ने उस आदर्श को लक्ष्य मे रखकर चलने की चेष्टा की है लेकिन सफलता बहुत ही कम मिली है। आजकल गुरुगृहवास भी नही रहा और ब्रह्मचर्याश्रम भी नही रहा। विजातीय शिक्षा का प्रसार, जीवनयात्रा प्रणाली की कष्टसाध्य प्रतियोगिता एव परीक्षा-उत्तरण का कौशल आदि कारणो से चतुष्पाठियो का बचा-खुचा आदर्श

---

१ ब्रह्मचर्यस्य च गुण त्व वसुधाधिप·। इत्यादि। अनु ७५।३५-४०
ब्रह्मचर्येण जीवितम्॥ अनु ७।१४। अनु ५७।१०

२. अष्टावक्रदिक् सवाद·। अनु० १८ वाँ २० वाँ अध्याय।

३. गुरवे दक्षिणा दत्त्वा समावर्त्तेद् यथाविधि। शा० २४१।२९। शा० १९१।१०। शा० २३३।३।

४. वेदव्रतोपवासेन चतुर्थो चायुषो गते। शा० २४१।२९

भी लुप्तप्राय हो गया है। आजकल सब विद्यार्थी विद्यास्नातक है, साध्यानुसार पढ-लिख कर वे गार्हस्थ्य का अवलम्बन ले लेते है।

जीवन का द्वितीय भाग गार्हस्थ्य—जीवन का द्वितीय भाग गृहस्थ के रूप मे यापन करने का विधान है।[1]

गार्हस्थ्य मे पत्नीग्रहण—गुरुगृह छोडने के बाद ब्रह्मचारी को शुभलक्षण पत्नीग्रहण करके यथाविधि गार्हस्थ्य धर्म का पालन करना चाहिये।

जीविका के चार प्रकार—गृहस्थ की चार प्रकार की जीविकाएँ है (क) कुशूलधान्य, (ख) कुभधान्य, (ग) अश्वस्तन, (घ) कापोती वृत्ति। कुशूलधान्य शब्द का अर्थ है प्रचुर धन का सचय, कुभधान्य माने अल्प सचय, अश्वस्तन का मतलब है आगामी दिन के लिये खाद्यादि का भी सचय न करना और कपोती वृत्ति शब्द का अर्थ है कपोत की तरह खेत से धान्य-कण बीन कर, उसके द्वारा ही जीविका निर्वाह करना। इसे उछवृत्ति भी कहा जाता था। उल्लिखित वृत्तिया क्रमश एक दूसरे से श्रेष्ठ है।[2]

गृहस्थ का कर्त्तव्य—गृहस्थ के समस्त कर्त्तव्यो को व्रत के नाम से अभिहित किया गया है। यह व्रत बहुत ही महत्वपूर्ण है। खाद्यसग्रह केवल अपने उद्देश्य से नही करना चाहिये। यज्ञ के अलावा किसी और उद्देश्य मे प्राणिहिसा नही करनी चाहिये। दिन मे, सध्या के बाद गोधूलि के समय और रात्रि के अतिम भाग मे सोया नही रहे। दिन मे एक बार एव रात्रि मे एक बार भोजन करे। ऋतुकाल के अलावा अन्य दिनो मे स्त्रीसभोग न करे। अभ्यागतो की यथोपयुक्त अभ्यर्थना करना, उनकी पूजा करना गृहस्थ अपना कर्त्तव्य समझे। अपने कुलोचित धर्म मे आस्था रखते हुए उसीको जीविका का साधन बनाना, माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भृत्य व अतिथियो के बाद भोजन करना, परिवार के व्यक्तियो के साथ आनन्दपूर्वक रहना आदि गृहस्थ के धर्मरूप मे वर्जित हुए है।[3] उत्तम उपायो से धनोपार्जन करके, उसके द्वारा देवता, अतिथि व पोष्यवर्ग की सेवा

---

१. धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनुत्पाद्य यत्नतः।
द्वितीयमायुषो भाग गृहमेधी भवेद् व्रती॥ शा २४१।३०। शा २४२।१।

२. गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्र· कविभि· स्मृता·।
कुशूलधान्य· प्रथमः कुभधान्यस्त्वनन्तरम्॥ इत्यादि शा २४२।२,३
शा २६२ वाँ अध्याय, २६५ वाँ अध्याय (उछवृत्त्युपाख्यान)।

३. शा० ६१ वाँ अध्याय, १९१ वाँ अध्याय, २२१ वाँ अध्याय।

करना एव किसी के भी धन पर लोभ न रखना ये दो नियम गृहस्थ के लिये आवश्यक हैं।[1]

पचयज्ञ—गृहस्थ के लिये प्रतिदिन पचयज्ञ करने का विधान है—अध्ययन एव अध्यापना नाम का ब्रह्मयज्ञ, तर्पण नाम का पितृयज्ञ, होम नाम का दैवयज्ञ, वलि अर्थात् सर्वभूत उद्देश्य से भोज्योत्सर्ग नाम का भूतयज्ञ और अतिथिसत्कार नाम का नृयज्ञ। प्रत्येक गृहस्थ को पचयज्ञो का अनुष्ठान करने का आदेश दिया गया है। कहा गया है जो गृहस्थाश्रमी मोह के वशीभत होकर पचयज्ञो का अनुष्ठान नही करेगा, वह धर्मानुसार इहलोक व परलोक मे समृद्धि से वचित रहेगा। अर्थात् ऐहिक व पारलौकिक सुखभोग उसे प्राप्त नही होगा और वह नाना प्रकार के अकल्याणो द्वारा दुखी होगा।

ब्रह्मयज्ञ—ऋषि ही सर्वप्रकार के ज्ञानविज्ञान के प्रचारक है, वे ही सत्यद्रष्टा हैं। प्रतिदिन ऋपियो से मिलकर उनके पवित्र दान की बात सोचे। अपने मे उनके ज्ञान को प्रकट करने की कोशिश करे एव दूसरे को वह ज्ञान वितरण करे। अध्ययन व अध्यापन का ही नाम ब्रह्मयज्ञ है, ब्रह्मयज्ञ द्वारा ऋषिऋण का परिशोध होता है। ऋपियो की ज्ञान साधना गृहस्थो के ब्रह्मयज्ञ द्वारा ही सार्थक होती है।

पितृयज्ञ—जिनके वश मे हमने जन्म लिया है उनकी साधनाओ का आशिक रूप से हम भी उपभोग कर रहे हैं। वे यद्यपि हमारी दृष्टि से परे परलोक मे वास कर रहे हैं, तब भी उनकी तृप्ति के उद्देश्य से प्रतिदिन एक शास्त्रीय विधि का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। ऐसा सोचना गृहस्थ का धर्म है। वर्णाश्रम धर्म का यह कहना है कि श्राद्ध, तर्पण आदि अनुष्ठानो द्वारा पितरगण भी तृप्त होते है और अनुष्ठाता को भी आत्मतुष्टि मिलती है। पितृतर्पण के साथ साथ ब्रह्म से लेकर तृणगुच्छ तक अर्थात् चेतन-अचेतन सब पदार्थो के उद्देश्य से श्रद्धा-निवेदन किया जाता है।

देवयज्ञ—परमेश्वर की इच्छा से उन्ही की शक्तियाँ विभिन्न रूपो मे जगत का कल्याण कर रही हैं। उन शक्तिरूपी देवताओ को होम द्वारा परितुष्ट करना ही देवयज्ञ का उद्देश्य है।

भूतयज्ञ—कीटपतगादि प्राणियो के साथ भी गृहस्थ को मेल रखना चाहिये। उनको यथासाध्य भोजन देना चाहिये। अपने खाद्य का एक अश सर्वप्रथम उनके उद्देश्य से श्रद्धासहित निवेदन करना ही भूतयज्ञ है।

---

१. धर्मागत प्राप्य धन यजेत् दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्त सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी। आदि ९१।३।

नृयज्ञ—अतिथि सेवा का नाम मनुष्ययज्ञ है। वैश्वदेव-वलि (देवताओ के उद्देश्य से अन्न निवेदन) के वाद गृहस्थ कुछ देर अतिथि के आगमन की प्रतीक्षा करे। दूसरे गाँव से आया हुआ, परिश्रान्त, क्षुधा-तृष्णा से कातर व्यक्ति ही अतिथि है। केवल एक वार ठहरने से वह अतिथि हो जाता है। अतिथि को साक्षात् नारायण का अवतार मानकर उसकी सेवा करनी चाहिये।[1] (दूसरे प्रकरण मे अतिथिसेवा देखिये)

ऐश्वर्य लाभ का उपाय—श्री-वासव-सवाद मे ऐश्वर्य लाभ के उपायो के रूप मे गृहस्थ के आचरणयोग्य कई उत्तम कर्मो का उल्लेख किया गया है। स्वधर्म का अनुष्ठान, धैर्यशीलता, दान, अध्ययन, यज्ञ, देवताओ व पितरो की पूजा, गुरु व अतिथि का सत्कार, होम, सत्यवादिता, श्रद्धा, अनसूया, अनीर्षा, सरलता, प्रफुल्लता, जितेन्द्रियत्व, पत्नी-पुत्र भृत्य व अमात्यो का भरण-पोषण, उपवास, तप शीलता, प्रात उठना, दिवानिद्रावर्जन, अहिसा, परस्त्रीवर्जन, ऋत्वभिगमन, उत्साह, अनहकार, करुणात्म, प्रियवादिता, अभक्ष्यवर्जन, वृद्धसेवा आदि प्रमुख हैं।[2]

युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे भीष्म ने गृहस्थ के पालन करने योग्य कई सदाचारो का वर्णन किया है। जैसे—राजपथ पर, गोशाला मे, या धान के खेत मे मलमूत्र त्याग नही करना चाहिये। शौच व आचमन के लिये एकान्त आवश्यक है। देवार्चना व पितृतर्पण नित्य करने चाहिये। सूर्योदय से पूर्व शय्या त्याग करनी चाहिये। प्रात काल व सायकाल सावित्री जप (उपासना) करना उचित है। हाथ, पाँव मुँह अच्छी तरह धोकर, पूर्व की ओर मुँह करके भोजन करना चाहिये। गीले पाँव नही सोना चाहिये। यज्ञशाला, देवालय, वृष, ब्राह्मण आदि की रोज प्रदक्षिणा करना उचित है। अतिथि, कुटुम्बीजनो व भृत्यों के साथ एक ही तरह का भोजन करना और दिन व रात को एक एक वार आहार करना चाहिये। वृथामास (जो यज्ञादि मे निवेदित न किया गया हो) एव अन्यान्य अभक्ष्य वस्तुएँ आहार रूप मे ग्रहण नही करना चाहिये। गुरुजन का अभिवादन करे, नवोदित सूर्य का दर्शन न करे एव सूर्य की ओर मुख करके मलमूत्र का त्याग

---

१. पचयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः॥ शा १४६।७

२. स्वधर्ममनुतिष्ठत्सु धैर्यादचलितेषु च।
स्वर्गमार्गाभिरामेषु सत्त्वेषु निरताह्यहम्॥ इत्यादि। शा २२८।२९-४९

आदि न करे। पत्नी के साथ एक शय्या पर नही सोना चाहिये तथा एक ही पात्र मे भोजन भी नही करना चाहिये।[1]

उमा-महेश्वर-सवाद मे कहा गया है कि अहिंसा, सत्यवचन, प्राणि मात्र पर दया, अदत्तवस्तु ग्रहण न करना, मद्य, मास का वर्जन आदि गार्हस्थ्य धर्म के उत्तम लक्षण है।[2]

भाग्यहीन का आचार—श्री वासव-सवाद मे कई बुरे आचारो का वर्णन मिलता है। कहा गया है उन पर चलने से गृहस्थ भाग्यहीन हो जाता है। जैसे—वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध की बात पर अवज्ञा प्रदर्शन, अभ्यागत व गुरुजनो की अभ्यर्थना न करना, शास्त्रविहित कर्त्तव्यो का उल्लघन करना, पिता, माता, आचार्य व दूसरे गुरुजनो के प्रति अश्रद्धा रखना, अभक्ष्य व अपेय का व्यवहार करना, शौचाशौच के विषय मे अविचारी होना, बँधे हुए पशु को चारा न देना, अकेले खीर, पूडी, हलवा, मिठाई आदि स्वादु पदार्थों का भोजन करना, शिशुओ को यथोचित खाद्य न देना, यज्ञादि मे अनिवेदित मास का भक्षण करना, आश्रमधर्म का पालन न करना, हमेशा परिवार के लोगो से कलह करना, दूसरे के भाग्य से ईर्ष्या होना, तथा कृतघ्नता, नास्तिकता, गुरुपत्नीगमन आदि। दानवो ने जब इन सब असाधु आचरणों पर चलना शुरू किया तो लक्ष्मी ने उसी समय इनका परित्याग कर दिया।[3]

मनुष्य के चार ऋण—जन्म से ही मनुष्य चार ऋणो से बँधा हुआ होता है—देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण और मनुष्यऋण। अन्यत्र कहा गया है कि अतिथिऋण भी एक प्रकार के ऋणो मे गण्य है, अतिथि की सेवा करके यह ऋण उतारना पडता है।[4]

ऋण परिशोध का उपाय—यज्ञानुष्ठान द्वारा देवताओ का, वेदाध्ययन व तपस्या द्वारा ऋषियो का, पुत्रोत्पादन एव श्राद्ध द्वारा पितृगणो का और दया द्वारा मनुष्य का ऋण परिशोध करने का विधान है।[5]

---

१ शा० १९३ वाँ अध्याय।

२. अहिंसा सत्यवचन सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तम ॥ इत्यादि। अनु १४१।२५,२७

३ शा० २२८।५०-८१।

४ ऋणैश्चतुर्भि सयक्ता जायन्ते मानवा भुवि। इत्यादि। आदि १२०।१७-२२
ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणाञ्च तथैव च। आदि २२९।११-१४
पितृणामय विप्राणामतिथिनाञ्च पचमम्। इत्यादि। अनु ३७।१७, १८

५. यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन्॥ इत्यादि। आदि १२०।१९, २० । शा० १९१।१३।

गार्हस्थ्याश्रम की श्रेष्ठता—चारो आश्रमो मे गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ है। गार्हस्थ्य व समाज स्थिति के पक्ष मे मनुष्य जीवन के सब कर्त्तव्य गार्हस्थ्याश्रम मे ही प्रतिपालित होते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम मे केवल तदनुकूल शिक्षा लाभ किया जाता है। ब्रह्मचारी, परिव्राजक, व भिक्षुक गृहस्थ का ही आश्रय लेते है एव दूसरे जीव-जन्तु भी गृहस्थ द्वारा ही प्रतिपालित होते है। वानप्रस्थ और सन्यास इन दोनो आश्रमो मे आश्रमी मुख्यत अपने आध्यात्मिक कल्याण की कामना करते है, ससार की कल्याणचिन्ता गौण होती है। लेकिन गृहस्थ का दायित्व बहुत अधिक है। आतुर्वर्ण्य धर्म के प्रधान अनुष्ठान का क्षेत्र गार्हस्थ्य-आश्रम है।[1]

गृहस्थ का दायित्व—गृहस्थ बनना आसान बात नही है, असयत मनुष्य गृहस्थ बनने के लिए अनुपयुक्त है। गृहस्थ के आलसी होने से काम नही चलता, सारे प्राणिजगत की दृष्टि उसी की ओर रहती है। सागर जिस तरह समस्त नद-नदियो का अतिम आश्रय है, गृहस्थ भी उसी तरह दूसरे आश्रमियो का आश्रय स्थान है। गृहस्थ को अलग कर देने से समाज अचल हो जाता है। जिस समाज मे अच्छे गृहस्थो का अभाव हो, वह समाज बिल्कुल भाग्यहीन होता है।[2]

साधु गृहस्थो की मुक्ति—अच्छे गृहस्थ यथा रीति कर्त्तव्य पालन द्वारा मुक्ति रूपी परम पुरुपार्थ को प्राप्त करने मे समर्थ होते है। गार्हस्थ्य ही उनकी अभिलषित प्राप्ति का साधन होता है। उन्हे मुक्ति के लिए वानप्रस्थ या सन्यास ग्रहण की आवश्यकता नही होती। रार्जाष जनक इस विषय मे महाभारत के सर्वश्रेष्ठ दृष्टान्त है। गार्हस्थ्य धर्म का यथा रीति पालन मुक्ति प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है।

दूसरा आश्रम ग्रहण करने से ही मुक्ति नहीं हो जाती—जो गार्हस्थ्याश्रम को दोपो का हेतु समझकर दूसरे आश्रम मे प्रवेश करते है उनकी भी आसक्ति जल्दी

---

१. तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति। इत्यादि। शा १९१।१०
तस्माद् गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः। शा ११।१९
यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्त्तन्त इतराश्रमा.॥ शा २६८।६। शा १२।१२।
शा २३।४, ५। शा २३३।६।

२. त चराद्य विधिं पार्थ दुश्चर दुर्बलेन्द्रियैः। शा २३।२६
यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिण. सर्वे गृहस्थे यान्ति सस्थितिम्॥ शा २९५।३९
शा ६१।१५, शा ६६।३५, आदि ३।३९०, शा १२।१२, शा ३३४।२६, अश्व ४५।१३।

से खत्म नही होती। राजाओ की तरह भिक्षुओ की विषयासक्ति भी प्रबल हो सकती है। अपने-अपने विषय मे किसी की आसक्ति कम नही होती। अकिंचनता ही मुक्ति का एकमात्र कारण है, यह कहा नही जा सकता।[1]

उल्लिखित आलोचना से पता चलता है कि साधु गृहस्थ सब आश्रमवासियो का अवलंबन है। उसकी उपयोगिता समाज मे सर्वापेक्षा अधिक है, यही महाभारत का अभिप्राय है।

वानप्रस्थ का काल—गृहस्थ जब पुत्र-पौत्र वाला होकर आनन्द से ससार यात्रा कर रहा हो तभी उसे ससार से नि स्पृह हो जाना चाहिए। जीवन के तृतीय भाग (पचास साल की उम्र के बाद) मे वानप्रस्थ आश्रम के कार्यकलाप करने का विधान है। शरीर मे वृद्धावस्था की सूचना मिलते ही गृहस्थ को सम्पत्ति आदि पुत्र के हाथो मे सौंपकर ससार से विमुख होकर जीवन यापन करना चाहिये। ईश्वर मनन मे समय बिताने के निमित्त गृहस्थ को वन की शरण लेनी चाहिए। घर छोड कर वन मे रहना पडता है इसीलिए इस आश्रम का नाम वानप्रस्थ है।

सपत्नीक वानप्रस्थ—पत्नी भी यदि पति के साथ वनगमन करने की इच्छुक हो तो पत्नी को साथ लेकर गृहस्थ वन की ओर प्रस्थान करे, नही तो पत्नी को पुत्रादि के पास छोड जाये।[3]

वानप्रस्थी का कर्त्तव्य—वानप्रस्थ लेने के बाद उपनिषद् आदि आरण्यक शास्त्रो का अध्ययन करने का नियम था।[4]

वानप्रस्थी तीर्थक्षेत्रादि मे अथवा नदी के उद्गम जैसे जगल मे जाकर तपस्या करते हुए काल यापन करते थे। साधारण जन समाज के साथ उनके आचार व्यवहार, खान-पान, पहनने-ओढने मे कोई मेल नही था। गृहस्थोचित वसनभूषण व खाद्य उनके लिए सर्वथा वर्जनीय था। वन्य ओषधि, फलमूल व शुष्क पत्र आदि उनकी क्षुधा निवारण करते थे। वे लोग नदी व झरनो का जल व्यवहार मे लाते थे। भूमि, शिलातल, बालू आदि उनकी शय्या होती थी। कास, कुश, चर्म एव वल्कल उनके वस्त्र होते थे। हजामत बनाना उनके लिए निषिद्ध था। एकमात्र धर्मानुष्ठान

---

१. शा ३२० वाँ अध्याय, शा ६१।१०

२. तृतीयमायुषो भाग वानप्रस्थाश्रमे वसेत्॥ शा २४३।५। उ ३७।३९, शा २३३।७।

३. सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् सयतेन्द्रिय.। इत्यादि। शा ६१।४

४. तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित्।
ऊर्ध्वरेता प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम्॥ शा ६१।५, शा २४२।२९

उनके शरीर धारण का उद्देश्य था। सर्वभूत मे मैत्री रखना ही वानप्रस्थ धर्म का मर्म है। यथाकाल मे स्नानादि से निवृत्त होकर होम का अनुष्ठान करना, समित्, कुश, पुष्प आदि आनुष्ठानिक द्रव्यो का सग्रह करना एव परमतत्व के साक्षात् के अनुकल चिन्ता मे निमग्न होकर कालयापन करना ही वानप्रस्थ धर्म है। जो इस प्रकार तृतीय आश्रम के कर्मो का अनुष्ठान करते हैं[1] वे अनायास समस्त कलुषताओं से निष्कृति पा जाते है। समस्त कलुषताओ से मुक्त, स्वावलम्बी, दाता, परोपकारी, सर्वभूतहित मे रत, आहारविहारादि मे सयमी आरण्यक ऋषि उत्कृष्ट सिद्धि लाभ करते है। अग्निहोत्री गृहस्थ अग्नि के साथ अरण्य की ओर गमन करे, आहार-विहारादि मे सयत चित्त होकर दिवस के छठे भाग मे शरीर पोपण के निमित्त फलमूलादि ग्रहण करे। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास एव चातुर्मास आदि मे जो हवि व्यवहार करे वह अनायास लभ्य एव अरण्यजात होनी चाहिए।[2]

चार प्रकार का वानप्रस्थ—वानप्रस्थाश्रम मे भी चार प्रकार की वृत्तियो का उल्लेख है—सद्यसचय, मासिक सचय, वार्षिक सचय एव द्वादशवार्षिक सचय। जो एक साल या वारह साल की उपयोगी खाद्य सामग्री का सग्रह करते थे उनका उद्देश्य अतिथि-सेवा व यज्ञानुष्ठान था।[3]

वानप्रस्थ धर्म का उद्देश्य—अत्यन्त कष्ट साधना द्वारा चित्त शुद्धि करना वानप्रस्थ धर्म का प्रधान उद्देश्य है। परमात्मदर्शन के निमित्त स्वय को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से गृहस्थ को वानप्रस्थ का अवलम्बन लेना पडता है।[4]

धृतराष्ट्रादि का वानप्रस्थ ग्रहण—धृतराष्ट्र, गाधारी, कुन्ती, विदुर व सजय के वानप्रस्थग्रहण का चित्र आश्रमवासिक पर्व मे चित्रित हुआ है।

धृतराष्ट्र ने वल्कल व चर्मवस्त्र परिधान करके अग्निहोत्र होम की सस्कृति अग्नि लेकर गाधारी के साथ वन की ओर प्रस्थान किया था। भागीरथी के तीर पर जगल मे तपस्वी धृतराष्ट्र आदि वानप्रस्थावलम्बी कुशशय्या पर शयन करते थे।[5]

---

१. शा० १९२।१, २; अनु० १४२।१-१९।

२. तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः। इत्यादि। शा० १४३।५-७, आदि ९१।४।

३. वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चतस्रो वृत्तयः स्मृताः।
सद्यः प्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिकसंचयाः॥ इत्यादि। शा० २४३।८-१४

४. सर्वेष्वेर्वाषिधमेषु ज्ञेयोत्मा संयतेन्द्रियैः॥ अनु० १४१।१०८।

५. आश्र० १५ वाँ और १८ वाँ अध्याय।

केकयराज शतयूप---अरण्य मे और भी अनेक वानप्रस्थी उन्ही की तरह आरण्यक धर्माचरण मे कालयापन कर रहे थे। केकयराज शतयूप कुरुक्षेत्र के किसी आश्रम मे रहकर वानप्रस्थ धर्म का पालन कर रहे थे, उनके साथ धृतराष्ट्र आदि का साक्षात् हुआ था।[1]

ययाति---गृहस्थाश्रम मे जी भर कर विषयभोग करने के बाद ययाति ने वानप्रस्थ का अवलम्बन किया था। फलमूल द्वारा शरीर का पोषण करते हुए शास्त्रानुसार धर्मानुष्ठान करके वे स्वर्ग जाने मे समर्थ हुए थे।[2]

पाडु का अवैध वानप्रस्थ---महाराज पाडु के वानप्रस्थ का उल्लेख भी मिलता है। उन्होंने सपत्नीक प्रव्रज्या ग्रहण की थी। मृगरूपधारी किन्दम मुनि की हत्या करने पर उन्हे वैराग्य हुआ, सामयिक वैराग्य ही उनके गृहत्याग का कारण था। शास्त्रीय समय के अनुसार उन्होंने वानप्रस्थ ग्रहण नही किया था।[3]

राजर्षियो का नियम---अतिम जीवन मे वन मे वास करना राजर्षियो के आवश्यक कर्त्तव्यो मे गण्य था।[4]

सन्यास---जीवन के अतिम भाग मे, वानप्रस्थ का काल यापन करने के बाद सन्यास ग्रहण का विधान था। शरीर जब नितान्त जराग्रस्त हो, नाना प्रकार की व्याधियो से आक्रान्त हो, उस वक्त प्राजापत्य का अनुष्ठान करके सब कुछ त्याग करने का विधान बनाया गया है। शास्त्रीय विधान मे विहित कर्म का त्याग करना ही सन्यास है। अगर इच्छा हो तो सन्यास ग्रहण के पूर्व अपने श्राद्धादि स्वय ही सम्पादित किये जा सकते है।

सन्यासी का कृत्य---सन्यासाश्रम मे स्त्री-पुत्र-परिजन किसी को भी साथ नही रक्खा जा सकता। केश-दाढी-मूंछ आदि का भी मुडन करने का नियम है।[5]

गार्हस्थ्य एव वानप्रस्थ इन दोनो आश्रमो के समस्त अनुष्ठानो द्वारा स्वय को सन्यास के लिए तैयार करना एक विशिष्ट साधना है। यथार्थ आश्रम कर्मो के प्रात्यहिक अनुष्ठान द्वारा ही चित्त की शुद्धि पैदा होती है, चित्त शुद्धि ही परमतत्व के साक्षात्कार मे प्रधान सहायक होती है। भिक्षु के धर्माचरण मे दूसरो की सहायता

---

१. आससादाय राजर्षि शतयूप मनीषिणम्॥ इत्यादि। आश्र १९।९, १०।

२. आदि ८६ वां अध्याय।

३ आदि ११९ वां अध्याय।

४. राजर्षीणां हि सर्वेषामन्ते वनमुपाश्रय.॥ आश्र ४।५।

५. जरया च परिद्यूनो व्याधिना च प्रपीडितः।
चतुर्थे चायुष. शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत्॥ इत्यादि। शा २४३।२२, ३०

की आवश्यकता नही होती। विधिपूर्वक अग्नि का परित्याग करके सर्वत्यागी योगी को थोडे से उदरान्न के लिये गृहस्थ से भिक्षा लेनी चाहिये। भिक्षापात्र व गैरिक वस्त्र ये दो वस्तुएँ ही उनके लिए प्रयोजनीय है। उनका निर्दिष्ट वासस्थान नही होता। मान-अपमान दोनो उनके लिए समान है। एकमात्र ईश्वरचिन्तन के अलावा और सब विषयो के प्रति उदासीनता ही सन्यासी का यथार्थ लक्षण है।[1] सभी प्राणियो के प्रति समताभाव व मैत्री सन्यासी के हृदय मे सदा रहनी चाहिए। आत्मचिन्तन के साथ-साथ सन्यासी को सर्वभूत की कल्याण कामना भी करनी चाहिए। हृदय अगर अपवित्र हो तो दडधारण, मुडन, उपवास, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य, वनवास आदि सब कुछ निष्फल हो जाता है।[2]

चार प्रकार के संन्यासी—भिक्षुओ को चार श्रेणियो मे विभक्त किया गया है—(क) कुटीचक, (ख) वहूदक, (ग) हस, (घ) परमहस। (क) कुटीचक-सन्यासी एक जगह ही बैठे रहकर ईश्वर चिन्तन मे लीन रहते है। अपने स्त्री-पुत्रादि से भी भिक्षा ग्रहण करने मे इन्हे कोई आपत्ति नही होती। (ख) वहूदक सन्यासी सत्यनिष्ठ ब्राह्मण गृहस्थ से भिक्षा ग्रहण करते हैं और दड, कमडल, शिखा, यज्ञोपवीत, काषायवस्त्र आदि का परित्याग नही करते। कुटीचक व बहूदक सन्यासी त्रिदड धारण करते हैं। (ग) हस सन्यासी भी शिखा आदि तो रखते है लेकिन किसी भी स्थान पर एक रात्रि से अधिक व्यतीत नही करते। ये केवल एक दड धारण करते है। (घ) परमहस समस्त विधि-निषेधो से ऊपर होते है। इन्हे शौचाशौच का विचार न हो तो भी कोई बात नही है। ये भी एक दडधारी होते हैं। सत्व, रज, तम ये तीनो गुण इनकी वश्यता स्वीकार कर लेते हैं, ये निस्त्रैगुण्य होते हैं।[3]

संन्यासाश्रम का फल—शास्त्रो के अनुसार सन्यासाश्रम धर्म के पालन का फल ब्रह्मत्व प्राप्ति है।[4]

---

१. शा० २४४ वाँ अध्याय।
निस्तुतिर्निर्नमस्कारः परित्यज्य शुभाशुभे।
अरण्ये विचरैकाकी येन केनचिदाशितः॥ शा २४१।९। अनु १४१।८०-८८

२. सर्वाण्येतानि मिथ्या सूर्यदि भावो न निर्मलः। वन १९९।९७। शा २४४ वाँ अ०।

३. चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकवहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः॥ अनु १४१।८९। द्र० नीलकंठ

४. निराशी स्यात् सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम्। शा ६१।९। शा २४१।८।
शा १९२।६

सन्यासियो की परहितैषणा—बहूदक सन्यासी तीर्थयात्रा प्रसग मे समाज के लिये अनेको तरह से कल्याण साधना करते थे। काम्यक वन मे युधिष्ठिर आदि से साक्षात् होने पर ऋषि मैत्रेय ने कौरवो के कल्याण के निमित्त कुरुसभा मे आकर पाडवो से मित्रता करने के लिए धृतराष्ट्र से अनुरोध किया था।[१] वनपर्व मे मार्कण्डेय वृहदश्व, लोमश आदि ऋषियो की परहितैषणा स्पष्ट रूप से चित्रित हुई है।

योगविभूति का अप्रकाश्य—भिक्षु उदरान्न के लिए साधु गृहस्थो के द्वार पर भिक्षापात्र हाथ मे लिये उपस्थित होते थे, किन्तु किसी भी प्रकार के पाडित्य या योगशक्ति का प्रदर्शन करके भिक्षा प्राप्त करना बिल्कुल गर्हित था।[२]

आश्रमधर्म पालन की परिणति—आश्रमधर्म के अनुष्ठान से मनुष्य का जीवन एक नियन्त्रित पथ पर चल पाता था, इसमे कोई सन्देह नही है। कर्मपटु गृहस्थ वनने के लिये ब्रह्मचर्य की उपयोगिता कितनी अधिक है वह उस काल के समाज के परिचालक अच्छी तरह समझ सके थे। विहित कर्मों के अनुष्ठान से गार्हस्थ्याश्रम को सर्वापेक्षा मधुर वनाया जा सकता है, यह भी महाभारत मे स्पष्ट रूप मे लिखा हुआ है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य या सन्यास के लिये अधिक प्रेरित करना महाभारत का उद्देश्य नही है, यह उसमे की हुई गार्हस्थ्य की शतमुखी प्रशसा से अच्छी तरह समझा जा सकता है। सव आश्रमो मे एक ऐसा अच्छेद्ययोग सूत्र देखने को मिलता है कि उस सूत्रके कही से भी छिन्न होते ही जीवन का मूल सुर ठीक से झकृत नही होगा और मानव जीवन का उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा। जीवन के एक-एक स्तर को एक एक आश्रम के नियमाधीन करने मे हम उस युग की सामाजिक स्थिति के एक महत् परिणाम की कल्पना कर सकते हैं। आश्रमधर्म उज्ज्वल भविष्य को लक्ष्य मे रखकर परिचालित होता था, इस विषय मे किसी को भी सन्देह करने का मौका शायद नही मिल सकता। महाभारत मे उल्लिखित व्यक्तियो के जीवन पर ध्यान देने पर पता लगता है कि सवके जीवन मे शास्त्रानुसार आश्रमधर्म का पालन नही हुआ। द्रोणाचार्य वृद्धावस्था तक (८० वर्ष तक) गृहस्थ ही थे। धृतराष्ट्र, विदुर, कृष्ण इनमे से किसी ने भी ययासमय वानप्रस्थ का अवलम्बन नही लिया था। भीष्म की वात आलोच्य नही है, वे थे नैष्ठिक ब्रह्मचारी। इन सव व्यतिक्रमो को देखकर यह नही मानना चाहिये कि महाभारत काल मे आश्रम धर्म शिथिल हो गया था।

---

१. वन १० वाँ अ०।

२. एवन्ते वान्तमश्नाति स्ववीर्यस्योपसेवनात्॥ उ० ४२।३३

इनमे प्रत्येक किसी विशेष घटनावश ठीक वक्त पर कर्त्तव्यपालन नही कर पाये थे अथवा आश्रमान्तर ग्रहण की अपेक्षा उस काल के महायुद्ध मे योग देना ही उनके लिए कर्त्तव्य बन गया होगा। आश्रमधर्म के गुणगान मे कहा गया है—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी एव यदि निष्ठापूर्वक अपने-अपने कर्म का पालन करेंगे तो वे परमगति अर्थात् मुक्ति को प्राप्त होगे।[1]

---

१. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम्॥ शा २४२।१३

शिक्षा

'चतुराश्रम' मे ब्रह्मचर्य के विषय मे कहा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम मे ब्रह्मचारी को विद्याध्ययन करना पडता था। शास्त्रविद्या व शस्त्रविद्या के सम्वन्ध मे हम इस प्रकरण मे चर्चा करेंगे, क्योकि महाभारत मे केवल इन दोनो प्रकार की शिक्षा-पद्धति ही प्रदर्शित हुई है। दूसरी विद्याओ की शिक्षा इस प्रवध के लिए आलोच्य नही है।

विद्यार्थी का ब्रह्मचर्य व्रत—प्रत्येक विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का सहारा लेना पडता था। ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ हम इस रूप मे ले सकते है—मन-प्राण मे उच्च भावो का पोषण करना, शुभ चिन्तन से शरीर व मन को क्रमश उन्नतिशील वनाना, समस्त बुराइयो से अपनी रक्षा करके उन्नति की चेष्टा करना ही ब्रह्मचर्य है। मन के स्थिर सकल्प को व्रत कहा गया है। ब्रह्मचर्य को अपना लक्ष्य मानकर विद्यार्थी को साधना करनी पडती थी। वहुत कष्टो द्वारा कठोर सयम से शरीर व मन को उपदेश ग्रहण के उपयोगी वनाने की व्यवस्था थी।

गुरुगृह मे रहना और गुरु को अपने घर मे रखना—शिक्षा के दो नियम थे। कोई गुरु के घर जाकर शिक्षा ग्रहण करता था और किसी किसी परिवार मे गृह-शिक्षक रखने की व्यवस्था भी थी। दूसरी व्यवस्था सम्भवत धनी परिवारो तक ही सीमित थी, वह भी सव धनी परिवारो मे नही। इस विषय पर आगे प्रकाश डाला जायगा।

शिक्षा-आरम्भ की उम्र—विद्यार्थी वाल्यकाल मे ही अध्ययन शुरू करते थे। गार्हस्थ्य अवलम्वन से पहले ययाति ने कहा है—"ब्रह्मचर्य की सहायता से मैंने समग्र वेदो का अध्ययन कर लिया है।" भीष्म ने अपने शैशवकाल मे ही वशिष्ठ के पास वेदो का अध्ययन कर लिया था। धृतराष्ट्रादि का वेदाध्ययन उपनयन के वाद ही शुरू हो गया था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्राह्मण वालक का पाँच वर्ष से आठ के, क्षत्रिय का दस से ग्यारह के और वैश्य का ग्यारह से वारह साल के अन्दर गुरु-गृह जाने का काल था। इसी उम्र मे ब्राह्मणादि का उपनयन सस्कार होता था। शूद्र का उपनयन सस्कार नही होता था किन्तु वारह-तेरह वर्ष की उम्र मे सम्भवत शूद्र सतान का भी विद्यारम्भ हो जाता था।[1]

---

१. आदि ८१।१। आदि १००।३५। आदि १०९।१८

सव जाति-वर्णों की समान शिक्षा—ब्राह्मणादि तीन वर्णों की शिक्षा की वात तो हर जगह मिलती है। शूद्रागर्भजात महामति विदुर का ज्ञान भी अतुलनीय था। वे सर्वशास्त्रो के पडित थे। सूतजातीय लोमहर्षण, सजय एव सौति भी कम ज्ञानी नही थे। सौति महाभारत के प्रचारक थे। ये लोग सव शास्त्रो के ज्ञाता थे, वेदपाठ न करने पर भी पुराणादि की सहायता से वेदादि के मर्म के अभिज्ञ थे। युधिष्ठिर ने युयुत्मु को हस्तिनापुर की रक्षा के लिए नियुक्त किया था। निश्चय ही अज्ञानी के स्कधो पर इतना वडा दायित्व नही डाला जा सकता था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जव लोगो को निमत्रित करने के लिए दूत भेजा गया तो उससे कहा गया था "मान्य शूद्रो को भी निमत्रित करना"। शायद विद्वान्, पारगत व्यक्ति को ही "मान्य" कहा जाता था। राजा जो अमात्य नियुक्त करता था उनमे भी तीन शूद्रो को नियुक्त करना पडता था। जैसे तैसे व्यक्ति को अमात्य रूप मे नियुक्त करने से राजकाज नही चल सकता यह सभी समझ सकते है।[1]

शिक्षणीय विषय—वेद, अववीक्षिकी (तर्कविद्या), वार्त्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) व दडनीति शिक्षणीय विषय माने जाते थे। सव विद्यार्थी सव विद्याओ को पढते थे ऐसी वात नही थी। कोई-कोई एक, कोई एक से अधिक विद्या का अव्ययन करते थे। युक्तिशास्त्र, शव्दशास्त्र, गाधर्वशास्त्र, (नृत्यगीतादि), पुराण, इतिहास, आख्यान एव कलाविद्या भी शिक्षणीय विपयो मे गण्य थे।[2]

राजाओ के लिये आवश्यक विद्याएँ—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र, धनुर्वेद, यत्रसूत्र (आग्नेय औषधियो की सहायता से सीसा, काँसा व पत्थर से निर्मित गोले को फेकनेवाली लोहे की नली को नीलकठ ने यन्त्र कहा है। जिस ग्रन्थ मे यन्त्र व्यवहार के सूत्र या नियमप्रणाली लिखी हो वही यन्त्रसूत्र कहलाता था। नीलकठ के लिखने के ढग से लगता है कि यन्त्र शव्द से वह वन्दूक समझाना चाहते हैं, यह ठीक है कि नही विचारणीय विपय है।) एव नागरशास्त्र (नगर के हितकार्यो की ज्ञानजनक विद्या) राजाओ के लिए विशेप रूप से ज्ञातव्य थे।[3]

---

१. मान्यान् शूद्रांश्च। इत्यादि। सभा ३३।४१। शल्य २९।९१
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके। शा ८५।८

२. त्रयी चाम्वीक्षिकी चैव वार्त्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निर्दशिताः॥ शा ५९।३३
युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शव्दशास्त्रं च भारत। इत्यादि। अनु० १०४।१४९

३. हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो। इत्यादि। सभा० ५।१२०, १२१ आदि १०९।१९, २०। आदि १२६।२९। स्त्री १३।२

म्लेच्छ भाषा—कोई-कोई अपभ्रंश भाषा मे भी पाडित्यलाभ करता था। सम्भवत भिन्न देशीय लोगो के सम्पर्क मे आकर बुद्धिमान व्यक्ति विभिन्न भाषाओ के ज्ञाता हो जाते थे। पाडवो ने जब कुती के साथ वारणावत की ओर प्रस्थान किया था, उस वक्त विदुर ने युधिष्ठिर को भविष्य मे आनेवाली विपत्ति से सावधान करते हुए कौशल से जो उपदेश दिया था, वह भाषा युधिष्ठिर के अलावा और कोई नही समझ पाया था। विदुर ने क्या कहा था वह बाद को कुन्ती ने युधिष्ठिर से पूछा था।[1]

विभिन्न भाषाओ के पडित—महाराज युधिष्ठिर की राजसभा मे गुणियो को बहुत आदर सम्मान दिया जाता था। विभिन्न भाषाओ के पडित भी राजसभा मे सम्मानित किये जाते थे एव राजकोष मे आर्थिक सहायता पाकर राजसभा की श्री-वृद्धि करते थे।[2]

वेदचर्चा—इस काल के समाज मे वेदचर्चा का आधिपत्य था। सब ब्राह्मणो को वेदपाठ करना पडता था। स्वाध्याय या वेदपाठ की नित्यता कही हुई है, अर्थात् द्विजाति को प्रतिदिन वेदपाठ करना चाहिए, नही करने मे वह पाप का भागी होता है। वेद-वेदान्तो की व्यापकता का वर्णन करने मे महर्षि ने दो बातें अस्वाभाविक कही है, एक तो शक्तिपुत्र की वेदावृत्ति और दूसरी पिता की शास्त्र व्याख्या मे कहोडपुत्र अष्टावक्र का दोष निकालना। दोनो वेदज्ञ इस वक्त मातृगर्भ मे थे। इन दोनो बातो की सत्यता पर विश्वास नही होता। रूपक की सहायता से शायद शास्त्रचर्चा की व्यापकता प्रदर्शित की गई है।[3]

गुरुगृहवास का काल—शिष्य कितने समय तक गुरु के घर रहे, इसका कोई नियम नही था (चतुराश्रम प्रबध प० १०२) बचपन मे ही शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। लेकिन कोई कोई दीर्घ काल तक गुरु के घर ही रहता था। उतक के बाल गुरु के घर रहते-रहते ही सफेद हो गये थे। बाद मे उन्होने विवाह किया था।[4]

शिष्य सख्या—गुरुगृह के जो दो-चार चित्र महाभारत मे देखने को मिलते है उनमे शिष्यो की सख्या बहुत अस्पष्ट है। महर्षि वेदव्यास जनमानवविहीन पर्वत पर ही गुरु के आसन पर उपविष्ट थे, चरणो मे मात्र चार विद्यार्थी बैठे थे—

---

१. प्राज्ञ प्राज्ञप्रलापज्ञ. प्रलापज्ञमिद वच.।
प्राज्ञ प्राज्ञ' प्रलापज्ञः प्रलापज्ञ वचोऽब्रवीत्॥ आदि १४५।२०

२. निवास रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा॥ आदि २०७।३९

३. आदि १७७।१५। वन १३२।२१

४. तस्य काष्ठे विलग्नाभूज्जटाः रूपसमप्रभा। अश्व ५६।११

सुमन्त, वैशम्पायन, जैमिनि और पैल।[1] उद्दालक नामक एक ऋषि थे। उनके शिष्यो मे एक का नाम कहोड था। पडित बनकर जब कहोड ने समावर्त्तन किया तो उनके भी कई शिष्य उस समय उपस्थित हुए। एक जगह लिखा हुआ है एक बार वह शिष्यो को पढा रहे थे कि उनके पत्नीगर्भस्थ पुत्र अष्टावक्र ने पिता की व्याख्या मे दोष निकाला। पुत्र के आचरण द्वारा शिष्यो के बीच लज्जित होने से महर्षि मन ही मन क्रुद्ध हुए।[2] इस कथन से हम समझ सकते हैं कि कहोड के निश्चय ही कई शिष्य थे। आचार्य धौम्य के उपमन्यु, आरुणि और वेद नामक तीन शिष्य थे।[3] कण्वमुनि के मनोहारी आश्रम मे प्रवेश करते ही राजा दुष्यन्त ने वेदज्ञो के मुख से निकलती पदक्रमयुक्त वेदध्वनि, नियतव्रत ऋषियो का मधुर सामगीत, सहिता आदि की आवृत्ति सुनी थी। यहाँ भी शिष्यो की सख्या का अदाज नही लगता। तब भी एक साथ अगर अनेको रूपो मे आवृत्ति चल रही थी तो शिष्यो की सख्या बिल्कुल कम नही होगी।[4]

गुरुगृह-वास के चित्र—खेती-बाडी मे सहायता करना, गो-पालन, होम के लिए लकडी बीनना आदि भी शिष्यो के आवश्यक कर्त्तव्यो मे विवेचित होते थे।

धौम्य व आरुणि—आचार्य धौम्य ने अपने शिष्य आरुणि को खेत की मेड बाँधने को भेजा। आरुणि जब किसी भी तरह मेड ठीक नही कर पाये तो पानी रोकने के लिए स्वय ही टूटी जगह लेट गये। शाम होने पर गुरु ने शिष्य को अनुपस्थित देखा तो दूसरे शिष्यो के साथ खेत पर गये और आरुणि को पुकारा। आचार्य के पुकारने पर शिष्य उठकर आया और प्रणाम करके सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। गुरु ने प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया—"तुम्हारी असाधारण गुरुभक्ति से मै बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम समस्त वेद व धर्मशास्त्र के ज्ञाता बनोगे।" गुरु को प्रणाम करके शिष्य ने बिदा ली।

उपमन्यु की गुरुभक्ति—उपमन्यु नामक एक और शिष्य गुरु धौम्य के आदेश से गो-पालन पर नियुक्त था। गुरु ने उसे काफी हृष्ट-पुष्ट देखकर एक दिन पूछा, "वत्स, तुम बहुत हृष्ट-पुष्ट हो, क्या खाते हो?" शिष्य ने उत्तर दिया, "प्रभो, भिक्षालब्ध द्रव्य ही मेरा आहार है।" उपाध्याय ने कहा, "गुरु को निवेदित किये बिना भिक्षालब्ध द्रव्य ग्रहण करना तो शिष्य के लिए उचित नही है।" थोडे दिन

---

१. विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः। इत्यादि। शा ३२७।२६, २७

२. उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः। वन १३२।११

३. आदि ३।२१

४. ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः। इत्यादि। आदि ७०। ३७, ३८

वाद गुरु ने फिर वही प्रश्न पूछा। इस वार शिष्य ने उत्तर दिया," प्रभो, मैं प्रथम वार का भिक्षाद्रव्य आपको निवेदित करता हूँ और दूसरी वार भिक्षा से जो मिलता है वही खाता हूँ। गुरु ने कहा, "वह भी उचित नही है, इससे दूसरे भिक्षुक की वृत्ति नष्ट होती है और विशेपत तुम्हारा भी लोभ वढता है।" फिर कुछ दिन वाद गुरु ने वही प्रश्न किया। उत्तर मे उपमन्यु ने कहा, "मैं इन गौओ का दूध पीकर उदर पूर्ति करता हूँ।" गुरु ने इसका भी निषेध करते हुए कहा, "मैंने तो तुम्हे इसके लिए अनुमति दी नही थी, अतएव अव आगे यह दुग्धपान नही चलेगा।" फिर थोडे दिन वाद गुरु के वही प्रश्न पूछने पर शिष्य ने जवाव दिया कि वछडो के मुँह पर जो फेन (झाग) लगा रह जाता है, वह उसी को चाटकर रहता हूँ। गुरु ने कहा, "वछडे शायद तुम पर दया करके ज्यादा फेंन उगलते हैं, इसलिये तुम उनका पेट काटते हो।" उपमन्यु पहले की तरह सन्तुष्ट चित्त गायें चराता रहा। एक दिन भूख की ज्वाला से अत्यन्त विह्वल होकर उसने धतूरे के पत्ते खा लिये। धतूरा खाकर अधा हो जाने से वह इधर-उधर भटकता हुआ एक कुएँ मे गिर पडा। यथासमय जव वह आश्रम नही लौटा तो गुरु शिष्यो को साथ लेकर वन मे गये और उसका नाम लेकर पुकारने लगे। उपमन्यु ने कुएँ मे से जवाव देकर सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। इसके वाद गुरु के उपदेश से उसने वैद्य अश्विनीकुमारो की आराधना से खोई हुई दृष्टि वापस पाई। स्वस्थ होने पर उपमन्यु के गुरु को प्रणाम करते ही गुरु ने आशीर्वाद देते हुए कहा, "वत्स, तुम परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए हो, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम समस्त वेदो व धर्मशास्त्रो के पण्डित वनोगे।[1]

आचार्य धौम्य के एक और शिष्य का नाम वेद था। वह भी इसी प्रकार दीर्घकाल तक गुरु की सेवा-शुश्रूषा करके समस्त विद्याओ के पारगत वने थे।[2]

आचार्य वेद का शिष्य वात्सल्य—उतक वेद के शिष्य थे। उन्होंने भी दीर्घ काल तक गुरु के घर रहकर समस्त विद्याओ मे पाडित्य लाभ किया था। आचार्य वेद को गुरु-गृह वास के दु ख कष्टो का अनुभव अच्छी तरह था, कष्टसाध्य कार्य करना उन्हे अच्छा नही लगता था। इसलिये आचार्य वनने पर अपने शिष्यो को

---

१ चैत १३४४ मे रवीन्द्रनाथ ने इस प्रबध को देखकर इस स्यल पर अपना मतव्य लिखा था—"इस तरह की प्राणान्तकर परीक्षा गुरु-शिष्य-संबध का शोभनीय दृष्टान्त नहीं है, ज्ञान शिक्षा के निमित्त इसकी नितान्त आवश्यकता भी समझ मे नहीं आती—इस तरह का व्यवहार बहुत ही अस्वाभाविक है, इसके अनुरूप दृष्टान्त और कहीं नहीं मिलते।"

२. आदि ३ रा अध्याय।

जो उनके यहाँ रहते थे, उस तरह कष्टसाध्य कार्यों पर नियुक्त नही करते थे।[1] वेद के चरित्र से पता चलता है कि किसी किसी गुरु का कठोर आदेश सब शिष्यो को सहन नही होता था।

शुक्राचार्य और कच—विद्यालाभ साधना-सापेक्ष है। वृहस्पतिनन्दन कच जब सजीवनी विद्या सीखने के उद्देश्य से दैत्यगुरु शुक्राचार्य के चरणो मे उपस्थित हुए तो आचार्य ने उन्हे ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने का उपदेश दिया। शिष्य ने भी आचार्य के आदेश का पालन करने मे मन लगाया। समित्, कुश, काष्ठ आदि बटोरना, गौएँ चराना, गुरु व गुरुकन्या का आदेश पालन करना यही उनका नित्यप्रति का कर्म था। इस प्रकार दीर्घकाल तक गरु के घर रहकर कच ने अभिलषित विद्या प्राप्त की थी।[2]

द्रोणाचार्य की शिक्षा—द्रोणाचार्य जब पितामह भीष्म के निकट प्रथम बार उपस्थित हुए तो अपने सबध मे उन्होंने बताया था, "मैंने धनुर्वेद की शिक्षा लेने के लिए महर्षि अग्निवेश को गुरु रूप मे वरण किया था। कई वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ गुरु की शुश्रूषा मे रत था।"[3]

अर्जुन की तपस्या—महादेव व इन्द्र से अस्त्रलाभ करने के निमित्त अर्जुन की कठोर तपस्या वर्णित है। इन सब अमानुषिक विषयो मे सन्देह का यद्यपि काफी मौका है तब भी विद्यालाभ मे तपस्या की उपयोगिता दिखाना ही इनका उद्देश्य है।[4]

शुकदेव के गुरु वृहस्पति—व्यासपुत्र शुकदेव ने वृहस्पति को अपना गुरु बनाकर वेद, इतिहास, राजधर्म आदि की शिक्षा ली थी। विद्या प्राप्ति के निमित्त शुकदेव की तपस्या का वर्णन भी मिलता है।[5]

शिष्य की योग्यता के अनुसार विद्यादान—शिष्य की योग्यता का अदाज लगाये बिना कोई भी आचार्य उपदेश नही देते थे। सबसे पहले यह तय करना पडता था

---

१. दुखाः भिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान् परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष। आदि ३।८१

२. कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम्।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भाविनि। इत्यादि। आदि ७६।३५, ३६

३. महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत। इत्यादि। आदि १३१।४०, ४१

४. वन ३८।२३-२९

५. शा० ३२४।२३-२५

कि कौन शिक्षा का अधिकारी है, किस मे ग्रहण करने की कितनी क्षमता है, इन सब वातो की परीक्षा लिये बिना आचार्य कुछ नही कहते थे।"[१]

अध्यात्मविद्या का अनधिकारी—तपस्या द्वारा शरीर व मन को प्रस्तुत किये विना आचार्यो से कुछ भी नही सीखा जा सकता था। अध्यात्मशास्त्र श्रवण के वारे मे तो वहुत ही कडाई थी। शुद्ध, शान्त श्रद्धावान, आस्तिक, बुद्धिसम्पन्न, गुरुभक्त छात्र को ही आचार्य ईश्वरत्व के सवध मे उपदेश देते थे।[२]

शिष्य की कुल व गुण-परीक्षा—सोने को जिस तरह आग मे तपाकर, काटकर कसौटी पर कसकर उसकी शुद्धता की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार शिष्य के कुल व गुणो की भी तरह-तरह से परीक्षा करके उपदेश देने का नियम था।[३]

वेद पर शूद्र का अनधिकार—शिष्य की कुल परीक्षा का एक और कारण था—सव वर्णो का सव विद्याओ पर अधिकार नही होता। वेद पर शूद्र का अधिकार नही माना जाता। सम्भवत शूद्र वैदिक अनुष्ठानादि को उतनी श्रद्धा की दृष्टि से नही देखते थे, आचार्य भी उन्हे वेदो का उपदेश नही देते थे। जो श्रद्धावान होते थे, वे चाहे किसी भी कुल मे जन्मे हो, आचार्य उन्हे शिष्य रूप मे ग्रहण कर लेते थे। लेकिन उनका जाति वर्ण जाने-विना उपदेश नही देते थे।[४]

शस्त्रविद्या मे सम्भवत जाति विचार नहीं था, (द्रोण व कर्ण)—कर्ण एक दिन मरहस्य ब्रह्मास्त्र विद्या ग्रहण के निमित्त एकान्त मे गुरु द्रोण के निकट उपस्थित हुए। आचार्य ने इन्कार करने के उद्देश्य से जाति की दुहाई देते हुए कहा, "एकमात्र ब्राह्मण ही ब्रह्मास्त्र ज्ञान का अधिकारी है अतएव मैं तुम्हे यह विद्या नही दे सकता।"[५] एकमात्र यदि ब्राह्मण ही इसका अधिकारी है तो अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र का लाभ किस तरह किया, कर्ण को यह सन्देह होना स्वाभाविक था। आचार्य ने जैसे इस सन्देह के पैदा होने की वात सोचकर उसे दूर करने के निमित्त कर्ण से कहा, "जो क्षत्रिय यथारीति

---

१. अहमेव च त कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन। आदि २३४।११

२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ॥ भी २८।३४
गुरुशुश्रूषया विद्या। अनु ५७।१२। अनु १३०।६। अनु १३३।२। अनु १३४।१७

३. नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथचन। इत्यादि। शा ३२७।४६, ४७

४. न च ता प्राप्तवान मूढ शूद्रो वेदश्रुतिमिव। सभा ४५।१५। वन ३१।८

५ ब्रह्मास्त्र ब्राह्मणो विद्यात्। शा० २।१३

तपस्या करता है वह भी ब्रह्मास्त्र का अधिकारी होता है।"[1] आचार्य की यह उक्ति सत्य नही थी। कर्ण को न सिखाना ही उनका उद्देश्य था, यह पहले श्लोक से अच्छी तरह समझ मे आ जाता है। कर्ण के प्रार्थना करते ही अर्जुन के प्रति अधिक स्नेह होने के कारण और कर्ण की दुर्जनता स्मरण आने पर उनकी उपेक्षा करने के उद्देश्य से ही जाति की बात उठाई थी।[2] अगर कर्ण ब्राह्मण न होने के कारण ब्रह्मास्त्र के अधिकारी नही थे, यह बात सत्य होती तो अर्जुन के प्रति पक्षपात एव कर्ण की दुर्जनता का स्मरण इन दोनो बातों की कोई सार्थकता नही रहती।

द्रोण और एकलव्य—महावीर एकलव्य की कहानी मे भी हम यही चीज देखते है। निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य जब धनुर्विद्या ग्रहण के उद्देश्य से आचार्य द्रोण के निकट उपस्थित हुआ तो आचार्य ने उसे शिष्य रूप मे ग्रहण नही किया। इसमे दो कारण थे—एक तो एकलव्य जाति का निषाद था और दूसरा धनुर्विद्या मे पारदर्शी होकर अर्जुन आदि शिष्यो से अधिक वीर बन जाने की सभावना। यदि एकमात्र निषादवश मे जन्म ही एकलव्य के अनधिकार का कारण होता तो आचार्य के मन मे दूसरी चिन्ताओ को स्थान क्यो मिलता ? एकलव्य की गठन बहुत ही वीरत्व व्यजक थी और आचार्य सभवत उसे देखकर ही समझ गये थे कि इस वीर के धनुर्विद्या मे उच्च शिक्षा लाभ से अर्जुन आदि शिष्यो की गरिमा कम होने की आशका है।[3] यहॉ एक प्रश्न और उठता है। यदि एकमात्र अर्जुन आदि शिष्यो की उन्नति कामना से ही आचार्य ने एकलव्य को इ कार किया था तो "नैषादिरिति चिन्तयन्" यह बात तर्कसगत नही रह जाती। सामजस्य बनाये रखने के लिए यह मानना पडता है कि बहुत बार निषाद अनावश्यक प्राणिहत्या करते थे। हत्या करना जैसे उनके आमोद प्रमोद का एक अग था। यद्यपि एकलव्य राजा का पुत्र था, तव भी जन्मगत स्वभावसिद्ध क्रूरता से शायद मुक्त नहीं था। अतएव धनुर्विद्या मे अधिक पारदर्शिता लाभ करने से उसके द्वारा जगत के अकल्याण की आशका ही अधिक थी। यही शायद आचार्य द्रोण की चिता का कारण था। ऐसा सोचे विना दोनो कारणो के सामजस्य की रक्षा नही की जा सकती । द्रोण के वाक्यो से पता चलता है कि शस्त्रविद्या ग्रहण मे किसी की जाति अन्तराय नही होती थी।

---

१. क्षत्रियो वा तपस्वी वा नान्यो विद्यात् कथञ्चन। शा २।१३

२. द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह॥ शा २।१२

३. न सतं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया॥ आदि १३२।३२

शूद्र का शास्त्रज्ञान—विदुर, धर्मव्याध आदि महाज्ञानियो के असाधारण पाडित्य से पता चलता है कि वे अध्यात्मशास्त्र के भी पडित थे। कोई-कोई कहता है कि विदुर ब्राह्मण के औरस से पैदा हुए थे, अत माता शूद्रा होते हुए भी वे ब्राह्मण ही थे, इस कारण वेद-वेदान्तो के अध्ययन मे उन्हे कोई वाधा नही थी। यह मत बहुत कमजोर लगता है क्योकि प्रजागर पर्व मे उल्लिखित है, महामति विदुर एक वार धृतराष्ट्र को अनेको प्रकार के नीति वाक्य सुना रहे थे, धृतराष्ट्र भी तन्मय होकर सुन रहे थे। अत मे धृतराष्ट्र ने कहा, "विदुर, बहुत विचित्र बाते वताई तुमने, यदि और कुछ कहने लायक हो तो वह भी कहो।"[1] विदुर ने कहा,"राजन्, सनत्कुमार ने कहा है, मृत्यु नाम की कोई चीज नही है। वही आपको सभी गुह्य व प्रकाश्य तत्वो का उपदेश देगे।' धृतराष्ट्र ने पूछा, "क्यो? जो वह बतायेंगे, वह क्या तुम नही जानते? अगर जानते हो तो तुम्ही बताओ।" विदुर ने उत्तर दिया, "मैंने शूद्रा के गर्भ से जन्म लिया है, इसलिए अधिक कहने की इच्छा नही होती। कुमार सनत्सुजात का ज्ञान शाश्वत है, यह मैं जानता हूँ। ब्राह्मण कुल मे जन्म लेने पर गुह्य तत्वो को प्रकट करने से भी देवताओ द्वारा निन्दित नही होना पडता।[2] यहाँ देखा जाता है कि विदुर अपने को शूद्र कहकर ही परिचय देते थे और उसी कारण अध्यात्म तत्व प्रकट करने के अनिच्छुक थे। यह विदुर का वडप्पन था इसमे सन्देह नही है, ऐसे वे जानते सव थे।

शास्त्रीय उपदेश श्रवण पर सबका अधिकार—शूद्र मुनि सम्वाद मे कहा गया है, निकृष्ट वर्ग अर्थात् शूद्र को कोई उपदेश नही देना चाहिये। जरा आगे चलकर कहा है, किसी के प्रश्न किये विना स्वत प्रवृत्त होकर कोई उपदेश नही दे लेकिन श्रद्धा से अवनत जिज्ञासु को यथार्थ उत्तर देना चाहिए। जिस उपदेश के देने से जिज्ञासु को धर्म लाभ हो, वही उपदेश देना चाहिए। इस अध्याय मे यह भी है कि शूद्र को पितृकार्य का उपदेश देने से एक मुनि ने अगले जन्म मे पुरोहित रूप मे जन्म लिया। पुरोहित जी की निन्दा करना ही इस उपाख्यान का उद्देश्य है। उपदेश श्रवण मे शूद्र का अनधिकार प्रदर्शन नही है।[3]

---

१. अनुक्त यदि ते किंचिद्वाचा विदुर विद्यते।
तन्मे शुश्रूषते ब्रूहि विचित्राणि हि भाषसे॥ उ० ४१।१

२ शूद्रयोनावह जातो नातोहन्यद्वक्तुमुत्सहे।
कुमारस्य तु या बुद्धिर्वेद तो शाश्वतीमहम्। इत्यादि उ० ४१।५, ६

३. न च वक्तव्यमिह हि किंचिद वर्णावरे जने। अनु० १०।६८। अनु० १०।५५,५६

हर जाति-वर्ण के उपदेशक—एकमात्र ब्राह्मण ही उपदेश देने के अधिकारी थे इसके विपरीत उदाहरण भी महाभारत मे कम नही है। मिथिला निवासी एक स्वधर्मनिष्ठ व्याध ने तपस्वी ब्राह्मण कौशिक को धर्म के विषय मे उपदेश दिया है।[1] अन्यत्र एक बनिये उपदेष्टा एव तपस्वी ब्राह्मण श्रोता का वर्णन भी मिलता है।[2] राजर्षि जनक ने वेदव्यास के पुत्र शुकदेव को आत्मतत्व के बारे मे उपदेश दिया था। (उपनिपद् आदि मे भी देखा जाता है कि अनेक गुह्य तत्वो के क्षत्रिय ही जानकार थे, ब्राह्मणो ने क्षत्रियो का शिप्यत्व स्वीकार करके उन तत्वो को ग्रहण किया था।) राजर्षि जनक की अध्यात्म विद्या की ख्याति बहुत अधिक थी। शुकदेव ने अपने पिता के आदेशानुसार राजर्षि के समीप उपस्थित होकर उन्हे गुरु रूप मे वरण किया था। राजर्षि ने भी बिना किसी द्विधा के नि सकोच भाव से ब्राह्मण तनय को उपदेश दिये थे।[3] महाभारत के कथक तो सूतजातीय थे। ऋपियो ने भी उनके मुख से महाभारत सुनी थी। एकमात्र ब्राह्मण ही यदि उपदेष्टा होते तो इन सब वर्णनो की यथार्थता नही रखी जा सकती।

हीनवर्ण से विद्याग्रहण—अपनी अपेक्षा हीनवर्ण के अध्यापक से विद्याग्रहण करने का विधान भी मिलता है। नीच एव शूद्र से भी ज्ञानार्जन करने का उपदेश दिया गया है।[4]

साधारणतः ब्राह्मण ही अध्यापक—ज्ञान चर्चा मे सलग्न रहना ब्राह्मण का ही कर्म था, गुरु के आसन पर उन्ही का अधिकार था। अध्यापना उनकी जीविका थी। इसी कारण अध्ययन या अध्यापना का ब्राह्मणो मे ही अधिक प्रसार हुआ था। (वृत्ति व्यवस्था प्रकरण दे०)[5]

गुरुपरम्परा मे विद्याविस्तृति—उस युग मे समस्त विद्याएँ गुरुपरम्परा द्वारा ही विस्तृत होती थी। आचार्य मुँह से ही उपदेश देते थे और शिष्य श्रद्धा सहित सुनते थे फिर बार-बार उसका मनन करके उस विषय को अधिकृत करते थे, लिखने-पढने का व्यवहार भी था। गुरु से उपदेश ग्रहण के अलावा विद्याभ्यास उस काल

---

१. वन २०६ वाँ अध्याय।
२. शा २६० वाँ अध्याय।
३. शा ३२६ वाँ अध्याय।
४. श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्। शा १६५।३१। शा ३१८।८८
५. भूमिरेतौ निगिरति सर्पो विलशयानिव।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥ इत्यादि। उ ३३।५७।
अनु ३६।१५। शा ७८।४३

मे निषिद्ध था।[1] द्रोणाचार्य के एकलव्य को शिष्यरूप मे ग्रहण न करने पर भी एकलव्य ने अपनी चेष्टा व अध्यवसाय के बल पर धनुर्विद्या मे दक्षता प्राप्त की थी। लेकिन यहाँ भी देखा जाता है कि उसने मिट्टी से द्रोण की एक मूर्ति बनाई थी और उसी मूर्ति के चरणो मे बैठकर धनुर्वेद की तपस्या की थी। उसकी एकनिष्ठ साधना ने ही उसे सिद्धि का सधान दिया था।

ग्रथादि का अस्तित्व—गुरु के उपदेश के अलावा दूसरे उपायो द्वारा विद्याभ्यास के निषेध रहने से लगता है कि विद्याभ्यास का और भी कोई रास्ता था। दूसरा उपाय अगर नही होता था बिना बात को अप्रसिद्ध विषय का निषेध नही किया जाता। कोई उपाय था यह बात अगर ठीक है तो किताबो के अलावा और कौन सा रास्ता हो सकता है? यद्यपि विद्यार्थी समाज मे कलम दावात एकत्रित करने का कोई उदाहरण नही मिलता तब भी महाभारत की आलोचना से लगता है कि उस काल का समाज लिपिज्ञान से परिचित था। व्यासदेव की प्रार्थना पर गणेश ने महाभारत लिखी थी। वक्ता व्यासदेव थे और लेखक गणेश।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से इस उपाख्यान का कोई मूल्य न होने पर भी लेखनी व्यवहार के समर्थक रूप मे इसकी उपयोगिता है। लगता है यह उपाख्यान परवर्ती काल मे सयोजित हुआ है। क्योकि व्यास ने, वैशम्पायन आदि शिष्यो को महाभारत मुँह से ही सुनाई थी, वहाँ पुस्तक का कोई उल्लेख नही है। वैशम्पायन ने जब जनमेजय को सुनाई तब भी मुँहजुबानी ही सुनाई थी। लोमहर्षण के पुत्र सौति, को जब महाभारत के वक्ता के रूप मे देखते हैं तब भी पुस्तक का कोई जिक्र नही है। गणेश द्वारा लिपिबद्ध करने की कहानी महाभारत के शुरू मे ही मिलती है। महाभारत की समाप्ति पर कहा गया है, "महाभारत ग्रथ जिनके घर रहेगा, उन्हे हर काम मे सफलता मिलेगी। यह उक्ति अगर व्यासदेव की ही है तो यह समझना चाहिए कि महाभारत उसी वक्त ग्रन्थ रूप मे प्रकाशित हो गया था। ग्रन्थ के आकार या दूसरी चीजो के बारे मे कुछ भी पता नही लगता।[3] अक्षरो के आकार के सबध मे कोई उल्लेख न होने पर भी अक्षरो के अस्तित्व की ज्ञापक बहुत सी बातें मिलती हैं। युद्धक्षेत्र मे भीम, अर्जुन, कर्ण आदि वीर जिन बाणो का व्यवहार करते थे, उन पर उनके अपने-अपने नाम लिखे होते थे।[4] नारद ने युधिष्ठिर

---

१. न बिना गुरुसम्बध ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः। शा० ३२६।२२। अनु ९३।१२३
२. ओमित्युक्त्वा गणेशोऽपि बभूव किल लेखक॰। आदि १।७९
३. भारत भवने यस्य तस्य हस्तगतो जय.। स्वर्गा ६।८९
४. द्रो० ९७।७। द्रो० १२३।४७। द्रो० १३६।५। द्रो० १५७।३७। शल्य २४।५६

से पूछा था, "तुम्हारी आयव्यय के हिसाब के लिए नियुक्त गणक लेखक पूर्वाह्न मे ही हिसाब ठीक कर लेते हैं न ?[1] इस कथन से भी लिपि का अस्तित्व पता चलता है। लेकिन किस चीज पर किस प्रकार की स्याही से कैसे कलम से लिखा जाता था यह जानने का कोई उपाय महाभारत मे नही मिलता। लिखने मे सलग्न किसी गुरु या विद्यार्थी से भी महाभारत साक्षात् नही होता।

शस्त्रविद्या में गुरुपरम्परा—शास्त्रविद्या की तरह शस्त्रविद्या भी गुरुपरम्परा द्वारा चलती थी। अर्जुन के आग्नेयास्त्र प्राप्ति की कहानी मे देखा जाता है कि वृहस्पति से भरद्वाज, भरद्वाज से अग्निवेश, अग्निवेश से द्रोणाचार्य और द्रोणाचार्य से अर्जुन ने इस अस्त्र विद्या का लाभ किया था।[2] और भी देखा जाता है कि भीष्म ने जामदग्न्य परशुराम का शिष्यत्व ग्रहण करके धनुर्विद्या की शिक्षा ली थी। द्रुपद, द्रोण, व कर्ण भीष्म के ही सहपाठी थे। युधिष्ठिर आदि पाँच भाइयों व कौरवों ने पहले कृपाचार्य से, बाद मे द्रोण से शस्त्र विद्या सीखी थी। भीमसेन व दुर्योधन ने बलराम से गदायुद्ध की शिक्षा ली थी। शिखण्डी, धृष्टद्युम्न आदि वीरो को भी द्रोणाचार्य से धनुर्विद्या प्राप्त हुई थी। प्रद्युम्न, सात्यकि व अभिमन्यु ने अर्जुन से, द्रौपदी पुत्रो ने प्रद्युम्न व अभिमन्यु से, इस प्रकार सब किसी न किसी गुरु से विद्या लाभ किया करते थे।

एक से अधिक गुरु—शास्त्रविद्या व शस्त्रविद्या मे एक के बाद एक कइयो को गुरुरूप मे वरण करने का नियम भी था। उल्लिखित उदाहरण से यह पता लगता है। हर आचार्य का सर्वशास्त्रो मे पडित होना सभव नही था, अतएव शिष्य को आवश्यकतानुसार विद्यालाभ के निमित्त एक से अधिक को गुरु रूप मे वरण करने के लिए बाध्य होना पडता था।

अपने घर गुरु को रखना—साधारणत यही नियम था कि विद्यार्थी गुरु के घर जाकर विद्योपार्जन करे। कोई-कोई धनी व्यक्ति पुत्र कन्याओ के शिक्षा निमित्त अपने घर भी आचार्य को रख लेता था। द्रुपदराजा ने अपने पुत्र-कन्याओं को इसी तरह शिक्षा दिलाई थी।[3] कृपाचार्य एव आचार्य द्रोण भीष्म द्वारा ही स्थापित और प्रतिपालित हुए थे। उन्होंने राजगृह मे रहकर ही कौरव-पाडवो को शस्त्र-विद्या की शिक्षा दी थी।[4] राजर्षि जनक ने आचार्य पचशिक को चार वर्षो से भी

---

१. सभा० ५।७२

२. पुरास्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात् किल वृहस्पतिः। इत्यादि। आदि १७०।२९, ३०

३. ब्राह्मणं मे पिता पूर्वं वासयामास पंडितम्। इत्यादि। वन ३२।६०-६२

४. आदि १३२ वां अध्याय।

अधिक काल तक अपने घर रखकर ही साख्यविद्या का अध्ययन किया था।[1] आचार्य को अपने घर रखने के तीन दृष्टान्त मिलते हैं और वे तीनो ही धनी परिवार के हैं। समाज के अन्य स्तरो मे शायद यह नियम प्रचलित नही था।

गुरु-शिष्य सम्प्रदाय—उस युग मे भी गुरु-शिष्यो के बीच परम्परागत सम्प्रदाय गठित होता था। गुरु के गुरु का सम्मान करने के लिए प्रशिष्य बाध्य थे एव स्वभावत ही गुरु के ऊर्ध्वतन सम्प्रदाय के प्रति सम्मान प्रकट करने मे वे कुठित नही होते थे। द्रोणाचार्य के वध के बाद अर्जुन व धष्टद्युम्न के बीच वाग्युद्ध हुआ। सात्यकि अर्जुन के शिष्य थे। उन्होंने अर्जुन व द्रोण की निन्दा न सह सकने के कारण धृष्टद्युम्न का बहुत तिरस्कार किया। तिरस्कार का कारण गुरुनिन्दा था, विशेपत गुरु के गुरु की निन्दा।[2]

अध्ययन की नियम प्रणाली—आचार्य का दायाँ पैर दाँयें हाथ से व बाँया पैर बाँये हाथ से पकडकर विद्याप्रार्थना करने एव अन्यान्य नियम प्रणालियो के सम्बन्ध मे चतुराश्रम प्रबध मे कहा जा सकता है। (दे० १०२वाँ पृष्ठ)

विद्यालाभ के तीन शत्रु—महात्मा विदुर ने कहा है, गुरु के उपदेश श्रवण की अनिच्छा, शिक्षणीय विषय को अल्पकाल मे ही अधिकृत करने की व्याकुलता और 'शिक्षित हो गया हूँ' यह सोचकर मन मे अधकार का पोषण करना, ये तीन विद्यालाभ के प्रधान शत्रु हैं।[3]

विद्यार्थी के लिये परित्याज्य—विदुर ने और भी कहा है—आलस्य, अहकार मोह, चपलता, अनेको के साथ एक जगह रहना, औद्धत्य, अभिमान और लोभ ये सब विद्यार्थी के लिए परित्याज्य हैं।[4] विद्यालाभ करना हो तो सुख की आशा छोड दे। यदि सुख मे अत्यधिक आसक्ति हो तो विद्यालाभ को आकाश का चाँद समझना चाहिये।[5] गुरु के घर सब विद्यार्थियो के लिए सुखकर नही थे, यह आचार्य वेद के चरित्र से जाना जा सकता है। सच्चे विद्यार्थी सुख की आशा छोडकर ही विद्योपार्जन मे मन लगायें।

विद्यार्थी का पहनावा—विद्यार्थी के पहनावे के विषय मे कोई विस्तृत विवरण महाभारत मे नही मिलता। अर्जुन से जो क्षत्रिय धनर्विद्या की शिक्षा लेते थे,

---

१ वार्षिकाश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः। शा ३२०।२६

२ गुरोर्गुरुञ्च भूयोऽपि क्षिपन्नैव हि लज्जसे। द्रो० १९७।२२

३ अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्याया. शत्रवस्त्रयः॥ उ० ४०।४

४. आलस्यं मदमोहौ च चापल गोष्ठिरेव च। इत्यादि । उ० ४०।५,६

५. सुखार्थिन. कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिन. सुखम्। उ० ४०।६

उन सबका परिधेय मृगचर्म था।[1] युयुधान, सात्यकि, अनिरुद्ध आदि राजकुमार भी जब मृगचर्म पहनते थे तो दूसरे विद्यार्थियो के सम्बन्ध मे इसी नियम के लागू होने का अनुमान लगाया जा सकता है। एकलव्य का परिधान भी कृष्ण मृगचर्म ही था।[2] शिक्षार्थी के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन जरूरी था। अत इन सब बातो से यह समझा जा सकता है कि उनका चाल-चलन बहुत ही सीधा-साधा होता था विशेषत मृगचर्म के साथ सामजस्य बनाये रखने के लिए यह मानना पडेगा कि दूसरे परिधानादि भी उसी तरह के होंगे। महर्षि गौतम के शिष्य उतक के सिर पर जटा देखकर लगता है कि ब्रह्मचारी बाल, हजामत आदि नही बनवाते थे। तेल आदि स्निग्ध पदार्थों का व्यवहार करना उनके लिये निषिद्ध था।[3]

विद्यार्थियों के अन्नवस्त्र की व्यवस्था—विद्यार्थी भिक्षा लाकर गुरु को दे देते थे और गुरु ही उनके खाने पहनने की व्यवस्था करते थे। हर गृहस्थ विद्यार्थी को भिक्षा देने के लिए बाध्य था। इस विषय मे आगे विस्तृत रूप से कहा जायगा।

दिन मे किस समय आचार्य अध्यापन करते थे, इसका कोई वर्णन महाभारत मे नही मिलता।

अनध्याय (छुट्टी)—किसी-किसी कारण से बीच-बीच मे अध्ययन-अध्यापन बन्द रहता था। छुट्टी के दिन अध्ययन व अध्यापन करने को पापजनक बताया गया है।[4] युद्धविग्रह के समय विद्या-चर्चा स्थगित रहती थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के बाद श्रीकृष्ण जब द्वारिका गये तो देखा वहाँ स्वाध्याय, यागयज्ञ होम आदि सब कुछ बद पडा था, पुरनारियो ने अलकारादि उतार दिये थे। पूछने पर पता लगा कि शाल्वराज ने द्वारिका नगरी को घेर रक्खा था।[5]

तेज आँधी-तूफान, भूकम्प एव अन्यान्य प्राकृतिक दुर्योगो के समय भी छुट्टी मनाई जाती थी।[6]

परीक्षा—धनुर्विद्या मे परीक्षा देनी पडती थी। युधिष्ठिर आदि भाइयो की अस्त्र शिक्षा खत्म होने पर आचार्य द्रोण ने उनकी परीक्षा ली थी।

---

१. अर्जुनं ये च सश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः।
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिन वाससः॥ सभा ४।३३

२. स कृष्णमलदिग्धांगं कृष्णाजिन जटाधरम्। इत्यादि। आदि १३२।३९

३. अश्व ५६।९। शा २४२।२५

४. अनध्यायेष्वधीयीत। अनु ९३।११७। अनु ९४।२५। अनु १०४।७३

५. वन २०।२

६. शा ३२८।५५।५६

एक दिन आचार्य ने शिष्यो को विना बताये शिल्पी द्वारा एक कृत्रिम पक्षी वनवाकर पेड की डाल पर रखवा दिया। शिष्यो से कहा, "उस पक्षी के सिर को लक्ष्य वनाकर वाण छोडना होगा।" लक्ष्य ठीक है कि नही यह समझने के लिए आचार्य ने एक एक से पूछा, "क्या देख रहे हो ?" अर्जुन के अलावा सबने एक ही उत्तर दिया, "आपको, भाइयो को एव सामने की हर चीज देख रहा हूँ।" लक्ष्य पर उनकी दृष्टि स्थिर नही थी, यह जानकर आचार्य ने सवकी भर्त्सना की। वाद मे प्रिय शिष्य अर्जुन से भी वही प्रश्न पूछने पर अर्जुन ने उत्तर दिया, "मुझे सिर्फ पक्षी का मस्तक दिखाई दे रहा है।" गुरु ने आह्लादित होकर वाण छोडने की आज्ञा दी। आज्ञा मिलते अर्जुन ने पक्षी का सिर उडा दिया। यह थी प्राथमिक परीक्षा।[1] फिर एक दिन आचार्य ने कुरुराज धृतराष्ट्र से कहा कि कुमारो की शिक्षा समाप्त हो गई है। महाराज की अनुमति मिलने पर वे एक दिन सबके सामने अपना कौशल दिखायेंगे। धृतराष्ट्र ने सहर्ष चित्त आचार्य के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। निर्दिष्ट दिन हाथ जोडे, तरकश वाँधे, कटिबद्ध धनुर्धारी वीर कुमारो ने अनगिनत लोगो के बीच उपस्थित होकर अपने-अपने कौशल दिखाये। कुमारो की पटुता देखकर सव आश्चर्य चकित हो गये।[2]

गुरुदक्षिणा—शिक्षा समाप्त होने पर आचार्य को दक्षिणा देनी पडती थी। गुरु की सन्तुष्टि ही श्रेष्ठ दक्षिणा मानी जाती थी।"[3]

उतंक की दक्षिणा—उतक ने आचार्य वेद के शिष्य रूप मे विद्यालाभ किया था। उन्होंने समावर्त्तन से पहले गुरुदक्षिणा के लिए गरु को आदेश देने की प्रार्थना की। गुरु वोले "उपाध्याय पत्नी जो कहे वही करो।" उतक के उपाध्याय पत्नी को प्रणाम करके पूछने पर उन्होंने आदेश दिया, "आज से चौथे दिन पुण्यक व्रत है। पौष्य राजा की क्षत्रिय पत्नी जो कुडल पहनती है वही कुडल पहन कर मैं उस दिन व्राह्मणो को भोजन परोसना चाहती हूँ। अतएव तुम वे दोनो कुण्डल माँग कर ले आओ।" उतक ने कितने कष्ट से उपाध्याय पत्नी के आदेश का पालन किया था, यह विशद रूप से वर्णित है।[4]

विपुल की दक्षिणा—आचार्य देवशर्मा के शिष्य विपुल ने गुरुपत्नी के आदेश पर अत्यन्त कष्ट उठाकर स्वर्गीय पुष्प लाकर गुरुदक्षिणा दी थी।[5]

---

१. आदि १३२ वाँ व १३३ वाँ अ०।
२. आदि १३४ वाँ अ०।
३. दक्षिणा परितोषो वै गुरूणा सद्भिरुच्यते। अश्व ५६।२१। शा १२२।१३
४. आदि ३ रा अध्याय।
५. अनु ४२ वाँ अध्याय।

गुरु को प्रसन्न करने के निमित्त शिष्यो की कठोर साधना का बहुत स्थानों पर उल्लेख मिलता है। गुरु के आशीर्वाद से भी शिष्य सर्वविद्याओ के पडित बनते थे। ब्रह्मचर्य का तेज व गुरुभक्ति ही उनकी शक्तिवृद्धि के प्रधान कारण थे।

कौरव-पांडवो की दक्षिणा—शस्त्र शिक्षा समाप्त होने पर जब कौरव पाडवो ने दक्षिणा के लिए गुरु की अनुमति माँगी तो आचार्य ने कहा, "पाचालराज द्रुपद को युद्ध मे पराजित करके वन्दी रूप मे मेरे सामने ले आओ, वही मेरी अभिलषित श्रेष्ठ दक्षिणा होगी।" आचार्य की आज्ञा मिलते ही शिष्यों ने प्रस्थान किया। कहने की बात नही है, आचार्य की इच्छा पूर्ण हुई। वीरश्रेष्ठ अर्जुन पाचालराज को बन्दी बनाकर ले आये। दरिद्र द्रोणाचार्य के विपत्ति के दिनो मे सहपाठी द्रुपद ने उनका बधुत्व स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था एव ऐश्वर्य के मद मे मत्त होकर कहा था, दरिद्र ब्राह्मण के साथ राजा की मैत्री नही हो सकती। उन्होने द्रोण का उपहास करके उनकी उपेक्षा की थी। उसी अपमान का बदला लेने के लिए आचार्य ने शिष्यो से दक्षिणा मे अपना अभिप्राय पूर्ण करने को कहा था। बदी पाचालराज को जब द्रोण के समक्ष उपस्थित किया गया तो द्रोण ने पाचाल-राज को क्षमा कर दिया और शिष्यो द्वारा जीते गये राज्य का आधा हिस्सा द्रुपद को लौटाकर उनसे मैत्री स्थापित कर ली। द्रोणाचार्य ने अपनी राजधानी भागीरथी के उत्तर तीर पर अहिच्छत्रापुरी मे बनाई।[1]

अर्जुन की दक्षिणा—कौरव-पाडवो द्वारा दी गई सम्मिलित दक्षिणा मे यद्यपि अर्जुन का हाथ ही अधिक था तब भी आचार्य ने अर्जुन से दुबारा दक्षिणा माँगी। अर्जुन को ब्रह्मशिरास्त्र देकर बोले, "युद्धक्षेत्र मे मैं अगर तुम पर प्रहार करूँ तो तुम भी प्रतियुद्ध करना, यही मेरी दक्षिणा है।" अर्जुन ने आचार्य का आदेश शिरोधार्य करके विदा ली।[2]

गालव की दक्षिणा—विश्वामित्र के शिष्य तपस्वी गालव ने गुरु के आदेश से आठ सौ घोडे दक्षिणास्वरूप प्रदान किये थे। घोडों का रग सफेद एव कान के बाहर का हिस्सा काला था। गालव ने कितनी मुश्किलो से दक्षिणा जुटाई थी यह महाभारत मे १३ अध्यायो मे लिखी गई है।"[3]

एकलव्य की दक्षिणा—एकलव्य की दक्षिणा अपूर्व थी। ऐसी दक्षिणा का और एक भी उदाहरण नही मिलता। द्रोणाचार्य के उसे शिष्य रूप मे ग्रहण न करने पर

---

१. आदि १३८ वाँ अध्याय।

२. युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युध्यमानस्त्वयानघ। आदि १३९।१४

३. उ० १०६ वाँ अ०—११८ वें अध्याय तक।

भी वह द्रोण की मिट्टी की मूर्ति बनाकर एकान्त मे साधना करने लगा। एकाग्रता के प्रभाव से एकलव्य ने धनुर्वेद मे सिद्धि प्राप्त कर ली। वाण विमोक्षण (वाण छोडना) आदान, प्रदान आदि विषयो मे सिद्धहस्त हो गया।

एक बार कौरव पाडव द्रोण की अनुमति लेकर रथ पर सवार होकर शिकार को निकले, साथ मे एक अनुचर था, जिसके पास कुत्ता था। कुमार वन वन घूम रहे थे, इतने मे कुत्ते को अचानक एकलव्य दिखाई दिया। एकलव्य का शरीर धूल-धूसरित था, सिर पर जटाएँ थी और वदन पर मगचर्म था। उसको देखते ही कुत्ते ने भौंकना शुरू कर दिया। एकलव्य ने भी पल भर मे सात वाण कुत्ते के मुँह मे छोड दिये। कुत्ता उसी हालत मे पाडवो के निकट दौडा-दौडा आया। उसे देखकर पाडव वाण छोडने वाले की शव्दभेद-सामर्थ्य एव वाण प्रक्षेपण की निपुणता समझ कर मन ही मन उसकी प्रशसा करते हुए उसे खोजने को चल दिये। जगल मे कुछ दूर जाते ही एक लगातार वाण छोडनेवाले कुरूप वीर पुरुष को देखकर उसका परिचय पूछा। प्रत्युत्तर मे वीरपुरुष ने वताया कि वह निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एव आचार्य द्रोण का शिष्य है। पाडवो ने लौटकर आचार्य से सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। अर्जुन ने अकेले मे आचार्य से कहा, "आपने तो मुझे आशीर्वाद देकर कहा था, कि आपका कोई भी शिष्य मुझसे अधिक वीर नही होगा, लेकिन यह निषाद तो मुझसे अधिक कुशल है।" आचार्य अर्जुन के साथ एकलव्य के पास गये। गुरु को अपने समक्ष पाकर एकलव्य ने साष्टाग प्रणाम किया और हाथ जोडकर खडा हो गया। आचार्य बोले, "तुम यदि मेरे शिष्य हो तो मैं आदेश देता हूँ कि मेरी गुरु दक्षिणा अभी दो।" शिष्य ने गुरु की आज्ञा से अपने को भाग्यवान समझकर गुरु की इच्छा जाननी चाही। अर्जुन के प्रति स्नेह से अधे आचार्य ने उससे दाहिने हाथ का अंगूठा दक्षिणा मे देने को कहा। शिष्य ने तत्क्षण प्रसन्न मुख, गुरु के आदेश का पालन करके अपने को धन्य माना। इस उपाख्यान मे एकलव्य की मनुष्यता प्रस्फुटित हो उठी है। लेकिन द्रोण के चरित्र की दुर्बलताओ या कलकसमूहो मे यह कलक दुर्निवार है। अर्जुन जैसे वीर पुरुष की यह ईर्ष्या भी समर्थन योग्य नही है।[1]

समावर्त्तन के वाद किसी-किसी शिष्य को गुरु द्वारा कन्यादान—आचार्य शिष्यो की श्रद्धा-भक्ति से इतने आकृष्ट होते थे कि कोई-कोई तो समावर्त्तन के वाद शिष्य के हाथो मे अपनी कन्या सौपकर गुरुशिष्य सवध को और भी घनिष्ठ वना

---

१. आदि १३२ वां अध्याय।

देते थे। आचार्य उद्दालक ने शिष्य कहोड को एव आचार्य गौतम ने शिष्य उतक को अपनी कन्या दी थी। (दे० विवाह (क) पृ० १६)[१]

स्त्रियो की शिक्षा—महाभारत मे अनेको विदुषी महिलाओ के साथ हमारा साक्षात् होता है, लेकिन महर्षि द्रौपदी और उत्तरा के अलावा किसी की भी शिक्षा प्रणाली से हमारा परिचय नही होने देते।

गृहशिक्षक—यदि इन दोनो को ही दृष्टान्त स्वरूप लिया जाय तो कहना पडेगा कि कन्या के अभिभावक घर मे शिक्षक रखकर ही कन्या की शिक्षा की व्यवस्था करते थे।

अभिभावक द्वारा शिक्षण—जिनकी वृत्ति अध्यापना थी वे स्वय ही अपनी-अपनी कन्याओ की शिक्षा का भार लेते थे, उसके बारे मे भी एक इशारा मिलता है। आचार्य गौतम ने शिष्य उतक के समावर्त्तन के समय कहा था, "मेरी इस कन्या के अलावा दूसरी कोई कुमारी तुम्हारी पत्नी बनने के योग्य नही है।" उतक दीर्घकाल तक गुरु के घर रहकर अनेक विद्याओ के पडित बने थे, अतएव लगता है आचार्य ने पहले से ही कन्या को पढा-लिखाकर शिष्य की उपयुक्त पत्नी लायक बना दिया था। उनकी उक्ति से यही इगित होता है।[२]

---

१ प्रबध मे इस जगह रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—"गुरुकन्या से विवाह क्या निषिद्ध नहीं है?" मुझे लगता है बंगाली समाज मे बहुत से लोग गुरुकन्या-विवाह को निषिद्ध ही समझते हैं, रवीन्द्रनाथ भी यही समझते थे। स्मार्त्त भट्टाचार्य रघुनन्दन ने अपने विवाहतत्त्व मे, "गुरुपुत्रीति कृत्वाहं प्रत्याचक्षे न दोषतः" (आदि ७७।१७) महाभारत के इस श्लोक के 'दोषतः' शब्द की 'दृष्टदोषतः' के रूप में व्याख्या की है। अर्थात् "तुम गुरुकन्या हो, इसी कारण तुम्हे अस्वीकृत कर रहा हूँ, तुमसे विवाह करना दृष्टतः निर्दोष होते हुए भी पाप होगा", रघुनन्दन के अनुसार कच की उक्ति का यह तात्पर्य है। आगे भी रघुनन्दन ने "ब्रह्मदातुर्गुरोश्चैव सन्ततिः प्रतिषिध्यते", मत्स्यसूक्त के इस वचन को उद्धृत करके गुरुकन्या से विवाह की निषिद्धता का समर्थन किया है। किन्तु महाभारत के वचनो द्वारा रघुनन्दन का मत समर्थित नहीं होता। शुक्राचार्य यदि कच से अनुरोध करते तो कच भी देवयानी के पाणिग्रहण मे आपत्ति नहीं करते; कच की "गुरुणा चाननुज्ञातः" (आदि ७७।१७) इस उक्ति से यही आभास मिलता है। बंगाली समाज के अनेको प्रसिद्ध वंशो मे भी गुरुकन्या विवाह के उदाहरण मिलते हैं। ढाका जिले मे मितरा ग्राम के अर्द्धकाली वंश के पूर्वज राघवराम भट्टाचार्य ने अपने गुरु की कन्या अर्द्धकाली से विवाह किया था।

२. एतामृतेंऽगना नान्या त्वत्तेजोऽर्हति सेवितुम्। अश्व ५६।२३

शकुन्तला—तापसी वेशधारणी कुमारी शकुन्तला ने पिता के आदेश से अतिथि-सत्कार का भार ग्रहण किया था। समागत अतिथि दुष्यन्त को पाद्यादि देकर उन्होंने कुशल-प्रश्न पूछा। कण्व ने जब उन्हे वरदान देना चाहा तो उन्होंने धर्म मे चित्त की स्थिरता एव पतिवश के कल्याण का वरदान मांगा था। हस्तिनापुर की राजसभा मे दुष्यन्त के साथ जो उनकी कथा-वार्ता हुई थी वह भी उनकी बुद्धिमत्ता व पाडित्य का परिचायक है। उनके चरित्र की आलोचना करने से पता लगता है कि उन्होने ऊँची शिक्षा पाई थी।[1]

सावित्री—मन ही मन सत्यवान को वरण करने के वाद नारद के मुख से भावी पति की आसन्न मृत्यु की वात सुनकर भी सावित्री विचलित नही हुई। नारद तथा पिता अश्वपति द्वारा बार-बार अनुरोध किये जाने पर भी दूसरे को वरण नही किया। उस समय सावित्री ने जो युक्तिपूर्ण शास्त्रानुमोदित बातें कही थी, उसी से उनके शास्त्र-ज्ञान का परिचय मिल जाता है। धर्मराज के साथ अचिर विवाहिता सावित्री का जो कथोपकथन हुआ था वह भी उनके पाडित्य को प्रकट करता है।[2] उनके पिता भी उन्हे गुणवती व शिक्षिता ही कहते थे।[3]

शिवा—वेद-वेदान्त आदि विषयो मे भी किसी-किसी महिला को असाधारण पाडित्य प्राप्त था। शिवा नाम की एक महिला ने वेदादि शास्त्रो का अध्ययन करके तपस्या मे अमरता प्राप्त की थी।[4]

विदुला, सुलभा तथा प्रभासभार्या—विदुला की तेजस्विता, सुलभा एव प्रभासभार्या के योगपाडित्य के बारे मे पहले ही कहा जा चुका है। (दे० ६५, ६६ वाँ० व ६७वाँ पृष्ठ)।

ब्रह्मज्ञा गौतमी—गौतमी नामक एक महिला बहुत पडिता थी। उनके एकमात्र पुत्र के सर्पदशन से मर जाने पर मृत्युतत्व के सबन्ध मे उन्होंने जो बातें कही थी, वे गम्भीर पाडित्य व तपस्या की परिचायक हैं।[5]

आचार्या अरुधती—महर्षि वशिष्ठ की पत्नी अरुन्धती उन्ही जैसी समानशीला तथा विदुषी थी।[6] कहा गया है कि ऋषि, देवता तथा पितगण शास्त्रतत्व के बारे

---

१. आदि ७१ वें से ७४ वें अध्याय तक।

२. वन २९२ वें से २९६ वें अध्याय तक।

३. स्वयमन्विच्छ भर्त्तारं गुणैः सदृशमात्मन.। वन २९२।३२

४. उ० १०९।१९

५. अनु० पहला अध्याय।

६. समानशीला वीर्येण वशिष्ठस्य महात्मनः। अनु० १३०।२

मे उनसे उपदेश सुना करते थे। समागत जिज्ञासुओ की श्रद्धा व ज्ञानपिपासा की विशेष रूप से परीक्षा किये बिना वे उपदेश नही देती थी। सब शास्त्रो पर उनका पूर्ण अधिकार था।[1]

पतिव्रता शाडिली—पातिव्रत्य धर्म के बारे मे शाडिली को बहुत ज्ञान था। कैकयी सुमना के प्रश्न के उत्तर मे उन्होने जो उपदेश दिया है वह उनके गभीर पाडित्य का द्योतक है।[2]

दमयन्ती—नल-दमयन्ती उपाख्यान मे दमयन्ती के जिस धैर्य, बुद्धिमत्ता और मार्जित रुचि का परिचय मिलता है, इससे उनकी उच्च शिक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है।[3]

एक ब्राह्मणी—ब्राह्मण गीता मे देखा जाता है कि एक ब्राह्मण दम्पत्ति अध्यात्मतत्व की बाते कर रहे थे। पत्नी प्रश्न पूछ रही थी और पति उत्तर दे रहा था। इस दम्पति की शास्त्र चर्चा से पता चलता है कि अगर पति पडित होता था तो उससे भी पत्नी शिक्षा ग्रहण किया करती थी। यद्यपि ब्राह्मण दम्पति की कल्पना मन तथा बुद्धि के रूप मे की गई है, तब भी अगर समाज मे ऐसा व्यवहार प्रचलित न होता तो कल्पना करना भी असभव होता।[4]

शिखंडी—शिखण्डी का उपाख्यान बहुत ही अजीब है। उन्होने कन्या रूप मे जन्म लिया था, वाद मे महादेव के वर के प्रभाव से पुरुषत्व प्राप्त किया था। कन्या अवस्था मे ही उन्होने धनुर्विद्या और शिल्पादि विद्याओ की शिक्षा ली थी। धनुर्विद्या मे द्रोणाचार्य उनके गुरु थे।[5] उन्होने द्रोण के घर जाकर शिक्षा ली थी या द्रोण को अपने घर रक्खा था, इसके बारे मे कुछ पता नही लगता। वह पुरुष की तरह ही पोशाक आदि पहनती थी एव पुरुष रूप मे ही अपना परिचय देती थी। इससे लगता है कि उन्होने गुरु के ही घर जाकर धनुर्विद्या की शिक्षा ली थी। इन सब उपाख्यानो से स्त्रियो की शिक्षा के विषय मे बहुत कुछ जाना जा सकता है। कुरुराज्य के अन्तपुर मे जिन रमणियो के साथ हमारा साक्षात् होता है, उनमे से प्रत्येक धर्म तथा राजनीति मे विशेष रूप से पारगत थी।

---

१. अनु १३० वाँ अध्याय।

२. अनु १२३ वाँ अध्याय।

३. वन ५७ वें अध्याय से ७७ वें अध्याय तक।

४. अश्व २० वें अध्याय से ३४ वें अध्याय तक।

५. उ० १९१ वें अध्याय से १९४ वें अध्याय तक।

गगा—शान्तनु-पत्नी गगा देव व्रत भीष्म की जननी थी। उन्होंने सर्वगुण विभूषिता के रूप मे कीर्ति अर्जित की है।[1]

सत्यवती—विचित्रवीर्य की अकालमृत्यु के वाद सत्यवती के वुद्धिवल से ही नष्टप्राय कुरुवश पुन प्रतिष्ठित हुआ था। वे निवृत्ति एव प्रवृत्ति धर्म के रहस्य से अवगत थी।[2] उन्होंने कहाँ, किस तरह शिक्षा पाई थी यह पता नही चलता।

गाधारी—कुमारी अवस्था मे ही गाधारी रोज शिव की उपासना करती थी। पति के अन्धत्व की बात सुनकर विवाह के समय आँखो पर पट्टी वाँधकर वे भी अन्ध वन गई थी। पतिगृह मे अनेक कार्यो मे उनकी तीक्ष्ण वुद्धि का परिचय मिलता है। व्यासदेव ने कहा है, गाधारी महाप्रज्ञा, बुद्धिमती, धर्मार्थदर्शिनी एव अच्छे बुरे की विवेचना मे निपुण थी।[3] धृतराष्ट्र, विदुर आदि व्यक्ति भी गाधारी को दीर्घदर्शी मानते थे। अनेक विषयो मे उनकी असाधारण तेजस्विता प्रकट होती है। (दे० नारी प्रवध पृ० ६८)

कुन्ती—कुन्ती की शिक्षा के सम्बन्ध मे कोई जानकारी नही मिलती। ब्राह्मण तथा अतिथि-सत्कार का भार कुमारी अवस्था मे ही कुन्तीभोज ने उनके कधो पर डाल दिया था।[4] जतुगृह-दाह के बाद जब वे एकचक्रा नामक नगरी मे एक ब्राह्मण के घर रही थी तव अपने पुत्र भीम को राक्षस के पास भेजकर ब्राह्मण परिवार को भयानक विपत्ति से वचाया था। उनके चरित्र से पता लगता है कि वे भी अशिक्षिता नही थी।

द्रौपदी—द्रौपदी ने एक गृहशिक्षक से वृहस्पति राजनीति की शिक्षा ली थी। उनके चरित्र के वारे मे पहले ही कहा जा चुका है (दे० नारी प्रवध पृ० ६९)। पडिता, पतिव्रता, धर्मज्ञा, धर्मदर्शिनी आदि विशेषणो से उनके पाडित्य का अदाज लगाया जा सकता है।[5] द्वैतवन मे (वन २८ वाँ अ०) युधिष्ठिर के साथ हुए उनके

---

१. आदि ९८ वाँ अध्याय।

२. वेत्थ धर्मं सत्यवति परचापरमेव च। आदि १०५।३९

३. महाप्रज्ञा, बुद्धिमती देवी धर्मार्थदर्शिनी।
आगमापायतत्त्वज्ञा कच्चिदेषा न शोचति॥ आश्र २८।५। आदि ११० वाँ अ०।

४. नियुक्ता सा पितुर्गेहे ब्राह्मणातिथिपूजने। आदि १११।४

५. प्रिया च दर्शनीया च पडिता च पतिव्रता। वन २७।२
लालिता सतत राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी। शा १४।४
ब्राह्मण मे पिता पूर्वं वासयामास पंडितम्। इत्यादि। वन ३२।६०-६२

कथोपकथन से पता चलता है कि वे अनेको पौराणिक उपाख्यानो एव राजधर्म को भली भाँति जानती थी। कृष्ण के दूतरूप मे कुरु सभा मे जाने से पहले उन्होंने जो कुछ कहा था उससे भी उनके राजनीतिक ज्ञान का परिचय मिलता है। (उ० ८२ वाँ अ०)। सत्यभामा के साथ विश्रम्भालाप के समय भी (वन ३३२ वाँ अ०) उनके पातिव्रत्य धर्म की अभिज्ञता देखकर दाँतो तले उँगली दवानी पडती है। अतिथि की अभ्यर्थना किस तरह करनी चाहिए यह भी वह अच्छी तरह जानती थी। (वन २६५ वाँ अ०) अपने दैनिक कार्यों के सवध मे अपने मुख से उन्होने जो कुछ कहा है, उससे पता चलता है कि रोज हजारो आदमियो के खाने पीने का तत्वाधान उन्ही को करना पडता था। सैकडो दास दासियो के काम काज पर नजर रखना, समय पर उन्हे वेतन देना, उनके अभावादि पर लक्ष्य रखना आदि अन्त पुर के हर कार्य का भार उन्ही के कन्धो पर था। राजकोष के आय व्यय के हिसाव रखने का दायित्व भी उन्ही पर था। वह अकेली ही सव हिसाव रखती थी।[1] इतनी क्षमता तथा पाडित्य महाभारत मे दूसरी किसी भी गृहिणी मे दिखाई नही पडती।

उत्तरा—विराट् राजा की कन्या उत्तरा और उसकी सखियो ने वृहन्नला (अर्जुन) से गीत, नृत्य व वाद्य की शिक्षा ली थी। अज्ञातवास के समय अर्जुन ने विराट् राजा की पुरी मे सगीतशिक्षक के रूप मे अपना परिचय दिया था और उनके अन्त पुर की वालिकाओं के शिक्षकरूप मे नियुक्त हुए थे।[2]

माधवी—ययाति राजा की कन्या माधवी सगीत विद्या मे पारगत थी।[3] उनकी शिक्षा किस तरह हुई थी इसके बारे मे पता नही लगता।

जो कुछ उदाहरण मिले है, उनमे प्राय सभी धनी एव सभ्रात परिवारो की कन्याओ के है। साधारण समाज मे कन्याओ की शिक्षा किस तरह होती थी इसका कोई सकेत महाभारत मे नही मिलता।

शास्त्रो पर स्त्रियों का अधिकार—स्त्रियो के शास्त्र चर्चा करने के विरोध मे सिर्फ एक उक्ति मिलती है।[4] लेकिन पक्ष मे उदाहरण स्वरूप अनेको पडिताओ तथा दीर्घदर्शिनियो को लिया गया है। लगता है, वेद पर स्त्रियो का अधिकार उसी काल मे खत्म होना शुरू हो गया था। इसी कारण किसी-किसी ने शास्त्रो पर स्त्रियो का अनधिकार बताया है।

---

१. वन २३२ वाँ अध्याय।

२. स शिक्षयामास च गीतवादितम्। इत्यादि। वि० ११।१२, १३

३. बहुगन्धर्वदर्शना। उ० ११६।३

४. निरिन्द्रिया ह्यशास्त्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति श्रुतिः। अनु० ४०।१२

वेदाभ्यास द्विजाति का नित्यकर्म—प्रतिदिन वेदपाठ करना द्विजाति के नित्य-कर्मों के अन्तर्गत था। नित्यकर्मों का अनुष्ठान न करना पाप समझा जाता था। अधीत विषय की बार-बार आलोचना करने से सस्कार दृढ होते हैं। उस समय श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रो की व्याख्या की व्याख्या विस्तृति व स्थायित्व विशेपत मौखिक आलोचना पर ही निर्भर था, इस कारण ही सम्भवत स्वाध्याय की नित्यता विहित हुई है। वेदपाठ का प्रासगिक फल ब्रह्मलोक प्राप्ति माना जाता था। स्वाध्याय के गुणगान के साथ-साथ विद्यादान का गुणगान भी हुआ है। जो उपयुक्त शिष्य को उपदेश देता है उसे भूदान व गोदान का पुण्य लगता है ऐसा कहा गया है ।[1]

वेदाभ्यास हर अवस्था मे अपरित्याज्य—द्विजाति चाहे किसी भी अवस्था मे क्यो न रहे वेदाभ्यास का परित्याग नही कर सकता। राजा दुष्यन्त ने कण्वमुनि के आश्रम मे प्रवेश करते ही वेदध्वनि सुनी थी।[2] विपत्ति के दिनो मे भी गृहहीन पाडवो ने वेदाभ्यास नही छोडा। बक-राक्षस निधन के बाद जब उन्होंने ब्राह्मण के घर आश्रय लिया था तब भी रीति अनुसार दैनिक स्वाध्याय चलता था।[3] कर्ण स्वय को क्षत्रिय ही मानते थे। कर्णकुन्ती सवाद मे देखा जाता है कि कुन्ती भागीरथी की ओर जा रही थी, पुत्र से साक्षात् होने से पहले ही उन्होने वेदाध्ययन की ध्वनि सुनी थी।[4] स्वाध्याय का नित्यत्वविधान शास्त्रो की रक्षा का श्रेष्ठ उपाय है। नित्यप्रति वेदपाठ न करने से पाप होगा यह सोचकर हर ब्राह्मण थोडा-बहुत अध्ययन अवश्य करता था।

नि स्वार्थ अध्यापना—मृतकाध्यापना (विद्यार्थी से अर्थ लेकर पढाना) अत्यन्त घृणित समझा जाता था। इस तरह की अध्यापना निषिद्ध बताई गई है।[5] नि स्वार्थ अध्यापना का आदर्श उस काल के अध्यापक समाज मे विशेष रूप से आदृत माना जाता था। इस कारण दरिद्र के लिये भी उच्च शिक्षा दुष्प्राप्य नही थी। आश्रम की शिक्षा या तपोवन की शिक्षा हर विद्यार्थी के लिये उस तरह सुप्राप्य न होते हुए भी पडितो द्वारा कहानी के माध्यम से होनेवाली शिक्षा का काफी प्रसार था।

---

१. इहलोके च वा नित्य ब्रह्मलोके च मोदते। अनु ७५।१०
 यो ब्रूयाच्चापि शिष्याय धर्म्या ब्राह्मीं सरस्वतीम्। इत्यादि। अनु ६९।५
२. आदि ७० वाँ अध्याय।
३ तत्रैव न्यवसान् राजन् निहत्य बकराक्षसम्।
 अधीयाना. पर. ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने॥ आदि १६५।२
४. गंगातीरे पृथा श्रोषी द्वेदाध्ययननिस्वनम्॥ उ० १४४।२७
५. सत्यानृतेन हि कृत उपदेशी हिनस्ति हि॥ अनु १०।७४

वनपर्व मे मार्कण्डेय, वृहद्रथ, लोमश आदि मुनि-ऋषियो के नाना प्रकार के उपदेश भी सम्भवत : हमारे अनुमान के समर्थक होगे।

पर्यटक मुनि ऋषिगण—एक तरह के पर्यटक अध्यापक भ्रमण के दौरान मे उपदेश दिया करते थे। उनके द्वारा वर्णित उपाख्यान इस काल की लोकशिक्षा के प्रधान सहायक थे। वे कहानी के माध्यम से वेद-वेदान्तो के गूढ रहस्य का अत्यन्त सरल भाषा मे प्रचार करते थे। इस श्रेणी के अध्यापक बिल्कुल निर्लोभी होते थे। उनकी आवश्यकताएँ भी अधिक नही थी। जगल के फल मूल द्वारा ही उनका जीवन निर्वाह होता था। वनपर्व मे ऋषि-मुनियो की तीर्थयात्रा के वर्णन से लगता है कि वे लोग मानो चलन्त विद्यालयो की तरह उपदेश देते हुए फिरते थे।

ज्ञानविस्तार की आकांक्षा—शान्ति व अनुशासन पर्व के अनेको अध्यायो के अत मे देखा जाता है कि जनसमाज मे उपाख्यानो तथा दूसरे तत्वो को प्रकाश मे लाने के लिये महर्षि कितने उत्सुक थे। प्रकाश मे लाने वाले के न जाने कितने पुण्यो का उल्लेख किया है। प्रकाशित करने मे और कोई पुण्य चाहे होता हो या न होता हो, लेकिन सर्वसाधारण का लाभ होता था, इसमे सन्देह नही है। ऋषि-कवि की प्रकाश मे लाने की इस आन्तरिक इच्छा से भी उस काल की जनशिक्षा-प्रणाली की एक धारा से हमारा परिचय होता है।

कहानी के माध्यम से शिक्षा का विस्तार——मौखिक रूप से कहानी द्वारा शिक्षा-प्रसार की आवश्यकता उन्होने अच्छी तरह समझी थी, इसी कारण इतनी उत्सुकता थी। जनशिक्षा के लिये कहानी के माध्यम से उपाख्यानादि सुनाना कितना उत्कृष्ट था यह बात हम लोग आजकल करीव-करीब भूल गये हैं। पुराण पाठ एव सुकठ वाले कथक की कथाओ द्वारा समाज की हर श्रेणी के स्त्री-पुरुषो तक कितनी अच्छी बातें पहुँचती थी।

पुराण, इतिहास आदि की प्रचारव्यवस्था—जो पुराण, इतिहास आदि शास्त्रो के तत्व श्रद्धालु लोगो तक पहुँचाते थे उन्हे 'पक्तिपावन' के नाम से प्रशसित किया गया है।[1]

शिक्षा की व्यापकता—जनसाधारण मे मौखिक रूप से ही शिक्षा का विस्तार होता था। पुराण पाठक, कथक व अन्यान्य उपागो के उपदेष्टा पडित राजसभा मे

---

१. यतयो मोक्षधर्मज्ञा योगाः सुचरितव्रताः।
ये चेतिहासं प्रयताः श्रावयन्ति द्विजोत्तमान॥ इत्यादि। अनु ९०।
३३, ३४

विशेष रूप से सम्मानित किये जाते थे। शिक्षा प्रतिष्ठानो की सख्या बहुलता का कोई उल्लेख न होते हुए भी साधारण लोगो मे शिक्षा का जो प्रसार देखने मे आता है उससे विद्या या पाडित्य की विस्तृति के विषय मे कोई सन्देह नही रह सकता। बाजार-हाट मे, कसाईखाने मे, बनिये की दुकान पर उपनिषद् व धर्मशास्त्रो की आलोचना मे सलग्न, स्वकर्मनिरत महापडितो के साथ महाभारत के पाठक का साक्षात् होता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस यग मे विद्या-चर्चा का प्रभाव कितना अधिक था। विशेषत शिक्षा ग्रहण के आश्रम बहुत ही सीधे-साधे व आडम्बररहित थे, अत किसी प्रकार की आर्थिक कठिनाई का सवाल ही नही उठता था। अध्यापक विद्यार्थी से किसी तरह का पारिश्रमिक तो लेते ही नही थे, उस पर विद्यार्थी के अन्न-वस्त्र की व्यवस्था भी उन्ही को करनी पडती थी। पूर्व मे जो गुरुगृहो के कुछ उदाहरण देखने को मिले हैं उन सबमे यही व्यवस्था थी।

अध्यापना मे शास्त्रीय प्ररोचन—'जो अध्यापक दु ख को दु ख नही समझता वह स्वग का अधिकारी है'।[1] इस तरह की फलश्रुतियाँ या उत्साहवर्द्धक शास्त्र-वचन भी, लगता है विद्या-प्रसार मे सहायक थे। पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक आदि मे विश्वास रखने वाले आस्तिक सभवत इन वाक्यो से उत्साहित होते थे।

सशिष्य गुरु का देश-भ्रमण—अनेको अध्यापक शिष्यो के साथ देश-विदेश का भ्रमण करते थे। दुर्वासा के सशिष्य भ्रमण से लगता है कि देश देश के भ्रमण के दौरान मे हुए नये ज्ञान का सधान, अनेको अनजान प्रकृतियो से परिचय आदि भी उस काल मे शिक्षा के एक अगरूप मे ही विवेचित होते थे। किसी निर्दिष्ट स्थान विशेष तक शिक्षा सीमित नही थी। इसी कारण सर्वांगीण चित्तवृत्ति विकास के विरोधी तत्वो को पनपने का मौका नही मिलता था। इस आरण्यक शिक्षा, प्राकृतिक शिक्षा तथा पथ को शिक्षा को उस काल की एक एक विशेष शिक्षा पद्धति के रूप मे लिया जा सकता है।[2]

शिक्षा-विस्तार मे तीर्थों का सहयोग—शिक्षा के उपाय एव विस्तृति के सम्बन्ध मे गौर करने पर दो एक बातें और भी ध्यान मे आती हैं। वन पर्व या शल्य पर्व की तीर्थवर्णना मे भौगोलिक रूप से अखड भारत के परिचय के अलावा लगता है एक और उद्देश्य भी था। काशी, गगाद्वार (हरिद्वार), अयोध्या, मथुरा, द्वारका आदि तीर्थ क्षेत्रो मे साधु, महात्मा, ब्रह्मर्षि, पडित, अपडित आदि हर तरह के लोग पुण्यलाभ को इच्छा या मुक्ति-कामना से आकर इकट्ठे होते थे। तीर्थों मे महा-

---

१. अध्यापक. परिक्लेषादक्षय फलमश्नुते। अनु० ७५।१८

२. वन २६२ वाँ अध्याय।

पुरुषों द्वारा दिये गये अनेको प्रकार के उपदेश व वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास आदि की आलोचना से भी सम्भवत सभी उपकृत होते थे। तीर्थराज काशी तो अभी तक भारत का श्रेष्ठ शिक्षा केन्द्र है। महापुरुषो के समागम मे श्रेष्ठ व ग.ण विद्याओ की कैसी आलोचना होती थी, उसका प्रकृष्ट प्रमाण 'कुभमेला' है। बुद्धदेव भी धर्मप्रचार के लिए सबसे पहले काशी ही गये थे। अतएव तीर्थभ्रमण से भी शिक्षा प्रसार मे बहुत सहायता मिलती है, यह अनायास ही कहा जा सकता है। सम्भवत तीर्थ भ्रमण के प्रलोभन तथा गुणगान मे इस तरह का गूढ रहस्य भी था। तीर्थ भ्रमण का अन्यतम उद्देश्य शिक्षा मे परिणत हुआ कि नही, यह भी सोचने का विषय है।

विद्वानो की बस्ती में रहने का उपदेश—जिस देश मे विद्वान् व्यक्ति न रहते हो, शास्त्रकारो ने उस जगह को रहने के लिए अनुपयुक्त बताया है।[1] शिक्षाप्रसार के उपायो मे ये उपदेश भी उपेक्षणीय नही हैं।

यज्ञमंडप शिक्षा-प्रसार के केन्द्र—शिक्षा-प्रसार का एक और भी साधन था। प्राचीन भारत के यज्ञमडपो मे यज्ञदर्शक व्यक्तियो को पवित्र होम धूम्रसेवन के साथ-साथ अनेको प्रकार की शास्त्रीय आलोचनाएँ सुनने का भी मौका मिलता था। नाना देशो से आये हुए याज्ञिको की वेदालोचना से यज्ञभूमि निरन्तर मुखरित रहती थी। अधिकाश पुराण व इतिवृत्त यज्ञभूमि द्वारा ही जनसाधारण तक पहुँचते थे। महाभारत का प्रथम प्रचार—तक्षशिला (रावलपिंडी) मे जनमेजय के सर्पयज्ञ के मडप मे हुआ था। दूसरी आवृत्ति नैमिपारण्य मे कुलपति शौनक के द्वादश वार्षिक यज्ञ मे हुई थी। अतएव यह अनुमान बिल्कुल सही है कि यज्ञमडप भी एक विराट् शिक्षणालय का काम करते थे। यज्ञ भी उस युग मे कम नही होते थे। प्रत्येक जनपद मे याज्ञिक ब्राह्मण थे। विशेषत अग्निहोत्र उस युग मे प्रात व सायकाल के नित्यकर्मों मे गण्य था।

शिक्षा की बलिष्ठता—यद्यपि राजसमर्थन ही शिक्षा का प्रधान साधन था, तब भी इन सब साधनो द्वारा भी शिक्षा का प्रसार होता था। यद्यपि शिक्षा राज-तन्त्र के अन्तर्गत थी, राज्य के साथ उसे अविच्छिन्न रूप से जुडा रहना पडता था, तब भी राजाओ की धर्मप्रवणता एव पूरे समाज का समर्थन होने के कारण शिक्षा व्यवस्था की अपनी अबाधित गति मे कही कोई रुकावट नही पडती थी।

राजसभा मे विद्वान—उस समय भारतवर्ष मे छोटे-बडे अनेको राज्य थे। सभापर्व के दिग्विजय वर्णन मे उन सबके साथ हमारा परिचय होता है। हस्तिना-पुर या द्वारका की अपेक्षा छोटे होते हुए भी सभ्यता एव चाल-चलन मे वे सब

---

१. अनु० १६३ वाँ अध्याय।

राज्य एक ही समान थे। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ व द्वारिकापुरी की राजसभाओ मे पडित यथेष्ट आदर पाते थे।[1] हस्तिनापुर मे नारद, व्यास आदि ऋषि प्राय ही उपस्थित रहा करते थे। पडित धौम्य युधिष्ठिर के पुरोहित थे। दूसरी राजसभाओ के वर्णन मे पडितो के विषय मे विशेष उल्लेख न मिलने पर भी गुणीजनो का आदर अवश्य होता था, यह अदाज लगता है। गुणी एव पडितो को सम्मान का आसन देना राजधर्म के अन्तर्गत था। हर जगह कवि व गुणियो ने राजाओ की सहायता से ही अपनी-अपनी प्रतिभा दिखाई है। आज भी शिक्षा के विषय मे धनी व्यक्तियो का दान उल्लेखनीय है। घर मे ही चतुष्पाठी स्थापित करके अध्यापक व विद्यार्थियो का भरण पोपण करना अभी भी प्राचीनपथी धनी समाज मे आभिजात्य (कुलीनता) का लक्षण माना जाता है।

मिथिला की विद्यापीठ—वे सब निर्लोभी पडित राजसभा मे रहते हुए अनेको शास्त्रो का उपदेश देते थे, उससे भी शिक्षा मे सहायता मिलती थी। मिथिलानगरी उस काल के भारत मे शिक्षा का बृहत्तम केन्द्र थी ऐसा लगता है। वनपर्व मे देखा जाता है कि एक व्याध जो मिथिला के बाजार मे बैठकर मास विक्रय करता है, वह भी सब शास्त्रो का ज्ञाता है।[2] आचार्य पचशिख मिथिला के राजपरिवार के साथ चार साल से भी अधिक रहे थे। उस समय राजर्षि जनक ने साख्य दर्शन का अध्ययन किया था।[3] ब्रह्मचारिणी सुलभा मिथिला का सुनाम सुनकर ही वहाँ राजर्षि से मिलने गई थी।[4] हर प्रसिद्ध आचार्य को एक बार मिथिला जाना ही पडता था। माण्डव्य, पाराशर, वशिष्ठ, अष्टावक्र आदि ऋपियो को मिथिला मे राजर्पि जनक के साथ शास्त्र-चर्चा मे सलग्न पाया जाता है।[5]

धनियो के यहाँ द्वार पडित—राजर्षि की सभा मे वन्दी नामक एक बहुत वडे दार्शनिक पण्डित थे। उनके पाडित्य की ख्याति चारो ओर फैली हुई थी। उनके साथ शास्त्रार्थ करने के उद्देश्य से अनेको देशो के पडित आया करते थे। कहा गया है कि महर्पि अष्टावक्र बारह वर्प की अवस्था मे अपने मामा श्वेतकेतु के साथ

---

१ तत्रागच्छन् द्विजा राज सर्ववेदविदां वरा.। आदि २०७।३८
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे। मौ ७।८

४. वन २०५ वाँ अध्याय।

३. स यथा शास्त्रदृष्टेण मार्गेनेह परिभ्रमण।
वार्षिकाश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः॥ शा ३२०।२६

४. तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्यमिहागता॥ शा ३२०।१८६

५. शा० २७५ वाँ अ०, २९० वाँ अ०, ३०२ वाँ अध्याय।

जनक की सभा मे शास्त्रार्थ करने के लिए मिथिला गये। लेकिन बीच मे द्वाररक्षक के साथ भी थोडी चर्चा करनी पडी, बाद को वे सभा मे गये। अष्टावक्र के साथ पडित बदी का शास्त्रार्थ हुआ। विषय था 'आत्मतत्त्व'। बालक महर्षि से प्रख्यात पडित बदी शास्त्रार्थ मे पराजित हो गये।[१] मिथिला मे ब्रह्मविद्या-आलोचना का जो प्रशस्त क्षेत्र देखने मे आता है, उससे लगता है कि मिथिला नगरी विद्या-चर्चा का एक प्रधान केन्द्र थी, विशेषत. दर्शनशास्त्र की ऐसी आलोचना और कही नही होती थी।

बद्रिकाश्रम की विद्यापीठ—पहले ही कहा जा चुका है कि महर्षि द्वैपायन एक पर्वत पर अध्यापना करते थे। सम्भवत बद्रिकाश्रम ही उनकी अध्यापना का केन्द्र था। क्योकि श्रीमद्‌भागवत मे पाया जाता है कि व्यासदेव का आश्रम बद्री मे था। (वर्तमान बद्रिकाश्रम ही क्या ?) उनके आश्रम मे भी चार शिष्य होने का उल्लेख है। देवर्षि नारद भी बद्री-आश्रम मे दीर्घकाल तक रहे थे। लगता है वह आश्रम भी विद्या-चर्चा के लिए प्रसिद्ध था।[२]

नैमिषारण्य में महाविद्यालय—महाभारत के प्रारम्भ मे ही हमारा एक आश्रम के साथ परिचय होता है, उसका नाम है नैमिषारण्य। वहाँ शौणक नामक एक कुलपति ने द्वादश वर्षीय एक यज्ञ किया था।[३] कुलपति शब्द का साधारण अर्थ है जो 'कुल मे प्रधान हो'। किन्तु शब्द-शास्त्र का नियम है कि शब्द का यदि कोई और सर्वजन प्रसिद्ध (रूढ) अर्थ हो तो साधारण अर्थात् यौगिक अर्थ दुर्बल पड़ जाता है।[४] जो दस हजार शिष्यो को अन्नदान के साथ विद्यादान देता हो उसे 'कुलपति' कहते हैं। यह अर्थ रूढ है।[५] टीकाकार नीलकठ ने रूढ अर्थ ही लिया है। रूढ अर्थ ग्रहण के पक्ष मे एक तर्क यह भी है कि शिष्य सम्पद अधिक न होने पर बारह साल व्यापी एक महायज्ञ की परिचालना करना सभव नही होता। महर्षि दुर्वासा की शिष्य सख्या भी अयुत अर्थात् दस हजार मिलती है।[६] 'बहु' के अर्थ मे भी सहस्र, अयुत आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं।[७] यदि यही मान लिया जाय तो समझना

---

१. वन १३३ वाँ व १३४ वाँ अध्याय।

२. शा० ३४४ वें से ३४६ वें अध्याय तक।

३. नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे। आदि १।१

४. लब्धात्मिका सती रूढ़िर्भवेद्‌योगापहारिणी॥ (तन्त्रवार्त्तिक)

५. एको दशसहस्राणि योऽन्नदानादिना भरेत्।
स वै कुलपतिः—॥ नीलकंठ टीका, आदि १।१

६. अभ्यगच्छत् परिवृत्तः शिष्यैरयुतसम्मितैः। वन २६२।२

७. मीमांसादर्शन ६।७।३१

नाहिए कि सर्वदा गौतम बहुत से विद्यार्थियों को अन्नदान के साथ विद्यादान देते थे। जिन्हें राजसभा में सभापण्डित या द्वारपण्डित का आसन मिलता था, वे भी विद्यार्थियों से अध्यापना के पारिश्रमिक रूप में किसी भी प्रकार की दक्षिणा नहीं लेते थे। शुल्काध्यापन (शुल्क लेकर पढाना) की निन्दा के विषय में पहले ही कहा जा चुका है।

आचार्यों की वृत्ति—विद्यार्थी भिक्षा मांगते थे और लाकर गुरु को देते थे, उत्तङ्क के उपाख्यान से यह पता चलता है। गुरु सब शिष्यों को अपने परिवार का अंग बना लेते थे। शिष्य को हर प्रयोजनीय वस्तु आचार्य ही देते थे। गुरु-गृहों के जितने उदाहरण मिलते हैं, सबमें यही व्यवस्था देखने में मिलती है। खाद्य या धन संग्रह करने की किसी शिष्य की कोई चेष्टा दिखाई नहीं देती। कर्त्तव्य बोध के कारण ही मानो गुरु के उद्देश्य से भिक्षा मांगने का नियम था। जो दरिद्र आचार्य स्वतन्त्र रूप से अध्यापना करते थे उन्हें राजसरकार से कुछ दक्षिणा मिलती थी। नारद ने युधिष्ठिर से पूछा था, "तुम उपयुक्त गुणी व्यक्तियों को यथोचित दान तो देते रहते हो न?"[1]

राजकीय सहायता—जो लोग याजन, अध्यापना व विशुद्ध प्रतिग्रह आदि ब्राह्मणवृत्ति द्वारा जीविका-निर्वाह करते थे उनसे कर लेना राजा के लिये वर्जित था।[2] जिस समाज में राजधर्म के साथ समस्त शुभ अनुष्ठान अङ्गाङ्गिभाव से सम्बद्ध थे उस समाज में अध्यापकों को खाने पहनने की तकलीफ थी, यह आशंका करना निर्मूल है। (याद रहे राजनीति और राजधर्म एक नहीं है। जिस राजनीति को धर्म के अनुरूप में किया जाता था, वही राजधर्म था।)

साधारण समाज का दान—गृहस्थ आचार्य सर्वसाधारण की श्रद्धा के पात्र थे। इसीलिये यागयज्ञ में भी उनको निमन्त्रण दिया जाता था। उन्हें मिलनेवाली दक्षिणा की आय भी शायद उनके वृहत् परिवार के प्रतिपालन में सहायता करती थी। आचार्य देवशर्मा एवं आचार्य वेद को इसी तरह दक्षिणा मिलने का वर्णन मिलता है।[3] आज भी हिन्दू समाज में बड़े बड़े अनुष्ठानों में ब्राह्मण पण्डितों को विदाई देने के नियम है। देने में समर्थ होने पर सभी इसे गौरव की बात समझते

---

१. यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे? सभा। ५।५३

२. एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपति।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च॥ शा ७६।९

३. यजमाने गमिष्यामि। इत्यादि। अनु ४०।२३
अथ कस्मिंश्चित् काले वेद ब्राह्मणम्। इत्यादि। आदि ३।८२

हैं। अध्यापक-पोषण की वह प्राचीन प्रथा आज भी ब्राह्मण निमन्त्रण, एव ब्राह्मण भोजन के माध्यम से चली आ रही है।

विद्यार्थी समाज द्वारा पोषित—विद्यार्थी समाज द्वारा पोषित वर्ग मे गिने जाते थे। विद्यार्थी जिसके भी द्वार पर हाथ मे भिक्षापात्र लेकर उपस्थित हो जाता था उसे दान देना ही पडता था। विद्यार्थी सब प्रकार के विलासव्यसनो से दूर होते थे एव थोडे ही मे सन्तुष्ट हो जाते थे। इन सब कारणो से उन्हे बहुत अधिक वस्तुओ की आवश्यकता भी नही होती थी।

वर्णगत वृत्तिव्यवस्था में शिक्षा की गंभीरता—महाभारतकालीन समाज के मनीषियो ने केवल शिक्षा की व्यापकता के बारे मे ही नही, उसकी गहराई के बारे मे भी काफी सोचा-विचारा था। वर्णगत कर्म व जीविका का निर्देश होने के कारण एक श्रेणी के ज्ञानतपस्वियो को पाठन का सुयोग परम्परागत रूप से मिलता था। एक-एक अध्यापक परिवार मे परम्परागत रूप से अध्यापक की ही सृष्टि होती थी। वे अध्यापक अध्ययन व अध्यापना को धर्म के अग एव जीविका के साधनरूप मे ग्रहण करते थे। शायद यही कारण था कि अनेको प्रकार की विद्याओ का प्रसार तथा गभीरता सभव हो सकी थी। केवल व्यापकता के द्वारा ही विद्या को बचाये नही रक्खा जा सकता। किसी भी विषय मे बिना गहन अध्ययन के, अधूरे ज्ञान से अध्यापना नही की जा सकती। इन्ही सब कारणो से अध्यापना एक श्रेणी के लोगो की जीविका रूप मे गण्य थी। विद्या की यथेष्ट गहनता के बिना महाभारत जैसा ग्रन्थ नही रचा जा सकता था।

शिक्षा के साथ वास्तविकता का संबंध—शिक्षा के साथ जीवन का एक विशेष सबध था। स्वावलम्बी, कष्टसहिष्णु किस तरह बना जा सकता है आदि विषयो के बारे मे व्यावहारिक रूप से जानने का सुयोग उस काल मे मिलता था। गुरुगृह ही इसका केन्द्र था। सच्ची तपस्या द्वारा विद्यार्थी का चरित्र उन्नत बनता था। विशुद्ध मनुष्य तैयार करने के लिये जिन आदर्शों की सहायता की आवश्यकता होती है, वे आदर्श लोभ व अभिमानहीन आचार्यकुलो मे अखड रूप से विराजमान रहते थे। समचे महाभारत मे शिक्षा के जिस ऐश्वर्य से हमारा साक्षात्कार होता है, उस ऐश्वर्य का उन्नत राजप्रासादो मे प्रादुर्भूत न करके अरण्यो तथा पर्वततटो पर प्रादुर्भूत करने मे भी एक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति लक्ष्य की जा सकती है।

जीवनव्यापी शिक्षा का काल—कहा गया है कि गुरु की शुश्रूषा से एक चरण, परस्पर शास्त्रीय आलोचना द्वारा दूसरा चरण, उत्साह द्वारा तीसरा चरण एव बुद्धि की परिणति के साथ-साथ चौथे चरण रूप मे विद्यालाभ किया जा सकता

है।[१] इस उक्ति से पता चलता है कि विद्वानो ने सम्पूर्ण जीवन को ही विद्या शिक्षा के कालरूप मे लिया था। समावर्त्तन होने से ही शिक्षा का अत हो गया, यह अभिप्राय नही था।

विद्या की सार्थकता चरित्रगठन एवं पुण्यकर्म मे—मनुष्य के चरित्र एव कर्म द्वारा उसकी शिक्षा-दीक्षा का अदाज लगाया जा सकता है। एकमात्र चरित्रगठन ही शिक्षा का प्रधान लक्ष्य था। महाभारत मे दो स्थानो पर कहा गया है कि विद्या की सार्थकता चरित्रगठन एव पुण्यकर्म मे है।[२]

चरित्रहीन व्यक्ति की विद्या निष्फल है। जिस प्रकार कुत्ते के चमडे से निर्मित पात्र मे रक्खा हुआ घी यज्ञादि के काम मे नही लाया जा सकता, उसी प्रकार चरित्र-हीन व्यक्ति की विद्या से उसका अपना या समाज का कोई उपकार नही होता।[३]

---

१. कालेन पादं लभते तथार्तम्। इत्यादि। उ० ४४।१६

२. शील वृत्तफलं श्रुतम्। सभा० ५।११२। उ० ३९।६६

३. कपाले यद्वदापः स्युः श्वदतौ च यथा पयः। इत्यादि। शा० ३६।४२

जीविका-व्यवस्था

समाज-परिचालन की सुव्यवस्था के निमित्त विभिन्न वर्ण एव जाति विभिन्न प्रकार की वृत्तियो अथवा जीविका का विधान वनाया गया था।

जीविका-व्यवस्था की प्राचीनता—महाभारतकार कहते है कि यह जीविका-व्यवस्था मनुष्यकृत नही है। प्रजावर्ग की सृष्टि से पहले ही प्रजापति ने उसकी जीविका की व्यवस्था कर दी थी। मनुष्य के जन्म से पहले ही उसकी वृत्ति निश्चित रहती है। यह वृत्ति मनुष्य को उत्तराधिकार के सूत्र से प्राप्त होती है।[1]

जातिवर्णभेद मे जीविका भेद—जातिवर्णभेद मे पृथक्-पृथक् कर्म की व्यवस्था होने से समाज मे जीविका की कोई समस्या दिखाई नही देती। एक वर्ण के सामाजिक अधिकारो मे दूसरे का प्रवेश विलकुल निषिद्ध था। वहुत ही आवश्यक हो जाने पर, आपत्तिकाल मे प्राण वचाने के निमित्त यद्यपि थोडे-वहुत व्यतिक्रम का अनुमोदन किया गया है पर वह भी वहुत सावधानीपूर्वक। सम्पूर्ण मानव समाज की विधाता के शरीर रूप मे कल्पना की गई है। ब्राह्मण को मस्तक, क्षत्रिय को वाहु, वैश्य को ऊरु एव शूद्र को पाद माना गया है। किसी की भी उपेक्षा करने से समाज नही चल सकता। परस्पर एक दूसरे का अविच्छिन्न सम्वन्ध स्वीकृत हुआ है। प्रत्येक का लक्ष्य समाज रूपी शरीर की परिपुष्टि करना है। वृत्तिव्यवस्था मे यह लक्ष्य स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। निष्ठा सहित अपने-अपने कार्य द्वारा समाज के एक-एक अश का कल्याण करना एव समाज को परिपूर्ण आदर्श मानवसमाज रूप मे गठित करना ही सभवत वृत्तिव्यवस्था का उद्देश्य था।

जीविका भेद का फल—आलोचना से ऐसा लगता है कि पृथक्-पृथक् वर्ण व जाति के उद्देश्य से पृथक्-पृथक् वृत्ति की जो व्यवस्था की गई थी उसका प्रधान उद्देश्य था समाज के गठन मे सामञ्जस्य वनाये रखना। वृत्ति का नियम न होने पर काम को लेकर आपस मे सघर्ष होने के फलस्वरूप विद्रोह की आशका रहती है। किसी का कोई अनिष्ट किये विना अपने परिवार का पालन करने वाली व्यवस्था को महाभारत मे श्रेष्ठ धर्मरूप मे स्वीकृत किया गया है। किसी के भी साथ द्रोह

---

१. असृजद्वृत्तिमेवाग्रे प्रजाना हितकाम्यया। अनु ७३।११

पूर्वं हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति। वन २०७।१९। वि० ५०।४

किये विना शान्त भाव से अपना कार्य करते जाना ही वृत्ति-नियन्त्रण का श्रेष्ठ आदर्श था। 'किसी की भी जीविका के साधन से हमारे जीविका साधन का सघर्ष न हो' इस प्रकार विवेचनापूर्वक श्रद्धा सहित कुलोचित कर्म का अनुष्ठान करना महाभारत की वृत्तिव्यवस्था का सार है।[1]

कुलोचित वृत्ति सर्वथा अपरित्याज्य—उत्तराधिकारसूत्र से जिस वशोचित कर्म पर मनुष्य का अधिकार होता है, वह अगर असाधु कर्म भी लगे तो भी उसका परित्याग करना अनुचित है। अपने जन्मजात कर्मो को करने से अगर मृत्यु हो हो जाय तो वह भी श्रेय है, लेकिन दूसरे के आचरणीय कर्म करना वहुत ही भयावह है, उसका परिणाम सुखकर नही होता।[2] जो कुलोचित कर्म पूर्वजो की परम्परा से चले आ रहे हो, उन्ही का अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। किसी भी अवस्था मे वह परित्याज्य नही है।[3]

स्वधर्मपालन का फल एव उपेक्षा से क्षति—जन्मजात अधिकार से जिन कर्मो को करना मनुष्य का कर्त्तव्य है, उनकी उपेक्षा करने से निन्दा एव पाप का भागी बनना पडता है। जो अपने-अपने जातिगत कर्मों मे रत रहते है वे सिद्धि लाभ करते हैं। दूसरे के कर्मो का दोषरहित पालन करने की अपेक्षा अपने कर्मो के अनुष्ठान मे अगर कुछ गलती भी हो तो वह अच्छा है। जातिगत कर्मो के अनुष्ठान मे स्खलन का भय नही होता।[4] भगवद्गीता के अध्ययन से समझा जा सकता है कि उसका सार ही स्वधर्म पालन है। यदि इस वात को अस्वीकृत किया जाय तो अर्जुन को दिये गये भगवान कृष्ण के उपदेशो का कोई मतलव ही नही होता। युद्धक्षेत्र मे जव अर्जुन को ब्राह्मणसुलभ वैराग्य हुआ तव उन्हे ब्राह्मणोचित क्रियाकलापो के बारे मे थोडा उपदेश देकर खत्म कर देना चाहिये था, क्यो श्रीकृष्ण ने बार बार अर्जुन को क्षत्रियधर्म स्मरण कराया, अध्याय पर अध्याय, केवल अर्जुन को क्षात्रधर्म समझाने की चेष्टा मे रच डालने की क्या जरूरत थी?

---

१. अद्रोहेनैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्ति स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले॥ शा २६१।६
२. सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। भी० ४२।४८
स्वधर्मे निधन श्रेय. परधर्मो भयावहः। भी० २७।३५
३. कुलोचितमिद कर्म पितृपैतामह परम्। वन २०६।२०
४. ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि। भी० २६।३३
स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर। भी० ४२।४४
श्रेयान् स्वधर्मो विगुण परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। भी० ४२।४७

कुलधर्म कभी भी परित्याज्य नहीं है—वनपर्व के द्विज-व्याध-सवाद एव शान्तिपर्व के तुलाधार-जाजलि-सवाद मे यह बात विस्तृत रूप से कही गई है; विशेषत उपदेश के द्वारा प्रकट न करके उपाख्यान के द्वारा वक्तव्य विषय को स्पष्ट करने की अधिक कोशिश दिखाई देती है। (देखिये ९७ वाँ व ९८ वाँ पृ०) उल्लिखित दोनो उपाख्यानो से पता लगता है कि वशपरम्परागत सामाजिक अधिकारो का व्यतिक्रम करना उस युग मे युक्तिसगत नही कहा जा सकता था, उनका यथोचित रूप से प्रतिपालन करने मे ही समाज का कल्याण समझा जाता था। एकमात्र वर्णाश्रम धर्म एव उसके आधार-अनुष्ठान को लक्ष्य मे रखकर ही महाभारत की वृत्तिव्यवस्था की गई है। सम्पूर्ण मानवसमाज के साधारण-आचरणीय कर्म के सबध मे महाभारत मे बहुत कुछ कहा गया है। ठीक है पर उन सबकी हम इस प्रबध मे आलोचना नही करेंगे।

मनुष्य का साधारण धर्म—अनृशसता, अहिंसा, अप्रमाद, आतिथेयता, सत्य, अक्रोध, क्षमा आदि गुण मानवसमाज के लिए कल्याणप्रद है। इनके अभाव मे मनुष्य को मनुष्य नही कहा जा सकता।[1]

ब्राह्मण की वृत्ति—ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय, इस तरह वर्ण स्थिर करना ही जीविका का विधान बनाना है। ऐसा नही करने से कितने ही असगत विरोधो की सभावना रहती। 'चातुर्वर्ण्य' प्रबध मे यह आलोचित किया जा चुका है। (देखिये ९७ वाँ पष्ठ) यज्ञ, अध्ययन एव दान—ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य तीनो के ही कर्त्तव्य हैं। याजन, अध्यापना करने वाले एव शुचि व स्वधर्म-निरत व्यक्ति से दान लेना ब्राह्मण का धर्म है। ब्रह्मचर्य, तपस्या एव सत्य ब्राह्मण के लिए सर्वदा प्रतिपाल्य हैं।[2] अध्ययन, अध्यापना, यजन, याजन, दान व प्रतिग्रह ये छह ब्राह्मण के कर्म है। इन छह मे अध्यापना, याजन व प्रतिग्रह ही जीविका के साधन हैं। भिक्षावृत्ति भी ब्राह्मण के लिये गौरवान्वित समझी जाती थी।[3]

किसी को दुख नहीं देना चाहिये—ब्राह्मण को जीविका-निर्वाह इस तरह करना चाहिये जिससे किसी को कष्ट नही पहुँचे। किसी दूसरे की वृत्ति के साथ

---

१. आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता। इत्यादि। शा २९६।२३, २४

२. यज्ञाध्ययनदानानि त्रयः साधारणाः स्मृताः। वन १५१।३४
याजनाध्यापनं विप्रे धर्मश्चैव प्रतिग्रहः। वन १५१।३५। वन २०६।२५

३. अधीयीत ब्राह्मणो वै यजेत। इत्यादि। उ २९।२३। अश्व ४५।२१
कपालं ब्राह्मणैर्वृतम्। इत्यादि। उ ७२।४७। उ १३२।३। शा० २३४ वाँ अ०। अनु० १४१।६७-६९

अपनी वृत्ति का किसी तरह का सघर्ष न हो इस वात का विशेष रूप से ख्याल रखना चाहिये। स्वल्पसन्तुष्टि भी ब्राह्मण की जीविका की सहायक होती है। अधिक का प्रयोजन न हो तो थोडे मे ही जीविका चल जाती है।[1]

अर्थसचय निषिद्ध—ब्राह्मण की सचयवुद्धि नही होनी चाहिये। यजमान शिष्यादि से ब्राह्मण को दान मे जो कुछ मिले, वह सिर्फ उदरान्न के निमित्त उसका व्यवहार नही कर सकता। उस अर्थ से उसे यज्ञ एव दान ये दोनो कर्म भी करने जरूरी है। अपने द्वारा पोषितो के भरण-पोषण के अलावा और कोई सामाजिक दायित्व ब्राह्मण पर नही था। दूसरे सव दायित्व राजधर्म के अन्तर्गत आते थे।[2]

प्रतिग्रह निन्दनीय—ब्राह्मण की वृत्ति रूप मे स्थान पाने पर भी प्रतिग्रह उस काल मे अन्य वृत्तियो की अपेक्षा निन्दनीय समझा जाता था। विशेषत राजा से दान लेना तो वहुत ही निन्दनीय माना जाता था। दान लेने से ब्राह्मण की तेजस्विता नष्ट हो जाती है अतएव वहुत से ब्राह्मण उस युग मे प्रतिग्रह को विष के समान परित्याज्य समझते थे।[3]

उपयाज का अप्रतिग्रह—राजा द्रुपद के कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण उपयाज को अपने पुत्रेष्टि यज्ञ मे ऋत्विक के पद पर आसीन करने के निमित्त वहुत कोशिश की थी, किन्तु तेजस्वी ब्राह्मण उपयाज किसी भी तरह तैयार नही हुए। उनके पाँव पकडने पर एव प्रचुर धन का लोभ दिखाने पर भी राजा का मनोरथ सफल नही हुआ था।[4]

पतित से प्रतिग्रह व अयाज्ययाजन विशेष रूप से निषिद्ध—शुचि व विशुद्ध पुरुष से दान लेना ही जव समाज मे निन्दनीय समझा जाता था तो अशुचि, पतित का दान विल्कुल ही अग्राह्य होगा यह आसानी से समझा जा सकता है। अयाज्ययाजन एव पतित से प्रतिग्रह दोनो ही ब्राह्मण के लिए विल्कुल निषिद्ध है।[5] वनपर्व के अन्तर्गत मार्कण्डेय समस्यापर्व मे ब्राह्मण की प्रशसा करते हुए कहा गया है—प्रतिग्रह याजन, अध्यापना आदि किसी से भी ब्राह्मण को दोष नही लगता, ब्राह्मण

---

१. वन २०८।४४। शा० २३४।४

२. यजेद्दद्यान्नैकऽश्नीयात् कथञ्चन। शा० २३३।१२। शा ६०।११

३. प्रतिग्रहेण तेजो हि विप्राणा शाम्यतेऽनघ। अनु ३५।२३। अनु ९३।३४, ३६, ४०-४२

४. आदि १६७ वाँ अध्याय।

५. पतितात् प्रतिगृह्याथ खरयोनौ प्रजायते। अनु १११।४६
अयाज्यस्य भवेदृत्विक्। इत्यादि। अनु ९३।१३०। अनु० ९४।३३

प्रज्वलित अग्नि के समान होता है।[1] इस उक्ति का उद्देश्य है ब्राह्मण की प्रशसा करना, यह तात्पर्य नही है कि अयाज्य याजन व पतित के प्रतिग्रह मे भी पाप नही है।

किसी-किसी ब्राह्मण का असाधु आचरण—उत्सव आदि मे अनेक ब्राह्मण निमन्त्रण न मिलने पर भी राजमहल मे जाते थे, दान लेने मे भी उन्हे कोई आपत्ति नही होती थी वरन् उससे आनन्दित ही होते थे।[2]

ब्राह्मण का आपद्धर्म—शास्त्रविहित वृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह करने मे बिल्कुल ही असमर्थ होने पर ब्राह्मण के लिए अन्य प्रकार की व्यवस्था भी थी। बहुत ही सकटापन्न अवस्था हो जाने पर बीच-बीच मे दूसरे की जिस वृत्ति को ग्रहण करना पडता था उसी का नाम 'आपद्धर्म' था। अपनी वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करने मे जो ब्राह्मण अशक्त हो उसे क्षत्रिय या वैश्य की वृत्ति ग्रहण करनी चाहिये। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्यकर्म बिल्कुल ही मजबूर होने पर अवलम्बनीय हैं।[3] जिस ब्राह्मण के परिवार मे पोष्यसख्या अधिक हो वह निरुपाय होकर कृषि, वाणिज्य, कुसीद (सूद लेना), भिक्षा आदि वृत्ति का अवलम्बन ले सकता है। जिसके परिवार मे लोकसख्या कम हो, उसे याजन, अध्यापना या प्रतिग्रह द्वारा ही अपने परिवार का पोषण करना चाहिये। उछवृत्ति उपाख्यान मे (शा० ३५२ वे से ३६५ वाँ अ०) उस वृत्ति की विशेष रूप से प्रशसा की गई है। जमीन पर गिरे हुए धान्यादि शस्यो के कणो को इकट्ठा करके उससे जीविका निर्वाह करने का नाम 'उछवृत्ति' है। अनाज की बालियाँ या बालियो के गुच्छे इकट्ठे करने का नाम 'शिलवृत्ति' है। उछ अथवा शिलवृत्ति 'ऋत' अर्थात् निष्कलुष होती है। इससे किसी का भी अनिष्ट नही होता। बिना माँगे जो स्वय आ जाय, उसकी सज्ञा 'अमृत' है। ब्राह्मण के लिए यह उछ व अमृतवृत्ति सबसे उत्तम है। समाज मे यही वृत्तियाँ गौरवान्वित समझी जाती थी। यद्यपि भिक्षा को भी वृत्ति रूप मे स्थान दिया गया है, किन्तु मनु के मत से वह अत्यन्त ग्लानिजनक है। इसी कारण उसकी सज्ञा 'मृतवृत्ति' है। आपत्काल मे ग्रहणीय कृषिवृत्ति को भी मनु ने 'प्रमृत' की सज्ञा दी है। बहुत से

---

१. नाध्यापनाद् याजनाद्वा अन्यस्माद्वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणा ज्वलिताग्निसमा द्विजाः॥ वन १९९।८७

२. एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिर्वत्स्वय॥ आदि १८४।१७

३. अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्त्तयेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये॥ शा० ७८।२

भूमिस्थ जीवो का नाश होने के कारण वह भी समदर्शी ब्राह्मण के लिये निन्दनीय है। वाणिज्य मे झूठ-सच दोनो मिश्रित होते हैं, इसलिए उसकी दूसरी सज्ञा 'सत्यानृत' है। इन सब सज्ञाओ से वृत्तियो के आपेक्षिक उत्कर्ष व अपकर्ष समझे जा सकते है।[1] महाभारत मे इन सब सज्ञाओ का उल्लेख न होते हुए भी गार्हस्थ्य धर्म के प्रकारान्तर मे इसके बारे मे कहा गया है। (द्र० चतुराश्रम पृ० १०३) युद्ध विग्रह आदि भी ब्राह्मण का धर्म नही है, तब भी आपत्तिकाल मे ब्राह्मण का शस्त्रग्रहण महाभारत द्वारा अनुमोदित है। आत्मरक्षा, वर्णाश्रम धर्म की रक्षा एव दुर्दान्त दस्युओ आदि को सजा देने के निमित्त ब्राह्मण का शस्त्रग्रहण दूषणीय नही है। अगस्त्य ऋषि का मृगया करने का उल्लेख भी पाया जाता है। मृगया भी क्षत्रिय का ही धर्म है, ब्राह्मण का नही।[2]

आपत्तिकाल मे भी ब्राह्मण के लिये अविक्रेय—आपत्तिकाल मे वैश्यवृत्ति का अवलम्बन लेने पर भी ब्राह्मण सुरा, लवण, तिल, पशु, मधु, मास एव अन्न का विक्रय नही कर सकता।[3]

शूद्रवृत्ति वर्जनीय—ब्राह्मण चाहे कितने भी सकट मे क्यो न पडे पर किसी भी अवस्था मे शूद्रवृत्ति ग्रहण नही कर सकता। परिचर्या रूप शूद्रवृत्ति ग्रहण करने से ब्राह्मण की पदच्युति होती है।[4]

आपत्तिकाल मे भी वर्जनीय—कुछ कार्य हर अवस्था मे ब्राह्मण के लिए वर्जनीय है। जीविका निर्वाह के लिये ब्राह्मण चिकित्सा, पुराध्यक्षता एव सामुद्रिक विद्या (हस्तरेखा विचार आदि) कभी भी ग्रहण नही कर सकता। राजा की पुरोहिती भी अतिशय निन्दनीय है। सम्पत्ति के लोभ मे वृषली नारी (शूद्रा एव पुनर्भू) का पतित्व स्वीकार करना भी बिल्कुल निषिद्ध है। जीविका के लिये धनवान की खुशामद करना भी वर्जनीय है।[5]

ब्राह्मण की सन्तुष्टि—उल्लिखित आलोचना से पता चलता है कि वृत्ति के

---

१. ऋतुमुछशिलं ज्ञेयममृत स्यादयाचितम्।
मृतन्तु याचित भैक्षं प्रमृत कर्षण स्मृतम्॥ मनु ४।५

२ आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्दम्यनियमेषु च। इत्यादि। शा ७८।३४।२९
अगस्त्यः सत्रमासीनश्चकार मृगयामृषि·। आदि ११८।१४

३. सुरा लवणमित्येव तिला केशरिण· पशून्। इत्यादि। शा ७८।४-६

४. शूद्रधर्मा यदा तु स्याओदा पतति वै द्विज.। शा २९४।३

५. चिकित्सकः काण्डपृष्ठः पुराध्यक्षः पुरोहित.। इत्यादि। अनु १३५।११
वन १२४।९ उ० ३८।४। अनु ९४।२२, ३३। अनु ९३।१२७, १३०

सकोच एव दरिद्रता के कारण कभी-कभी ब्राह्मण को अपनी तेजस्विता से भ्रष्ट नही होना चाहिये, शास्त्रविरुद्ध कर्म के द्वारा अर्थोपार्जन की चेष्टा नही करनी चाहिये। कष्टसाध्य वृत्ति ही ब्राह्मण का भूषण है।

पुरोहित नियोग व उनका कर्त्तव्य—पुरोहित के पद पर किसी शिक्षित आचारवान् ब्राह्मण को नियुक्त करना राजाओ का आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था। राजा का कल्याण मुख्य रूप से पुरोहित पर ही निर्भर होता था। पुरोहित राजा के धर्म-कर्म मे नियुक्त रहते थे, किसी सम्मानित अतिथि के आने पर उसे मधुपर्क आदि प्रदान करते थे।[१] अतएव यह समझा जा सकता है कि उस समय राजसभा मे पुरोहित की भी यथेष्ट उपयोगिता थी। पुरोहितो का पद दूसरे अमात्यो की अपेक्षा ऊँचा ही होता था। पुरोहित धौम्य का युधिष्ठिर पितृवत् सम्मान करते थे, महाभारत की आलोचना से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है।

पौरोहित्य वृत्ति की निन्दा का कारण—पौरोहित्य की इतनी निन्दा करने का कारण ढूँढने पर सबसे पहले जो बात ध्यान मे आती है वह यह है कि पौरोहित्य भी एक तरह की राजसेवा मे गण्य था। जहाँ सेव्यसेवक का भाव रहता है, वहाँ स्वामी का मन रखते हुए चलना पडता है। बहुत बार अनिच्छा होते हुए भी अपनी विवेक-बुद्धि के प्रतिकूल काम करना पडता है। इस तरह की दास्यवृत्ति से अपनी स्वतन्त्रता या तेजस्विता की रक्षा करना सभव नही हो पाता।

यजमान ऋत्विक के ऊपर भी काफी आधिपत्य जमाते थे। किसी-किसी यजमान की इस तरह की मनोवृत्ति महाभारत के पूर्वकाल मे भी मिलती है। अश्वमेध पर्व के सवर्त्तमरुत्तीय प्रकरण के इन्द्र बृहस्पति सवाद मे इन्द्र की एक दर्पयुक्त उक्ति मे स्वामी सुलभ मनोभाव स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। नृपति मरुत्त देवगुरु बृहस्पति को यज्ञ मे ऋत्विक का पद देना चाहते थे, बृहस्पति के देवराज से अनुमति माँगने पर उन्होने कहा, "मरुत्त के यज्ञ मे नियुक्त होने पर फिर हमारे यहाँ आपकी जरूरत नही रहेगी।[२]

दूसरे की स्तुति करना साधारणत ब्राह्मणो के लिये आसान नही था। ब्राह्मण का मन तो सरल होता था और वचन कठोर। सर्वसाधारण की धारणा थी कि

---

१. य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्त्तयेत्।
स एव राज्ञा कर्त्तव्यो राज राजपुरोहितः॥ शा ७२।१। शा ७४।१। शा० ९२।१८। आदि १७४।१३। आदि १८३।६। उ ३३।८३। उ ८९।१९

२. मा वा वृणीष्वं भद्र ते मरुत वा महीपतिम्।
परित्यज्य मरुत वा यथा जोषं भजस्व माम्॥ अश्व ५।२१

ब्राह्मण कडी भापा का प्रयोग करते हैं।[1] पुरोहिती मे दूसरे का मन देखकर काम करना पडता था, इसीलिए शायद यह वृत्ति ब्राह्मण के स्वभाव के प्रतिकूल होने के कारण ममाज मे प्रशसित नही हुई। देवयानी के प्रति शर्मिष्ठा की एक सगर्व उक्ति से पता लगता है कि अत्यन्त प्रभावशाली पुरोहित को भी स्वामी को मनस्तुष्टि के निमित्त खुशामद करनी पडती थी। शर्मिष्ठा कहती है, "तुम्हारे पिता (आचार्य शुक्र) हमेशा विनीत भाव से स्तावक की तरह मेरे पिता की स्तुति करते रहते हैं।"[2] साधारण लोग पुरोहिती को असम्मानजनक कार्य समझते थे। पूर्वजन्म के दुष्कर्मों के फल से ब्राह्मण पौरोहित्य वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करते है, सर्वसाधारण की यही धारणा थी। इसीलिए याजन को यद्यपि वृत्ति रूप मे स्थान मिला है, पर महाभारत मे कही भी उसकी प्रशस्तता स्वीकृत नही हुई है।[3] अधिकतर तेजस्वी ब्राह्मण पौरोहित्य वृत्ति ग्रहण नही करते थे। ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत अध्यात्मरामायण मे भी वशिष्ठ की एक उक्ति मे पौरोहित्य की निन्दा पाई जाती है। रघुकुल गुरु वशिष्ठ भगवान रामचन्द्र से कहते है, "पौरोहित्य गर्हित एव दूषणीय वृत्ति है यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ, किन्तु तुम्हारा आचार्य बन सकने की आशा से ही मैंने गर्हित कार्य करना भी स्वीकार किया है।"[4]

अप्रतिग्राही ब्राह्मण की रक्षा करना राजधर्म—ब्राह्मण की रक्षा का भार विशेषत क्षत्रियो पर था। जो ब्राह्मण याजन व प्रतिग्रह न करके शास्त्रचिन्तन मे रत रहते थे, उनकी जीविका की व्यवस्था राजा करता था। जो प्रतिग्रह द्वारा जीवन यापन करते थे उनके भी अभावादि की तरफ नजर रखना राजा का कर्त्तव्य था।[5]

अध्यापक को राजकोप से कैसी सहायता मिलती थी, उसके बारे मे 'शिक्षा प्रबन्ध' मे कहा जा चुका है। एक श्रेणी के ब्राह्मणो की वही जीविका थी।

---

१. अतितीक्ष्णन्तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मति.॥ उ २१।४। आदि ३।१२३

२ आसीनञ्च शयानञ्च पिता ते पितर मम।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत्। इत्यादि। आदि ७८।९, १०

३ एतेन कर्मदोषेण पुरोधास्त्वमजायया॥ अनु० १०।५६

४ पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम्। इत्यादि। अयोध्या का० २।२८

५. प्रतिग्रह ये नेच्छयुस्तेभ्यो रक्ष्यं त्वया नृप। अनु० ३५।२३। अनु० ८।२८

ब्रह्मत्र भूमि—राजा ब्राह्मणो को बिना कर की जमीन दान करते थे। इस दान से भी बहुत से ब्राह्मणपरिवार वश-परम्परागत सुख चैन से जीवन बिताते थे।[१]

ब्राह्मण के लिये राजाओं का कृपण वैश्य से धनग्रहण—ब्राह्मण की रक्षा करने के उद्देश्य से राजाओ को कृपण वैश्यो का धन बलपूर्वक हरण करने का अधिकार था। उसमे किसी तरह के पाप की आशका नही थी, बल्कि इस तरह की जबर्दस्ती धर्म-कार्यों मे ही गण्य थी।[२] ब्राह्मण को अगर किसी भी तरह की तकलीफ होती थी तो उसके लिए क्षत्रिय ही दोषी समझा जाता था। ब्राह्मण का धन अपहरण करना अत्यन्त दूषणीय माना जाता था। ब्राह्मण को वेदाध्ययन, अध्यापना, यज्ञ आदि मे सलग्न रहकर समाज का कल्याण करने का सुयोग मिले इस ओर पूरा समाज सदा सतर्क रहा करता था। ब्राह्मण भी ज्ञान-विज्ञान के अनुशीलन से समाज को उपकृत किया करते थे।[३]

क्षत्रिय की वृत्ति—क्षत्रिय को अपने बाहुबल द्वारा समाज पर शासन करना चाहिये। दूसरे किसी की जीविका के साधन पर आँच न आये, इस ओर लक्ष्य रखना उनका आवश्यक कर्त्तव्य था। दुष्टो का दमन, शिष्टो का पालन, युद्ध मे पराक्रम-प्रदर्शन, दक्षता आदि उनका स्वभावगत धर्म था। अपने धर्म मे सलग्न रहकर जो कर प्रजा से ले उससे प्रजा की सुख-सुविधाओ की व्यवस्था करके अपना जीवननिर्वाह करना चाहिये।[४] दान लेना क्षत्रिय के लिये सर्वथा अनुचित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चारो वर्णो से अपना-अपना धर्म प्रतिपालित करवाना क्षत्रिय का धर्म है।[५]

समाजसेवा के फलस्वरूप करग्रहण—प्रजा से पैदावार का छठा हिस्सा कर रूप मे लिया जाता था, वही क्षत्रियो की जीविका का अवलम्बन था। किन्तु इस प्रकार कर लेना भी कम दायित्वपूर्ण नही था। प्रजा का सुख दुःख, विशेष रूप से

---

१. कच्चिद्दायां मामकान् धार्त्तराष्ट्रौ द्विजातीनां सञ्जय नोपहन्ति। उ० २३।१५ सभा ५।११७। शा ८९।३। शा ५९।१२५

२. अदातृभ्यो हरेद्वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः॥ शा १६५।१०

३. ब्राह्मणस्वं न हर्त्तव्यं पुरुषेण विजानता।
ब्राह्मणस्वं हृतं हन्ति नृगं ब्राह्मणगौरिव॥ अनु ७०।३१

४. पालनं क्षत्रियाणां वै। वन ५०।३५। उ १३२।३०। शा ६०।१३-२०

५. न हि धर्मः स्मृतो राज क्षत्रियस्य प्रतिग्रहः। शल्य ३१।५५
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते देवलोके। शा २५।३६

राजकार्यपरिचालन पर निर्भर रहता था। अतएव स्वधर्मानुसार जीविका निर्वाह करते हुए क्षत्रिय को भी अक्लान्त रूप से समाजसेवा करनी पडती थी। समाजसेवा या राज्यशासन के लिये प्रयोजनीय दडनीति पर एकमात्र राजाओ का ही अधिकार था। राष्ट्रनीति के अध्ययन से पता लगता है कि राष्ट्रपालन के पारिश्रमिक स्वरूप जो कर अदा किया जाता था, वही क्षत्रिय की वृत्ति या जीविका निर्वाह का निर्दिष्ट साधन माना जाता था।[1]

मृगया—शिकार मे पशुवध करना क्षत्रिय के लिये दूषणीय नही समझा जाता था वरन् प्रशस्त कहा जाता था।[2]

युद्ध क्षत्रिय की वृत्ति नहीं—यद्यपि युद्ध क्षत्रिय के धर्म मे परिगणित था लेकिन वह उनकी वृत्ति का साधन नही था। केवल बुराइयो को खत्म करने के उद्देश्य से युद्ध करना ही उनका धर्म माना जाता था।[3]

क्षत्रिय की कष्टसहिष्णुता—ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय मे कष्ट सहने की क्षमता कही अधिक होती थी। कर्ण व परशुराम के उपाख्यान से इसका अनुमोदन होता है। कर्ण की कीटदर्शन सहन करने की अद्भुत क्षमता देखकर ही परशुराम ने अदाज लगाया था कि वह ब्राह्मण नही क्षत्रिय हैं।[4] शायद इसी कारण शारीरिक कष्टसाध्य वाले कठोर कार्य क्षत्रियो के अधीन थे। जीविका निर्वाह के लिये भी उन्हे अपनी वीरता का प्रदर्शन करना पडता था।

आपत्तिकाल मे अन्य वृत्ति ग्रहण—आपत्ति काल मे क्षत्रिय भी अपनी वृत्ति का त्याग कर देते थे। कहा गया है कि परशुराम के डर से द्रविड, आभीर, पुण्ड्र, शबर आदि क्षत्रियो ने स्वेच्छा से शूद्रत्व का वरण कर लिया था।[5]

क्षत्रिय के आपद्काल मे अन्य वर्ण का राज्यशासन—क्षत्रिय के आपदग्रस्त

---

१. क्षत्रियस्य स्मृतो धर्म· प्रजापालनमादितः। इत्यादि। अनु १४१।४७-५३। शा ९१।४

२. आरण्याः सर्व्वदैवत्या सर्वश. प्रोक्षिता मृगाः।
अगस्त्येन पुरा राजन् मगया येन पूज्यते।। अनु० ११६।१६

३ युध्यस्व निरहकारो बलवीर्यव्यपाश्रय.।। भी १२२।३७

४ अतिदु.खमिद मूढ़ न जातु ब्राह्मण. सहेत्।
क्षत्रियस्येव ते धैर्यं कामया सत्यमच्यताम्।। शा ३।२५

५. एव ते द्रविडाभीराः पुण्ड्राश्च शवरै. सह।
वृषलत्व परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिण·।। अश्व २९।१६

होने पर दूसरे वर्ण के व्यक्ति को राज्यशासन करने का अधिकार था। ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र हर एक का इस पर अधिकार माना गया है।[१]

ब्राह्मण व क्षत्रिय का परस्पर मिलन—ब्राह्मण व क्षत्रिय दोनो को मिलकर काम करने के उद्देश्य से अनेको उपदेश दिये गये है। जीविका के विषय मे इसकी कोई विशेष उपयोगिता न होते हुए भी राष्ट्रीय सुख-शान्ति एव सामाजिक दिशा की ओर से लक्ष्य करने पर इसकी उपयोगिता अधिक दिखाई देती है। जो लोग शासनकार्य मे सलग्न रहते थे, उनके लिये ब्राह्मण की तरह ज्ञान-विज्ञान की आलोचना करना सभव नही था। अतएव मन्त्रणा के निमित्त विचक्षण ब्राह्मण को मत्री के पद पर नियुक्त किया जाता था।[२]

वैश्य की वृत्ति—वैश्य की वृत्ति के सबध मे कहा गया है कि कृषिकर्म, पशुपालन एव वाणिज्य ही उनकी प्रधान जीविका है। वैश्य को पशुओ का पालन सस्नेह करना चाहिये उनके प्रति कभी भी निर्दय व्यवहार नही करना चाहिये।[३]

पशुरक्षण का लभ्यांश—किसी दूसरे की गोपालन करने पर शुल्कस्वरूप हर छह गायो पर एक का दूध पालक को ग्रहण करना चाहिये। सौ गौओ की अहीर रखवाली करता हो तो वार्षिक वेतनस्वरूप एक गाय व एक बैल उसे मिलना चाहिये।[४]

व्यवसाय में लभ्यांश—वैश्य जिसके मूलधन से वाणिज्य करे उससे लाभ का सप्तमाश अपने पारिश्रमिकस्वरूप ले।[५] यदि जगली गायो आदि के सीगो का व्यवसाय करे तो सब कुछ महाजन को देकर लाभ का सातवाँ हिस्सा स्वय ले और अगर किन्ही पशुओ के मूल्यवान खुरो का व्यवसाय करे तो उसे पारिश्रमिकस्वरूप लाभ का सोलहवाँ हिस्सा मिलेगा, अवशिष्ट लाभाश पर मूलधन देने वाले का अधिकार होगा।[६] कृषि मे भी भूमि के मालिक से एक वर्ष के पारिश्रमिकस्वरूप

---

१. ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम। इत्यादि। शा ७८।३६
२. ब्रह्म वर्द्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्द्धते। शा ७३।३२। शा ७८।२१। वन २६।१४-१६
३. वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्। इत्यादि। शा० ६०। २१-२३ शा ९१।४। अनु १४१।५४-५६
४. तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम्।
षण्णामेकां पिवेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्॥ शा० ६०।२४
५. लब्धाच्च सप्तमं भागम्। शा ६०।२५
६. लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृंगे कला खुरे। शा ६०।२५

उत्पन्न फसल का सप्तमाश लेने का नियम है।[1] इस प्रकार परिश्रम लब्ध धन के द्वारा ही वैश्य के जीविका निर्वाह करने की व्यवस्था थी। स्वाधीन रूप से कृषि, वाणिज्य आदि पर भी एकमात्र वैश्य का ही वर्णगत अधिकार माना जाता था।

गोपालन पर विशेष अधिकार--वैश्य कभी गोपालन मे आपत्ति न करे एव वैश्य जातीय ग्वाला अगर गौएं रखना चाहे तो दूसरा कोई उसके कार्य मे बाधा न दे यही उस काल का विधान था।[2] अग्निक्षेत्र, दान, अध्ययन आदि पर वैश्य का भी अधिकार तो स्वीकृत हुआ है लेकिन वह इनमे से किसी को भी जीविका के साधन रूप मे ग्रहण नही कर सकता।[3]

वाणिज्य मे अविक्रेय वस्तु---वाणिज्य मे भी दो-चार विधिनिषेध देखने मे आते है। किसी-किसी वस्तु का विक्रय निषिद्ध बताया गया है जैसे, तिल, गधद्रव्य, नमक, पका हुआ अन्न, दही, दूध, तेल, घी, मास, फलमूल, साग, लाल रग का कपडा, गुड इत्यादि।[4] इन सब चीजो का विक्रय किस कारण निषिद्ध हुआ यह बताना मुश्किल है। वाणिज्य व्यवसाय पर सिर्फ वैश्य का अधिकार होने से घी, दूध, तेल, मास आदि मे मिलावट कर देना असभव नही था इसीलिये शायद इन चीजो का विक्रय निषिद्ध था। दूसरी निषिद्ध वस्तुओ के सबध मे भी निषिद्ध होने के कारण का अदाज नही लग पाता। वनपर्व के द्विजव्याध सवाद से अदाज लगता है कि व्याधजातीय लोग मास बेचते थे।

शूद्रवृत्ति—द्विज आदि तीनो वर्णों की सेवा करके जीविकोपार्जन करना ही शूद्र की वृत्ति मानी गई है।[5] ब्राह्मण, क्षत्रिय एव शूद्र ये तीनो वर्ण शूद्र की रक्षा के लिये बाध्य थे। शूद्र को अपने भरण-पोषण की चिन्ता नही करनी पडती थी। निरलस होकर सेवाभाव से तीनो वर्णों की शुश्रूषा करना ही उसका धर्म माना जाता था। उसकी गृहस्थी के निर्वाह का भार मालिक पर होता था। छतरी, पखे, कपडे, जूते आदि पुराने होने पर परिचारक को दे दिये जाते थे। यही शूद्र का धर्मधन

---

१. शस्याना सर्वजीवानामेषा सावत्सरी भृति.।। शा ६०।२६
२. न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति। इत्यादि। शा ६०।२६
३. वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्षपण्यैः। इत्यादि। उ २९।२५। अनु १४१।५४
४. तिलान् गन्धान् रसाश्चैव विक्रीणीयान्न चैव हि। अनु १४१।५६। उ ३८।५
५. तस्माच्छूद्रस्य वर्णाना परिचर्या विधीयते। इत्यादि। शा ६०।२८, २९ अनु १४१।७५

होता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिचारक का समस्त पारिवारिक खर्च उठाने के लिये बाध्य था और वह प्रसन्नचित्त अपने कर्त्तव्य का पालन करता था। अतएव शूद्र अपने जीविकोपार्जन के लिये जरा भी चिन्तित नही होता था। अपने मालिक की सेवा करना ही उसका एकमात्र कर्त्तव्य माना जाता था।[1] ऐसा लगता है कि शुश्रूषा के अलावा शूद्र की जीविका का साधन शायद कुछ और भी था, किन्तु क्या था, यह कही भी उक्त नही है। पराशरगीता मे कहा गया है कि शूद्र की अगर कोई पैतृक वृत्ति निर्दिष्ट न हो तो वह किसी दूसरे की वृत्ति ग्रहण न करके शुश्रूषा मे ही अपना चित्त लगाये।[2] इस उक्ति से प्रमाणित होता है कि शूद्र की कोई और वृत्तियाँ भी थी, लेकिन सेवा ही उनकी श्रेष्ठ वृत्ति मानी जाती थी।[3]

संकर जाति की वृत्ति—'चातुर्वर्ण्य' प्रबध मे (पृ० १००) कई सकर जाति के नाम बताये गये है। समाज मे इनकी प्रत्येक की भिन्न-भिन्न वृत्ति नियत थी। सबकी वृत्ति का अलग-अलग वर्णन महाभारत मे नही मिलता, केवल दो-चार सकर जाति की वृत्ति का उल्लेख किया गया है। धनी विलासी पुरुषो को साज-पोशाक पहनाना सैरन्ध्र जाति के लोगो का कार्य था, सैरन्ध्री इन विलासियो के अन्त पुर मे महिलाओ को अलकृत करने के कार्य पर नियुक्त होते थे। सूतजातीय व्यक्ति सारथी का काम करते थे, वे राजाओ का स्तुतिगान भी किया करते थे। अन्त पुर का पहरा देना एव अत पुर की सुरक्षा की व्यवस्था करना वैदेहक का काम था। राजदड से बध्य व्यक्ति का सिर काटना चडाल की वृत्ति थी। राजसभा मे उपस्थित रह कर उपयुक्त समय यथोचित बात कहना बन्दी का काम था। कपडे धोना रजक जाति की जीविका थी। मद्य बनाना मैरेयक जाति की वृत्ति थी। निषाद जाति का काम था मछली पकडना। जाल बुनना आयोगर जाति का कार्य था। दाश (स?) जाति के लोग नाव चलाकर जीविका निर्वाह करते थे। इस प्रकार प्रत्येक सकर जाति का कार्य समाज मे निर्दिष्ट था।[4]

वृत्तिव्यवस्था का सुफल—वृत्तिविभाग के सबध मे सोचने-विचारने पर स्पष्ट रूप से समझ मे आ जाता है कि समाज मे प्रत्येक के वर्ण या जाति के हिसाब से विभिन्न प्रकार की वृत्तियो के नियत होने के कारण किसी को भी परिवार के भरण-

---

१. अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते। इत्यादि। शा ६०।३२-३५

२. वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषान्तु प्रयोजयेत्। शा २९३।२

३. शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते॥ शा २९३।२१। अनु १४१।५७

४. अनु० ४८ वाँ अध्याय। शा ९१।२

पोषण की चिन्ता नही करनी पडती थी। एक जाति की जीविका के साधन से दूसरी जाति की जीविका के साधन का सघर्ष नही होता था। सभी अपनी-अपनी वृत्ति मे सलग्न होकर जातिगत विद्या के अनुशीलन से उस विद्या की और साथ-साथ समाज की उन्नति करते थे। हर एक की वृत्ति का समाज मे एक अलग स्थान था। किसी की भी वृत्ति को 'न स्यात्' करने का उपाय नही था। किसी ने कभी भी अपनी वृत्ति को दूसरे की अपेक्षा घृण्य समझा हो, ऐसा कोई उदाहरण महाभारत मे नही मिलता। वरन् हर एक के मुँह से स्वजाति वर्णोचित कर्म की प्रशसा ही सुनने को मिलती है। 'चातुर्वर्ण्य' प्रवध मे इस विषय पर काफी कहा जा चुका है। समाज मे जीविका के विषय मे सघर्ष को बचाने का श्रेष्ठ उपाय जन्मगत वृत्तिव्यवस्था था, यही शायद सर्वसम्मत माना गया था। यह वृत्तिव्यवस्था राजशक्ति के सुतीक्ष्ण नियन्त्रण द्वारा रक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति स्वकर्म द्वारा अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके, इस पर सदा राजा की नजर रहती थी।

कृषि, पशुपालन व गो-सेवा

अध्यापना, याजन, प्रतिग्रह आदि ब्राह्मण की वृत्ति है। ब्राह्मण वृत्ति के सम्बन्ध मे 'शिक्षा' व 'वृत्तिव्यवस्था' नामक प्रबध मे काफी कहा जा चुका है। क्षत्रिय की वृत्ति के सबध मे 'राजधर्म' नामक प्रबध मे कहा जायगा। शूद्र की परिचर्या वृत्ति की आलोचना भी 'वृत्तिव्यवस्था' मे हो चुकी है। कृषि, पशुपालन, आदि पर वैश्य का जन्मगत अधिकार माना जाता है, यही उनकी जीविका का साधन बताया गया है। यहाँ वैश्यवृत्ति पर ही विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जा रहा है।

कृषि द्वारा समृद्धि लाभ—ससार मे समृद्धि लाभ के जो कुछ साधन है, कृषि उनमे सर्वश्रेष्ठ है। स्वय लक्ष्मी कहती हैं, "कृषि निरत वैश्य के शरीर मे मैं स्वय वास करती हूँ।[1]

राजा का लक्ष्य—कृषि मे वैश्य उन्नतिलाभ करे, इस ओर लक्ष्य रखना राजा का कर्त्तव्य माना गया है। राजा की असावधानी के कारण यदि चोर, राजकर्मचारी, अथवा राज व्यवस्था की ओर से कृषक को भय या सन्देह हो तो उस अवाछनीय या क्षतिकर अवस्था के लिए राजा ही पूर्ण रूप से जिम्मेदार होता था।[2]

कृषको की सन्तुष्टि का विधान—जिन उपायो से भी कृषि की उन्नति सभव होती थी, राजा को सब करने पडते थे। कृषको को सन्तुष्ट रखना एव उनके दुख दूर करना राजा का आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था।[3]

कृषि के निमित्त जलाशय खोदना—जो स्थान देवमातृक नही होते थे अर्थात् जहाँ स्वाभाविक वृष्टि के जल से खेती नही होती थी वहाँ आवश्यकतानुसार तालाब खुदवाना राजा का कर्त्तव्य माना जाता था।[4]

दरिद्र कृषको को बीज आदि का दान—जो कृषक दरिद्र होते थे राजा उनके

---

१. वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि। अनु ११।१९। उ ३६।३१

२. नरश्चेत् कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यञ्चाप्यनुष्ठितः। इत्यादि। शा ८८।२८

३. तथा सन्धाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे। सभा ५।२२, ७६

४. कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च वृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका॥ सभा ५।७७

खाने के लिए अन्न आदि का इन्तजाम तो करता ही था उस पर कृषि आदि के लिए वीज वगैरह भी उसे ही देने पडते थे।[1]

वार्त्ताकर्म में साधु पुरुषो की नियुक्ति—वार्त्ताकर्म अर्थात् कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, एव महाजनी के काम पर सज्जन पुरुपो को नियुक्त करना एव उन पर दयादृष्टि रखना राजा का काम था क्योकि वार्त्ताकर्म की समृद्धि पर ही लोकस्थिति निर्भर होती है।[2]

कृषक प्रतिपालन—कृषक एव वणिक ही राष्ट्र को सम्पत्तिशाली वनाते हैं, फलत वही राजा एव प्रजा की रक्षा करते है। अतएव वे करभार या किसी दूसरे कारण से पीडित न हो, इस ओर राजा को तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये। देवता, पितर, मनुष्य, राक्षस, सरीसृप, पशु-पक्षी आदि सव कृषक व वणिक के श्रम पर निर्भरशील होते है, इस कारण सहृदयता के साथ उनके अभावादि पूर्ण करने के लिये राजा को वार-वार सतर्क किया गया है।[3]

कररूप मे षष्ठांश-ग्रहण—प्रजा की रक्षा के निमित्त उनकी आय का पष्ठाश कर रूप मे लेने का नियम है। राजा उससे अधिक नही ले सकता था।[4]

मासिक एक रुपये सैंकड़े के सूद पर कृषक को ऋण देना—कर्ज लेने की आवश्यकता पडने पर कृषक को राजकोष से कर्ज देने की व्यवस्था थी। एक रुपये सैंकडे महीने पर राजकोष से ऋण दिया जाता था। उस काल मे आजकल के रुपये-पैसे की तरह मुद्रा का प्रचलन तो था नही अतएव यह मानना चाहिये कि जिस तरह की मुद्रा प्रचलित थी उसी का सौवाँ हिस्सा मासिक सूद रूप मे लिया जाता था।

अनुग्रह ऋण—साधारण महाजन से शायद इतने कम सूद पर कर्ज नही मिलता था इसी कारण राजकोप से मिलने वाले ऋण को 'अनुग्रह ऋण' कहा गया है।[5]

दरिद्र कृषको को हमेशा के लिये दान—दरिद्र कृषक गोरक्षक या वणिक

---

१. कच्चिन्न भुक्त वीजञ्च कर्षकस्यावसीदति। सभा ५।७८

२. वार्त्ताया सश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते। सभा ५।७९

३. कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिता.। इत्यादि। शा ८९।२४-२६

४. आददीत वलिञ्चापि प्रजाभ्य. कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये॥ शा ६९।२५। शा ७१।१०

५. प्रत्येकञ्च शतं वृद्ध्या ददास्य ऋणमनुग्रहम्॥ सभा ५।७८

अगर ऋण लेकर अपनी आय द्वारा उसका परिशोध नही कर पाते थे तो सहृदय राजा उन्हे उस ऋण से मुक्त कर देता था।[१]

कर वसूल करने के लिये निष्णात व्यक्ति की नियुक्ति—प्रजा से कर वसूल करने के लिये शूर एव बुद्धिमान व्यक्ति को नियुक्त करने का विधान था। अतएव कही भी अन्याय या उत्पीडन की सम्भावना नही रहती थी।[२]

परिस्थितियो के अनुसार कृषिकर्म की विभिन्न व्यवस्था—अलग-अलग जगह अलग-अलग ढग से खेती की जाती थी। जहाँ-जहाँ वर्षा के जल से खेती होती थी, उस जगह को "देवमातृक" कहा जाता था। जहाँ नदी के जल से सिंचाई करके फसल उगाई जाती थी, उस जगह को "नदीमातृक" कहा जाता था। समुद्र किनारे की जमीन को, जहाँ बिना अधिक परिश्रम के ही फसल पैदा हो जाती थी, "प्रकृति मातृक" नाम दिया गया था। और जहाँ इनमे से कोई भी साधन उपलब्ध नही होता था, वहाँ तालाब खोदकर, उसके जल से सिंचाई की जाती थी।[३]

अनाज आदि सूर्य की ही देन—"देवमातृक" कृषि के सम्बध मे कहा गया है कि सूर्य जब उत्तरायण मे होता है तो अपने तेज से भूमि के जलाश को अपनी ओर आकर्षित करके उसे उर्वर बनाता है। और फिर दक्षिणायन मे चन्द्र की मध्यस्थता से अतरिक्षगत मेघरूप मे परिणत जलाश को पुन. बरसा कर फसल की सहायता करता है। सूर्य ही शस्य का जनक है। जिन्दा रहने के लिये प्राणियो को जिन खाद्यो की आवश्यकता होती है वह सूर्य के तेज की ही देन है। गीता मे भी कहा गया है कि मेघ से ही अन्न की उत्पत्ति होती है।[४]

प्राकृतिक अवस्था का ज्ञान—जो कृषक प्राकृतिक अवस्था समझे बिना खेत जोतते है और काफी परिश्रम नही करते वे खेती के फल से वचित रहते है।[५]

बैलो द्वारा खेती—महाभारत मे केवल बैलो द्वारा खेती करने का जिक्र हुआ है और किसी साधन से भी खेती होती थी कि नही यह पता नही लगता।[६]

---

१. अनुकर्षञ्च निष्कर्षम्। इत्यादि। सभा १३।१३

२. कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिताः। सभा ५।८०

३. इन्द्रकृष्टैर्वर्त्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः। सभा ५१।११। सभा ५।७७

४. पुरा सृष्टानि भूतानि पीड्यन्ते क्षुधया भृशम्। इत्यादि। वन ३।५-९। भी २७।१४

५. यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति मानवः। इत्यादि। शा १३९।७९। वन २५८।१६

६. एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते। अनु ८३।१८

हल—भूमि जोतने के लिये किन उपकरणो की आवश्यकता पडती थी, उसका कोई उल्लेख नही मिलता। वैष्णव-यज्ञ मे सोने के हल से यज्ञभूमि जोतने के वर्णन से लगता है कि उस काल मे हल से ही खेत जोता जाता था। एक जगह लोहे के मुखवाले काष्ठ की वात कही गई है, लगता है यह भी हल की तरफ ही सकेत किया गया है।[१]

धान, जौ आदि अनाज—नाना प्रसगो मे धान, जौ, सरसो, कोदो, तिल, उडद, मूंग आदि का नाम आया है। उस समय शायद यही सव अनाज पैदा होते थे।[२]

कृषि की निन्दा—किसी-किसी जगह खेती की निंदा भी की गई है। कहा गया है कि पाप के फल से मनुष्य कृपक रूप मे जन्म लेता है। तुलाधार-जाजलि-सवाद मे तुलाधार कहता है—"पशु वेचारे सुख से, स्वतन्त्र रहते है, लेकिन निर्दयी मनुष्य उन्हें नाना प्रकार के कष्ट देता रहता है। इस प्रकार निरीह पशुओ को यन्त्रणा देने की वजाय तो भ्रूणहत्या कही कम पापजनक है। कोई-कोई खेती की साधुता का वखान करता फिरता है लेकिन किसान हल से खेत मे स्थित कीडे-मकोडो को ऊपर निकालता है, विशेपत वैलो की दुर्गति की तरफ तो दृष्टिपात तक नही करता। ऐसे नृशस तो व्रह्महत्या के पापी समान होते है।"[३] विदुर के मुंह से भी कृपि की निन्दा कराई गई है।[४] जो किसान वैलो को अधिक कष्ट देते हैं, उन्ही को लक्ष्य करके शायद ये निन्दासूचक वाक्य कहे गये हैं। यदि कृपि की निन्दा ही इनका उद्देश्य हो तो फिर कृपि की प्रशसा मे जो वाक्य उक्त हैं, उनके साथ इनका कोई सामजस्य नही रहता। या यह भी हो सकता है कि वैश्य के अलावा दूसरी जाति के लिये खेती गर्हित वताने के लिये निन्दा की गई हो।

स्वयं देखभाल करना—नौकर खेती की देखभाल अच्छी तरह नही करते, इसलिये स्वय ही देखभाल करनी चाहिये। जरा सी असावधानी से वहुत वडी क्षति हो सकती है, अतएव सुगृहस्थ को दूसरो के भरोसे खेती का काम नही छोडना चाहिये।[५]

---

१. तेन ते क्रियतामद्य लाङल नृपसत्तम। वन २५४।७
भूमिं भूमिशयाश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्। शा २६१।४६

२. अनु १११।७१

३. कर्षको मत्सरी चास्तु। अनु ९३।१२९
अदशमशके देशे सुखसवर्द्धितान् पशून्। इत्यादि। शा २६१।४३-४८

४. यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्। उ ३६।३३

५. स्वयमेव कृषिं व्रजेत्। उ ३८।१२
षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्तमनवेक्षणात्।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसगति। इत्यादि। उ ३३।९०

पशुओ की उन्नति के लिये राजा का कर्त्तव्य—पशुपालन की जिम्मेदारी भी वैश्यो पर ही थी किन्तु राजा को इस विषय मे सतर्क रहना पडता था। पशुपालन के लिये राजा तरह-तरह के सुयोग सुविधाएं देता था।[1]

गौएँ—उस काल मे प्राय सभी गौएँ रखते थे। वशिष्ठ की कामधेनु का माहात्म्य महाभारत मे विशद रूप से वर्णित हुआ है। दूसरे पशुओ की अपेक्षा गाय उस काल मे भी मानवसमाज की सबसे अधिक हितकारी समझी जाती थी। इसीलिये महाभारत मे जगह-जगह गाय की महिमा का उल्लेख किया गया है।

घर मे पाले जानेवाले दूसरे पशु—हाथी, घोडा, गधा, कुत्ता, बिल्ली आदि गृहपालित पशुओ का उल्लेख जगह-जगह पाया जाता है।

पशुचिकित्सा—पालतू पशुओ के बीमार पडने पर उनकी चिकित्सा की व्यवस्था भी थी। हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र आदि का ज्ञान राजाओ के लिये अत्यावश्यक था। लगता है उस काल के समाज मे काफी लोगो को पशुपालन के बारे मे यथेष्ट ज्ञान था।[2]

अश्वविद्या—राजा नल अश्वविद्या के विशारद थे। घोडे की पहचान व उसे चलाने मे वे असामान्य रूप से पटु थे। अश्वविद्या के बदले उन्होने राजा ऋतुपर्ण से "अक्षहृदय विद्या" (पासा फेंकना) सीखी थी।[3] नकुल भी अश्वविद्या के पडित थे। अज्ञातवास के समय विराटपुरी मे अपना परिचय देते हुए उन्होने कहा था, "मैं महाराज युधिष्ठिर के अश्वो की देखभाल करता था। घोडे के स्वभाव, उसकी शिक्षा, दोष निराकरण का उपाय, अडियल घोडे को सीधे रास्ते पर लाने एव उनकी चिकित्सा के बारे मे अच्छी तरह जानता हूँ।"

गो-विद्या—सहदेव गो-विद्या के पडित थे। विराटपुरी मे उन्होने भी अपना परिचय गो-विद्या के ज्ञाता के रूप मे दिया था।[4]

गौओं की देखभाल स्वयं करना गृहस्थ का कर्त्तव्य—गौओ की देखभाल स्वय करने के लिये गृहस्थ को उपदेश दिया गया है। केवल नौकरो व रखवालो पर निर्भर रहकर गोपालन ढग से नही हो सकता।[5]

गो-महिमा—समाज मे गोपालन को अत्यावश्यक माना जाता था। गृहस्थ

---

१. कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्त्ता ते साधुभिर्ज्जनैः। सभा ५।७९

२. हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो। सभा ५।१२०

३. हयज्ञानस्य लोभाच्च। इत्यादि। वन ७२।२८। वि० १२।६, ७

४. वि० १०।११-१५

५. गावः सेवा कृषिः। इत्यादि। उ ३३।९०

देवता समझ कर गाय की सेवा करते थे। अनुशासनपर्व के कई अध्यायो मे अनेक रूपो मे गो-जाति के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। उस पर नजर दौडाने से पता लगता है कि गाय को उस युग मे किस दृष्टि से देखा जाता था। गाय को देवता से भी ऊँचा स्थान दिया जाता था। कहा गया है एक दिन देवराज इन्द्र ने पितामह से प्रश्न पूछा, "भगवन्, देवलोक से भी गो-लोक श्रेष्ठ क्यो है, कृपा करके मुझे समझाइये।" ब्रह्मा ने उत्तर दिया, "गौ ही यज्ञ का प्रधान अग है, गौ के बिना यज्ञक्रिया सम्पन्न नही हो सकती। दूध और घी मनुष्य का प्रधान खाद्य है एव गौ के द्वारा ही खेती होती है। सब हव्यकृत्यो का मूल ही गो जाति है, इसलिये वे ही जगत मे सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। गाय मनुष्य मात्र की जननी के समान है। उन्नतिशील मनुष्य को हर तरह से गाय की सेवा मे सलग्न रहना चाहिए।"। गाय की कभी उपेक्षा नही करनी चाहिये, उसे पाँव से नही छूना चाहिये।[1] पालतू गाय की ठीक प्रकार से सेवा न की जाय तो गृहस्वामी के अकल्याण की आशका होती है यही उस काल के लोगो की धारणा थी। गो-दर्शन से पापो का क्षय होता है, यही लोगो का विश्वास था।[2] अनुशासन पर्व के ५१ वें अध्याय मे गौ की जितनी महिमा बखानी गई है उससे लगता है कि उस युग मे गौ की विशेष रूप से सेवा की जाती थी। अनुशासन पर्व का ८० वाँ अध्याय भी गो-माहात्म्य वर्णन से परिपूर्ण है। उस काल मे गृहस्थ कितने भक्तिभाव से गाय की पूजा करते थे यह उस अध्याय को पढने से अच्छी तरह समझ मे आ जाता है। घी एव दूध की उपयोगिता उन्होंने जितनी समझी थी, उसका भी गो-माहात्म्य वर्णन से अन्दाज लगता है।[3]

गवाह्निक दान—अपने साध्यानुसार गाय की सेवा करके उसे खिलाना-पिलाना चाहिये। गाय की सेवा से जिस ढग से आत्मसन्तुष्टि मिले उसी ढग से

---

१. यज्ञाग कथिता गावो यज्ञ एव च वासव।
एताभिश्च विना यज्ञो न वर्त्तेत कथञ्चन॥ इत्यादि। अनु ८३।१७-२२
मातरः सर्वभूताना गाव सर्वसुखप्रदा.। इत्यादि। अनु ६९।७, ८।
अनु १२६।२९
अनु ९३।११७। अनु० ९४।३२

२. अग्निहोत्रमनड्वाश्च ज्ञातयोऽतिथिबाधवाः।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्द्दहेपुरपूजिता.॥ वन २।५७
साय प्रातर्नमस्येच्च गास्ततः पुष्टिमाप्नुयात्॥ अनु ७८।१६

३. अमृतं ब्राह्मणा गाव इत्येतन्त्रयमेकतः।
तस्माद् गोब्राह्मण नित्यमर्च्चयेत यथाविधि। अनु० १६२।४२

सेवा करना कर्त्तव्य है।[1] सन्ध्या-आह्निक की समाप्ति पर गाय को कुछ खिलाना हर गृहस्थ अपना कर्त्तव्य समझता था। इसे "गवाह्निक दान" कहा जाता था। अनुशासन पर्व के १३३ वे अध्याय मे इसका उल्लेख मिलता है।

कपिला का श्रेष्ठत्व—गो जाति मे कपिला का स्थान सबसे ऊँचा था।[2]

गो-दान की श्रेष्ठता—दान प्रकरण मे गोदान का विशेष रूप से गुणगान किया गया है। सब दानो मे गोदान को ही श्रेष्ठ माना गया है। अनुशासन पर्व का ७१ वें अध्याय से ७४ वे अध्याय तक का हिस्सा गोदान की प्रशसा से ओतप्रोत है।

गोबर व गोमूत्र की पवित्रता—गोबर व गोमूत्र को बहुत पवित्र माना जाता था। गोबर से घर लीपने पर भूमि शुद्धि होती है, समाज की यह धारणा थी। पवित्रता के लिए शरीर पर गोबर का लेप करके स्नान करने का भी नियम था। गोमूत्र पान करना शुद्धिकरण के रूप मे गिना जाता था।[3] हिन्दू समाज आज भी गोबर एव गोमूत्र की पवित्रता को उसी तरह मानता चला आ रहा है। पचगव्य मे गोबर व गोमूत्र पान करने का विधान भी हिन्दू इसी तरह मानते आ रहे है।

श्री-गो-संवाद—अनुशासन पर्व ८२ वें अध्याय मे एक कहानी मिलती है। उस काल के समाज मे गोबर एव गोमूत्र की पवित्रता के सबध मे लोगो की क्या धारणा थी, यह उस कहानी मे प्रकट हुआ है। एक बार श्री अर्थात् लक्ष्मी के सुन्दर वस्त्राभूषणो से सजधज कर गौओ के समक्ष उपस्थित होने पर उन्होने उनके आगमन का कारण पूछा। लक्ष्मी ने उत्तर दिया—"इन्द्र, विष्णु आदि मेरे ही अनुग्रह से इतने सम्पत्तिशाली है, मेरा ख्याल है तुम लोग भी मुझे पाकर अवश्य ऐश्वर्यशाली होओगी।" गौएँ बोली, "हमे तुम्हारी जरूरत नही है, हम स्वभावत ही अच्छी हैं।" लक्ष्मी जरा अप्रतिभ होकर बोली—"देखो—तुम लोगो की उपेक्षा से मैं ससार की नजरो मे गिर जाऊँगी, अतएव मेरे प्रति प्रसन्न होओ, मैं तुम लोगो के कुत्सित अगो मे ही वास करने को तैयार हूँ। तुम लोगो के शरीर मे कुछ भी घृण्य या कुत्सित नही रहेगा।" गौओ ने परस्पर परामर्श करके लक्ष्मी से कहा, "हमारा मूत्र एव

---

१. गोषु चात्मसमं दद्यात्। उ ३८।१२

२. अनु ७३।४२। अनु ७१।५१।

३. पितृसद्मानि सततं देवतायतनानि च।
पुयन्ते शकृता यासां पूतं किमधिकं ततः॥ अनु ६९।११। अनु १४६।४८
अस्मत्पुरीषस्नानेन जनः पूयेत सर्वदा।
शकृता च परित्रार्थं कुर्वीरन् देवमानुषाः॥ अनु० ७९।३। अनु० ७८।१९
त्र्यहमुष्णं पिवेन्मूत्रं त्र्यहमुष्णं पिवेत् पयः॥ अनु० ८१।३५। अनु० १२८।९

गोबर बहुत पवित्र है, तुम उसी मे अधिष्ठित होओ।" लक्ष्मी इस प्रस्ताव पर राजी होकर अन्तर्धान हो गई। उसी समय से गोमूत्र एव गोबर लक्ष्मी के अधिष्ठान रूप मे परिगणित होने लगे। गोमूत्र एव गोबर से अच्छी खाद बनती है, हो सकता है इस कारण भी उन्हे लक्ष्मी के वासस्थान रूप मे माना गया है।

पीठ व पूंछ की अधिक पवित्रता—गाय की पीठ व पूंछ को अधिक पवित्र माना जाता था। इन दोनो के स्पर्श को बहुत पुण्यजनक बताया गया है।[1]

गो-समृद्धिकर व्रत—गो जाति की उन्नति के निमित्त एक प्रकार के व्रत का अनुष्ठान किया जाता था जिसका नाम 'गो-पुष्टि' था। व्रत करनेवाले को गोबर से स्नान करना पडता था। गाय के गीले चमडे पर बैठकर पश्चिम की तरफ मुंह करके जमीन पर घी डालकर मौन रखते हुए उसे चाटना पडता था। घी की आहुति देना, स्तुतिपाठ करना एव घृतदान उस व्रत के अग थे।[2]

गोमती विद्या या गो-उपनिषत्—गोमती विद्या या गो उपनिषत् के नाम से कई गौ-स्तुतियाँ वर्णित हैं, जिनके पाठ करने के अनेको फललाभ बताये गये हैं। गौ की गध सुरभि है, गौ सर्वभूत का आश्रयस्थल है, गौ शान्ति का कारण है आदि वाक्य उसके गुणगान मे कहे गये हैं।[3] इन सब प्रकरणो के अध्ययन से पता लगता है कि गौ के प्रति उस काल के लोगो की श्रद्धा कितनी असीम थी।

गो-हिंसा बिल्कुल निषिद्ध—गोवध व गोमास भक्षण बिल्कुल निषिद्ध था।[4]

उपहार के रूप मे गो-दान—अतिथि के उपहार स्वरूप गौ देकर सम्मान प्रदर्शित करने के उदाहरण महाभारत मे अनेक स्थलो पर पाये जाते हैं। गौ को मूल्यवान व पवित्र समझने के कारण ही दाता उसे अभ्यर्थना के श्रेष्ठ साधन रूप मे व्यवहृत करते थे। आज भी हिन्दू समाज मे गो दान पुण्य का कारण माना जाता है।

गोधन व गो-परिचर्या—सभी को उस काल मे गौएँ पालनी पडती थी। महाराज विराट एव दुर्योधन के पास बहुत सी गौएँ थी। विराटपुरी मे अर्जुन के साथ दुर्योधन पक्ष के वीरो का जो युद्ध हुआ था, उसका मूल कारण गो-हरण ही था।

---

१. स्पृशते यो गवा पृष्ठ वालधि च नमस्यति ॥ अनु १२५।५० शा १९३।१८

२. गोमयेन सदा स्नायात् करीषे चापि सविशेत्। इत्यादि। अनु ७८।१९-२१

३. गावः सुरभिगन्धिन्यस्तथा गुग्गुलुगन्धय.।
गावः प्रतिष्ठा भूतानां गावः स्वस्त्ययन महत् ॥ इत्यादि। अनु ७८।५-८

४. न चासा मासमश्नीयाद् गवा पुष्टि तथाप्नुयात् ॥ अनु० ७८।१७
घातकः खादको वापि तथा यश्चानुमन्यते।
यावन्ति तस्या रोमाणि तावद्वर्षाणि मज्जति ॥ अनु ७४।४

वनपर्व मे दुर्योधन आदि के अहीरो के ग ॅव की ओर जाने के वर्णन से भी पता लगता है कि वे प्रचुर गोधन के स्वामी थे। अज्ञातवास के शुरू मे विराट की राजधानी मे प्रवेश करके सहदेव ने अपना परिचय महाराज युधिष्ठिर के गोधन के निरीक्षक के रूप मे दिया था। गौओ की सख्या के सम्बन्ध मे भी उन्होने एक वडी सख्या का ही उल्लेख किया है। मत्स्यराज ने उनकी बात पर अविश्वास नही किया। उस काल मे गौ एक विशेष सम्पत्ति मानी जाती थी। सहदेव गौ-परिचर्या मे विशेप रूप से पारगत थे यह उनके कथन से स्पष्ट होता है। इससे अन्दाज होता है कि गौ की सेवा शुश्रूषा के विषय मे अभिज्ञता अर्जन को उस काल मे प्रशस्त कार्य माना जाता था। सहदेव ने मत्स्यराज से कहा था कि जिन बैलो के सयोग से वन्ध्या गाय भी गर्भिणी हो उन्हे वे वैल का मूत्र सघकर पहचान सकते है। यह कोई साधारण ज्ञानवाला आदमी नही कह सकता।[1]

आचार्यो के पास भी बहुत सी गौएँ रहती थी, उनके पालन पोषण का भार उन शिष्यो पर होता था (देखिये पृ० ११९)

महर्षि वशिष्ठ की कामधेनु—महर्षि वसिष्ठ एव विश्वामित्र के वीच होनेवाले विवाद का मुख्य कारण वशिष्ठ की कामधेनु नन्दिनी ही थी। उसका गुण था कि उससे जो भी म ाँगा जाय वह दे देती थी। गौ के दूध से वनने वाली अनेको प्रकार की उत्कृष्ट खाद्य सामग्री से हमारे शरीर की पुष्टि होती है इसी कारण शायद उसे कामधेनु कहा जाता था।[2]

यद्यपि गोपालन इस युग मे प्रधानत वैश्य का ही काम माना जाता था तव भी होम आदि नित्य कर्मों के कारण सभी गौएँ रखते थे। गोधन की वृद्धि वैश्यो के परिश्रम पर ही निर्भर करती है, इस विषय मे वे पूर्ण रूप से अभिज्ञ थे। वर्णगत जीविका के साधन रूप मे उन्हे गोपालन करना पडता था।[3]

---

१. गोसंख्य आस कुरुपुंगवानाम्। वि १०।५
ऋषभानपि जानामि राजन् पूजितलक्षणान्।
येषा मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते॥ वि० १०।१४
२. आदि १७५ वाँ अध्याय।
३. कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। भी ४२।४४

वाणिज्य

वैश्य का वर्णगत अधिकार—वाणिज्य पर एकमात्र वैश्य का ही अधिकार माना गया है, केवल आपद्काल मे ब्राह्मण व क्षत्रिय को वाणिज्य की छूट मिली है। वाणिज्य मे दूध, मास, तेल आदि कई वस्तुओ का विक्रय निपिद्ध वताया गया है। '(देखिये पृ० १५८) इनका विक्रय उस काल के समाज मे अच्छा नही समझा जाता था।

वाणिज्य के वारे मे राजा का कर्त्तव्य—व्यवसायियो को हर तरह की सुविधा सुयोग देना राजा का कार्य माना जाता था। वाणिज्य की उन्नति विशेपत राजा की सुव्यवस्था पर निर्भर होती है। यदि किसी दुर्व्यवस्था से व्यापारी की उन्नति रुकती थी तो उसके लिए राजा ही जिम्मेदार माना जाता था। यहाँ तक था कि अगर वाणिज्य की उन्नति के सम्पर्क मे चतुर व्यापारी के मन मे कोई सन्देह पैदा होता था तो समझा जाता था कि वाणिज्यसम्बन्धी कायदे कानून मे राजा से कोई भूल हुई है। राजा को इस तरह के कानून वनाने पडते थे जिससे व्यापारी को क्षति की आगका न हो।[1]

विदेशी व्यापारियो की तरफ राजा का ध्यान—विदेशी व्यापारियो को जितनी भी सुविधाएँ सुलभ हो, देना राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। कोई धूर्त उन्हे ठग न सके, वे नगर, ग्राम, हर जगह वेरोक-टोक सम्मान सहित क्रय-विक्रय कर सकें, इसके वारे मे सतर्क रहने के लिए राजधर्म मे अनेको जगह उपदेश दिये गये है। युधिष्ठिर को दिये गये नारद के उपदेश इस विषय मे स्पष्ट प्रमाण है।[2]

यद्यपि नारद, भीष्म एव धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को लक्ष्य करके ही राजधर्म का उपदेश दिया है किन्तु उस काल मे ये नियम शायद हर जगह उसी रूप मे लागू थे। क्योकि इसके विपरीत और कोई दूसरा उदाहरण महाभारत मे नही मिलता। युधिष्ठिर हर जगह यही कहते हुए पाये जाते हैं कि "मैं इन सव नियमो का यथाशक्ति पालन करता हूँ।"

---

१. तथा सन्धाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे। सभा० ५।२२ द्रष्टव्य नीलकंठ वणिजः शिल्पिनः श्रितान्। सभा ५।७१। शा ८८।२८

२. कच्चित्ते पुरुषा राज पुरे राष्ट्रे च मानिता.। इत्यादि। सभा ५।११५

राजसभा में व्यापारियों का आदर एवं समृद्ध नगर में विदेशियों का आगमन—राजसभा मे व्यापारियों को यथेष्ट सम्मान दिया जाता था। राजधानी मे वणिको के व्यवसाय की यथोचित व्यवस्था कर दी जाती थी। समृद्ध नगरो मे अनेको देशो के व्यापारी वाणिज्य के उद्देश्य से आते थे एव उस देश के राजा के यथोचित व्यवहार या व्यवस्था के कारण बेरोक-टोक अपने-अपने व्यवसाय को उन्नत बनाते थे।[१]

विदेशी व्यापारियो की आय के अनुसार राजकर—दूसरे देशो से जो व्यापारी वाणिज्य के उद्देश्य से आते थे, उन्हे अपनी आय के अनुसार निर्दिष्ट राजकर देना पडता था। कितनी आय पर कितना कर देना पडता था इस विषय पर कोई सकेत महाभारत मे न मिलने पर भी यह आभास जरूर मिलता है कि उन पर कोई अत्याचार नही किया जाता था या अतिरिक्त कर देने के लिए उन्हे तग नही किया जाता था।[२]

क्रय-विक्रय आदि की अवस्था देखकर कर निर्धारित करना—कहा गया है कि क्रय-विक्रय की अवस्था अर्थात् मूल्य एव लाभ के परिमाण, अन्नवस्त्र, व्यापारी की सामर्थ्य एव मूलधन की तरफ सतर्क दृष्टि रखते हुए राजा व्यापारियो पर कर लगाये। इस प्रकार कर अदायगी से वाणिज्य की भी क्षति नही होगी और राजकोष मे थोडा सचय होता रहेगा। राजा को हर एक वक्त यह लक्ष्य मे रखना चाहिये कि किसी भी तरह व्यापार मे नुकसान न हो।[३]

वेतनस्वरूप कर ग्रहण—व्यापारियो से राजा जो कर लेता था, वह राजा के तत्वावधान के वेतन स्वरूप उल्लिखित हुआ है। मार्गों एव नगरो मे वणिक निरापद रूप से यातायात कर सके, इसकी जिम्मेदारी राजा पर ही होती थी और उस जिम्मेदारी को निभाने के पारिश्रमिकस्वरूप कर लिया जाता था।[४]

भारत में सर्वत्र पण्य द्रव्यो का आयात-निर्यात—जिस युग मे कृषि, गोपालन, एव वाणिज्य के द्वारा एक पूरा सम्प्रदाय अपना जीविका निर्वाह करता था एव देश को धनधान्य सम्पन्न बनाता था उस काल मे भारत के सब प्रदेशो मे, खासकर महाभारत मे उल्लिखित भौगोलिक प्रदेशो मे (महाभारत मे भारतवर्ष के करीब-

---

१. वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः। आदि २०७।४०
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम्। आदि २२१।७५
२. कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात्। इत्यादि। सभा ५।११४
कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः॥ शा ८९।२३
३. विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तञ्च सपरिच्छदम्। इत्यादि। शा ८७।१३-१८
४. शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥ शान्ति ७१।१०

करीव सभी प्रदेशो का उल्लेख मिलता है) परस्पर पण्य द्रव्यो का आयात-निर्यात होता था, यह अनुमान विल्कुल गलत नही है। भीम अर्जुन आदि वीरो के दिग्विजय प्रकरण मे देखने मे आता है कि भारत मे सर्वत्र अबाध रूप से यातायात की व्यवस्था उस वक्त भी थी। हिमालय से कन्याकुमारी तक और द्वारका से ब्रह्मपुत्र तक यातायात के वहुत से दृश्य महाभारत मे पाये जाते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ एव कुरुक्षेत्र के युद्ध मे भारत के प्राय सव प्रदेशो के मुख्य-मुख्य व्यक्तियो ने भाग लिया था। राजसूय यज्ञ मे युधिष्ठिर को विभिन्न प्रदेशो से नाना प्रकार के उपहार दिये गये थे। अतएव यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस प्रदेश मे जिस द्रव्य का उत्पादन अधिक होता था, वह द्रव्य दूसरे प्रदेशो मे भेजा जाता था। इस प्रकार भारत मे सर्वत्र ही वाणिज्य का परस्पर सवध था।

भारत के बाहर भी दूसरे देशो से व्यापारिक सबंध—भारत के अलावा बाहर दूसरे देशो के साथ भारत के व्यापारिक सवध नही थे, यह कहना भी युक्तिसगत नही है। क्योकि राजसूय यज्ञ प्रकरण मे देखने मे आता है कि युधिष्ठिर के लिए चीन एव सिंहल देश से भी अनेको प्रकार के उपहार आये थे। उन देशो के साथ अगर भारत का कोई भी सवध नही होता तो कोई उपहार देने क्यो आता? यातायात, वाणिज्य एव देशविजय के अलावा अन्य कारणो से परिचय होने की सम्भावना वहुत ही कम थी।

समुद्र-पोत—गौतम नामक एक मध्यदेशीय दुराचारी ब्राह्मण ने सामुद्रिक व्यापारियो के साथ यात्रा की थी।[1] समुद्र पोत के द्वारा भारत के बाहर भी यातायात होता था। वहुत से स्थानो पर समुद्रपोत का उल्लेख मिलता है।[2] अर्जुन दक्षिण एव पश्चिम मे कई सामुद्रिक तीर्थो को गये थे। सामुद्रिक पोत के अलावा और किसी प्रकार सामुद्रिक यात्रा सभव नही हो सकती थी।[3]

महाभारत की रचना से वहुत पहले के भारतीय राजा पुरूरवा स्वर्णप्रस्थ, चन्द्रशुक्ल, आवर्त्तन, रमणक, मन्दरहरिण, पाचजन्य, सिंहल, लका, रोमकपत्तन, सिद्धपुर, यमकोटि जम्बूद्वीप एव प्लक्षादि द्वीप के अधिपति थे। अगर इन सव द्वीपो से यातायात के सवध नही होते तो जम्बूद्वीप अर्थात् भारतवर्ष का राजा दूसरे द्वीपो

---

१ सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि। शान्ति १६९।२

२. विस्तीर्णं लवणजल यथा प्लवेन। आदि २।३९६
ता नावमिव पर्यस्तां वातभ्रान्ता महार्णवे। शल्य ४।२९। शल्य १९।२

३. तत समुद्रे तीर्थाणि दक्षिणे भरतर्षभ। आदि २१६।१
समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च। आदि २१८।२

पर अपना आधिपत्य कैसे स्थापित करता[1] सभापर्व के दिग्विजय प्रसग मे भी पाया जाता है कि अर्जुन ने शाकल आदि सप्त द्वीपो के अधिपतियो को युद्ध मे परास्त किया था।[2] दक्षिण भारत विजयी पचम पाडव सहदेव ने सागर द्वीपवासी म्लेच्छ राजाओ को युद्ध मे परास्त करके अपने अधीन किया था।[3]

पश्चिम भारत विजय के बाद नकुल ने पश्चिम समुद्र की खाडी मे रहनेवाले दुर्दमनीय म्लेच्छ राजाओ को जीता था।[4] पाडवो की सम्पत्ति से ईर्ष्यान्वित दुर्योधन की उक्ति से भी पता लगता है कि पाडवो ने सामुद्रिक राजाओ को युद्ध मे पराजित करके विशाल सम्पत्ति प्राप्त की थी।[5] दक्षिण समुद्र स्थित गोकर्ण नामक तीर्थ के यातायात की बात तीर्थयात्रा प्रसग मे उल्लिखित हुई है।[6]

तीर्थभ्रमण करते वक्त युधिष्ठिर समुद्र स्थित अनेको तीर्थो को गये थे।[7] उल्लिखित वर्णनो से अदाज लगता है कि उस काल मे सामुद्रिक पोतो का काफी प्रचलन था। कही-कही तो स्पष्ट भाषा मे समुद्र पोत का उल्लेख मिलता है। इन सब प्रकरणो मे वाणिज्य का भी उल्लेख हुआ है। "वणिक जिस प्रकार मूलधन के अनुसार सामुद्रिक व्यापार मे धनलाभ करते है, उसी प्रकार मर्त्यरूपी समद्र मे प्राणी अपने कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओ को प्राप्त होते है।"[8] "विपत्ति मे पडे हुए जहाजी व्यापारियो के सागर मे डूबने पर जिस तरह अन्य नाविक उनका उद्धार करते है, उसी प्रकार द्रौपदी के पुत्रो ने कर्णरूपी सागर मे डूबते अपने मामाओ का रथ द्वारा उद्धार किया।"[9]

अर्जुन जब समुद्र की खाडी मे स्थित निवातकवचो (एक प्रकार के दानव) के साथ युद्ध करने के लिए समुद्र मे गये थे तो उन्होने पर्वत सदृश उर्मिमालाओ के बीच असख्यो रत्नपूर्ण नौकाएँ देखी थी।[10] समुद्र मे असख्य रत्नगर्भ नौकाएँ अर्थात्

---

१. त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः। आदि ७५।१९। दे० नीलकठ
२. साकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः। इत्यादि। सभा २६।६
३. सागरद्वीपवासांश्च नृपतीं म्लेच्छयोनिजान्। सभा ३१।६६
४. ततः सागरकुक्षिस्थ। म्लेच्छान् परमदारुणान्॥ सभा ३२।१६
५. गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम्। इत्यादि। सभा ५३।१६,१७।
६. समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम्। वन ८५।२४
७. वन ११८ वाँ अध्याय।
८. वणिग्यथा समुद्राद्वै यथार्थं लभते धनम्। इत्यादि। शा २९८।२८
९. निमज्जतस्तानथ कर्णसागरे विपन्ननावो वणिजो यथार्णवे। कर्ण ८२।२३
१०. फनवत्यः प्रकीर्णाश्च। इत्यादि। वन १६९।२, ३।
वणिजो नाति भग्नायामगाधे विप्लवा इव। शल्य ३।५

समुद्रपोत वणिको के थे इसमे सदेह का कोई कारण नही है। किसी दूसरे के लिए तरह-तरह मणि-रत्नो से पूर्ण नौकाएँ समुद्र मे छोडने का कोई कारण ही नही हो सकता। इन सब वर्णनो से अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि उस काल मे भारत के साथ दूसरे देशो के व्यापारिक सबध बहुत घनिष्ठ थे। दिग्विजय एव पुरुरवा के राज्यविस्तार वर्णन मे कवि की अतिशयोक्ति की आशका होते हुए भी यह सत्य है कि दिग्विजय एव वाणिज्य के लिए भारत के बाहर दूसरे देशो मे भी यातायात होता था। अन्तर्वाणिज्य एव बहिर्वाणिज्य इन दोनो के द्वारा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश एव एक देश से दूसरे देश के बीच सबध स्थापित होते थे।

शिल्प

मणि, मुक्ता, मूँगा आदि—उस काल मे भी मणि, मुक्ता, मूँगा, सोना, चाँदी आदि मूल्यवान रत्नो मे परिगणित होते थे।[1]

सोने का व्यवहार ही अधिक—इन सवमे से सोने का व्यवहार ही अधिक होता था। धन-सम्पत्ति को लेकर कुछ कहते हुए सोने का नाम ही पहले लिया गया है, ऐसे अनगिनत उदाहरण महाभारत मे मिलते है। मणिरत्नो मे सोने का स्थान ही सवसे ऊँचा था। सोना बहुत ही पवित्र वस्तु माना जाता था।[2]

सोने का माहात्म्य—माहात्म्य बढाने के लिए सोने की अग्नि मे पतित महादेव के शुक्ररूप मे कल्पना की गई है। इसीलिए अग्नि का एक दूसरा नाम हिरण्यरेता भी है। जातवेदा अर्थात् अग्नि से उत्पन्न होने के कारण सोने को जातरूप कहा जाता रहा है। सोना तैजस पदार्थों मे गण्य था।[3]

शैलोदा नदी से पिपीलक-सोना (?)—जिन-जिन स्थानो पर सोना या दूसरे रत्न पाये जाते थे उनके बारे मे भी महाभारत मे सकेत पाया जाता है। मेरु एव मदर पर्वत के वीच बहनेवाली शैलोदा नामक नदी की रेत से प्रचुर परिमाण मे एक तरह का सोना इकट्ठा किया जाता था। पिपीलिका अर्थात् चीटियो द्वारा सगृहीत होने के कारण इस सोने का नाम ('पिपीलक सोना')था। चीटियाँ किसलिए सोना इकटठा करती थी, इस रहस्य का उद्घाटन करना कठिन है। इन सब वर्णनो की सत्यता मे सन्देह का काफी मौका है।[4]

विन्दुसरोवर मे रत्न—विन्दु सरोवर मे अनेको प्रकार के रत्न पाये जाते थे। विन्दुसरोवर हिमालय की तलहटी मे था। शायद वर्तमान हरिद्वार के आसपास कही रहा होगा (देखिये मत्स्यपुराण १२१ वाँ अध्याय)। श्रेष्ठ शिल्पी मय ने नाना

---

१. मणिमुक्ताप्रवालञ्च सुवर्णं रजतं बहु। आदि ११३।३४

२. जगत् सर्व्वञ्च निर्म्मथ्य तेजोराशिः समुत्थितः।
सुवर्णमेभ्यो विप्रर्षे रत्नं परममुत्तमम्॥ इत्यादि। अनु ८४।४९, ५२

३. अनु ८४ वाँ और ८५ वाँ अध्याय।

४. तद्वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः॥ सभा ५२।४

प्रकार के रत्नो द्वारा युधिष्ठिर का सभामण्डप वनाया था। मडप के अधिकाश रत्न विन्दुसरोवर से ही लाये गये थे। उन सब रत्नो द्वारा निर्मित सभामडप मे ही दुर्योधन को जल की जगह स्थल एव स्थल की जगह जल का भ्रम हुआ था।[1]

धातु शिल्प (अलंकार)—सोने से भुजवद, वाजूवद, हार आदि तरह तरह के आभूषण वनाये जाते थे। (परिच्छेद और प्रसाधन प्रवध देखिए)[2]

आसन—राजाओ के सभागृहो मे मीनाकारी किये हुए सोने के आसन रहते थे। सम्भ्रान्त पुरुषो की उपस्थिति पर वे आसन व्यवहार मे लाये जाते थे।[3]

सुवर्ण-वृक्ष—सोने से निर्मित कृत्रिम वृक्षावलि राजसभा की शोभा वढाती थी। राजसभा की दूसरी वहुत सी चीजें भी सोने से वनाई जाती थी।[4]

यज्ञ के उपकरण—महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ मे अनेको यज्ञ की वस्तुएँ सोने की वनाई गई थी। स्फ्य (खड्ग की आकृति का एक विशेष यज्ञीय उपकरण) कूर्च्च, (विछाने के लिए कुश का आसन) आदि सोने के वने थे।[5]

यज्ञमंडप के तोरण आदि—यज्ञ मडप के तोरण, घट, कलस, पात्र, कडाह आदि वस्तुएँ भी सोने की थी।[6]

सोने की थाली, कलसी आदि—धनाढ्य परिवारो मे सोने की थाली, कलसी, कमडल आदि व्यवहार मे लाये जाते थे।[7]

सुवर्णमुद्रा या निष्क—उस काल मे जो मुद्रा प्रचलित थी वह भी सोने की मोहर जैसी थी। महाभारत मे कही भी मुद्रा की आकृति, वजन या परिमाण के वारे मे

---

१. कृता विन्दुसरोरत्नैर्म्मयेन स्फटिकच्छदाम्।
अपश्य नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत॥ सभा ५०।२५

२ मालाञ्च समुपादाय काञ्चनीं समलकृताम्। आदि १८५।३०। आदि ७३।२, ३। अनु ८४।५१।

३. सुवर्णचित्रेषु वरासनेषु। उ १।६। आदि १९६।२। सभा ५६।२०। उ ८९।८। अनु० १३९।१४।

४. सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा। सभा ३।२१। उ १।२।

५. स्फ्यश्च कूर्च्चश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव। इत्यादि। अश्व ७२।१०,११

६ ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते। इत्यादि। अश्व ८५।२९, ३०

७ कलसान् काचनान् राजन्। आश्र० २७।१२। सभा० ४९।१८, वन २३२।४२,४४, सभा ५१।७, सभा ५२।४७

स्पष्ट नही कहा गया है। उस मुद्रा का नाम निष्क था।[1] निष्क के सबध मे एक सन्देह उपस्थित होता है। वह यह कि वह शायद हमेशा शुद्ध सोने की नही होती थी, अन्य धातु मिश्रित सोने की बनती थी, या केवल चाँदी अथवा किसी और धातु की बनाई जाती थी। क्योकि दो-चार जगह केवल निष्क शब्द व्यवहार मे न लाकर 'काचन निष्क'[2] 'हिरण्य निष्कान्'[3] 'शातकुम्भस्य शुद्धस्य शत निष्कान्'[4] इस प्रकार निष्क को विशेषण के साथ लिया गया है। यदि मान लिया जाय कि निष्क शब्द हमेशा सोने की मोहर के लिए ही प्रयुक्त होता था तो इन सब विशेषणो द्वारा 'सोने की निष्क' की तरह सकेत करने मे कोई सार्थकता नही रहती और यदि विशुद्ध सोने की वनी हुई इस अर्थ को प्रकट करने के लिए ही सुवर्ण, काचन आदि शब्दो को विशेषण रूप मे प्रयुक्त किया गया है तो कहना पडेगा कि उल्लिखित सन्देह निर्मूल नही है, क्योकि खोट मिले सोने की निष्क भी उस काल मे प्रचलित थी। और इन विशेषणो को यदि व्यावर्त्तक रूप मे लिया जाय तो यह मानना पडेगा कि अन्य धातुओ द्वारा भी निष्क बनाई जाती थी, लेकिन यह मानना उचित नही लगता, क्योकि बहुत स्थलो पर विशेषण का प्रयोग न करके केवल निष्क शब्द का प्रयोग किया गया है।

चाँदी की थाली—चाँदी से निर्मित वस्तुओ मे केवल थाली का उल्लेख मिलता है।[5]

ताँबे के बर्त्तन—अनेको प्रयोजनीय वर्तन ताँबे से भी वनाये जाते थे।[6]

काँसे के बर्त्तन—काँसे के बर्त्तनो के विषय मे दो तीन जगह कहा गया है। गाय दुहने का वर्त्तन एव भोजन करने के बर्तन काँसे के वताये हैं।[7]

---

१. आदि २२१।६९। वन ३७।१९। वन २३।२। वि ३८।४३। द्रो १६।२६ द्रो ८०।१७। शा ४५।५। अश्व ८९।९ (और बहुत सी जगह निष्क शब्द का उल्लेख मिलता है)।

२. द्रो ८०।१७

३. वन २३।२

४. वि ३८।४३

५. उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु॥ आदि १९४।१३

६. पात्रमौदुम्बरं गृह्य मधुमिश्रं तपोधन। अनु १२५।८२। वन ३।७२। अनु १२६।२०। आश्र २७।१३

७. दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः। सभा ५३।३। शा २२८।६०। अनु ५७।३०। अनु ७१।३३। अनु १०४।६६

लौहशिल्प—लोहा व्यापक रूप से व्यवहार मे लाया जाता था। युद्ध मे जो अस्त्र-शस्त्र व्यवहृत होते थे, करीव-करीव सभी लोहे के थे। रोजमर्रा के काम मे आनेवाली चीजो मे भी फावडा, कुदाल, कटारी आदि का प्रचलन वहुत अधिक था।[1] लोहे से मछली पकडने का काटा वनाया जाता था। काटा डालकर मछली पकडना लोग उस समय भी अच्छी तरह जानते थे।[2]

मणिमुक्तादि का व्यवहार—आभूपणो के अलावा राजसभा मे जो वस्तुएँ होती थी वे वहुमूल्य मणिमुक्ताओ से जडित होती थी। राजाओ की चौपड की गोटियाँ भी वैदूर्यनिर्मित होती थी। युद्ध मे व्यवहृत होनेवाली तलवार की मूंठ भी कोई-कोई मणि की वनवाता था।[3]

दन्तशिल्प—हाथीदाँत से वहुत सी चीजें वनाई जाती थी। तलवार की मूंठ, योद्धाओ के कवच, चौपड की गोटियाँ, सोने के लिए पलग, वैठने के आसन एव एक प्रकार की खेलने की गुडिया का उल्लेख मिलता है। धनी समाज मे ही इन शिल्पो को स्थान प्राप्त था।[4] नागराज वासुकि ने पातालपुरी मे भीम को सोने के लिए एक वहुत वडा नागदत दिया था।[5] धनी व्यक्ति दात से छतरी की सलाइयाँ भी वनवाते थे। सम्भवत हाथीदाँत ही इन सव चीजो के लिए व्यवहृत होता था।[6]

अस्थि व चर्मशिल्प—विभिन्न प्राणियो के चमडे से भिन्न-भिन्न प्रकार के आवश्यक द्रव्य निर्मित होते थे। गाडी अर्थात् गेंडे के पीठ के हिस्से से अर्जुन का धनुप वना हुआ होने के कारण ही 'गाडीव' कहलाया।[7] गाय की हड्डी, चमडे व वालो से अनेको प्रकार की प्रयोजनीय वस्तुएँ वनाई जाती थी। लेकिन किस प्रकार कौन सी वस्तु वनाई जाती थी, इसका कोई उल्लेख नही मिलता। कहा गया है कि

---

१. कुद्दाल दात्रपिटकम्। शा २२८।६०। वन १०७।२३
   तथैव परशून् शितान्। सभा ५१।२८
   वात्यैक तक्षतो वाहुम्। आदि ११९।१५
२. मत्स्यो वडिशमायसम्। उ ३४।१३। वन १५७।४५
३ मणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा। उ १।२। वि १।२५
   खड्ग मणिमयत्सरुम्। द्रो ४७।३७
४. शुद्धदन्तत्सरुनसीन्। सभा ० ५१।१६, ३२। भी ९६।५०। वि० १।२५। शा ४०।४। उ ४७।५। वि ३७।२९
५. ततस्तु शयने दिव्ये नागदन्ते महाभुज.। आदि १२८।७२
६ समुच्छित दन्तशलाकमस्य सुपाण्डुर छत्रमतीव भाति। भी २२।६
७ एप गाडीमयश्चाप। उ ९८।१९। नीलकंठ देखिये

गाय अपने चमडे, हड्डी, सीग एव बालो के द्वारा भी हमारा बहुत उपकार करती है।[1] असि के साथ चर्म नामक एक प्रकार के शस्त्र का उल्लेख प्राय सर्वत्र मिलता है, लगता है, उसका सकेत ढाल से है। बाघ के चमडे से हौदे की गद्दी ढकी जाती थी।[2] चर्मपादुका बहुल रूप से प्रचलित थी इसमे भी सन्देह नही है, लेकिन वे किस जानवर के चमडे से बनती थी, इसके बारे मे कोई सकेत नही दिया है।[3]

छत्र एव चर्मपादुका की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अनुशासन पर्व के ९५ वें व ९६ वे अध्याय मे एक उपाख्यान है। महर्षि जमदग्नि धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे थे। उनकी पत्नी रेणुका छोडे हुए बाणो को उठाकर पति को देती जा रही थी। दोपहर का समय था। रेणुका पाँवो के नीचे गरम रेत और सिर पर कडी धूप का ताप सहन नही कर पाई, थोडा विश्राम कर लेने के ख्याल से एक पेड के नीचे बैठ गई। बाण मिलने मे देर होने पर ऋषि ने कारण जानना चाहा। रेणुका ने सूर्यदेव के अत्याचार की बात बताई। ऋषि ने क्रुद्ध होकर सूर्य को उचित सजा देने के लिए धनुष पर बाण चढाया। यह देखकर सूर्य ब्राह्मण वेश मे उनके समक्ष प्रगट हुआ और हाथ जोडकर बोला, "ऋषिवर, जगत की भलाई के लिए मुझे ऐसा करना पडता है।" इसके बाद सूर्य ने ऋषि को सिर के लिए छत्र एव पाँव के लिए चर्मपादुका देकर जान बचाई। छत्र एव चर्मपादुका की अत्यन्त प्राचीनता एव पवित्रता ख्यापन के उद्देश्य से ही शायद यह उपाख्यान लिखा गया होगा।

चमडे से एक तरह का जलपात्र भी बनाया जाता था।[4] हरिण एव मेढे के चमडे से उत्कृष्ट आसन बनते थे। चीन देश मे बहुत अच्छा चमड़ा पाया जाता था। इस देश मे कम्बोज का (अफगानिस्तान का उत्तर पूर्वा श) कदलीमृग चर्म अपने विचित्र वर्णो के लिए बहुत प्रसिद्ध था।[5]

छत्र व व्यजन---छत्र का व्यवहार भी उन दिनो बहुत अधिक होता था।

---

१. पयसा हविषा दध्ना शकृता चारव चर्मणा।
अस्थिभिश्चोपकुर्वन्ति श्रृंगैर्वालैश्च भारत। अनु ६६।३९।

२. वैयाघ्रपरिवारितान्। विचित्रांश्च परिस्तोमान्। सभा ५१।३४

३. दह्यमानाय विप्राय यः प्रयच्छत्युपानहौ। इत्यादि। अनु ९६।२०

४. दृतेः पादादिवोदकम्। उ ३३।८१

५. शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि रांकवाण्यजिनानि च। सभा ५१।९, २७
अजिनानां सहस्राणि चीनदेशोद्भवानि च। उ ८६।१०
कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च।
काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै...॥ सभा ४९।१९। सभा ५१।३

लेकिन छत्र किसी कपडे से या किसी प्रकार के पत्ते से अथवा अन्य किसी चीज से वनाया जाता था, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। धनी लोगो के यहाँ जो छत्र काम मे लाये जाते थे वे काफी चमक-दमक वाले होते थे। साधारणत सफेद रग के छत्र ही उस काल मे वनते थे। छत्र के जितने भी उदाहरण मिलते है, वे सव सफेद रग के मिलते हैं। एक सौ (असख्य के अर्थ मे भी शत सहस्रादि शव्दो का प्रयोग हुआ है।) शलाकाओ से छत्र का ढाँचा तैयार किया जाता था। कही-कही शलाकाएँ दाँत की दिखाई गई हैं। सम्भवत इस प्रकार का वाहुल्य भी अभिजात्य के अग रूप मे एक विशेष श्रेणी तक ही सीमित था। जनसाधारण के व्यवहार मे छत्र के वारे मे कुछ नही कहा गया है।[1] युद्धक्षेत्र के वर्णन मे भी सव वीरो के सिर पर सफेद रग का छत्र पाया जाता है। हाथी एव रथ के ऊपर श्वेतछत्र सुशोभित होता था।[2] तालवृन्त अर्थात् हाथ के पखो का उल्लेख भी नाना स्थानो पर मिलता है।[3]

चँवर व पताका—राजा-महाराजाओ पर चंवर ढुलाये जाते थे। सफेद, लाल, काले, अनेक वर्णो के चंवरो का जिक्र मिलता है। सभामडप, रथ आदि को सुसज्जित करने के लिए विभिन्न रगो की पताकाएँ व्यवहार मे लाई जाती थी। किसी विशेष उपलक्ष्य मे होनेवाली शोभायात्रा आदि मे भी चँवर, पताकाओ आदि का आडम्वर कम नही होता था। पताकाएँ अनेको रगो की होती थी एव उन पर जीवजन्तु , वृक्षलता आदि के चित्र वने होते थे।[4]

कुशासन—मुनि-ऋषि साधारणत कुशासन पर वैठते थे। अतिथि की भी कुशासन देकर अभ्यर्थना की जाती थी। कही-कही कुशासन को कृष्णचर्म से ढके जाने का उदाहरण भी मिलता है।[5]

---

१. पाडुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि। भी १।१४। अश्व ६४।३। आश्र २३।८
समुच्छ्रित दन्तशलाकमस्य सुपाडुर छत्रमतीव भाति॥ भी २२।६। वन २५१।४७। अनु ९६।१८
२. श्वेतच्छत्राण्यशोभन्त वारणेषु रथेषु च। भी ५०।५८
३. तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्त सर्वश.। अनु १६८।१५। शा ३७।३६, शा ६०।३२
४. श्वेतच्छत्रै पताकाभिश्चामरैश्च सुपाडुरैः। वन २५१।४७। सभा ५२।५, सभा ५३।१३, १४। द्रो १०३ रा अध्याय। शा ३७।३६। शा १००।८
५. कौश्यां वृष्यामासस्व यथोपजुषम्। इत्यादि। वन १११।१०। वन २९४।४। शा ३४३।४२।

खस का छत्र—ग्रीष्मकाल मे व्यवहार करने के उद्देश्य से खस का चादर की तरह का एक आच्छादन बनाया जाता था। यह शिल्प किस ढग का था, इसका ठीक अदाज नही लगता।[1]

शिविका—अभिजात घरो की महिलाओ को अगर कही दूर जाना होता था तो वे शिविका मे चढकर जाती थी। शव आदि ले जाने के लिए भी शिविका ही काम मे लाई जाती थी। किन-किन चीजो से शिविका बनाई जाती थी, इसका कोई उल्लेख महाभारत मे नही मिलता। सम्भवत लकडी व बॉस ही प्रधान उपकरण थे। शिविका आदमी ही कधो पर उठाते थे, इसलिये यह तो निश्चित है कि किसी भारी धातु से नही बनती होगी।[2]

रथ—करीब-करीब सभी रथो के ध्वनि से पता चलता है कि रथ घोडे खीचते थे और एक सारथी घोडो को चलाता था। कोई-कोई रथ वायुवेग से दौडता था। रथ के नीचे पहिये होते थे। रथ की निर्माण प्रणाली के सबध मे कुछ नही कहा गया है। किसी-किसी रथ को चार घोडे खीचते थे। रथ तरह-तरह के चित्र, पताकाओं, ध्वजाओ आदि से सुसज्जित होते थे।[3] किसी-किसी रथ की ध्वजा का चिह्न देखकर दूर से ही आरोही पुरुष का परिचय मिल जाता था। अर्जुन, भीष्म, द्रोणाचार्य, कृप, दुर्योधन आदि प्रसिद्ध वीरो के रथ की ध्वजा का अलग-अलग चिह्न था।[4] ऊँट, खच्चर एव गधे के द्वारा भी रथ चलाया जाता था।[5] बैल गाडी मे जोते जाते थे, लेकिन उस गाडी की आकृति आधुनिक बैलगाडी जैसी थी या भिन्न थी, यह बताना कठिन है। युधिष्ठिर ने पहले बैलों के रथ मे बैठकर ही नगर मे प्रवेश किया था।[6]

वास्तु शिल्प—नया मकान बनाने के पहले जमीन नापने का नियम था। शास्त्रीय विधान के अनुसार जमीन नापने की व्यवस्था की जाती थी। कोई भी

---

१. छत्रं वेष्ठनमौशीरमुपानद्व्यजनानि च। शा ६०।३२

२. ततः कन्यासहस्रेण वृता शिविकया तदा। आदि ८०।२१। आदि १२७।७ आदि १३४।१२। वन ६९।२३।

३. यानैर्हाटकचित्रैश्च। आदि २१९।५। सभा २४।२१

४. वि० ५५ वाँ अध्याय।

५. उष्ट्राश्वतरयुक्तानि यानानि च वहन्ति माम्। अनु ११८।१४। आदि १४४।७

६. श्वस्ताञ्च श्रृणोम्येनं गोपुत्राणां प्रतोद्यताम्। अनु ११७।११ युक्तं षोडशभिर्गोभिः पांडुरैः शुभलक्षणैः। शा ३७।३१।

विज्ञ व्यक्ति जमीन मापता था। किसी नये नगर की नीव डालते वक्त भी पूरी नाप-जोख की जाती थी शान्तिपाठ करके काम शुरू किया जाता था।[1]

प्रासाद एव गृहनिर्माण के जो उदाहरण महाभारत मे मिलते है वे सभी राजा-महाराजाओ के है। उनकी शिल्प निपुणता व सौन्दर्य पाठको को विमुग्ध कर देता है। वास्तु कला उस युग मे काफी उन्नत थी। आदि पर्व के १३४ वे अध्याय मे, हस्तिनापुर मे परीक्षा प्रदर्शन के उद्देश्य से बने प्रेक्षागार का वर्णन मिलता है। मणि, मुक्ता, वैदूर्य आदि रत्नो से जडित, सुवर्णमय विशाल गृह बनाया गया था। १४४ वें अध्याय मे जतुगृह का चित्र अकित हुआ है। सन के तनो, सर्ज्जरस, घी, लाख आदि आग्नेय द्रव्यो के सयोग से घर बनाया गया था। घी, तेल, चर्बी आदि के साथ मिट्टी मिलाकर दीवालो पर लेप किया गया था। गृह चार कक्षो का एव अत्यन्त मनोरम था। शिल्पी पुरोचन ने दुर्योधन के उत्तेजित करने पर जतुगृह का निर्माण किया था। उस अमगलकारी घर का नाम था—'शिव'।[2] युधिष्ठिर आदि के कल्याण के निमित्त विदुर द्वारा प्रेरित किये जाने पर एक खोदनेवाले ने घर के फर्श के नीचे एक तहखाना बनाया था।[3]

आदिपर्व के १८४ वे अध्याय मे द्रौपदी की स्वयवर सभा का वर्णन मिलता है। नगर के ईशानकोण मे समभूमि पर चारो ओर प्रासादो से घिरा सभागृह बनाया गया था। खाई एव परकोटे से घिरा, तोरण, माल्य आदि से मडित, तरह तरह के रत्नो से जडित, सुवर्णजाल से अकित, पुष्पमालाओ से विभूषित शतद्वार विशिष्ठ, अगरु से धूपायित, चन्दनसिक्त, सुसज्जित सभागृह हिमालय शृग की तरह सुशोभित हो रहा था। द्रौपदी से विवाह करने के बाद जब पाडव धृतराष्ट्र को बुलाने पर हस्तिनापुर गये तो धृतराष्ट्र ने कौरव पाडवो मे पुन सघर्ष होने के डर से पाडवो को खाडवप्रस्थ मे नया नगर बसाकर रहने का आदेश दिया। धृतराष्ट्र का आदेश शिरोधार्य करके पाडव कृष्ण के साथ खाडवप्रस्थ गये और वहां उन्होने वन को स्वर्ग मे परिणत कर दिया।[4] शुभलग्न मे अच्छी जगह शान्तिपाठ करके महर्षि

---

१. तत' पुण्ये शिवे देशे शान्ति कृत्वा महारया'।
नगर मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः॥ आदि २०७।२९। आदि १३४।८। अश्व० ८४।१२

२. निवेदयामास गृह शिवाख्यमशिर तदा। आदि १४६।११

३. कपाटयुक्तमज्ञातं सम भूम्याश्च भारत। आदि १४७।१७

४. ततस्ते पाडवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मंडयाञ्चक्रिरे तद् वै पर स्वर्गवदच्युता॥ आदि २०७।२८

द्वैपायन आदि महर्षियो ने नगर के माप आदि का कार्य सम्पन्न किया। उसके वाद प्रसिद्ध शिल्पियो ने अपना कार्य आरम्भ किया। चारो तरफ सागर जैसी परिखा (खाई) और गगनचुम्बी परकोटा बनाया गया था। सफेद वृहदाकार मेघखडो की तरह अथवा निर्मल ज्योत्स्ना के समान मोहित करनेवाली थी उस नगर की शोभा। मदार जैसे ऊँचे गोपुर (फाटक) द्वारा सुरक्षित शुभ्र प्रासाद श्रेणी का सौन्दर्य मानो पातालपुरी की 'भोगवती' से भी अधिक था। तरह तरह के अस्त्र-शस्त्रो द्वारा सुसज्जित गृहश्रेणियाँ स्वर्गपुरी जैसी लगती थी।[1] नगर के चारो ओर वृक्षलताओ से सुशोभित रम्य उद्यान आदि के चित्र भी इन्द्रप्रस्थ के वर्णन मे हमारी नजरो के सामने आते है। आम, आमडा, कदम्ब, अशोक, चम्पक, जूही, नागकेशर, वडहर, कटहल, शाल, ताल, तमाल, बकुल, केतकी, आमलक, लोध, अकोल, जम्बु, पाटल, माधवी, करील, पारिजात आदि अनेको प्रकार के वृक्षलताओ के फल फूलो की गध से नगर भरपूर रहता था, मानो बारहो महीने वसन्तोत्सव रहता हो। कोयल की कूक व मयूरो की केका से नगर सदा मुखरित रहता था। लतागृह, चित्रगृह, आदि से सुशोभित मनोमुग्धकारी उद्यान कमलो की सुगन्ध से सुरभित, निर्मल जलपूर्ण जलाशय, ह्रदो व वापियो द्वारा और भी मनोरम लगते थे। अरण्यो के अन्दर लताओ से वेष्टित पुष्करिणियाँ हस , बतख, चकवे आदि जलचर प्राणियो के क्रीडास्थल थे। बीच-बीच मे बनाई गई कृत्रिम पर्वतश्रेणियाँ नगर की सुन्दरता मे चार चाँद लगाती थी।[2]

युधिष्ठिर के सभामण्डप का वर्णन भी अत्यन्त मनोमुग्धकारी है। सभागृह वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना था। अर्जुन के प्रति कृतज्ञतावश, श्रीकृष्ण के आदेश से दानवशिल्पी ने इन्द्रप्रस्थ के सभागृह का निर्माण किया था। मडप की आकृति विमान जैसी थी। चाहने पर उसे एक जगह से दूसरे जगह ले जाया जा सकता था। एक स्थान से हटाने के लिए आठ हजार शक्तिशाली पुरुषो की आवश्यकता होती थी।[3] शुभ दिन, शुभ लग्न देखकर हजार ब्राह्मणो को खिलाया गया और बहुत सा धन उन्हे दक्षिणा मे दिया गया। तब श्रेष्ठ शिल्पियों ने सभागृह के स्थान की नाप-जोख शुरू की। चतुष्कोण दस हजार हाथ भूमि को घेर कर वह सुन्दर व वृहद् मडप बनाया गया था।[4]

१. आदि २०७।२९-३६
२. आदि २०७।४१-४८।
३. **विमानप्रतिमा चक्रे पांडवस्य शुभां सभाम्। सभा १।१३। सभा० ३।२८**
४. **पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमंगलः। इत्यादि। सभा १।१८-२०। सभा० ३।२३**

कैलाश पर्वत पर दानवराज वृषपर्वा का जो मणिमय यज्ञमडप मय द्वारा वनाया गया था, उसके सब रत्न विन्दु सरोवर से ही लाये गये थे। युधिष्ठिर के सभागृह के निर्माण के शुरू मे ही शिल्पी मय ने अर्जुन से कुछ दिनो की छुट्टी माँगकर मणिरत्न इकट्ठे करने के लिए विन्दुसरोवर की तरफ प्रस्थान किया था। वहाँ से वृपपर्वा के सभागृह के स्फटिक आदि भीम के लिए सुवर्णविन्दु चित्रित गदा एव अर्जुन के लिए देवदत्त नामक वारुण शख लाये गये थे। सब इकट्ठा करने के वाद दिव्य, मणिमय स्तम्भो युक्त आकाशचुम्बी मडप तैयार हुआ था।[1] मडप की दीवारें, तोरण आदि रत्नजडित थे। सभागृह के अन्दर ही शिल्पी मय ने नाना प्रकार के मणिरत्नो द्वारा कृत्रिम जलाशय वनाया था। उसमे प्रस्फुटित कमलो की पखुडियाँ वैदूर्य की एव डडियाँ मणि की थी। विभिन्न प्रकार के पक्षी, कछुए, मछलियाँ आदि वनाए गए थे। सभी कुछ मणि-मुक्ताओ एव सोने से तैयार किया गया था। जलाशय मे स्फटिक की सीढियाँ थी। सभागह के बीच-बीच मे सचमुच के दो-चार जलाशय भी खोदे गये थे, उसमे भी पद्म, उत्पल आदि सुगधित पुष्प लगाये गये थे, हस, वतख चकवे आदि पक्षियो के रहने की व्यवस्था की गई थी। शिल्पी की निपुणता के कारण असली और नकली मे अन्तर निकालना वहुतो के लिए मुश्किल था।[2] स्वय कुरुपति दुर्योधन रत्नजडित स्फटिक से बने कृत्रिम जलाशय को असली समझकर कपडे समेटने लगे थे, तब भीम के मुस्कुराने पर उन्हे बडी लज्जा महसूस हुई थी। इसके बाद एक बार धोखा खा चुकने के वाद असली जलाशय को भी कृत्रिम समझ वैठे और अर्जुन, कृष्ण, द्रौपदी व अन्य महिलाओ के उच्च हास्य के वीच जब भीगे कपडे उतारने पडे तो पहले की व्यथा जैसे सौगुनी हो गई थी। निर्मल शिला व स्फटिक की दीवार मे पडते प्रतिविम्व को वाहर निकलने का मार्ग समझने के कारण भी दुर्योधन को सहदेव व भीम के सामने शर्मिन्दा होना पडा था और शिर मे कम चोट नही लगी थी। स्वय कुरुपति की जब यह हालत थी तो साधारण लोगो को भ्रम होना तो वहुत ही सम्भव था।[3] उस सभागृह के निर्माण मे चौदह महीनो से भी अधिक समय लगा था।[4] स्तम्भो के बिना भी प्रासादनिर्माण के कौशल से उस काल के शिल्पी

---

१. तत्र गत्वा स जग्राह गदां शख च भारत।
   स्फटिकञ्च सभाद्रव्य यदासीद्वृषपर्वमः॥ इत्यावि। सभा ३।१८-२०

२. सभा ३ रा अध्याय।

३. सभा ५०।२५-२६। सभा ४७।३-१३

४. ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः। सभा ३।३७

अवगत थे।[1] युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे निमन्त्रित राजाओ को जिन प्रासादों मे ठहराया गया था, उनकी शोभा भी अतुलनीय थी। ऊँचे श्वेत परकोटे से घिरे, अगुरुधूपित, माल्यविभूषित एव महार्घरत्नखचित भवन देखने मे हिमालय शिखरो जैसे थे।[2]

युधिष्ठिर के सभागृह का शिल्पकार्य देखकर ईर्ष्यान्वित दुर्योधन ने धृतराष्ट्र की अनुमति लेकर हस्तिनापुर मे एक सभागृह बनवाया था। धृतराष्ट्र ने नाना देशो के सुप्रसिद्ध शिल्पियो को बुलाकर, शतद्वार, सहस्रस्तम्भो वाले रत्नजडित सभामडप बनाने का आदेश दिया था। उनके आदेश से एक कोस लम्बे एक को र चौडे स्थान पर तरह-तरह के अमूल्य उपकरण लगाकर सभागृह व उद्यानादि बनाये गये थे।[3] द्वारिकापुरी का जो चित्र अकित हुआ है, वह भी अत्यन्त मनोरम है। पुरी के चारो ओर नाना वर्ण-रजित पताकाएँ उडती रहती थी, हिमालय-शिखर जैसे श्वेत प्रासाद समूहो से पुरी सुशोभित थी। (दूसरे वर्णन इन्द्रप्रस्थ की तरह ही हैं।)[4]

पातालपुरी का सिर्फ एक ही जगह वर्णन किया गया है, लेकिन उसी मे उसका असामान्य ऐश्वर्य एव शिल्प-वैशिष्ट्य प्रस्फुटित हो उठा है। तरह-तरह के प्रासाद, अट्टालिकाओ, चूडाओ आदि से पातालपुरी सुसज्जित थो।[5]

कालकेय दैत्य हिरण्यपुर नामक नगर मे वास करते थे। आकाश मे अवस्थित होने के कारण उसका दूसरा नाम 'खपुर' था। शायद वह पुरो किसी बहुत ऊँचे पर्वत पर अवस्थित थी। एक जगह कहा गया है कि जो तीन करोड दैत्य समुद्र मे दुर्ग बनाकर रहते थे, उनका नाम 'निवातकवच' था। अर्जुन ने उन दुर्दमनीय दैत्यो का युद्ध मे वध किया था।[6]

मत्स्यराज की सभा का चित्र भी अद्भुत था। मणिरत्न जडित सभागृह मे सुवर्ण खचित सिंहासन सुशोभित थे।[7] महाराज धृतराष्ट्र के गृहवर्णन मे पाया जाता

---

१. स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा। सभा ११।१४।

२. ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात्। इत्यादि। सभा ३४।१८-२४

३. सभा ४९।४७-४९। सभा ५६।१८-२२

४. पुरी समन्ताद्विहिता सपताका सतोरणा। इत्यादि। वन १५।५-११

५. आदि ३।१३३

६. वन १७३ वाँ अध्याय।

निवातकवचा नाम दानवा देवशत्रवः

समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्युत। वन १६८।७२।

७. सभा तु सा मत्स्यपते: समृद्धामणिप्रवेकोत्तमरत्नचित्रा। इत्यादि। उ १।२

है कि पाडु का प्रासादश्रेणी से घिरा सुन्दर प्रासाद बहुत से कक्षो मे विभक्त था। घृतराष्ट्र चतुर्थ कक्ष मे रहते थे।[1] दुर्योधन, दु शासन आदि राजपुत्रो के गृह उपकरणो मे मणि, मुक्ता, सोने आदि का व्यवहार ही अधिक हुआ था। प्रत्येक प्रासाद मानो कुवेर का भवन था।[2]

युद्ध के प्रारम्भ मे दुर्योधन ने जो शिविर बनवाया था, वह देखने मे हस्तिनापुर जैसा ही था। शत-शत दुर्ग उत्कृष्ट शिल्पकला के नमूनो रूप मे सुशोभित हो रहे थे। बहुत गौर से देखने पर भी शिविर और हस्तिनापुर मे अन्तर निकालना कठिन था।[3] पाडवो की तरफ भी कृष्ण की देखरेख मे कुरुक्षेत्र मे शिविर तैयार हुआ था। शिविर को प्रचुर काष्ठ द्वारा दुराधर्ष वनाया गया था। प्रत्येक शिविर एक-एक वहुमूल्य विमान की तरह दीखता था। सैकडो शिल्पियो ने यथायोग्य वेतन लेकर कार्य किया था।[4]

किसी समादृत अभ्यागत के आगमन के उपलक्ष्य मे रास्ते मे सभागृह का निर्माण किया जाता था। कृष्ण जब सधि का प्रस्ताव लेकर उपप्लव्य से हस्तिनापुर गये थे, तब धृतराष्ट्र के आदेश से रास्ते मे पडने वाली रमणीक जगहो पर अनेको सभामडप वनाये गये थे। मणिमुक्ता जडित मडप, तरह-तरह के आसन, वस्त्र, गध, माल्य आदि द्रव्यो से सुसज्जित किये गये थे। विशेषत 'वृकस्थल' गॉव का सभा-मडप तरह-तरह के रत्नो द्वारा निर्मित होने के कारण हर एक का मन हर लेता था। शल्य को अपने पक्ष मे मिलाने के उद्देश्य से दुर्योधन ने भी रास्ते मे उसी तरह के मडप वनवाये थे।[5]

युद्ध मे विजयी होकर योद्धा जव नगर मे प्रवेश करते थे तव खूव चमक दमक के साथ नगर को सजाया जाता था। विशिष्ट अभ्यागतो के शुभागमन के अवसर पर भी, उनकी अभ्यर्थना के लिये नगर, राजपथ आदि को शुभ्र माल्य, तोरण, पताका आदि से अलकृत किया जाता था। अलकृत राजमार्ग धूप अगुरु आदि की सुगधि से सुरभित रहता था। प्रासाद सुगधित द्रव्यो, तरह तरह के पुष्पो, प्रियगु वृक्षो,

---

१. पाडुर पुण्डरीकाक्ष' प्रासादैरुपशोभितम्। इत्यादि। उ ८९।११, १२
२. शा ४४ वाँ अध्याय।
३. न विशेष विजानन्ति पुरस्य शिविरस्य वा। इत्यादि। उ १९७।१३, १४
४. खानयामास परिखा केशवस्तत्र भारत। इत्यादि। उ १५१।७९-८३
५. ततो देशेषु देशेषु रमणीयेषु भागश।
सर्वरत्नसमाकीर्णा. समाश्चक्रुरनेकशः। उ ८५।१३-१७। उ ८।९-११

व माल्य आदि से भूषित किये जाते थे। नगर के द्वारो पर सफ़ेदी कराकर, पुष्पादि से सजाकर भरे हुए कलश स्थापित किये जाते थे। ध्वजा, पताकाओ से सुसज्जित नगर अभ्यागत के स्वागत की सूचना देता था। सडको पर पानी छिडक कर उन्हे शीतल वनाया जाता था। कुरुक्षेत्र के युद्ध के वाद कृष्ण जब द्वारका लौटे तो रैवतक पर्वत पर उत्सव हो रहा था। उस उत्सव के उपलक्ष्य मे पर्वत की जो साज-सज्जा की गई थी वह भी कला-प्रियता का उत्कृष्ट उदाहरण थी।[1] नाना प्रकार के रत्नो से सुशोभित पर्वत रत्नजडित आवरण से आच्छादित जैसा दिखाई देता था। सुवर्णमाल्य एव पुष्पमाल्य से विभूपित , सुवर्णदीप-वृक्षो से सुसज्जित गिरि का अन्धकाराच्छन्न प्रान्त भी दिन के समान आलोकित हो रहा था। घटियाँ लगी हुई पताकाएँ पुरुषो एव नारियो द्वारा फहराई जाने के कारण एक विशेप सुर की सूचना दे रही थी। नर-नारियो के गान, शब्द से, सुरा मैरेय आदि भक्ष्य-पेय की प्रचुरता से, रैवतक उस दिन देवलोक के अपरूप ऐश्वर्य को भी फीका वना रहा था।[2]

पटगृह (तंवू)—जलक्रीडा करने के निमित्त दुर्योधन ने गगा के किनारे पटगृह अर्थात् तम्र् लगवाये थे। एक ही तबू के अन्दर बहुत से प्रकोष्ठो का निर्माण किया गया था।[3]

उडुप (डोंगी)—अत्यन्त प्राचीन काल मे दीर्घतमा ऋषि को उनके पुत्रो ने अपनी माता के आदेश से एक डोगी से वाँधकर गगा मे डुबो दिया था। अत डोगी का व्यवहार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। लेकिन किन-किन चीजों से डोगी बनाई जाती थी, इसका कोई उल्लेख महाभारत मे नही मिलता।[4]

मंजूषा—कर्ण के जन्म लेते ही कुन्ती ने एक मोम से लपेटी हुई मजूषा मे सद्यो-जात शिशु को लिटाकर नदी मे वहा दिया था।[5]

नौका—नौका के दो-चार उदाहरण महाभारत मे मिलते हैं। यमुना नदी पर

---

१. अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः।
नगरं राजमार्गश्च यथावत् समलंकृताः॥ शा ३७।४५-४९। उ ८६।१८। वि ६८।२३-२६

२. अलंकृतस्तु स गिरिर्नानारूपैर्विचित्रितैः। इत्यादि। अश्व ५९।५-१५

३. ततो जल-विहारार्थं कारयामास भारत।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च॥ इत्यादि। आदि १२८। ३१, ३२

४. वद्ध्वोडुपे परिक्षिप्य गंगायां समवासृजन्॥ आदि १०४।३९

५. मंजूषायां समाधाय स्वास्तीर्णायां समन्ततः॥ इत्यादि। वन ३०७।६, ७

सत्यवती खिवैये का काम करती थी।[1] जतुगृह मे आग लगने के वाद पाडव अपनी माता कुती के साथ सुरग से निकल कर गगा के किनारे पहुँचे। उसके बाद महामति विदुर की भेजी हुई नौका पर बैठकर गगा के दूसरे किनारे पर उतरे। वह नौका यन्त्रो व पताकाओ से युक्त, सुदृढ व वायुवेग से चलनेवाली थी। तूफान आने पर नौका के डूबने की आशका नही थी। यहाँ यन्त्र शब्द किस चीज को लक्ष्य करके कहा गया है, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है। टीकाकार नीलकठ ने कहा है कि यन्त्र शब्द, तूफान आने पर नौका को ठहराने के लिए जो एक तरह का लगर डाला जाता है उसी की ओर सकेत करता है। पताका का मतलब शायद पाल है। टीकाकार ने कहा है कि पाल वाली नौका अगर वायुवेग से भी चले तो उसके अन्दर लहर प्रवेश नही कर सकती। सीधे शब्दो मे यह कहना चाहिये कि उस काल मे नौकानिर्माण एव चलाने के सुचारु ढग से लोग अनभिज्ञ नही थे।[2] अर्जुन निवात कवचो से युद्ध करने के लिये समुद्र मे गये थे तो उन्होंने पर्वतसदृश उठती तरगो के वीच असख्य रत्नपूर्ण नौकाएँ देखी थी। इससे अदाज लगता है कि वे नौकाएँ भीषण तरगो मे भी अपना अस्तित्व बचाये रखने लायक उपकरणो से बनाई जाती थी। उन्हे सामुद्रिक वाणिज्य पोतो के ही एक रूप मे लिया जा सकता है।[3]

हरिवश के विष्णुपर्व मे वृष्णिवशियो की तरह-तरह की नौकाओ का वर्णन किया गया। क्रौच जैसी, शुक जैसी, गज जैसी आदि तरह तरह की नौकाएँ उनके पास थी। नौकाओ मे ही वडे-वडे कमरे वनाये जाते थे। उनका रग सोने की तरह चमकता था। वृष्णि उन नौकाओ पर चढकर समुद्र मे विहार करते थे।[4]

पूर्त्त-शिल्प—कुएँ, बावडी, तालाब, जलाशय आदि खुदवाना, धर्मकृत्यो मे गिना जाता था। श्राद्ध आदि के उपलक्ष्य मे प्रियजनो की सद्गति कामना के लिए भी ये कार्य किये जाते थे। इन सव कार्यों की ओर लक्ष्य रखना धनिकवर्ग का

---

१ शुश्रूषार्थं पितुर्नाव वाहयन्तीं जले च ताम्। आदि ६३।६९। आदि १०५।८

२. ततो वातसहा नावं यन्त्रयुक्ता पताकिनीम्।
ऊर्म्मिक्षमा दृढ़ा कृत्वा कुन्तीमिदमुवाच ह॥ आदि १४१।५। आदि १४९।५ सभा० ६५।२१

३. नावः सहस्रशस्तत्र रत्नपूर्णाः समन्तत.। वन १६९।३

४. क्रौञ्चच्छन्दाः शुकच्छन्दा गजच्छन्दास्तथापरे।
कर्णधारैर्गृहीतास्ता नाव. कार्त्तस्वरोज्ज्वलाः। इत्यादि। विष्णु पु० १४७ वाँ अ०।

कर्त्तव्य कहा गया है। इस सबध मे बहुत से उदाहरण महाभारत मे मिलते हैं। पुराने जलाशय आदि की मरम्मत करवाना या उन्हे उलीचवाना धनियो का आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था।[1]

जलयन्त्र—हस्तिनापुर के उद्यान का वर्णन करते हुए एक जलयन्त्र का उल्लेख हुआ है। टीकाकार नीलकठ कहते है कि वह यन्त्र शतधार जलयन्त्र था, जिससे पानी एक साथ असख्य धाराओ मे निकलकर तुषार की तरह पृथ्वी को आर्द्र कर देता है। इस यन्त्र को जब चाहे खोला या बन्द किया जा सकता था, इसीलिए यन्त्र को "साचारिक" अर्थात् सचार योग्य कहा गया है।[2]

काष्ठ शिल्प—जतुगृह बनाने के लिए देवदारु के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[3] लकडी आदि से घर बनाने की व्यवस्था उस काल मे भी थी।[4] बैठने के लिए काष्ठा-,सन भी व्यवहार मे लाये जाते थे।[5]

वस्त्रशिल्प—वस्त्रशिल्प भी उन दिनो काफी उन्नत था, तरह तरह के उत्कृष्ट वस्त्र तैयार होते थे। किसी-किसी जगह तो उस शिल्प ने विशेष रूप से उन्नति की थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे कम्वोज के राजा ने जो वस्त्र उपहार मे दिये थे, वह सर्वोत्कृष्ट माने गये थे। भैस के रोओ से बना 'और्ण', चूहो आदि के रोओ से बना 'वैल' एव विडाल के रोओ से बना 'वार्षदश' आदि अनेको बहुमूल्य वस्त्र वे उपहार मे लाये थे।[6] वस्त्रो के बीच-बीच मे सुवर्ण जाल भी था। वाह्लीक देश मे (जहाँ सिंधु एव शतद्रु नदियाँ मिली है उसका नाम वाह्लीक देश था। (उ० ३९। ८० नीलकठ टीका)। एव भारत के वाहर चीन देश मे उस युग मे तरह तरह के पशमी, रेशमी व पट्टुवस्त्र तैयार होते थे। विशेपत उनमे रग-बिरगे चित्र बनाये जाते थे। ये वस्त्र भैस या हरिण के रोओ से बनते थे। पाट एव कीटज रेशम के

---

१. कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा। इत्यादि। आदि १०९।१२।
आदि १२८।४१
उद्दिश्योद्दिश्य तेषाञ्च चक्रे राजौर्द्ध्वदेहिकम्।
सभाः प्रपाश्च विविधास्तटाकानि च पांडवः॥ शा ४२।७ शा ६९।४६, ५३

२. जालैर्यन्त्रैः सांचारिकैरपि। आदि १२८।४०

३. दारूणि चैव हि। आदि १४४।११

४. तृणच्छन्नानि वेश्मानि पंकेनाथ प्रलेपयेत्। शा ६९।४७

५. रुचिरैरासनैस्तीर्णाम् काञ्चनैर्दारवैरपि। उ ४७।५

६. और्णान् वैलान् वार्षदंशान् जातरूपपरिष्कृतान्।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून्॥ सभा ५१।३

पञ्चवर्ण हजारो वस्त्र युधिष्ठिर को उपहार मे मिले थे। वस्त्र बहुत ही मुलायम थे।[1] कम्बोज के कम्बल भी बहुत प्रसिद्ध थे।[2] वैराम, पारद, आभीर आदि अभ्यागतो ने भी अन्यान्य उपहारो के साथ तरह-तरह के कबल उपहार मे दिये थे। सिहलवासी आगन्तुको ने युधिष्ठिर को बहुत सी कथरियाँ उपहार मे दी थी।[3] उल्लिखित उदाहरणो मे यद्यपि कपास के वस्त्रो का उल्लेख नही किया गया है, लेकिन कपास के वस्त्र बनते ही नही थे, यह नही कहा जा सकता। चूँकि महाराज को उपहार देना था, अत देनेवाले अपने-अपने देश की उत्कृष्ट वस्तु ही देते इसमे सन्देह नही है। एक जगह कहा गया है 'कपास के नही, ऐसे'[4] अनेको प्रकार के मसृण कपडे उपहार मे दिये गये थे। इस उक्ति से पता चलता है कि कपास के वस्त्र नित्यप्रति के व्यवहार के लिए होते थे, इसी कारण उनके बारे मे विशेष कुछ नही कहा गया है। लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सफेद, लाल, नीले विभिन्न रगो के वस्त्र पहनते थे। (वस्त्राभूषण प्रवध देखिये)। युधिष्ठिर के यज्ञ मे सिहल से जो लोग आये थे उन्होने मणिजडित वस्त्र पहन रखे थे।[5] हाथीदाँत व कपडे को मिलाकर एक तरह की गुडिया वनाई जाती थी, इसका सिर्फ एक जगह उल्लेख हुआ है।[6]

भीम के पूर्वी भारत के विजय वर्णन मे देखा जाता है कि उन्होने बगाल के पुड्र, (उत्तर बग) ताम्रलिप्त (तामलूक) कर्वट, सूक्ष्म (दक्षिणराढ) आदि स्थानो पर विजय प्राप्त करके लौहित्य अर्थात् ब्रह्मपुत्र नदी से आगे वढना शुरू किया। वहाँ म्लेच्छराजाओ को युद्ध मे पराजित करके, उनसे अनेको तरह के कर लिये। पूर्व से चदन, अगुरु, वस्त्र, मणि, मुक्ता, कम्वल आदि असख्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रा मे उन्हे उपहारस्वरूप मिली थी। उससे अनुमान होता है कि धन-सम्पदा एव वस्त्र, कम्वल आदि के शिल्प मे पूर्व अर्थात् बगाल व आसाम भी कम नही था।[7] उत्तर कुरु जीतने

---

१. ....वाह्लीचीनसमुद्भवम्।
औणंञ्च शकवच्चैव पटज कीटज तथा॥ इत्यादि। सभा ५१।२६, २७
वासो रक्तमिवाविकम्। शा १६८।२१

२. काम्बोजः प्राहिणोत्तस्मै पराध्यानपिकम्बलान्। सभा ४९।१९

३ शतशश्च कुथास्तत्र सिहला समुपाहरन्। सभा० ५२।३६
कम्बलान् विविधाश्चैव। सभा ५१।१३

४. श्लक्ष्ण वस्त्रमकार्पासम्। सभा ५१।२७

५. सवृता मणिचीरैस्तु। इत्यादि। सभा ५२।३६

६. पाञ्चालिका। वि ३७।२९। नीलकठ देखिये।

७. सभा ३० वाँ अध्याय।

पर अर्जुन आदि को भी काफी चीजे मिली थी। उसमे भी वहुमूल्य वस्त्र, आभरण, क्षौम, चर्म आदि थे।[१]

सहदेव दक्षिण की तरफ गये थे। उन्होने भी पाड्य, केरल, आध्र, कलिंग, उष्ट्रकर्णिक आदि जगहो को जीता था। उन्हे भी उपहार स्वरूप काफी चन्दन, अगुरु, वहुमूल्य आभरण, वस्त्र, मणि आदि मिले थे। मलय व दर्दुर देशवासियो ने सुगधित द्रव्य व तरह-तरह के महीन कपडे उपहार मे दिये थे।[२]

नकुल ने पश्चिम भारत के पचनद, अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकूट आदि स्थानो को जीतकर काफी धनरत्न इकट्ठा किया था। नकुल को मिली वस्तुओ मे वस्त्र का उल्लेख नही है। काम्बोज के वस्त्र, कम्बल आदि की सुन्दरता का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

इन सव वर्णनो से पता लगता है कि भारत के हर प्रदेश मे तरह-तरह के वस्त्र तैयार किये जाते थे। किसी-किसी प्रदेश को इसके लिये विशेष रूप से प्रसिद्धि प्राप्त थी। राजसूय मे सिंहल, चीन आदि देशो के उपहारो की वहुलता से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक देश मे प्रयोजनीय वस्त्रादि द्रव्य पर्याप्त मात्रा मे उत्पन्न किये जाते थे।

धार्मिक अनुष्ठान मे देशज वस्त्रादि—पाडु का शव श्मशान पर ले जाने पर स्नान आदि कराया गया फिर नाना प्रकार के गध द्रव्य लगाकर उसे अच्छी तरह सफेद वस्त्र से आच्छादित किया गया। इस वर्णन मे वस्त्र के लिए एक और विशेषण का प्रयोग हुआ है। वह है—'देशज'।[३] देश मे वने शुक्ल वस्त्र द्वारा शव को ढका जाता है। यहाँ 'देशज'[१]·का अर्थ परिधानयोग्य है। जिन प्रदेशो मे उत्कृष्ट वस्त्र बनते थे, उनके लिए भी 'देश' शब्द का प्रयोग हो सकता है। लेकिन शब्द की अभिधा से यह अर्थ प्रकट नही होता। चीन सिंहल आदि देशो से भी नाना प्रकार की वस्तुएँ भारत मे आती थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे आये उपहारो मे इसका अनुमान लगाया जा सकता है। भारत मे भी हर प्रदेश मे वस्त्रादि शिल्प का प्रसार कम नही था, यह पहले ही, कहा जा चुका है। अतएव सर्वसाधारण के लिए असम्भव होने पर भी राजपरिवार के लिये दूसरे देशो के उत्कृष्ट वस्त्रो का सग्रह करना मुश्किल नही था, यह अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है।

---

१. ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम्॥ सभा २८।१६

२. मलयाद्दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसञ्चयान्।
मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम्॥ सभा ५२।३४

३. अथैनं देशजैः, शुक्लैर्व्वासोभिः समयोजयन्। आदि १२७।२०

लेकिन पारलौकिक कृत्य आदि धार्मिक अनुष्ठानो मे अपने देश के वने वस्त्र का व्यवहार करना अधिक पवित्र समझा जाता था कि नही, यह सोचने की वात है। 'देशज' शव्द की सार्थकता वनायी रक्खी जाय तो सवसे पहले यह अर्थ हमारे दिमाग मे आता है। मुलायम, कमनीय एव वनावट आदि की तरफ देखा जाय तो कम्वोज के वस्त्र उस काल मे प्रसिद्ध थे। तव भी शायद इन्द्रप्रस्थ व उनके निकटवर्ती स्थानो मे वनने वाले वस्त्र के लिये ही 'देशज' शव्द का प्रयोग हुआ है।

छींका—छीके का उल्लेख भी दो एक जगह हुआ है, लेकिन उसकी निर्माण-प्रणाली के वारे मे कुछ भी पता नही लगता।[1]

मधु (फलज, वृक्षज, पुष्पज)—वैराम, पारद, अहीर, कितव आदि पर्वत-जातीय अभ्यागत राजसूय यज्ञ मे उपहार स्वरूप जो द्रव्य लाये थे उनमे फलो से वना मधु ही प्रधान था। फलो के नाम व वनाने की प्रणाली के सम्वन्ध मे कुछ भी पता नही लगता। वृक्षो के रस से एक तरह की शराव वनाई जाती थी, जिसका नाम 'मैरेय' था। वृक्ष के नाम व निर्माणप्रणाली का उल्लेख नही किया गया है। हिमालय की तराई से आये हुए पहाडी अभ्यागत स्वादिष्ट पुष्पमधु लाये थे। (आजकल भी आसाम के खसिया पहाडी प्रदेश मे सन्तरे का शहद मिलता है।)[2]

शिल्परक्षा के लिये राजा का कर्त्तव्य—जिन शिल्पो का नाम स्पष्ट रूप से महाभारत मे मिलता है उन्ही का वर्णन यहाँ इस प्रवध मे किया गया है। युद्ध मे व्यवहृत होने वाले शस्त्रादि के वारे मे दूसरे प्रवध मे कहा जायगा। देश मे शिल्प की दिन-प्रतिदिन उन्नति हो, इस ओर राजाओ का विशेष रूप से लक्ष्य रहता था। राजधर्म के वर्णन मे कहा गया है कि शिल्पियो को उपयुक्त वृत्ति देना, उनका पोषण करना राजाओ का आवश्यक कर्त्तव्य है।[3] राजसभा मे शिल्पियो का यथेष्ट सम्मान किया जाता था। धनाढ्यो द्वारा उत्साहित होकर वे अपनी-अपनी कला की उन्नति मे दत्तचित्त रहते थे। दरिद्र शिल्पी अर्थाभाव से दुखी न हो, यह ख्याल रखना राजाओ के धर्म मे गण्य था। कम से कम चार महीने का पारिवारिक खर्च चलाने लायक वेतन एव शिल्प के उपकरण राजकोष से दिये जाते थे। शिल्पियो मे कोई-कोई राजधानी मे ही स्थायी रूप से रहने की व्यवस्था कर लेता था।[4]

---

१. शैक्य काञ्चन भूषणम्। सभा ५३।९

२. फलज मधु। सभा ५१।१३। मैरेयपानानि। वि ७२।२८
हिमवत्पुष्पजच्चैव स्वादु क्षौद्र तथा वहु। सभा ५२।५

३. शिल्पिन. श्रितान्। सभा ५।७१

४. यत्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्द्धरैः। सभा० ५।३६

धनी शिलिपयो से कर-वसूली—शिल्प के द्वारा जो धनी हो जाते थे, उन्हे शिल्प की आय का एक हिस्सा राजकर के रूप मे देना पडता था। राजा भी उनके शिल्प के उचित पारिश्रमिक, उन्नति, प्रसार आदि का पूरा ख्याल रखता था। अच्छी तरह जाँच पडताल करने पर जिनकी आय अधिक लगती थी, उन्ही से कर लिया जाता था। किन्तु कर की रकम निश्चित करने मे इस वात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि शिल्पी पर अनावश्यक वोझ न पडे। धन की अधिक लालसा से कही शिल्प का मूलोच्छेद ही न हो जाय, इस ओर सतर्क दृष्टि रखने के लिए राजाओ को जगह-जगह उपदेश दिया गया है। केवल वहुत ही धनाढ्य शिल्पी को छोडकर दूसरे शिलिपयो से कर वसूल करना विल्कुल निषिद्ध था।[1]

शिल्प का समादर—देश मे शिल्प वहुत ही समादृत था, इसका प्रमाण उल्लिखित प्रत्येक वर्णन मे मिलता है। शिल्प की रक्षा का भार धनियो के ऊपर होते हुए भी साधारण जनता इसके प्रति विल्कुल ही उदासीन नही थी। सभापर्व मे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे जिन लोगो के अपने-अपने श्रेष्ठ शिल्प का नमूना पेश करने का उल्लेख मिलता है, उन्होने किसी की प्रेरणावश ऐसा किया था, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। अतएव यह कहा जा सकता है कि उन सव वस्तुओ के निर्माण के लिये समाज पूरी तरह उत्कठित था। युद्ध के शस्त्र आदि केवल देश के शासकवर्ग के आदेश से एव मणि मुक्ता के अलकार आदि केवल धनियो के निमित्त अवश्य वनते थे, लेकिन गृहादि स्थापत्य शिल्प, प्रयोजनीय लौह एव कास्यशिल्प व वस्त्रादि धनी-दरिद्र सवको समान रूप से प्रयोजनीय थे। अत इनकी उन्नति के मूल मे राज्यशासन की सहानुभूति होते हुए भी वास्तव मे असाधारण समाज ही इनका स्रष्टा था। जनसाधारण के आग्रह, प्रयोजन एव उत्साह से इनकी सृष्टि, प्रसार एव उन्नति फलीभूत होती थी। पहाडी जातियो मे भी वस्त्र, कम्वल, चर्म, कुथ आदि के शिल्प काफी उन्नत थे। श्रेष्ठ शिल्पी मय को 'दानव' कहने का क्या कारण हो सकता है, यह समझ मे नही आता। उनका निवासस्थान खाडवप्रस्थ था—वियावान जगल मे दानवराज वृषपर्वा के राजदरवार मे उनका वहुत जाना-आना था, क्या इसीलिए वे दानव कहलाते थे ? मय की कला निपुणता से लगता है कि उस

सर्व-शिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यगमंस्तदा। आदि २०७।४०
द्रव्योपकरणं किञ्चित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम्। इत्यादि। सभा ५।११८, ११९

१. उत्पत्ति दानवृत्तिञ्च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिन. प्रतिकारयेत्। इत्यादि। शा ८७।१४-१८

काल मे शायद उच्च वर्ग की अपेक्षा साधारण वर्ग या तथाकथित दानव आदि के समाज मे कलानिपुण लोगो की सख्या अधिक थी। शायद वही स्थापत्य आदि शिल्प के गुरु थे।

कृषि, वाणिज्य व कला की प्रशंसा—अर्थ की प्रशसा करते हुए अर्जुन ने कहा है, धर्म एव काम अर्थ के बिना नही टिक सकते। यह ससार कर्मभूमि है। कृषि, शिल्प व वाणिज्य के अलावा धनोपार्जन का उत्कृष्ट साधन और कुछ नही है। अतएव कृषि, शिल्प व वाणिज्य की उन्नति ही समस्त वैपयिक उन्नति का मूल है। समाज की आर्थिक उन्नति का मूल यही तीनो हैं।[1]

---

१. कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्त्ता प्रशस्यते।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च॥ इत्यादि। शा० १६७। ११, १२

आहार व खाद्य

प्रत्येक प्राणी को शरीर रक्षा के निमित्त आहार करना पडता है, लेकिन मनुष्य का आहार केवल शरीर रक्षा के निमित्त नही होता। आहार के साथ मन का अद्भुत सबध है, मन पर खाद्य का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है।

प्रकृतिभेद से खाद्यभेद—जो खाद्य वस्तुएँ आयु, सत्व, बल, आरोग्य, सुख व प्रीतिवर्द्धक होती हैं, जो स्वादिष्ट, रसीली एव मनपसद होती हैं, वही सात्विक प्रकृति के लोगो को प्रिय होती हैं। कटु, अम्ल, लवण, मिर्च आदि तीखे रस रहित रुक्ष एव विदाहक खाद्य पदार्थ तामस प्रकृति के लोगो को प्रिय होते हैं।[1] एक जगह यह भी कहा गया है कि आहार मे सयम रखने से पाप का क्षय होता है। पाप हो या पुण्य लेकिन यह अवश्य सत्य है कि आहार मे सयम रखने से शरीर स्वस्थ रहता है एव अनेक व्याधियो से छुटकारा मिल जाता है। शरीर व मन के अनुकूल खाद्य ग्रहण का उपदेश देने के लिये ही यह उक्तियाँ कही गई है।[2]

आहार मे क्षुधा प्रधान सहायक—यह कहावत बँगला व अँग्रेजी दोनो भाषाओ मे प्रचलित है। महाभारत मे कहा गया है कि अगर भूख लगी हो तो खाद्य से अरुचि नहीं होती, वह स्वादिष्ट लगता है।[3]

केवल दो बार भोजन करने का विधान—साधारणत दिन मे एक बार व रात को एक बार, इस तरह दो बार भोजन करने का नियम था। कोई-कोई तीसरे वक्त भी खाता था। जो दिन मे केवल दो बार आहार लेते थे, उन्हे 'सदोपवासी' कहा जाता था।[4] सिर्फ दो बार खाने की प्रशसा एव गुणगान से ऐसा प्रतीत होता है

---

१. आयुः सत्त्वबलारोग्य—सुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ इत्यादि। भीष्म ४१।८-१०

२. आहारनियमेनास्य पाप्मा शाम्यति राजस.। शा २१७।१८

३. क्षुत् स्वादुतां जनयति। उ ३४।५०

४. सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत्॥ शाति १९३।१०। अनु ९३।१०। अनु १६२।४०

कि उस समय भी साधारण समाज मे दो वार खाने का नियम प्रचलित नही हुआ था। अगर प्रचलित होता तो इतनी प्रशसा करने का क्या कारण होता ?

धान व जौ प्रधान खाद्य—खाद्य मे जौ व धान प्रधान थे। भोजन के प्रसग मे हर जगह अन्न का जिक्र हुआ है। जौ से क्या चीज व किस तरह वनती थी, यह पता नही लगता।[1]

दूसरे खाद्य—गुड, दही, दूध, घी, तिल, मछली, मास, अनेको प्रकार के साग, तरकारी आदि खाद्यो के नाम उल्लिखित हुए हैं। हरिवश मे एक जगह तरह-तरह के खाद्यो का उल्लेख मिलता है। अचार, तरह-तरह के खट्टे पदार्थ एव शर्वत का वर्णन भी वहाँ मिलता है।[2]

मासभक्षण की निन्दा व विधान—मासभक्षण की निन्दा भी है और उसका विधान भी। लेकिन ऐसे देखा जाता है कि प्राय सभी मास खाते थे। निन्दा करते हुए कहा गया है कि जो प्राणी का मास खाकर अपने शरीर की वृद्धि करना चाहते हैं, वे वहुत ही क्षुद्र एव नृशस होते है। जो मास खाने के लिये प्राणिहत्या करते है, वे भी दूसरे जन्म मे निहत होते हैं।[3]

दूसरी तरफ मासभक्षण के उदाहरण भी महाभारत मे कम नही हैं। ब्राह्मण भी मास खाते थे। युधिष्ठिर ने अपने राजसूय यज्ञ मे ब्राह्मणो को वराह एव हरिण का मास दिया था।[4] अपने वनवास काल मे पाडव फलमूल एव मास खाकर ही उदरपूर्त्ति करते थे। मास ही उनका प्रधान खाद्य था।[5] धृतराष्ट्र ने ईर्ष्या मे जलते हुए दुर्योधन से पूछा था, "मासभात (पुलाव) खाते हो, तव भी तुम दिन-प्रति

---

१. व्रीहिरस यवाश्च। अनु ९३।३३, ४४
यत् पृथिव्या व्रीहियवम्। आदि ८५।१३

२. अपूपा विविधाकारा शाकानि विविधानि च। इत्यादि। अनु ११६।२
शालीक्षुगोरसैः। इत्यादि। अश्व ८५।२१
मासानि पक्वानि फलाम्लिकानि। इत्यादि। हरि, विष्णु पु १४८ वाँ अ०।

३. स्वमास परमासेन यो वर्द्धयितुमिच्छति।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशसतरो नर.॥ इत्यादि। अनु ११६। ११-३६।

४. मासैर्वाराहहारिणैः। इत्यादि। सभा ४।२

५. आहरेयुरिमे येऽपि फलमूलमृगास्तथा। वन २।८
आरण्याना मृगानाञ्च मासैर्नानाविधैरपि। वन २६१।३

दिन दुबले क्यो होते जाते हो ?"[1] युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ मे सग्रहीत खाद्य पदार्थो मे पशुपक्षी भी सम्मिलित थे।[2] मौषलपर्व मे कहा गया है कि अधक व वृष्णि वशी राजा बहुत ही मासप्रिय थे।[3] इन सब उदाहरणो से स्पष्टतया समझा जा सकता है कि तत्कालीन समाज मे मास का काफी व्यवहार होता था एव वह उत्कृष्ट खाद्य माना जाता था।

वैध मासभक्षण मे दोष नहीं—मास भक्षण के विरोध मे जो उक्तियाँ मिलती है, उनका उद्देश्य मासाहार की निन्दा करना नही है, असली उद्देश्य अवैध मासाहार की निन्दा करना है। महाभारत मे कई तरह के मासों को वैध माना गया है। पितरो की तृप्ति के उद्देश्य से पशु वध करना निषिद्ध नही है, विहित होने के कारण वह मास वैध है।[4] विहित मत्रो द्वारा बलि दिये हुए एव ब्राह्मण के उद्देश्य से मारे गये पशुपक्षी का मास खाना अवैध नही है।[5] मन्त्र द्वारा शुद्ध किये हुए मास को 'हवि.' कहा जाता है। शास्त्र सम्मत मास का आहार दूषणीय नही होता।[6] वेदो मे विहित यज्ञो मे पशु का वध करना निषिद्ध नही है, अत यज्ञादि मे निहित पशु के मास भक्षण मे भी कोई दोष नही है।[7] अनुशासन पर्व मे कहा गया है कि शिकार मे मारे गये पशु का मास खाना भी निन्दनीय नही है, विशेषकर क्षत्रिय के लिये। क्योकि वन के समस्त पशुओ को अगस्त्य ऋषि ने प्रोक्षित (मन्त्र-सस्कृत) कर दिया था।[8]

अत देखा जाता है कि वैध मासभक्षण उस युग मे भी प्रचलित था, केवल आत्म-तृप्ति के उद्देश्य से पशुपक्षी का वध करके मासभक्षण करना निषिद्ध था।[9]

---

१. अश्नासि पिशितौदनम्। इत्यादि। सभा ४९।९

२. स्थलजा जलजा ये च पशवः। इत्यादि। अश्व ८५।३२

३. मांसमनेकशः। मौषल ३।८

४. त्रीन मासानाविकेनाहुश्चतुर्मासं शशेन ह। इत्यादि। अनु ८८।५-१०

५. प्रोक्षिताभ्युक्षितं मांसं तथा ब्राह्मणकाम्यया। इत्यादि। अनु ११५।४५ अनु० १६२।४३

६. वेदोक्तेन प्रमाणेन पितृणां प्रक्रियासु च।
अतोऽन्यथा वृथामांसमभक्ष्यं मनुरब्रवीत्॥ इत्यादि। अनु० ११५।५२, ५३

७. विधिना वेददृष्टेन तद्भुक्त्वेह न दूष्यति। इत्यादि। अनु० ११६।१४
औषध्यो विरुधश्चैव पशवः मृगपक्षिणः।
अन्नाद्यभूता लोकस्य इत्यपि श्रुयते श्रुतिः॥ वन २०७।६

८. आरण्या. सर्वदैवत्याः सर्वशः प्रोक्षिता मगाः। अनु ११६।१६

९. आत्मने पाचयेन्नान्नं न वृथा घातयेत् पशून्। इत्यादि। वन २।५८

अभक्ष्य मांस—उल्लिखित वैध मास के अलावा और सब प्रकार के मास अभक्ष्य मास माने गये हैं। देवता, अतिथि अथवा पितरो के उद्देश्य से निवेदित न किया हुआ मास वृथामास कहलाता था।[1] वृथामास भक्षण उस काल मे गर्हित था। यहाँ तक कि अगर किसी को शपथ लेनी होती थी तो वह कहता था, "जिसने ऐसा काम किया हो, उसने वृथामास खाया हो।" अर्थात् वृथामास खाना पाप का सचय करना माना जाता था।[2] शास्त्रविहित मास खानेवाले को 'अमासाशी' कहा जाता था।[3]

वृथामास भोजन—भोजन आदि के विषय मे मनुष्य की अपनी स्वभावजात प्रवृत्ति होती है, उपदेश देकर किसी को भी प्रवृत्त नही कराया जाता। निवृत्ति के लिये ही उपदेश की आवश्यकता होती है। महाभारत मे जगह-जगह वृथामास भक्षण का निषेध किया गया है, लेकिन तब भी मिथिला के वाजार मे मास की दुकान पर ग्राहको की जो भीड दिखाई देती है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि समाज ने इस निषेध को नही माना। अगर माना होता तो वाजार मे मास की दुकान नही होती।[4]

मांसवर्जन की प्रशंसा—मासवर्जन को पुण्य का हेतु बताया गया है। जो मास नही खाते, वे तपस्वी हैं, मुनि हैं, इस प्रकार की बहुत सी उक्तियाँ अनुशासनपर्व के ११४ वें व ११५ वें अध्याय मे मिलती हैं। यहाँ तक कि मासवर्जन की अश्वमेध यज्ञ से तुलना करके शतमुख प्रशसा की गई है।[5] इतनी प्रशसा के बावजूद भी लगता है समाज मे मासभक्षण का प्रचलन बहुत अधिक था। प्रचलन न होता तो निवृत्ति के लिये इतने उपदेश नही देने पडते।

खाद्योपयोगी मास—मन मे कुचक्र लिये हुए जब जयद्रथ वन मे पाचाली की कुटिया के दरवाजे पर उपस्थित हुआ तो द्रौपदी ने समागत अतिथि की यथापूर्वक अभ्यर्थना करके कहा, "मेरे पति शिकार के लिये गये हुए हैं, उनके लौटने पर आपको

---

१. देवताना पितृणाञ्च भुङ्क्ते दत्त्वापि यः सदा।
यथाविधि यथाश्राद्ध न प्रदूष्यति भक्षणात्॥ वन २०७।१४

२. वृथामासाशनश्चास्तु। अनु० ९३।१२१

३. अभक्षयन् वृथामांसममासाशी भवत्युत। अनु० ९३।१२

४. वन २०६ वाँ अध्याय।

५. यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः।
वर्जयेन्मधुमासञ्च सममेतद् युधिष्ठिर। अनु० ११५।१०

त्रैणेय, पृषत, न्यंकु, हरिण, शरभ, शश, ऋक्ष, रुरु, शम्बर, गवय, मृग, वराह, महिष व दूसरे पशु दिये जायेंगे।"[१]

पक्षी का मास भी भक्ष्य था। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ मे जरायुज, अडज आदि कोई भी नही छूटा था।[२] जिन प्राणियो के पाँच नाखून होते है उनमे खरगोश, साही, गोह, गेंडा व कछुआ खाद्योपयोगी माने जाते थे।[३] किसी खास अवसर पर मास काफी सग्रह किया जाता था। युधिष्ठिर के राजसूय एव अश्वमेध यज्ञ मे और अभिमन्यु की शादी मे मास प्रचुर मात्रा मे इकट्ठा किया गया था। हरिण एव वराह का मास ही अधिक प्रचलित था।[४]

मांस का व्यवहार ही सबसे अधिक—सब खाद्यो मे मास का व्यवहार ही सबसे अधिक होता था। भोज वगैरह के प्रसग मे मास का वर्णन ही विस्तृत रूप से हुआ है। यहाँ तक कहा गया है कि विराटपुरी मे जब भीम रसोइये के रूप मे थे तो वे भी चारो भाइयो को सबकी नजर बचाकर मास ही अधिक दिया करते थे।[५] धनी परिवारो मे खाद्य वस्तुओ मे मास का व्यवहार ही सबसे अधिक होता था।[६]

मछली—मछली का प्रचलन उतना नही था। मास की अपेक्षा मछली का उल्लेख बहुत कम मिलता है। कहा गया है कि मान्धाता ने ब्राह्मणो को रोहित मछली दान मे दी थी।[७] पितृकृत्य मे मछली का व्यवहार देखने मे आता है। महाभारत मे लिखा हुआ है कि श्राद्ध मे अगर मछली का दान दिया जाय तो पितर दो महीने तक परितृप्त रहते हैं।[८] जिन मछलियो पर शल्क (चोई) नही होते वे ब्राह्मण के लिये अखाद्य बताई गई हैं। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण के अलावा

---

१. त्रैणेयान् पृषतान्न्यंकून् हरिणान् शरभन् शशान्। इत्यादि। वन २६६। १४, १५
२. जरायुजाण्डजातानि। इत्यादि। अश्व ८५।३४
३. पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः।
यथाशास्त्रं प्रमाणन्ते माभक्ष्ये मानसं कथाः॥ शान्ति १४१।७०
४. मांसैर्वाराहहारिणैः। सभा ४।२
५. भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च। विराट १३।७
६. आढ्यानां मांसपरमम्। उद्योग ३४।४९
७. अददद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते। द्रोण ६०।१२। शांति २९।९१
८. द्वौ मासौ तु भवेतृप्तिर्मत्स्यै. पितृगणस्य ह। अनु ८८।५

दूसरे लोग सब तरह की मछलियाँ खाते थे, ब्राह्मण केवल शल्क वाली मछली ही खाते थे।[1]

स्वादिष्ट द्रव्य अकेले खाना उचित नहीं—खाने के बारे मे और भी कई उपदेश दिये गये हैं। साधारण खाद्य वस्तुओ को छोडकर कोई विशेष स्वादिष्ट चीज पहले किसी दूसरे को खिलाये विना स्वय खाना निन्दा का विषय माना गया है। महर्षि ने तो इसे पापजनक तक कह डाला है। खीर, खिचडी, मास, पिष्टक (पिट्ठी की रोटी) आदि स्वादिष्ट चीजें अकेले-अकेले नही खानी चाहिये।[2]

परिवार मे सबका एक सा खाना—परिवार के दूसरे लोग, अतिथि व नौकरो के लिये जो भोजन बने वही कर्त्ता को खाने का विधान महाभारत मे बताया है। अपने स्वय के लिये अलग कुछ बनवाना निषिद्ध माना गया है।[3] देवता, पितर एव परिवार के दूसरे लोगो को जो भोजन कराकर बाद मे स्वय करे उसे, 'विघसाशी' की सज्ञा दी गई है।[4] सबके खाने के बाद बचे हुए भोजन को 'अमृत' कहा गया है। केवल अपने खाने के निमित्त भोजन बनाना निषिद्ध बताया है।[5]

योगियो का आहार—विभिन्न श्रेणी के लोगो के लिये आहार की भी विभिन्न व्यवस्था थी। योगियो को कण, पिण्याक, यापक व फलमूल खाने के लिये कहा गया है। स्निग्ध पदार्थों के लिये निषेध बताया है।[6] ऋष्यश्रृगोपाख्यान मे मुनियो के खाद्योपयोगी कई आरण्यक फलोका उल्लेख मिलता है। महर्षि ऋष्यश्रृग समागता

---

१. अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः। शान्ति ३६।२२

२. सयाव कृसरं मासं शष्कुलीं पायस तथा।
आत्मार्थं न प्रकर्त्तव्य देवार्थन्तु प्रकल्पयेत्॥ अनु १०४।४१। शाति ३६।३३-३५। शाति २२८।६३
एका स्वादु समश्नातु। अनु० ९३।१३१। अनु ९४।३८।२१। उद्योग ३३।४५

३. अतिथीनाञ्च सर्वेषां प्रेष्याणा स्वजनस्य च।
सामान्य भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते॥ शान्ति १९३।९

४. देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च सश्रितेभ्यस्तथैव च।
अवशिष्टानि यो भुङ्क्ते तमाहुर्विघसाशिनम्॥ अनु ९३।१५

५. अमृतं केवल भुङ्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर। अनु ९३।१३
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। भीष्म २७।१३

६. कणाना भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत। इत्यादि। —शान्ति ३००।४३, ४४

वेश्या की अभ्यर्थना करते हुए कहते है, "तुम्हे पके हुए भल्लातक, आमलक, करूपक, इंगुद, धन्वन, पीपल आदि दे रहा हूँ, यथा रुचि ग्रहण करो।"[१] जगली फलफूल साधारणत ब्राह्मणो के खाद्यस्वरूप व्यवहृत होते थे। उन्हे ब्राह्मण की सम्पत्ति समझा जाता था। जगली फलफूल कोई नष्ट न करे, इस बात का राजा पूरा ख्याल रखता था। तिल ब्राह्मणो का प्रधान खाद्य था। वैशाख मास की पूर्णिमा के दिन ब्राह्मण को तिल का दान करने एव तिल खाने का नियम था।[२]

पहाड़ी जातियों का भक्ष्य—पहाडी जातियो के लोग तब तक पाकप्रणाली से परिचित नही हुए थे। वह लोग भी फलमूल द्वारा ही उदरपूर्त्ति करते थे।[३]

दूध, दही आदि की श्रेष्ठता—दूध, दही एव घी का व्यवहार उस काल मे बहुत अधिक होता था। अनुशासनपर्व के दानधर्म प्रकरण मे गोदान का माहात्म्य बताते हुए दूध की अमृत से तुलना की गई है। दही, दूध एव घी की प्रशसा कई स्थानो पर मिलती है।[४]

सोमरस-पान—सोमरस-पान का कोई उदाहरण महाभारत मे नही मिलता, लेकिन एक जगह सोमपान का अधिकारी कौन हो सकता है, यह बताते हुए कहा गया है कि जिसके घर मे तीन साल के लिये पर्याप्त खाद्य सामग्री हो एकमात्र वही सोमपान का अधिकारी है। इससे प्रतीत होता है कि बहुत धनी व्यक्तियो को छोडकर जन-साधारण के लिये सोमपान की कोई सम्भावना नही थी।[५]

सुरापान—सुरापान की बहुत अधिकता देखने मे आती है। अभिमन्यु के विवाह मे सुरा का काफी इन्तजाम था।[६] आचार्य शुक्र सुरापान के अभ्यस्त

---

१. फलानि पक्वानि ददानि तेऽहं भल्लातकान्यामलकानि चैव। इत्यादि। वन ११११३

२. वनस्पतीन् भक्ष्यफलान्न छिन्द्युर्विषये तव।
ब्राह्मणानान् मूलफलं धर्मामाहुर्मनीषिणः॥ शान्ति ८९।१
वैशाख्यां पौर्णमास्यान्तु तिलान् दद्याद्विजातिषु। इत्यादि। अनु ६८।१९

३. फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः। सभा ५२।९

४. अमृतं वै गवां क्षीरमित्याह त्रिदशाधिपः। अनु ६६।४५
गवां रसाद् परमं नास्ति किञ्चित्। इत्यादि। अनु ७१।५१।—अनु ८३ वाँ अध्याय।

५. यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्त भृत्यवत्तये।
अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ शान्ति १६४।५

६. सुरामैरेयपानानि प्रभूतान्युपहारयन्। विराट ७२।२८

थे। असुरो ने उनके शिष्य कच (वृहस्पति के पुत्र) को जलाकर, उसकी भस्म शुक्राचार्य की सुरा मे मिला दी थी।[१] वाद मे पता लगने पर शुक्राचार्य ने सजीवनी विद्या मे कच को पुनर्जीवित किया और सुरा के सबध मे नियम वनाया कि जो ब्राह्मण सुरापान करेगा, वह इस लोक व परलोक दोनो मे भ्रष्ट कहा जायगा।[२] वलराम के सुरापान का जिक्र कई जगह हुआ है।[३] उद्योगपर्व मे एक जगह कृष्ण व अर्जुन दोनो को शराव के नशे मे मदहोश पाया जाता है। धृतराष्ट्र ने सजय को उनके पास दूत के रूप मे भेजा था। सजय से किये गये वार्त्तालाप से लगता है कि दोनो ने ही काफी अधिक मात्रा मे सुरापान कर रक्खा था। वाते कर्कश एव अहकारसूचक थी।[४] द्रोणपर्व मे देखने मे आता है कि एक दिन युद्ध मे जाते समय भीम ने शान्तिस्तवन आदि करके कैरातक मधु का पान किया, फिर द्विगुणित वल अपने अन्दर महसूस करते हुए प्रस्थान किया।[५] युद्ध के लिये प्रस्थान करते वक्त उत्साहवृद्धि के निमित्त मद्यपान करना वहुतो की आदत थी। एक दिन सात्यकि को भी भीम जैसी अवस्था मे पाया जाता है।[६] कोई-कोई शौक के लिये भी सुरापान करता था। कामुक कीचक ने द्रौपदी से कहा था—"आओ, मेरे साथ मधुकपुष्पज मदिरा का पान करो"।[७] यदुवश मे सुरा का व्यवहार सवसे अधिक होता था। अत्यधिक सुरापान ही यदुवश के ध्वस का कारण था।[८] खास-खास मौको पर भी सुरा का काफी इन्तजाम किया जाता था। महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ मे खाद्य व पेय वस्तुओ की तालिका मे मास व सुरा की ही अधिकता वर्णित हुई है।[९] अभिजात घरो की कुलवधुएँ भी सुरापान की अभ्यस्त होती थी।

---

१ असुरैः सुराया भवतोऽस्मि दत्तो,
हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य॥ आदि ७६।५५

२. यो ब्राह्मणोऽद्य प्रभृतीह कश्चित्। इत्यादि। आदि ७६।६७

३. ततो हलधरः क्षीवो रेवतीसहित. प्रभु। आदि २१९।७—आदि २२०।२०। उद्योग १५६।१९

४ उभौ मध्वासवक्षीवावुभौ चन्दनरूषितौ। इत्यादि। उद्योग ५९।५

५. आलभ्य मंगलान्यष्टौ पीत्वा कैरातक मधु। इत्यादि। द्रोण १२५।१३, १४

६ तत स मधुपर्कार्हं पीत्वा कैलातक मधु। द्रोण ११०।६१

७. एहि तत्र मया सार्द्धं पिवस्व मधुमाधवीं। विराट १६।३

८. मद्य मासमनेकश'। इत्यादि। मौषल ३।८-३२

९. एव वभूव स यज्ञो धर्मराजस्य धीमत।
वह्वन्नधनरत्नौघ सुरामैरेयसागरः। अश्व ८९।३९

कृष्ण व अर्जुन जब जलक्रीडा के लिये यमुना तीर पर गये थे तो उनके साथ द्रौपदी, सुभद्रा आदि कुलवधुएँ भी गई थी। कोई खुशी मे नाच रही थी, तो कोई हँस रही थी, कोई-कोई उत्कृष्ट सुरा का भी पान कर रही थी।[1] मत्स्यराज की महिषी सुदेष्णा प्यास बुझाने के लिये सुरापान किया करती थी। सुरा लाने के बहाने से ही उन्होंने द्रौपदी को कीचकालय मे भेजा था।[2] अभिमन्यु के शव से लिपटी शोकाकुल उत्तरा को देखकर गाधारी ने विलाप करते हुए कहा था, "माध्वीक सुरा के नशे मे बेहोश होकर भी जो उत्तरा पति का आलिगन करने मे शर्माती थी, वही उत्तरा आज सबके सामने पति से लिपटी पडी है।"[3] इस विलापोक्ति से भी पता लगता है कि धनियो के अन्त पुर मे भी प्राय. सभी सुरा से परिचित होते थे। सम्भवत विलासिता के श्रेष्ठ उपकरणो मे सुरा भी ग्रहीत होती थी। साधारण समाज मे भी किसी-किसी महिला के मद्यपान का उदाहरण मिलता है।[4]

सुरापान की निन्दा—समाज मे सुरापान का काफी प्रचलन होते हुए भी कई जगह उसकी निन्दा की गई है।[5] कर्ण व शल्य मे जब पारस्परिक कलह हुई, तव कर्ण ने मद्रदेश की महिलाओ के सुरापान का जिक्र करके शल्य को ताना मारा था।[6] निन्दनीय उक्तियाँ देखने से लगता है कि सुरापान व वृथामासभोजन सामाजिक दुष्कृतियो मे गण्य थे।

गोमांस अभक्ष्य—महाभारत के काल मे गोहत्या निषिद्ध थी। गोहत्या पाप वताई गई है।[7]

बहुत प्राचीन काल मे गोहत्या—प्राचीनकाल मे गोमास भक्षण के बहुत उदाहरण मिलते है। महाभारत मे भी दो-तीन जगह प्राचीन युग मे गोमास भक्षण

---

१. काश्चित् प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथा पराः।
जहसुश्चापरा नार्यः पपुश्चान्या वरासवम्॥ आदि २२२।२४

२. अप्रैषीद्राजपुत्री मां सुराहारीं तवान्तिकम्।
पानमाहर मे क्षिप्रं पिपासा मेति चाब्रवीत्॥ विराट १६।४

३. लज्जमाना पुरा चैनं माध्वीकमदमूर्च्छिता। इत्यादि। स्त्री० २०।७

४. सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला। आदि १४८।८

५. सुरान्तु पीत्वा पततीति शब्दः। शांति १४१।९०। शांति १६५।३४। उद्योग ३५।३४। कर्ण ४५।२९

६. वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यमोहिताः। कर्ण ४०।३४

७. वाक्पारुष्य गोवधो रात्रिचर्या। इत्यादि। कर्ण ४५।२९
न चासां मांसमश्नीयाद् गवां पुष्टिं तथाप्नुयात्। अनु ७८।१७

के उदाहरण मिलते है। रन्तिदेव के उपाख्यान मे कहा गया है कि वे रोज दो हजार गौओ का वध कराते थे और वह मास दान करते थे। इस दान के कारण ही रन्तिदेव की कीर्त्ति चारो ओर फैली थी।[1] अतिथि एव अभ्यागत के सम्मान मे पाद्य, अर्घ्य आदि के साथ गौ भी दी जाती थी। हत्या की बात कही भी नही कही गई है, वरन् गोरक्षा का उपदेश ही दिया गया है। जनमेजय के सर्पयज्ञ करने का पता लगने पर व्यासदेव जब वहाँ पहुँचे तो जनमेजय ने महर्षि की यथोचित अभ्यर्थना करके गाय भी दान की। महर्षि भी सब कुछ लेकर चले आये और गाय का पालन-पोषण करने लगे।[2] अतिथि को उपहार स्वरूप गोदान करने के उदाहरण महाभारत मे सर्वत्र मिलते हैं। सम्भवत सम्मान प्रदर्शन के निमित्त यह रीति समाज मे प्रचलित थी।[3]

अखाद्य—खाद्याखाद्य के सबध मे महाभारत मे कई विधिनिषेध मिलते हैं। उससे उस काल के लोगो की रुचि का कुछ अन्दाज लगता है। गाय, छोटे पक्षी, श्लेष्मातक, कछुए के अलावा दूसरे चतुष्पद जलचर जीव, मेढक, गिद्ध, हस, गरुड, चकवा, जलकुक्कुट, बगुला, कौवा, मद्गु, बाज, उल्लू आदि अभक्ष्य बताये है। मासाहारी पशु व दाँत वाले पशु भी अभक्ष्य बताए हैं। प्रसव के बाद दस दिन तक गाय का दूध पीने का निषेध किया है। मनुष्य एव मृगी का दूध भी अग्राह्य बताया है।[4]

अन्नग्रहण मे विधिनिषेध—अन्नग्रहण के बारे मे भी कई नियम वर्णित हुए हैं। प्रेत श्राद्ध का अन्न, सूतिका का अन्न व अशौची का अन्न अभक्ष्य बताया है। ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र का अन्न ग्रहण करना भी अनुचित कहा गया है। क्षत्रिय का अन्न तेज का नाश करता है एव शूद्र का अन्न ब्राह्मणत्व नष्ट करता है। ऐसे ब्राह्मण के क्षत्रिय का अन्न ग्रहण करने के बहुत उदाहरण मिलते है। द्रौपदी अपने हाथ से खाना बनाकर ब्राह्मणो को खिलाती थी। राजा पौष्य ने उतक को

---

१. उक्षाणं पक्त्वा सह ओदनेन। इत्यादि। वन १९६।२१
अहन्यहनि वध्येते द्वे सहस्रे गवा तथा। वन २०७।९

२. पाद्यमाचमनीयञ्च अर्घ्यं गाञ्च विधानत.।
पितामहाय कृष्णाय तदर्हाय न्यवेदयेत। इत्यादि। आदि ६०।१३, १४

३. सभा २१।३१। उद्योग ८।२६। उद्योग ३५।२६। शान्ति ३२६।५

४. अनड्वा मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः। इत्यादि। शान्ति ३६। २१-२५

अन्न दान दिया था।[१] और भी कई लोगो के अन्न को लेने का निषेध किया गया है। सुनार, पतिपुत्रहीना नारी, सूदखोर, वेश्या, दुश्चरित्रा स्त्री, स्त्री के वशीभूत पुरुष, अग्निषोमीय यज्ञ करने वाला, यजमान, कजूस, बढई, चमार, धोबी, चिकित्सक, राक्षसोपासक, चित्रकार, स्त्रीजीवी, परिवित्ति, बन्दी, जुआरी आदि का अन्न अग्राह्य बताया है। चिकित्सक का अन्न विष्ठा एव गणिका का अन्न मूत्र के समान कहा गया है। शिल्पी का अन्न लेना भी निन्दनीय माना गया है। जो विद्या के द्वारा जीविकोपार्जन करते है उन्हे शूद्र समान कहा गया है—उनका अन्न भी ब्राह्मण के लिये अग्राह बताया है। दुष्ट एव निन्दा करने वाले का अन्न भी नही लेना चाहिये। गोहत्या एव ब्रह्महत्या करने वाले तथा नगरीरक्षक आदि का अन्न लेना भी अनुचित बताया है। शराबी, गुरुतल्पी जैसे पापी से भी अन्न लेना पाप है।[२] बाँयें हाथ से दिया हुआ अन्न, शराब से छुआ हुआ अन्न, जूठा, सूखा मास, हाथ से दिया हुआ नमक आदि भी नही खाना चाहिये। बासी भी नही खाना चाहिये। रात को दही व सत्तू खाना भी अनुचित है।[३]

आपद्काल में खाद्याखाद्य का विचार नहीं—भूख से प्राण छूटने की आशका होने पर मनुष्य को सोचने का अवकाश नही रहता। उस वक्त जो भी मिले वही खाकर प्राण बचाने की इच्छा होती है। आचार्य धौम्य के शिष्य ने भूख सहन न होने पर धतूरे के पत्ते खा लिये थे। (देखिये पृ० ११९-२०) शान्तिपर्व के १४१ वे अध्याय मे कहा गया है कि एक बार दुर्भिक्ष पडने पर महर्षि विश्वामित्र जब भूख की ज्वाला सह नही सके, तो वे चोर की तरह एक चडाल के घर मे घुसे और एक कुत्ते की टॉग उठा लाये। सौभाग्य से वह मास खाने की नौबत नही आई, उनके तपोवल से वर्षा हो गई और दुर्भिक्ष का अत हुआ। अनुशासन पर्व के ९३ वे अध्याय मे भी कहा गया

---

१. प्रेतान्न सूतिकान्नञ्च यच्च किंचिदनिर्दशम्। इत्यादि। शाति ३६।२६,२७
ब्राह्मणा ब्राह्मणस्येह भोज्या ये चैव क्षत्रियाः। इत्यादि। अनु १३५।२, ३
पतींश्च द्रौपदी सर्वान् द्विजातिश्च यशस्विनी। इत्यादि वन ५०।१०।
वन ३।८३
आदि १९२।४
स तथेत्युक्त्वा यथोपपन्नेनान्नेनं भोजयामास। आदि ३।११५

२. आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः। इत्यादि। शांति ३६।२७-३१
भुङ्क्ते चिकित्सकस्यान्नं तदन्नञ्च पुरीषवत्। इत्यादि। अनु १३५।१४-१९

३. शान्ति ३६।३२, ३३। शान्ति २२८।३७। अनु १०४।९२-९४

है कि शैव्य के यज्ञ मे वृत्त ऋत्विको ने भूख से व्याकुल हो कर मरे हुए मनुष्य के शरीर को रांधना शुरू किया। जव राजा शैव्य ने वाधा डाली तो वे लोग वन मे भाग गये। इन सव उपाख्यानो की सत्यता पर विश्वास नही होता। विपत्ति पडने पर भूख से व्याकुल होकर मनुष्य सव कुछ कर सकता है, यही इन उपाख्यानो का सार है। आपद्काल मे अभक्ष्य खाकर भी प्राण वचाना उचित है, यही महाभारत का उपदेश है।[1]

आर्थिक अवस्था के अनुरूप खाद्य—आर्थिक अवस्था जैसी होती है, मनुष्य का खाद्य भी उसी के अनुसार होता है। भला धनियो जैसा खाना दरिद्र कैसे खा सकता है? समाज मे जो धनी थे, उनका प्रधान खाद्य मास था। मध्यवित्त परिवार मे दही-दूध भी मिल जाता था तो लोग समझते थे काफी है और दरिद्र को अगर तरकारी वनाने के लिये तेल मिल जाता था तो वह अपना सौभाग्य समझता था।[2]

धनी व दरिद्र की पाचनशक्ति मे अंतर—प्राय देखने मे आता है कि जो धनी है, जिनकी षट्रस व्यजन खाने की सामर्थ्य है वे ग्रहणीरोग से पीडित रहते हैं, उनकी पाचनशक्ति वहुत कम होती है, और जो पेट भर नही खा पाते उनकी जठराग्नि ज्यादा तेज होती है। यह सत्य उस काल मे भी इसी रूप मे था।[3] दरिद्र केवल सूखी रोटी पाकर ही सन्तुष्ट रहता है, उनके लिये भूख ही प्रमुख वात होती है, लेकिन धनी जो हर तरह की खाद्यसामग्री इकट्ठी कर सकता है वह अच्छी तरह खा भी नही सकता।[4]

पाक—साधारणत खाना वनाने का भार स्त्रियो पर ही होता था, कोई-कोई

---

१. एव विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषु।
सर्वोपायेरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत्। शान्ति १४१।१००

२. आढ्याना मासपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ॥ उद्योग ३४।४९

३. प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तु शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि तु काष्ठानि दरिद्राना महीपते॥ उद्योग ३४।५१। शाति २८।२९

येषामपि च भोक्तव्यं ग्रहणीदोष पीडिताः।
न शक्नुवन्ति ते भोक्तु पश्य धर्मभृतां वर॥ वन २०८।१६

४ सम्पन्नतरमेवान्न दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा॥ उद्योग ३४।५०

पुरुष भी खाना बनाना जानता था। राजा नल बहुत अच्छा खाना बना लेते थे, खासकर मास पकाने मे तो वह दक्ष थे। कहा गया है दमयन्ती उनके हाथ का बना मास खाते ही उन्हे पहचान गई थी। इससे प्रतीत होता है कि नल मानो शौक से प्राय मास बनाया करते थे। उनके बनाये मास के स्वाद से दमयन्ती परिचित थी।[१] भीम भी पाकविद्या मे काफी पटु थे। अज्ञातवास के समय राजा विराट की नगरी मे रसोइये के रूप मे ही उन्होने अपना परिचय दिया था और एक साल तक यही कार्य किया था। मत्स्यनगरी मे जब उन्होने प्रवेश किया तो उनके हाथ मे कडछुल और काँटा था। राजा विराट के प्रश्न के उत्तर मे अपना परिचय देते हुए भीम ने कहा था, "मैं रसोइया हूँ, आपकी सेवा करना चाहता हूँ, खाना बनाने का मैं अभ्यस्त हूँ। महाराज युधिष्ठिर का मैं रसोइया था।" विराट ने उसे नौकरी दे दी। इस घटना से अनुमान होता है कि बडे घरो मे पुरुष रसोइया रखने का प्रचलन उन दिनो भी था।[२] ऐसे शायद आम परिवारो में स्त्रियाँ ही खाना पकाती थी। विवाह के दिन ही कुन्ती के आदेश से द्रौपदी ने खाना बनाया और परोसा था।[३] वनवास काल मे भी द्रौपदी स्वय ही खाना बनाती और परोसती थी। इन्द्रप्रस्थ मे रहते वक्त भी खाने-पीने के मामले मे पूरी देखभाल उन्ही को करनी पडती थी, उस काल मे भी वह स्वय खाना बनाती थी कि नही, इसके बारे मे ठीक पता नही चलता।[४] यह तो राजपरिवार का उदाहरण है। राजपरिवार मे भी जब रानी को ही खाना पकाना पडता था तो अन्य परिवारो मे तो अवश्य ही यह नियम रहा होगा। आचार्य वेद की पत्नी ने पुण्यक व्रत करते वक्त ब्राह्मणो को स्वय भोजन परोसने का सकल्प किया था।[५]

रसोई के बर्त्तन—किस तरह के बर्त्तनो मे खाना बनाया जाता था, यह पता नही चलता। बनवासकाल मे द्रौपदी एक ताँबे की पतीली मे खाना बनाती थी।[६]

---

१. सोचिता नलसिद्धस्य मांसस्य बहुशः पुरा।
प्राश्य मत्वा नलं सूतं प्राक्रोशद् भृशदुःखिता। वन ७५।२२, २३

२. नरेन्द्रसूदः परिचारकोऽस्मि ते जानामि सूपान् प्रथमं न केवलान्। इत्यादि। विराट ८।९

३. त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे बलिञ्च विप्राय च देहि भिक्षाम्। इत्यादि। आदि १९२।४

४. युधिष्ठिरं भोजयित्वा शेषमश्नाति पार्षती॥ वन ३।८४। वन २३२।४५
'वन २६२ वाँ अध्याय। (दुर्वासा का उपाख्यान)

५. ब्राह्मणान् परिवेष्टुमिच्छामि। आदि ३।९७

६. गृह्णीष्व पिठरं ताम्रम्। वन ३।७२

भीमसेन की कडछुल व कांटा किस धातु का वना हुआ था, यह भी पता नही लगता।

भोजन के बर्त्तन—राजपरिवार मे सोने व चाँदी की थाली मे भोजन करने का वर्णन मिलता है। साधारण परिवारो मे कांसे के वर्त्तनो का व्यवहार ही अधिक होता था।[1]

परोसना—खास-खास मौको पर पुरुष ही खाना परोसते थे। आवश्यकता पड़ने पर दास-दासी और रसोइये भी सहायता करते थे।[2]

भोजन के वारे मे दूसरे नियम—भोजन करते वक्त किस तरह बैठना चाहिये, किस तरह भोजन शुरू करना चाहिये आदि के बारे मे भी बहुत सी वातें कही गई हैं। खाने के लिये बैठने से पहले अच्छी तरह हाथ, पाँव, मुँह धो लें, बैठकर तीन वार आचमन करे। बैठने का आसन व भोजन के पात्र साफ व पवित्र होने चाहिये। भोजन करते वक्त शरीर के उत्तमाग पर उत्तरीय या दूसरा वस्त्र रहना चाहिये, केवल एक वस्त्र पहनकर खाना नही खाना चाहिये। जूता या खडाऊँ पहनकर कुछ भी खाना निषिद्ध है। इन नियमो का उल्लघन करने पर वह भोजन आसुर भोजन हो जाता है। अकेले बैठकर, एकाग्रचित्त से मौनपूर्वक भोजन करना चाहिये। पीने का पानी, दूध, दही, खीर, घी, शहद आदि अगर थाली मे बच जाय तो पुत्र वगैरह को दिया जा सकता है। दही खाकर खाना खत्म नही करना चाहिये। दही के वाद कुछ न कुछ अवश्य खा लेना चाहिये। भोजन समाप्त होने पर तीन वार मुँह धोकर दो वार कुल्ला करना चाहिये। अनुशासनपर्व के १०४ वें अध्याय मे भोजन की विस्तृत नियमावली उल्लिखित हुई है।

जव पाडव द्रुपद की नगरी मे गये तो उन्हे चार पाँव और पीठ वाले वहुमूल्य आसन (कुर्सी) दिये गये थे। उस पर बैठकर ही उन्होंने भोजन किया था। इस तरह का व्यवहार और कही भी महाभारत मे दिखाई नही देता।[3]

---

१. भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने। सभा ४९।१८। वन २३२।४२
उच्चावचं पार्थिवभोजनीय पात्रेषु जाम्बूनदराजतेषु। आदि १९४।१३
भिन्नकास्यञ्च वर्जयेत्। अनु १०४।६६

२. द्विजाना परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन्। सभा १२।१४। सभा ४९।३५
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेशा. सम्भोजकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम। आदि १९४।१३

३. पञ्चार्द्रो भोजन भुञ्ज्यात्। शान्ति १९३।६। अनु १०४।६१-६६

परिच्छद और प्रसाधन

विभिन्न रंगों के वस्त्र—समाज मे उस वक्त भी नाना प्रकार के वस्त्र पहनने का प्रचलन था। इच्छानुसार अनेक रगो के वस्त्र लोग पहनते थे। आचार्य द्रोण एव कृप सफेद रग की धोती पहनते थे। कर्ण पीले और अश्वत्थामा व दुर्योधन नीले वस्त्रो का उपयोग करते थे। विराटपुरी मे युद्ध करते हुए अर्जुन के हाथो परास्त होकर द्रोणाचार्य आदि महारथी जब ज्ञानशून्य अवस्था मे अपने रथ मे पडे हुए जा रहे थे तो उनके पहने हुए कपडे निकाल लाने के लिये अर्जुन ने उत्तर से कहा था। इस प्रसग मे प्रत्येक के वस्त्रो का रग बताया गया है।[१] बलदेव नीले रग के कपडे पहनते थे।[२]

ब्राह्मणों के सफेद कपड़े तथा मृग-चर्म—ब्राह्मण शायद सफेद कपडे एव सफेद यज्ञोपवीत (जनेऊ) का व्यवहार करते थे। द्रोणाचार्य के वर्णन मे तो यही पाया जाता है। एक दूसरी जगह कहा गया है कि ब्राह्मण मृगचर्म पहनते थे। जब भीम और अर्जुन कृष्ण के साथ जरासन्ध की नगरी मे गये थे तो उन लोगो ने सफेद रग के कपडे पहने थे। उनकी वेशभूषा देखकर जरासन्ध ने उन्हे ब्राह्मण समझा था।[३]

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः। इत्यादि। अनु १०४।५५
नैकवस्त्रेण भोक्तव्यम्। अनु १०४।६७
यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम्॥ अनु ९०।१९
वाग्यतो नैकवस्त्रश्च। इत्यादि। अनु १०४।९६-१००
ते तत्र वीरा परमासनेषु। इत्यादि। आदि १९४।१२

१. आचार्यशारद्वतयोस्तु शुक्ले कर्णस्य पीतं रुचिरञ्च वस्त्रम्।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर। विराट ६६।१३

२. केशवस्याग्रजो वापि नीलवासा मदोत्कटः। वन १८।१८

३. ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्। आदि १३४।१९
ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः। आदि १९०।४१
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते॥ सभा २१।४४

शुक्ल वस्त्र की शुचिता—सफेद वस्त्रो को औरो की अपेक्षा पवित्र समझा जाता था।[1]

राजाओ का प्रावार नामक वस्त्र—राजा प्रावार नाम का वहुमूल्य वस्त्र पहनते थे। ईर्ष्या मे जलते हुए दुर्योधन की शारीरिक अवस्था खराव देखकर धृतराष्ट्र ने उससे पूछा था, "तुम प्रावार पहनते हो और पुलाव खाते हो तव भी दिन पर दिन सूखते जा रहे हो।"[2]

समयानुसार विभिन्न वस्त्रो का व्यवहार—लोग हमेशा एक ही तरह के कपडे नही पहनते थे। समयानुसार अलग अलग तरह के कपडे पहने जाते थे। गीले कपडे पहनकर नहाने का नियम था। दूसरे का पहना हुआ वस्त्र तथा विना पल्ले का वस्त्र पहनना वर्जित था। सोने के समय, काम-काज के समय, पूजा-पाठ के समय, अलग-अलग तरह के वस्त्र पहनने का विधान मिलता है।[3]

युद्ध मे रक्त-वस्त्र—युद्ध के लिये जाते हुए वीर रक्त वस्त्र अर्थात् लाल रग के कपडे पहनते थे।[4] लाल रग मे एक तरह की उत्तेजना होती है, इसी कारण शायद ऐसा रिवाज था।

विभिन्न देशो के विभिन्न प्रकार के वस्त्र—अलग-अलग देशो मे अलग-अलग तरह के वस्त्र व्यवहृत होते थे। राजसूय यज्ञ मे आये हुए सिंहल के लोगो के मणिखचित वस्त्र थे।[5] पर्वतीय किरात पशुओ के चमडे से अपनी लज्जा ढकते थे।[6]

राक्षसो के वस्त्रादि—राक्षस भी वस्त्रादि का उपयोग करते थे तथा गधमाल्य आदि द्रव्यो का व्यवहार करना भी जानते थे।[7]

उष्णीष—भारत के सव प्रदेशो मे पगडी वाँधने की प्रथा थी कि नही इसका विल्कुल सही अदाज तो नही लगता, लेकिन जो दो-चार उदाहरण मिलते है, उनसे

---

१. शुक्लवासा. शुचिर्भूत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्॥ अनु १२७।१४

२. आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम्।
आजानेया वहन्ति त्वा केनासि हरिणः कृशः॥ सभा ४९।९। वन ३।५१

३. स्नातस्य वर्णकं नित्यमार्द्रं दद्याद्विशाम्पते।
विपर्यय न कुर्वीत वाससो वद्धिमान्नर.। इत्यादि। अनु १०४।८५-८७

४. रक्ताम्बरधरा' सर्वे सर्वे रक्तविभूषणा.। द्रोण ३३।१५

५. शतशश्च कुथास्तत्र सिंहलाः समुपाहरन्।
सवृता मरिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचना.॥ सभा ५२।३६

६. फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः। सभा ५२।९

७. सर्वाभरणसयुक्त सुसूक्ष्माम्बरवाससम्। आदि १५३।१४

लगता है कि पगडी का उपयोग सब प्रदेशो मे था। क्योकि प्राग्ज्योतिष पुराधिपति के सिर पर भी पगडी देखी जाती है।[1]

पुरुषों में बाजूबंद आदि अलंकारों का व्यवहार—बाजूबद, कुडल आदि अलकारों का पहनना पुरुषो मे भी प्रचलित था। उस युग मे देश मे सोने का अभाव नही था, सभी आभूषण सोने के बनते थे। जो उदाहरण मिलते है उनसे पता लगता है कि धनी व्यक्ति ही आभूषणो का उपयोग करते थे। साधारण लोगो के वर्णन मे अलकारो का जिक्र कही भी नही पाया जाता।[2]

राजाओ के मुकुट में मणि और गले मे निष्क का बना हुआ हार—राजाओं के मुकुट मे मणि लगी हुई होती थी, गले मे वे हार पहनते थे। वह हार उस काल की स्वर्णमुद्रा (निष्क) का बना हुआ होता था। प्रव्रज्या लेते समय पाडु ने अपने अलकारादि उतारकर ब्राह्मण को दान कर दिये थे। उस प्रसग के वर्णन से ही उपर्युक्त अलकारो के बारे मे पता लगता है।[3]

सोने के शिरस्त्राण आदि—युद्धक्षेत्र मे पडी मृतदेहों के वर्णन से भी इन अलकारों के बारे मे पता लगता है। योद्धा सोने का शिरस्त्राण पहनते थे। बाजूबद तथा कुडल उस युग के बहुत ही प्रसिद्ध अलकार थे। अलकारो के वर्णन मे कुडल और बाजूबद का जिक्र ही पहले हुआ है।[4]

पुरुषो के सिर पर लम्बे बाल, चोटी आदि—पुरुषो के बालो के अनेको प्रकार के चित्र देखने मे आते हैं। कोई-कोई लम्बे बाल रखता था और कोई केवल चोटी

---

१. श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेतवर्माणमच्युतम्।
अपश्याम महाराज भीष्मं चन्द्रमिवोदितम्॥ भीष्म १६।२२। उद्योग १५२।१९
शिरस्तस्य विभ्रष्टं पपात च वरांशुकम्।
नालताडनविभ्रष्टं पलाशं नलिनादिव॥ द्रोण २८।४९

२. वाहून परिघसंकाशा संस्पृशन्तः शनैः शनैः।
काञ्चनांगददीप्तांश्च चन्दनागुरुभूषितान्॥ उद्योग १५२।१८

३. ततश्चूडामणिं निष्कमंगदे कुंडलानि च।
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च॥ आदि ११९।३८

४. अनुकर्षैः पताकाभिः शिरस्त्राणैश्च काञ्चनैः।
बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः सांगदैश्च विशाम्पते॥ द्रोण १११।१४
शशाकसन्निकाशैश्च वदनैश्चारुकुण्डलैः। द्रोण १११।१६
शूरैः परिवृतं योधैः कुंडलांगदधारिभिः। विराट ३१।६

वढाते थे। दुर्योधन के वाल लम्बे थे।[१] अर्जुन के सिर पर चोटी थी।[२] किसी किसी पहाडी जाति मे भी लम्वी चोटी रखने का नियम था।[३] साधारणत लम्वे वाल रखने का प्रचलन ही अधिक था। युद्धक्षेत्र मे पडे हुए कटे सिरो के वर्णन से पता लगता है कि उस युग मे अधिकतर लोग लम्बे वाल ही रखते थे।[४] विराट पर्व मे भीम तथा कीचक के युद्धवर्णन मे कहा गया है कि भीम ने कीचक के वाल पकडकर खीचे थे। वाल अगर लम्वे न हो तो मुट्ठी मे नही आ सकते।[५] जरासध के वाल भी लम्वे थे।[६]

शृग के आकार का केशविन्यास—कोई-कोई शृग की तरह के वाल वनाते थे। वे लोग शायद आर्य नही थे, क्योकि यज्ञमडप मे प्रवेश करने की अनुमति उन्हे नही मिली थी।[७]

काकपक्ष—कृष्ण व अभिमन्यु के सिर पर काकपक्ष थे। प्राचीनकाल मे सिर पर पाँच शिखाएँ रखने का प्रचलन भी था, उसी को काकपक्ष कहा जाता था। किसी-किसी कोशकार ने काकपक्ष शव्द का अर्थ जुल्फ वताया है।[८] जुल्फ अर्थ ही अधिक युक्तियुक्त लगता है।

व्यास और द्रोण का श्मश्रु—द्रोणाचार्य तथा वेदव्यास के अलावा और किसी भी गृहस्थ की दाढी-मूछो का वर्णन नही मिलता।[९]

ब्रह्मचारी की पोशाक—गृहस्थो की पोशाक के साथ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा सन्यासी की पोशाक की कोई समानता नही थी। ब्रह्मचारी हरवक्त हाथ मे एक दड रखते थे। दड पलाश या विल्वकाष्ठ का बनाया जाता था। मुज अर्थात्

---

१. यमयन मूर्द्धजास्तत्र वीक्ष्य चैव दिशो दश। इत्यादि। शल्य ६४।४,५

२. विमुच्य वेणीमपि नह्य कुण्डले। विराट ११।५। विराट २।२७

३. खशा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः। सभा ५२।३

४. कृत्तकेशमलकृतम्। विराट ३२।१२। केशपक्षे परामृशत्। द्रोण १३।५९
तमागलितकेशान्त ददृशु. सर्वपार्थिवाः॥ द्रोण १३।६१

५. ततो जग्राह केशेषु माल्यवत्सु महाबल.। विराट २२।५२

६. केशान् समनुगृह्य च। सभा २३।६

७. शकास्तुषारा. कंकाश्च रोमशा. शृगिणो नराः। इत्यादि। सभा ५१।३०

८. पूर्णचन्द्राभवदन काकपक्षवृताक्षिकम्। द्रोण ४८।१७ हरि, विष्णुपु० ६८ वां अध्याय।

९. वभ्रूनि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत्। आदि १०६।५
शुक्लकेश. सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः। आदि १३८।१९

तृण निर्मित मेखला, यज्ञोपवीत एव जटा धारण करना भी उनके कर्त्तव्यो मे गिना जाता था।[1]

वानप्रस्थी तथा संन्यासी के वस्त्रादि—वानप्रस्थी तथा सन्यासी चमडा और वल्कल पहनते थे। बहुत से बाल तथा दाढी-मूँछ भी रखते थे। धृतराष्ट्र, गाधारी, कुन्ती एव विदुर वानप्रस्थाश्रम मे चर्म व वल्कल ही पहनते थे। महाप्रस्थान के समय युधिष्ठिर आदि पाँच भाइयो तथा द्रौपदी ने वल्कल और चर्म पहना था। जुए मे हारकर वन को जाते हुए भी उनके एक जैसे ही वस्त्र दिखाई देते है।[2]

यज्ञ मे यजमान का पहनावा—यज्ञ मे यजमान को भी काफी अशो मे ब्रह्मचारी जैसे वस्त्र पहनने पडते थे। आभूषण आदि पहनने के लिये कोई निषेध नही था। अश्वमेध यज्ञ के समय युधिष्ठिर की पोशाक से यही पता चलता है। युधिष्ठिर के गले मे स्वर्णहार था, बदन पर क्षौमवस्त्र तथा काले मृग का चमडा था और हाथ मे दड था।[3]

महिलाओं की पोशाक—स्त्रियो के पहनावे का वर्णन महाभारत मे बहुत ही सक्षिप्त मिलता है। अनेको प्रसगो मे केवल 'सपरिच्छद' विशेषण मिलता है। इस एक शब्द के अलावा और कुछ नही कहा गया है।[4]

विवाह के वस्त्र—विवाह के समय द्रौपदी ने क्षौमवस्त्र (रेशमी कपडे) पहने थे।[5] सुभद्रा ने लाल रग का कौशेय वस्त्र पहना था।[6]

---

१. धारयीत सदा दण्डं वैल्वं पालाशमेव वा। अश्व ४६।४
मेखला च भवेत् मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रतः॥ अश्व ४६।६

२. चर्मवल्कलसंवासी। अश्व ४६।८
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशान् श्मश्रु च धारयन्। अश्व ४६।१५
तथैव देवी गाधारी वल्कलाजिनधारिणी।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी॥ इत्यादि। आश्र १९।१५-१८
उत्सृज्याभरणान्यंगाज्जगृहे वल्कलान्युत। इत्यादि। महाप्र १।२०।
सभा ७९।१०

३. हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः।
कृष्णाजिनि दंडपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः॥ अश्व ७३।५

४. स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः। आदि १३४।१५।
आदि १५३।१४। विराट ७२।३१

५. कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमगला। आदि ११९।३

६. सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम्। आदि २२१।१९

स्वर्णमाला आदि अलंकार—स्वर्णमाला, कुडल, मणिरत्न, निष्क (तात्कालिक प्रचलित स्वर्णमुद्रा), कम्बू (शख), केयर (वाजूवद) आदि उन दिनो अलकारो के रूप मे प्रचलित थे। निष्क से गले का हार वनाया जाता था। शख की शायद हाथ की चूडियाँ वनती थी।[1]

स्त्री-पुरुष दोनो द्वारा कुडल का व्यवहार—पुरुष भी स्त्रियो की तरह कुडल पहनते थे। कुडल सोने के वनाये जाते थे। राजा सौदास की पत्नी मदयन्ती के कुडल रत्ननिर्मित थे।[2]

भँवो के वीच कृत्रिम चिह्न—दोनो भवो के वीच एक तरह का कृत्रिम चिह्न वनाया जाता था, जिसका नाम 'पिप्ल' था। दमयन्ती के माथे पर वह चिह्न जन्मगत था। उस चिह्न को सौन्दर्यवर्द्धक अलकार की तरह माना जाता था।[3]

छाता तथा जूता—छतरी और जूते का व्यवहार भी उन दिनो व्यापक रूप से था। इनका व्यवहार केवल अभिजात परिवारो तक ही सीमित नही था, क्योकि स्नातक एव व्राह्मण को छाता व जूता दान करने के लिये कहा गया है।[4]

चन्दन—प्रसाधन रूप मे जिन द्रव्यो का व्यवहार होता था, उनमे चन्दन सर्वप्रधान था। पुरुष और स्त्री सव शरीर पर चन्दन का लेप करते थे। चन्दन के साथ थोडी अगुरु भी मिलाई जाती थी। धनी परिवारो मे चन्दन दासियाँ वनाती थी। राजा विराट के अन्त पुर मे द्रौपदी इसी कार्य के लिये नियुक्त थी।[5]

---

१. शत दासीसहस्राणि कौन्तेयस्य महात्मनः।
   कम्बूकेयूरधारिण्यो निष्ककठ्य स्वलकृता.। वन २३२।४६, ४७
   सुवर्णमाला वासासि कुण्डले परिहाटके।
   नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने॥ इत्यादि। आदि ७३।२, ३

२. श्रुत्वा च सा तदा प्रादात्ततस्ते मणिकुण्डले। अश्व ५८।३

३. अस्या ह्येष भ्रुवोर्मध्ये सहज पिप्लुरुत्तम.। वन ६९।५
   चिह्नभूतो विभूत्यर्थमय धात्रा विनिर्मित। वन ६९।७

४ दह्यमानाय विप्राय य प्रयच्छत्युपानहौ।
   स्नातकाय महावाहो सशिताय द्विजातये॥ अनु ९६।२०
   न केवल श्राद्धकृत्ये पुण्यकेष्वपि दीयते। अनु ९५।२

५ शालस्तम्भनिभास्तेषा चन्दनागुरुरूपिता।
   अशोभन्त महाराज वाहवो वाहुशालिनाम्। इत्यादि।
   सभा २१।२८। सभा ५८।३५

चन्दन माल्य आदि—किसी विशिष्ट व्यक्ति का सम्मान करने के लिये चन्दन, माला आदि देने का नियम था। वीरशय्या पर सोये हुए भीष्म को कुमारियो ने चन्दनादि द्वारा भूषित किया था।[1]

तुंग तथा कृष्णागुरु—'तुग' नामक एक सुगधित द्रव्य तथा काले अगुरु को चन्दन के साथ मिलाने की प्रथा थी। अनुलेपन के लिये श्वेत चन्दन का ही व्यवहार होता था। केवल काली अगर के लेपन के उदाहरण भी देखने मे आते है।[2]

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे आये हुए राजाओ मे से किसी-किसी ने उल्लिखित गध द्रव्य उपहारस्वरूप दिये थे। वे लोग प्रचुर परिमाण मे चन्दन, कृष्णागुरु, एव अन्य गधद्रव्य लाये थे। मलय तथा दर्दुर पर्वत से भी अगुरु और चन्दन उपहारस्वरूप आया था। चन्दन के रस से भरे अनगिनत सोने के कलश युधिष्ठिर को दिये गये थे।[3]

इंगुद और अगुरु-तेल—स्नान से पहले शरीर पर अगुरु का तेल और इगुद मलने का जिक्र भी हुआ है। यह नियम शायद गृहस्थो के लिये नही था।[4]

स्नान के बाद पुष्पादि से सज्जित होना—स्नान के बाद चन्दन, बेल फूल, तगर, नागकेसर, वकुल आदि गध एव पुष्प आदि से सज्जित होने का नियम था।[5]

पुष्पमाल्य—सिर मे एव गले मे मालाओ का व्यवहार प्राय हर जगह होता था। पुष्पमालाएँ ही ज्यादा अच्छी समझी जाती थी। लाल रग की माला गले मे पहनना वर्जित था, सफेद ही गले के लिये श्रेष्ठ मानी जाती थी। 'लाल रग की माला सिर

य ना जातु स्वयं पिंषे गात्रोद्वर्त्तनमात्मनः।
अन्यत्र कुन्त्या भद्रन्ते सा पिनस्म्यद्य चन्दनम् ॥ विराट २०।२३

१ कन्याश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैर्माल्यैश्च सर्वशः।
अवाकिरंछान्तनवं तत्र गत्वा सहस्रशः। भीष्म १२१।३

२. चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन्।
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुंगरसेन च। आदि १२७।२०
राजसिंहान् महाभागान् कृष्णागुरुविभूषितान्। आदि १८५।२४

३ चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च।
चर्मरत्नसुवर्णानां गधानाचैव राशयः। सभा १०
सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान्। इत्यादि। सभा ५२।३३,३४

४ इंगुदैरगुतैलानां स्नेहार्थे च निवेषनम्। अनु १४२।७

५ प्रियगुचन्दनाभ्यां च विल्वेन तगरेण च।
पृथगेवानुलिम्पते केसरेण च बुद्धिमान्। इत्यादि। अनु १०४।८७,८८

मे लगाई जा सकती है, यह कहा गया है। कमल या कुमुद की माला पहनना निषिद्ध बताया है।[1]

पुष्प-प्रेम—फूल के प्रति मनुष्य का प्रेम प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। प्रसाधन मे फूल अनुपम उपकरण माना जाता रहा है। पुष्प मन को आनन्दित करता है, शरीर व मन मे उल्लास पैदा करता है, इसलिये फूल को 'सुमनस' कहा गया है।[2] जो पुष्प हृदय को पुलकित करता है, जिसके विमर्दन से मधुर सुगध निकलती है, जिसका रूप मन को हरता है, ऐसा पुष्प मनुष्य समाज मे आदर की वस्तु है।[3] सव शुभ कर्मो मे फूल विशेष उपकरण माना जाता था, विशेषत विवाह आदि शुभ कार्यो मे पुष्प को यथेष्ट आदर प्राप्त था।[4]

केशविन्यास तथा अजन—दिन के प्रथम भाग मे केशप्रसाधन एव अजन आदि आँजने का विधान था।[5]

विधवाओ का निराभरण रहना—विधवाएँ कोई भी आभूषण नही पहनती थी। केवल सफेद रग के कपडे तथा सफेद उत्तरीय उनका परिधान था। आश्रम-वासिक पर्व मे किये गये विधवाओ के वर्णन से यही प्रतीत होता है।[6]

---

१ रक्तमाल्य न धार्यं स्याच्छुक्ल धार्यं तु पंडितैः।
वर्जयित्वा तु कमल तथा कुवलय प्रभो। इत्यादि। अनु १०४।८३,८४

२. मनो ह्लादयते यस्माच्छ्रिय चापि दधाति च।
तस्मात् सुमनस प्रोक्ता नरै. सुकृतकर्मभिः। अनु ९८।२०

३. मनोहृदयनन्दिन्यो विमर्दे मधुराश्च याः।
चारुरूपा. सुमनसो मनुष्याणा स्मृता विभोः। अनु ९८।३२

४. सन्नयेत् पुष्टियुक्तेषु विवाहेषु रह सु च॥ अनु ९८।३३

५. प्रसाधनञ्च केशानामजन दन्तधावनम्।
पूर्वाह्न एव कार्याणि देवतानाञ्च पूजनम्॥ अनु १०४।२३

६. एतास्तु सीमन्तशिरोरुहा या शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः।
राज्ञोऽस्य वृद्धस्य पर शताख्या. स्नुषा नृवीरा. हतपुत्रनाथाः।
आश्रम २५।१६

सदाचार

सदाचार शब्द का अर्थ—अपने आचरण के द्वारा ही साधु पुरुष समाज की श्रद्धा का पात्र वनने मे समर्थ होता है। समाज सज्जन एव धार्मिक कहकर जिनकी श्रद्धा करता है, उनके आचार को ही 'सदाचार' की सज्ञा दी गई है। उनके सभी आचरण साधु हो ही, यह बात नही है, प्रत्येक मनुष्य से गलतियाँ होती हैं। अत सब आचरण सदाचार रूप मे ग्राह्य नही होते। शास्त्रविहित प्रशसनीय आचार ही सदाचार कहलाते है। शास्त्रो की मर्यादा का उल्लघन करके मनचाहे आचार को सदाचार नही कहा जाता।[1]

मनुष्य के आचार का फल—अपने आचार के द्वारा मनुष्य दीर्घजीवी हो सकता है, इहलोक व परलोक दोनो मे धन-ऐश्वर्य तथा कीर्ति-लाभ कर सकता है। दुराचारी पुरुष दुखी और अल्पायु होता है। अत उन्नति चाहने वाले मनुष्य को सदा शुद्ध आचरण का पालन करना चाहिये। जो व्यक्ति आर्ष अर्थात् ऋषियो द्वारा वताये गये विधिनिषेध के अनुसार नही चलते थे, वे शिष्टाचार की भी उपेक्षा करते हैं, इहलोक व परलोक दोनो लोको के लिये भ्रष्ट होते है, उन्हे कही भी जगह नही मिलती।[2]

---

१. साधुनाञ्च यथावृत्तमेतदाचार लक्षणम्। अनु १०४।९
दुराचाराश्च दुर्द्धर्षा दुर्मुखाश्चाप्यसाधवः।
साधवः शीलसम्पन्ना शिष्टाचारस्य लक्षणम्॥ अनु १६२।३४
प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो जनः।
न स प्रमाणतामर्हेद् विवादजननो हि सः॥ अनु १६२।२५

२. आचारल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल् कीर्त्ति लभते पुरुषः प्रेत्य चेह च॥ इत्यादि। अनु १०४।६-१३
अनु १०४।१५५-१५७
यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि।
नैव तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः॥ वन ३१।२२
आचारो हन्त्यलक्षणम्। उद्योग ३९।४४

हर कार्य मे सज्जन पुरुषो का अनुकरण करने के निमित्त महाभारत मे अनगिनत उपदेश दिये गये है। कई सदाचारो का उल्लेख भी मिलता है। जैसे, प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को ब्राह्म-मुहूर्त्त मे शय्या छोड देनी चाहिये और फिर यथाविधि शौचादि से निवृत्त होकर उपासना करनी चाहिये। दन्तधावन, प्रसाधन, अजन लेपन आदि भी पूर्वाह्न मे ही कर लेना चाहिये। देवताओ की अर्चना पूजा भी पूर्वाह्न मे ही करने का विधान है। ब्राह्मण तथा अतिथि की सेवा करना हर एक मनुष्य का कर्त्तव्य वताया गया है। इसी प्रकार प्राय सभी कार्यों के विधिनिषेध अनुशासन पर्व के १०४ थे अध्याय मे विस्तृत रूप से वर्णित हैं। वासुदेव-उग्रसेन-सवाद मे अनेको सदाचारो का उल्लेख मिलता है—"काम, क्रोध और लोभ ये तीनो मनुष्य के शत्रु हैं, उन्हे वश मे रखना चाहिये। यथायोग्य श्रम तथा देखभाल करके सब कार्य पूरे करने चाहिये। किसी के ऐश्वर्य से जलना नही चाहिये। दुखी का दुख दूर करने के लिये साध्यानुसार चेष्टा करनी चाहिये इत्यादि।[1]

सदाचार प्रकरण—द्विज-व्याध-सवाद (वन० २०५ से २०८ वाँ अध्याय), यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद (वन ३१२ वाँ अध्याय) श्रीवासव-सवाद (शाति० २२८ वाँ अध्याय) एव दुर्गातितरणाध्याय (शाति० ११० वाँ अ०) मे सदाचार के वारे मे अनेको वातें कही गई हैं। 'चतुराश्रम' प्रवध के 'गृहस्थ' प्रकरण मे जिन आचारो का उल्लेख किया गया है, वही सदाचार कहे गये हैं। जिन आचारो के आचरण से मनुष्य का कल्याण हो वही वास्तविक रूप मे सदाचार है। महाभारत मे वहुत से उपाख्यानो के माध्यम से भी सदाचार का ही उपदेश दिया गया है।[2]

अन्त शुद्धि—सदाचार पालन करने के लिये वाह्य शुचिता का ख्याल रखना पडता है। लेकिन वाहर की शुचिता से अन्त करण की शुचिता का मूल्य कही अधिक है। मन की शुद्धि ही सबसे वडी चीज है। चरित्र विशुद्ध न हो और वाहर से सदाचार का पालन किया जाय तो वह पाखड हो जाता है।[3]

आर्य और अनार्य—जो वेद आदि शास्त्रविहित साधु आचारो का पालन करते थे, उन्हे 'आर्य' कहा जाता था और जो उनके विपरीत आचरण करते थे, वे 'अनार्य'

---

१. शान्ति २३० वाँ अध्याय।

२. यत् कल्याणमभिध्यायेत्तत्रान्मान नियोजयेत्। शान्ति ९४।१०

३. अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे।
स्नातव्य मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्व्य शाश्वतम्॥ इत्यादि। अनु १०८।३-९

पारिवारिक व्यवहार

प्रत्येक गृहस्थ को माता, पिता, स्त्री, पुत्र, परिजनो के साथ रहना पडता है। सम्पूर्ण प्राणिजगत के साथ प्रत्येक का योग है और एक की जीवनयात्रा के लिये दूसरे का दायित्व कम नही है, यह सत्य होते हुए भी हर मनुष्य मे इस बात का ज्ञान तो नही होता, लेकिन प्रत्येक गृहस्थ को अपने परिवार के लिये अपने को दान करने का सुयोग अवश्य मिलता है। परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति गृहस्थ का जो कर्त्तव्य एव दायित्व होता है, यथोचित रूप से उसका पालन करने से अन्त करण को क्रमश प्रसारित होने का मौका मिलता है। महाभारत मे आश्रम विभाग के उद्देश्य के वारे मे सोचने पर भी सर्वप्रथम यही सत्य हमारे दिमाग मे आता है। महाभारत के मतानुसार ससार मे गृहस्थ की जिम्मेदारी सबसे अधिक है। दूसरे के सुख के लिये अपने सुख की तिलाजलि देनी पडती है इस कारण सब आश्रमो मे गृहस्थ ही सबसे वडा त्यागी माना गया है।

माता और पिता—गुरुजन तीर्थ के समान पूज्य होते हैं।[1] गुरुजनो मे माता-पिता को महागुरु कहा जाता है, अतएव हर तरह से महागुरु की प्रीति अर्जन करना ही मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। जो पुत्र माता-पिता के आदेश का पालन करने के लिये सदा तत्पर रहता है, उसे ही यथार्थ पुत्र कहा जा सकता है।[2] माता-पिता प्रत्यक्ष भगवान होते हैं। नौ महीने गर्भ मे रखकर एव असह्य यन्त्रणा सहकर माता सन्तान का पालन करती है। तपस्या, पूजा आदि नाना प्रकार के सत्कार्यों के फल-स्वरूप माता-पिता सन्तान लाभ करते हैं। पुत्र धार्मिक, यशस्वी एव विद्वान हो तो माता-पिता को अपार आनन्द होता है। जो माता-पिता की आशा पूर्ण करते हैं, वह इस लोक व परलोक, दोनो मे सदा सुख के भागी होते है। अत मन-वचन-काय तीनो से माता-पिता की सेवा करना सन्तान का परम कर्त्तव्य है।[3]

माता-पिता के श्रेष्ठत्व के बारे मे मतभेद—सन्तान के लिये माता-पिता मे से

---

१. तीर्थाना गुरवस्तीर्यम्। अनु १६२।४८।

२. मातापित्रोर्वचनकृद्धित पथ्यश्च य सुतः। इत्यादि। आदि ८५।२५-३०

३ प्रत्यक्षेण हि दृश्यन्ते देवा विप्रर्षिसत्तम। इत्यादि। वन २०४।३, ४

कौन अधिक श्रेष्ठ है, इस विषय मे भी मतभेद दिखाई देता है। कोई-कोई कहता है गर्भधारण एव प्रतिपालन मे माता ही अधिक कष्ट उठाती है इसलिये पिता की अपेक्षा माता का महत्व अधिक है। कुछ लोग कहते है कि पिता तपस्या, देवपूजा, तितिक्षा आदि के द्वारा सत्पुत्र लाभ की आकाक्षा करता है, पुत्र के सस्कारादि कर्म भी पिता ही करता है अतएव पिता ही श्रेष्ठ है। मतभेद के बारे मे अच्छी तरह अध्ययन किया जाय तो पता लगता है कि सन्तान के लिये दोनो ही समान है। सन्तान के लिये दोनो ही एक दूसरे की तुलना मे महागुरु है।[1]

गुरुजनो की सेवा से सन्तान का कल्याण—पिता गार्हपत्य अग्नि के, माता दक्षिण अग्नि के एव आचार्य आवहनीय अग्नि के समान होता है। अप्रमत्त भाव से इन तीनो की सेवा करने से इहलोक, परलोक व ब्रह्मलोक को जीता जा सकता है। मनुष्य के सब कल्याण गुरु सेवा के अधीन होते है। मगल चाहने वाले पुरुष को सदा इनकी सन्तुष्टि करनी चाहिए।[2] पिता अगर सन्तुष्ट हो तो प्रजापति तुष्ट होते हैं, माता की तुष्टि से सम्पूर्ण पृथ्वी सन्तुष्ट होती है एव आचार्य की तृप्ति से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[3] नारद ने कृष्ण से कहा है, जो माता, पिता एव गुरुजनो की तुम्हारी तरह भक्ति करते है, वे तुम्हारी हर चीज के अधिकारी होते हैं।[4] जो गुरुओ की यथोचित पूजा करते है, उनकी आयु, यश, एव श्री की वृद्धि होती है।[5]

आचार्य-पूजा—आचार्य की सेवा के सबध मे 'शिक्षा' प्रबन्ध मे कहा गया है। आचार्य पूजा के विषय मे कच की एक सुन्दर उक्ति है—"जो मेरे कानो मे अमृत घोलते हैं, मेरी मूर्खताओ को दूर करते हैं, उन्हे मैं माता व पिता समझता हूँ। जो विद्वान पुरुष अमूल्य निधिस्वरूप वेद के दाता आचार्य की पूजा नही करता वह अप्रतिष्ठित होता है तथा नर्क मे जाता है।"[6]

---

१. गुरुणाञ्चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः। आदि १९६।१६
नास्ति मातसमो गुरुः। अनु १०६।६५। अनु ६२।९२। अनु १०५।१५
पिता परं देवतं मानवानां मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति। शान्ति २९७।२
मातृस्तु गौरवादन्ये पितॄनन्ये तु मेनिरे। इत्यादि। वन २०४।१५-१९
२. शान्ति १०८ वाँ अध्याय।
३. येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः। इत्यादि। शान्ति १०८।२५, २६। अनु ७।२५, २६
४. मातापित्रोर्गुरुषु च सम्यग् वर्त्तन्ति ये सदा। इत्यादि। अनु ३१।३५
५. गुरुमभ्यर्च्य वर्द्धन्ते आयुषा यशसा श्रिया। अनु १६२।४५
६. यः श्रोत्रयोरमृत निषिञ्चेत्। इत्यादि। आदि ७६।६३, ६४

गुरुजनो की प्रीति अर्जन करना ही श्रेष्ठ धर्म—गधमादन पर्वत पर महर्षि अर्ष्टिसेन के साथ जब युधिष्ठिर का साक्षात्कार हुआ तो महर्षि ने कुशल मगल पूछने के बाद प्रश्न किया, "हे पार्थ, तुम माता-पिता की आज्ञा का भली भाँति पालन तो करते हो? गुरुओ एव वृद्ध पडितो की यथायोग्य पूजा तो करते हो न?"[1] माता, पिता, अग्नि, गुरु, एव आत्मा इन पाँचो की जो पूजा करता है, वह इहलोक व परलोक दोनो मे सुख का उपभोग करता है।[2] पुत्र की भलाई के लिये जो अपना सर्वस्व अर्पण कर देते है, उन स्नेहमय माता-पिता को सन्तुष्ट रखना ही पुत्र का प्रधान कर्त्तव्य है। महापुरुषो ने इसी को पुत्र का श्रेष्ठ धर्म बताया है।[3]

गुरुजनो की सेवा से स्वर्गप्राप्ति—जो शुद्ध आचारो का पालन करते है, सत्य मे विश्वास रखते हुए माता-पिता की पूजा करते हैं, वे उनके ऋण से उऋण हो जाते हैं।[4] जो पिता, माता, आचार्य एव ज्येष्ठ भ्राता की सेवा करते है, कभी उनकी निन्दा नही करते, उन्हें अभिलषित स्वर्ग की प्राप्ति होती है एव गुरु सेवा के कारण नरक के दर्शन नही करने पडते।[5] माता-पिता आदि की आज्ञा का पालन करने मे अपने हित-अहित के बारे मे सोचने का अवकाश नही होता। वह लोग चाहे कैसा भी आदेश क्यो न दे, बिना किसी हिचक के उसका पालन करना ही पुत्र का धर्म है।[6]

मातृपितृभक्त धर्मव्याध—माता-पिता के आदर्श सेवक धर्मव्याध की कहानी सभी जानते है। माता-पिता की सेवा से ही उन्हें हर विषय का अद्भुत् ज्ञान प्राप्त हुआ था, सेवा के कारण ही वे श्रेष्ठ योगी बनने मे समर्थ हुए थे।[7]

---

१. मातापित्रोश्च ते वृत्ति. कच्चित् पार्थ न सीदति।
कच्चित्ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः॥ वन १५९।६, ७

२. पिता माता तथैवाग्निर्गुरुरात्मा च पञ्चमः।
यस्यैते पूजिताः पार्थ तस्य लोकावुभौ जितौ॥ वन १५९।१४

३. एतद्धर्मफल पुत्र नराणां धर्मनिश्चये।
यत्तुष्यन्त्यस्य पितरो माता चाप्येकदर्शिनी॥ उ १४५।७

४. तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च।

५. मातापित्रोः पूजने यो धर्मस्तमपि मे शृणु। इत्यादि। अनु ७५।४०-४२

६. मातुः पितुर्गुरुणाञ्च कार्यमेवानुशासनम्।
हित वाप्यहित वापि न विचार्यं नरर्षभ॥ अनु १०४।१४५

७. वन २१३ वाँ व २१४ वाँ अध्याय।

देवव्रत की मृत्युंजयता—सत्यव्रत भीष्म की पितृभक्ति भी सर्वजनविदित है। सन्तुष्ट पिता के आशीर्वाद के फलस्वरूप ही वह मृत्यु को जीतने मे समर्थ हुए थे।[1]

गुरुजनो का भरणपोषण न करना पाप—जो माता-पिता का भरण-पोषण नही करते उन्हे महापापी कहा गया है। जो व्यक्ति बिना किसी कारण के उनका त्याग करता है, शास्त्रो मे उसके लिये पतित की सज्ञा दी गई है।[2] माता-पिता का मन दुखी हो ऐसा आचरण करना सन्तान के लिये बिल्कुल गर्हित बताया गया है। जो पुत्र माता-पिता का अपमान करता है, वह मृत्यु के बाद गधे आदि के रूप मे जन्म लेकर असीम कष्ट उठाता है।[3]

प्रातः उठकर गुरुओ को प्रणाम—सुवह सोकर उठने पर सबसे पहले माता-पिता एव गुरुजनो को चरण छूकर प्रणाम करने का विधान बताया गया है।[4]

गुरुजनो के आगमन पर खड़े होकर प्रणाम करना—अपने से बडो के आने पर तत्क्षण उठकर खडे होने एव प्रणाम करने के लिये उपदेश दिया गया है।[5]

हर कार्य के लिये अनुमति लेना—माता-पिता की अनुमति लिये बिना कोई भी कार्य करना अनुचित है। कौशिक नाम के एक ब्राह्मण ने वेदाध्ययन के निमित्त माता-पिता की आज्ञा लिये बिना परदेश गमन किया था। बाद मे जब वह पितृमातृभक्त धर्मव्याध से मिला तो अपने बिना कहे चले आने पर बहुत लज्जित हुआ और उनके कहने पर घर वापस लौटे तथा माता-पिता की सेवा मे मन लगाया।[6]

माता-पिता की गलती नहीं पकड़नी चाहिये—कहोड पुत्र अष्टावक्र ने गर्भावस्था (?) मे ही पिता की अध्यापना मे दोष निकाला था, इसी कारण उनके शरीर के आठ अग टेढे हो गये थे। माता-पिता आदि गुरुजनो के दोष निकालना

---

१. न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि। आदि १००।१०३

२. जीवतो वै गुरून् भृत्यान् भरन्त्वस्य परे जनाः। अनु ९३।१२८
त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम्। इत्यादि। शान्ति १६५।६२
शान्ति १५३।८१।

३. पितरं मातरञ्चैव यस्तु पुत्रोऽवमन्यते। इत्यादि। अनु १११।५८-६०।

४. मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्। अनु १०४।४३

५. ऊर्द्ध्वं प्राणात्ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥ उद्योग ३८।१

६. स तु गत्वा द्विजः सर्वां शुश्रूषां कृतवांस्तदा। वन २१५।३३

सन्तान का कर्त्तव्य नही है, यह समझाने के लिए ही शायद यह उपाख्यान रचा गया है।[1]

गुरुजनो से काम कराना पाप—माता-पिता से कोई भी काम कराना पुत्र के लिये पाप का कारण बताया गया है।[2] और भी बहुत से उपाख्यानो मे माता-पिता की श्रद्धा करने का उपदेश मिलता है।

महागुरु की तृप्ति से विश्व की तृप्ति—चिरकारिकोपाख्यान[3] मे माता-पिता के प्रति पुत्र के कर्त्तव्य के सबध मे विस्तृत रूप से कहा गया है। उस उपाख्यान मे स्पष्ट किया गया है कि, "पिता समस्त देवताओ का समष्टिस्वरूप होता है और माता देवताओ तथा मर्त्यवासी सर्वभूत की समष्टिस्वरूप होती है, अतएव अगर वे सन्तुष्ट हो जायँ तो सारा ब्रह्माण्ड परितृप्त हो जाता है।[4] पिता ही धर्म है, पिता ही स्वर्ग है, पिता ही तपस्या है। पिता के परितृप्त होने से सब देवताओ की परितृप्ति होती है।[5]

पितृत्रय—जिसके द्वारा उत्पत्ति हुई हो, जो भय से छुटकारा दिलाता हो और जो अन्नदाता हो, उनकी पितास्वरूप भक्ति करनी चाहिए।[6]

दुर्दशाग्रस्त पुत्र पर माता-पिता का स्नेह अधिक—माता-पिता ऐसे तो सभी सन्तानो को एक ही दृष्टि से देखते हैं लेकिन औरो की अपेक्षा जो अधिक दयनीय अवस्था मे होता है उस पर उनका स्नेह अपेक्षाकृत अधिक होता है।[7]

भाई व बहन—बडे भाई और बडी बहन की श्रद्धा करने का उपदेश दिया गया है। कहा गया है कि "बडा भाई पिता के समान है, अतएव हर तरह उनका अनुगमन करना उचित है।"

---

१. उपालब्धः शिष्यमध्ये महर्षिः स तं कोपादुदरस्थं शशाप। वन १३२।११

२. पुत्रश्च पितर मोहात् प्रेषयिष्यति कर्मसु। शान्ति २२७।११३

३. शान्ति २६५ वां अध्याय।

४. देवताना समवायमेकस्य पितर विदु ।
मर्त्यानां देवताना च स्नेहादभ्येति मातरम्॥ शान्ति २६५।४३

५. पिता धर्म पिता स्वर्ग. पिता हि परमन्तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वा प्रीयन्ति देवता.॥ शान्ति २६५।२१

६. यश्चैनमुत्पादयते यश्चैनं त्रायते भयात्।
यश्चास्य कुरुते वृत्ति सर्वे ते पितरस्त्रय.॥ अनु ६९।१८

७. दीनस्य तु सतः शक्र पुत्रस्याभ्यधिका कृपा। वन ९।१६

पांडवो तथा विदुर का आदर्श भ्रातृप्रेम—भीम वगैरह चारो भाई युधिष्ठिर का समुचित आदर करते थे, यह महाभारत मे सर्वत्र ही दिखाई देता है। यद्यपि भीम को बीच-बीच मे युधिष्ठिर के काम की अच्छी या बुरी आलोचना करते हुए देखा जाता है, लेकिन उसमे सामयिक अधीरता के अलावा अनादर या अश्रद्धा का भाव कही नही दिखाई देता। आदर्श क्षत्रिय एव सरल स्वभावी भीम हर अवसर पर अपने को प्रकृतिस्थ नही रख पाते, इसी कारण कही-कही थोडी चचलता का आभास मिलता है।[१] लेकिन बडे भाई के आदेश का उल्लघन करते हुए उन्हें कही नही पाया जाता। पाडवो एव विदुर का आदर्श भातृप्रेम भी महाभारत मे स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है। भीम, अर्जुन आदि वीर श्रेष्ठ योद्धा एव अमित बलशाली होते हुए भी सदा अपने अग्रजो का अनुसरण करते थे। वे यदि बडे भाई का अनुसरण न करते तो शकुनि के कपट भाव से जुआ खेलते समय ही कुरुक्षेत्र का महायुद्ध शुरू हो जाता। युधिष्ठिर तो भाइयो को छोडकर स्वर्ग जाना भी अच्छा नही समझते थे।[२]

ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ का व्यवहार—अनुशासन पर्व मे, भीष्म-युधिष्ठिर-सवाद मे एक अध्याय का नाम 'ज्येष्ठ कनिष्ठ-वृत्ति' है। इस अध्याय मे भीष्म युधिष्ठिर को बडे एव छोटे भाई के पारस्परिक व्यवहार के बारे मे उपदेश देते है। वे कहते है, "हे तात, तुम भाइयो मे बडे हो अत अपने ज्येष्ठत्व का ख्याल रखते हुए छोटे भाइयो के साथ ऐसा व्यवहार करना कि वे तुम्हारा गुरु के समान सम्मान कर सकें। अकृत बुद्धि गुरु को शिष्य सम्मान की दृष्टि से नही देखते। गुरु मे दीर्घदर्शिता का होना आवश्यक है। अगर गुरु मे दीर्घदर्शिता का अभाव होगा तो शिष्य कैसे दीर्घदर्शी बनेंगे ? ज्ञानी एव बुद्धिमान होते हुए भी बडे भाई को समय विशेष पर छोटे भाई के दोष देखते हुए भी अध एव जड मनुष्य जैसा व्यवहार करना चाहिये। यदि छोटी-छोटी बातो मे हमेशा छोटो मे दोष निकाला जायगा तो छोटो का मन विद्रोही हो उठेगा। छोटो के दोष अगर नजर मे आयें तो उन्हें कुशलता से दूर करने की कोशिश करनी चाहिये। यदि दूसरे लोगो के सामने छोटे भाई का तिरस्कार किया जायगा तो छिन्द्रान्वेषी, ईर्ष्यान्वित शत्रु उसे बुरी सलाह देकर अपने पक्ष मे मिलाने की कोशिश करेगा। वश मे वयोज्येष्ठ व्यक्ति के सद्व्यवहार से कुल उज्ज्वल होता है और उसके

---

१. सभा ६८ वाँ अध्याय। वन ३३ वाँ तथा ३४ वाँ अध्याय। शान्ति १० वाँ अध्याय।

२. गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र ते भ्रातरो गताः। महाप्रस्थानिक ३।३७

असद् आचरण से वश का गौरव खत्म होता है। जो वडा भाई अपने छोटे भाई का हमेशा तिरस्कार करता रहता है वह ज्येष्ठ शब्द की सार्थकता को नही निभाता तथा पैतृक सम्पत्ति के वँटवारे मे वह अपने को श्रेष्ठ भाग का अधिकारी भी नही वता सकता, वल्कि वह तो राजा से दड पाने का अधिकारी होता है। छोटे भाई यदि कुमार्गगामी हो तो उन्हें पैतृक धन से वचित करना ही उचित है। वडा भाई पिता के समान होता है, छोटे भाइयो को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिये तथा पिता के समान आदर करना चाहिए।"[1]

बड़े भाई का अपमान करना अनुचित—जो व्यक्ति पितृतुल्य वडे भाई का अपमान करता है, वह दूसरे जन्म मे क्रौंचयोनि मे जाता है, एक साल तक उस योनि मे रह कर फिर चीरक पक्षी के रूप मे जन्म लेता है। इसके बाद पाप का क्षय होने पर मनुष्य रूप मे जन्म लेता है।[2]

राजा नल का आदर्श भ्रातृप्रेम—राजा नल ने अपने छोटे भाई पुष्कर द्वारा लाछित होने पर भी बाद मे उसे उसकी सम्पत्ति जो उन्होने जीती थी, लौटाकर क्षमा कर दिया था। उस उपाख्यान मे नल का भ्रातृस्नेह चकित कर देता है।[3]

भाइयो मे बन्धुत्व व सौहार्द—पाडवो मे केवल भक्ति एव स्नेह ही नही था, वे आपस मे एक दूसरे के मित्र भी थे। युधिष्ठिर हर कार्य मे भाइयो से परामर्श लिया करते थे। कभी-कभी छोटे भाई स्वय भी उन्हें सलाह देकर काम मे सहायता पहुँचाते थे। वनवास के समय युद्ध की तैयारियो के समय तथा अश्वमेध यज्ञ करते वक्त भीम आदि चारो भाइयो को युधिष्ठिर से सलाह-मशविरा करते हुए पाया जाता है। चारो भाई सुहृद मित्र की तरह विना माँगे हुए भी युधिष्ठिर को अपनी अपनी राय दिया करते हैं। युधिष्ठिर भी उनकी राय की मर्यादा को कभी कम नही होने देते थे तथा उनसे राय लेना आवश्यक समझते थे। विदुर धृतराष्ट्र के प्रधान मत्री थे। उनसे धृतराष्ट्र अगर किसी काम मे सलाह नही लेते थे, तो भी वे उनके हित की राय देने मे नही चूकते थे। यही कारण था कि अविवेचक दुर्योधन के साथी उनसे कुढते थे, किन्तु वे अपने कर्त्तव्य के प्रति सदा जागरूक रहते थे। विदुर तथा धृतराष्ट्र मे भ्रातृप्रेम भी कम नही था। धृतराष्ट्र अच्छी तरह जानते थे कि विदुर ही एकमात्र उनके शुभाकाक्षी मित्र हैं, लेकिन कभी-कभी उनका विवेक अत्यधिक पुत्रस्नेह की दुर्वलता के सामने हार जाता था।

---

१ अनु १०५ वाँ अध्याय। भ्राता ज्येष्ठ सम पित्रा। शान्ति २४२।२०

२. ज्येष्ठ पितृसम चापि भ्रातर योऽवमन्यते। इत्यादि। अनु १११।८७, ८८

३. पुष्कर त्व हि मे भ्राता सजीव शरद शतम्। वन ७८।२५

परिवार के विभाजन से क्षति—महाभारत मे कहा गया है कि भाइयो के साथ एक ही परिवार मे रहना चाहिए। पैतृक सम्पत्ति का विभाजन करके अलग अलग रहना भाइयो के लिये अच्छा नही होता। इस विषय पर एक उपाख्यान भी कहा गया है। कथा इस प्रकार है—विभावसु नाम के एक क्रोधी स्वभाव वाले ऋषि थे। उनके छोटे भाई का नाम सुप्रतीक था। सुप्रतीक हमेशा अपने बडे भाई से अलग होने के लिये कहा करता था। एक दिन विभावसु सुप्रतीक से बोले, "देखो बहुत से मूर्ख व्यक्ति भाइयो के अलग-अलग रहने को अच्छा समझते हैं। लेकिन विवेकशील व्यक्ति इसका अनुमोदन नही करते, क्योकि अलग हो जाने पर भाई धन के मद मे अधे होकर आपस मे कलह करते है। उस वक्त मुँह का मीठा मन का कपटी शत्रु सुयोग समझ कर भाइयो की कलह रूपी अग्नि के लिये ईंधन जुटाता है। फलस्वरूप दोनो ही पक्ष उस कलहाग्नि मे भस्म हो जाते है।[1]

बड़ी बहन—बडी बहन माता के समान होती है। जो व्यक्ति बहन के साथ शत्रु जैसा व्यवहार करता है, वह नर्क का भागी बनकर असीम यातना भोगता है।[2]

छोटी बहन—बडे भाई एव छोटी बहन मे आपसी व्यवहार के उदाहरण स्वरूप श्रीकृष्ण तथा सुभद्रा को लिया जा सकता है। श्रीकृष्ण सुभद्रा को बहुत प्यार करते थे। जब भी हस्तिनापुर जाते थे, बहन तथा बुआ (कुन्ती) से मिलने के लिये अन्त पुर मे अवश्य जाते थे।[3]

पतिहीना विधवा बहन का भरण-पोषण—पतिहीना विधवा बहन का भरण-पोषण करना भाई के कर्त्तव्यो मे गण्य था। बहन की पूरी देखभाल का भार भाई पर ही होता था।[4]

आदर्श का हर जगह अनुसरण नहीं हुआ, गरुड़ तथा नाग—भाई-बहन का यह मधुर सबध उस काल मे आदर्श माना जाता था। किन्तु हमेशा इस आदर्श का

---

१. विभागं बहवो मोहात् कर्त्तुमिच्छन्ति नित्यशः। इत्यादि। आदि २९।१८-२१

२. ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ। अनु १०५।१९
ज्येष्ठां स्वसारं पितरं मातरं च यथा शक्जु मदमत्ताश्चरन्ति। इत्यादि। अनु १०२।१७

३. ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः। सभा २।४

४. चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु...भगिनी चानपत्या। उद्योग ३३।७४

यथारीति पालन हुआ ही, यह नही कहा जा सकता। प्राचीन काल के सौतेले भाई गरुड एव नागो की शत्रुता अभी भी प्रसिद्ध है।[1]

वड़े भाई की पत्नी माता के समान—उस काल मे वडे भाई की पत्नी को भी माता के समान मानना आदर्श समझा जाता था। पाडव वनवास के समय कुन्ती को विदुर के यहाँ छोड गये थे। विदुर ने तेरह साल तक उन्हें सम्मानसहित अपने यहाँ रक्खा था।[2]

कनिष्ठ का सपत्नीक बडे भाई के शयनकक्ष मे जाना दूषणीय नहीं पर बडे के जाने मे दोष—वडे भाई की पत्नी देवर से स्नेह करती थी। युधिष्ठिर एक जगह कहते हैं कि छोटा भाई यदि अपनी पत्नी के साथ वडे भाई के शयनकक्ष मे जाय तो कोई वात नही है, लेकिन वडे भाई को अपनी पत्नी के साथ छोटे भाई के शयनकक्ष मे नही जाना चाहिये।[3]

छोटे भाई की पत्नी के साथ जेठ का व्यवहार—आश्रमवासिक पर्व मे आया है कि धृतराष्ट्र, गाधारी एव कुती तीनो ने एक साथ प्रव्रज्या ली थी। कुन्ती के प्रति धृतराष्ट्र के स्नेहमय व्यवहार का उल्लेख मिलता है।

देवर या जेठ से गर्भाधान कराना उस काल मे दूषित नही माना जाता था, लेकिन गर्भाधान के समय को छोडकर बडे भाई की पत्नी को माता के समान तथा छोटे भाई की पत्नी को पुत्रवधू के समान मानने का नियम था। (देखिए पृ० ४०)

अपने से बडे को तुम कहना उनकी हत्या करने के समान—एक वार कर्ण के वाण से घायल होकर युधिष्ठिर ने अर्जुन को वहुत धिक्कारा, विशेषकर उनके गाडीव, रथ, पताका आदि की भी निन्दा की। अर्जुन ने धनुष की निन्दा करने वाले के शिरच्छेदन की अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार युधिष्ठिर का सिर काटने के लिए तलवार निकाली। उस आयी विपत्ति को देखकर कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा, "सम्मानित व्यक्ति को जव तक सम्मान मिलता रहे, तभी तक वह जीवित रहता है, अपमान ही उसकी मृत्यु होती है। तुम्हारे युधिष्ठिर को 'तुम'

---

१. आदि ३४ वाँ अध्याय।
२. ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ।
भ्रातुर्भार्या च तद्वत् स्यात् . . .॥ अनु १०५।२०
विदुरश्चापि तामार्त्ता कुन्तीमाश्वास्य हेतुभि.।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्त्ततरः शनै.॥ सभा ७९।३१
३. गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः। इत्यादि। आदि २१३।३२

सम्बोधन करने से ही उनकी मृत्यु हो जायगी। अपने से बडो को 'तुम' कहकर उनकी अवज्ञा करना, उनकी हत्या करने के समान है।"[1]

अपमान करने के उद्देश्य से तुम कहना अन्याय है, नहीं तो नहीं—अपने से बडो को तुम कहने के बहुत से उदाहरण महाभारत मे मिलते है, यहाँ तक कि बडे भाई का नाम लेकर बुलाने के उदाहरण भी है। भीम को अर्जुन नाम लेकर बुलाते थे, लेकिन यह अपमान के उद्देश्य से नही होता था। अत यह ख्याल रखना चाहिए कि हमेशा जिनके साथ श्रद्धा का व्यवहार करते हो, उनकी कभी भी अवज्ञा करना उचित नही है।[2] उस काल मे पत्नी, पुत्रवधू, कन्या आदि के साथ किस प्रकार का व्यवहार सामाजिक आदर्श माना जाता था यह 'नारी' प्रकरण मे बताया जा चुका है।

जमाई का आदर—उस युग मे भी सास तथा ससुर जमाई का आदर-सत्कार काफी करते थे।[3]

ज्ञाति के दोष—ज्ञाति वर्ग के दोष एव गुण दोनो ही का विशद रूप से वर्णन हुआ है। एक जगह भीष्म युधिष्ठिर से कहते है—ज्ञाति अर्थात् पितृवश मे उत्पन्न व्यक्ति को मृत्यु के समान भयानक समझना चाहिये। ज्ञाति जैसा सम्पत्ति का लोभी और कोई नही होता। जिस प्रकार एक सामन्ती राजा अपने पडोसी राजा की ऐश्वर्य वृद्धि से मन ही मन कुढता है, उसी प्रकार एक ज्ञाति दूसरे ज्ञाति का ऐश्वर्य सहन नही कर पाता। एक सरलस्वभावी, मृदुभाषी, उदार, सुशील व सत्यवादी पुरुष के विनाश की कामना उसका ज्ञाति ही कर सकता है और कोई नही।[4]

ज्ञाति के गुण—उपर्युक्त दोषो के साथ साथ ज्ञाति के गुणो का उल्लेख भी जगह जगह हुआ है। भीष्म के कथन से पता चलता है कि जिनके रिश्तेदारो मे ज्ञातिपुरुष नही होता, वे कभी सुखी नही रह सकते। ज्ञातिविहीन पुरुष प्रत्येक

---

१. यदा मानं लभते मान नार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके। इत्यादि। कर्ण ६९।८१-८३।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते। अनु १२६।५३
त्वंकारन्नामधेयञ्च ज्येष्ठानां परिवर्ज्जयेत्। शान्ति १९३।२५

२. गुरुणामवमानो हि वध इत्यभिधीयते। कर्ण ७०।९१, २। आदि १५४।१८

३. अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत्। आदि ११६।१२

४. ज्ञातिभ्यश्चैव बूध्येथा मृत्योरिव भयं सदा।
उपराजेव राजर्द्धि ज्ञातिर्न सहते सदा॥ इत्यादि। शान्ति ८०।३२, ३३,

की अवज्ञा का पात्र होता है, वह वडी आसानी से शत्रु द्वारा पराभूत हो जाता है। जब कोई मनुष्य हर एक के द्वारा परित्यक्त हो जाता है तब एकमात्र ज्ञाति ही उसका आश्रयस्थल होता है। कोई व्यक्ति अगर किसी का अपमान करे तो एक ज्ञाति ही ऐसा होता है, जो उसे सहन नही कर पाता।[1]

एक ज्ञाति के प्रति दूसरे ज्ञाति का व्यवहार—एक ज्ञाति दूसरे ज्ञाति के अपमान को अपना अपमान समझता है। ज्ञातियो मे दोष एव गुण दोनो ही होते हैं। वचन एव व्यवहार के द्वारा ज्ञाति का यथोचित आदर व सम्मान करना चाहिये, उनके साथ दुर्व्यवहार करना उचित नही है। मन मे भले ही उन पर विश्वास न हो लेकिन प्रत्यक्ष मे एक विश्वस्त की तरह व्यवहार करना ही वाछनीय है। जो मनुष्य ज्ञाति की भावनाओ को समझकर, सोच विचार कर उनके साथ वर्ताव करता है वह शत्रु को भी मित्र वना सकता है।[2] एक ज्ञाति के विपदग्रस्त होने पर उसके उद्धार की चेष्टा करना दूसरे ज्ञाति का परम कर्त्तव्य है।[3]

विपदग्रस्त दुर्योधन के प्रति पाडवो का व्यवहार—अहीरो के गाँवो मे जाते समय दुर्योधन आदि के पराजित एव वन्दी होने पर दुर्योधन के वचे हुए सैनिको ने वनवासी पाडवो के समक्ष उपस्थित होकर सहायता की भिक्षा माँगी। घमडी दुर्योधन के इस प्रकार विपत्ति मे पडने का समाचार सुनकर भीम प्रसन्न होकर बोले "गधर्वों ने हमारे मित्र का काम किया है। हम लोगो के लिये जो कार्य कठिन था, वह गधर्वो ने कर दिया है।" भीम की वात सुनकर धर्मराज गुस्से से बोले, "यह आनन्द का समय नही है। ज्ञातियो मे आपसी कलह तो हुआ ही करती है, लेकिन किसी भी हालत मे कुल की मर्यादा नष्ट करना उचित नही है। कोई दूसरा आदमी हमारे ज्ञाति पर हमला करे और हम बैठे-बैठे खुश हो,यह क्या कभी हो सकता है?" इस प्रकार नीतिवाक्यो द्वारा भीम को शान्त करके युधिष्ठिर ने तत्क्षण उन्हें तथा अर्जुन को दुर्योधन के उद्धार के लिये भेजा। भीम और अर्जुन के वाहुवल द्वारा दुर्योधन को गधर्वों से मुक्ति मिली।[4] मूल महाभारत मे न होते हुए भी टीकाकार नीलकठ ने युधिष्ठिर की उक्ति के रूप मे एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अर्थ

---

१. अज्ञातिनोऽपि न सुखा नावज्ञयास्ततः परम्।
अज्ञातिमन्त पुरुष परे चाभिभवन्त्युत॥ इत्यादि। शान्ति ८०।३४, ३५

२. आत्मानमेव जानाति निकृत बान्धवैरपि। इत्यादि। शान्ति ८०।३६-४१

३. येन केनचिदार्त्ताना ज्ञातीना सुखमावहेत्। आदि ८०।२४

४ यदा तु कश्चिज्ज्ञातीना वाह्य प्रार्थयते कुलम्।
न मर्षयति तत् सन्तो वाह्ये नाभिप्रधर्षणम्॥ इत्यादि। वन २४२।३-२२

यह है कि, "अपने आपसी विरोध के समय हम पाँच भाई एक तरह एव दुर्योधन आदि सौ भाई दूसरी तरफ है, किंतु किसी अन्य के साथ विरोध होने पर हम सव मिलकर एक सौ पाँच भाई है।"[१]

जाति प्रेम—एक जगह विदुर धृतराष्ट्र से कहते है, "गुणहीन ज्ञातियो पर भी दया करनी चाहिए। आपस मे खाना-पीना, वोलचाल एव प्रेम रखना कर्त्तव्य है। सज्जन ज्ञाति दूसरे ज्ञाति का विपत्ति से उद्धार करता है और दुर्जन ज्ञाति विपत्ति मे डालता है। यदि धनी ज्ञाति के आश्रय मे रहकर कोई कष्टभोग करे, तो उसके लिये आश्रयदाता ही पाप का भागी होता है। अतएव महाराज आप भी पाडवो पर दया करिये।"[२]

वृद्ध ज्ञाति को आश्रय देना—असहाय वृद्ध ज्ञाति को आश्रय देना प्रत्येक कल्याण-कामी मनुष्य का कर्त्तव्य है।[३]

आपसी विरोध से शत्रुवृद्धि—जिन ज्ञातियो मे हमेशा आपसी विरोध रहता है, शत्रु उन्हे वडी आसानी से पराजित कर देता है। एक साथ रहना, साथ साथ उठना बैठना, खाना-पीना, सलाह मशविरा करना ज्ञातियो के लिये लाभदायक है। आपसी कलह से पारिवारिक शक्ति का क्षय होता है। परस्पर सहानुभूति एव सद्व्यवहार रखने से जलाशय के कमलो के समान ज्ञातियो की शक्ति वढती रहती है।[४]

ईर्ष्या के कारण निर्धनता—जो व्यक्ति अपने गुण सम्पन्न ज्ञाति से ईर्ष्या करता है, उस असयत मनुष्य का लक्ष्मी भी परित्याग कर देती है।[५]

---

१. परस्परविरोधे हि वयं पञ्च च ते शतम्।
अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्॥ नीलकंठ। शान्ति ८०।४१

२. यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीनमातुरम्॥ इत्यादि। उद्योग ३८।१७-२७। उद्योग ३५।४३

३. वृद्धो ज्ञातिः। उद्योग ३३।७४। अनु १०४।११३।

४. एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु मियो गच्छन्ति विग्रहम्।
तेऽमित्रवशमायान्ति शकुनाविव विग्रहात्॥ इत्यादि। उद्योग ६४। १०, ११।
अन्योन्यसमुपष्टम्भोदन्योन्यापाश्रयेण वा।
ज्ञातयः संप्रवर्द्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत॥ उद्योग ३६।६५

५. य. कल्याणगुणान् ज्ञातीन् मोहाल्लोभाद्दिदृक्षते।
सोऽजितात्मा जितक्रोधो न चिरं तिष्ठति श्रियम्॥ उद्योग ९१।३०।

व्यास का धृतराष्ट्र को उपदेश—कुरुक्षेत्र के युद्ध से पहले महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र को उपदेश देते हुए कहा था, "महाराज, तुम्हारे पुत्रो ने विनाशकारी काल के रूप मे जन्म लिया है। तुम उन्हे सुबुद्धि देकर पथ पर ला सकते हो, अत उन्हे ज्ञातिवध करने से रोको। ज्ञातियो का वध करना अतिशय नीच कर्म है, तुम इस प्रकार के घृणित कार्य मे लिप्त होकर मेरे अप्रियभाजन मत बनो। जो अपने कुल-धर्म को नष्ट करता है, वह धर्म से च्युत हो जाता है।"[1]

ज्ञातियो को वश मे करने के उपाय—नारद के कथन से पता चलता है कि सद्व्यवहार एव मधुर भाषा ही ज्ञातियो को अपना बना सकते है। यथाशक्ति अन्नदान, क्षमा, नम्रता, मृदुता, सम्मान प्रदर्शन आदि किसी को भी वशीभूत करने मे सहायक होते हैं। क्षमा, सयम, त्याग एव बुद्धि के द्वारा मनुष्य ज्ञातियो मे यशस्वी बन सकता है।[2]

ज्ञातियो मे विरोध होने पर मध्यस्थता करना मित्र का कर्त्तव्य—ज्ञातियो मे कलह होने पर जहाँ तक हो सके उसे खत्म करने की चेष्टा करना प्रत्येक शुभाकाक्षी मनुष्य का कर्त्तव्य है। पुत्रशोक से उन्मत्तप्राय गान्धारी ने कौरव पाडवो के विद्वेष को न मिटाने के लिये कृष्ण को शाप दिया था।[3] गान्धारी के इस शाप का औचित्य विचारणीय है। क्योकि कृष्ण ने मध्यस्थ के रूप मे कुरुसभा मे उपस्थित होकर इस विवाद को मिटाने के लिये यथासाध्य चेष्टा करने मे कोई कसर बाकी नही रक्खी थी। कुरुसभा मे उनके दिए हुए कथन से प्रमाणित होता है कि केवल इस आपसी विरोध को खत्म करने के लिये उन्होंने दूत का कार्य करना स्वीकार किया था। वह विदुर से कहते है—"हे विदुर, मै इस विवाद को निपटाने की पूरी कोशिश करूगा। मित्रो के सकट के समय जो सहायता नही करते, पडितो ने उनके लिये 'नृशस' शब्द का उपयोग किया है। विशेषत ज्ञाति कलह मे जो मध्यस्थता स्वीकार कर कलह के शमन का उपाय नही करते वे मित्र बनने के अयोग्य होते है। मै यदि इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा नही करूँगा तो मूढ व्यक्ति कहेंगे कि दोनो पक्षो के कलह निवारण के लिये समर्थ होते हुए भी कृष्ण ने चेष्टा नही की। समाज मे मैं कलकित न होऊँ, यही सोचकर मैं यहाँ आया हूँ।"[4]

---

१. धर्म्यं देशय पन्थान समर्थो ह्यसि वारणे। इत्यादि। भीष्म ३।५३-५६

२. शक्त्याऽन्नदान सतत तितिक्षार्ज्जवमार्द्दवम्। इत्यादि। शान्ति ८१।२१-२७

३. पाण्डवा धार्त्तराष्ट्राश्च दग्धा कृष्ण परस्परम्॥ इत्यादि।
स्त्री २५।३९-४५

४ सोऽहं यतिष्ये प्रशम क्षत्त कर्त्तुममायया। इत्यादि। उद्योग ९३।८-१७

पारिवारिक सद्व्यवहार—जो व्यक्ति परिवार के हर सदस्य के साथ उचित व्यवहार करता हुआ गार्हस्थ्य का पालन करता है, वही वास्तविक मुनि है।[1] परिवार के लोगो के साथ जो कठोरता से वर्ताव करता है वह विशुद्ध वृत्ति द्वारा जीविकोपार्जन करते हुए भी पाप का भागी होता है। उसकी सब तपस्याएँ निष्फल होती हैं।[2] साधु गृहस्थ परिवार के पोष्य वर्ग के भरण पोषण के लिये सदा प्रयत्न-शील रहता है। अतिथि एव पोष्य वर्ग के भोजन करने के वाद वह भोजन करता है। उस भोजन को 'अमृत भोजन' कहा गया है। सबको भोजन कराना ही गृहस्थ का प्रधान यज्ञ है, यज्ञ मे अवशिष्ट भोज्य वस्तु को ही 'हवि.' अथवा 'अमृत' कहा जाता है। गृहस्थ रोज 'अमृत' भोजन करता है इसलिये उसे 'अमृताशी' की सज्ञा भी दी गई है। भृत्यवर्ग के भोजन करने के वाद जो भोज्यद्रव्य वचता है, उसे 'विघस' कहते है। जो मनुष्य भृत्यो के वाद भोजन करता है उसे 'विघसाशी' कहते हैं। हर गृहस्थ को अमृत एव विघस भोजन करना वाछनीय है। गृहस्थ को ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, वृद्ध, शिशु, रुग्ण, विद्वान, मूर्ख, दरिद्र, ज्ञाति, सवधी एव दूसरे कुटुम्वियो के साथ रहना पडता हैं। उसे किसी से भी कलह नही करनी चाहिये। माता, पिता, सगोत्रा स्त्रियाँ, भ्राता, पुत्र, पत्नी, पुत्री एव भृत्य आदि प्रत्येक के साथ सद्व्यवहार करना चाहिये। जो सज्जन व्यक्ति अपने परिवार के पालन-पोषण मे सदा सतर्क रहता है, कभी भी विरक्ति का अनुभव नही करता वह ससार मे महापुरुष कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को ही पुरुष श्रेष्ठ की सज्ञा दी जा सकती है और वह व्यक्ति तीनो लोको को जीतने मे भी समर्थ होता है। आचार्य की पूजा से ब्रह्मलोक, मातृपितृ-भक्ति से प्रजापति लोक, अतिथिसत्कार से इन्द्रलोक एव ऋत्विक की पूजा से देवलोक का अधिकार मिलता है। सगोत्रा स्त्रियो की सेवा से अप्सरा लोक तथा ज्ञातियो की सेवा मे वैश्वदेव लोक को प्राप्त किया जा सकता है। वधु वाधवगण दिशाओ के, माता एव मातुल पृथिवी के, वृद्ध, वालक, रुग्ण एव कृश व्यक्ति आकाश के अधिपति माने जाते हैं। इनकी सेवा से इन स्थानो का आधिपत्य मिलता है। वडा भाई पिता के समान, पत्नी व पुत्र अभिन्न शरीर, भृत्यवर्ग अपनी छाया एव दुहिता नितान्त करुणा की पात्री होती है। ये लोग अगर कोई अनुचित कार्य कभी करे भी तो उसे सहन

---

१ तिष्ठन् गृहे चैव मुनिर्नित्यं शुचिरलंकृतः।
यावज्जीवं दयावांश्च सर्व्वपापैः प्रमुच्यते ॥ वन १९९।१०१

२. न ज्ञातिभ्यो दया यस्य शुक्लदेहो विकल्मषः।
हिंसा सा तपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् ॥ वन १९९।१००

कर लेना चाहिये। गार्हस्थ्यधर्म को पालनेवाला धार्मिक व्यक्ति अविश्रान्त परिश्रम करता हुआ परिवार की हित कामना करे, यही उसकी तपस्या है। साधु गृहस्थ हमेशा अभिलषित सुख का उपभोग कर सकता है। सगे-सबंधियो के भरण-पोषण से मिलने वाले आनन्द की तुलना मे स्वर्ग का सुख भी उसके लिये तुच्छ होता है।[1]

१. नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिदपूजित । इत्यादि। शान्ति २४२ ७।२७

प्रकीर्ण व्यवहार

पारिवारिक व्यवहार के अलावा दूसरे सामाजिक तौर तरीको की भी थोडी बहुत झाँकी महाभारत मे मिलती है। उस काल के बहुत से लौकिक व्यवहार आज लुप्त हो चुके हैं, लेकिन बहुत से आज भी समाज मे प्रचलित है।

अदृश्य-वस्तुदर्शन की विधि—किसी अदृश्य वस्तु को देखने के लिये मन्त्र-सिद्ध जल से नेत्रो को धोया जाता था। उस युग मे प्रचलित बहुत से लौकिक सस्कारो मे यह भी एक था। छिपे हुए जीव-जन्तुओ के प्रत्यक्ष दर्शन के निमित्त इस जल का उपयोग होता था। गुह्यक आदि देवगण इन विपयो के विशेषज्ञ थे। मत्रसिद्धि के कारण वे लोग बहुत शक्तिशाली थे।[1]

अन्तःपुर मे प्रवेश की विधि—कभी किसी विशेष अवसर पर किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति से मिलने के लिये अगर अन्त पुर मे प्रवेश करने का मौका पडता था तो दोनो हाथ जोडे हुए दृष्टि नीचे, पावो की ओर झुकाकर जाने का नियम था। इस तरह के प्रवेश का कारण था कि प्रवेशकारी का शुद्ध सयत भाव अक्षुण्ण बना रहे, शिष्टता का अतिक्रमण न हो।[2]

किसी को अपमानित करने की रीति—गुरु अपराध की सजा मे अपराधी शिष्य के बाल बीच बीच मे से काट कर सिर पर पाँच जगह बाल रख कर उसे छोड देते थे। वनवास काल मे द्रौपदी का अपहरण करने के अपराध मे भीम ने जयद्रथ को यही सजा दी थी।[3] विजित मनुष्य सब लोगो के सामने विजेता से जब तक 'मैं तुम्हारा दास हूँ' नही कह देता था, उसे क्षमा नही मिलती थी। इस प्रकार की स्वीकारोक्ति को बहुत ही अपमानजनक समझा जाता था।[4] धक्के देने की प्रथा उस समय भी विद्यमान थी। ताडित व्यक्ति इसमे बहुत अपमान समझता था। बहुत प्रभावशाली व्यक्ति ही इस प्रकार की सजा देने का साहस करते थे।[5]

---

१. इदमम्भः कुवेरस्ते महाराज प्रयच्छति। इत्यादि। वन २८८।१०

२ पादागुलीरभिप्रेक्षण प्रयतोऽह कृताञ्जलि.। इत्यादि। उद्योग ५९।३

३. एवमुक्त्वा सटास्तस्य पञ्च चक्रे वृकोदर । वन २७१।९

४. दासोऽस्मीति त्वया वाच्य ससत्सु च सभासु च। वन २७१।११

५. गले गृहीत्वा क्षिप्तोऽस्मि वरुणेन महामुने। अनु १५४।२२

निपूती वगैरह नारियो का मागलिक कार्यो मे अनधिकार—निपूती, रजस्वला, श्वेत कुष्ठ रोगी स्त्रियाँ किसी मागलिक कार्य मे भाग नही ले सकती थी।[1]

अभिवादन—गुरुजनो का अभिवादन करना दैनिक कर्मो मे गण्य था। कल्याणकामी व्यक्ति प्रात शय्या त्याग करते ही माता, पिता, आचार्य आदि गुरुओ को प्रणाम करते थे।[2] कही परदेश जाते समय वडो के चरण छूकर प्रणाम करने की प्रथा उस युग मे भी थी। देवता, ब्राह्मण एव उपस्थित गुरुजनो को प्रणाम किये विना कोई भी यात्रा शुरु नही करता था।[3] कही वाहर से आने पर भी गृह-प्रवेश से पहले[4] सवको प्रणाम करना पडता था। अभिवादन करते समय अपना नाम लेने का विवान भी मिलता है।[5] वडो के पाँवो मे मस्तक नवा कर एव चरण स्पर्श करके प्रणाम किया जाता था। गुरुजन प्रणाम करने वाले का आलिगन करके मस्तक सूँघते थे। कुशल-क्षेम के वाद पूछते थे, "तुम्हारा धर्म एव ज्ञान तो अक्षुण्ण है न ? पूज्य गुरुजनो का यथारीति सम्मान तो करते हो ?"[6] दूत वगैरह के द्वारा भी वुजुर्गो को प्रणाम भेजा जाता था। वे लोग भी किसी आते-जाते के हाथ आशीर्वाद एव कुशल-क्षेम भेजते थे।[7]

अभिषेक—राज्य का भार देने से पहले भावी राजा का अभिषेक किया जाता था। यह एक प्रकार का शास्त्रीय एव लौकिक उत्सव होता था। प्रत्येक राजा को यह अनुष्ठान अवश्य करना पडता था। महाभारत मे कर्ण[8] व युधिष्ठिर[9] के अभिषेक का विशद वर्णन मिलता है। एक जल से भरे सुवर्णघट मे भुना हुआ अन्न तथा पुष्प डालकर मत्र पढते हुए ब्राह्मणो ने उस जल से सुवर्णपीठ पर बैठे कर्ण

---

१. रजस्वला च या नारी श्वित्रिकापुत्रिका च या। अनु १२७।१३
२. मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्। अनु १०४।४४
३. आदि १४५।१-४। आदि ११३।२२। अश्व ६३।२२
४. आदि ११३।४३। आदि २०७।२१। सभा ४९।५३। सभा २।३४
५. अभ्यवादयत प्रीतः शिरसा नाम कीर्त्तयन्। वन १५९।१
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ। आदि १९१।२०
६. स तया मूर्धन्युपाघ्रात. परिष्वक्तश्च केशव.। सभा २।३
अयि धर्मेण वर्त्तध्व शास्त्रेण च परन्तपा। इत्यादि। आदि १६९।४
७. वृद्धा स्त्रियो याश्च गुणोपपन्ना। इत्यादि। उद्योग ३०।३२
८. ततस्तस्मिन क्षणे कर्ण. सलाजकुसुमैर्घटै। इत्यादि। आदि १३६।३७, ३८।
९. शान्ति। ४० वाँ अध्याय।

का अभिषेक किया था। अभिषेक के वाद उनके सिर पर छत्र लगाया गया, चँवर ढुलाये गये और चारो ओर तुमुलध्वनि की गई। राजपुत्र अर्जुन से युद्ध करने के निमित्त परीक्षा मञ्च पर ही दुर्योधन ने कर्ण का अगराज के रूप मे अभिषेक किया, फलस्वरूप उसी समय सक्षेप मे मुख्य अनुष्ठान उन्हे करना पडा। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के वाद युधिष्ठिर का अभिषेक हुआ। उनके अभिषेक का वर्णन इस प्रकार है—

शुभ क्षण मे युधिष्ठिर सोने के आसन पर बैठे। कुन्ती, धृतराष्ट्र, धौम्य आदि के आसन ग्रहण कर लेने पर उन्होने पहले श्वेत पुष्प, स्वस्तिक,अक्षत, भूमि, सुवर्ण, रजत एव मणि का स्पर्श किया। उनके सम्मुख अभिषेक मे काम आने वाले उपकरण रक्खे गये। सोने,चाँदी, ताँवे एव मिट्टी के कलश भर कर रक्खे गये। पुष्प, भुना अन्न, कुश, दूध, मधु, घी, शमी (कीकर), पीपल व पलाश की लकडी, श्रुव, औदुम्वर तथा शख आदि वस्तुएँ लाई गई। श्रीकृष्ण के आदेश से पुरोहित धौम्य ने ईशान कोण मे जरा ढलाऊ एक वेदी वनाई। सफेद आसन पर व्याघ्रचर्म विछाकर आसन वनाया और उस पर युधिष्ठिर तथा द्रौपदी को बैठाया, फिर शास्त्र-विधि से मन्त्रोच्चारण करते हुए आहुति डाली। तव पहले श्रीकृष्ण ने पूजित शख के जल से, वाद मे धृतराष्ट्र, भाइयो एव उपस्थित प्रजा ने धर्मराज का अभिषेक किया। ढोल, नगाड़े, दुन्दुभि आदि वाद्यो के स्वर एव जयघोष से सभास्थल मुखरित हो उठा। ब्राह्मणो से स्वस्तिपाठ कराकर महाराज ने उन्हे दान दिया, उपस्थित गुरुजनो को प्रणाम करके अन्य लोगो का यथोचित अभिवादन किया। सव विधि सम्पूर्ण होने पर युधिष्ठिर ने राज्यभार ग्रहण किया।

असंगल सूचक शब्द सुनने पर 'स्वस्ति' शब्द का उच्चारण—श्रृगाल आदि पशुओ के अमगल सूचक शब्द सुनने पर विज्ञ व्यक्ति 'स्वस्ति स्वस्ति' शब्द का उच्चारण करते थे। कुरुसभा मे जव द्रौपदी पर दुर्योधन आदि का अत्याचार हो रहा था, तव धृतराष्ट्र के महल मे गृहाग्नि के पास अचानक श्रृगाल की चीत्कार सुनाई दी, उल्लू आदि पक्षियो ने भी उस प्रतिध्वनि को दोहराया। तत्वदर्शी विदुर, गाधारी, भीष्म, द्रोण एव कृपाचार्य उस दारुण शब्द को सुनकर अमगल की आशका से उद्विग्न चित्त हो उच्च स्वर मे 'स्वस्ति स्वस्ति' कहने लगे।[1]

आत्महत्या के उपाय—आत्महत्या के लिये विष भक्षण, अग्निप्रवेश, पानी मे डूवना, फाँसी लगाना आदि तरीके अपनाये जाते थे।[2]

---

१. भीष्मद्रोणौ गोतमश्चापि विद्वान् स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः। सभा ७१।२३।

२. विषमग्निं जलं रज्जुमास्यास्ये तव कारणात्। वन ५६।४

किसी रिश्तेदार के घर से विदा लेने के समय—सगे सवधियो के घर जाने पर वहाँ से विदा लेते वक्त सवसे मिलकर यथायोग्य अभिवादन के वाद अन्त पुर मे जाकर सवसे विदा लेने की रीति थी।[1]

आनन्द प्रकाश—आनन्द के समय आपस मे हाथ मिलाकर प्रसन्नता प्रकट की जाती थी। अचानक किसी सगे सवधी के आ जाने पर आनन्दातिरेक से उससे हाथ मिलाया जाता था।[2] आनन्द प्रकट करने के उद्देश्य से ताली वजाना भी उस काल मे प्रचलित था। रगमच तथा युद्धभूमि के दर्शकगण ताली वजा कर अभिनेता और योद्धा का उत्साह वढाते थे।[3]

सभा-समिति मे वस्त्र हिलाकर भी खुशी प्रकट की जाती थी। धृतराष्ट्र के कहने से जब द्रौपदी को दासत्व से मुक्ति मिली थी तो सभासद्गणो ने वस्त्राचल हिलाकर हर्ष प्रकट किया था।[4] ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन के द्रौपदी-स्वयवर मे लक्ष्यभेद कर लेने पर उपस्थित असख्य ब्राह्मणो ने अपने अपने चैलखड विजय-पताका की तरह ऊपर उडाये थे।[5] युद्ध के प्रारम्भ मे दुर्योधन के सैनिको ने भी उल्लसित होकर वस्त्रखड हिलाये थे।[6]

'योग योग' शब्द भी आनन्द का सूचक माना जाता था। एक ही उद्देश्य से वहुत से लोगो के एक साथ इकट्ठे होने पर उल्लास के साथ योग योग कहा जाता था।[7]

आर्यगण अपशब्द का उच्चारण नहीं करते थे—आर्यगण अर्थात् सुशिक्षित एव वैदिकाचारी व्यक्ति अपशव्द का प्रयोग नही करते थे। भाषा मे जो विशुद्ध शव्द प्रयुक्त होते थे उनके अलावा प्रादेशिक अथवा अस्पष्ट अर्थवोधक असगत शव्दो को म्लेच्छ शव्द कहा जाता था। जो व्यक्ति ऐसे शव्दो का प्रयोग करता था

---

१. अभिगम्याब्रवीत् प्रीत· पृथा पथुयशा हवि.। इत्यादि। सभा ४५।५७-५९
२. तत· प्रहसिता· सर्वे तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः॥ वन २३७।२४
   करेण च कर गृह्य कर्णस्य मुदितो भृशम्। इत्यादि। वन २६१।२५
   उद्योग १५६।२२। शल्य ३२।४३।
३. हर्षयामासुरुच्चैर्मा सिंहनादतलस्वनै·। वन २०।२७
   तं मत्तमिव मातग तलशब्देन मानवाः। इत्यादि। शल्य ३३।६०।
४ चेलावेधाश्चापि चक्रुर्नदन्तः। सभा ७०।७
५. चैलानि विव्यधूस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रश·। आदि १८८।२३
६. हृष्टा सुमनसो भूत्वा चैलानि दुधुवुश्च ह। भी ४३।३०। द्रो २०।१३
७. योगो योग इति प्रीत्या तत. शब्दो महानभूत्॥ आश्व २३।२

उसे समाज मे अच्छी नजरो से नही देखा जाता था।[1] विदुर, युधिष्ठिर आदि म्लेच्छ भाषा भी जानते थे। उनके सांकेतिक आलाप को कोई समझ न सके, इस उद्देश्य से वारणावत जाते समय विदुर ने युधिष्ठिर को म्लेच्छ भाषा मे वहुत सी वाते वताई थी।[2]

स्वेच्छा से आत्मीय स्वजन को बिदा नहीं दी जाती थी—सगे सवधियो के घर जाने पर 'तुम जाओ' या 'अव तुम्हारा जाना उचित है' इस तरह कहकर किसी को भी घर से विदा नही किया जाता था। यहाँ तक कि आये हुए स्वजन का जाना अत्यावश्यक प्रतीत होते हुए भी वे अपने मुँह से कहकर भेजना उचित नही समझते थे। द्रौपदी के विवाह के वाद द्रुपदपुरी मे ठहरे पाडवो को हस्तिनापुर लाने के लिये धृतराष्ट्र ने विदुर को भेजा था। राजा द्रुपद ने विदुर से कहा था, "यद्यपि इनका जाना वहुत जरूरी है, लेकिन मेरा कहना तो उचित नही है।"[3]

उत्तेजित करना—किसी को उत्तेजित करने के लिये उसे उसके जन्म की शपथ दिलायी जाती थी। युद्ध क्षेत्र मे दुर्योधन ने अर्जुन से कहा था, "पार्थ, यदि तुम पाडु के पुत्र हो तो जिन जिन दिव्यास्त्रो व दूसरे अस्त्रो की शिक्षा तुम्हे मिली है, उन सवका प्रयोग करो।"[4]

उत्सव—उत्सव आदि मे नाना प्रकार के आमोद-प्रमोद होते थे। दुर्योधन के षडयन्त्र के अनुसार पाडवो को वारणावत भेजते समय कहा गया था कि वहाँ 'पशुपति समाज' लगा हुआ है। पशुपति समाज का अर्थ था पशुपति की पूजा के उपलक्ष्य मे लगा हुआ मेला। इससे प्रतीत होता है कि विशिष्ट पूजा पर्व आदि उत्सव के समय मेला भी लगता था।[5] एकचक्रा नगरी के अवस्थान काल के समय विपन्न ब्राह्मण-परिवार की रक्षा के निमित्त भीम ने माता के आदेश से वक राक्षस का वध किया था। इसके वाद उस नगर एव निकटस्थ जनपदो के ब्राह्मण, वैश्य एव शूद्रो ने मिल कर 'ब्रह्म उत्सव' का अनुष्ठान किया। एक ब्राह्मण के हाथो से राक्षस का वध हुआ था, इस कारण ब्राह्मण पूजा के उपलक्ष्य मे इस उत्सव का आयोजन किया गया था।[6] वृष्णि एव अन्धकवशी स्त्री-पुरुषो ने मिल कर रैवतक पर्वत पर

---

१. नार्य्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत। सभा ५९।११
२. प्राज्ञः प्राज्ञः प्रलापज्ञ. प्रलापज्ञः वचोऽब्रवीत्। सभा १४५।२०
३. न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा। आदि २०७।२
४. तद्दर्शय मयि क्षिप्रं यदि जातोऽसि पाण्डुना। द्रोण १००।३६
५. अयं समाज. सुमहान् रमणीयतमो भुवि। आदि १४३।३
६. ततस्ते ब्राह्मणा सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिता.।

वहुदिनव्यापी उत्सव किया था। उत्सव उस पर्वत के अधिष्ठाता देवता की पूजा के लिये हुआ था। सम्मिलित वीरो ने उस उत्सव मे ब्राह्मणो को नाना प्रकार के द्रव्य दान मे दिये थे।[1] शरत्काल मे नई फसल के पकने पर मत्स्यनगर मे एक विराट उत्सव का आयोजन हुआ था। उस उत्सव का नाम 'ब्रह्मोत्सव' था। अनेक स्थानो मे प्रसिद्ध पहलवान उस उत्सव मे आये थे। उसी उत्सव मे जीमूत नामक मल्ल के साथ पाचक वेशधारी भीम का मल्लयुद्ध हुआ था।[2]

युद्ध मे विजय होने पर विजयी राजा की नगरी मे उत्सव मनाया जाता था। उस उत्सव मे कुमारियाँ वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर पुरी के बाहर राजपथ पर जाती थी। समूची नगरी नाना प्रकार के वाद्यो से मुखरित रहती थी। वारागनाएँ सज-धज कर आमोद-प्रमोद मे भाग लेती थी।[3] राजपथ को पताकाओ से सुसज्जित किया जाता था। पुष्प आदि से देवताओ की पूजा की जाती थी। एक व्यक्ति हाथी पर बैठकर घटा बजाते हुए नगरी के मुख्य-मुख्य पथो पर जयघोषणा करने के लिये घूमता था। हाथो मे दही, दूर्वा आदि लिये हुए प्रजावृन्द राजा का जयगान करते हुए फिरते थे। अलकृता कुमारियाँ तथा वारागनाएँ विजयी राजा की आरती उतारकर राजमार्ग से ले जाती थी।[4] उत्सव आदि मे पुरुषो के साथ महिलाएँ भी जाती थीं। रैवतक उत्सव मे राजा उग्रसेन अनगिनत रमणियो को साथ लेकर गये थे, कुमारियो की तो कोई बात ही नही। सखियो से घिरी सुभद्रा का अपहरण अर्जुन ने रैवतक उत्सव मे ही किया था।[5]

उपहास—किसी व्यक्ति का हास्यास्पद आचरण देखकर अट्टहास करने को उसका उपहास माना जाता था। पुरुषो के अस्वाभाविक आचरण पर स्त्रियाँ भी अट्टहास करती थी।[6]

वैश्या शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा॥ आदि १६४।२०

१. भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा। आदि २१९।२

२. अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सव.। विराट १३।१४

३. कुमार्य समलकृत्य पर्यागच्छन्तु मे पुरात्॥ इत्यादि। विराट ३४।१७,१८

४. राजमार्गा क्रियन्ता मे पतकाभिलकृताः। इत्यादि। विराट ६८।२३-२८

५. तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेन. प्रतापवान्।
अनुगीयमानो गन्धर्वै. स्त्रीसहस्रसहायवान्॥ आदि २१९।८

६. तत्र मां प्राहसन् कृष्ण प्रायेन सह सुस्वरम्।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम॥ सभा ५०।३०

उल्का व उल्मुक—अन्धकार मे कही बाहर जाते हुए उल्का अर्थात मशाल और उल्मुक (जलती लकडी) की सहायता ली जाती थी।[1]

छोटे भाई से क्षमा प्रार्थना—महाराज धृतराष्ट्र अत्यधिक पुत्रस्नेह के कारण अच्छा बुरा सोचने मे भी असमर्थ हो जाते थे। एक बार सुपरामर्शदाता विदुर की उन्होंने कटुवचन कहकर भर्त्सना की। महामति विदुर धृतराष्ट्र के दुर्व्यवहार से व्यथित होकर वन मे पाडवो के पास चले गये। बाद मे धृतराष्ट्र ने अपनी भूल समझने पर सजय को भेजकर विदुर को बुलवाया। उनके आने पर उनसे क्षमा माँगी।[2]

क्रीड़ा-कौतुक—बच्चो के नाना प्रकार के खेलकूदो का विवरण मिलता है। बाल्यकाल मे पाडव 'वीटा' से खेलते थे। 'वीटा' शब्द का अर्थ जौ की आकृति की करीब चार अगुल की लकडी है। शायद उस लकडी को दूसरी लबी लकडी से दूर फेंका जाता था। नीलकठ की टीका से तो लगता है कि वह आधुनिक गिल्ली डडे जैसा ही खेल था। कोई कोई वीटा का अर्थ लोहे की गिल्ली से लेते है।[3] बाल्यावस्था मे कौरव-पाडव मिलकर बहुत से खेल खेला करते थे, जैसे धूल उडाना, खाना-पीना, भागना-दौडना आदि।[4] किसी भी खेल मे भीम को कोई भी नही हरा पाता था। तैरना भी पाडवो को बहुत प्रिय था।[5]

एक बार भयकर गर्मी के दिनो मे कृष्ण व अर्जुन मित्रो के साथ यमुना के किनारे गये। वहाँ पहले से ही अद्भुत प्रकार के गृहादि निर्मित कराये हुए थे। तरह तरह के वृक्ष लताओ से मडित यमुना तीर पर पहुँच कर कृष्ण व अर्जुन ने गधमाल्य आदि धारण किया और अन्त पुर मे गये। वहाँ द्रौपदी, सत्यभामा आदि महिलाएँ उनके साथ क्रीडा मे रत हुईं। कोई वन मे, कोई जल मे तो कोई घर मे क्रीडा करने लगा। द्रौपदी तथा सुभद्रा वस्त्र, अलकार वगैरह दान करने लगी, वे दोनो अकल्पनीय आनन्द का अनुभव कर रही थी। नारियो मे कोई कोई तो खुशी मे नाचने लगी, कोई हँसने लगी, कोई विश्रम्भालाप के लिये बैठ गई तो कोई आसव-

---

१. सहसैव समाजग्मु रादायोल्काः सहस्रशः। विराट २२।९१
   उल्मुकन्तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनञ्जयः। आदि १७०।४
२. क्षम्यतामिति होवाच यदुक्तोऽसि मयानघ। वन ६।२१
३. क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मदा। आदि १३१।१७
४. जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे। आदि १२८।१६
५. ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत॥ आदि १२८।३१

पान से सब कुछ भूल कर मस्त हो गई। वेणु, वीणा व मृदग की ध्वनि से यमुना का किनारा मुखरित हो उठा।[1]

धनीवर्ग मे अक्षक्रीडा अर्थात् जुए का बहुत प्रचलन था। महाभारत के युद्ध की जड ही अक्षक्रीडा थी। छुट्टी के समय या उत्सव आदि मे जुआ खेलकर समय विताना जैसे उस काल का फैशन था। युद्ध मे विजयी पुत्र के आगमन पर विराट राजा कक (युधिष्ठिर) के साथ जुआ खेलने बैठ गये।[2] राजा नल एव पुष्कर की द्यूतक्रीडा की परिणति से तो हर कोई परिचित है। कुरुसभा मे जुआ खेलने के लिये बुलाये जाने पर युधिष्ठिर ने शकुनि से कहा था—"धूर्तों के साथ जुआ खेलना महापाप होता है, धर्मयुद्ध मे विजयी होना ही वास्तविक जय है, मुनिश्रेष्ठ असित यही कह गये हैं।"[3] अक्षक्रीडा मे विशेष अभिज्ञता अर्जन करने के लिये 'अक्षहृदय' नामक विद्या का अध्ययन करना पडता था। वनवासी युधिष्ठिर ने बृहदश्व मुनि से यह विद्या सीखी थी।[4] राजा नल ने ऋतुपर्ण से द्यूतकौशल सीखा था। नीलकठ ने कहा है, पासे का अधिष्ठाता एक देवता है। उस देवता को वशीभूत करनेवाले मत्र को अक्षहृदय कहते हैं। मत्र के प्रयोग से खेलते वक्त अनुकूल दाँव पडते हैं।[5] विद्वान नीतिज्ञ व्यक्ति जुए को बुरा समझते थे। पाडवो के वनगमन के बाद श्रीकृष्ण ने उनसे कहा था, "अगर मैं कुरुसभा मे उस वक्त उपस्थित होता तो इस व्यसन के दोष बताकर खेलने से रोकता। स्त्री मे अत्यासक्ति, द्यूतक्रीडा, मृगया एव सुरापान करने से मनुष्य की श्री का विनाश होता है।[6]

गृहारम्भ व गृहप्रवेश—देवता की अर्चना, मागलिक उत्सव, ब्राह्मण दक्षिणा आदि गृहारम्भ या गृहप्रवेश के वक्त करना आवश्यक थे। लोगो को आमन्त्रित

---

१. ततः कतिपयाहस्य वीभत्सुः कृष्णमब्रवीत्॥ इत्यादि। आदि २२२।१४-२६
२. अक्षानाहर सैरध्रि कंक द्यूत प्रवर्त्तताम्। इत्यादि। विराट ६८।३०
   वन ५९ वाँ अध्याय।
३. इद वै देवनं पापं निकृत्या कितरैं सह।
   धर्मेण तु जयो युद्धे तत् पर न तु देवनम्॥ सभा ५९।१०
४. ततोऽक्षहृदय प्रादात् पाडवाय महात्मने। वन ७९।२१
५. एवमुक्त्वा ददौ विद्यामृतुपर्णो नलाय वै। वन ७२।२९
६. वारयेयमह द्यूत बहून् दोषान् प्रदर्शयन्। वन १३।२
   स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमेतत् कामसमत्थितम्॥ इत्यादि। वन १३।७

करके सरस व्यजन खिलाकर तृप्त किया जाता था। ब्राह्मण स्वस्ति एव पुण्याह कहकर आशीर्वाद देते थे।[1]

गो-दोहन—ब्राह्मण भी गाय स्वय ही दुहते थे। कहा गया है कि श्राद्ध के सकल्प से जमदग्नि स्वय ही होमधेनु को दुहते थे।[2] आजकल कही कही ब्राह्मण का दुहा दूध दैव एव पैत्र्यकर्म मे नही लगाया जाता।

चिन्ता का प्रकाश—पाँव के अँगूठे से मिट्टी खुरचना, गम्भीर दृष्टि से नीचे देखना, चिन्ता का द्योतक माना जाता था।[3] किसी के विषण्ण भाव से गाल पर हाथ रखकर चुप बैठने को भी किसी समस्या मे पडने का चिह्न समझा जाता था।[4]

नर्त्तक वगैरह को अन्तःपुर से पुराने कपड़े मिलते थे—बृहन्नला के भेष मे अर्जुन राजा विराट के अत पुर की कुमारियो को नृत्यगीत की शिक्षा देते थे। कुमारियाँ भी सन्तुष्ट होकर उन्हे पुराने कपडे वगैरह दे देती थी।[5]

नववधू को सौंपना—नववधू को उसके पितृपक्षीय पुरुष पतिगृह की किसी वृद्ध महिला के हाथो मे सौंपते थे।[6]

निमन्त्रण के लिये दूत भेजना—ब्राह्मण या राजघराने के लोगो को निमन्त्रित करने के लिये दूत भेजा जाता था।[7]

पति का नाम लेना—सधवा रमणियो मे अधिकाश महिलाएँ अपने पति का नाम नही लेती थी, 'आर्य' कहकर ही उनका परिचय देती थी। कोई कोई नाम भी लेती थी।[8]

---

१. ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः। इत्यादि। आदि २०७।२९ सभा १।१८
प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान् दैवतान्यभिगम्य च। इत्यादि। शान्ति ३८।१४-२१

२. श्राद्धं संकल्पयामास जमदग्निः पुरा किल।
होमधेनुस्तमागाच्च स्वयमेव दुदोह ताम्॥ अश्व ९२।४१

३. दुर्योधनः स्मित कृत्वा चरणेनोल्लिखन् महीम्। वन १०।२९

४. दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजा.। सभा ७९।२३

५. वासासि परिजीर्णानि लब्ध्वान्यन्तःपुरेऽर्जुनः। विराट १३।८

६. द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च सुभद्रां परिदाय च। सभा २।८

७. निमन्त्रणार्थं दूताश्च प्रेषयामास शीघ्रगान्। वन २५५।६
समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात्। सभा ३३।४२

८. धिग् वल भीमसेनस्य धिक् पार्थस्य च गांडीवम्। इत्यादि। वन १२।६७, ७७, ७८।

पति पर सदेह—ऋषि मन्दपाल का कहना है कि साध्वी से साध्वी स्त्री भी अपने पति को सशक दृष्टि से देखती है। महर्षि वशिष्ठ पर भी अरुन्धती को सदेह रहता था। मन्दपाल ने कहा है, नारियो की यह मनोवृत्ति स्वभावजात है। ऋषि की यह धारणा शायद सामयिक क्षोभ के कारण ही है।[1]

पतिगृह एवं पितृगृह मे प्रसव—साधारणत सन्तान का प्रसव पतिगृह मे ही होता था। कोई कोई गर्भवती स्त्री ससुरालवालो की अनुमति से पिता के घर चली जाती थी और वही सन्तान प्रसव करती थी।[2]

परिचित व्यक्ति से साक्षात होने पर कुशल प्रश्न पूछना—किसी परिचित व्यक्ति से मुलाकात होने पर यथायोग्य अभिवादन के बाद कुशल क्षेम पूछने का प्रचलन उस काल मे भी सौजन्य माना जाता था।[3]

सुप्रिय सवाद मिलने पर धनदान—अगर बातचीत के अन्तर्गत कोई शुभ-सवाद देता था, तो तत्काल उसे धन, रत्न आदि देकर पुरस्कृत किया जाता था।[4]

वरदान—देवता, मनुष्य, यक्ष, रक्ष आदि सभी प्रसन्न होने पर वरदान दे सकते हैं, यहाँ तक कि तिर्यग् योनि के प्राणियो को भी वर देने मे समर्थ बताया गया है। सन्तुष्ट व्यक्ति के अन्त करण से मिला हुआ आशीर्वाद ही वरदान हो जाता है। वर देने एव लेने के भी नियम थे। वैश्य व्यक्ति किसी से भी एक से अधिक वर नही ले सकता था। क्षत्रिय स्त्री को दो तथा क्षत्रिय पुरुष को तीन वर देने का नियम था। ब्राह्मण चाहे जितने वर ले सकता था। शूद्र के विषय मे कुछ नही कहा गया है।[5]

वशीकरण—मन्त्र, औषध आदि की सहायता से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति

नरवीरस्य वै तस्य नलस्यानयने यत। वन ६९।२९

आर्य· सूर्यरयं रोढु गतोऽसौ मासचारिक.। शान्ति ३५७।८

१. सुव्रता चापि कल्याणी सर्वभूतेषु विश्रुता।
अरुन्धती महात्मानं वशिष्ठ पर्यशकत॥ आदि २३३।२८

२. त्वन्तु जाता मया दृष्टा दशार्णेषु पितृगृहे। वन ६९।१५

३ चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसविदम्। आदि २०६।१०

४. प्रियाख्याननिमित्त वै ददौ बहुधनं तदा। इत्यादि। अश्व ८७।१६। विराट ६८।२२

५. एकमाहुर्वैश्यवर द्वौ तु क्षत्रस्त्रियो वरौ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः॥ सभा ७१।३५

को वश मे कर सकता है, यह धारणा तत्कालीन समाज मे भी थी। सुशिक्षिता सत्यभामा द्वारा वशीकरण पर प्रकाश डलवाया गया है।[1]

बालचापल्य—पति के विरह से उन्मत्तप्राय, विवर्णमुख दमयन्ती ने जब चेदिराजपुरी मे प्रवेश किया था तो बालको का एक झुड भी कौतूहलवश उनके पीछे पीछे आ रहा था। बालको की यह चपलता चिरकाल से ही समान रही है।[2]

विरक्ति के अर्थ मे 'नमस्कार' शब्द का प्रयोग—विरक्ति या विराग के अर्थ मे भी नमस्कार शब्द प्रयुक्त होता था। वैषयिक चिन्ता छोडने, विषयलिप्सा मे निवृत्त होने के लिये उपदेश देते वक्त कहा जाता था 'विषय को नमस्कार करो।'[3]

भर्त्सना—किसी की भर्त्सना करने के लिये उसके अन्यायपूर्ण आचरण का उल्लेख करके बडे बडे विशेषणो द्वारा निन्दित किया जाता था। द्रोणाचार्य ने दु शासन की इसी प्रकार निन्दा की थी।[4]

जेठ के अर्थ मे श्वसुर शब्द का प्रयोग—कही कही जेठ के अर्थ मे भी श्वशुर शब्द का प्रयोग मिलता है। भ्रातृश्वसुर शब्द का भ्रातृ शब्द लुप्त होकर केवल श्वशुर शब्द व्यवहृत होता था।[5]

जेठ छोटे भाई की पत्नी से नहीं बोलता था—छोटे भाई की पत्नी के जेठ से बातचीत करने का रिवाज उस काल मे भी नही था। कुन्ती की सेवा से सन्तुष्ट होकर धृतराष्ट्र ने गाधारी के मार्फत कुन्ती को अपनी सन्तुप्टि का सवाद दिया था।[6]

भूत आदि के बारे में किंवदन्ती—महाभारत मे इसके बारे मे कहा गया है कि जिस प्रकार किसी पर भूतप्रेत का असर होने पर उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही रहती, उसी की इच्छा से वह हर कार्य करता है, उसी प्रकार रणभूमि मे योद्धागण अपने आतमीय स्वजनो के साथ जैसे अन्य परिचालित हो कर युद्ध कर रहे थे।[7] राजा नल के ऊपर कलि के उत्पात की कहानी तो सर्वविदित है ही।[8]

---

१. व्रतचर्या तपो वापि स्नानमन्त्रौषधानि वा। इत्यादि। वन २३२।७,८
२. अनुजग्मुस्तत्र बाला ग्रामिपुत्राः कुतूहलात्। शान्ति १९६।१५
३. विषयेभ्यो नमस्कुर्याद् विषयान्न च भावयेत्। शान्ति १९६।१५
४. द्रोण १२० वाँ अध्याय।
५. कृतशौचं ततो वृद्धं श्वशुरं कुन्तीभोजजा। आश्र १९।६
६. गान्धारि परितुष्टोऽस्मि वध्वाः शुश्रूषणेन वै। आश्र १८।८
७. आविष्टा इव युध्यन्ते पाण्डवाः कुरुभिः सह। भीष्म ४६।३
८. वन ७२ वाँ अध्याय।

जमीन पर पांव पटकना——क्रोधावेश मे प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के उद्देश्य से "मैं तुम्हारे सिर पर लात मारता हूँ" यह कहकर जमीन पर पाँव पटकते थे।[१]

मनुष्य का क्रय विक्रय——अर्थ से मनुष्य का क्रय-विक्रय करना भी समाज मे प्रचलित था। एकचक्रा नगरी मे जब वक्र राक्षस के पास आदमी भेजने की किसी ब्राह्मण परिवार की बारी होती थी तो वह परिवार रुदन करता हुआ कहता था—"क्या करूँ, मेरे पास तो इतना धन भी नही है कि किसी आदमी को खरीदकर उस राक्षस के भोज्यरूप मे भेज दूं।"[२]

मनुष्य विक्रय निषिद्ध——यद्यपि मनुष्य के क्रय-विक्रय का प्रसग महाभारत मे मिलता है लेकिन मनुष्य का क्रय उस काल के अनुशासन मे अविहित था। सभवत समाज मे प्रचलित होते हुए भी यह वैध नही माना जाता था, या हो सकता है कि मनुष्य का क्रय-विक्रय किसी स्थान अथवा काल विशेप मे प्रचलित रहा हो।[३]

मन्त्र द्वारा राक्षसी माया का नाश——मत्रबल से आसुरी, राक्षसी आदि माया को खत्म करने का उल्लेख भी इस ग्रन्थ मे मिलता है।[४]

मागलिक द्रव्य—कुछ द्रव्यो का मागलिक द्रव्यो के रूप मे व्यवहार होता था। उन द्रव्यो को घर मे रखना एव उत्सव आदि मे यथाविधि उनका उपयोग करना गृहस्थ के लिए श्रेष्ठ माना जाता था। भैंस तथा गाय को एक साथ रखना कल्याण-प्रद बताया गया है। चन्दन, वीणा, दर्पण, मधु, घृत, लोहा, ताम्र, शख, शालिग्राम, गोरोचन आदि को मागलिक द्रव्य बताया गया है।[५] भृष्टधान्य (भुना अन्न), चन्दन चूर्ण हर मागलिक कृत्य मे छितराये जाते थे।[६] दही का पात्र, घी एव अक्षत कल्याणकारी द्रव्य माने जाते थे।[७] श्वेतपुष्प, स्वस्तिक, भूमि, सुवर्ण, रजत, मणि आदि का स्पर्श मगलदायी कहा गया है।[८] महाभारतकार कहते हैं, जो व्यक्ति

---

१ सर्वेषा बलिना मूर्ध्नि मयेद निहित पदम्। सभा ३९।२। सभा ४४।४०
२. न च मे विद्यते वित्तं सक्रेतु पुरुष क्वचित्। आदि १६०।१५
३ अन्योऽप्यथ न विक्रयो मनुष्य' किं पुन प्रजाः। अनु ४५।२३
४ अथ ता राक्षसीं मायामुत्थिता घोरदर्शनाम्। इत्यादि। वन ११।१९
५. अजोक्षा चन्दन वीणा आदर्शो मधुसर्पिषी। इत्यादि। उद्योग ४०।१०, ११
६. लाजैश्चन्दनचूर्णैश्च विकीर्य च जनास्ततः। वन २५६।२
ततश्चन्दनचूर्णैश्च लाजैश्चापि समन्ततः। हरि, विष्णु पु० १७९ वाँ अ०।
७ वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् दधिपात्रघृताक्षतै.। कर्ण १।११
८. तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत्। शान्ति ३०।७

प्रात काल शय्या त्याग करके गो, घृत, दधि, सरसों, प्रियगु का स्पर्श करता है, 'वह सब प्रकार के पापो से मुक्त होता है।[1]

मृगया—इस देश मे शिकार प्राचीन काल से ही राजाओ को प्रिय रहा है। महाभारत की रचना के समय जिन घटनाओ ने पुरातन इतिहास के रूप मे प्रसिद्धि लाभ कर ली थी, उनमे भी मृगया का उल्लेख मिलता है। शान्तनु, पाडु, उनके पुत्रो एव कृष्ण के शिकार करने का वर्णन मिलता है।[2]

रोदन—दारुण शोक मे रोते समय स्त्रियाँ छाती भी पीटती थी। बाल तो अपने आप ही बिखर जाते थे, आभूषण आदि अगो से उतर जाते थे। रोते समय पल्ले से या हाथ से मुँह ढँककर रोने का दृश्य भी दिखाई देता है।[3]

शपथ—शपथ लेने के अनेको ढग उस काल मे प्रचलित थे। आज भी वे तरीके उसी तरह अक्षुण्ण है। जगल मे जटासुरवध के समय भीम ने युधिष्ठिर से कहा था, "हे राजन्, मैं आत्मा ,भ्रातृगण, धर्म, सुकृत एव इष्ट की शपथ खाकर कहता हूँ कि इस राक्षस का वध अवश्य करूँगा।" इसका भावार्थ यह है कि यदि मैं इसका वध न करूँ तो अपने व्यक्तित्व, भ्रातृसौहार्द, धर्म, सुकृत एव इष्ट से भ्रष्ट होऊँ।[4] शपथ तथा प्रतिज्ञा प्राय एक ही तरह की होती थी। 'प्रतिज्ञा पालन न करूँ तो अमुक पाप या अनिष्ट का भागी बनूँ' इस प्रकार की उक्ति जिस प्रतिज्ञा से सवद्ध हो उसी का नाम शपथ है। वीर पुरुष अपने शस्त्र का स्पर्श करके शपथ लेते थे। इसका उद्देश्य होता था कि यदि अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा न कर सकूँ तो यह शस्त्र मेरे लिये कल्याणकारी न हो।[5] सिर पर हाथ रखकर कसम खाने का उल्लेख भी मिलता है। अबा शाल्वपति से कहती है—"मै सिर पर हाथ रखकर कसम खाती हूँ कि तुम्हारे अलावा किसी दूसरे का मैंने पतिरूप मे ध्यान भी नही किया।" सहस्रार मे परम शिव का अवस्थान होता है, इसी धारणा से शायद सिर पर हाथ

---

१. कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् गां वै घृतं दधि। अनु १२६।१८

२. स कदाचिद् वनं राजन् मृगयां निर्ययौ पुरात्॥ इत्यादि। आदि ९५। ५९। आदि १७६।२। आदि ११८ वाँ अध्याय। आदि ९७।२५। आदि २२१। ६४

३. प्रकीर्णमूर्द्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन् करुणं स्त्रियः॥ मौषल ७।१७
वाष्पमाहारयद्देवी वस्त्रेणावृत्य वै मुखम्। स्त्री १५।३३। आश्र १०।७

४. आत्मना भ्रातृभिश्चैव धर्मेण सुकृतेन च। इत्यादि। वन १५७।५५

५. प्रतिजानासि ते सत्यं राजन्नायुधमालभे। वन २५२।२३

रख कर शपथ ली जाती थी। इसका अभिप्राय देवमूर्त्ति को स्पर्श करना होता है। देवमूर्त्ति का स्पर्श करके झूठ नही बोल सकती, यही अबा की शपथ का अर्थ था।[१]

कुरुसभा मे दुर्योधन के दुर्व्यवहार से क्षुब्ध एव क्रुद्ध होकर भीमसेन ने शपथ ली थी कि, "युद्धक्षेत्र मे अगर तुम्हारी जघाएँ न चीरूँ तो मुझे पितरो के लोक मे स्थान न मिले।"[२] "आज धनञ्जय (अर्जुन) का वध किये बिना यदि हम युद्ध-क्षेत्र से लौटे तो अव्रती, ब्रह्मघाती, शराबी, गुरुदाररत ब्रह्मस्वहारी आदि पापी जिस लोक मे जाते हैं, वही लोक हमे भी मिले—" सप्त महारथियो ने यह शपथ ले रक्खी थी।[३] अभिमन्यु ने युद्ध मे जाते समय कसम खाई थी कि—"आज अगर शत्रुपक्ष का कोई भी युद्ध मे जीवित बच कर जाय तो मैं अर्जुन का पुत्र नही और सुभद्रा मेरी गर्भधारिणी नही।"[४] पुत्र शोक से अधीर अर्जुन ने जयद्रथ के वध के लिये तरह तरह की कसमे खाई थी जैसे—"अगर कल शाम तक मैं युद्ध मे जयद्रथ को न मार दूँ तो मुझे वीरगति प्राप्त न हो, मैं मातृघाती, पितृघाती, विश्वासघाती आदि की गति मे जाऊँ।"[५] बिसस्तैन्योपाख्यान मे अनेको प्रकार की शपथो का उल्लेख मिलता है—जिसने चोरी की हो वह गाय को पैर लगाये, सूरज की तरफ मुँह करके पेशाब करे, अनध्याय के दिन अध्ययन करे, शरणागत की हत्या करे, झूठी गवाही दे, पानी मे पेशाब करे इत्यादि। अर्थात् इन सब कार्यो के करने से जो पाप लगता हो वही चोर को भी लगेगा।[६]

शाप—महाभारत की करीब करीब सभी मुख्य घटनाओ का मूल कोई न कोई शाप बताया गया है। जनमेजय के सर्पसत्र के भग होने का कारण एक कुतिया का शाप था। भीष्म का, विदुर का जन्म, पाडु की मृत्यु आदि घटनाओ का मूल भी एक एक शाप था। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के कारणो मे भी मुख्य कारण दुर्योधन को

---

१. त्वामृते पुरुषव्याघ्र तथा मूर्द्धानमालभे। उद्योग १७४।१६

२. पितृभिः सह सालोक्यं मास्म गच्छेद्वृकोदर.। सभा ७१।१४

३ ये वै लोकाश्चाव्रतिना ये चैव ब्रह्मघातिनाम्। इत्यादि। द्रोण १६। २९-३५

४. नाहं पार्थेन जात. स्याम् न च जात. सुभद्रया॥ द्रोण ३४।२७

५ यद्येतदेव संग्रामे न कुर्यां पुरुषर्षभा.।
मास्म पुण्यकृताल्लोकान् प्राप्न या शूरसम्मतान्॥ इत्यादि। द्रोण ७१।२४-३९

६. अनु ९३ वाँ अध्याय।

दिया गया मैत्रेय ऋषि का शाप बताया गया है। यहाँ तक कि महाभारत मे जिन्हे पूर्णब्रह्म का अवतार माना गया है उन पार्थसारथि कृष्ण को भी गाधीरी के शाप के कारण दयनीय दशा मे इहलोक त्याग करना पडा। सम्पूर्ण महाभारत मे दिये गये शापो का सग्रह किया जाय तो उनकी सख्या एक हजार से कम नही होगी। एक मनुष्य की आहत इच्छाशक्ति दूसरे मनुष्य के भाग्य, पौरुष आदि हर चीज को पराभूत कर सकती है, यह भाव प्रकट करना ही शायद इन शापो के वर्णन का उद्देश्य है। एक बात और लक्ष्य करने योग्य है, वह यह कि कही भी किसी के भी शाप की व्यर्थता वर्णित नही हुई है। शाप देने पर वह पूरा अवश्य होगा। तप शक्ति सम्पन्न पुरुषो की मन शक्ति अधिक होती है, उनकी इच्छा शक्ति दूसरे के प्रतिकूल कार्य कर सकती है, योगियो का यह मत है। किसी के मन को कष्ट पहुँचाने पर दुखी व्यक्ति के अन्त करण से निकला शाप कष्टदाता के भाग्य व पौरुष को भी निष्फल कर देता है, इस सिद्धान्त को दृढ करना ही प्राचीन ग्रथकर्त्ताओ का अभिप्राय है। कोई कोई अजलि मे जल भर कर शाप देने के बाद वह जल जमीन पर फेक देते थे।[1]

श्मशान में लगे फूल की अग्राह्यता---श्मशान एव देवस्थान मे लगे फूल विवाहादि मागलिक कार्य तथा प्रसाधन के कार्य मे व्यवहृत नही होते थे।[2]

संध्या समय कर्मनिवृत्ति---सध्या होने पर काम बद कर देने का विधान था। स्नान, भोजन, अध्ययन आदि सध्या को करना निषिद्ध था। उस समय सयतचित्त होकर भगवच्चिन्ता करने का नियम था।[3]

सपत्नी-विद्वेष---सौतो मे स्नेह का होना किसी भी युग मे दिखाई नही देता। महाभारत के कई सपत्नी विद्वेष के दृश्य हमारी दृष्टि आकर्षित करते हैं। कश्यप पत्नी कद्रु तथा विनता की ईर्ष्या व विवाद पौराणिक उपाख्यानो मे बहुत प्रसिद्ध है। यह विवाद भी जनमेजय के सर्प यज्ञ करने का एक मुख्य कारण था। विनता को दासी बनाने के लिये कद्रु ने कितना जघन्य कर्म किया था।[4] कुन्ती व माद्री मे भी कोई विशेष स्नेह नही था। एक दो जगह उनके पारस्परिक विद्वेष की झलक मिलती है। कुन्ती तीन पुत्रो की माता बन गई है यह देखकर माद्री ने एक दिन

---

१. ततः स वार्य्युपस्पृश्य कोपसंरक्तलोचनः। वन १०।३२

२. न तु श्मशानसम्भूता देवतायतनोद्भवाः।
सन्नयेत् पुष्टियुक्तेषु विवाहेषु रहःसु च॥ अनु ९८।३३

३. संध्यायाञ्च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत्। अनु १०४।१४१

४. एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मियः। आदि २०।५

एकान्त मे पाडु से कहा, "महाराज, आपकी सन्तानोत्पादन की अयोग्यता, कुन्ती का स्थान मुझसे ऊँचा होने आदि का मुझे कभी गम नही रहा, यहाँ तक कि गान्धारी के सौ पुत्रो के जन्म का सवाद भी मुझे दुखी नही कर सका, लेकिन मेरी सपत्नी कुन्ती पुत्रवती हो गई और मैं अपुत्रा ही हूँ इससे मेरा चित्त वहुत सतप्त है। कुन्ती अगर मुझ पर अनुग्रह करे तो मेरे गर्भ से भी आपके क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न हो सकते है। मैं तो उसकी सपत्नी हूँ इसलिये अपनी यह अभिलाषा उस पर प्रकट नही कर सकती। आप यदि मुझ पर प्रसन्न होकर उससे कह दें तो मेरी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।"[१] वाद मे कुन्ती की कृपा से माद्री के गर्भ से भी नकुल और सहदेव ने जन्म लिया। तीसरी वार फिर सन्तान हो सकती है यह सोचकर पाडु ने कुन्ती से कहा। इस पर कुन्ती बोली, "राजन्, मैं अव माद्री को आह्वान मन्त्र नही वता पाऊँगी, मेरी वुद्धि मोटी है, माद्री ने मेरी प्रतारणा की है। एक वार के मन्त्र से अश्विनी कुमारो का आह्वान करके वह दो पुत्रो की माता बन गई है। अबकी बार मन्त्र सिखाने पर उसके पुत्रो की सख्या अधिक हो जायगी और तब मैं और भी प्रतारित होऊँगी। अतएव मैं प्रार्थना करती हूँ, अव आप यह अनुरोध मत करियेगा।"[२] अर्जुन जब नवपरिणीता सुभद्रा को लेकर इन्द्रप्रस्थ आये तो गुरुजन आदि को प्रणाम करके अकेले ही अन्त पुर मे द्रौपदी के पास गये। उन्हे देखकर प्रणयकुपिता द्रौपदी वोली, "अव यहाँ क्यो आये हो ? सुभद्रा के पास जाओ, दूसरा बधन अधिक दृढ होने से पहला वधन शिथिल हो जाता है। इस प्रकार कुपित वचनो से द्रौपदी अर्जुन की भर्त्सना करने लगी। अर्जुन ने वार वार क्षमा माँग वडी मुश्किल से उसे शान्त किया और तव नववधू को अन्त पुर मे ले गये।[३]

मन्दपाल की पत्नी जरिता व लपिता मे भी कोई विशेष सद्भाव नही था। ऋषि मन्दपाल कभी कभी अपनी पत्नियो के कटु वचनो से बहुत दुखी होते थे।[४] विदुरनीति मे कहा गया है कि जिन महिलाओ के सौत होती है वे वहुत दुख मे जीवनयापन करती हैं।[५] सपत्नी के अलावा ऐसे भी अगर कोई समान अवस्था

---

१. न मेऽस्ति त्वयि सन्तापो विगुणेऽपि परन्तप। इत्यादि। आदि १२४। २-६

२. कुन्तीमथ पुन· पाडुर्माद्रर्यर्थे समचोदयत्। इत्यादि। आदि १२४।२५-२८

३. त द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात् कुरुनन्दनम्।
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।। इत्यादि। आदि २२१। १६-१९

४. आदि २३३ वाँ अध्याय।

५ यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री। इत्यादि। उद्योग ३५।३१

वाला दूसरा व्यक्ति अधिक समृद्ध हो जाय तो पहले के लिये यह सहन करना कठिन होता है। इस प्रकार ईर्ष्या पुरुष व स्त्री दोनो मे ही सदा से एक सी रही है। द्रौपदी जब इन्द्रप्रस्थ से हस्तिनापुर आई तो उन्हे बहुमूल्य वस्त्राभूषणो से अलकृत देखकर धृतराष्ट्र की पुत्रवधुएँ खुश नही हुई।[1]

सभा समिति--उन दिनो राजदरबार रोज ही लगा करता था । किसी विशेष अवसर पर आपस मे मिलकर सलाह मशविरा करना, आमोद प्रमोद करना पूरे देश मे ही एक ही रूप मे होता था। सभा मे ज्ञानी पुरुषो की उपस्थिति न होने पर उसे सभा ही नही माना जाता था। लोगो की धारणा थी कि सभ्यगण धर्मसम्मत बात कहते हैं। धर्म नष्ट होने पर परिषद का कोई अर्थ ही नही रह जाता। सभा मे सत्य एव धर्म की प्रतिष्ठा खत्म होने से सभासदगण अधर्म के भागी होते है।[2] समिति मे उपस्थित सभी सभासद नही बोलते थे। वक्तव्य विषय पर अगर मतभेद नही होता था तो सबके प्रतिनिधि के रूप मे एक ही व्यक्ति अभिमत व्यक्त कर देता था। साधारणत उम्र व विद्याबुद्धि मे जिसे उपयुक्त समझा जाता था उसी को प्रतिनिधि बनाया जाता था।[3] सभा समिति मे अगर किसी के साथ किसी गोपनीय विषय पर विचार विनिमय करना होता था तो उस व्यक्ति को सभागृह के बाहर ले जाकर परामर्श करने का नियम था।[4]

सोमपान---सोमपान करनेवालो को पुण्यात्मा समझा जाता था।[5]

क्षोभ से वस्त्रांचल आदि हिलाना---क्षोभ का कोई कारण उपस्थित होने पर उत्तरीय, अजिन या शरीर पर पहने किसी कपडे को हिलाकर क्षोभ प्रकट किया जाता था।[6]

---

१. यज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव। सभा ५८।३३

२. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः। उ ९५।४८। उ ३५।५८
ध्वस्ते धर्मे परिषत् सम्प्रदुष्येत्। सभा ७१।४८

३. तेषामथ वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत्॥ आदि १२६।२१
ततः सन्धाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः।
एकस्मिन् ब्राह्मणे राजन्निवेश्योचुर्नराधिपम्॥ आश्र १०।१०

४. तत उत्थाय भगवान व्यासो द्वैपायनः प्रभुः।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत्॥ आदि १९६।२१

५. पुण्यकृत् सोमपोऽग्निमान्। वन ६४।५०

६. उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च। आदि १८८।२

अतिथिसेवा और शरणागत-रक्षा

अतिथिसेवा नित्यकर्मों के अन्तर्गत—अतिथि सेवा प्राचीन काल से ही समाज मे चली आ रही है। वैदिक साहित्य मे इस विषय पर उपदेश दिया गया है। पचयज्ञो मे मनुष्ययज्ञ अर्थात् अतिथि सेवा को ही श्रेष्ठ माना गया है।[1] (द्रष्टव्य पृष्ठ १०७)

अतिथि की सेवा न करना पाप—अतिथि को गुरु समझ कर उसकी पूजा करने का नियम था। जिसके घर मे अतिथि को यथायोग्य सम्मान नही मिलता, वह गोहत्या एव स्त्रीहत्या के पाप का भागी होता है। घर के द्वार से अतिथि को लौटाने से देवता व पितर उस गृहस्थ का त्याग कर देते हैं। अतिथि के आदेश का पालन विना किसी हिचक के करना चाहिये। ससार की कोई वस्तु ऐसी नही है, जो अतिथि को न दी जा सके।[2]

अतिथि शब्द का अर्थ—जो किसी भी समय गृहस्थ के घर आकर रहे, वही अतिथि होता है। अतिथि एक दिन से अधिक घर मे नही रहता।[3]

अतिथिसत्कार मे आडम्बर का निषेध—अतिथि-सत्कार मे किसी भी प्रकार का आडम्वर करना निषिद्ध था। अपने निमित्त से रसोई मे जो कुछ भी वने, अतिथि को भी वह देने का नियम था। अतिथि के उद्देश्य से कोई चीज वनाना उचित नही माना जाता था।[4] वस्तुत तो अतिथि सेवा के नित्यकर्मों मे गण्य होने के कारण अतिथि के उद्देश्य से प्रतिदिन विशिष्ट आहार की व्यवस्था करना गृहस्थ के लिये सम्भव भी नही था। अधिक व्यय के भय से अतिथि भक्ति के ह्रास होने

---

१. पञ्चयज्ञास्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमी। इत्यादि। शान्ति १४६।७। शान्ति ११०।५। अनु २।६९-९३। अनु १२७।९

२. अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्त्तते। इत्यादि। अनु १२६। २६, २८। शान्ति ११०।५। शान्ति १९१।१२

३. अनित्य हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते। अनु ९७।१९

४. आपो मूल फलञ्चैव ममेद प्रतिगृह्यताम्।
यदर्थो हि नरो राजस्तदर्थोऽस्यातिथिः स्मृत.॥ आश्र २६।३६

की आशका भी थी। इसीलिये शायद अतिथिसत्कार मे अनावश्यक आडम्बर का निषेध किया गया है।

अतिथि पूजा की पद्धति—किसी अतिथि के पधारने पर गृहपति खडे होकर उसका स्वागत करता था, फिर बैठने के लिये आसन देता था। पथक्लान्ति दूर होने पर पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क आदि से उसकी यथाविधि अर्चना की जाती थी। इस नियम का हर गृहस्थ को समान रूप से पालन करना पडता था।[1]

समाज के विशिष्ट अभ्यागत की आवभगत—किसी विशिष्ट व्यक्ति के आगमन के उपलक्ष्य मे अभिजात घर के लोग व धनी व्यक्ति घर वगैरह की साफ सफाई कराते थे। पथ को चन्दन के रस से सिक्त करके सुगधित द्रव्यो से सुवासित किया जाता था। उत्कृष्ट फूल उस सडक पर बिछाये जाते थे। शहर के प्रधान व्यक्ति इकट्ठे होकर मुख्य मार्ग पर अभ्यागत का स्वागत करने जाते थे। पूरे नगर के स्त्री पुरुष मिलकर उस सम्मानित अभ्यागत की अभ्यर्थना करते थे।[2]

सम्मानित अभ्यागत को वस्त्रादि उपहार देना—धनी व्यक्ति सम्मानित अतिथि को नाना प्रकार के बहुमूल्य वस्त्र आदि उपहारस्वरूप देते थे।[3]

राजपुरी मे ऋषि मुनियो की अभ्यर्थना—राजनगरी मे किसी ऋषि मुनि के आगमन पर राजा मत्री व पुरोहित को साथ लेकर उनके स्वागत को जाता था। पुरोहित आगे बढकर अर्घ्य आदि निवेदित करता था।[4]

---

१. अभ्यागच्छति दाशार्हे प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः।
सहैव द्रोणभीष्माभ्यामुदतिष्ठन्महायशाः॥ उ ९४।३६-३८। उ ८९। १३, १४
तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित्। इत्यादि। सभा ५।१३-१५
पाद्यार्घाभ्यां यथान्यायमुपतस्थुर्मनीषिणः॥ वन १८३।४८। अनु ५२। १३-१८
समीपतो भीममिदं शशास प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै॥ आदि १९३।२१

२. संमृष्टसिक्तपंथानं पुष्पप्रकरशोभितम्। इत्यादि। आदि २२१।३६, ३७। उद्योग ४७।४। उद्योग ८४।२५-२९

३. उद्योग ८६ वाँ अध्याय।

४. तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत् पुरोधाः परमर्षये। आदि १०५।२९
ततः स राजा जनको मन्त्रिभिः सह भारत।
पुरः पुरोहितं कृत्वा सर्वाण्यन्तःपुराणि च। शान्ति ३२६।१-५

अतिथि शत्रु भी हो तो अभ्यर्थना विधेय—शत्रु भी यदि अतिथि के रूप मे किसी के द्वार पर उपस्थित होता था तो उसकी भी यथारीति आवभगत करना गृहस्थ के लिये अनिवार्य था। गृहस्थ से शत्रुता होने के कारण उसके द्वारा प्रदत्त पाद्य आदि शत्रु अतिथि ग्रहण नही भी करता था।[1]

अतिथि के लौटते समय गृहस्थ का अनुगमन—अतिथि जव लौटता था तो गृहस्थ कुछ दूर तक उसे छोडने जाता था।[2] अतिथिसत्कार उस काल मे एक उच्च आदर्श के रूप मे प्रचलित था। गृहस्थ की गृहस्थी केवल आत्मीय स्वजनो तक ही सीमित नही थी। अनात्मीय को आत्मीय के रूप मे नही वल्कि देवता के रूप मे देखने के लिये महाभारत मे जगह-जगह उपदेश दिया गया है। देवता मनुष्य का कल्याण करते हैं लेकिन अतिथि गृहस्थ को घर की क्षुद्र सीमा से निकाल कर उदारमना वनाता है।

अतिथि के भोजन करने के बाद बचे अन्न की पवित्रता—अतिथि के भोजन करने के बाद रसोई मे जो आहार वस्तु वचती है उससे अधिक पवित्र और कुछ नही होता—इस उक्ति से प्रतीत होता है कि गृहस्थ के अन्त करण को उदार व प्रशस्त बनाने के लिये ही अतिथि सेवा को नित्यकर्मों मे सम्मिलित किया गया है।[3] आजकल तो अतिथि दिखाई ही नही देते। पथश्रम से क्लान्त होने पर भी पथिक अपने खर्च से ही खाने पीने का प्रवन्ध करते हैं, किसी का अतिथि बनना पसन्द नही करते और गृहस्थ भी आजकल अतिथि को देवता के रूप मे नही देखते।

शिवि का आत्मत्याग—आपदग्रस्त शरणागत को आश्रय देने के लिये भी वहुत उपदेश दिया गया है। सिर्फ मनुष्य ही नही, दूसरे क्षुद्र प्राणी भी ऋषि मुनियो की सदय दृष्टि से नही छूटे।[4] राजा शिवि के आत्मत्याग की कहानी तो जगत्प्रसिद्ध है ही। महाभारत मे कई जगह इस उपाख्यान का गुणगान किया गया है।[5]

---

१. शत्रुतो नार्हणा वय प्रतिगृह्णीम। सभा २१।५४

२. प्रत्युत्थायाभिगमनं कुर्यान्न्यायेन चार्च्चनाम्। वन २।५६
तेऽनुव्रजत भद्र वो विषयान्तं नृपोत्तमान्। इत्यादि। सभा ४५।४५।४६

३. अतो मष्टतरं नान्यत् पूतं किञ्चिच्छतक्रतो।
दत्त्वा यस्त्वतिथिभ्योऽन्न भुङ्क्ते तेनैव नित्यश.॥ वन १९३।३२

४. आगतस्य गृह त्यागस्तथैव शरणार्थिनः। इत्यादि। आदि १६१।१०

५. वन १३० वाँ, १३१वाँ अध्याय। वन १९४ वाँ अध्याय। वन १९६ वाँ अध्याय। अनु ३२ वाँ अध्याय।

कपोत-लुब्धक-संवाद—शान्तिपर्व के कपोत-लुब्धक सवाद मे शरणागत रक्षा की जो कहानी वर्णित है, वह अत्यन्त शिक्षाप्रद है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे भीष्म कहते है, "महाराज, शरणागत की रक्षा करने का फल बहुत ही बडा है। शिवि आदि सत्पुरुषो ने शरणागत पालन के फलस्वरूप सिद्धि प्राप्त की थी। महात्मा भार्गव ने मुचुकुन्द राजा को कपोत और लुब्धक की जो कहानी सुनाई थी, वह मैं तुम्हे सुनाता हूँ। उससे तुम समझ जाओगे कि एक कपोत ने शरणागत शत्रु व्याध की पूजा करके किस तरह अपना माँस उसे दिया था और उसके फल से उसे कौन सी गति मिली थी।[1]

स्वर्गारोहण के समय युधिष्ठिर का साथी कुत्ता—युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के समय कुत्ते के रूप मे धर्म भी उनके साथ गया था। उस कुत्ते का परित्याग करने के लिये इन्द्र के बार बार अनुरोध करने पर भी युधिष्ठिर ने उसे नही छोडा था। उन्होने कहा था, "इन्द्र, भक्त का त्याग करना ब्रह्महत्या के समान है, अत आत्म-सुख के लिये मैं इस कुत्ते का त्याग कभी भी नही कर सकता।" भयभीत, भक्त, आर्त्त या कातर प्राणी की अपने प्राण देकर भी रक्षा करनी चाहिये। शरणागत का परित्याग, स्त्रीवध, मित्रद्रोह एव ब्राह्मण का सपत्तिहरण ये चार कुकर्म भक्त-त्याग के समान है।[2]

कुन्ती की दया—जतुगृह-दाह के वाद जब पाडवो ने एकचक्रा नगरी मे एक ब्राह्मण के घर आश्रय लिया था तव एक दिन वक के पास बलिरूप मे एक व्यक्ति को भेजने की उस परिवार की बारी आई। सारा घर करुण क्रन्दन से भर गया। कुन्ती ने ब्राह्मण परिवार को सान्त्वना देते हुए कहा कि "मेरा एक अमित बलशाली पुत्र बलि लेकर जायगा। उसे राक्षस किसी भी तरह नहीं मार सकता।" ब्राह्मण व ब्राह्मणी के बहुत वाधा देने पर भी कुन्ती ने भीम को राक्षस के पास भेज दिया। भीम ने राक्षस को मार डाला। यद्यपि ब्राह्मण परिवार कुन्ती का शरणापन्न नही था, तब भी उनकी असहाय, करुण अवस्था देखकर उनका हृदय दया से प्लावित हो गया। यह भी शरणागत की रक्षा करने के जैसा ही था।[3]

---

१. शान्ति १४३ वें से १४९ वें अध्याय तक।

२. भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापम्। इत्यादि। आश्र ३।११-१६
भक्तञ्च भजमानञ्च तवास्मीति च वादिनम्।
त्रीणेतांछरणप्राप्तान् विषमेऽपि न संत्यजेत्।। उद्योग ३३।७२

३. आदि १६१ वें से १६३ वें अध्याय तक।

क्षमा व श्रद्धा

क्षमा युधिष्ठिर के चरित्र का गुण—महाभारत के प्रधान चरित्रो पर दृष्टिपात करने से यह निर्णय किया जा सकता है कि युधिष्ठिर के चरित्र मे क्षमागुण सबसे अधिक प्रकट हुआ है। आदि से लेकर अत तक जहाँ भी उनसे साक्षात होता है उनका वही एक रूप देखने को मिलता है। मात्र एक दिन कर्ण के साथ युद्ध करते हुए उन्होंने थोडी सी अधीरता दिखाई थी।'

शमीक ऋषि की अनुपम क्षमा—महाभारत मे एक और ऋषि का चरित्राकन हुआ है, जिनका नाम शमीक था। उन्हे तो साक्षात् क्षमा की मूर्ति कहा जा सकता है। ध्यानमग्न, मौन ऋषि के कधे पर राजा परीक्षित ने मरा हुआ साँप डाल दिया। मुनि जरा भी विचलित नही हुए। उनके पुत्र शृगी को समवयस्क ऋषिपुत्र कृश से यह समाचार मिला। कृश की भर्त्सना से उत्तेजित होकर शृगी ने शाप दिया कि, "जिस पापात्मा ने मेरे पिता के कधे पर मरा हुआ साँप डाला है वह आज से सातवे दिन तक्षक दशन से मृत्यु को प्राप्त हो जायगा।" जब शमीक को पुत्र के इस शाप के बारे मे पता लगा तो वह शृगी से बोले, "वत्स, तुमने अच्छा नही किया। हम जिस राजा के अधीन रहते हैं, उसी को शाप देना उचित नही हुआ। क्षमा ही श्रेष्ठ धर्म है। धर्म अरक्षित होने पर मनुष्य का नाश कर देता है। पुत्र के वयस्क होने पर भी पिता उपदेश देता है, इसी लिये मैं तुमसे यह सब कह रहा हूँ—तुम्हारे लिये शाप देना ठीक नही था। क्रोध सन्यासियो के कष्ट साध्य धर्म का हरण कर लेता है और धर्मविहीन पुरुष को इष्ट गति नही मिलती। क्षमा सम्पन्न यतियो के लिये एकमात्र शम ही सिद्धि का हेतु है। क्षमा के द्वारा ही इहलोक व परलोक को वश मे किया जा सकता है। अब से तुम सदा क्षमा की सेवा करना। अब जहाँ तक मुझसे होगा चेष्टा करके देखूंगा, अगर महाराज का कुछ उपकार हो सके तो अच्छा है।" इतनी बात पुत्र से कहकर ऋषि ने अपने एक शिष्य को बुलाकर कहा— "तुम महाराज से जाकर कहना कि मेरे कधे पर मरा हुआ साँप देखकर मेरा क्षुद्र-बुद्धि पुत्र उत्तेजित हो गया। उसने महाराज को यह शाप दिया है कि आज से

---

१. कर्ण ६८ वां अध्याय।

सातवें दिन सर्पदशन से उनकी मृत्यु हो जायगी। मुझे इस बात से बहुत दु ख पहुँचा है, लेकिन क्या करूँ, इस वक्त मेरे हाथ मे कुछ नही है। जैसे भी हो वे स्वय आत्म-रक्षा की कोशिश करे।"[1] अपकारी के प्रति ऋषि की यह क्षमा तथा परहितेच्छा पाठको को चकित कर देती है। महाभारत के चरित्रो मे से किसी मे भी क्षमा का ऐसा उदाहरण नही मिलता।

क्षमा की प्रशंसा, ययाति का उपदेश—स्वर्गलोक को गमन करते समय ययाति ने पुरु को उपदेश देते हुए कहा था, शान्त व्यक्ति क्रोधी व्यक्ति से तथा क्षमाशील मनुष्य असहिष्णु की अपेक्षा महान् होता है। तुमसे अगर कोई चार बात भली बुरी भी कहे तो तुम उस पर आक्रोश मत करना। किसी का दिल मत दुखाना, नृशसो जैसा आचरण मत करना। जिन वचनो से किसी को कष्ट पहुँचे, वे वचन मत बोलना। मैत्री, दया एव दान के द्वारा ही सबको अपना बनाया जा सकता है।"[2]

विदुर नीति—विदुर ने कहा है, चरित्र की मृदुता, अनसूया, क्षमा, धैर्य एव मैत्री मनुष्य की आयु बढाते है।[3] अपकारी का अपकार करने मे समर्थ होते हुए भी जो व्यक्ति क्षमा के द्वारा उसे जीतता है, वही महात्मा है। क्षमा से बडा गुण और कोई नही है। अशक्त मनुष्य को तो सामर्थ्यहीन होने के कारण मजबूरन चुप रहना पडता है, उसकी क्षमा प्रशसनीय नही होती। शक्तिशाली होते हुए भी जो क्षमा को अपनाता है वही वीरपुरुष कहलाता है।[4]

युधिष्ठिर-द्रौपदी-संवाद—वनवास के कारण अवसन्न, क्लान्त द्रौपदी को सात्वना देते हुए युधिष्ठिर ने कहा है—"क्रोध मे मनुष्य की विचारशक्ति खत्म हो जाती है, उस वक्त जो उसके मन मे आता है वही करता है। विश्व के समस्त प्राणी यदि क्रोध के वश मे होते तो यह जगत् प्राणिविहीन हो जाता, हर वक्त मारकाट होती रहती। इस पृथ्वी पर सहिष्णु व्यक्ति है, इसीलिये प्राणियो का

---

१. न मे प्रियं कृतं तात नैष धर्मस्तपस्विनाम्। इत्यादि। आदि ४१।२०-२२
पित्रा पुत्रो वयस्थोऽपि सततं वाच्य एव तु। इत्यादि। आदि ४२।४-७
शम एव यतीनां हि क्षमिनां सिद्धिकारकः।
क्षमावतामयं लोकः परश्चैव क्षमावताम्॥ इत्यादि। आदि ४२।९-२१

२. आदि ८७ वाँ अध्याय।

३. मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणाञ्चापि मानना॥ उद्योग ३९।५३

४. नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत् पथ्यतमं मतम्।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा॥ इत्यादि। उद्योग ३९।५७-६०

अस्तित्व वाकी है। जो सामर्थ्यवान होते हुए भी दूसरे के द्वारा सताये जाने पर उसके अपकार की भावना मन मे नही लाते वही पुरुषश्रेष्ठ होते हैं, उन्हे ही ज्ञानी की पदवी से विभूषित किया जाता है। क्रोधी व्यक्ति अल्पज्ञ होते हैं, वे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख से वञ्चित रहते हैं। महर्षि कश्यप ने क्षमावान व्यक्ति का जो गुण-गान किया है, वह तुम्हे सुनाता हूँ—क्षमाहीन व्यक्ति का धर्माचरण निरर्थक होता है, क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है और क्षमा ही श्रेष्ठ तपस्या है। क्षमाशील पुरुष को उत्तम गति मिलती है, ब्रह्मलोक भी उसके लिये सुलभ्य होता है। क्षमा तेजस्वी मनुष्य का तेज, तपस्वी का ब्रह्म एव सत्यवादी का सत्य होती है। क्षमा ही शम है। जिस क्षमा मे सत्य, ब्रह्म, यज्ञ एव तीनो लोक प्रतिष्ठित है, उसका क्या त्याग किया जा सकता है? क्षमा तथा दया ही सनातन धर्म हैं।"[1]

शक्ताना भूषण क्षमा—महामति विदुर ने कहा है—क्षमा परम वल है। क्षमा सामर्थ्यहीन का गुण एव सामर्थ्यवान का भूषण है। क्षमा सर्वोत्तम वशीकरण है। क्षमा द्वारा हर वस्तु साध्य है। शान्ति रूपी खड्ग हाथ मे हो तो दुर्जन व्यक्ति कुछ भी नही कर सकता। क्षमाशील व्यक्ति पर अगर कोई क्रोध करता भी है तो वह राख मे दवी आग की तरह स्वय ही शान्त हो जाता है। क्षमा ही परम शान्ति है।[2]

क्षमा क्रोधशमन का उत्कृष्ट साधन—क्रोधी का क्रोध शान्त करने के लिये क्षमा सर्वोत्तम उपाय है। क्रोधी को क्षमा से, असाधु को सज्जनता से, कृपण को दान से तथा झूठ को सत्य से जीतना चाहिये।[3]

शम-दम के प्रशसास्थल पर क्षमा का उल्लेख—वहुत जगहो पर प्रसगवश शम-दम की प्रशसा की गई है। विशेषत शान्तिपर्व मे तो इस विषय पर इतना कहा गया है कि यदि उसे सकलित किया जाय तो एक पोथा तैयार हो जाय। मोक्ष-धर्म के प्राय प्रत्येक अध्याय मे इन्द्रियनिग्रह पर थोडा वहुत उपदेश दिया गया है।

---

१ यदि न स्युर्मानुषेषु क्षमिण पृथिवी समाः।
न स्यात् सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रह॥ वन २९।२५-५२

२. क्षमा गुणो ह्यशक्ताना शक्ताना भूषण क्षमा। उ ३३।५३-५६।
उ ३४।७५
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभावता क्षमा। शान्ति ११।६८

३. हन्ति नित्य क्षमा क्रोधम्। इत्यादि। उ ३९।४४। वन १९४।६
अक्रोधेन जयेत् क्रोधमसाधु साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्॥ उद्योग ३९।७३

पूर्ण मनुष्यत्व के विकास के लिये जिन मानस सद्वृत्तियो का अनुशीलन अनिवार्य है, उन पर दिये उपदेशो से शान्तिपर्व भरा पड़ा है। दम की प्रशसा मे कहा गया है, "दम जैसा धर्म ससार मे और नही है। अदान्त व्यक्ति को तरह तरह के दुख उठाने पडते हैं। चारो आश्रमो मे दम ही उत्तम व्रत है। क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, आर्जव, जितेन्द्रियता, निपुणता, मार्दव, लज्जा, अकृपणता, सन्तोष, प्रियवादिता, अनसूया आदि के सम्मिलन को ही दम कहते है। काम, क्रोध, लोभ, दर्प, अहकार, रोष, ईर्ष्या, अवमानना आदि सयमी व्यक्ति मे कभी भी दिखाई नही देते। उपर्युक्त सद्गुणो मे से अगर एक भी चरित्र मे हो तो दूसरे अपने आप ही आ जाते है, उनके लिये कोई चेष्टा नही करनी पडती। मैत्री, शालीनता, प्रसन्नता एव क्षमा के द्वारा मनुष्य देवत्व के पद पर आसीन हो सकता है। सयमी पुरुष को जगल मे जाने की कोई आवश्यकता नही होती। वह तो जहाँ भी रहे, वही स्थान उसके लिये पवित्र आश्रम है। सयमी व्यक्ति का किसी से भी विरोध नही होता, वह सत्यकाम, सत्यसकल्प होता है, तीनो लोको मे वह विचरण कर सकता है, उसे पुनर्जन्म का भय नही होता। शुचि, सत्यात्मा व्यक्ति क्षमा के द्वारा दोनो लोक जीतने मे समर्थ होता है।[1]

क्षमाशील व्यक्ति का पराभव—क्षमा के गुण यद्यपि अनगिनत हैं, लेकिन उसमे एक दोष भी है। मूर्ख व्यक्ति क्षमावान को असमर्थ समझ कर बार बार उसके साथ दुर्व्यवहार करते है, सदा उसकी अवमानना करते हैं। अत क्षमा यद्यपि एक श्रेष्ठ गुण है, किन्तु इस प्रकार के दुष्ट व्यक्तियो को क्षमा करना अनुचित है। नितान्त नीच प्रकृति के लोग क्षमा का माहात्म्य न समझ सकने के कारण सोचते हैं कि क्षमावान व्यक्ति उनसे पराजित हो गये है।[2]

हमेशा क्षमा करना उचित नहीं—क्षमा एव तेजस्विता प्रदर्शन मे से क्या चीज श्रेष्ठ है ? बलि के इस प्रश्न के उत्तर मे उनके पितामह प्रह्लाद ने उत्तर दिया था—"वत्स, हमेशा तेज का प्रदर्शन करना या हमेशा क्षमा करना, इनमे से कोई भी सगत नही है। जो सर्वदा क्षमा धारण किये रहते हैं, उनकी भृत्यगण अवज्ञा करते है, शत्रु एव मध्यस्थ भी उसका ख्याल नही रखते। साधारण पढे लिखे लोग

---

१. शान्ति १६० वाँ अध्याय।

२. एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥ शान्ति १६०।३४
एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते। इत्यादि। उद्योग ३३।५२
क्षमावन्तं हि पापात्मा जितोऽयमिति मन्यते। द्रोण० १९८।२६

भी उसे ठगने की चेष्टा करते हैं। उसकी धन-सम्पत्ति हर व्यक्ति ऐसे खरच करता है, जैसे उस पर सबका समानाधिकार हो। कटुवचन कहने मे भी कोई नही हिचकता। नौकर-चाकर, पुत्र-पुत्री, पत्नी आदि के लिये भी वह नितान्त अनुग्रह का पात्र होता है। सर्वसाधारण व्यक्ति उसकी महिमा नही समझ पाते, और फिर उनके लिये ससार मे रहना उपहासजनक बन जाता है।[1]

सतत उग्रता वर्जनीय—जो व्यक्ति क्षमा किसे कहते हैं, यह जानते ही नही और सदा उग्र व्यवहार करते हैं, वे भी सुखी नही रह पाते। मित्रो से विरोध, स्वजन-सबधियो से ईर्ष्या, द्वेष आदि उनके जीवन मे लगे ही रहते हैं। अपमान, अर्थहानि, उपालम्भ, अनादर, सन्ताप, द्वेष, ईर्ष्या, मोह आदि से निर्लिप्त रहना उनके लिये असम्भव होता है। जल्द ही उनके ऐश्वर्य का विनाश हो जाता है, यहाँ तक कि उन्हें सदा अपने प्राणो की भी चिन्ता करनी पडती है। जो व्यक्ति उपकारी एव अपकारी दोनो के साथ एक-सा क्रूर व्यवहार करता है, उसे देखकर ही लोग भय से आतकित हो जाते हैं। जिसे लोग शकित दृष्टि से देखते हो, जिसको देखकर साधारण लोगो का मन आतकित होता हो, उसका सारा जीवन अशाति मे बीतता है, सुख उसके लिये अकल्पनीय वस्तु होती है।[2]

मौका देखकर क्रोध या क्षमा करनी चाहिये—क्रोध की जगह क्रोध एव क्षमा की जगह क्षमा करना ही व्यक्ति के लिये श्रेयस्कर होता है। जो सत्पुरुष समयानुसार उपयुक्त व्यवहार करता है, वही इस ससार मे सुखी जीवन बिता पाते हैं।[3]

क्षमा के पात्र-अपात्र व काल की विवेचना—क्षमा के उपयुक्त काल के सबध मे कहा गया है, कि जिसने पहले कभी कोई उपकार किया हो, उससे अगर जाने अनजाने कोई अपकार हो भी जाय तो उसे क्षमा कर देनी चाहिये। मनुष्य हमेशा समझबूझ कर काम नही करता, अत यदि कोई बिना विचारे केवल भावना के वशीभूत होकर दुर्व्यवहार करे तो वह भी क्षमा का अधिकारी है। जानबूझ कर बुरा वर्त्ताव करके भी कोई बाद मे झूठ बोले तो उस शठ, पापात्मा को कभी क्षमा नही देनी चाहिये। एक अपराध के लिये हर व्यक्ति को क्षमा मिलनी चाहिये। समानजातीय व्यक्ति अगर दूसरी बार भी गल्ती करे तो उसे क्षमा करना उचित नही है, लेकिन अगर यह पता लग जाये कि अपराध अनजाने मे हुआ है तो क्रोध

---

१. न श्रेय. सतत तेजो न नित्य श्रेयसी क्षमा। इत्यादि। वन २८।६-१५

२. अय वैरोचने दोषानिमान् विद्ध्यक्षमावताम्। इत्यादि। वन २८। १६-२२

३. तस्मान्नात्युत्सृजेत्तेजो न च नित्यं मृदुर्भवेत्। इत्यादि। वन २८।२३, २४

करना अन्याय है। सुविवेचक अपराधी को यदि क्षमा कर दिया जाय तो उसे अपने किये पर स्वय ही बहुत पश्चात्ताप होता है।[1]

लोकनिन्दा के भय से क्षमा—देश, काल एव अपनी सामर्थ्य देखकर क्षमा का अवलम्बन लेना चाहिये। कई बार लोकनिन्दा के भय से भी अपराधी को माफ करना पडता है।[2]

श्रद्धा के बिना कोई भी कार्य निष्पन्न नहीं होता—श्रद्धा के बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नही होती। आन्तरिक निष्ठा को ही श्रद्धा कहा गया है। जिस कार्य का श्रद्धा से अनुष्ठान किया जाता है, उसी का पूर्ण फल मिलता है। दान, प्रतिग्रह आदि सभी मे श्रद्धा की आवश्यकता होती है। अश्रद्धा पाप होती है और श्रद्धा पापविमोचिनी। श्रद्धालु व्यक्ति प्रतिकूल अवस्था मे भी पवित्र बने रहे है। जिसमे श्रद्धा का अभाव हो उसका कोई भी कार्य सफल नही होता।[3]

श्रद्धारहित यज्ञ तामस यज्ञ—श्रद्धासहित किया गया अनुष्ठान अनन्त फलदायी होता है। श्रद्धावान मनुष्य का सत्कर्मजनित धर्म अक्षयत्व का लाभ करता है। जो यज्ञ बिना श्रद्धा के किया जाता है, उस यज्ञ को भी तामसयज्ञ कहते हैं।[4]

सात्विक आदि के भेद से श्रद्धा के तीन प्रकार—जन्मजात सस्कारो के अनुसार मनुष्य सात्विक, राजस एव तामस श्रद्धा का अधिकारी होता है। जो व्यक्ति जिस प्रकार की श्रद्धा का पोषण करता है उसकी वैसी ही प्रकृति बन जाती है। सात्विक श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति सात्विक, राजस श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति राजस एव तामस श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति तामस प्रकृति वाला होता है। इनके आचार व्यवहार एक दूसरे से बिल्कुल पृथक् होते हैं।[5]

---

१. क्षमाकालांस्तु वक्ष्यामि श्रृणु मे विस्तरेण तान्। इत्यादि। वन २८। २५-३१

२. देशकालौ तु संप्रेक्ष्य बलाबलमथात्मनः। इत्यादि। वन २८।३२, ३३

३. अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥ शान्ति २६३।१५-१९

४. अपि ऋतुशतैरिष्ट्वा क्षयं गच्छति तद्धरिः।
न तु क्षीयन्ति ते धर्माः श्रद्दधानैः प्रयोजिताः॥ अनु १२७।११
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते। भीष्म ४१।१३
दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजताञ्च यत्। इत्यादि। शाति ६०।४१-४५

५. त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। इत्यादि। भीष्म ४१। २-२७

श्रद्धाविहीन अनुष्ठान निष्फल—श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—"हे पार्थ, विना श्रद्धा के होम करना, किसी को दान देना, तपस्या करना या कोई भी अनुष्ठान करना असत्कर्म होता है। वह अनुष्ठान इस लोक या परलोक किसी के लिये भी कल्याणप्रद नही होता।"[1]

---

१. अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥ भीष्म ४१।२८

अहंकार व कृतघ्नता

अहंकारी दुर्योधन की परिणति—अत्यधिक अहकार का भयानक परिणाम महाभारत मे चित्रित हुआ है। अहकारी दुर्योधन का अत बहुत ही करुण था। उसके इस अत का कारण ही अहकार, गुरुजनो की अवमानना, लोभ एव ज्ञातिहिंसा था। वीरश्रेष्ठ कर्ण का चरित्र यद्यपि बहुत उज्ज्वल था लेकिन दुर्योधन के अहकार को बढावा वही सबसे अधिक देते थे।

अहंकार त्याग का उपदेश—अहकार के दोष बताकर उसका परित्याग करने के लिये बार बार कहा गया है। शान्तिपर्व के प्राय प्रत्येक अध्याय मे दो चार श्लोक ऐसे मिलते है, जिनमे शम, दम आदि का माहात्म्य बताया गया है।

अहंकार पतन का हेतु—महाप्रस्थानिक पर्व मे कहा गया है कि जब सहदेव रास्ते मे ही गिर पडे तो भीम ने युधिष्ठिर से इसका कारण पूछा। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "सहदेव अपने जैसा बुद्धिमान किसी दूसरे को नही समझते थे, यह अहकार ही उनके पतन का कारण है।" नकुल को अपने रूप का बहुत अहकार था। भीम और अर्जुन भी अहकारी थे। इसी कारण ये तीनो भी रास्ते मे ही मृत्युग्रस्त हो गये थे।[1]

ययाति का अधःपतन—ययाति के स्वर्ग पहुँचने पर इन्द्र ने उनसे प्रश्न पूछा, "राजन्, तुमने अपने जीवन मे बहुत पुण्य कर्म किये है, इसलिये मैं जानना चाहता हूँ कि तप शक्ति मे तुम किसके तुल्य हो?" ययाति ने उत्तर दिया, "देवराज, मुझे तो तीनो लोको मे अपने समान तपस्वी दूसरा नही दिखाई देता, इतनी कठोर तपस्या दूसरा कोई कर ही नही सकता।" ययाति के दर्पभरे वचन सुनकर देवराज बोले, "राजन्, अतिशय गर्व से ही तुम्हारे पुण्य का क्षय हो गया है, अव तुम स्वर्ग-लोक मे वास करने के उपयुक्त नही रह गये हो, शीघ्र ही तुम्हे मर्त्यलोक मे जाना पडेगा।"[2]

---

१. महाप्रस्थानिक २ रा अध्याय।

२. नाहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु।
आत्मनस्तपसा तुल्य कञ्चित् पश्यामि वासव। इत्यादि। आदि ८८।२,३

नहुष की सर्वत्व प्राप्ति—पुण्यफल से नहुष इद्रत्व को प्राप्त करके स्वर्गलोक गये। वहाँ उन्होंने अत्याचार करना शुरु कर दिया। उनका अत्याचार इतना वढ गया कि एक दिन तो वे शचीदेवी को अपनी अकशायिनी बनाने के लिये जिद करने लगे। उनके अत्याचार से देवगण अस्थिर हो उठे। बाद मे बृहस्पति के परामर्श से शची ने नहुष से कहा, "यदि तुम महर्षियो को रथ का वाहन बनाकर मेरे महल मे ले आओगे तो मैं तुम्हे वरण कर लूँगी।" नहुष ने हिताहित सोचे बिना वलपूर्वक अगस्त्य आदि ऋषियो को रथ मे जोत दिया। रास्ते मे बात बात मे ऋषियो के साथ झगडा शुरू हो गया। क्रुद्ध दर्पी नहुष ने अगस्त्य के सिर पर लात मार दी और उन्हे अपने सब अत्याचारो का फल मिल गया। महर्षि के शाप से उसी वक्त वे साँप बनकर पृथ्वी पर गिर पडे।[1]

आत्मप्रशसा आत्महत्या के समान—अपने मुँह से अपनी प्रशसा करने को आत्महत्या के समान बताया गया है। अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि जो भी उनके गाडीव की निन्दा करेगा वे उसका वध कर देंगे। एक दिन कर्ण के बाण से घायल होने पर युधिष्ठिर का धैर्य छूट गया। उन्होंने कटुवचन कहकर अर्जुन का तो तिरस्कार किया ही, साथ ही साथ गाडीव की भी निन्दा कर दी। अर्जुन जैसे प्रतिज्ञा पालन के लिये उद्यत हुए कि श्रीकृष्ण ने उन्हे रोककर कहा कि अपने से वडो का तो अपमान करना ही उनका वध करने के समान होता है। अत युधिष्ठिर से अपमानजनक व्यवहार करने मात्र से उसकी प्रतिज्ञा की रक्षा हो जायगी। कृष्ण के मतानुसार अर्जुन ने युधिष्ठिर की भर्त्सना कर दी लेकिन करने के बाद उन्हे अपने ऊपर बहुत ही ग्लानि हुई। ग्लानि के कारण आत्महत्या के उद्देश्य से जैसे ही उन्होंने तलवार निकाली, कृष्ण उनका मतलब समझ गये। वे बोले, "अर्जुन आत्महत्या महापाप है, तुम्हारे जैसा वीर अगर इन छोटी छोटी बातो से विचलित होने लगे तो काम कैसे चलेगा। शान्त होओ, वचन के द्वारा जैसे दूसरे का वध किया जा सकता है, उसी तरह आत्महत्या भी की जा सकती है। अपने मुख से अपनी प्रशसा करना आत्महत्या के ही समान है।" और अर्जुन ने कृष्ण की बात मान कर उसी तरह अपनी गलती का प्रायश्चित्त किया। आत्मप्रशसा को गर्हित बताने के उद्देश्य से ही शायद यह कहानी गढी गई है।[2]

---

१. उद्योग १७ वाँ अध्याय। वन् १७९ वाँ अध्याय। अनु १०० वाँ अध्याय

२. ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मस्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ। कर्ण ७०-२९
काम नैतत् प्रशंसन्ति सन्तः स्ववलसस्तवम्। आदि ३४।२

कृतघ्नता के दोष—उपकारी के प्रति सर्वदा कृतज्ञ रहना चाहिये। उनका अनिष्ट करके कृतघ्नता दिखाना नीच कर्म है। ब्रह्मघ्न, सुरापायी, चोर आदि पापियो को तो प्रायश्चित्त करने पर निष्कृति मिल भी जाती है, लेकिन कृतघ्न व्यक्ति के लिये तो कोई भी प्रायश्चित्त फलदायक नही होता। आमरण उसे कृतघ्नता का फल भोगना पडता है।[1]

---

१. ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ इत्यादि। शांति १७२।२५, २६। शांति १७३।१७

दान प्रकरण

इहलोक व परलोक मे दान का फल—दान का फल मनुष्य को दोनो लोक मे मिलता है। इस लोक मे आत्मतुष्टि मिलती है और दूसरे लोक मे अच्छी गति मिलती है। यथासाध्य दान देने के लिये सभी को उपदेश दिया गया है। अनुशासन पर्व मे दान के माहात्म्य का बहुत गुणगान किया गया है। इसी वजह से अनुशासन पर्व को दानधर्म भी कहा जाता है।[1]

युधिष्ठिर ने व्यासदेव से पूछा था कि दान एव तपस्या मे अपेक्षाकृत कष्टसाध्य क्या है। प्रत्युत्तर मे महर्षि ने बताया था कि दान से अधिक दुष्कर और कुछ नही है। अर्थोपार्जन के लिये मनुष्य जितने कष्ट उठा सकता है, उतने और किसी चीज के लिये नही। धन के लिये समुद्र के गर्भ मे उतरना, पर्वत शिखर पर चढना कुछ भी असम्भव नही है। अर्थ के लिये मनुष्य दासत्व तक स्वीकार करने मे कुठित नही होता। इतनी कठिनाइयो से अर्जित किया हुआ धन दूसरे को दान कर देना विशाल हृदय का परिचायक है। सत्पात्र को दान देना ही न्यायोपार्जित धन की उत्तम गति है।[2]

सात्विक आदि के भेद से दान के तीन प्रकार—दान तीन प्रकार का होता है—सात्विक, राजस तथा तामस। जिस व्यक्ति ने कभी दाता का कोई उपकार न किया हो उसके पात्रत्व पर विचार करके शुभस्थान पर, शुभमुहूर्त्त मे उसे दान देना 'सात्विक दान' कहलाता है। प्रत्युपकार की अथवा अन्य फल की आशा से दान देना और बाद को उस प्रदत्त वस्तु के लिये अनुशोचना करना 'राजस दान' होता है। स्थान, काल व पात्र अपात्र का विचार किये विना अवज्ञा तथा अश्रद्धा से दिया हुआ दान 'तामस' दान कहा जाता है।[3] दान देकर जो पछताते हैं उन्हे 'नृशस' की सज्ञा दी गई है।[4]

---

१. दान ददत् पवित्री स्यात्। अनु ९३।१२। अनु १६३।१२
अनु ६० वां तथा १३७ वां अध्याय।

२. वन २५८ वां अध्याय।

३. दातव्यमिति यद्दान दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्॥ इत्यादि। भीष्म ४१। २०-२२

४. दत्तानुतापी। उद्योग ४३।१९

किसी के मत से पाँच प्रकार के दान—एक जगह दान को पाँच प्रकार का बताया गया है। कहा है, धर्म, अर्थ, भय, काम एव करुणा इन पाँच कारणो से दान दिया जाता है।

असूया का त्याग करके ब्राह्मण को जो दान दिया जाय वही दान धर्मदान है। अमुक व्यक्ति ने मुझे कुछ दिया है या दे रहा है अथवा भविष्य मे देगा यह सोचकर दान देना प्रतिदान की इच्छा से दान देना कहलाता है। इसका दूसरा नाम अर्थदान है। अनिष्ट की आशका से दुष्ट व्यक्ति को सन्तुष्ट रखने के लिये बुद्धिमान व्यक्ति दान देता है। इस प्रकार के दान का कारण भय होता है। प्रियजनो की प्रीति के निमित्त जो दान दिया जाता है वह काम दान कहलाता है। दीन, भिक्षुक, अनाथ आदि को करुणावश दान दिया जाता है, इस दान को कारुण्य दान की सज्ञा दी गई है।[1]

बिना श्रद्धा के दिया हुआ दान निन्दनीय—उल्लिखित पाँच प्रकार के दानो मे धर्मदान एव कारुण्य दान को सात्विक दान कहा जा सकता है। सात्विक दान से दाता के मन मे अहकार उत्पन्न नही होता। बिना श्रद्धा के दान देना गर्हित बताया गया है।[2]

निष्काम दान की प्रशस्तता—विना किसी कामना के दान देना ही उत्तम होता है। शिविचरित मे महाराज शिवि के निष्काम दान की शतमुख प्रशसा की गई है।[3]

दान का उपयुक्त पात्र—शान्त, सरल, सत्यवादी, अहिसक, अक्रोधी, सरल-प्रकृति व्यक्ति ही दान का उपयुक्त पात्र होता है। जो ब्राह्मण अपनी वृत्ति द्वारा जीवननिर्वाह करता है, उसे दान देना सर्वोत्तम है।[4]

अपात्र को दान देने से दाता का अनिष्ट—उत्कृष्ट पात्र को दान देने की जितनी प्रशसा की गई है, उतनी अपात्र को दान देने की निन्दा। जो स्वधर्मत्यागी हो

---

१. अनु १३८ वाँ अ। जयेत् कदर्यं दानेन। उ ३९।७४। वन १९४।६

२. काले च शक्त्या मत्सरं वर्जयित्वा शुद्धात्मानः श्रद्धिनः पुण्यशीलाः। अनु ७१।४८। उद्योग ४५।४
अवज्ञया दीयते यत्तथैवाश्रद्धयापि वा।
तदाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः॥ शान्ति २९३।१९

३. नैवाहमेतद् यशसे ददानि। इत्यादि। वन १९७।२६,२७

४. अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम्। इत्यादि। अनु ३७।८,९ शान्ति २९३।१७-१९। अनु २२ वाँ अ।

उसे दान देने से दाता का अकल्याण होता है।[1] पतित, चोर, मिथ्यावादी, कृतघ्न, वेदविक्रयी, परिचारक आदि को दान नही देना चाहिये। इस प्रकार के सोलह दानो को वृथा दान वताया है।[2]

प्रार्थी को लौटाना नहीं चाहिये—अनुशासनपर्व मे अन्नदान के प्रसग मे कहा गया है कि प्रार्थी का अपमान नही करना चाहिये। चाडाल हो या कुत्ते जैसा क्षुद्र प्राणी, किसी को भी दिया दान व्यर्थ नही होता।[3]

दान की प्रशसा—प्राणदान, भूमिदान, गोदान, अन्नदान आदि अनेको प्रकार के दानो का उल्लेख करके उनकी प्रशसा की गई है। पूरा अनुशासनपर्व ही दान के माहात्म्य से भरपूर है। 'गोसेवा' प्रबध मे गोदान के विषय मे कहा गया है। कहा गया है कि जो वस्तु अन्याय द्वारा अर्जित की गई हो, वह कभी दान मे नही देनी चाहिये।[4]

वापी, कूप आदि खुदवाना—तालाब, कुएँ आदि खुदवाकर सर्वसाधारण के पानीय जल की व्यवस्था करने के लिये भी गृहस्थ को उपदेश दिया गया है। ऐसे कामो से मिलनेवाले फल का भी गुणगान किया गया है।[5]

काल के अनसार दान का पुण्य—मास, तिथि, नक्षत्र आदि देखकर दान देने से दान का महत्त्व अधिक होता है। इस प्रकार के बहुत से निर्देश महाभारत मे मिलते हैं।[6]

अति दान निन्दित—अपने परिवार की स्थिति का ख्याल किये बिना यथेच्छ रूप से दान देने का ग्रथकार ने अनुमोदन नही किया। अपनी सामर्थ्य समझे विना दान देने वाले व्यक्ति के पास लक्ष्मी भी जाने मे डरती है।[7]

---

१. ये स्वधर्मादपेतेभ्य. प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः॥ इत्यादि। शाति २६।२९-३१। उद्योग ३३।६३

२. व्यर्थन्तु पतिते दान ब्राह्मणे तस्करे तथा। वन १९९।६-९

३. नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात् कदाचन।
अपि श्वपाके शुनि वा न दान विप्रनश्यति॥ अनु ६३।१३

४. नो दीतव्या याश्च मूल्यैरदत्तै। इत्यादि। अनु ७७।७

५. पानीय परम दानं दानानां मनुरब्रवीत। इत्यादि। अनु ६५।३-६। अनु ६८।२०-२२

६. पर्वसु द्विगणं दानमृतौ दशगुणं भवेत्। वन १९९।१२४—१२७। अनु ६४ वां अध्याय।

७. अत्यार्यमतिदातारं....श्रीर्भयान्नोपसर्पति। उद्योग ३९।६४

द्वितीय खण्ड

धर्म

चतुर्वर्ग मे धर्म का स्थान—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार को चतुर्वर्ग कहा गया है। इनकी प्रत्येक व्यक्ति आकाक्षा करता है, इसलिये इन्हे पुरुषार्थ की सज्ञा भी दी गई है। पुरुषार्थ चतुष्टय मे मोक्ष ही सर्वोत्तम है। मनुष्य के रुचिभेद के अनुसार धर्म, अर्थ, काम मे प्रत्येक का प्राधान्य होते हुए भी धर्म सर्वप्रधान है, क्योकि धर्माचरण द्वारा मनुष्य अर्थ एव काम की प्राप्ति कर सकता है, इनके लिये उसे पृथक् चेष्टा नही करनी पडती। धर्म से गृहस्थ मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।[1]

धर्म, अर्थ व काम का एक साथ उपभोग—यक्ष के प्रश्न के उत्तर मे युधिष्ठिर ने कहा है, जिसकी भार्या धर्माचरण के अनुकूल हो, वह गृहस्थ धर्म, अर्थ व काम का एक साथ उपभोग कर सकता है। धर्म से ही अर्थ का लाभ होता है और अर्थ कामनापूर्ण करने मे सहायक है, अतएव इन तीनो मे कोई अन्तर्विरोध नही है।[2]

धर्म का प्रयोजन—धर्म किसे कहते है, इस प्रश्न का उत्तर तरह तरह से दिया गया है। एक वाक्य मे उनका सार यह है कि इहलोक व परलोक के अनुकूल आचरण करना ही धर्म है।[3] आत्मतुष्टि 'चित्तशुद्धि' लोकस्थिति तथा मोक्ष-प्राप्ति धर्म का उद्देश्य है। महाभारत मे धर्म की अनेको शाखाएँ वर्णित है, जैसे समाजधर्म, वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, लौकिक धर्म, कुलधर्म आदि। कहा है, धर्म की वृद्धि से समाज का कल्याण होता है और धर्म के नाश से अकल्याण।

धर्म शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ—महाभारत मे धर्म शब्द के व्युत्पत्तिगत दो अर्थ बताये हैं। पहला है 'धन' पूर्वक 'ऋ' धातु मे 'मक्' प्रत्यय के योग से धर्म शब्द वनता है। जिसका अर्थ है—जिसके द्वारा धन की प्राप्ति हो। धन शब्द से पार्थिव, अपार्थिव हर प्रकार के धन को समझना चाहिये। दूसरी तरह से धारणार्थक 'धृञ्च' धातु के साथ 'मन्' प्रत्यय का योग करने पर धर्म शब्द वनता है। इसका

---

१. शान्ति १६७ वाँ अध्याय। शान्ति २७०।२४-२७

२. यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः॥ वन ३१२।१०२

३. लोकयात्रामिहैके तु धर्मं प्राहुर्मनीषिणः। इत्यादि। शान्ति १४२।१९

अर्थ है—जो सबको धारण करे, अर्थात लोकस्थिति जिस पर निर्भर हो। उपर्युक्त दोनो अर्थों मे से हम कोई भी ले सकते हैं। साराश मे—जिसके द्वारा व्यष्टि एव समष्टि रूप से लोकस्थिति विधृत हो अर्थात् जिसको केन्द्र मानकर प्रत्येक का जीवन चलता हो अथवा जो वस्तु अर्थ-काम आदि की प्राप्ति मे सहायक हो, उसे धर्म कहते हैं।'

अनिद्य आचरण ही धर्म—धर्म शब्द का धातु-प्रत्यय लब्ध अर्थ चाहे कुछ भी हो, लेकिन व्यावहारिक रूप से कुछ शुद्धाचरणो को ही धर्म माना जाता है। अनेक अर्थो मे प्रयुक्त धर्म शब्द को अनिंद्य आचरण के रूप मे भी व्यवहृत किया जा सकता है। आचरण केवल वाहरी आचरण नही होता, मन की अच्छी भावनाएँ भी धर्मा-चरण मे गण्य हैं।

धर्म दोनो लोक के लिए कल्याणप्रद—एकमात्र इहलौकिक स्थिति को धर्म का चरम उद्देश्य वताना महाभारत का अभिप्राय नही है। अधिकतर धर्मानुष्ठान कष्टसाध्य होते हैं। स्वभाव से कष्टविमुख मानव परलोक की हितकामना से धर्म के निमित्त ऐहिक दुख का भी वरण कर लेता है। धर्म के कुछ अनुष्ठान ऐहिक कल्याण के लिये और कुछ पारलौकिक हित के लिये किये जाते हैं। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे भीष्म ने कहा है—"धर्म के विषय मे वहुत से लोग सदिग्ध होते हैं। धर्म की विधि प्रणाली वहुत कुछ लौकिक व्यवहार पर निर्भर करती है। आपद्काल मे अधर्म को भी धर्म के रूप मे स्वीकार करना पडता है। धर्म, अधर्म का निर्णय करना मुश्किल है। किन्तु यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि धर्म इस लोक व परलोक दोनो के लिये कल्याणकारी होता है। लोकस्थिति एव आत्म-शुद्धि के निमित्त ही धर्म का उपदेश दिया जाता है। अनुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि होती है और चरम पुरुषार्थ के लिये चित्तशुद्धि सहायक होती है। अत जो दोनो लोक के कल्याण का आकाक्षी हो, उसे धर्माचरण मे मन लगाना चाहिये।" धर्मा-चरण का अतिम लक्ष्य मुक्ति है।[2]

---

१. धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चय.॥ शान्ति ९०।१७
धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसयुक्त स धर्म इति निश्चय.॥ इत्यादि॥ कर्ण ६९।५९
शान्ति १०९।११

२. अपि ह्युक्तानि धर्माणि व्यवस्यन्त्युत्तरावरे।
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः॥ इत्यादि। शान्ति २५८।४-६

धार्मिक कृत्य का प्रधान लक्ष्य चित्तशुद्धि—ब्राह्मण-व्याध-सवाद मे व्याध ब्राह्मण से कहता है—ऐसे बहुत से शास्त्रज्ञ, धार्मिक व्यक्ति है जो धर्म को ही जीवन का सार समझते है। शिष्ट पुरुषो के आचरण का अनुकरण करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। धर्म द्वारा जिस अर्थ की प्राप्ति हो, उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिये। नीच से नीच व्यक्ति मे भी अगर कोई गुण हो तो धर्मज्ञ व्यक्ति उससे अनुराग करते हैं। धर्मध्यानी हर अवस्था मे सन्तुष्ट रहता है, वही ऐहिक एव पारत्रिक सुख का भागी होता है।

धर्म ही मोक्ष का साधन—धर्मज्ञ व्यक्ति को शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गध आदि बहिर्विषयो पर पूर्ण सयम होता है। धर्माचरण से जब चित्त की शुद्धि हो जाती है तो वह केवल अनुष्ठान से सतुष्ट नही होता। वह अतृप्ति उस व्यक्ति के अन्तर मे वैराग्य का बीज डाल देती है और वह बीज एक विशाल वृक्ष के रूप मे परिणत हो जाता है। कालान्तर मे ससार की असारता जानकर वह व्यक्ति विषयो से विमुख हो जाता है। यही वैराग्य उसे मुक्ति के पथ पर अग्रसर करता है।[1]

धर्म के विषय मे वेद को प्राथमिकता—धर्म, अधर्म का निर्णय करने के लिये वेद ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। वेद जिन आचरणो का समर्थन करते है वही धर्म है।[2]

वेद के बाद धर्मशास्त्र—वेद के बाद धर्मशास्त्रो का नम्बर आता है। मनुसहिता आदि धर्मशास्त्रो मे जिसे धर्म बताया है, वह भी धर्म है। महाभारतकार ने धर्मशास्त्रकार के रूप मे मनु को बहुत सम्मान दिया है। बहुत सी जगह मनु के वचनो द्वारा अपने मत का समर्थन कराया है। यद्यपि महाभारत मे यह नही बताया है कि धर्मशास्त्रो मे किस किस को प्रामाणिक मानना चाहिये, लेकिन मन्वादिसहिता, धर्मसूत्र, रामायण एव पुराणो को ही शायद धर्मशास्त्र माना है। धर्मप्रतिपादक वेदसम्मत सूत्रो आदि को वेदतुल्य समझकर धर्मशास्त्र या स्मृतिशास्त्र के रूप मे ग्रहण नही किया जा सकता। स्मृतिशास्त्र वर्णाश्रमधर्म आदि के पथ-

---

१. दुर्ज्ञयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः। वन २०५।४१
सता धर्मेण वर्त्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत्। वन २०८।४४-५३

२. श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम्। इत्यादि। वन २०५।४१
वन २०८।२
अनु १६२ वाँ अध्याय।

प्रदर्शक एव वेदानुमोदित होते हैं इसीलिये धर्मनिर्णय के लिये वे ही दूसरे नबर पर आते हैं।[1]

धर्मनिर्णय मे शिष्टाचार का प्रमाण—शिष्ट व्यक्ति के आचार को भी धर्म मानना पडता है। जिनका आचरण सत्पुरुषो द्वारा अनुमोदित हो वही साधु या शिष्ट पुरुष हैं। धर्म के विषय मे शिष्टाचार का प्रमाण भी महाभारत मे स्वीकृत हुआ है। (द्रष्टव्य पृष्ठ २२०) लेकिन उसका स्थान श्रुति व स्मृति के वाद आता है।[2]

प्रमाण की श्रेष्ठता—उपर्युक्त उद्धरणो से पता लगता है कि धर्म के विषय मे कोई प्रश्न उठने पर सर्वप्रथम श्रुति का अभिप्राय जानना चाहिये। श्रुति से शका का समाधान न होता हो तो धर्मशास्त्र देखने चाहिये। धर्मशास्त्र भी यदि सदिग्ध विषय की मीमासा न बताते हो तो शिष्ट या सत्पुरुषो के आचार को देखना चाहिये एव उन्ही के पथ का अनुसरण करना चाहिये। इससे यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि श्रुति व धर्मशास्त्र मे विरोध उपस्थित हो तो श्रौत प्रमाण को मानना चाहिये और धर्मशास्त्र तथा सदाचार मे विरोध हो तो धर्मशास्त्र को प्राथमिकता देनी चाहिये। श्रुति एव धर्मशास्त्र मे आपातविरोधी उक्ति की मीमासा करते वक्त शिष्टाचार के तरफ भी लक्ष्य रखना चाहिये क्योकि सदाचार प्राय अप्रामाणिक नही होते। सदाचार एव स्मृति की सहायता से विलुप्त श्रुति का अनुमान लगाया जा सकता है, यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। महाभारत मे भी इसका अनुमोदन हुआ है।

महाजनो येन गत स पन्था—'क पन्था'—यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर मे युधिष्ठिर ने कहा है, केवल व्यावहारिक बुद्धि के सहारे किसी भी सिद्धान्त पर पहुँचना मुश्किल है, क्योकि तर्क अनिर्णीत होता है, अर्थात् जिनकी प्रतिभा अपेक्षाकृत तीक्ष्ण होती है वे तर्क द्वारा दूसरे के सिद्धान्त का अनायास ही खडन कर सकते

---

१. वेदोक्त परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापर.। इत्यादि। वन २०६।८३ अनु १४१।६५
सदाचार. स्मृतिर्वेदास्त्रिविध धर्मलक्षणम्। शान्ति २५८।३

२ शिष्टाचारश्च शिष्टाना त्रिविध धर्मलक्षणम्। इत्यादि। वन २०६।८३, ७५। शान्ति १३२।१५॥
सदाचार स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्। इत्यादि। शान्ति २५८।३। शान्ति २५९।५
शिष्टाचीर्णोऽपर प्रोक्तस्त्रयो धर्मा. सनातना। इत्यादि। अनु १४१। ६५। अनु ४५।५। अनु १०४।९

हैं। श्रुति भी विभिन्न अर्थो के प्रतिपादक लगते हैं। ऋषियो मे भी मतभेद है, किसी एक ऋषि के सिद्धान्त को मानकर चला जाय, यह भी नही हो सकता। धर्म का तत्त्व दुरभिगम्य है, सोचे विचारे बिना किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है। अतएव महापुरुषो ने जिस पथ का अवलम्बन लिया है, वही प्रकृत पथ है, उनके द्वारा अनुसृत आदर्श ही हमारा आदर्श है। धर्म के विषय मे शास्त्रानुमोदित तर्क के द्वारा कोई सिद्धान्त नही बनाया जा सकता। आर्षवाक्य तथा पूर्वपुरुषो के आचरण की प्रमाणता मे आशका करना नितान्त अशोभनीय है। आँख मीच कर महापुरुषो के मार्ग का अनुसरण करना ही श्रेष्ठ आदर्श है।[1]

श्रुति-स्मृति का सार समझने के लिए सदाचार की सहायता––वेद, स्मृति, पुराण आदि का उल्लघन करके गन्तव्य पथ स्थिर करना, इस अर्थ मे उपर्युक्त शब्द प्रयुक्त नही हुए है। अगर यही मतलब होता तो वेद एव स्मृति आदि के प्रमाण विषयक पूर्व सकलित उद्धरणो की कोई सार्थकता नही होती। आपात-विरोधी अर्थ का सामञ्जस्य करने के लिये यथेष्ट पाडित्य की आवश्यकता होती है, सवके लिये वह सम्भव नही होता। अत साधारण व्यक्ति के लिये महापुरुषो के पदचिह्नो पर चलना ही श्रेयस्कर है। अब प्रश्न यह उठता है कि महापुरुष किसे कहा जाय। जिन्होने विद्या, अर्थ आदि की प्रचुरता से ख्याति प्राप्त की हो, साधारणत हम उन्ही को 'महापुरुष' समझते है, किन्तु महाभारत का मन्तव्य दूसरा है। महाभारत मे साधु, सत्, शिष्ट आदि को जिस अर्थ मे लिया है, महा-पुरुष को भी उसी अर्थ मे लिया है। नही तो शिष्ट व्यक्ति का पदानुसरण करने का उपदेश बिल्कुल ही निरर्थक हो जाता है। जो वेदशास्त्रो द्वारा बताये आचार विचारो का निर्विरोध पालन करते है, उन्ही को ग्रन्थकार ने महापुरुष माना है। वस्तुत बाहरी आचार व्यवहार मे थोडा बहुत मतभेद होते हुए भी महापुरुषो मे कोई विरोध नही होता। वे श्रुति-स्मृति के तात्पर्य को पूर्ण रूप से न समझ पाने पर भी उनके अनुसार अपनी जीवनप्रणाली को नियन्त्रित कर लेते है, इसलिये श्रुति-स्मृति मे विरोध उपस्थित होने पर सदाचार की तरफ लक्ष्य रखने को आवश्यक कहा गया है। सुतराम् जिस धर्म को समझना कठिन हो, उसके तत्त्व की गूढता को

---

१. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहायाम् महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
वन ३१२।११७

अंधो जड इवाशंकी यद् ब्रवीमि तदाचर। अनु १६२।२२-२५

समझने के लिये हमारे जैसे साधारण मनुष्यो को सदाचारो का ही अवलम्वन लेना चाहिये। यही शायद महाभारत का उपदेश है।[1]

जातिधर्म तथा कुलधर्म—जातिधर्म एव कुलधर्म का आचरण भी महापुरुषो के पदानुसार ही करना चाहिये। पूर्वजो द्वारा अनुष्ठित आचरण ही कुलधर्म है। कुलधर्म के व्यापक अर्थ मे जातिधर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्राह्मण का जातिगत अधिकार इन कार्यो पर है, क्षत्रिय का अमुक पर है, इस प्रकार विभिन्न जातियो के जिन आचरणीय कर्मो का निर्देश दिया गया है, वही जातिधर्म है। जातिधर्म का दूसरा नाम स्वधर्म तथा सहजकर्म भी है। (देखिये पृष्ठ १४८) पूर्वजो द्वारा पालित कुलधर्म किसी भी अवस्था मे परित्याज्य नही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुलधर्म का पालन करना चाहिये।[2]

देशधर्म—विभिन्न जगहो के विभिन्न धर्माचरण होते हैं। जहाँ जिस प्रकार के आचरण व्यवहार प्रचलित हो, उस जगह के निवासी को उन्ही का पालन करना चाहिये।[3] युधिष्ठिर को उपदेश देने के उद्देश्य से भीष्म ने कृष्ण को सम्वोधित करके कहा था, "हे जनार्दन, मैं देशधर्म, जातिधर्म एव कुलधर्म से अच्छी तरह अभिज्ञ हूँ।"[4] इस उक्ति से प्रतीत होता है कि उस काल मे सामाजिक व्यक्ति इन सव विषयो का भी अध्ययन करते थे। देशभेद के अनुसार आचार-व्यवहार मे पार्थक्य इस ग्रन्थ मे वहुत से विषयो मे पाया जाता है।

धर्म लाभ के उपाय—याग यज्ञ, अध्ययन, दान, तपस्या, सत्यवचन, क्षमा, दया एव निस्पृहा—इन आठो को धर्मलाभ के उपाय वताया गया है। वहुत से लोग समाज मे ख्याति के उद्देश्य से यज्ञ आदि शुरू करते रहते हैं। आन्तरिक इच्छा न होते हुए भी नाम की आकाक्षा से किसी तरह दिखावा करके स्वय को कृतार्थ समझते हैं। लेकिन महापुरुषो के वास्तविक धर्म तो सत्य, क्षमा, दया

---

१. शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृता वर।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना॥ शान्ति ३५।४८
शिष्टैश्च धर्मो य॰ प्रोक्तः स च मे हृदि वर्त्तते। शान्ति ५४।२०

२. जातिश्रेण्यधिवासाना कुलधर्माश्च सर्वत॰।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते। शान्ति ३६।१९
ब्राह्मणेषु च या वृत्तिः पितृपैतामहोचिता। इत्यादि। अनु १६२।२४॥

३. देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मास्तथैव च। शान्ति ६६।२९
देशाचारान् समयान् जातिधर्मान्। इत्यादि। उद्योग ३३।११८

४. देशजातिकुलानाञ्च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्द्दन। शान्ति ५४।२०॥

एव निस्पृहा हैं। इन चारो का पालन मनुष्य लोक दिखावे के लिये नही कर सकता। इनके लिये तो आन्तरिक प्रेरणा की आवश्यकता होती है।[1]

सार्वजनीन धर्म—बिना दिये दूसरे का द्रव्य न लेना, दान, अध्ययन, तपस्या, सत्य, शौच, अक्रोध, यज्ञ आदि को धर्म कहा गया है। अक्रोध, सत्यवचन, क्षमा, स्वदाररति, अद्रोह, आर्जव व भृत्यभरण ये सार्वजनीन धर्म के रूप मे ख्यात हैं। अनृशसता, अहिसा, अप्रमाद, सविभागिता, श्राद्धकर्म, आतिथेय, सत्य, अक्रोध, शौच, अनसूया, आत्मज्ञान व तितिक्षा इन्हे धर्म कहा गया है।[2]

धर्म की सार्वभौमिकता—जाति व वर्णविशेष से आचरित धर्माचरणो मे भिन्नता होते हुए भी धर्म का आन्तरिक स्वरूप व लक्ष्य एक ही है। आत्मतुष्टि, लोकविधृति तथा ऐहिक व पारत्रिक कल्याण ही धर्म का लक्ष्य है। समस्त विश्व के सुख दु.ख के साथ अपने सुख दु ख की अनुभूति को मिला देना ही महाभारत के अनुसार परम धर्म है। धर्म असल मे तो आभ्यन्तर की चीज है, बाहरी अनुष्ठान तो सहायक मात्र है वह साध्य नही होते। साध्य तथा साधन मे एकत्वबोध न हो इस उद्देश्य से कहा गया है कि—धर्म अत करण की वस्तु है, अत सर्वभूत की कल्याण-कामना ही धर्म का श्रेष्ठ आचरण है। निखिल विश्व की कल्याण कामना एव सर्वभूत मे अद्वेष रखना ही धर्म का सार है—यह सब मनीषी एकमत से स्वीकार करते हैं। स्वायम्भुव मनु ने भी अद्रोह, सत्य, दया, दम आदि को प्रधान धर्म कहा है।[3]

अहिसा व मैत्री—तुलाधारजाजलि सवाद मे जाजलि को धर्म पर उपदेश देते हुए श्रेष्ठ तपस्वी तुलाधार ने शुरू मे ही कहा है—"हे जाजलि, मै रहस्यमय सनातन धर्म से अभिज्ञ हूँ। सर्वभूत की हितचिन्ता व मैत्री ही शाश्वत धर्म है।

---

१. इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ॥ इत्यादि। उद्योग ३५।५६, ५७। वन २।७५

२. अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥ इत्यादि। शान्ति ३६।१०
शान्ति २९६।२३, २४। अनु १४१।२६, २७
अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च। इत्यादि। शान्ति ६०।७, ८।

३. मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत्। शान्ति १९३।३१
अद्रोहेणैव भूतानां यः स धर्मः सतां मतः। शान्ति २१।११, १२।

किसी का अपकार न हो, इस प्रकार जीविका निर्वाह करना उत्कृष्ट धर्म है। जो अखिल विश्व के सुहृत हैं, विश्वकल्याण मे निरत हैं, मन वचन काय से स्वय को विश्वहित मे लगाते है, वही धर्म का यथार्थ रूप जान पाते है।[1] अहिंसा ही धर्म का सार है, अहिंसा सत्य पर प्रतिष्ठित है। सर्वभूत मे मैत्री व निखिल विश्व की शुभकामना से वढकर सार्वभौमिक धर्म दूसरा नही हो सकता। एकमात्र अहिंसा की प्रतिष्ठा ही धर्म की प्रतिष्ठा है, ससार मे अहिंसा से श्रेष्ठ कुछ नही है।" वन-पर्व मे यक्ष युधिष्ठिर सवाद मे देखा जाता है कि यक्ष रूपी धर्म अपने रूप मे प्रकट होकर युधिष्ठिर से कहता है—"यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचापल्य, दान, तपस्या एव ब्रह्मचर्य यही मेरा शरीर है। अहिंसा, समता, शान्ति, तपस्या, शौच तथा अद्वेष आदि मेरी प्राप्ति के साधन हैं।[2]

धर्म की सनातनता—ब्रह्मचर्य, सत्य, दया, धृति, व क्षमा सनातन धर्म के सनातन मूलस्वरूप हैं।[3] यहाँ धर्म व उसके मूल दोनो को सनातन कहा गया है। तात्पर्य यह है कि स्थान काल की विभिन्नता से वाह्यिक धर्माचरणो मे पार्थक्य होते हुए भी इन धर्मो का मूल एक ही होता है।

प्रवृत्ति व निवृत्तिमूलक धर्म—विषय भोग मे इन्द्रियो पर सयम रखने का नाम शम है। शम सब धर्मों मे श्रेष्ठ है। यूँ तो गृहस्थ को प्रवृत्तिमूलक अनेको धर्माचरणो का उपदेश दिया गया है, लेकिन उनका उद्देश्य चित्तशुद्धि है। चित्त के विकाररहित होने पर अनुष्ठाता सार्वभौमिक धर्म का अधिकारी हो जाता है।

---

१ वेदोह जाजले धर्म सरहस्य सनातनम्।
सर्वभूतहित मैत्र पुराण य जना विदु ॥ इत्यादि। शान्ति २६१।५-९।

२. अहिंसा परमो धर्म. स च सत्ये प्रतिष्ठित । वन २०६।७४
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन। इत्यादि। शान्ति २६१।३०। अश्व ४३।२१। अश्व ५०।३।
प्रभवार्थाय भूताना धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत् स्यादहिंसासयुक्त स धर्म इति निश्चय.॥ कर्ण ६९।५७॥ अनु ११६।२१। अनु १६२।२३। शान्ति १०९।१२।
यश· सत्य दम शौचमार्जव ह्रीरचापलम्। इत्यादि॥ वन ३१३।७, ८।

३ ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृति क्षमा।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम्॥ इत्यादि।
अश्व ९१।३३। अनु २२।१९॥

शम दम आदि धर्म साक्षात मुक्ति के हेतु है। इनका पालन वानप्रस्थी तथा भिक्षुओ के लिये कल्याणप्रद है।[1]

धर्म का पथ सच्चा व सीधा--धर्म अधर्म के बारे सोचने के लिये सर्वप्रथम भलाई तथा बुराई पर दृष्टि डालनी पडेगी। जिस आचरण से बुराई को प्रश्रय मिलता हो वह कभी धर्म नही हो सकता। धर्म मे पाप या अन्याय की गध भी नही रह सकती। निष्कलुष कपटरहित व्यवहार को अनुष्ठेय तथा मन की सद्वृत्तियो के अनुशीलन को सार्वभौमिक धर्म की सज्ञा दी जा सकती है।

धर्म मे छल या कुटिलता का स्थान नहीं--धर्म मे कुटिलता का स्थान नही होता, इसीलिये सरलता को अनन्य धर्म के रूप मे स्वीकार किया गया है।[2] एक दिन रात को किसी विशिष्ट कारणवश अर्जुन को युधिष्ठिर व द्रौपदी के शयनकक्ष मे जाना पडा। वाद मे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार वनगमन के उद्देश्य से उन्होने युधिष्ठिर से अनुमति माँगी। युधिष्ठिर बोले, "तुमने तो कोई गलती नही की है, क्योकि वडे भाई के शयनकक्ष मे छोटे भाई के प्रवेश करने मे कोई दोष नही है। हाँ, कनिष्ठ के शयनकक्ष मे ज्येष्ठ का प्रवेश निषिद्ध है, अत तुम धर्मच्युत होने की आशका मत करो।" अर्जुन ने जवाव दिया, "राजन, छलपूर्वक धर्म की रक्षा नही करनी चाहिये--यह आप ही का तो उपदेश है। हम लोगो ने दूसरी तरह की प्रतिज्ञा कर रखी है, मैं उसका उल्लघन नही करूँगा, आप मुझे वन मे जाने की अनुमति दीजिये।"[3]

---

१. शमस्तूपरमो धर्मः प्रवृत्तः सत्सु नित्यशः।
गृहस्थानां विशुद्धानां धर्मस्य निचयो महान्॥ इत्यादि। अनु १४१।७०। अनु २२।२४
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते।
तमहं वर्त्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम्। अनु १४१।७६
निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे देवि तत्त्वतः॥ अनु १४१।८०

२. आरम्भो न्याययुक्तो यः स हि धर्म इति स्मृतः। इत्यादि। वन २०६।७७। शान्ति १०९।१०
आर्जवं धर्ममित्याहुरधर्मो जिह्म उच्यते। अनु १४२।३०
स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति। शान्ति १४१।७६।

३. न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भरतः श्रुतम्। आदि २१३।३४।

धर्माचरण के फल मे अनासक्ति की प्रशंसा—फल की तरफ से अनासक्त रहकर जो व्यक्ति धर्म का पालन करता है, वही प्रकृत धार्मिक होता है। इस अनासक्ति की वहुत प्रशसा की गई है।[1]

सशय होने पर ज्ञानियो का उपदेश ग्राह्य—धर्म के विषय मे शका उठने पर ज्ञानी व्यक्तियो के उपदेशानुसार कार्य करना चाहिये। दस वेदज्ञ अथवा तीन धर्म-पाठक जिस आचरण को धर्म मानें वही शकाशील व्यक्ति को मानना चाहिये। आपद्काल मे अधर्म को भी धर्म के रूप मे स्वीकार करना पडता है।[2] अत सशय उपस्थित होने पर ज्ञानियों का उपदेश ग्रहण करना ही उचित है।[3]

धर्म का परस्पर अविरोध—एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ विरोध नही हो सकता। मानसिक सद्वृत्तियो का एक दूसरे के साथ सामञ्जस्य होना ही धर्म का असली स्वरूप है। दया के साथ क्षमा का कोई विरोध नही होता। अहिंसा और सहिष्णुता मे कोई असामञ्जस्य नही है। और अगर कभी ऐसी परिस्थिति आ ही जाय तो युक्ति तर्क आदि के द्वारा एक दूसरे के महत्त्व का निर्णय करना चाहिये। जो अधिक महत्त्वपूर्ण हो उसी को ग्रहण करना उचित है।[4]

धर्म का व्यापारी अतिशय निन्दित—धर्म को जो व्यक्ति वाणिज्य का साधन समझता है, वह निन्दा का पात्र होता है। धर्म का दिखावा करके, वक्तृता करके अथवा पाखड आदि के द्वारा धनोपार्जन करने को ही धर्म-वाणिज्य कहते हैं।[5]

धर्म को लेकर बलवानो का अत्याचार—इस काल मे भी धनी व्यक्ति अधर्म को धर्म के रूप मे मनवाने के लिये जोर जबर्दस्ती करते थे। अविवेकी बलवानो का अत्याचार हर युग मे समान रहा है।[6]

---

१. ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत। वन ३१।२

२. दश वा वेशदास्त्रज्ञोस्त्रयो वा धर्मपाठका ।
यद् ब्रूयु कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसशये।। शान्ति ३६।२०
तस्मादापद्यधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षण·।। शान्ति १३०।१६

३ न हि धर्ममविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य च।।
धर्मार्थौ वेदितु शक्यौ वृहस्पतिसमैरपि।। वन १५०।२६

४ धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्म· कुवर्त्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्म· स धर्म सत्यविक्रम।। इत्यादि। वन १३१।११-१३

५. धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो ब्रह्मवादिनाम्। वन ३१।५
धर्मवाणिज्यका ह्यते ये धर्ममुपभुञ्जते। अनु १६२।६२

६. सर्वं वलवतां धर्म सर्वं वलवता स्वकम्। आश्र ३०।२४
वलवाश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पुरुषः। सभा ६९।१५।

धर्म में गुरु की सहायता—धर्म के विषय मे किसी आदर्श पुरुष को गुरु बना लेना चाहिये। उनके कथनानुसार चलने से पथभ्रष्ट होने की आशका नही रहती। जो विना गुरु के बताये अपने मन से ही आचरण करते हैं वह बहुत बार भूल कर बैठते है, इसलिये किसी को गुरु बनाना बहुत जरूरी है। जो मनुष्य गुरु के अधीन रह कर धर्माचिरण करता है वह कभी विपन्न नही होता। उपदेष्टा उसे ठीक पथ पर परिचालित करता रहता है।[1]

अकेले ही धर्माचरण करने का विधान—धार्मिक अनुष्ठान एकान्त मे अकेले ही करने का उपदेश दिया गया है, सघबद्ध होकर धर्माचरण करना उचित नही बताया है। मिल-जुलकर उपासना आदि करने मे लोकदिखावे का भाव आ सकता है और उसमे नाम की प्रत्याशा के कारण पुण्य का क्षय होता है अत जहाँ तक बने एकान्त मे ही सब क्रियाएँ करनी चाहिये। जो दिखावा करते है, उन्हे यश मिलने की थोडी बहुत आशा होती ही है, ऐसे व्यक्ति को धर्मध्वजिक कहते है। धर्म की पताका उडाकर समाज मे धर्मज्ञ के रूप में ख्याति प्राप्त करना तथा आनुषगिक रूप से धर्म को जीविका का साधन बनाना जघन्य कर्म है। प्रकट रूप मे धर्मध्यान करने पर साधारण लोग धार्मिक कहकर आदर सत्कार करने लगते हैं और तब उस व्यक्ति मे अह की भावना का उदय होना अस्वाभाविक नही है। सम्मान की विडम्बना से अपनी रक्षा करना दुर्बल मनुष्य के लिये आसान नही है। इसीलिये शायद सगठित होकर धर्मानुष्ठान करने को निषिद्ध बताया है। औचित्यबोध होने पर ही धर्म का पालन करना चाहिये, अभिमान पोषण के लिये नही।[2]

देश काल की विवेचना से आचार मे परिवर्तन—देश काल आदि के अनुसार जब जैसी परिस्थिति हो, आचार व्यवहार मे इधर-उधर थोडा परिवर्त्तन कर लेना अनुचित नही है। शान्तिपर्व के आपद्धर्म प्रकरण मे कहा गया है कि परिस्थिति के अनुसार धर्मकृत्य मे परिवर्तन कर लेना चाहिये, लेकिन व्यक्ति के स्वैराचार को कही उचित नही बताया है। अहिंसा, सत्य, अक्रोध आदि समय विशेष पर

---

१. यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते॥ इत्यादि। शान्ति ९२।१८, १९

२. एक एव चरेद्धर्मं नास्ति धर्मे सहायता। इत्यादि। शान्ति १९३।३२। शान्ति २४४।४
एक एव चरेद्धर्मं न धर्मध्वजिका भवेत्। अनु १६२।६२।
कर्तव्यमिति यत् कार्यं नाभिमानात् समाचरेत्। वन २।७६।

अधर्म का रूप ले लेते हैं। उस समय हिंसा आदि को ही धर्म समझकर अपनाना चाहिये।[1]

धर्म कभी भी परित्याज्य नहीं—मनुष्य को कभी भी धर्म का परित्याग नही करना चाहिये, यही महाभारत का उपदेश है। कैसी भी विपत्ति क्यो न आये धर्म छोडना सगत नही है। यहाँ तक कहा है कि यदि जीवन बचाने के लिये धर्म का त्याग करना पडे तो वह जीवन मृत्यु के ही समान है।[2]

धर्म ही रक्षक—धर्म मनुष्य की विपत्ति से रक्षा करता है। पापो का नाश करके शान्ति का आस्वाद देता है।[3]

धर्मपालन का उपदेश—धर्मपालन के इतने उपदेश महाभारत मे मिलते है कि अगर उन्हे सकलित किया जाय तो हजारो की सख्या मे पहुँचेंगे। कहा है, धर्म से श्रेष्ठ लभ्य वस्तु ससार मे और कोई नही है। धर्म मनुष्य की हर इच्छा पूर्ण करता है।[4] धर्म रक्षा करता है और अधर्म विनाश अतएव कल्याणेच्छु व्यक्ति को धर्म मे मन लगाना चाहिये।[5] परलोक मे पुण्यफल से ही शान्ति की प्राप्ति होती है। मृत्यु के बाद कोई पार्थिव वस्तु साथ नही जाती, धर्म ही आत्मा का साथी होता है।[6] धर्मपालन के लिये धन की कोई आवश्यकता नही होती। धर्म के उद्देश्य से जो धन की अभिलाषा करते हैं, उनके लिये निस्पृह रहना ही श्रेय है।[7] गृहस्थ हो या सन्यासी, प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी तरह का धर्माचरण करना ही चाहिये। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के भेद से धर्म मे विभिन्नता होते हुए भी अनुष्ठान की उपयोगिता है।[8]

---

१. धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृत । शान्ति ३६।११।

२. न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः। इत्यादि। उद्योग ४०।१२। स्वर्गा ५।६४
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकाक्षया। शान्ति २९२।१९

३. धर्मेण पाप प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य सिद्धि । उद्योग ४२।२५

४. न धर्मात् परमो लाभः। अनु १०६।६५

५. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित । वन ३१२।१२८।

६. धर्म एको मनुष्याणा सहाय पारलौकिक.। इत्यादि। अनु १११।१६। शान्ति २७२।२४

७ धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वर तस्य निरीहता। वन २।४९

८. वन २ रा अध्याय

यतो धर्मस्ततो जय——जहाँ धर्म है वही जय है।[1] इस वाक्य को महाभारत का मूल सूत्र कहा जा सकता है। इस वाक्य को सूत्र मानकर ही मानो सम्पूर्ण महाभारत भाष्य के रूप मे रचा गया है। धर्म का दिखाना तथा धर्म की जय और अधर्म का विनाश इसका प्रचार करना ही महाभारत का उद्देश्य है। यतो धर्मस्तत कृष्णो यत कृष्णस्ततो जय। (उद्योग ६।८९। शल्य ६२।३२)।

भारत सावित्री में धर्म की महिमा का गुणगान——महाभारत के उपसहार मे वर्णित भारत सावित्री भी धर्म के माहात्म्यवर्णन से भरपूर है। व्यासदेव ने शुरू मे जो चार श्लोक शुकदेव को सिखाये थे, उनमे से एक मे कहा गया है कि, "मैं ऊर्ध्वबाहु होकर स्पष्ट शब्दो मे घोषणा करता हूँ कि, धर्म से ही अर्थ व काम की उत्पत्ति होती है, लेकिन किसी ने कर्णपात तक नही किया।"[2] सुख दुख अनित्य वस्तु है, लेकिन धर्म नित्य है। अनित्य के लिये नित्य का त्याग करना बुद्धिमान पुरुष का काम नही है।[3]

धर्म जिस प्रकार अर्थ व काम का जनक है उसी प्रकार मोक्ष का भी हेतु है, यह पहले ही कहा जा चुका है। शुभकर्मा मनुष्य शान्ति प्राप्त करने मे समर्थ होता है। बार बार के अभ्यास से उसकी प्रज्ञा बहुमुखी होती है, अशुभ भावनाएँ उसके अन्तर मे नही रह पाती। रूप, रस, गध, स्पर्श आदि उपभोग्य वस्तुएँ धर्मज्ञ के अधीन होती है, वह यथेच्छ रूप से इनका उपभोग कर सकता है। लेकिन भोग से मनुष्य को चरम शान्ति नही मिलती, इसलिए भोग के बाद उन्हें त्याग का पथ ढूँढना पडता है। अत मे वे इच्छारहित होकर वैराग्य धारण कर लेते हैं। यह वैराग्य उनके जीवन की गति को ही बदल देता है। तब वे कामनाओ का त्याग करके धर्माभिमुख हो जाते हैं, जीवन की अनित्यता के सबध मे उनकी धारणा सुदृढ हो जाती है और वे मुक्ति के लिये व्याकुल हो उठते है। यही व्याकुलता उन्हे सब बधनो से मुक्त कर देती है और वे शाश्वत मुक्ति के आनन्द से पूर्णकाम होकर अपने रूप मे अवस्थित हो जाते है।[4]

---

१. भीष्म २१।११। उद्योग ३९।९। स्त्री १४।९

२. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते। स्वर्गा ५।६३॥

३. नित्यो धर्मः सुखदुःखेत्वनित्ये। स्वर्गा ५।६४। उद्योग ४०।१२

४. कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते।
य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति॥ इत्यादि। शान्ति २७२।१३-२३
धर्मे स्थिताना कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती। शान्ति २७२।२४

समाज भेद से धर्मभेद—विभिन्न समाजो मे धर्म के विभिन्न रूप हैं। मनुष्य चाहे किसी भी समाज मे क्यो न रहे, कुछ निर्दिष्ट नियमो का पालन उसे हर हालत मे करना चाहिए। महाभारत मे किरात आदि पर्वतीय जाति तथा दस्यु आदि का धर्म वर्णित हुआ है। उनके वहुत से धार्मिक नियम सभ्य समाज के नियमो से मिलते हैं।

दस्यु आदि का धर्म—मान्धाता ने देवराज इन्द्र से पूछा—"भगवन्, मेरे राज्य मे यवन, किरात, गाधार, चीनी, शवर, शक, तुषार, कक, पह्लव, आध्र, मद्रक, पौंड्र, पुलिन्द, रमठ, कम्वोज आदि जातियो के वहुत से लोग हैं। उनमे व्राह्मण आदि चारो वर्णों के लोग है। वहुत से दस्यु भी मेरे राज्य मे रहते हैं, मुझे वताइये मैं उनके लिये कौन सा धर्म स्थिर करूँ।" इन्द्र ने उत्तर दिया—"माता-पिता की सेवा दस्युओ के लिए भी जरूरी है। पितृयज्ञ का अनुष्ठान, प्याऊ, हौज, आदि वनवाना, अहिंसा, सत्य, पुत्र, दारा आदि का भरण-पोषण, इन्हें सामान्यत मानवधर्म कहा जाता है। अत दस्युओ को भी इनका पालन करना चाहिये।"[1] आपद्धर्म प्रकरण मे कहा गया है, दस्यु भी साधुजीवन व्यतीत कर सकते हैं। निरस्त्र को मारना, स्त्रियो का सतीत्व हरण करना, कृतघ्नता आदि सर्वथा वर्जनीय हैं। व्राह्मण का धन छीनना या किसी का सर्वस्व हरण करना उचित नही है। किसी जनपद पर आक्रमण करके लूटपाट मचाना जघन्य कर्म है।[2]

दस्यु धर्म का भी उद्देश्य महान्—कहा गया है कि कायव्य नामक एक दस्यु सरदार ने दस्युधर्म द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। एक दिन उसके दल के लोगो ने उससे दस्यु धर्म के वारे मे प्रश्न किया। उसने कहा, स्त्री, वालक, तपस्वी, निरस्त्र व्यक्ति एव भीरु की कभी हत्या नही करनी चाहिये। स्त्रियो पर हाथ नही उठाना चाहिये, केवल धर्मरक्षा के निमित्त ही दस्यु वृत्ति अपनानी चाहिए। व्राह्मण तथा तपस्वी की हितकामना करनी उचित है। पितर, देवता तथा अतिथि की पूजा करना कर्त्तव्य है। जो साधु पुरुष को कष्ट पहुँचाता हो, उसे सजा देना दस्युधर्म है। जिसका धन सत्कार्यों मे न लगता हो, उसकी सम्पत्ति के हरण करने मे कोई पाप नही है। असाधु से धन छीनकर साधु पुरुष का पोषण करना धर्मकृत्य है।"[3]

---

१. शान्ति० ६५ वाँ अध्याय।

२. अयुध्यमानस्य वधो दारामर्ष कृतघ्नता।
व्रह्मवित्तस्य चादान नि शेषकरणं तथा॥ इत्यादि॥ शान्ति १३३।१५-१८

३ मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरु मा शिशुं मा तपस्विनम्। इत्यादि। शान्ति १३५।१३-२४।

साधुता के उद्देश्य से जो भी किया जाय धर्म है—इन वर्णनो से स्पष्ट होता है कि मानव समाज के कल्याण के उद्देश्य से चाहे कुछ भी किया जाय, धर्म है। धर्म के सबध मे नियम नही बाँधे जा सकते। स्थान, काल व पात्र के भेद धर्म के विभिन्न स्वरूप होते हैं। किन्तु उद्देश्य अच्छा होना चाहिए। जिस कार्य का उद्देश्य भला हो वह जघन्य कार्य होने पर भी अधर्म नही है।

युगधर्म—वनपर्व के हनुमद्भीम सवाद एव मार्कण्डेय युधिष्ठिर सवाद से पता चलता है कि सत्ययुग मे धर्म ही मनुष्य का प्रधान अवलम्बन था। ईश्वर के साथ मनुष्य का सबध ही सत्ययुग का सूचक है। जब भी मनुष्य व ईश्वर का यह सबध दृढ हो जाय वही युग सत्ययुग है। त्रेता युग मे धर्म के एक चरण का ह्रास हो गया था, तो भी वह अपेक्षाकृत अच्छा था। उसमे भी मनुष्य स्वधर्म मे रत रहते थे। द्वापर युग मे धर्म का आधा हिस्सा रह जाने के कारण मनुष्य करीब करीब सत्यभ्रष्ट हो गया था। कलियुग मे धर्म का एक चरण ही वाकी रह जाता है, मनुष्य की प्रकृति कलुषित हो जाती है। नाना प्रकार की आधि-व्याधियाँ दिखाई देती हैं, मनुष्य जीवन अशान्त और अस्थिर हो जाता है।[१] युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे मार्कण्डेय मुनि ने कहा है, कलियुग मे बहुत से लोग धर्म का ढोग करके जनसाधारण को ठगेगे। थोडा लिख-पढ लेने पर ही अहकारी हो जायेगे, यज्ञ आदि विलुप्त हो जायेंगे। स्वेच्छाचारी मनुष्य अपने मतलब के अनुसार किसी भी आचरण को धर्म कहकर, उसका पालन करेगा।"[२]

धर्म का आदर्श और साध्य—वाहरी आचरण हर युग मे ही भिन्न होता है। लेकिन धर्म का लक्ष्य एव मन की प्रशस्तता देश और काल के द्वारा सीमाबद्ध नही होती यह पहले ही कहा जा चुका है। यदि समस्त सद्वृत्तियो को धर्म के रूप मे स्वीकार किया जाय तो कहा जायगा कि महाभारत मे वर्णित धर्म अविनश्वर, निर्मल, सार्वजनीन एव सार्वभौमिक है। जिस धर्म का लक्ष्य विश्वकल्याण हो, उसमे सकीर्णता को स्थान नही मिलता। अनुष्ठेय धर्म प्रधानत आत्मशुद्धि के साधन हैं, अनुष्ठाता के साध्य नही। आत्मशुद्धि मनुष्य को महत् से महत्तर आदर्श की ओर अनुप्राणित करती है और अत मे अनुष्ठाता को अपना साध्य मिल जाता है। इसी कारण कहा गया है. 'नित्यो धर्म सुखदु.खे त्वनित्ये।"

असाधुभ्याऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥ शान्ति १३६।७

१. वन १४९ वां अध्याय। वन १९०।९-१२

२. वन १८८ वां अध्याय तथा १९० वां अध्याय

सत्य

सत्य वाङमय तपस्या—महाभारत मे कहा गया है कि सत्य भी एक प्रकार की तपस्या है। अनुद्वेग, सत्य, प्रिय तथा हितवचन को वाङमय तपस्या बताया है।[1] तपस्या का फल आत्मतृप्ति तथा भगवद्दर्शन है। वाङमय तपस्या का भी वही फल मिलता है। सत्यनिष्ठा से आत्मतुष्टि मिलती है, इस विषय पर सब शास्त्र एकमत हैं।[2]

सत्य ही सब धर्मों का मूल—सत्य क्या है, किस उपाय से उसे प्राप्त किया जा सकता है एव कैसे उसकी रक्षा की जाय, यह प्रश्न युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा था। भीष्म ने उत्तर दिया था, "सत्य साधुओ का परम धर्म है, सत्य सनातन धर्म है, सदा सत्य की सेवा करनी चाहिए। सत्य ही धर्म है, सत्य ही योग है, सत्य ही ब्रह्म है। सत्य की उपासना ही यागयज्ञ है।"

तेरह प्रकार के सत्य—सत्य तेरह प्रकार के हैं, जैसे—(क) सत्य—सत्य अविकारी, अक्षय एव नित्य है, किसी भी धर्म के साथ उसका विरोध नही होता। सब धर्मों के अनुकूल आचरण का नाम सत्य है, यही सत्य का असली स्वरूप है। प्रकृत सत्य चिरकाल तक एक समान रहता है, स्थान या काल के द्वारा परिच्छिन्न नही होता। इसीलिये कहा गया है, जहाँ धर्म है वहाँ सत्य है। सत्य के द्वारा समस्त वस्तुएँ स्वीयरूप लाभ करती हैं।[3] (ख) समता—इष्ट, अनिष्ट, शत्रु, मित्र सबके साथ समान व्यवहार करना एव सब पर समान भाव रखना ही समता है। यह भी एक प्रकार का सत्य है। (ग) दम—न राग हो न द्वेष, इस प्रकार की अवस्था भी एक प्रकार का सत्य है। इस सत्य को 'दम' कहा जाता है। काम, क्रोध आदि रिपु जिसका कुछ न विगाड सकें, जो स्वनिष्ठ, गम्भीर, महिमावान हो, वही सत्य का उपासक है। (घ) अमात्सर्य—दान एव धर्मकार्यो मे सयम और

---

१. अनुद्वेगकर वाक्यं सत्य प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ भीष्म ४१।१५

२. सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षर तप । इत्यादि। शान्ति १९९।६४-७०
नास्ति सत्यसम तपः। शान्ति ३२९।६

३ यतो धर्मस्ततः सत्य सर्वं सत्येन वर्द्धते। शान्ति १९९।७०

असूया रखने को अमात्सर्य कहते है। इसकी गिनती भी सत्य मे आती है। (ङ) क्षमा—क्षमा के असख्य गुण हैं। साधु, क्षमाशील व्यक्ति ही सत्यनिष्ठ होता है। अत क्षमा भी सत्य है। (च) ह्री—शुभ अनुष्ठान मे निरत मनुष्य कभी भी विपन्न नही होता, वह प्रशान्तचित्त तथा उदारमन रहता है। धर्माचरण के द्वारा वह नम्र बनता है। (छ) तितिक्षा—तितिक्षा शब्द का अर्थ सहिष्णुता होता है अर्थात् सुख दु.ख हर अवस्था मे समभाव रहना। तितिक्षा के द्वारा सत्यकामी पुरुष लोगो को आकृष्ट करने मे समर्थ होता है। (ज) अनसूया—सर्वभूत की हितकामना करना ही अनसूया है, वह भी सत्य के अन्तर्गत है। (झ) त्यागानु-सन्धान—विषय भोग के प्रति मन के आकर्षण को कम करने की चेष्टा करना ही त्यागानुसधान है। जो विषयो से विरत होते हैं वही त्याग के आनन्द का अनुभव कर पाते है। (ञ) आर्यता—आर्यता शब्द का अर्थ है सर्वभूत की शुभकामना एव शुभानुष्ठान करना। जो वीतराग व्यक्ति आर्यता का उपासक हो उसे भी सत्य का उपासक कहा जा सकता है। (ट) धृति—सुख दु ख मे धैर्य रखना ही धृति है। हर अवस्था मे धैर्य रखने वाला व्यक्ति सत्य से विचलित नही होता। (ठ) दया—दया भी सत्य का एक प्रकार है। (ड) अहिंसा—मन-वचन-काय से हर प्राणी के प्रति अहिंसा का भाव रखना एव विश्वकल्याण की कामना करना अहिंसा है। यह भी सत्य के अन्तर्गत है। ये तेरह प्रकार के सत्य एक महान् आदर्श की परिपुष्टि करते है। वह आदर्श ही यथार्थ सत्य है और उल्लिखित तेरह सद्-गुण उसके व्यष्टि रूप आदर्श है। समष्टि रूप सत्य ही महासत्य है।[1]

सत्य सब सद्गुणो का अधिष्ठान—सत्य के गुणगान का अत करना असभव है। सत्य से बडा कोई धर्म नही है एव असत्य से बडा पाप नही। सत्य ही धर्म की स्थिति है, कभी भी सत्य को अस्वीकार नही करना चाहिए।[2] पूर्वोल्लिखित भीष्म वाक्य मे सत्य शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक रूप मे किया गया है, सब सद्-गुणो के मूल मे सत्यनिष्ठा ही होती है।

सत्य शब्द का साधारण अर्थ—यथार्थ वचन—यद्यपि सत्य शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है किन्तु साधारण अर्थ मे यथार्थ वचन को ही सत्य कहते हैं। पहले ही कहा गया है कि गीता के मतानुसार सत्य वाङमय तप स्वरूप है। एक और

---

१. सत्य त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत। इत्यादि। शान्ति १९२।७-२३।

२. नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्। इत्यादि। शान्ति १६२।२४

जगह कहा गया है—जो केवल सत्य बोलने के उद्देश्य से ही बात कहते हैं वे कभी विपद्ग्रस्त नही होते।[१]

सत्य की उपासना का उपदेश—श्री रुक्मिणी-सवाद मे कहा गया है, जो सदा सत्यवचन बोलते हैं, उनमे श्री का वास होता है।[२] लोकयात्रा कथन मे कहा गया है कि शुभाकाक्षी व्यक्ति को दुर्वचन, निष्ठुरवचन, पिशुनवचन (चुगली) एव असत्य वचन इन चारो का परित्याग कर देना चाहिये।[३]

प्राणिहितकर वचन ही सत्य—महाभारत मे सत्य शब्द 'यथार्थवचन' के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। जो वचन प्राणिहितकर हो तथा जिससे किसी के भी अनिष्ट की आशका न हो, वही सत्य है। अगर किसी के हित के लिये झूठ भी बोलना पडे तो वह भी सत्य है।[४]

अयथार्थ वचन भी सत्य है—मोक्षधर्म मे भीष्म ने कहा है, "आत्मज्ञान ही परमज्ञान है, सत्य से श्रेष्ठ कुछ नही है। लेकिन सत्य वचन से भी हितकारी वचन श्रेष्ठ हैं। प्राणिहितकर वचन ही सत्य है, यह मेरा अभिमत है।"[५]

सत्यासत्य की विवेचना—समयविशेष मे प्राणिहित के लिये असत्य बोलना पाप नही है, यह महाभारत मे वार-बार दुहराया गया है। परिहास मे झूठ बोलना भी दोष नही है। कामुकी-गमन की वात गोपनीय रखना अनुचित नही है। विवाह के विषय मे अर्थात् घटक के काम मे झूठ बोलना दोषयुक्त नही है। यदि सत्य बोलने से किसी की प्राणहानि की आशका हो तो उस जगह झूठ बोलना अनुचित नही है। अगर सच कहने से किसी के सर्वनाश का डर हो तो झूठ बोलना बुरा नही है। गो, ब्राह्मण, स्त्री, दीन अथवा कातर व्यक्ति के उपकार के निमित्त झूठी गवाही देना अन्याय नही है। गुरु के उपकार के उद्देश्य से अथवा अपना जीवन सकट मे पडने पर झूठ का अवलम्बन लेना ही

---

१. वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते। शान्ति ११०।२३

२ सत्यस्वभावार्जवसयुतासु। इत्यादि। अनु ११।११।

३. असत्प्रलाप पारुष्य पैशुन्यमनृत तथा। अनु १३।४

४ यद्भूतहितमत्यन्त तत् सत्यमिति धारणा। इत्यादि। वन २०८।४ वन २१२।३१

५. आत्मज्ञानं पर ज्ञान न सत्याद्विद्यते परम्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्य मत मम॥ इत्यादि। शान्ति ३२९।१३ शान्ति २८७।२०

उचित है।[1] अपनी या दूसरे की प्राणरक्षा के निमित्त झूठ बोलना भी पाप नही होता।[2]

दूसरे का अनिष्टकारी सत्य भी असत्य—हर समय सत्य बोलना उचित नही होता। अच्छी तरह सोच-विचारकर ही सच बोलना चाहिए। प्राणसकट, विवाह, सर्वनाश, रतिगमन एव विप्र की प्राणरक्षा के निमित्त झूठ बोलना ही उचित है। हर अवस्था मे सत्य बोलने के पक्षपाती को सत्यवादी नही कहा जा सकता। सत्यासत्य का निर्णय अच्छी अतर् विवेचना के बाद करना चाहिए।[3]

कौशिकोपाख्यान—दूसरे के लिये अनिष्टकारी सत्यवचन को बुरा बताने के उद्देश्य से एक उपाख्यान भी प्रमाणस्वरूप दिया गया है। यह कहानी कृष्ण ने अर्जुन को सुनाई थी। कथा इस प्रकार है—कौशिक नामक एक ब्राह्मण गाँव के निकट नदी किनारे आश्रम बनाकर रहता था। उसने सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी। एक बार कुछ पथिक दस्युओ के भय से प्राणरक्षा के निमित्त आश्रम के निकट वन मे छुप गये। दस्यु भागते हुए पथिको का पीछा करते-करते आश्रम मे पहुँचे। उन्होने कौशिक से उन पथिको के बारे मे पूछा। कौशिक ने जहाँ पथिक छुपे हुए थे वह जगह दस्युओ को बता दी। दस्युओ ने पथिको को मारकर उनका सर्वस्वहरण कर लिया। सच बोलने के पाप से कौशिक को मृत्यु के बाद घोर नरक मे जाना पडा। अत यथार्थ भाषण ही सत्य नही है। प्राणिहित के उद्देश्य से जो कुछ भी कहा जाय, सत्य है।[4]

सत्य व धर्म का घनिष्ठ सम्पर्क—सत्य एव धर्म मे घनिष्ठ सम्पर्क है। एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व नही रह पाता। जिस आचरण मे सत्य का अभाव हो, वह धर्माचरण नही कहलाता। जिससे उत्तरोत्तर वृद्धि हो वही धर्म है। अहिसा, अपीडन, आदि के अनुरोध से यदि असत्यपालन का आश्रय लेना पडे तो उसे भी धर्म के रूप मे स्वीकार करना पडता है। सर्वभूत का कल्याण जिसमे निहित हो, वही सत्य है और सत्य जिस आचरण का अगीभूत हो वही आचरण धर्म है। धर्म

---

१. न धर्मयुक्त वचनं हिनस्ति। इत्यादि। आदि ८२।१६, १७। वन २०८।३
न गुर्वर्थं नात्मनो जीवितार्थे। इत्यादि। शान्ति १६५।३०। शान्ति १०९ वाँ अध्याय।

२. सत्याज्ज्यायोऽनृत वचः। इत्यादि। द्रोण १८९।४७

३ सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्। कर्ण ६९।३१-३६।

४. कर्ण ६९ वाँ अध्याय।

और सत्य को पृथक करके व्यष्टिरूप मे नही देखा जा सकता, वे दोनो परस्पर सवद्ध हैं।[१]

शखलिखितोपाख्यान—शख व लिखित के उपाख्यान से सभी परिचित हैं। सत्य की मर्यादा की रक्षा करने के निमित्त शख ने सामान्य-सी वात पर सहोदर भाई को कठिन दड देकर आत्मशोधन किया था।[२]

सत्यवचन की प्रशसा—महाभारत मे सत्य की प्रशसा शतमुख से की गई है। उमामहेश्वर-सवाद मे कहा गया है कि जो सत्यधर्म मे रत हैं, उन्हें स्वर्गलोक मे स्थान मिलता है। जो परिहास मे भी झूठ नही वोलते, जीविकानिर्वाह के निमित्त या अन्य किसी कारण से झूठ नही वोलते वे स्वर्ग मे जाते है। जो कभी कुटिलता का साथ नही देते, निष्ठुर या कटुवचन मुख पर नही लाते, सत्य एव मैत्र भाषण को ही जीवन के व्रतरूप मे ग्रहण करते हैं, उन्हे स्वर्ग मे जगह मिलती है।[३]

वाचिक तथा मन.सत्य—जो मन सत्य का पालन करते है, वे भी सत्य के अधिकारी होते है। अरण्य मे या विजन स्थान मे पडा धन देखकर भी जो विचलित न हो, जिसका सब पर मैत्री भाव हो, जो श्रद्धाशील हो, पवित्र एव सत्यनिष्ठ हो, वह महापुरुप स्वर्ग मे स्थान पाता है। वह अपने सुदीर्घ जीवन मे शुभ अनुष्ठान करता रहता है। उसके लिये शत्रु मित्र एक समान होते है।[४]

सत्य का फल अश्वमेध यज्ञ से भी अधिक—सत्य का पुण्य सहस्र अश्वमेध यज्ञो से भी अधिक होता है। सत्य की महिमा से ही सूर्य आलोक प्रदान करता है, अग्नि प्रदीप्त होती है, वायु प्रवाहित होती है। सारा विश्व सत्य मे प्रतिष्ठित है। सत्य की उपासना से देव और पितर तृप्त होते है। सत्य सव धर्मो का सार है। मुनिगण सत्यपरायण व सत्यविक्रम होते हैं। सत्यव्रत, सशितचित्त महापुरुष अनन्त सुख के अधिकारी होते है। सत्यभ्रष्ट व्यक्ति के सब अनुष्ठान, आयोजन व्यर्थ होते हैं। चित्तशुद्धि, सत्यप्रीति एव यज्ञ का फल एक ही होता है।[५]

---

१. नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति। उद्योग ३५।५८
प्रभवार्थाय भूताना धर्मप्रवचन कृतम्। शान्ति १०९।१०

२. शान्ति २३ वां अध्याय।

३. सत्यधर्मरता सन्त सर्वलिंगविवर्जिता। इत्यादि। अनु १४४।५-२७

४. अरण्ये विजने न्यस्त परस्व दृश्यते यदि।
मनसापि न हिंसन्ति ते नरा. स्वर्गगामिन.। इत्यादि। अनु १४४।३१-५२।

५. अश्वमेधसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया धृतम्।

सत्य ब्रह्मप्राप्ति का साधन—सत्य ही ब्रह्मप्राप्ति का प्रधान साधन है। प्रज्ञा-हीन व्यक्ति को ब्रह्मत्व नही मिलता। प्रज्ञा, सत्य पर आधारित होती है। अतएव सत्य ही प्रमुख साधन है। सनत्कुमार ने धृतराष्ट्र से कहा है—"महाराज, सत्य मे अमृत प्रतिष्ठित है, सत्य ही समस्त सद्‌गुणो का मूल है, सत्य से ही तीनो लोक-रक्षित है, आप भी सत्यकाम बनिये।"[1]

सत्य द्वारा मिथ्यावादी भी पराजित होता है—सत्य के सामने सिर झुकाने को मिथ्यावादी पुरुप भी बाध्य होता है। मिथ्या की तरह मिथ्यावादी को जीतने के लिये भी प्रधान अस्त्र सत्यवचन है।[2]

सत्य के विषय मे भीष्म के अन्तिम वचन—पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर को लौकिक अलौकिक हर विषय पर उपदेश दिया है। महाभारत मे युधिष्ठिर मानो मानव समाज के प्रतिनिधि हैं और भीष्म ज्ञान-विज्ञान के भडार। मनुष्य के मन मे जितने भी प्रकार के प्रश्न उठ सकते है वे सब ग्रथकर्त्ता ने युधिष्ठिर के मुँह से पुछवाये हैं, बाकी कोई नही छोडा। भीष्म ने भी एक के बाद एक का उत्तर दिया है। शरीर त्यागने के पूर्व क्षण मे भी उन्होने सबको उपदेश दिया है। "तुम सब सत्य का आश्रय लेना, सत्य ही परम बल है।"[3] यही उनका अतिम उपदेश था।

सत्य में कपट घृण्य—सत्य मे कपट कभी नही होता। सत्य सदा सत्य होता है। चुगली का भाव आते ही उसका महत्त्व खत्म हो जाता है।[4]

हतो गज इति—कुरुक्षेत्र के युद्ध मे आत्मपक्ष बचाने के लिये सत्यसकल्प होते हुए भी युधिष्ठिर ने छल से द्रोणाचार्य-वध मे सहायता की थी। उनके जीवन के कलको मे यह भी एक था। झूठ को सत्य के आवरण मे छिपाने से जो आत्म-

---

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥ इत्यादि। आदि ७४।१०३-१०६, अनु ७५।३०-३५

तुल्यं यज्ञश्च सत्यञ्च हृदयस्य च शुद्धता। अनु १२७।१८

१. सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः। इत्यादि। उद्योग ४२।४६
सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम्। उद्योग ४३।३७

२. जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनानृतवादिनम्।
क्षमया क्रूरकर्माणमसाधुं साधुना जयेत्। वन १९४।६

३. सत्येषु यतितव्य वः सत्यं हि परमं बलम्॥ अनु १६७।४९

४. न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्। उद्योग ३५।५८

ग्लानि होती है, वह नरक की यन्त्रणा के समान है। युधिष्ठिर को भी जीवनपर्यन्त यह ग्लानि वहन करनी पडी। उनके इस कपट का फल स्वर्गारोहण पर्व मे विशद-रूप से वर्णित है। अत मे उन्हे नर्कगामी ही वनना पडा।[1]

१. द्रोण १८९ वां अध्याय।
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव। स्वर्गा ३।१५

देवता

देवता का स्वरूप—देव एक प्रकार की उन्नत श्रेणी के जीव होते है। उनकी सामर्थ्य मनुष्य से कही अधिक होती है, वे परब्रह्म की समृद्धि से समृद्ध होते है। श्रीमद्भगवतगीता के विभूतियोग मे श्रीकृष्ण ने कहा है, "आदित्यगणो मे मैं विष्णु, ज्योतिष्को मे रवि, मरुद्गणो मे मरीचि एव नक्षत्रो मे शशि हूँ।" अध्याय की समाप्ति पर कहा है, "ससार मे जितनी वस्तुएँ विभूतिसम्पन्न, श्रीसम्पन्न एव तेजस्वी है उन सबको मेरे तेज के अश से सृष्ट समझना।"[1]

ईश्वर के बल से बलवान—इन उद्धरणो से पता चलता है कि इन्द्र, चन्द्र, वरुण आदि देवता ईश्वर की शक्ति से ही शक्तिशाली है। देवताओ की अलौकिक क्षमता भी परमेश्वर की क्षमता से पृथक् नही है।

उपासको के लिये उनका देवता ही परमेश्वर—दूसरी ओर दृष्टि डालने पर हम महाभारत मे देखते है कि उपासक अपने देवता को परमेश्वर समझकर उपासना करते थे। परमेश्वर तथा उपासक के देवता मे क्या अतर है, यह समझ मे नही आता। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने इष्ट देवता को परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप समझता था। गीता मे भगवान ने कहा है—"कोई भक्त चाहे किसी भी मूर्ति की पूजा क्यो न करे, मैं उस मूर्ति पर ही उसकी अचल श्रद्धा करा देता हूँ।"[2] उपासक के लिये उसका उपास्य देवता ही भगवान होता है, वह इष्टदेवता तथा भगवान मे कोई अतर नही समझता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्त देवता के स्वरूप की भगवत् रूप मे कल्पना करते है। लेकिन यह कल्पना भगवान ने की है या भक्त ने, इस विषय मे मतभेद है। दोनो पक्षो के समर्थन मे शास्त्रवचन उद्धृत है। किन्तु भगवान ने स्वय कल्पना की है, इसी पक्ष पर जोर अधिक है और यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यहाँ इस विषय को लेकर आलोचना करना अनावश्यक है। महा-

---

१. आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। इत्यादि। भीष्म ३४।४१
यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्ज्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥ भीष्म ३४।४१

२. यो यो या यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्च्चितुमिच्छति।
तस्यतस्याचलां श्रद्धा तामेव विदधाम्यहम्॥ भीष्म ३१।२१

भारत मे जिन जिन देवताओ के नाम व स्वरूप आदि का उल्लेख मिलता है, उन पर ही हम प्रकाश डालेंगे।

मूल देवता तैंतीस—तैंतीस देवताओ को आदिम तथा प्राचीन देवता माना गया है। किन्तु महाभारत मे इन सबका नाम नही दिया है।[1] ताण्डयब्राह्मण मे (६।२।५) तथा बृहदारण्यक उपनिषद मे (३।९) उल्लिखित है—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और इन्द्र, ये तैंतीस देवता हैं। नीलकठ की टीका मे भी इन्ही तैंतीस का नाम मिलता है।[2] रामायण मे (३।१४।१४) इन्द्र व प्रजापति के स्थान पर दोनो अश्विनीकुमार को लिया है। इन तैंतीस आदि देवताओ से ही देवताओ की सख्या बढते बढते तैंतीस करोड पर पहुँच गई। नीलकठ ने देवताओ की सख्या तैंतीस करोड मानी है।[3] तैंतीस करोड शब्द शायद बृहद् सख्या बताने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुआ है। उस श्लोक की टीका मे ही नीलकठ ने कहा है, 'सख्यातु नैव शक्यते', अर्थात् देवताओ की गिनती करना असभव है। पृथ्वी, अग्नि, अतरिक्ष, वायु, आदित्य, द्युलोक, चन्द्र एव नक्षत्रसमूह ये आठ अष्टवसु के अन्तर्गत आते हैं।

जड़वस्तु की अधिष्ठात्री के रूप मे देवता की कल्पना—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक्, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ एव मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ ही ग्यारह रुद्र हैं। चैत्र, वैशाख आदि बारह महीने बारह आदित्य है। इन्द्र शब्द का अर्थ है मेघ और प्रजापति का यज्ञ। इन सब वस्तुओ की अधिष्ठात्री चेतना को ही देवता के नाम से अभिहित किया गया है। ब्राह्मण आदि ग्रथ मे भी अचेतन वस्तुओ की अधिष्ठात्री को एक एक देवता माना गया है। टीकाकार नीलकठ ने भी पिछले श्लोक की टीका मे इस सिद्धान्त का उल्लेख किया है। नित्यप्रति व्यवहार मे आने वाली अत्यावश्यक जड वस्तुओ की अधिष्ठात्री चेतना की उपलब्धि करने पर ही ऋषियो को इन देवताओ का सधान मिला था। सर्वप्रथम उन्होने जिन वस्तुओ का अनुसधान किया था, उनमे देवता की उपलब्धि करके, उनकी सख्या तैंतीस निर्धारित की थी। बाद मे वे जैसे जैसे दूसरी वस्तुओ की शक्ति के बारे मे जानते गये, देवताओ की सख्या बढती गई। इस क्रमविकास की पर्यालोचना करने पर यह समझ मे आता है कि जड वस्तुओ मे जिस महाशक्ति की लीला

---

१. त्रयस्त्रिशत् इत्येते देवा। इत्यादि। आदि ६६।३७। वन २६०।२५ आदि १।४१। वन २१३।१९॥ विराट ५६।८। अनु १५०।२४

२. नीलकण्ठ—आदि १।४१। आदि ६६।३७

३. त्रयस्त्रिशत् कोटय इत्यर्थ। नीलकण्ठ। आदि १।४१

चल रही है उसी शक्ति की विभिन्न अवस्थाओं मे विभिन्न देवताओ के रूप मे पूजा हुई है।

देवताओ के विशेष विशेष स्वरूप—अलौकिक योगबल के द्वारा ऋषि, मुनि, देवताओ का प्रत्यक्ष स्वरूप देखने मे समर्थ थे, महाभारत मे इस तरह के बहुत से उल्लेख मिलते है। योग की शक्ति स्वीकार करने पर योगियो का प्रत्यक्ष दर्शन भी स्वीकार करना पडता है। ऐसी शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियो को यदि देवता के रूप मे मान लिया जाय तो साकार उपासक की भक्ति के आकर्षण से विभिन्न विभूतियो के रूप मे अवतार लेना सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिये असम्भव नही है। उपासक अपने देवता की केवल किसी विशेष जड वस्तु की चेतनारूप मे कल्पना नही करता, उसके लिये तो वही उसका सर्वस्व, विश्व की परिचालिका, महाशक्ति तथा भगवान होता है। कृष्ण, विष्णु, शिव आदि देवताओ को महाभारत मे पूर्ण ब्रह्म के रूप मे स्वीकृत किया गया है। ग्रथ का देवतातत्त्व अत्यन्त दुरूह है। ईश्वर के रूप मे तथा विभिन्न जड वस्तुओ की अधिष्ठात्री के रूप मे, दोनो रूपो मे ही देवता का वर्णन मिलता है। लेकिन समीक्षा से यही निष्कर्ष निकलता है कि उपासक उपास्य देवता की ईश्वर के रूप मे ही पूजा करते थे। एक ईश्वर की विभिन्न जडप्रकाशक अवस्थाओं को अथवा विभिन्न विभूतियो को विभिन्न देवताओ का नाम दिया है। वस्तुत है सब एक ही।

अग्नि—अग्नि के प्रताप से तो सभी परिचित है। देवताओ मे वह बहुत तेजस्वी माने गये है। वह सब देवताओ के प्रतीक है।[1]

आहुति प्रदान तथा उपासना—मन्त्रसस्कृत अग्नि मे आहुति प्रदान करने से देवता प्रदत्त हवि को ग्रहण करके यजमान का कल्याण करते है। ब्रह्मा, पशुपति, रुद्र, हिरण्यरेता, जातवेदा आदि अग्नि के ही दूसरे नाम है। अग्निहोत्री अग्नि की उपासना करते थे और दूसरे देवताओ के उद्देश्य से अग्नि मे ही आहुति डालते थे।[2]

सहदेव कृत अग्निस्तुति—दिग्विजय करते हुए सहदेव जब महिष्मती नगरी मे पहुँचे तो नगररक्षक अग्निदेव ने उनकी सेना को लपेट लिया। लाचार हो कर सहदेव ने अग्नि की शरण ली। सहदेव की स्तुति से प्रसन्न होकर अग्नि ने

---

१. अग्निर्हि देवताः सर्वाः। इत्यादि। अनु ८४।५६। अनु ८५।१५१।

२ अग्निर्ब्रह्मा पशुपतिः शर्व्वो रुद्रः प्रजापतिः। अनु ८५।१४७।

स्नात्वा प्रादुश्चकाराग्निम्। इत्यादि। अनु १९।३०। उद्योग ८३।९।

उन्हे वरदान दिया। उस स्तुति मे भी यही आभास मिलता है कि अग्नि ही परमेश्वर है।[1]

मन्दपालकृत स्तुति—खाडव प्रस्थ दाह के ममय पुत्र-स्त्री आदि की कल्याण कामना से ऋषि मन्दपाल ने अग्निदेवता की स्तुति की थी। उस स्तुति मे कहा गया है, "हे अग्ने, तुम ही सर्वभूत के मुखस्वरूप हो। तुम्हारा स्वरूप गढ है। ऋषि तुम्हे दिव्य, भौम एव औदर्य तीन भागो मे विभक्त करते है। पचभूत, सूर्य, चन्द्र व यजमान के रूप मे तुम ही यज्ञनिर्वाहक हो। तुम्ही मे सृष्टि की स्थिति और प्रलय का कर्त्तृत्व प्रतिष्ठित है।" स्तुति के शब्दो पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि ऋषि ने परमेश्वर के रूप मे ही अग्नि की स्तुति की है।[2]

सारिसृक्कादिकृत स्तुति—मन्दपाल के पुत्र सारिसृक्क, जरितारि आदि ऋषियो ने अग्नि द्वारा अनिष्ट होने की आशका से जो स्तुति की थी, उसमे भी प्रत्येक शब्द परमेश्वर का द्योतक है। ऋषिकुमारो ने सर्वशक्ति के भडार रूप मे अग्नि को प्रणाम किया है।[3]

अग्नि की सप्तजिह्वा—काली, मनोजवा, धूम्रा, कराली, लोहिता, स्फुलिंगिनी तथा विश्वरुचि ये सात अग्नि की जिह्वाएँ है। दार्शनिक व्याख्या मे पाँच इन्द्रिय, बुद्धि और मन इन सातो की अग्नि की जिह्वाओ के रूप मे कल्पना की गई है।[4]

इन्द्र—देवताओ के राजा को इन्द्र, वासव, शतक्रतु, पुरन्दर आदि के नामो से अभिहित किया गया है। इन्द्र सब देवताओ का शासनकर्त्ता होता है। स्वर्गलोक उसका वासस्थान होता है। उसकी पत्नी का नाम शची है।

इन्द्र की सभा का वर्णन—देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर को इन्द्र की सभा के बारे मे बताते हुए कहा है—इन्द्र का प्रधान अस्त्र वज्र है। उसका मन्त्री बृहस्पति है। इन्द्र ने वृत्रासुर का वध किया था। उसकी सभा मे नित्यप्रति देवताओ तथा देवर्षियो का समागम होता रहता है। उर्वशी, रम्भा आदि अप्सराएँ नृत्यगीत से उसका मन बहलाती रहती है।[5]

---

१ सभा ३१।४०-५९।

२ सोऽभितुष्टाव ब्रह्मर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम्। इत्यादि। आदि २२९।२२-३०

३ आत्मासि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम्। आदि २३२।७-१९।

४. काली मनोजवा धूम्रा कराली लोहिता तथा। इत्यादि। आदि २३२।७। नीलकण्ठ देखिए।

५. इन्द्रो हि राजा देवानाम्। इत्यादि। आदि १२३।२२। आदि २२७।२९।

नहुष की इन्द्रत्व प्राप्ति—कठिन तपस्या के द्वारा मर्त्यवासी मनुष्य भी इन्द्रत्व का लाभ कर सकता है। कहा गया है कि राजा नहुष दीर्घकाल तक इन्द्रपद पर अधिष्ठित रहे थे।[1]

इन्द्र एक उपाधि—'इन्द्र' एक उपाधि मात्र है, जो देवताओ का राजा वन जाय, उसी को 'इन्द्र' के नाम से पुकारा जाता है।[2]

इन्द्र का कर्त्तव्य—शक्तिशाली स्कद के अभ्युदय से ईर्ष्यान्वित होकर शचीपति देवराज इन्द्र ने उस पर चढाई की, लेकिन युद्ध मे पराजित होकर स्कद को शरणापन्न होना पडा। वाद मे इन्द्र और महर्षि मिलकर स्कद के पास गये और उससे इन्द्रत्व ग्रहण करने के लिये अनुरोध किया। स्कद ने महर्षियो से पूछा, 'इन्द्र के कर्त्तव्य क्या क्या हैं ?' महर्षियो ने उत्तर दिया—"इन्द्र तीनो लोको का रक्षक होता है, वह प्राणियो के वल, तेज, प्रजा व सुख का कारण होता है। वह त्रिलोक का कल्याण-कर्त्ता, दुराचारियो को दडित करने वाला एव सज्जनो का सम्मानकर्त्ता होता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, पृथ्वी आदि सवको अपनी अपनी मर्यादा के अन्दर रखना इन्द्र का ही काम है। इन्द्र अपूर्व वलशाली होता है, उसकी कर्त्तव्यनिष्ठा पर ही मवका कल्याण निर्भर करता है।"[3] उल्लिखित उद्धरण से स्पष्ट होता है कि जो देवताओ की रक्षा का भार ग्रहण करे, उसी को 'इन्द्र' की उपाधि मिलती है।

इन्द्र मेघो का अधिपति—ब्राह्मणो के वेदमन्त्रो द्वारा यज्ञ सम्पन्न करने पर यज्ञ मे पूजित देवता अपनी तृप्ति के वारे मे इन्द्र को वताते है। इस खवर से परि-तुष्ट होकर देवराज कालोपयोगी वर्षा के द्वारा पृथ्वी को शस्य-सम्पदा से सम्पन्न कर देते है, जिनमे निखिल प्राणिजगत उपकृत होता है।[4]

सभा ६।२१। विराट २।२३

इन्द्र का सभावर्णन—सभा ७ वाँ अध्याय

वत्रवधोपाख्यान—वन १०१ वाँ अध्याय। उद्योग १० वाँ अध्याय। वन १७४ वाँ अध्याय। वन २२३ वाँ अध्याय। वन २२६ वाँ अध्याय। शान्ति १२२।२७। शान्ति २८० वाँ अध्याय।

१. वन १७९ वाँ अध्याय। उद्योग ११ वें से १७ वें अध्याय तक। शान्ति ३४२ वाँ अध्याय। अनु १०० वाँ अध्याय।

२. वहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव। शान्ति २२४।५५

३. इन्द्रो दधाति भूतानां वलं तेजः प्रजाः सुखम्। इत्यादि। वन २२८।९-१२

४. वभूव यज्ञो देवेभ्यो यज्ञ. प्रीणाति देवता.। इत्यादि। शान्ति १२१।३७-३९ यज्ञाद् भवति पर्ज्जन्य.। भीष्म २७।१४।

इन्द्रध्वज की पूजा—सर्वप्रथम राजा उपरिचरवसु ने इन्द्रध्वज की पूजा का प्रचलन किया। मिट्टी मे एक वाँस की छडी गाडकर इन्द्र की पूजा की जाती थी। वर्ष मे केवल एक दिन इस पूजा के करने का विधान था। इन्द्रध्वज पूजा के दूसरे दिन वस्त्र, गध, माल्य आदि उपकरणो द्वारा हसरूपी इन्द्र की पूजा की जाती थी। टीकाकार नीलकठ ने लिखा है कि, महाराष्ट्र आदि देशो मे अभी भी इन्द्रध्वज स्थापित किया जाता है।[1]

ऋभुगण—ऋभु नामक एक श्रेणी के देवता स्वर्गलोक मे रहते हैं। वे देवो के भी देव होते है।[2] एक दूसरी जगह उन्हें भी देवो के पर्याय मे लिया गया है।[3]

काली (कात्यायनी, चडी)—सौप्तिक पर्व मे कहा गया है कि क्रुद्ध अश्वत्थामा जव रात को पाडवशिविर मे घुसकर सुषुप्त वीरो का सहार करने लगा तव मरते हुए व्यक्तियो ने रक्तमुखी, रक्तनयना, कृष्णवर्णा, पाशहस्ता एक भयकर मूर्ति को देखा। वह देवी कालरात्रिस्वरूप थी, और पाश मे वँधे प्रेतो को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी।[4]

काली का भीषण स्वरूप सहार का प्रतीक—कालरात्रिस्वरूप काली का सहार की प्रतिमूर्त्ति के रूप मे वर्णन किया गया है। विष्णुपर्व मे प्रद्युम्न की कात्यायनी पूजा व अनिरुद्ध की चडीस्तुति विशदरूप मे वर्णित है।[5]

कुबेर—धन के अधिपति देवता का नाम कुवेर है। वह गधर्व, राक्षस आदि जातियो का भी अधिनायक होता है।[6] उसका निवासस्थान कैलास पर्वत है। मणिभद्र आदि यक्ष वीर उसके अनुचर हैं।[7] एक दूसरी जगह उसका वासस्थान 'गधमादन' वताया है।[8]

---

१. ततः प्रभृति चाद्यापि यष्टे क्षितिपसम्भवै।
प्रवेश क्रियते राजन् यथा तेन प्रवर्त्तित। आदि ६३।१८-२१

२. ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवता.। वन २६०।१९

३ ऋभवो मरुतश्चैव देवाना चोदिता गण। शान्ति २०८।२२

४. काली रक्तास्यनयना रक्तमाल्यानुलेपनाम्। सौप्तिक ८।६५-६८

५. काली स्त्री पाण्डुरैर्दन्तै प्रविश्य हसती निशि। मौषल ३।१
नमस्त्रैलोक्यमायायै कात्यायन्यै नमो नमः। इत्यादि। हरि, विष्णुपुराण १६६ वाँ व १७८ वाँ अध्याय।

६. धनाना राक्षसानाञ्च कुबेरमपि चेश्वरम्। शान्ति १२२।२८।

७. अनु १९ वाँ अध्याय। वन १६१ वाँ तथा १६२ वाँ अध्याय।

८. गधमादनमाजग्मुः प्रकर्षन्त इवाम्वरम्। इत्यादि। वन १६१।२९, ३०

गंगा—गगा यद्यपि एक नदी है किन्तु महाभारत मे उसका देवी के रूप मे गुणगान किया है। महर्षि कपिल के शाप से सगर के पुत्र भस्म हो गये थे। उसी वश मे उत्पन्न भगीरथ ने कठोर तपस्या से गगा को सन्तुष्ट करके उनके प्रसाद से अभिशप्त पितृकुल का उद्धार किया था। महाभारत मे इसे शैलराज सुता कहा गया है। स्वर्गच्युत गगा की धारा को सर्वप्रथम महादेव ने अपने मस्तक पर धारण किया। उसके वाद वह धारा भगीरथ द्वारा प्रदर्शित मार्ग से होती हुई समुद्र मे पहुँची थी। राजा भगीरथ ने गगा की कन्या के रूप मे कल्पना की थी इसीलिये उसका दूसरा नाम भागीरथी है। जह्नु मुनि की यज्ञभूमि गगा के जल मे डूब जाने के कारण मुनि ने उसका पान कर लिया था लेकिन वाद मे छोड दिया। इस कारण उसका एक नाम जाह्नवी पडा। महाभारत मे भागीरथी को शान्तनु की पत्नी वताया है। भागीरथी ही देवव्रत भीष्म की जननी थी।[1]

गगा माहात्म्य—गगाजल के माहात्म्य का गुणगान महाभारत मे जगह-जगह गाया गया है।[2]

दुर्गा (युधिष्ठिरकृत स्तुति)—अज्ञातवास के समय जव पाडवो ने द्रौपदी के साथ मत्स्यनगर मे प्रवेश किया था तो युधिष्ठिर ने मन ही मन त्रिभुवनेश्वरी दुर्गा की स्तुति की थी। उस स्तुति मे कहा गया है कि दुर्गा ने यशोदा के गर्भ से नन्द गोपकुल मे जन्म लिया था। कस द्वारा शिला पर पटकी जाते ही वह आकाश मे अन्तर्हित हो गई थी। देवी को दिव्यमाल्यधारिणी, दिव्याम्वरधरा व खड्ग-खेटकधारिणी वताया है। उनका वर्ण वालसूर्य जैसा, मुख पूर्ण चन्द्र जैसा है। चतुर्मुख तथा चतुर्भुज है। आगे अष्टभुज तथा कृष्णवर्णा के रूप मे भी उनकी कल्पना की है। वे अष्टभुजाओ मे वर, अभय, पानपात्र, पकज, घटा, पाश, धनु व महाचक्र धारण किये हुए है। कानो मे कुडल, सिर पर मुकुट और कटिसूत्र तक लटकती वेणी। देवी को महिषासुरमर्दिनी एव विन्ध्यवासिनी वताया है। युधिष्ठिर की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवती ने निर्विघ्न अज्ञातवास का वर दिया था।[3]

दुर्गा का अर्थ—हर प्रकार की दुर्गति से उद्धार करने के कारण उपासक भगवती की दुर्गा के नाम से उपासना करते है।[4]

---

१. वन १०८ वाँ तथा १०९ वाँ अध्याय।

२. आदि ९७ वाँ अध्याय। अनु २६ वाँ अध्याय।

३. विराट ६ वाँ अध्याय।

४. दुर्गात्तारयसे दुर्गे तत्त्वं दुर्गा स्मृता जनैः। विराट ६।२०

अर्जुनकृत स्तुति—कुरुक्षेत्र के मैदान मे युद्ध शुरू होने से पहले श्रीकृष्ण ने अर्जुन से दुर्गा की स्तुति करने के लिये कहा था। कृष्ण के कहने पर अर्जुन ने रथ से उतर कर हाथ जोड कर भगवती की स्तुति की थी। उस स्तुति मे भगवती को योगियो को सिद्धि देनेवाली, ब्रह्मस्वरूपिणी, सृष्टि की स्थिति व प्रलय की हेतु, जरामृत्युविहीना, भद्रकाली, विजया, कल्याणमयी, मुक्तिस्वरूपा, सावित्री, कालरूपिणी, मोहिनी, कान्तिमयी, श्री, ह्री व जननी आदि विशेषणो से विभूषित किया है। इन विशेषणो मे अनेको शब्द परमब्रह्म के वाचक है। ससार की आदि महाशक्ति के रूप मे देवी की स्तुति की गई है। अर्जुन की स्तुति से सन्तुष्ट होकर देवी ने अतरिक्ष से ही उन्हे शत्रुजय का वरदान दिया था।[1]

महादेव की पत्नी—दुर्गा की महादेव की पत्नी के रूप मे भी कल्पना की गई है। अनुशासनपर्व के उमामहेश्वर सवाद आदि मे इसी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है।[2]

शैलपुत्री—हिमालय की कन्या के रूप मे जन्म लेने के कारण उन्हे 'शैलपुत्री' कहा गया है।[3]

वरुण—वरुण जल का अधिपति है। प्राचीन काल मे वे देवो के सेनापति थे। महादेव ने उन्हे जल के अधिपति पद पर नियुक्त किया।[4]

विश्वकर्मा—देवताओ के श्रेष्ठ शिल्पी का नाम 'विश्वकर्मा' है। देवो के दिव्य विमान, अस्त्र-शस्त्र व आभूपण आदि उन्ही के द्वारा निर्मित होते हैं। मानव समाज के शिल्पकारो द्वारा भी विश्वकर्मा विशेपरूप से पूजे जाते हैं। उनकी उपासना से शिल्पियो को अपने अपने कर्मक्षेत्र मे ख्याति मिलती है।[5]

विष्णु—उपासको का एक वर्ग विष्णु की पूजा करता है।[6]

विष्णु की उपासना का फल—विष्णु के रूप मे एक अविकारी अनन्त पुरुष

---

१. भीष्म २३ वाँ अध्याय।

२. देव्या प्रणोदितो देव. कारुण्यार्द्रीकृतेक्षणः। इत्यादि। शान्ति १५३।१११
उमामहेश्वर-संवाद—अनु १४० वें अध्याय से १४५ वें अध्याय तक।
अश्व ८ वाँ अध्याय।

३. शैलपुत्रा सहासीनम्। शल्य ४४।२३

४. पुरा यथा महाराजो वरुण वै जलेश्वरम्। शल्य ४५।२२
अपा राज्ये सुराणाञ्च विदधे वरुण प्रभुम्। शान्ति १२२।२९

५. विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापति·। इत्यादि। आदि ६६।२८-३०

६. विष्णु सनातनः। इत्यादि। वन १०१।१०। वन ११५।१५

का ध्यान करके उसकी पूजा-अर्चना के द्वारा उपासक यावतीय पुरुषार्थ का लाभ करता है। पुडरीकाक्ष भगवान विष्णु की उपासना से साधक सव दु खो से मुक्त हो जाता है। योग, ज्ञान, साख्य, विद्या, शिल्प आदि का जनार्दन से ही अभ्युदय हुआ है। वह एक होकर भी तीनो लोको मे व्याप्त है। शब्दो के द्वारा उनकी महिमा का वखान करना सभव नही है। वह सर्वातिग है, सर्वव्यापी है, विश्वेश्वर हैं, अज हैं।[1] इन सव उक्तियो से पता चलता है कि विभिन्न सम्प्रदायो मे विभिन्न देवताओ की परमेश्वर के रूप मे पूजा होती थी। साकार उपासना मे अलग-अलग सम्प्रदाय अलग-अलग रूपो मे परमेश्वर की ही उपासना करते थे। साधक देवता तथा परमेश्वर मे कोई अन्तर नही समझते थे।

काम्य विष्णु पूजा—काम्य विष्णु पूजा का अलग-अलग विधान मिलता है। मार्गशीर्ष महीने की द्वादशी को दिन रात 'केशव' की अर्चना करने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है एव समस्त पापो का नाश होता है। पौष मास की उक्त तिथि को 'नारायण' की पूजा करने से परम सिद्धि का लाभ होता है। माघ मे 'माधव', फाल्गुन मे 'गोविन्द', चैत्र मे 'विष्णु', वैशाख मे 'मधुसूदन', ज्येष्ठ मे 'त्रिविक्रम', आषाढ मे 'वामन', श्रावण मे 'श्रीधर' भाद्र मे 'हृषीकेश', आश्विन मे 'पद्मनाभ' एव कार्त्तिक मे 'दामोदर' के नाम से पूजा करने पर मनोवाछित फल मिलता है।[2]

विष्णु के सहस्रनाम—भीष्म ने युधिष्ठिर से विष्णु के सहस्रनाम की प्रशसा की थी। उससे पता लगता है कि विष्णु को परमब्रह्म के रूप मे जगत की सृष्टि, स्थिति व प्रलय का हेतु माना जाता है। विष्णु निखिल का चरम साध्य है। वह पवित्र से भी पवित्र, कल्याणकारी से भी अधिक कल्याणकारी, देवो के परमदेव एव सर्वभूत के पिता हैं। (श्रीमच्छकराचार्य ने विष्णुसहस्रनाम की रचना की थी।)[3]

विष्णु की मूर्ति—धुन्धुमारोपाख्यान मे विष्णु का स्वरूप वर्णित है। भगवान विष्णु अनन्त शय्या पर शायित है। उनकी नाभि से सूर्यप्रभ पद्म उत्पन्न हुआ है और उसी पद्म से पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं। विष्णु किरीट एवं कौस्तुभधारी तथा

---

१. तमेव चार्च्ययन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्। इत्यादि। अनु १४९।५,६
योगो ज्ञान तथा सांख्य विद्याः शिल्पादि कर्म च। इत्यादि। अनु १४९
१३९-१४२

२. अनु १०९ वाँ अध्याय।

३. अनु १४९ वाँ अध्याय।

महाद्युतिमान है। उनका परिधान पीत-कौशेय वस्त्र है, सहस्रसूर्य की दीप्ति जैसा उनका शरीर है, वे तेजस्वी तथा ऐश्वर्यशाली हैं।[१]

नारायण-प्रणति—महाभारत मे प्रत्येक पर्व के प्रारम्भ मे ही ग्रन्थकार ने नारायण को प्रणाम किया है।[२]

ब्रह्मा—शेष-शय्या पर शायित भगवान विष्णु के नाभिकमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानी जाती है। वह चतुर्मुख, चतुर्वेद तथा चतुर्मूर्त्ति स्वरूप हैं। ब्रह्मा पद्मयोनि व जगत्स्रष्टा हैं, ब्रह्मरूप मे वे सृष्टि करते हैं। वह अधिकतर देवो से वयोज्येष्ठ हैं, पितामह हैं।[३]

ब्रह्मा ही महाभारत रचना के मूल प्रवर्तक—जगत की कल्याण कामना से महाभारत की रचना के निमित्त ब्रह्मा महर्षि द्वैपायन के पास पहुँचे एव गणेश से ग्रन्थ को लिपिवद्ध कराने का सुझाव दिया।[४]

यम—यम मृत्यु का अधिपति है। सावित्री उपाख्यान मे उनका स्वरूप वर्णित है। उनका वर्ण कृष्ण है, आँखें लाल हैं, शिखा बँधी हुई है। उनके वस्त्र लाल हैं और हाथ मे पाश है, आकृति भयकर है। यम की पितृलोक के अधिपति रूप मे भी कल्पना की गई है।[५]

शिव—शिव, महादेव, शकर, रुद्र आदि शब्दो के द्वारा जिस देवता की कल्पना की गई है, उसकी उपासना शायद उस काल मे व्यापक रूप से प्रचलित थी। वहुत से साधको ने शिव की उपासना से अभिलपित फल की प्राप्ति की है। शिव का वासस्थान कैलाश पर्वत है।[६]

---

१. लोककर्त्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः।
नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम्। इत्यादि। वन २०२।११-१८।

२. नारायण नमस्कृत्य नरञ्चैव नरोत्तमम्।

३. युगादौ तव वार्ष्णेय नाभिपद्मादजायत। इत्यादि। वन १२।३८। वन २०२।१३, १४। वन २९०।१७।

४. तत्राजगाम भगवान् ब्रह्मा लोकगुरु स्वयम्।
पीत्यर्थं तस्य चैवर्षेलोकाना हितकाम्यया॥ इत्यादि। आदि १।५७-७४

५. बद्धमौलिं वपुष्मन्तमादित्यसमतेजसम्। इत्यादि। वन २९६।८,९
यम वैवस्वतञ्चापि पितृणामकरोत् प्रभुम्। शान्ति १२२।२७

६. कैलास पर्वत गत्वा तोषयामास शकरम्। इत्यादि। वन १०८।२६। अनु १४ वाँ अध्याय।

सहस्रनाम स्तोत्र—शिव का सहस्रनाम स्तोत्र भी मिलता है। उसके साथ ही सहस्रनाम स्तोत्र पाठ के अनेको फल मिलने का भी वर्णन किया है।[1]

दक्षयज्ञ-नाश—बहुत प्राचीन काल मे शायद महादेव यज्ञादि मे नही पूजे जाते थे। प्रजापति दक्ष ने अपने यज्ञ मे शिव को छोडकर बाकी सब देवताओ का आह्वान किया था। इससे शिव ने क्रुद्ध होकर यज्ञ भग कर दिया। इस घटना के बाद से याज्ञिक रुद्र को भी यज्ञ का एक विशिष्ट अश निवेदित करने लगे। रुद्र यदि रौद्र-मूर्त्ति धारण कर लें तो तत्क्षण त्रिलोक मे प्रलय मच जायगी, यह सोचकर देवता रुद्र से बहुत डरने लगे।[2]

मूर्ति—महादेव की मूर्त्ति के सबध मे भी थोडा बहुत वर्णन मिलता है। व्यास ने युधिष्ठिर से कहा है, "महादेव तुम्हे स्वप्न मे दर्शन देंगे। वृष उनका वाहन है, वह नीलकठ हैं, त्रिशूलधारी हैं और चर्म उनका परिधान है।"[3] राजा सगर ने पिनाकी, शूलपाणि, त्र्यम्बक तथा बहुरूप के नाम से उमापति की आराधना की थी।[4] इन्द्र ने अर्जुन को महादेव की उपासना का उपदेश देते हुए कहा था—"वह भूतेश शिव, त्र्यक्ष एव शूलधर है।"[5] अर्जुन महादेव से साक्षात् होने पर उनकी स्तुति करने लगे, "हे देवाधिदेव, नीलग्रीव, जटाधर, त्र्यम्बक, ललाटाक्ष, शूलपाणि, पिनाक-पाणि महादेव प्रसन्न होइये।"[6] पाशुपत अस्त्रलाभ के निमित्त अर्जुन ने महादेव को बहुत स्तुति करके सन्तुष्ट किया था। उस स्तुति मे भी उन्हे नीलग्रीव, पिनाकी, शूली, त्रिनेत्र, वसुरेता, अम्बिकाभर्त्ता, वृषभध्वज, जटी, सहस्रशिरा, सहस्रभुज, सहस्रनेत्र, सहस्रपाद कहा गया है।[7] प्रजापति ने महादेव को वृषभ दिया था।[8] शतरुद्रीय अध्याय मे व्यास ने अर्जुन से कहा है, "वह महादेव, महाकाय, द्वीपि-

---

१. अनु १७ वाँ तथा १८ वाँ अध्याय।

२. अनु १६० वाँ अध्याय। द्रोण २०१ वाँ अध्याय। सौप्तिक १८ वाँ अध्याय।

३. स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम्। इत्यादि। सभा ४६।१३-१५

४. शंकरं भवमीशानं पिनाकिं शूलपाणिनम्।
त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम्। इत्यादि। वन १०६।१२ शल्य ४४।३२।

५. यदा द्रक्ष्यसि भूतेश त्र्यक्षं शूलधरं शिवम्। वन ३७।५७

६. देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर। इत्यादि। वन ३९।७४-७८

७. नमो भवाय सर्वाय रुद्राय वरदाय च। इत्यादि। द्रोण ७८।५३-६२

८. वृषभञ्च ददौ तस्मै सह गोभि प्रजापतिः। अनु ७७।२७

चर्मपरिधारी, त्रिशूलपाणि, खड्गचर्मधर, पिनाकी, सात्यक्ष, महाभुज, चीरवासा उष्णीषी, सुवक्त्र तथा सहस्राक्ष हैं। उनके बहुत से अनुचर है, जो जटाधारी, ह्रस्व-ग्रीव, महोदर, महाकाय, महाकर्ण, विकृतानन, विकृतपाद व विकृतवेष हैं। वे सदा महादेव की आज्ञा का पालन करते है।"[१]

सहस्रनाम स्तोत्र मे भी महादेव के स्वरूप को प्रकट करनेवाले बहुत से शब्द मिलते हैं। विष्णुस्तोत्र मे कहा गया है कि मधुकैटभ-वध के समय क्रुद्ध विष्णु के ललाट से शूलपाणि की उत्पत्ति हुई थी।[२]

महादेव का माहात्म्य और उपासना—बहुत जगहो पर महादेव के असाधारण माहात्म्य का वर्णन किया गया है।[३] शिव की उपासना के सबध मे जिस जिस स्थान पर कहा गया है, वे निम्नलिखित हैं।

द्रौपदी की पूर्वजन्म मे शकर-आराधना (आदि १६९।८, १९७।४५)। राजा द्रुपद की सभा मे लक्ष्यवेध के निमित्त अर्जुन का मन ही मन शकर को स्मरण करना (आदि० १८८।१८)। कैलाशपर्वत पर श्वेतकि राजा की शिव उपासना (आदि० २२३।३६)। जरासध की शिव उपासना (सभा १४।६४, सभा २२।११, सभा २२।२९)। जरासध ने रुद्रयज्ञ मे मनुष्य वलि देने के लिये बहुत से राजाओ को वन्दी वना रक्खा था। कृष्ण के इशारे पर भीम ने उसे युद्ध मे मार कर वन्दियो को मुक्त किया। कुमारी गाधारी की शिव उपासना (आदि० ११०।९)। मृत्तिकानिर्मित यज्ञवेदी पर अर्जुन ने माल्य द्वारा शिवपूजा की थी (वन ३९।६५)। राजा सगर ने पुत्रकामना से पत्नीसह कैलाशपर्वत पर जाकर महादेव की उपासना की थी (वन १०६।१२)। भीम द्वारा लाछित होकर जयद्रथ दीर्घकाल तक गगा के द्वार पर शिव की उपासना करते रहे थे। तपस्या से प्रसन्न होकर रुद्र ने उन्हे वर दिया था (वन २७१।२५-२९)। अम्बा की कठोर तपस्या से सन्तुष्ट होकर महादेव ने उन्हे भीष्मवध का वरदान दिया था। अम्बा ने ही दूसरे जन्म मे शिखण्डी के रूप मे जन्म लिया था (उद्योग० १८९।७)। राजा द्रुपद ने सन्तान-कामना से दीर्घकाल तक शकर की उपासना की थी (उद्योग० १९०।३)। कृष्ण व अर्जुन ने महादेव की आराधना करके पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था, उसी अस्त्र से अर्जुन

---

१. द्रोण २०१ वाँ अध्याय।

२ अनु १७ वाँ अध्याय।

ललाटाज्जातवान् शम्भु शूलपाणिस्त्रिलोचन । वन १२।८०।

३. सौप्तिक ७ वाँ अध्याय। द्रोण २०१ वाँ अध्याय। अनु १४ वाँ, १४० वाँ व १६० वाँ अध्याय। अश्व ८ वाँ अध्याय।

ने जयद्रथ का वध किया था (द्रोण० ८।५३-६२)। सोमदत्त ने वीर पुत्र की कामना से कठिन तपस्या करके शकर को सतुष्ट किया था (द्रोण० १४२।१५)। अश्वत्थामा ने शिव की उपासना से विशेष शक्ति अर्जित की थी (सौप्तिक० ७।५४)। कृष्ण की शिव उपासना (वन० २०।१२)।

लिग माहात्म्य व पूजाविधान—लिग को प्रतीक मान कर महादेव की पूजा करने का विधान भी मिलता है। कहा गया है कि सर्वभूत की उत्पत्ति का हेतु मानकर जो लिग रूप मे महादेव की पूजा करते है, उनपर शिव की विशेष कृपा रहती है।[1] लिग-मूर्ति की पूजा से आस्तिको को अभिलषित फल मिलता है।[2] जो महादेव की मूर्त्ति अथवा लिगरूप मूर्त्ति की पूजा करते हैं वह अतुल्य सम्पत्ति के स्वामी वनते है।[3] लिंग पूजा का माहात्म्य अनुशासन पर्व के सत्रहवें अध्याय मे एव उसकी नीलकठ टीका मे विशेष रूप से कीर्त्तित हुआ है। सौप्तिक पर्व के सत्रहवे अध्याय मे शिवलिंग की उत्पत्ति का विवरण विवृत हुआ है।

महादेव उमापति—महादेव को भगवती दुर्गा का पति माना गया है। उमा-महेश्वर-सवाद मे (अनु० १४० वे से १४५ वे अध्याय तक) तथा अन्यत्र भी इस विषय मे कहा गया है।[4]

शिव व रुद्र—महादेव की रुद्रमूर्त्ति सहार का प्रतीक है, दूसरी तरफ उनकी शान्त, एकाग्रचित्त योगीन्द्र मूर्त्ति भक्तो के लिये कल्याणकारी है। स्तुति-वन्दन मे प्रत्येक देवता को सर्वमगलमयी तथा सर्वशक्तिमत दोनो रूप मे देखा है।[5]

श्री—'श्री', ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री देवी है। वही लक्ष्मी है, वही सम्पदा। शुभ आदर्श का जहाँ पालन होता है वही उसका वास होता है। छल-कपट, अक-ल्याण आदि से वह सदा दूर रहती है। उसे पूजा, अर्चना द्वारा सन्तुष्ट नही किया

---

१. सर्वभूतभवं ज्ञात्वा लिगमर्च्चति य· प्रभोः।
तस्मिन्नभ्यधिकां प्रीतिं करोति वृषभध्वजः। द्रोण २००।९६

२. लिगं स्वङ्चाप्यविध्यत। सौप्तिक १७।२१। नीलकण्ठ

३. लिगं पूजयिता नित्यं महतीं श्रियमश्नुते। अनु १६१।१६

४. स ददर्श महावीर्यो देवदेवमुमापतिम्। शल्य ४४।२३
देव्या प्रणोदितो देव.। शान्ति १५३।१११
पार्वत्या सहितः प्रभुः। वन २३०।२९।

५. स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत्।
रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिव.। शान्ति १६६।६३

जा सकता। जो सत्यनिष्ठ हो, शुचि हो, कल्याण का उपासक हो, उसके पास श्रीदेवी स्वय ही आ जाती हैं।[1]

श्री का प्रसाद—श्री के चरित्र से समझा जा सकता है कि उपासक यदि शुद्ध, सयतचित्त हो एव साधु आदर्श उसके जीवन का ध्येय हो तो श्री का प्रसाद सहज ही पा सकता है। यो तो सभी देवता कुटिल, दुश्चरित्र तथा अमगलकारी व्यक्ति का परित्याग करते हैं, केवल बाह्य पूजा के द्वारा उन्हे सन्तुष्ट करना सम्भव नही होता। परन्तु श्री के सबध मे जो अध्याय लिखे गये हैं, उनमे यह बात अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से कही गई है।

श्रीकृष्ण—प्राय सर्वत्र ही कृष्ण की परमब्रह्म के रूप मे अर्चना की गई है। कृष्ण की ईश्वरीय विभूति भी नाना प्रकार से विभिन्न उपाख्यानो एव दार्शनिक विवरणो मे प्रकट हुई है।

श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म—महाभारत के श्रीकृष्ण केवल यदुवशज ज्ञानी, वीर पुरुष नही हैं, वे हैं 'अचित्यगतिरीश्वर'। उद्योग पर्व मे देखने मे आता है कि दूत का पथ ग्रहण करने पर उन्होने गर्वित दुर्योधन आदि को विश्वरूप दिखाया है। भीष्म पर्व मे उन्हे फिर से भक्त सखा अर्जुन को युद्ध मे उत्साहित करने के लिये विश्वरूप का प्रदर्शन करते हुए देखा जाता है। शान्तिपर्व तथा संभापर्व मे भीष्म-कृत स्वरूपवर्णन के प्रत्येक शब्द उनके परमब्रह्म का सूचक है। उनको भित्ति-स्वरूप मान कर ही सम्पूर्ण महाभारत रचित हुआ है, 'मूल त्वह ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च' (उद्योग० २९।५३)। वह योगीश्वर हैं, अनादि हैं, अनन्त हैं, अज्ञेय हैं, परमात्मा हैं। प्रत्येक पर्व मे इस तरह की असख्यो उक्तियाँ मिलती है, जिनसे प्रतीत होता है कि महर्षि व्यास ने श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म मानकर उनकी लीला दिखाने के लिये अगणित श्लोको की रचना की है।

सरस्वती—सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री हैं। कहा गया है कि उन्होने दडनीति की रचना की थी।[2] प्रत्येक पर्व के प्रारम्भ मे 'नारायण नमस्कृत्य' आदि श्लोक मे सरस्वती को भी प्रणाम किया गया है।[3]

सावित्री—मद्रराज अश्वपति ने सतान कामना से अठारह वर्ष तक कठिन नियमो का पालन करते हुए सरस्वती की उपासना की थी। सावित्री मन्त्र के साथ एक लाख आहुति देने के बाद देवी ने अग्निकुड से निकल कर राजा को वर दिया था।

---

१. शान्ति १२४ वाँ व २२८ वाँ अध्याय। अनु ११ वाँ व ८२ वाँ अध्याय।

२. ससृजे दडनीर्ति सा त्रिषु लोकेष विश्रुता। शान्ति १२२।२५।

३. देवीं सरस्वतीञ्चैव ततो जयमुदीरयेत्।

उनके वर से राजा को पुत्री लाभ हुआ। सावित्री के वरदान से पुत्रीरत्न प्राप्त होने के कारण राजा ने उसका नाम 'सावित्री' रक्खा।[1]

पैप्पलाद की सावित्री उपासना—जापकोपाख्यान मे वर्णित है कि एक पैप्पलाद ब्राह्मण ने सयत भाव से सहिता जपपूर्वक दीर्घ काल तक ब्राह्म तपस्या की। अनेक वर्षो के वाद उसके जप से प्रसन्न होकर सावित्री ने प्रकट होकर उसे अभिलषित वर दिया।[2]

सूर्य—सूर्योपासना के भी कई उदाहरण महाभारत मे मिलते हैं। प्राचीन काल मे कुरुराज सवरण ने सूर्य की आराधना की थी।[3] विराटपत्नी के आदेश से सुरा लाने के लिये कीचक भवन जाते समय द्रौपदी ने रास्ते मे सूर्य की आराधना की थी। उनकी आराधना के फलस्वरूप ही सूर्य ने उनकी रक्षा की व्यवस्था की थी।[4] पौरवाह्णिक नित्यक्रियाएँ सम्पन्न करके श्रीकृष्ण सूर्य की उपासना करते थे।[5] शरशय्या पर शायित भीष्म ने सूर्य की उपासना की थी।[6]

सूर्य के अष्टोत्तर-शतनाम—धौम्य ने युधिष्ठिर को सूर्य का अष्टोत्तर-शतनाम सुनाया था। उस स्तोत्र मे सूर्य का ही अनन्त, विश्वात्मा, भूताश्रय, भूतपति, विश्वतोमुख, विश्वकर्मा एव शाश्वत रूप मे बखान किया है।[7]

युधिष्ठिर की सूर्यस्तुति और सूर्य का वरदान—वनवासकाल मे युधिष्ठिर ने शुद्ध सयत चित्त से सूर्य की स्तुति की थी। उस स्तुति मे कहा गया है—तुम्ही सर्वभूत की उत्पत्ति का हेतु हो, तुम ईश्वर के भी ईश्वर हो। युधिष्ठिर की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान भास्कर दीप्यमान शरीर धारण करके युधिष्ठिर के समक्ष प्रकट हुए और उन्हे एक ताँबे की पतीली दी और वरदान दिया कि द्रौपदी के आहार करने तक उस पात्र का अन्न खतम नही होगा।[8]

---

१. वन २९२ वाँ अध्याय।

२. शान्ति १९९ वाँ अध्याय।

३. अयर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो वली।
सूर्यमाराधयामास नृपः सम्वरणस्तदा। आदि १७१।१२

४. उपातिष्ठत सा सूर्यं मुहूर्तमवला ततः। विराट १५।१९

५. उपतस्थे विवस्वन्तम्। उद्योग ८३।९

६. उपासिष्ये विवस्वन्तमेवं शरशताचितः। भीष्म १२०।५४

७. वन ३।१४-२८।

८. वन ३।३५-७३।

सौरव्रत—सौरव्रत नामक एक प्रकार की सूर्योपासना प्रचलित थी। नीलकठ की टीका मे उस व्रत को बहुत सौभाग्यवर्धक बताया है।[1]

स्कन्द—स्कद की उत्पत्ति के सबध मे नाना प्रकार के कथन मिलते हैं। सप्तर्षि की भार्याओ को देखकर अग्नि काम-ज्वर से पीडित हो गये, किन्तु उद्देश्य सिद्धि की सम्भावना न होने के कारण शरीरत्याग की भावना से गभीर वन मे चले गये। दक्षदुहिता स्वाहा को पहले से ही अग्नि की कामना थी। उसने सप्तर्षि भार्याओ का रूप धारण करके अग्नि की वासना पूर्ण करने का निश्चय किया। पहले वह अगिरा की पत्नी शिवा का रूप धारण करके अग्नि के पास गई और अपनी अभिलाषा पूर्ण की एव अग्नि का शुक्र हाथ मे लेकर गरुड की माता के रूप मे, सुरक्षित तथा शरस्तब से आच्छादित श्वेतपर्वत पर जाकर किसी कचनकुड मे उस शुक्र को डाल दिया। अरुन्धती की तप शक्ति व तेजस्विता असाधारण होने के कारण स्वाहा उसका रूप नही धारण कर सकी, बाकी पाँचो ऋषिपत्नियो का रूप बारी-बारी से बदल कर पूर्वोक्त तरह से शुक्र उसी कुड मे डाल दिया। उसके बाद प्रतिपदा के दिन उस कुड मे स्कद का जन्म हुआ।

स्कन्द का स्वरूप—पहले दिन वह स्खलित शुक्र छह सिर, बारह कान, बारह आँख, बारह भुजाएँ, एक ग्रीवा एव एक पेट के रूप मे परिणत हुआ। दूसरे दिन आकृति बनी। तीसरे दिन वह आकृति शिशु के रूप मे परिणत हुई। चौथे दिन वह बालक लाल मेघो से आच्छादित विद्युत की तरह सुशोभित होने लगा। असुर विनाश के निमित्त त्रिपुरारि द्वारा प्रदत्त भीषण धनुष हाथ मे लेकर अमित शक्ति-शाली उस बालक ने भयकर नाद से दसो दिशाओ को प्रकम्पित कर दिया। उसके उस भीषण नाद को सुनकर चित्र व ऐरावत नाम के दो महानाग वहाँ उपस्थित हुए। स्कद ने उन दोनो को दो हाथो मे उठा लिया। एक हाथ मे शक्ति व एक हाथ मे अतिशय बलवान ताम्रचूड कुक्कुट को लेकर वह शिशु क्रीडा करने लगा। दो हाथो से शख पकड कर इतनी जोर से बजाया कि सारा विश्व प्रलयनिदान समझ कर शकित हो उठा। दो हाथो से आकाश मे आघात करने लगा।[2] स्कद को हिरण्यकवच, हिरण्यस्रक्, हिरण्यचूड, हिरण्यमुकुट, तीक्ष्णदष्ट्र एव कुडलयुक्त बताया है।[3] उनके छह सिर, बारह आँख एव बारह हाथ हैं। वह पीनाश तथा अत्यन्त शक्तिशाली हैं।[4]

---

१. सौभाग्यवर्द्धक सौरव्रतादिकम्। वन २३२।८

२. वन २२४ वाँ अध्याय।

३. उपविष्टन्तु त-स्कन्दं हिरण्यकवचस्रजम्। वन २२८।१-३

४. षडानन कुमारन्तु द्विषड़क्षं द्विजप्रियम्। अनु ८६।१८, १९

स्कन्द का शैशव—माताओ मे धात्री स्कद का पुत्रस्वरूप पालन-पोषण करने लगी। लोहितोदधि की कन्या क्रूरा स्कद को गोद मे लेकर लाड-प्यार करने लगी एव अग्नि छागवक्त्र और वहुप्रज वनकर वालक की क्रीडा मे सहायक हुए।[1]

स्कन्द का कृत्तिका पुत्रत्व—तारकवधोपाख्यान मे वर्णित है—देवताओ व ऋषियों की प्रार्थना पर कृत्तिकाओ ने अग्नि से गर्भधारण किया। उन छहो ने एक साथ सन्तान प्रसव की। छहो शिशु जव एकत्व को प्राप्त होकर शरवन मे वढ रहे थे तव एक दिन पुत्र-स्नेहवश वे कृत्तिकाएँ वहाँ गईं और उन्होने एक शिशु देखा। उस शिशु ने अपने छह मुखो से छहो माताओ का एक साथ स्तनपान करके उन्हे आनन्दित किया।[2]

अग्नि व गगा से स्कन्द का जन्म—सुवर्णोत्पत्ति प्रकरण मे कहा गया है कि तारकासुर का अत्याचार असहनीय हो जाने पर देवो ने एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करने के लिये अग्नि से प्रार्थना की। देवो का अनुरोध मानकर अग्नि ने गगा के साथ सभोग किया। अग्नि का तेज सहन न कर सकने के कारण गगा ने मेरुपर्वत पर गर्भपात कर दिया। वही गर्भ शरवन मे कृत्तिकाओ का स्तनपान करके परिपुष्ट हुआ। इसीलिये वालक का नाम 'कार्त्तिकेय' पडा।[3]

हरपार्वती से उत्पत्ति—कार्त्तिकेय ने भगवान शिव के औरस से उमा के गर्भ से जन्म लिया, यह शिवपुराणादि का मत है। महाकवि कालिदास ने इसी वर्णन को लेकर 'कुमारसम्भव' की रचना की थी। महाभारत मे भी इसका गौणरूप मे उल्लेख मिलता है। भगवान रुद्र ने अग्नि के और भगवती उमा ने स्वाहा के शरीर मे प्रवेश किया और उन दोनो के मिलन से रुद्रसुत स्कद की उत्पत्ति हुई।[4]

विस्तृत जन्मविवरण—स्कद के जन्म के सवन्ध मे अन्य प्रकार के विवरण भी मिलते है। सारस्वतोपाख्यान मे कहा गया है—महेश्वर का तेज अग्नि मे पतित होने पर सर्वभक्ष भगवान अग्नि भी उसे दग्ध नही कर पाये। ब्रह्मा के आदेश से उन्होने वह तेज गगा मे विसर्जित कर दिया। गगा ने भी उसे धारण करने मे

---

१ सर्वासा या तु मातृणां नारी क्रोधसमुद्भवा। वन २२५।२७-२९

२. विपन्नकृत्या राजेन्द्र देवता ऋषयस्तथा।
कृत्तिकाश्चोदयामासुरपत्यभरणाय वै। इत्यादि। अनु ८६।५-१३

३. अनु ८५।५५-८२।

४. अनुप्रविश्य रुद्रेण वह्नि जातो ह्ययं शिशु। वन २२८।३०
रुद्रेणाग्नि समाविश्य स्वाहामाविश्य चोमया।
हितार्थं सर्वलोकाना जातस्त्वमपराजित.॥ वन २३०।९।

असमर्थ होकर हिमालय पर्वत पर त्याग दिया। हिमालय पर ही वह तेज दिन-प्रतिदिन दीप्त सूर्य की तरह वढने लगा। एक दिन हिमालय के शरस्तम्ब मे अनल-प्रभ उस तेजपुज को देखकर कृत्तिकाएँ 'यह हमारा है, यह हमारा है' कहती हुई उसके समीप गई। उनके वहाँ जाते ही उस तेजपुज ने षडानन शिशु का रूप धारण करके उनका स्तनपान करना शुरू कर दिया। कृत्तिकाएँ उसकी अद्भुत आकृति से विस्मित होकर उसे वही छोड गई। वालक क्रमश वढता हुआ तेजस्वी रूप धारण कर रहा था। अचानक एक दिन शैलराज पुत्री के साथ प्रमथ आदि अनुचरो से घिरे महादेव को देखकर वह उनकी ओर अग्रसर हुआ। उसी समय महादेव, भगवती दुर्गा, अग्नि और गगा ये चारो मन ही मन सोचने लगे कि देखना चाहिये यह इतना सुन्दर वालक पहले किसके पास जाता है। प्रत्येक उसे छाती से लगाने के लिये उत्कठित था। कार्त्तिकेय ने उनका मनोभाव जानकर योगवल से चार शरीर धारण किये और एक साथ चारो के पास पहुँचे। उसकी अद्भुत क्षमता देखकर चारो देवता वहुत खुश हुए और उसे यथायोग्य सम्मान देने के लिये पितामह से अनुरोध किया। पितामह ने उसे सर्वभूत का सेनापति वना दिया।[1]

कुमार का अभिषेक व पारिषद वर्ग—पुण्यसलिला सरस्वती नदी के किनारे ब्रह्मा ने उसका अभिषेक किया। उपस्थित देवताओ ने नवाभिषिक्त सेनापति को साध्यानुसार वस्त्राभूषण उपहार मे दिये। कुमार के अभिषेक के समय जो देवता उपस्थित थे, उनमे से अनेको रणप्रिय देवता उसी समय कार्त्तिकेय के अनुचर वन गये।[2]

कुमार की देहरक्षिकाएँ—प्रभावती, विशालाक्षी, पालिता, भद्रकाली, शतघटा, मुडी, अमोघा आदि असख्य देवमाताओ ने कुमार की देहरक्षा करने के लिये उसका अनुसरण किया।[3]

अभिषेक के सवध मे दूसरे प्रकार के वर्णन भी मिलते है। देवराज इन्द्र ने स्कद से युद्ध मे पराजित होने पर इन्द्रपद वरण करने के लिये अनुरोध किया, लेकिन स्कद ने अस्वीकार कर दिया। इसके वाद इन्द्र ने उनसे सेनानायक का पद लेने के लिये कहा। स्कद की स्वीकृति मिलने पर देवो व महर्षियो ने सेनापति के रूप मे उनका अभिषेक किया। उन्होने दानवो का नाश करने के लिये ही देवो का सेनापतित्व ग्रहण किया था। उनके सिर पर कचन छत्र लगाया गया। विश्व-

---

१. शल्य ४४ वाँ अध्याय। अनु ८६।३१, ३२।

२. शल्य ४५ वाँ अध्याय।

३. शल्य ४६ वाँ अध्याय।

कर्मा ने उन्हे कचनमाला पहनाई और भगवान शिव ने उमा सहित घटनास्थल पर पहुँच कर सेनापति का यथोचित सम्मान किया। लाल परिधान मे सुशोभित स्कद को अग्नि ने रथ की पताका स्वरूप एक कुक्कुट दिया।

देवसेना के साथ विवाह—प्रजापति दुहिता देवसेना को वहाँ लाकर इन्द्र स्कद से बोले—"सेनापति, आपके जन्म से पूर्व ही प्रजापति ने आपकी पत्नी निश्चित कर दी थी, अत आप इसका पाणिग्रहण करिये।" देवगुरु बृहस्पति के यथाविधि होम आदि क्रियाएँ सम्पन्न करने के बाद स्कद ने देवसेना का पाणिग्रहण किया।[१]

स्कन्द द्वारा महिषासुर व तारकासुर वध—स्कद की सहायता से देवराज युद्ध मे दैत्यो को परास्त करने मे समर्थ हुए। कहा गया है कि दुर्जेय दैत्य महिषासुर स्कद के हाथो निहत हुआ तथा उसके सहचर स्कद के अनुचरो के भक्ष्य बने। स्कद ने तारकासुर का भी वध किया था।[२]

देवताओ मे सर्वश्रेष्ठ योद्धा—कार्त्तिकेय को देवताओ मे सबसे बडा योद्धा बताया है।[३]

स्कन्द का ईश्वरत्व—महर्षि मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर के समक्ष स्कद की जो स्तुति गाई है, उसमे 'सहस्रशीर्ष', 'अनन्तरूप', 'ऋतस्य कर्त्ता', 'सनातनानामपि शाश्वत' आदि अनेको ऐसे शब्द है जो परम ब्रह्म के वाचक हैं। स्कद की उपासना करनेवाला कोई सम्प्रदाय उस काल मे था, इसका प्रमाण महाभारत मे कही नही मिलता।[४]

युद्ध के आरम्भ मे वीरो का स्कन्द को प्रणाम—युद्ध के आरम्भ मे योद्धा कार्त्तिकेय को प्रणाम करते थे। दुर्योधन की सेना के सेनानायक बनते समय भीष्म ने शक्तिशाली कार्त्तिकेय को नमस्कार किया था।[५]

कार्त्तिकेय आदि नामों का यौगिक अर्थ—कृत्तिकाओ के स्तनपान से परिपुष्ट होने के कारण उनका नाम कार्त्तिकेय और अग्नि के स्कन्न (स्खलित) शुक्र से उत्पन्न

---

१. वन २२८ वाँ अध्याय।
कार्तिकेयो यथा नित्यं देवानामभवत् पुरा। भीष्म ५०।३३

२. पपात भिन्ने शिरसि महिषस्त्यक्त जीवितः। इत्यादि। वन २३०।९६-१०१। अनु ८६ वाँ अध्याय।

३. कार्त्तिकेयमिवाहवे। द्रोण १७८।१३

४. वन २३१ वाँ अध्याय।

५. नमस्कृत्य कुमाराय सेनान्ये शक्तिपाणये।
अहं सेनापतिस्तेऽद्य भविष्यामि न संशयः॥ उद्योग १६४।७

होनें के कारण स्कंद नाम पडा। गुहास्थित शरवन मे जन्म हुआ, इसलिये एक नाम गुह भी है।[1]

जन्म के सम्बन्ध मे विभिन्न मत—उस काल मे कार्त्तिकेय के जन्म के सबध में लोगो की जो अलग-अलग धारणाएँ थी, वह एक श्लोक मे वताई गई हैं।[2]

हेरम्ब (गणेश)—महर्षि कृष्णद्वैपायन महाभारत की रचना कर चुकने के वाद सोच मे पड गये कि शिष्यो को उसका अध्ययन कैसे करायें। उनको चिन्तित देखकर भगवान पितामह उपस्थित हुए। महर्षि ने उनसे कहा—"भगवन आप ही वताइये कि अपने इस विस्तृत इतिहास को लिपिवद्ध कराने के लिये किसे नियुक्त करूँ, मुझे तो ऐसा कोई लेखक नजर नही आता।" पितामह ने उत्तर दिया—"इस कार्य के लिये गणेश का स्मरण करो, वही समर्थ हैं।" उनके चले जाने पर महर्षि ने गणेश का स्मरण किया और उनके उपस्थित होने पर यथाविधि पूजा करके आह्वान का उद्देश्य वताया। गणेश ने कहा—"मेरी लेखनी अविश्राम चलती रहे, इस तरह यदि आप बोल सके तो मैं लेखनी पकडने के लिये तैयार हूँ।" महर्षि ने उत्तर दिया, "आप मेरी उक्तियो का अर्थ सम्यक् रूप से समझे बिना कुछ नहीं लिखेंगे, यदि यह शर्त स्वीकार करें तो मैं उसी तरह बोलूंगी कि आपकी लेखनी विना रुके चलती रहे।" गणेश नें महर्षि की शर्त स्वीकार कर ली।[3] (वहुतो के मत से यह अश वाद को जोडा हुआ है।)

अनेको देवताओ के नाम—निम्न अध्यायो के विभिन्न प्रसगो मे अनेको देवताओ के नाम वँ उत्पत्ति का विवरण मिलता हैं। उनमे सें कई तो वर्त्तमान काल मे विलुप्त हो चुके है। ग्रथ के अधिक विस्तृत हो जाने के भय से उनकी यहाँ विस्तार से समीक्षा नही की है।

(क) आदित्यादि का वश-वर्णन—आदि ६५ वाँ तथा ६६ वाँ अध्याय। (ख) सभावर्णन—सभा ६।१६, १७। (ग) मार्कण्डेय समस्या—वन० २०४।३ (घ) कुमारोत्पत्ति—वन० २२७ वें अध्याय से लेकर २२९ वें अध्याय तक। (ङ) स्कन्दोत्पत्ति—शल्य० ४५ वाँ अध्याय। (च) जापकोपाख्यान—शाति० १९८।५, ६।

---

१. अभवत् कार्त्तिकेय. स त्रैलोक्ये सचराचरे।
स्कन्नत्वात् स्कन्दता प्राप्तो गुहावासाद गुहाऽभवत्॥ अनु ८६।१४।
अनु ८५।८२

२. आग्नेय. कृत्तिकापुत्रो रौद्रो गागेय इत्यपि।
श्रूयते भगवान देवः सर्वगुह्यमयो गुह॥ आदि १३७।१३

३. आदि १।५५-७९।

(छ) सर्वभूतोत्पत्ति---शान्ति० २०७ वाँ तथा २०८ वाँ अध्याय। (ज) शुकोत्पत्ति-शान्ति० ३२३ वाँ अध्याय। (झ) दानधर्म---अनु० ८२।७। (ञ) तारकवध---अनु० ८६।१५-१७।

अधिक पूजित देवता---उग्रप्रकृति देवताओ की ही साधारणत अधिक पूजा की जाती है। रुद्ररूप मे महादेव की सहारमूर्त्ति अत्यन्त भयकर होती है, इसीलिये उनकी पूजा का प्रचलन अधिक है। इसी तरह स्कद, शक्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, वैश्रवण, रवि, वसुगण, मरुत, साध्य, विश्वदेव, आदि देवता उग्र-स्वभावी माने जाते है, अत मनुष्य उनकी उपासना जी-जान से करता है, लेकिन ब्रह्मा, विष्णु आदि निरीह समदर्शी देवताओ की पूजा करना आवश्यक नही समझता।[1] उपर्युक्त कथन अर्जुन का है, जो उन्होने विरक्त युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिये उदाहरणस्वरूप दिया था। इस उक्ति मे यह इगित तो मिल जाता है कि उस काल मे इन देवताओ की पूजा का प्रचलन अधिक था, किन्तु मनुष्य का अनिष्ट करने वाले देवता सदा उग्र रूप धारण किये रहते है, यह कल्पना निर्मूल है। प्रत्येक देवता की यदि परमेश्वर रूप मे पूजा हो तो वह उग्र रूप धारण करेगा ही क्यो ?

देवताओ का जन्म और मरण---देवो का भी जन्म-मरण होता है। वह अपेक्षाकृत दीर्घायु होते है, इसलिये उन्हें अमर कहा गया है। उल्लिखित है कि प्राचीन काल मे देवासुर सग्राम मे दैत्यगुरु शुक्राचार्य निहत असुरो को मृतसंजीवनी विद्या से पुनर्जीवित कर लेते थे, किन्तु उस विद्या से अनभिज्ञ होने के कारण देवो की सख्या दिन पर दिन कम होती जा रही थी। इस पर देवताओ ने परामर्श करके बृहस्पति के पुत्र कच को वह विद्या सीखने के लिये शुक्राचार्य के पास भेजा।[2]

जातकर्मादि क्रिया---देवताओ मे भी जातकर्मादि वैदिक सस्कारो का प्रचलन था। स्कद का जातकर्म सस्कार महर्षि विश्वामित्र ने किया था।[3] कही कही विश्वामित्र की जगह बृहस्पति का नाम आया है।

चातुर्वर्ण्य---मानव समाज की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की तरह देवसमाज मे भी

---

१. य एव देवा हन्तारस्ताल्लोकोऽर्च्चयते भृशम्। शान्ति १५।१६-१९ शान्ति १२२ वाँ अध्याय।

२. आदि ७६ वाँ अध्याय।

३. मंगलानि च सर्वाणि कौमाराणि त्रयोदश।
जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाश्चक्रे महामुनिः॥ वन २२५।१३
जातकर्मादिकास्तत्र क्रियाश्चक्रे बृहस्पतिः। शल्य ४४।२१।

चातुवर्ण्य विद्यमान था। उनमे भी सब समान नही होते थे, वे भी भिन्न-भिन्न कर्मों पर नियुक्त होते थे।[1]

देवताओ का ऐश्वर्य—देवो मे सभी अणिमा आदि सिद्धियो के स्वामी होते हैं। इच्छा मात्र से वह बहुत कुछ कर सकते हैं। इन्द्र के बिसतन्तु प्रवेश एव शिव और विष्णु की व्यापकता के वर्णन से तो यही पता लगता है।[2]

देवो के विशिष्ट चिह्न—वर्णित है कि दमयन्ती की स्वयवर-सभा मे देवो ने नल का रूप धारण करके दमयन्ती को बहुत परेशान कर दिया था। दमयन्ती ने अपनी प्रखर बुद्धि के बल से कुछ विशिष्ट चिह्नो द्वारा देवो को पहचान कर नल के गले मे वरमाला डाली थी। देवो को पसीना नही आता, उनकी पलक नही झपकती, उनके पाँव जमीन से उठे हुए रहते हैं तथा उनकी पुष्पमाला कभी नही मुरझाती।[3]

देवता प्रकाशमान होते है—मनुष्य तो अपने कर्म के द्वारा प्रसिद्धि पाता है, किन्तु देवता तो स्वत ही प्रकाशस्वरूप होते हैं। कोई विशिष्ट कार्य न करने पर भी उनका तेज मलिन नही पडता।[4]

देवो मे उपास्य-उपासक भाव—देवो मे भी उपास्य-उपासक की भावना होती है। वृत्रवधोपाख्यान मे कहा गया है कि देवराज इन्द्र वृत्र के भय से विष्णु के शरणापन्न हुए। नारायण ने भयभीत पुरन्दर के शरीर मे अपना तेज सक्रमित कर दिया, इसके बाद ही इन्द्र को विजय मिली थी।[5] हैहयाधिपति अर्जुन कार्तवीर्य के अत्याचार से तग आकर भी देव विष्णु की शरण मे गये थे।[6]

अवतारवाद—जब समाज मे धर्म का नाश तथा अधर्म की वृद्धि होने लगती है, तब भगवान शरीर धारण करके मर्त्यलोक मे अवतीर्ण होते हैं और दुष्टो को वश मे करके धर्म की स्थापना करते हैं। वही विशृखल स्थिति को मर्यादा मे बाँधते हैं।[7]

---

१. शान्ति० २०८ वाँ अध्याय।

२. बिसतन्तुप्रविष्टञ्च तत्रापश्यच्छतक्रतुम्। उद्योग १४।११

३. सापश्यद्विबुधान् सर्वानस्वेदान् स्तब्धलोचनान्। इत्यादि। वन ५७।२४

४. प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः। अश्व ४३।२१

५. कालेयभयसंत्रस्तो देव साक्षात् पुरन्दरः।
जगाम शरणं शीघ्र त तु नारायण प्रभुम्। इत्यादि। वन १०१।९-११

६. देवदेव सुरारिघ्न विष्णुं सत्यपराक्रमम्। वन ११५।१५

७. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम॥ इत्यादि।

श्रीकृष्ण व रामचन्द्र का अवतार—महाभारत मे श्रीकृष्ण व रामचन्द्र को भगवान का अवतार माना है।[1]

कल्कि का अवतार—मार्कण्डेयसमास्यापर्व मे कहा गया है कि कलियुग मे जव अनाचार वहुत वढ जायगा तव सम्भलग्राम के एक ब्राह्मण टोले मे विष्णुयशा के नाम से कल्कि का अवतार होगा। वाद मे वह ब्राह्मण धर्मविजयी राज्यचक्रवर्ती के रूप मे धर्म का पुन सस्थापन करेगा।[2]

वराह—मोक्षधर्म मे वराह अवतार की कथा वर्णित है।[3]

यक्ष-पिशाच आदि देवयोनियो की पूजा—किसी किसी सम्प्रदाय मे यक्ष, पिशाच, गधर्व आदि देव भी पूजे जाते थे। लोगो की धारणा थी कि उनके प्रसाद से नाना प्रकार की व्याधियो का शमन होता है और उपासक अतुल सम्पदा का स्वामी वनता है।[4] सूर्यमुखी एव कमल के फूलो की माला आदि इन देवो को विशेष रूप से प्रिय होती है।[5]

गृहदेवी, राक्षसी (?) कहा गया है कि प्रत्येक गृहस्थ के घर मे एक राक्षसी का वास होता है, वह गृहदेवी कहलाती है। उसकी सन्तुष्टि के लिये तरह-तरह के उत्कृष्ट द्रव्य चढाने पडते हैं।[6] इसकी पूजाएँ भद्र परिवारों मे भी प्रचलित थी, इस पर विश्वास नही होता।

सात्विक आदि प्रकृति के भेद से पूज्य भेद—गीता मे भगवान ने कहा है कि सात्विक प्रकृति के लोग देवताओं की पूजा करते है, राजस प्रकृति वाले यक्ष-राक्षस आदि की पूजा करते है और तामसी मनुष्य भूत-प्रेत की पूजा करते है।[7]

भीष्म २८।७, ८। वन १८९।२७-३१
यदा धर्मो ग्लाति वंशे सुराणाम्।
तदा कृष्णो जायते मानुषेषु॥ अनु १५८।१२

१. विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै॥ वन ९९।४१
अंशेनावतरत्येवं तथेत्याह च तं हरिः॥ आदि ६४।५४

२. कल्की विष्णुयशा नाम द्विजः कालप्रचोदितः। इत्यादि। वन १९०।९२-९७

३. शान्ति २०९ वाँ अध्याय।

४. वन २२९।४७-५९

५. अर्कपुष्पैस्तु ते पञ्चगणाः पूज्या धनार्थिभिः। इत्यादि। वन २३०।१४, १५
जलजानि च माल्यानि पद्मादीनि च यानि वै। इत्यादि। अनु ९८।२९

६. गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठति राक्षसी। सभा १८।२

७. यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसा.।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ भीष्म ४१।४

विभूति की पूजा—जहाँ किसी विशिष्ट विभूति के दर्शन होते हैं वहाँ मनुष्य का मस्तक स्वय ही नत हो जाता है। कई वार उस तेजोमयी वस्तु की देवता के रूप मे पूजा करने की इच्छा होती है। अश्वत्थ वन्दन, हिमालय वन्दन आदि विभूति की ही पूजा है।[1]

सभी देव भगवान की विभूति, वही चरम उपास्य—उपासक अपनी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार किसी भी देवता की पूजा के द्वारा उस परम परमेश्वर की ही अर्चना करता है, यही महाभारत का सिद्धान्त है। भगवान प्रत्येक देवता के माध्यम से भक्त की अभिलाषा पूर्ण करते हैं। मन्त्र-तन्त्र, विधि-नियम सव कुछ उसी परमेश्वर को जानने के लिये होते हैं, अत देवता भी उस परमपिता परमात्मा से पृथक् रूप मे उपास्य नही है।[2]

---

१. अश्वत्थं रोचना गाञ्च पूजयेद यो नर सदा। इत्यादि। अनु १२६।५
शिशुर्यथा पितुरंके सुसुख वर्त्तते नग।
तथा तवांके ललित शैलराज मया प्रभो। इत्यादि। वन ४२।२७-३०

२. यदादित्यगत तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। भीष्म २९।१२
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य.। भीष्म २९।१५

उपासना

उपासना मुक्ति का साधन—मुक्तिलाभ के जितने उपाय हैं, उपासना उनमे अन्यतम है। प्रत्येक व्यक्ति भगवान का स्वरूप जानने के लिये आकुल रहता है। यह आकुलता किसी मे स्वत ही उत्पन्न हो जाती है और किसी मे दूसरे साधनो से आती है, किन्तु जल्दी समझे या देर मे, मनुष्य उस सत्य को समझता अवश्य है।

शाक्त-शैव आदि सम्प्रदाय—साकार उपासना करनेवाले शाक्त, शैव, वैष्णव आदि अनेको सम्प्रदाय है। महाभारत मे किसी भी सम्प्रदाय का नाम न होते हुए भी उपर्युक्त तीन सम्प्रदायो का वर्णन मिलता है।

निराकार-चिन्तन की दुःसाध्यता—श्रीमद्भगवतगीता मे कहा गया है कि निराकार की उपासना करना कठिन है। अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ विराट पुरुष की कल्पना करना सर्वसाधारण के लिये सम्भव नही है, विशेषत जब वह मन और वचन से परे है। अत उस अव्यक्त अरूप का ध्यान करना मुश्किल है। सगुण के उपासक को किसी एक रूप का ध्यान करने के फलस्वरूप सोपान आरोहण की तरह एक एक पद आगे बढने का सुयोग मिलता है। इसलिये सगुण निर्गुण की तुलना की जाय तो सगुण की उपासना काफी सहज है। निर्विषय, निरालम्ब ब्रह्म मे चित्त लगाना दुष्कर है।[१]

उपासना का फल—गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—"जो मेरी अर्थात सगुण परमेश्वर की भगवान के रूप मे उपासना करते हैं, मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप ससार सागर से उनका उद्धार कर देता हूँ।"[२]

पितरो की पूजा—बाह्य अनुष्ठानों मे साकार उपासना की तरह पितरो की पूजा का विधान भी है। साकार उपासना मे शास्त्रविधि से देवतास्वरूप भगवान

---

१. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अवक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। भीष्म ३६।५

२. अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसार सागरात्॥ भीष्म ३६।६, ७

की पूजा की जाती है और पितृपूजन मे स्वर्गवासी पितरों को पिडदान देकर श्राद्ध द्वारा तृप्त किया जाता है।

देवपितृपूजन का फल—कहा गया है कि जो देवो की अर्चना एव पितरो का श्राद्ध-तर्पण नही करते, वे मूढ होते हैं, वे कभी श्रेय लाभ नही कर पाते। जो पितर, देव, द्विज, अतिथि की अर्चना करता रहता है, मनोवाछित गति मे जाता है। यथा-विधि पूजित होने से देव तुष्ट होते हैं। उनको तुष्ट करने के वाद मनुष्य के लिये कुछ भी अप्राप्य नही रहता। याग-यज्ञ आदि भी देवो को प्रीत करने के हेतु हैं।[1]

सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म—तीनो सन्ध्या, अग्निहोत्र एव अर्चना नित्य कर्मो मे गण्य है। प्रत्येक ही वाह्य उपासना का अग है।[2] नित्य-उपासना पर अनगिनत उपदेश दिये गये हैं।[3]

नैमित्तिक व काम्यपूजा—गृहप्रवेश, विदेशयात्रा, तीर्थयात्रा व प्रत्यावर्त्तन, पुत्रजन्म आदि आनन्दोत्सव पर तथा विशिष्ट तिथि नक्षत्रो मे विशिष्ट कामनाओ से भगवान की विभिन्न मूर्त्तियो की पूजा करने का विधान मिलता है।[4]

उपासना मे जप की प्रधानता—जप उपासना का प्रधान अग है। जापको-पाख्यान मे जप के सबध मे वहुत कुछ कहा गया है। गीता मे भगवान ने कहा है—यज्ञ मे जप ही श्रेष्ठ है।[5]

---

१. श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि च चार्चति। उद्योग ३३।४०
सम्यक् पूजयसे नित्य गतिमिष्टामवाप्स्यसि। अनु ३१।३६
अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्हेवताः प्रीयन्ते। निवापेन पितरः। शान्ति १९१।१३
अनु १००।९, १०। अनु १०४।१४२

२. अग्निहोत्रञ्च यत्नेन सर्वश प्रतिपालयेत्। अनु १३०।२०।
वलि होमनमस्कारैर्म्मन्त्रैश्च भरतर्षभ। वन १५०।२४
जपैर्मन्त्रैश्च होमैश्च स्वाध्यायाध्ययनेन च। वन १९९।१३

३. सभा ४६।३१। उद्योग ८४।२६। शान्ति २९२।२०-२२। शान्ति ३४३।४३। शान्ति ३४५।२६-२८। आश्र ३२।१

४. आदि १६५।१३। सभा १।१८-२०। सभा ४।६। सभा २३।४, ५। वन ३७।३३। वन ८२ वाँ व ८३ वाँ अध्याय। विराट ४।५५। उद्योग १९३।९। शाति ३७।३१। शाति ३८।१४-१८

५. रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते।
तत्तेऽहं सप्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप॥ अनु १५०।६। शान्ति १९७ अध्याय से १९९ अध्याय तक।
यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि। भीष्म ३४।२५।

देवपूजा के लिए पूर्वाह्न तथा पितृपूजा के लिए अपराह्न श्रेष्ठ—देवपूजा के लिये पूर्वाह्नकाल तथा पितृपूजा के लिये अपराह्न काल उत्तम बताया गया है।[1]

गन्ध-पुष्प आदि बाह्य उपकरण—साकार पूजा के लिये जिन उपकरणो का उल्लेख किया गया है, उनमे गध (चन्दन आदि), पुष्प, धूप व दीप प्रधान हैं। जगह जगह इनकी श्रेष्ठता का गुणगान किया गया है। धूप एव दीप को किन उपायो से प्रीतिकर बनाया जा सकता है, इसका उल्लेख भी मिलता है।[2]

पूजक का खाद्य ही देवता का नैवेद्य—बाह्यपूजा मे उपास्य देवता को नैवेद्य चढाना पडता है। उपासक को अपना खाद्य पदार्थ ही देवता को चढ़ाने के लिये कहा गया है।[3]

भक्तिभाव से प्रदत्त पत्र, पुष्प आदि भी भगवान ग्रहण करते हैं—गीता मे भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—"मुझे भक्तिसहित पत्र, पुष्प, फल, जल जो कुछ भी चढाया जाता है, मैं वही खुश होकर ग्रहण कर लेता हूँ।"[4]

मूर्त्तिपूजा—"जो भक्त श्रद्धासहित जिस मूर्त्ति के द्वारा मेरी पूजा करता है, उसी मूर्त्ति पर मैं उसकी श्रद्धा करा देता हूँ।"[5] इस उक्ति के अलावा अन्यत्र भी प्रतिमा का जिक्र आया है।[6]

---

१. पूर्वाह्न एव कार्याणि देवतानाञ्च पूजनम्। अनु १०४।२३

२. देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः। अनु ९८।२१
गन्धेन देवास्तुष्यन्ति। अनु ९८।३५-३८। अनु ९८।४०-५४

३. यदन्ना हि नरा राजन् तदन्नास्तस्य देवताः। अनु ६६।६१

४. पत्रं पुष्पं फल तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ भीष्म ३३।२६

५. यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्च्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ भीष्म ३१।२१

६. देवता प्रतिमाश्चैव। भीष्म २।२६

आह्निक व कृत्य

धर्मशास्त्र श्रेय का निदर्शन करते हैं—कहा गया है कि षडग वेद और धर्मशास्त्र मानव के श्रेय का निदर्शन करते हैं। श्रेयपथ प्रदर्शित करने के निमित्त ही वेद एव धर्मशास्त्र की रचना हुई है।[1]

वेद तथा वेदानुमोदित स्मृति की प्रामाणिकता—धर्म एव अधर्म का निर्णय करने के लिये केवल लौकिक वुद्धि पर निर्भय रहने से काम नही चलता, तर्क को छोडकर श्रुति व स्मृति का आश्रय लेना चाहिये। जिस प्रकार भृत्य स्वामी की आज्ञा का पालन बिना किसी हिचक के करता है, उसी प्रकार वेद एव धर्मशास्त्र स्वरूप प्रभु की आज्ञापालन करने के लिये सनातनधर्मावलम्बी बाध्य होते हैं। इसीलिये इन सब शास्त्रो को प्रभुसम्मत शास्त्र कहा गया है। धर्म-अधर्म या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय मे वेद ही श्रेष्ठ प्रमाण हैं। जिन आचरणो को वेद अनिद्य वताते हैं एव जिन अनुष्ठानो को जिस वर्ण व आश्रम के लिये विहित वताते हैं उनको वर्णाश्रम-समाज नतमस्तक होकर मानता है।[2]

वेद स्वत ही प्रमाण है, इसी कारण सब शास्त्रो मे उनकी प्रधानता है।[3] धर्म के निर्णय मे वेद के वाद धर्मशास्त्र का स्थान आता है। यज्ञ आदि आचार अनुष्ठानो का नाम धर्म है। धर्मप्रतिपादक शास्त्र को 'स्मृति' भी कहा जाता है। श्रुति का अर्थ स्मरण करके ऋषियो ने इस शास्त्र का निर्माण किया है, इसीलिये इसका नाम स्मृतिशास्त्र पडा। स्मृतिशास्त्र के वेदमूलक होने के कारण ही उसकी प्रामाणिकता स्वीकृत हुई है।[4]

---

१. धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडंगानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मण.॥ शान्ति २९७।४०

२. श्रुतिप्रमाणो धर्म स्यादिति वृद्धानुशासनम्। वन २०५।४१। वन २०६।८३
वन २०८।२। अनु १४१।६५
कुर्वन्ति धर्मं मनुजा· श्रुतिप्रामाण्यदर्शनात्। शान्ति २९७।२२
शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम्। वन १९९।११४

३. नास्ति वेदात् पर शास्त्रम्। अनु १०६।६५
वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्। शान्ति २६९।४३

४ धर्मशास्त्रेषु चापरः। इत्यादि। वन २०६।८३। अनु १४१।६५

मनु का आदर—महाभारत मे मनुसहिता के वहुत से वचन उद्धृत हुए हैं। आचार-अनुष्ठान, राजधर्म आदि के वारे मे मनु का मत लिया गया है। किसी भी मत का समर्थन करने के लिये ग्रथकार ने श्रद्धा सहित मनु का स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि उस काल मे मनुसहिता को उच्च स्थान प्राप्त था। स्मृति-शास्त्र मे मनुस्मृति की प्रधानता सदा ही स्वीकृत हुई है। सनातन हिन्दू समाज तथा शास्त्रकारो पर आज भी मनुस्मृति का प्रभाव सवसे अधिक है।

गृहकर्म की विधि—शान्ति व अनुशासन पर्व के कई अध्यायो मे सिर्फ नित्य कर्म आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रात शय्यात्याग से लेकर रात को पुन. शय्याग्रहण तक एक एक गृहस्थ को क्या-क्या करना चाहिये, इन अध्यायो मे यह विस्तार से वताया है।[1] ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एव भिक्षुओ के कर्त्तव्य आदि के सवन्ध मे भी किसी-किसी अध्याय मे विशद विवरण मिलता है। ('चतुराश्रम' प्रवध देखिये।)

आर्षशास्त्र अतिक्रमणीय नहीं—श्रद्धासहित धर्मशास्त्र के नियमो का पालन करना चाहिये, ऋषिवचनो पर सदेह करना उचित नही है। आर्ष का उल्लघन करके जो व्यक्ति मनमानी करता है, उसे जीवन मे कभी सुख नसीव नही होता, वह नितान्त मूढ कहलाता है।[2] जो व्यक्ति आर्षशास्त्र पर अश्रद्धा करता है तथा सज्जन महापुरुषो का अनुसरण नही करता, वह इहलोक व परलोक कही भी श्रेय लाभ नही कर सकता।[3]

ऋषियो की सर्वज्ञता—पुराणादि शास्त्रो के रचयिता ऋषियो की प्रज्ञा मे सदेह नही करना चाहिये। वे सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी होते हैं। वे अपना जीवन विश्व-कल्याण के लिये उत्सर्ग कर देते हैं।[4]

---

१. शान्ति ६३वाँ, ११० वाँ, १९३ वाँ तथा २९४ वाँ अध्याय। अनु १०४ वाँ, १०६ वाँ, १३५ वाँ और १४५ वाँ अध्याय।

२. आर्षं प्रमाणमुत्क्रम्य धर्मं न प्रतिपालयन्।
सर्वशास्त्रातिगो मूढः शं जन्मसु न विन्दति॥ वन ३१।२१
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारत.।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ भीष्म ४०।२३

३. यस्य नार्षं प्रमाणं स्याच्छिष्टाचारश्च भाविनि।
नैव तस्य परो लोको नायमस्तीति निश्चयः॥ वन ३।२२

४. शिष्टैराचरित धर्मं कृष्णे मा स्याभिशंकियाः।
पुराणमृषिभि. प्रोक्तं सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः। वन ३१।२३

शास्त्रादेश पालन का परिणाम शुभ—आचार अनुष्ठान आदि यदि वृथा होते तो देवता, ऋषि, मानव, गधर्व, असुर, राक्षस आदि अनुष्ठाता शास्त्रो का अनुसरण क्यो करते? ध्यान-धारणा व तपस्या का फल हाथो-हाथ मिलता है। इससे भी अदृष्ट फल का अनुमान लगाया जा सकता है। शास्त्रीय अनुष्ठानो का परिणाम सुखकर होने के कारण ही अनुष्ठाता विना किसी हिचक के उनका पालन करते हैं। अनुष्ठान करते ही फल नही मिल जाता, समय की प्रतीक्षा करनी पडती है। समय आने पर अनुष्ठाता को कर्मजनित शुभ या अशुभ फल मिलता है। कर्म का फल एकमात्र शास्त्रगम्य होता है, साधारण वुद्धि द्वारा शुभ या अशुभ का निर्णय करना कठिन है। अज्ञान दोष से मनुष्य की प्रज्ञा आच्छादित रहती है, अत शास्त्रानुशासन पालन करना ही कल्याणकारक है।[१]

शास्त्रविहित अदृष्ट फल मे सन्देह नहीं करना चाहिए—शुभ कर्म आदि का फल साथ के साथ न दिखाई देने पर भी धर्म पर सदेह करना उचित नही है, कर्म का फल अवश्यम्भावी होता है, अतएव यथाविधि यज्ञ आदि का अनुष्ठान करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।[२]

कर्म आवश्यक कर्त्तव्य—अनुष्ठान किये बिना चित्त शुद्ध नही होता, अनुष्ठान ही धर्म है, इसलिये कर्म मनुष्य को करना ही चाहिये, यही मनु का अभिमत है।[३]

श्रद्धा ही सब कर्मों का मूल—शास्त्रविहित कर्म का सबसे वडा सम्वल श्रद्धा होती है। विना श्रद्धा के किसी भी अनुष्ठान का फल नही मिलता। अश्रद्धा पाप का कारण है और श्रद्धा पापनाश का। मनुष्य के भाव यदि निर्मल न हो तो अग्निहोत्र, व्रत, उपवास आदि सव वेकार है।[४]

शय्या त्याग के समय स्मरणीय—ब्राह्ममुहूर्त्त मे शय्या त्याग के समय विष्णु, स्कद, अम्बिका आदि देवो, यवक्रीत, रैम्य, अर्वावसु, परावसु, काक्षीवान, औशिज आदि राजाओ, एव अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, व्यास, विश्वामित्र

---

१. विप्रलम्भोऽमत्यन्त यदि स्युरफला. क्रिया.। इत्यादि। वन ३१।२८-३६

२. न फलादर्शनाद्धर्म. शकितव्यो न देवताः।
यष्टव्य च प्रयत्नेन दातव्य चानसूयता॥ इत्यादि। वन ३१।३८, ३९

३. कर्तव्यमेव कर्मेति मनोरेष विनिश्चय.। वन ३२।३९

४ अश्रद्धा परम पाप श्रद्धा पापप्रमोचिनी।
जहाति पाप श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥ शान्ति २६३।१५।
अग्निहोत्र वने वास शरीरपरिशोषणम्।
सर्वाण्येतानि मिथ्या स्युर्यदि भावो न निर्मलः॥ वन १९९।९७

आदि महर्षियो का स्मरण करना चाहिये। जो प्रात काल इन्हे याद करता है उसका कभी अमगल नही होता।[1]

प्रातःकाल की स्पृश्य वस्तुएँ—प्रात काल गऊ, घृत, दही, रोचना आदि मागलिक द्रव्यो का स्पर्श करना शुभ होता है।[2]

सूर्योदय के वाद नहीं सोना चाहिए—सूर्योदय से पूर्व ही शय्या त्याग कर देना चाहिये।[3]

मलमूत्रोत्सर्ग का नियम—राजपथ पर, चरागाह मे, खेत मे, जल मे, राख के ढेर मे एव गाँव के वहुत निकट मल, मूत्र का त्याग करना निषिद्ध है। दिन मे उत्तर की ओर मुंह करके तथा रात को दक्षिण की ओर मुँह करके मल-मूत्र त्याग करना चाहिये। खडे होकर पेशाब नही करना चाहिये। मलमूत्र का त्याग करने के लिये सूर्य की ओर मुँह करके वैठना वहुत ही अनुचित है।[4]

शौच आचमन आदि—यथाविधि शौचादि करके अच्छी तरह पाँवो का प्रक्षालन व आचमन करना चाहिये। कही से चलकर आने के वाद भी पाँव अवश्य धोने चाहिये। कहा गया है कि पाद-प्रक्षालन न करने के कारण ही राजा नल कलि द्वारा सताये गये थे।[5]

दन्तधावन—अमावस्या तथा दूसरे किसी पर्व के दिन दातौन का व्यवहार निषिद्ध वताया है। मौन धारण करके शास्त्रविहित काष्ठ के द्वारा प्रात काल दतधावन करना चाहिये।[6]

---

१. विष्णुर्देवोऽथ जिष्णुश्च स्कन्दश्चाम्बिकया सह।

× × × ×

एतान् वै कल्यमुत्थाय कीर्त्तयन् शुभमश्नुते॥ अनु १५०।२८-६०

२. कल्य उत्थाय यो मर्त्यः स्पृशेद् मां वै घृतं दधि। अनु १२६।१८

३. न च सूर्योदये स्वपेत्। इत्यादि। शान्ति १९३।५। अनु १०४।१६, ४३

४. नोत्सृजेत पुरीषण्ण क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके। इत्यादि। अनु १०४।५४,६१ अनु ९३।१२४। शान्ति १९३।३।
उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङमुखः। इत्यादि। अनु १०४।७६, ६१। अनु ९३।११७।

५. कृत्वा मूत्रमुपस्पृश्य संध्यामन्वास्त नैषधः।
अकृत्वा पादयोः शौच तत्रैनं कलिराविशत्॥ इत्यादि। वन ५९।३। शान्ति १९३।४। अनु १०४।३९।

६. दन्तकाष्ठञ्च यः खादेदमावस्यामबुद्धिमान्। इत्यादि। अनु १२७।५। अनु १०४।२३, ४२-४५।

गृहमार्जन आदि—घर को सदा साफ-सुथरा रखना चाहिये। घर यदि गदा हो तो देवता व पितर निराश होकर लौट जाते हैं। गोबर से घर अच्छी तरह लीपना चाहिये।[1]

स्नान विधि—दतधावन के बाद स्नान करने का नियम है। नदी मे स्नान करना उत्तम बताया है।[2]

सन्ध्या आह्निक—स्नान के बाद ही सध्या-उपासना एव तर्पण का विधान है। प्रात काल सध्या को सध्योपासना करने का उल्लेख मिलता है। मध्याह्न सध्या के बारे मे महाभारत मे कुछ नही कहा गया है। ऋषि-मुनि अपना अधिक समय सन्ध्या-वन्दन मे बिताते थे, इसीलिये वे दीर्घजीवी होते थे। जो ब्राह्मण सध्या-वन्दन आदि से विमुख हो उससे राजा को शूद्र का काम लेने को कहा है। सध्योपासना के बिना ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व सुरक्षित नही रह पाता।[3]

अग्निहोत्र—प्रात एव सान्ध्य कर्मों मे होम भी नित्यकर्म है। शास्त्रविधि से अग्न्याध्यान करना द्विजाति का आवश्यक कर्त्तव्य है। अग्नि की परिचर्या से ब्राह्मण को उत्तम गति मिलती है। अग्निहोत्र यज्ञ ही सब वैदिक कर्मों का मूल है।[4]

अग्नि का प्रतिनिधि—अग्नि के अभाव मे सुवर्ण को उसके प्रतिनिधि के रूप मे लिया जा सकता है। वाल्मीकवपा, ब्राह्मणपाणि, कुशस्तब, जल, शकट एव अज के दक्षिण कर्ण को भी अग्नि के प्रतिनिधिस्वरूप ग्रहण करने का विधान है।[5]

यज्ञ का अधिकारी—यज्ञ का अधिकार केवल ब्राह्मण को दिया गया है, शूद्र को यज्ञ का अनधिकारी बताया है।[6] द्विजातियो मे भी स्त्रियो को यज्ञ का अधिकार नही मिला है। अमत्रज्ञ होने के कारण स्त्रियाँ अग्निहोत्र-होम मे आहुति देने की अधिकारी नही होती। आश्वलायन ऋषि ने स्मार्त्ताग्नि-होम मे स्त्रियो का अधिकार

---

१. गोशकृत् कृतलेपना। इत्यादि। अनु १४६।४८। अनु-१२७।७।
२. उपस्पृश्य नदीं तरेत्। शान्ति २९३।४।
३. सायंप्रातर्जपेत सध्या तिष्ठन् पूर्वा तथेतराम्। इत्यादि। शान्ति १९३।५। अनु १०४।१६, १७।
ऋषयो नित्यसध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन्। इत्यादि। अनु १०४।१८-२०।
४. आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तम.। इत्यादि। शान्ति २९२।२०, २२। अनु ९७।७।
५. अग्न्यभावे च कुरुते वह्निस्थानेषु काञ्चनम्। इत्यादि। अनु ८५।१४८-१५०
६. द्विजाति. श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति। इत्यादि। शान्ति ६०।५१, ४६। शान्ति १६५।२१।

माना है, लेकिन महाभारत मे स्त्रियो का श्रौताग्निहोम करना निषिद्ध बताया है—यही नीलकठ का मत है। शास्त्रवचन का उल्लघन करके होमानुष्ठान आदि करने से स्त्रियाँ नर्कगामी होती है।[1]

यज्ञ मे अविहित द्रव्य—शूद्र के घर का द्रव्य यज्ञ मे नही लगाया जा सकता, अत यज्ञ के निमित्त शूद्र से कुछ भी नही लेना चाहिये।[2]

सन्ध्या-उपासना के अनगनित उदाहरण—महाभारत मे सध्या-उपासना के उदाहरण भरे पडे है। यहाँ तक कि युद्धकाल मे भी सध्या-उपासना की बात कोई नही भूला है।[3]

देवपूजा—देवपूजा के लिये पूर्वाह्ण ही उत्तम है। सध्या-आह्निक के बाद देवपूजा का विधान है। देवपूजा किये विना कही भी यात्रा पर नही जाना चाहिये।[4]

प्रसाधन—केशप्रसाधन तथा अजन लेपन पूर्वाह्ण मे ही कर लेना चाहिये।[5]

मध्याह्न स्नान—मध्याह्न काल मे पुन स्नान करने का नियम है। नग्न होकर स्नान नही करना चाहिये। रात को स्नान निषिद्ध बताया है। स्नान के बाद शरीर पोछना अनुचित है। गीले वस्त्र पहने रहना भी निषिद्ध है।[6]

स्नान के दस गुण—स्नान के दस गुण बताये हैं—बलवृद्धि, रूप, स्वर व वर्ण की विशुद्धि, सुस्पर्श तथा सुगधकारक, विशुद्धिजनक, श्री व सुकुमारता की वृद्धि एव नारी प्रियत्व।[7]

---

१. नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः।
परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा॥ इत्यादि। शान्ति १६५।२१, २२। नीलकण्ठ देखिए।

२. आहरेदथ नो किञ्चित् कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
न हि यज्ञेषु शूद्रस्य किञ्चिदस्ति परिग्रहः॥ शान्ति १६५।८

३. उपास्य संध्यां विधिवत् परन्तपा.। इत्यादि। शान्ति ५८।३०। वन १६१।१। द्रोण ७०।८। उद्योग ९४।६। आश्र २७।५।

४. पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानाञ्च पूजनम्। इत्यादि। अनु १०४।२३, ४६।

५. प्रसाधनञ्च केशानामञ्जनं...। पूर्वाह्ण एष कार्याणि...। अनु १०४।२३।

६. न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन। इत्यादि। अनु १०४।५१, ५२।

७. गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः। इत्यादि। उद्योग ३७।३३।

दूसरे के पहने वस्त्र आदि का अव्यवहार—दूसरे के पहने के हुए जूते, वस्त्र आदि का व्यवहार कभी नही करना चाहिये।[1]

अनुलेपन—स्नान के वाद अनुलेपन करना उत्तम है।[2]

वैश्वदेवादि-बलि—भोजन करने से पहले ही वलि (भोज्यदान) तथा वैश्वदेव विधि सम्पन्न करने का विधान है। यज्ञ द्वारा देवता, आतिथ्य द्वारा मनुष्य एव वलि आदि कर्म द्वारा सर्वभूत की तुष्टि की जाती है।[3] अन्न पकाने के वाद उस अन्न से अग्नि मे यथाविधि वैश्वदेव वलि देनी चाहिये। उसके वाद उसी अन्न की अग्नीषोम, धन्वन्तरि, प्रजापति आदि देवताओ के उद्देश्य से पृथक् पृथक् आहुति देनी चाहिये।[4]

निशाचर बलि—इसके वाद दक्षिण दिशा मे यम को, पश्चिम मे वरुण को, उत्तर मे सोम को, पूर्व मे शक्र को, ईशान कोण मे धन्वन्तरि को, वास्तु के मध्य मे प्रजापति को, गृहद्वार पर मनुष्य को, घर मे मरुद्गणो को एव आकाश मे विश्वेदेवो को वलि देनी चाहिये। रात को निशाचरो के उद्देश्य से वलि देनी चाहिये।[5]

भिक्षादान—वलि के वाद द्वार पर उपस्थित द्विज को भिक्षा देने का नियम है। ब्राह्मण की अनुपस्थिति मे भोज्य का अग्रभाग अग्नि मे डाल देना चाहिये।[6]

श्राद्ध के दिन बलि का विधान—श्राद्ध के दिन श्राद्धकर्म के वाद वलि देने का विधान है[7] पितृकृत्य के वाद यथाक्रम वलि, वैश्वदेव, ब्राह्मणभोजन, अतिथि सेवा इत्यादि करने चाहिये।[8]

---

१. उपानहौ च वस्त्रञ्च धृतमन्यैर्न धारयेत्। अनु १०४।२८।

२. न चानुलिम्पेदस्नात्वा। अनु १०४।५२-

३. सदा यज्ञेन देवाश्च सदातिथ्येन मानुषा.। इत्यादि। अनु ९७।६, ७

४. अग्नीषोमं वैश्वदेवं धान्वन्तर्यमनन्तरम्।
प्रजानां पतये चैव पृथग्घोमो विधीयते॥ अनु ९७।१०

५. तथैव चानुपूर्व्येण वलिकर्म प्रयोजयेत्।
दक्षिणायां यमायेति प्रतीच्यां वरुणाय च॥ इत्यादि। अनु ९७।११-१४

६ एवं कृत्वा बलिं सम्यग् दद्याद्भिक्षां द्विजाय वै।
अलाभे ब्राह्मणस्याग्नावग्रमुद्धृत्य निक्षिपेत्। अनु ९७।१५

७ यदा श्राद्धं पितृभ्योऽपि दातुमिच्छेत मानव.
तदा पश्चात् प्रकुर्वीत निवृत्ते श्राद्धकर्मणि॥ अनु ९७।१६।

८. पितॄन् सन्तर्पयित्वा तु बलिं कुर्याद्विधानत.। अनु ९७।१७, १८

'वैश्वदेव' शब्द का अर्थ—सब प्राणियो के उद्देश्य से जो दान किया जाय, उसी को 'वैश्वदेव' कहते हैं। रात एव दिन मे भोजन से पहले 'वैश्वदेव' विधि सम्पन्न करनी पडती है।[1]

सबके भोजन कर लेने के वाद अन्नग्रहण—उपर्युक्त विधि से अन्न निवेदित करने के वाद परिवार के सब लोग जव भोजन कर चुकें तव गृहस्थ को अन्न ग्रहण करना चाहिये।[2]

देवयक्ष आदि के भेद से बलि का द्रव्य भेद—देववलि मे पुष्प सहित दही तथा दुग्धमय सुगधित प्रियदर्शी अन्न निवेदित करना चाहिये। यक्ष व राक्षस की वलि मे मासादि द्रव्य, नागवलि मे सुरा, आसव सहित भृष्ट धान्य इत्यादि एव भूत वलि मे गुड मिश्रित तिल देना प्रशसनीय है। रोज चूँकि इन द्रव्यो का सग्रह करना सभव नही है, इसलिये अपने खाद्य द्रव्य की ही प्रत्येक के उद्देश्य से वलि देनी चाहिये।[3]

बलि देने से आत्मतुष्टि—जो गृहस्थ नित्य वलि देता है, उसे निरतिशय आनन्द मिलता है। जिस प्रकार देने वाले को आत्मतुष्टि मिलती है, उसी प्रकार लेने वाला भी प्रीति लाभ करता है।[4]

ब्राह्मणो का यज्ञोपवीत धारण—ब्राह्मण को नित्यप्रति यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। यज्ञोपवीत धारण करके ही क्रियाकाड करने चाहिये।[5]

ताम्रपात्र की प्रशस्तता—उपवास के दिन जलग्रहण, वलि-निवेदन, भिक्षादान, अर्घ्यदान एव पितरो को तिलोदक दान आदि के लिये तांवे का वर्त्तन श्रेष्ठ वताया है।[6]

---

१. श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद्भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायम्प्रातर्विधीयते॥ अनु ९७।२२

२. गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत्। अनु ९७।२१।

३. वलय सह पुष्पैस्तु देवानामुपहारयेत्।
दधिदुग्धमयाः पुण्या. सुगन्धाः प्रियदर्शना.॥ इत्यादि। अनु ९८।६०।६२

४. यया च गृहिणस्तोषो भवेद्वै वलिकर्मणि।
तया शतगुणा प्रीतिर्देवतानां प्रजायते॥ अनु १००।७।

५. नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती॥ उद्योग ४०।२५।

६. उपवासे वलौ चापि ताम्रपात्र विशिष्यते। इत्यादि। अनु १२६।२२, २३
प्रगृह्यौदुम्वरं पात्रं तोयपूर्ण उदङ्मुख.॥ इत्यादि अनु १२६।२०
अनु १२५।८२। अनु १३४।४।

गोश्रृंगाभिषेक—काम्यव्रत एव अनुष्ठानादि मे गोश्रृगअभिषेक नामक एक अनुष्ठान का भी उल्लेख मिलता है। प्रात काल स्नान, आह्निक के वाद चरागाह मे जाकर दर्भवारि अर्थात् कुशमिश्रित जल से गोश्रृग का अभिषेक करना चाहिये और वही जल अपने मस्तक पर लगाना चाहिये, इससे समस्त तीर्थों के स्नान का फल मिलता है।[1]

सोम वलि—पूर्णिमा के दिन खडे होकर घृत-अक्षत युक्त जल अजलि द्वारा सोम के उद्देश्य से निवेदित किया जाय तो होमकार्य का पुण्यफल मिलता है। दूसरी जगह कहा गया है कि ताम्र पात्र से मधुमिश्रित पके हुए अन्न की सोमवलि देने से, उस वलि को साध्य, रुद्र, विश्वदेव, अश्विनीकुमार एव दूसरे देवता ग्रहण करते है।[2]

नीलवृष-अभिषेक—श्रृग द्वारा मिट्टी लेकर तीन दिन तक नीलवृष का अभिषेक करने से समस्त अशुभ कर्मों का नाश होता है।[3]

आकाशशयन योग—पौष मास के शुक्ल पक्ष मे यदि रोहिणी नक्षत्र का योग हो तो उस योग को 'आकाश-शयन' कहा जाता है। उस दिन स्नात व शुचि होकर, एक वस्त्र पहन कर भक्तिभाव से सोमरश्मि का पान करने से महायज्ञ का फल मिलता है।[4]

अमावस्या के दिन वृक्ष-छेदन निषिद्ध—अमावस्या को पेड वगैरह नही काटने चाहिये। काटने से ब्रह्महत्या का पाप लगता है।[5]

---

१. कल्यमुत्थाय गोमध्ये गृह्य दर्भान् सहोदकान्।
निषिञ्चेत गवा श्रृगे मस्तकेन च तज्जलम्।। इत्यादि।
अनु १३०।१०-१२

२. सलिलस्याञ्जलिं पूर्णमक्षताश्च घृतोत्तराः।
सोमस्योत्तिष्ठमानस्य तज्जल चाक्षताश्च तान्।। इत्यादि। अनु १२७।१, २। अनु १३४।४-७

३. नीलषण्डस्य श्रृगाभ्या गृहीत्वा मृत्तिकान्तु यः।
अभिषेकं त्र्यह कुर्यात्तस्य धर्मं निबोधत।। इत्यादि। अनु १३४। १-३।

४. पौषमासस्य शुक्ले वै यदा युज्येत रोहिणी।
तेन नक्षत्र योगेन आकाशशयनो भवेत्।। इत्यादि। अनु १२६।४८, ४९

५. वनस्पतिञ्च यो हन्यादमावस्यामवुद्धिमान्।
अपि ह्येकेन पत्रेण लिप्यते ब्रह्महत्यया।। अनु १२७।३।

व्रत का फल—जो शास्त्रानुसार व्रत, उपवास आदि का पालन करते हैं वह सनातन लोक को प्राप्त होते हैं। ससार मे यम नियम का फल प्रत्यक्ष ही मिल जाता है।[1]

संकल्प विधान—प्रात काल उत्तराभिमुख होकर ताम्रपात्र मे जल लेकर व्रत का सकल्प पढना चाहिये। ताम्रपात्र आदि के अभाव मे मन ही मन व्रत का सकल्प किया जा सकता है।[2]

मन्त्रसंस्कृत द्रव्य ही हविः—मन्त्र द्वारा सस्कृत व प्रोक्षित किये हुए द्रव्य को ही 'हवि' कहा जाता है। हवि दैव एव पितृकर्म मे व्यवहृत होता है।[3]

उपवास-विधि—सब व्रतो मे अनशन ही प्रधान व्रत है। विशेष विशेष तिथि, नक्षत्र एव मासभेद से काम्य उपवासो के वहुत फल बताये गये है। सबका वर्णन यहाँ करना सम्भव नही है।[4] जल, मूल, फल, दूध, हवि, औषध तथा ब्राह्मण या गुरु के आदेश से किसी दूसरे द्रव्य को खाने से भी उपवास भग नही होता।[5]

पुण्याहवाचन—मागलिक कार्य मे पुण्याहवाचन करने का भी विधान है।[6]

दक्षिणादान—हर व्रत, अनुष्ठान आदि की सिद्धि के निमित्त दक्षिणा देनी पडती है। याग-यज्ञ आदि दक्षिणा के विना पूर्ण नही होते। दक्षिणास्वरूप भूमि, गाय, अथवा कचन देने का विधान है।[7]

---

१. यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा सम्प्रतिपद्यते।
अखण्डं सम्यगारभ्य तस्य लोकाः सनातनाः॥ इत्यादि। अनु ७५।८, ९

२. प्रगृह्यौदुम्बरं पात्रं तोयपूर्णं उदङ्मुखः।
उपवासन्तु गृह्णीयाद् यद्वा संकल्पयेद् व्रतम्। इत्यादि। अनु १२६।२०, २१।

३. हविर्यत् संस्कृतं मन्त्रैः प्रोक्षिताभ्युक्षितं शुचि। इत्यादि। अनु ११५।५२। अनु ११६।२२।

४. तपो नानशनात् परम्। इत्यादि। अनु १०६।६५।

५. अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः। इत्यादि। उद्योग ३९।७१, ७२।

६. ततः पुण्याऽघोषोऽभूत। शान्ति ३८।१९।

७. वेदोपनिषदश्चैव सर्वकर्मसु दक्षिणा।

पुराणादि श्रवण की दक्षिणा—ब्राह्मण से तत्त्वकथा या पुराण आदि सुनने पर भी दक्षिणा देने का नियम है।[१]

अनुकल्प विधान—आपद्काल मे किये जाने वाले धर्म कर्मो के लिये अनुकल्प की व्यवस्था की गई है। जो व्यक्ति समर्थ हो उसे प्रथम कल्प से अनुष्ठान आदि करने चाहिये, असमर्थ होने पर दूसरे कल्प अर्थात अपेक्षाकृत सहज भाव से अनुष्ठानादि सम्पन्न करने पर भी फल मे कोई अन्तर नही पडता। किन्तु जो पूर्ण रूप से समर्थ होते हुए भी दूसरे कल्प का आश्रय लेते हैं, उन्हे शास्त्रविहित फल नही मिलता। शास्त्रो मे वताये फल को उसी रूप मे भोग करने के लिये अनुष्ठान आदि यथासम्भव त्रुटिरहित सम्पन्न करने चाहिये।[२]

प्रतिग्रह की योग्यता—दक्षिणा आदि दान लेने से धर्मनिष्ठ ब्राह्मण को कोई पाप नही लगता। जो ब्राह्मण यथारीति ब्राह्मण जप करता है, जिसका चरित्र निर्मल होता है, उसकी प्रतिग्रह से कोई क्षति नही होती। अध्यापना, याजन तथा प्रतिग्रह तेजस्वी ब्राह्मणो के लिये दूषणीय नही हैं। ऐसा ब्राह्मण प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह पवित्र होता है।[३]

अप्रतिग्राह्य द्रव्य (तिलादि)—किसी किसी द्रव्य का दान लेने से ब्राह्मण का तेज किञ्चित मलिन हो जाता है, इसलिये उसके प्रतिकार की व्यवस्था भी की गई है। तिल व घृत का दान लेने पर सावित्री मन्त्र पढकर अग्नि मे आहुति डालनी चाहिये, मास, मधु व लवण लेने पर सूर्य दर्शन करना चाहिये, सुवर्णदान लेने पर गुरुश्रुति मन्त्र का जप करना चाहिये, वस्त्र, स्त्री, लोहा, अन्न, खीर व इक्षुरस का दान लेने पर त्रिसन्ध्या अवगाहन करना चाहिये, आउस धान, पुष्प, फल आदि

सर्वक्रतुषु चोद्दिष्टं भूमिर्गावोऽथ काञ्चनम्। इत्यादि। अनु ८४।५। शान्ति ७९।११

१. गो कोटिं स्पर्शयामास हिरण्यं तु तथैव च। इत्यादि। शान्ति ३१८।९६। स्वर्गा ६ वां अध्याय।

२ अनुकल्पः परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम्। इत्यादि। शान्ति १६५। १५-१६।
प्रभु प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।
न साम्परायिक तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्। शान्ति १६५।१७।

३. सायप्रातश्च सध्या यो ब्राह्मणोऽभ्युपसेवते। इत्यादि। वन १९९।८३, ८४
नाध्यापनाद् याजनाद्वा अन्यस्माद्वा प्रतिग्रहात्।
दोषो भवति विप्राणा ज्वलिताग्निसमा द्विजाः॥ वन १९९।८७।

मिलने पर सौ वार गायत्री जप करना चाहिये। भूमिदान मिलने पर तीन रात के उपवास का विधान है।[1]

तीर्थपर्यटन—महाभारत मे भारत के बहुत से तीर्थस्थानो का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। वनपर्व तथा शल्यपर्व मे अनगिनत तीर्थों का उल्लेख मिलता है। वर्त्तमान काल की भौगोलिक स्थिति वदल जाने के कारण उनमे से बहुत से तो लुप्त हो चुके हैं और वहुतो के नाम बदल गये है।[2]

तीर्थयात्रा का अधिकारी—तीर्थाटन से याग-यज्ञ का फल मिलता है तथा अन्त शुद्धि होती है। यथोक्त फल पाने के लिये चित्त की निर्मलता का होना आवश्यक है। पवित्र अन्त करण सवसे वडा तीर्थ होता है और मानसिक पवित्रता श्रेष्ठ धर्म है।[3]

तीर्थाटन के फल का अधिकारी—जिसकी इन्द्रियाँ व मन सयत हो, जो दुर्व्यसनी न हो, दभ आदि से रहित हो, अक्रोधी, सत्यनिष्ठ, दयालु एव भक्तिपरायण हो, उसे ही तीर्थाटन का फल मिलता है।[4]

शयन के लिए दिशा-निर्णय—उत्तर या पश्चिम की तरफ सिर करके नही सोना चाहिये। पूर्व तथा दक्षिण की ओर सिर करके सोना चाहिये। टूटी खाट पर नही सोना चाहिये।[5]

श्मश्रुकर्म—पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके हजामत बनाने से आयु मे वृद्धि होती है।[6]

---

१. घृतप्रतिग्रहे चैव सावित्री-समिदाहुतिः। इत्यादि। अनु १३६।४-११

२. अनु २६ वाँ अध्याय।

३. तीर्थाभिगमन पुण्य यज्ञैरपि विशिष्यते। वन ८२।१७
तीर्थानां हृदयं तीर्थम्। शान्ति १९३।१८
मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः। शान्ति १९३।३१

४. यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते। इत्यादि। वन ८२।९-१३

५. उदक्-शिरा न स्वपेत तया प्रत्यक्शिरा न च।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानयवा दक्षिणाशिराः॥ इत्यादि। अनु १०४।४८, ४९।

६. प्राङ्मुखः श्मश्रुकर्माणि कारयेत् सुसमाहित.।
उदङ्मुखो वा राजेन्द्र तयायुर्विन्दते महत्॥ अनु १०४।१२९।

सन्ध्या समय कर्मविरति—संध्या होने पर हर तरह के वैषयिक कार्य से विरति ले लेनी चाहिये[1]

आचार पालन से दीर्घायु—जो व्यक्ति शास्त्रविहित आचारो का पालन करता है वह सुखी एव स्वस्थ जीवन के शत वर्ष व्यतीत करता है तथा मृत्यु के बाद उत्तमगति को प्राप्त होता है। अत सब आचारो का पालन करने का यत्न करना उचित है।[2]

---

१. सध्याया न स्वपेद् राजन् विद्यां नैव समाचरेत्। अनु १०४।११९, १२०, १४१

२. शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते। इत्यादि। अनु. १०४।१-९

प्रायश्चित्त

शास्त्र से प्रतिकूल व निषिद्ध आचरण से पाप—शास्त्रविहित कर्मों का अनुष्ठान न करने से जिस प्रकार मनुष्य पाप का भागी होता है, उसी प्रकार शास्त्रनिषिद्ध आचरण करने से भी पाप का भागी बनना पडता है। पाप अशुभ अदृष्ट होता है। इसका प्रमाण केवल शास्त्र ही है। पाप-पुण्य के विषय मे भी महाभारतकार ने मनु के मत का अनुमोदन किया है। कहा है कि अगर कोई पाप किसी ने किया हो तो चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्त करने से पाप का नाश हो जाता है। इस प्रकार के नियम प्राचीन काल से ही समाज मे चले आ रहे है। आज भी हिन्दू समाज मे पाप के प्रायश्चित्त के लिये व्रतानुष्ठान आदि किये जाते हैं। पाप-कर्म से जिस दुर्भाग्य की उत्पत्ति होती है, शास्त्रविहित व्रत आदि के द्वारा उसका क्षय किया जा सकता है, यही प्रायश्चित्त का फल है। धर्मशास्त्रो मे प्रायश्चित्त पर भी एक अलग प्रकरण होता है।

प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से पापमुक्ति—पाप करने पर प्रायश्चित्त करना ही पडता है। पाप से मुक्त हुए विना किसी को भी अच्छी गति नही मिलती। प्रायश्चित्त के लिये व्रत आदि करके पापमुक्त हुआ जा सकता है। पाप-पुण्य के सम्वन्ध मे कुछ सोचने से पहले जन्मातर तथा परलोक का अस्तित्व स्वीकार करना ही पडेगा।

जन्मान्तर मे विश्वास ही प्रायश्चित्त का प्रवर्त्तक—पाप करके प्रायश्चित्त न करने से दूसरे जन्म मे कष्ट भोगने पडते है, इस विश्वास पर ही प्रायश्चित्त की आवश्यकता होती है। जन्मान्तर पर सशय या अविश्वास करनेवाले के लिये प्रायश्चित्त का उपदेश व्यर्थ है। वेद, सहिता, पुराण, स्मृति आदि शास्त्र परलोक या जन्मान्तर पर विश्वास करते हैं, इसीलिये उनके उपदेशो मे प्रायश्चित्त का भी एक विशिष्ट स्थान है।[1]

---

१. अकुर्वन् विहित कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन्।
प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्यानुवर्तयन्॥ शान्ति ३४।२
पापञ्चेत् पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महाभ्रेणेव चन्द्रमाः॥ इत्यादि। वन २०६।५७

पापजनक कर्म—शान्तिपर्व के प्रायश्चित्तीय उपाख्यान मे बहुत से ऐसे कार्यों का नाम दिया है, जिन्हे पापजनक बताया है, जैसे—मिथ्याचरण, सूर्योदय-शयन (ब्रह्मचारी के लिये), बडे भाई के विवाह से पहले दारपरिग्रह, गार्हस्थ्य प्रवेश का इच्छुक होते हुए भी बडे भाई का छोटे भाई से पहले विवाह न करना, ब्रह्महत्या, बडी बहन से पहले छोटी का विवाह करना, कनिष्ठा के विवाह के बाद ज्येष्ठा का विवाह करना, व्रत तोडना, अपात्र को दान देना, विहित पात्र को दान न देना, बहुतो का एक साथ याजन करना, मास, विद्या तथा सोम का विक्रय करना, स्त्री वध करना, वृथा पशु का वध करना, गृहदहन, गुरु का प्रतिरोध, प्रतिज्ञाभग, स्वधर्म-परित्याग, परधर्म का अनुष्ठान, अयाज्ययाजन, अभक्ष्यभक्षण, शरणागत परित्याग, भृत्य का भरण-पोषण न करना, लवण, गुण आदि रस द्रव्यो का विक्रय, पशु-पक्षी, का हनन, सामर्थ्य होते हुए भी अग्न्याध्यान न करना, नित्य कर्म मे शिथिल होना वचनभग करना, प्रतिश्रुत दान न देना, ब्राह्मण की सम्पत्ति छीनना, धन के लिये पिता आदि गुरुजनो से विवाद करना, गुरुपत्नीगमन, यथाकाल धर्मपत्नी के साथ सभोग न करना आदि कामो को पाप का हेतु बताया है। पापनाश के लिये प्राय-श्चित्त का विधान है।[1]

समय विशेष मे पापजनक कर्म करना भी अनुचित नहीं—उल्लिखित कर्म भी समय विशेष पर पाप नही होते। कहा गया है कि यदि कोई वेदान्तवादी ब्राह्मण भी युद्ध क्षेत्र मे शस्त्र लेकर लडने आये तो उसे मारना ही उचित है। उसमे ब्रह्महत्या का दोष नही लगता। जो ब्राह्मण अपने जातिगत क्रियाकर्मों से विमुख होकर आततायी के रूप मे सामने आये, उसकी हत्या करना पाप नही होता। अगर चिकित्सक किसी रोग के लिये मद्य को ही एकमात्र औषधि बतायें तो रोगमुक्त होने के लिये मद्यपान करना दूषणीय नही है, प्रायश्चित्तस्वरूप केवल उपनयन सस्कार दुबारा कर लेना चाहिये। खाद्याभाव मे प्राणनाश की आशका होने पर अभक्ष्य भी भक्ष्य माना जाता है। गुरु के आदेश से, गुरु के वश की रक्षा के निमित्त गुरुपत्नी गमन करना दोष रहित है। उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु उनके एक शिष्य के ही औरस से उत्पन्न हुआ था। सकटकाल मे गुरु के परिवार का भरण-पोषण करने के निमित्त चोरी करना भी पाप नही है। किसी की रक्षा करने के उद्देश्य से ब्राह्मण के अलावा किसी दूसरे का वित्तहरण करना अनुचित नही है। अपने अथवा

अनु १६२।५८। शान्ति १५२।३७।

प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत। शान्ति ३२।२५।

१ सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत। इत्यादि। शान्ति ३४।३-१५।

दूसरे की प्राणरक्षा के उद्देश्य से झूठ वोलने मे भी पाप नही लगता, गुरु की रक्षा के निमित्त से भी झूठ वोलना दूषणीय नही है। स्त्रियो से तथा विवाहादि के मामले मे झूठ वोलना पाप नही है। स्वप्न मे वीर्यपात होने से कोई विशेष पाप तो नही लगता लेकिन तो भी अग्नि मे आहुति डालकर प्रायश्चित्त करना पडता है। ज्येष्ठ भ्राता दुराचारी हो या सन्यासी वन गया हो तो कनिष्ठ का विवाह करना शास्त्रविहित है। कामातुर महिला के अनुरोध पर परस्त्रीगमन पाप नही है। यज्ञ मे पशुहिसा विहित है। अनजाने मे अपात्र को दान देने तथा सत्पात्र को दान न देने मे भी दोष नही है। व्यभिचारिणी पत्नी की उपेक्षा करना पाप नही है। 'सोमरस देवताओ की परम प्रिय वस्तु है', यह सोचकर यदि कोई सोमरस का विक्रय करे तो पाप का भागी नही होता। जो भृत्य अपने स्वामी की सेवा से विमुख हो, उसको त्यागना पाप नही होता। गाय के लिये घास उगाने के निमित्त से यदि वन को भी जला दिया जाय तो पाप नही लगता।[1]

चौदह वर्ष से कम आयु वाले को पाप नहीं लगता—जिसकी उम्र चौदह वर्ष से कम हो वह अगर कोई अनुचित कार्य करे भी तो पाप नही लगता।[2]

अनुशोचना से पापक्षय—एक वार पापजनक कार्य करने पर यदि पश्चात्ताप हो तथा 'फिर ऐसा नही करूँगा' इस तरह का दृढसकल्प मन मे उत्पन्न हो तभी प्रायश्चित्त सार्थक होता है, पश्चात्ताप के बिना प्रायश्चित्त की कोई सार्थकता नही रहती। अनुताप स्वय ही सबसे वडा प्रायश्चित्त है। दूसरे प्रायश्चित्त तो वाद की वात होती है।[3]

तपस्यादि प्रायश्चित्त—तपस्या, जप, होम, उपवास, व्रत आदि सभी पाप-नाशक है। साधारणत शास्त्र मे जिन पापो के प्रायश्चित्त की विधि नही दी हुई है, उनके लिये जप, होम, उपवास आदि करना ही उत्तम वताया है। पुण्यसलिला नदी मे स्नान करना, पुण्यपर्वत पर रहना, सुवर्णप्राशन, रत्नादिस्नान, देवस्थान-

---

१. एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवाः।
येषु येषु निमित्तेषु न लिप्यन्तेऽथ तान् श्रृणु॥ इत्यादि। शान्ति ३४।१६-३२

२. आचतुर्दशकाद् वर्षान्न भविष्यति पातकम्।
परतः कुर्वतामेव दोष एव भविष्यति॥ आदि १०८।१७

३. विकर्मणा तप्यमानः पापाद्धि परिमुच्यते। वन २०६।५१
तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत।
पुनाति पाप पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्त्तते। शान्ति ३५।१

पर्यटन तथा घृतप्राशन आदि कर्म भी प्रायश्चित्त के रूप मे विवेचित हुए है।[1] दान के द्वारा भी पापो का क्षय होता है। प्रायश्चित्तस्वरूप गो, भूमि एव धन, सम्पत्ति का दान करना भी उत्तम बताया है।[2] ब्रह्महत्याकारी या इसी तरह के किसी बडे पातकी का मुंह देख लेने पर सूर्य के दर्शन करके शुद्धिलाभ करनी चाहिये।[3]

नरपति के लिए अश्वमेघ पापनाशक—क्षत्रिय राजा के लिये अश्वमेध-महायज्ञ समस्त पापो का नाश करनेवाला होता है। अनगिनत ज्ञाति, सुहृद तथा बन्धुबान्धवो के निधन के बाद पापमुक्त होने के उद्देश्य से महाराज युधिष्ठिर ने महर्षि व्यास के कहने पर अश्वमेध यज्ञ किया था।[4] पापविनाश के उद्देश्य से महर्षि शौनक ने राजा जनमेजय को अश्वमेध यज्ञ मे दीक्षित किया था।[5] ब्राह्मण वृत्र का हनन करने के बाद देवराज इन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था।[6] इन उदाहरणो से पता लगता है कि कोई बडा पाप करने पर राजा प्रायश्चित्तस्वरूप अश्वमेध यज्ञ करते थे।

प्रायश्चित्त न करने से नरक यातना—जो पापी प्रायश्चित्त नही करते वे तरह तरह की यातनाएँ भोगते है। यमद्वार पर अवस्थित उष्णा वैतरणी नदी, असिपत्र वन, परशुवन, दशोतापातक, क्षुरसवृत, लौहकुभी आदि बहुत से नरको का विवरण मिलता है।[7]

नैतिक हीनता से पाप—जिन आचरणो से नरक की यातना भोगनी पडती है, अनुशासन पर्व मे उनकी एक सूची दी गई है। गुरु की प्राणरक्षा या शरणागत की रक्षा के अलावा असत्य वचन का आश्रय लेने से नरक मे जाना पडता है। परस्त्री

---

१. तपसा तरते सर्वमेनसश्च प्रमुच्यते। अनु १२२।९
अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च। इत्यादि। शान्ति ३६।६-९

२. गाश्च भूमिञ्च वित्तञ्च दत्वेह भृगुनन्दन।
पापकृत् पूयते मर्त्य इति भार्गव शुश्रुम। अनु ८४।४१

३. त्वाञ्च ब्रह्महणं दृष्ट्या जन सूर्यमवेक्षते। द्रोण १९७।२१

४ अश्वमेधो हि राजेन्द्र पावन सर्वपाप्मनाम्।
तेनेष्ट्वा त्व विपाप्मा वै भविता नात्र सशय॥ अश्व ७१।१६

५ तत स राजा व्यपनीतकल्मष श्रियोवृत प्रज्वलिताग्निरूपवान्। शान्ति १५२।३९

६ ततोऽश्वमेध सुमहान् महेन्द्रस्य महात्मन। उद्योग १३।१७

७ उष्णा वैतरणी महानदी। इत्यादि। शान्ति ३२१।३२।
तमसा सवृतं घोरं केशशैवलशाद्वलम्। इत्यादि। स्वर्गा २।१७-२५

दर्शन तथा परस्त्रीहरण मे सहायता पहुँचाना भी नरक का हेतु है। परस्वहारी परस्वविनाशक एव परनिन्दक को भी निश्चित रूप से नरकयन्त्रणा भोगनी पडती है। तालाब, पोखर, सभागृह, घर आदि नष्ट करना अत्यन्त पापजनक है। अनाथ महिला की प्रतारणा करना भी पाप का कारण है। इस प्रकार के और भी बहुत से आचरणो का उल्लेख मिलता है, जिन्हे पापजनक बताया है।[1]

परपीड़न ही पाप का हेतु---साधारण बुद्धि से भी मनुष्य अपने कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य को अच्छी तरह समझ सकता है। जिस काम से दूसरे की किसी प्रकार की क्षति की आशका हो, वह काम ही पाप का हेतु है। बहुत से विषयो मे अपनी विवेक बुद्धि ही सबसे बडी विचारक होती है। जो विषय बुद्धिगोचर न हो, उनके बारे मे कुछ तय करने के लिये शास्त्रानुशासन तथा महापुरुषो का अनुसरण करना ही सुबुद्धि कार्य है।

बहुत प्रकार के पाप व उनके प्रायश्चित्त का विवरण---निम्नलिखित अध्याओ मे अनेक तरह के पाप तथा उनके प्रायश्चित्त का विधान दिया हुआ है। विस्तृतरूप से सबका अलग-अलग विवरण देना यहाँ सम्भव नही है।

वशिष्ठ की आत्महत्या का सकल्प आदि १७६।४४। चैत्ररथपर्व, आदि १८०। ९-११। दुर्योधन का प्रायोपवेशन, वन २५१।२। विदुरवाक्य, उद्योग ३७।१२, १३। प्रायश्चित्तीय, शाति ३२वें से ३५ वें अध्याय तक। व्यासवाक्य, शान्ति ३६ वाँ अध्याय। इन्द्रोतपारिक्षितीय, शाति १५२ वाँ अध्याय। प्रायश्चित्तीय, शाति १६५ वाँ अध्याय। ब्रह्महत्या विभाग, शान्ति २८१ वाँ अध्याय। ब्रह्मघ्न कथन, अनु २४ वाँ अध्याय। अहिंसाफल कथन, अनु ११६ वाँ अध्याय। लोमशरहस्य, अनु १२९ वाँ अध्याय। प्रायश्चित्तकथन, अन १३६ वाँ अध्याय।

---

१. निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु। इत्यादि। अनु २३।५९-८२।

शवदाह व अशौच

मृत्यु के वाद शव की साजसज्जा एव अन्त्येष्टि क्रिया के सबध मे जिन आचार-व्यवहारो का उल्लेख किया गया है, इस प्रवन्ध मे हम उन्ही की रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

शव का आच्छादन—शव को वस्त्र द्वारा अच्छी तरह से आच्छादित करने का नियम था।[1]

शव की साजसज्जा—भीष्मदेव का प्राणान्त होने पर विदुर एव युधिष्ठिर ने रेशमी वस्त्र तथा मालाओ से उनके शव को अच्छी तरह ढका था। युयुत्सु ने शव पर छत्र लगाया, भीम तथा अर्जुन ने चँवर ढुलाये। नकुल, सहदेव ने पितामह के सिर पर पगडी बाँधी। युधिष्ठिर तथा धृतराष्ट्र उनके पाँवो मे बैठे और कुरुकुल-वधुएँ तालवृन्त द्वारा धीरे-धीरे व्यजन करने लगी।[2]

चन्दनकाष्ठ आदि द्वारा शवदाह व सामगान—नानाविध के गधद्रव्यो तथा चन्दनकाष्ठ आदि से चिता तैयार करके, शव पर कालीयक, कालागुरु गन्धद्रव्य रक्खे गये। उसके बाद धृतराष्ट्र आदि ने चिता की प्रदक्षिणा करके यथाविधि दाहसस्कार किया। शव के अग्निदाह के समय सामग पडित श्मशान मे बैठकर वेदगान करने लगे।[3]

दाहक्रिया—महाभारत मे पाडु के शवदाह का चित्रण इस प्रकार किया गया है—पाडु की मृत्यु शतशृग पर्वत पर हुई। उनकी दाहक्रिया के समय माद्री पति की चिता की ओर अग्रसर हुई और उसी मे सती हो गई। मृत्यु के सत्रहवें दिन उन दोनो की अस्थियाँ लेकर महर्षिगण हस्तिनापुर पहुँचे और धृतराष्ट्र को सब कुछ वताया। धृतराष्ट्र ने विदुर को आदेश दिया कि दोनो की अन्त्येष्टि क्रिया राजोचित रूप से सम्पन्न की जाय। विदुर ने भीष्म से परामर्श करके एक प्रसिद्ध एव पवित्र स्थान पर चिता तैयार की। कुरुपुरोहित आज्यगधि अग्नि लेकर श्मशान

---

१. आदि १२७।३

२ अनु १६८।१२-१५

३. ततोऽस्य विधिवच्चक्रु पितृमेध महात्मन। इत्यादि। अनु १६८।१५-१७

भूमि मे पहुँचे। विविध प्रकार के पुष्पो एव गन्धो से शिविका सजाई गई। माल्य तथा वस्त्र से आच्छादित उस शिविका मे भस्मावशिष्ट अस्थियो की स्थापना की गई; तब अमात्य, ज्ञाति व सुहृदजन शिविका उठाकर श्मशान की ओर चले। श्वेतछत्र, चमर व व्यजन आदि लेकर और भी बहुत से लोग साथ मे गये। तरह तरह के वाद्यो के निनाद से चारो दिशाएँ मुखरित हो उठी। प्रार्थियो ने जो भी चाहा, उन्हे वही मिला। सैकडो लोगो ने शवयात्रा मे भाग लिया। गगा के किनारे, रमणीय वन के पास वह शिविका जमीन पर रक्खी गई, उन अस्थियों को उसमे से बाहर निकालकर कालीयक, चन्दन आदि सुगधित द्रव्यों का लेप करके जलपूर्ण सुवर्णघट से उन्हे स्नान कराया गया। स्नान के बाद पुन उन्हे शुक्ल चन्दन तथा कालागुरु मिश्रित तुगरस का प्रलेप करके देशज शुक्ल वस्त्र से आच्छादित किया गया। इसके बाद शव को घृतसिक्त करके तुग, पद्मक आदि गन्धद्रव्य एव चन्दन काष्ठ द्वारा दाह किया गया।[1]

अग्निहोत्री की दाहक्रिया—वसुदेव की मृत्यु के बाद उत्तम यान मे (यान का अर्थ शायद खाट हो सकता है) उनका शव स्थापित करके घर से बाहर लाया गया। शव मनुष्य ही उठाकर लाये थे। द्वारकावासी श्मशान तक शवयात्रा के साथ गये थे। याजकगण राजा का आश्वमेधिक छत्र तथा प्रज्ज्वलित अग्नि लिये हुए आगे आगे चल रहे थे। उनकी विधवाएँ पीछे पीछे आ रही थी। जीवित अवस्था मे जो स्थान उन्हे सर्वप्रिय था, वही उनकी चिता तैयार की गई। देवकी आदि चार महिषियाँ उनकी चिता के साथ ही सती हुई। चन्दन आदि नाना प्रकार के सुगधित काष्ठो द्वारा उनकी चिता बनी थी। दाहकाल मे याजको की उच्च सामध्वनि तथा पुरवासियो के करुण क्रन्दन से श्मशानभूमि मुखरित हो उठी।[2]

युद्धक्षेत्र मे मृत व्यक्ति का शवदाह—महायुद्ध के बाद भी युधिष्ठिर के आदेश से सुधर्मा, धौम्य, विदुर, सजय आदि व्यक्तियो के उद्योग से युद्धभूमि मे निहत सभी लोगो की यथाविधि दाहक्रिया की गई थी। श्मशान मे वेदज्ञो के सामगान, नारियो के क्रन्दन एव आत्मीय स्वजनो के शोकोच्छ्वास ने मिलकर रात की निस्तब्धता को भी दूर कर दिया था। सभी चिताएँ घी, गधद्रव्य एव चन्दनकाष्ठ से तैयार की हुई थी।[3]

---

१. आदि १२७ वाँ अध्याय।

२. ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमूल्येन भारत।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत्तदा॥ इत्यादि। मौषल ७।१९-२६।

३. एवमुक्तो महाप्राज्ञ. कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।

शवदाह के बाद स्नान—शवदाह के बाद अर्थी के साथ जाने वाले लोग वृद्ध व्यक्ति को अग्रवर्ती बनाकर स्नान करके पवित्र होते थे। पास मे अगर नदी होती थी तो नदी में ही स्नान करते थे।[1]

स्नान के अन्त मे उदक क्रिया—स्नान करते ही मृत व्यक्ति की आत्मा की तृप्ति के उद्देश्य से उदक क्रिया (प्रेततर्पण) करते थे।[2]

यति का शव अदाह्य—जो योगबल से शरीरत्याग करें उनका शव जलाना नही चाहिये। महामति विदुर के योगबल से शरीर त्याग करने पर युधिष्ठिर उनके शव का दाहसंस्कार करने के लिये उद्यत हुए। तब आकाशवाणी हुई—"महाराज, विदुर के शव की दाहक्रिया मत करिये, यह शव यही रहेगा। महामति विदुर 'सान्तानिक' नामक लोक मे जायेंगे, उन्होंने यतियो की तरह प्राण-त्याग किया है।[3]

अशौच विधि—माता-पिता आदि किसी घनिष्ठ सबधी का वियोग होने पर अशौच पालन के कौन-कौन से नियम थे, इस पर विस्तृत रूप से कुछ नही लिखा गया है। पिता की मृत्यु के बाद पांडव जमीन पर सोते थे। बहुत से नगरवासी ब्राह्मण आदि भी पाडवो की तरह जमीन पर ही सोते थे।[4] पाडु की अस्थियो का दाह करने वाले दिन से लेकर बारह दिन तक अर्थात् मृत्यु के दिन से अट्ठाइस दिन तक पाडवो ने अशौच पालन किया था। अशौच काल के दिन उन्होंने नगर के बाहर बिताये थे। बारह दिन के बाद श्राद्ध आदि सम्पन्न होने पर बधुबाधव उन्हे हस्तिनापुर लाये थे।[5]

आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतञ्च संजयम्॥ इत्यादि। स्त्री २६।२४-४३।

१. धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गंगामभिमुखोऽगमत्। इत्यादि। स्त्री २६।४४। अनु १६८।१९।

२. ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः॥ इत्यादि। आदि १२७।२८। अनु १६८।२०।

३. धर्मराजश्च तत्रैव सञ्चकारयिषुस्तदा।
दग्धकामोऽभवद्विद्वानथ वागभ्यभाषत॥ इत्यादि। आश्र २६।३१-३२।

४. यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः।
तथैव नागरा राजन् शिश्यिरे ब्राह्मणादयः॥ आदि १२७।३१।

५. तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत्।

युद्ध में मृत्यु होने पर ज्ञातियों का सद्यःशौच—युद्ध मे मृत व्यक्तियो के सपिड व्यक्ति सद्यअशौच से मुक्त होते है। क्षत्रिय बारह दिन का अशौच पालन करते हैं। महायुद्ध के अठारह दिनो तक मृतको के ज्ञातियो ने सद्य शौच का पालन किया था। युद्ध के अन्तिम दिन निहत वीरो की मृत्यु पर उस दिन से लेकर बारह दिन तक अशौच पालन किया था। महायुद्ध मे मृत राजपरिवार के व्यक्तियो के शवदाह के बाद धृतराष्ट्र, विदुर, पाडवो एव कुरुवश की महिलाओ ने बारह दिन तक पुरी के बाहर रहकर अशौच पालन किया था।[1]

बभुव पाण्डवैः सार्द्धं नगरं द्वादश क्षपाः॥ इत्यादि। आदि १२७।३२।
आदि १२८।३

१. कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः॥ इत्यादि।—शान्ति १।१-३।
नीलकण्ठ देखिए।

श्राद्ध व तर्पण

पितृऋण परिशोध—कहा गया है कि पुत्रोत्पादन ही पितृऋण-शोध का एकमात्र उपाय नही है। पितरो के उद्देश्य से किये श्राद्ध एव तर्पण के द्वारा भी पितृऋण का परिशोध किया जा सकता है।[1] (देखिये पृ० १०८) श्राद्ध एव तर्पण के द्वारा आस्तिक व्यक्ति पितरो के साथ अपने सवधो को स्मरण रखता है, इससे उसे आत्मतुष्टि होती है। (देखिये पृ० १०६)

श्राद्ध व तर्पण—पिडदान आदि शास्त्रीय क्रियायुक्त अनुष्ठान का नाम 'श्राद्ध' है। श्रद्धा सहित पितरो के उद्देश्य से जलाजलि अर्पण का नाम 'तर्पण' है। श्राद्ध तथा तर्पण इन दोनो को ही शास्त्रो मे 'पितृकृत्य' कहा है।[2]

'सूची कटाह-न्याय' के अनुसार पहले तर्पण पर प्रकाश डाला जा रहा है।

तर्पणविधि—सर्वप्रथम अपने वश के मृत व्यक्तियो को जलाजलि देनी पडती है, उसके वाद लोकान्तरित दूसरे आत्मीय स्वजनो का तर्पण करने का विधान है।[3]

ऋषि तर्पण—पितामह भीष्म, पुलस्त्य, वशिष्ठ, पुलह, अगिरा, ऋतु, कश्यप आदि तपस्वी महर्षि कहे जाते हैं। ये महायोगेश्वर हैं एव पितरो की तरह तर्पणीय हैं।[4]

नित्यविधि—प्रतिदिन पितरों को स्मरण करना एव उनके उद्देश्य से तर्पण व श्राद्ध देना प्रत्येक सन्तान का कर्त्तव्य है।[5]

---

१ स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्य' श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च॥ शान्ति २९२।१०

२. अद्भिश्च तर्पयन्। शान्ति ९।१०।

३. पूर्वं स्ववंशजानान्तु कृत्वाद्भिस्तर्पणं पुनः।
सुहृत्सम्बन्धिवर्गाणां ततो दद्याज्जलाञ्जलिम्॥ अनु ९२।१७

४. पितामह पुलस्त्यश्च वसिष्ठः पुलहस्तथा।
अगिराश्च क्रतुश्चैव कश्यपश्च महानृषिः॥ अनु ९२।२०-२२

५ नदीमासाद्य कुर्वीत पितृणा पिंडतर्पणम्। इत्यादि। अनु ९२।१६।

बलीवर्द-पुच्छोदक से तर्पण—पितर बैल की पूंछ सहित नदी के जल से किये गये तर्पण की आकाक्षा करते हैं।[1]

अमावस्या की प्रशस्तता—प्रत्येक अमावस्या को विशेष रूप से तर्पण करने का विधान मिलता है।[2] पितर अमावस्या को एव देवपूर्णिमा को जल आदि की आशा करते है; अतएव इन दिनो यथासम्भव उन्हे परितृप्त करना ही उचित है।[3]

तीर्थ तर्पण—तीर्थों के जल से पितृतर्पण करना शास्त्रानुमोदित है। जिस तीर्थ मे भी जाय, वहाँ के पुण्यजल से स्नान करके तर्पण करना चाहिये। वनपर्व मे तीर्थ-यात्रा के प्रसग मे हर तीर्थ मे तर्पण करने का उल्लेख मिलता है। अर्जुन ने गगाद्वार (हरिद्वार) पहुँचने पर सर्वप्रथम भागीरथी मे स्नान करके तर्पण किया था।[4] कुरुक्षेत्र मे निहत वीरो का बाद मे यथारीति तर्पण किया गया था। वीरो की पत्नियो ने इकट्ठे होकर पति, पुत्र, भाई तथा दूसरे कुटुम्बियो के उद्देश्य से गगाजल लेकर तर्पण किया था।

प्रेततर्पण—मृत्यु होने के साल भर के अन्दर ही जो तर्पण किया जाता है, उसे प्रेततर्पण कहते है। उपर्युक्त सब तर्पण प्रेततर्पण के ही अन्तर्गत आते हैं।[5]

श्राद्ध का फल—श्राद्ध का मुख्य ध्येय यद्यपि पितृतृप्ति है, किन्तु शास्त्रो मे कहा है कि उससे अनुष्ठाता को और भी लाभ होते हैं। पितरो की तृप्ति के फल-स्वरूप श्राद्धकर्ता उत्कृष्ट सन्तान, उत्तम स्वास्थ्य तथा अटूट सम्पत्ति का अधिकारी बनता है। सब प्रकार की आपद-विपदाओ से दूर रहकर परम शातिमय जीवन व्यतीत करता है। पितृपूजन से सर्वभूतात्मा भगवान विष्णु संतुष्ट होते हैं। पितरो के उद्देश्य से दिये जाने वाले सश्रद्ध दान की अनुशासनपर्व मे बार बार तरह तरह से प्रशसा की गई है।[6]

---

१. कल्मायगोयुगेनाथ युक्तेन तरतो जलम्।
पितरोऽभिलषन्ते वै नावं चाप्यधिरोहिताः॥ अनु ९२।१८

२. मासार्द्धे कृष्णपक्षस्य कुर्यान्निर्वपणानि वै। अनु ९२।१९

३. अमावास्यां हि पितरः पौर्णमास्यां हि देवताः। आदि ७।११

४. तर्पयित्वा पितामहान्। आदि २१४।१२।

५. ते समासाद्य गंगान्तु शिवां पुण्यजलोचिताम्।
× × ×
सुहृदाञ्चापि धर्मज्ञाः प्रचक्रुः सलिलक्रियाः॥ स्त्री २७।१-३

६. ये च श्राद्धानि कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः।
सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते। इत्यादि॥ शान्ति ११०।२०
शान्ति ३४५।२६, २७

श्रद्धा का प्राधान्य—बिना श्रद्धा का दान पितरो को तृप्त तो करता ही नही, बल्कि दाता का भी उससे अकल्याण होता है। अश्रद्धा तथा असूया से दिया गया दान पितरो को न मिलकर असुरेन्द्र को मिलता है, अतएव यह ख्याल रखना चाहिये कि श्राद्ध करते वक्त श्रद्धा व शुचिता का अभाव न हो।[1]

दान श्राद्ध का अग—मृत व्यक्ति के उद्देश्य से श्रद्धासहित जिसे दान दिया जाता है उसकी तृप्ति पितरो को भी तृप्त करती है। दान श्राद्ध का अग है। आयुक्त पात्र को दान देने से पितरो को सन्तोष मिलता है। हाथी, घोड़ा, गाय, भूमि, अन्न आदि का मृत की सद्गति कामना से सत्पात्र को दान देना चाहिये।[2]

निमि के काल से बहुत पूर्व से ही श्राद्धप्रथा प्रचलित है—बहुतो की धारणा है कि दत्तात्रेय ऋषि के पुत्र निमि ने श्राद्धविधि आरभ की थी। लेकिन महाभारत की आख्यायिका इस सिद्धात के प्रतिकूल है। निमि के पुत्र श्रीमान् प्रौढ अवस्था मे मृत्यु को प्राप्त हुए। निमि ने अमावस्या के दिन सात ब्राह्मणो को निमन्त्रित करके फलमूल सहित अलोना श्यामिक अन्न दिया। उसके बाद श्रीमान् के नाम व गोत्र का उच्चारण करके दक्षिणाग्र पवित्र कुश पर उसके उद्देश्य से पिण्डदान किया। दान के बाद वह सोचने लगे—"पितृ आदि का श्राद्ध करने के लिये तो शास्त्रो मे विधान है, किंतु पुत्र का श्राद्ध करने के लिये तो किसी भी शास्त्र मे आदेश नही दिया गया है। पुत्र का श्राद्ध तो पहले कभी किसी ने नही किया। अशास्त्रीय अनुष्ठान करने के लिये अब ब्राह्मण जरूर मुझे शाप देगे।" इस तरह सोचते सोचते उन्होने अपने पूर्वपुरुष अत्रि को स्मरण किया। अत्रि प्रकट होकर बोले, "वत्स तुम आश्वस्त होओ, तुम्हारा आचरण अशास्त्रीय नही है। स्वय स्वयभू ने इस प्रकार के श्राद्ध की व्यवस्था की है। स्वयम्भू के अलावा कोई दूसरा श्राद्ध का प्रवर्तक नही हो सकता।" उनके सात्वनादायक वचन सुनकर महर्षि निमि प्रकृतिस्थ हुए।[3]

कुश पर पिंड-स्थापन की व्यवस्था—महाराज शान्तनु की मृत्यु के बाद भीष्म ने हरिद्वार मे उनका श्राद्ध किया था। उस प्रसग मे कहा गया है कि पितरो के

नित्यश्राद्धेन सन्तति। इत्यादि। अनु ५७।१२। अनु ६३।१५ अनु ९२।२०

१. असूयता च यद्दत्तं यच्च श्रद्धाविवर्जितम्।
सर्वं तदसुरेन्द्राय ब्रह्मा भागमकल्पयत्॥ अनु ९०।२०

२. आश्र १४ वाँ अध्याय।

३. अनु ९१ वाँ अध्याय।

उद्देश्य से प्रदत्त पिंड कुश पर स्थापित किया जाता है। भीष्म जैसे ही पिंडदान के लिये उद्यत हुए, उन्होने देखा कि उनके पिता हाथ फैला कर मानो पिंड माँग रहे हैं। भीष्म ने शास्त्रानुसार कुश पर ही पिंडदान किया था, पिता के हाथ मे नही दिया। उनके इस व्यवहार से पितर बहुत सन्तुष्ट हुए।[१]

पाण्डु का श्राद्ध—महाराज पाडु के लोकान्तरित होने पर पाडव, कुती, धृतराष्ट्र, भीष्म तथा दूसरे सम्बन्धियो ने शास्त्रविधि से श्राद्ध आदि और्ध्वदेहिक कृत्य किये थे। इस अवसर पर हजारो ब्राह्मणो को भोजन कराकर रत्न एव ग्राम आदि दान मे दिये थे।[२]

विचित्रवीर्य का श्राद्ध—विचित्रवीर्य की मृत्यु के बाद भीष्म ने यथाविधि उनका श्राद्ध कराया था। शास्त्रज्ञ ऋत्विको की सहायता से उनकी महीषियों ने श्राद्ध किया था।[३]

दान से श्राद्ध सिद्धि—मृत व्यक्ति की सद्गति कामना से जो भी दान किया जाता है, वह श्राद्ध के अन्तर्गत आ जाता है। महायुद्ध खत्म होने पर युधिष्ठिर जब हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठे तो युद्ध मे निहत ज्ञातियों व स्वजनो के उद्देश्य से अलग-अलग दान दिया था। धृतराष्ट्र ने भी उस समय पुत्रो की तृप्ति के निमित्त विविध उपकरणो सहित, अन्न, गाय तथा धनरत्न आदि दान मे दिये थे। युधिष्ठिर ने हजारो ब्राह्मणो को धनरत्न तथा वस्त्र आदि से सन्तुष्ट किया था। जिन वीरो का कोई सबधी नही था, उनकी भी प्रत्येक की सद्कामना से युधिष्ठिर ने अलग अलग दान दिया था। सभागृह, कुँए, पोखर, तालाब आदि बनवाकर सुहृद व्यक्तियो की और्ध्वदेहिक क्रिया की थी। सबका श्राद्ध करके युधिष्ठिर ने स्वय को कृतकृत्य समझा था।[४]

---

१. पिता मम महातेजाः शान्तनुर्निधनं गतः।
तस्य दित्सुरहं श्राद्धं गंगाद्वारमुपागमम्॥ इत्यादि अनु ८४।११-२३

२. पितुर्निधनमावेदयन्तस्तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायतश्च कृतवन्तः। आदि ९५।६८
ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बंधुभिः।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा॥ इत्यादि आदि। १२८।१,२

३. भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत्। इत्यादि। आदि १०१।११
आदि १०२।७२, ७३ आदि १०३।१

४. शांति ४२ वाँ अध्याय।
महादानानि विप्रेभ्यो ददतामौर्ध्वदेहिकम्। इत्यादि। अश्व १४।१५, १६

महायुद्ध मे निहत वीरो का श्राद्ध—महायुद्ध के वाद विदुर ने निहत योद्धाओ का प्रेतकर्म करने के लिये धृतराष्ट्र से कहा था।[1]

महाप्रस्थान के पूर्व युधिष्ठिरकृत श्राद्ध—महाप्रस्थान से कुछ ही पहले युधिष्ठिर ने अपने मामा वासुदेव, वलराम एव दूसरे यदुवशी वीरो का श्राद्ध किया था। वासुदेव की तृप्ति के लिये उन्होने महर्पि कृष्णद्वैपायन, नारद, मार्कण्डेय, भरद्वाज तथा याज्ञवल्क्य को वहुत सी वस्तुएँ दान मे दी थी। वासुदेव के नाम से महर्षियो को स्वादिष्ट भोजन खिलाकर तृप्त किया था। रत्न, वस्त्र, ग्राम, अश्व, रथ, स्त्री आदि सैकडो द्रव्य मृत व्यक्तियो की तृप्ति के निमित्त ब्राह्मणो को दिये थे। उनके द्वारा किये गये उस श्राद्ध मे भोजन व नाना द्रव्य दान मे पाकर ब्राह्मण परम सन्तुष्ट हुए थे।[2]

वृष्णिवंश मे श्राद्धकृत्य—वज्र आदि वृष्णि तथा अधक वश के जीवित पुरुष एव महिलाओ ने अपने वश के मृत व्यक्तियो के यथारीति श्राद्ध आदि कर्म किये थे।[3]

मातामह तथा मातुल द्वारा अभिमन्यु का श्राद्ध—नाना वासुदेव तथा मामा श्रीकृष्ण ने अभिमन्यु का श्राद्ध वहुत अच्छी तरह किया था। कई सहस्र ब्राह्मणो को उत्तम भोजन खिलाकर नाना प्रकार के द्रव्य दान मे दिये थे।[4]

मृत के भ्रम से जीवित का श्राद्ध—जतुगृह से माता सहित पाडवो के पलायन के वाद धृतराष्ट्र ने उन्हे मृत समझ कर श्राद्ध आदि किया था।[5]

आत्मश्राद्ध—प्रौढावस्था मे प्रव्रज्या लेते समय पहले पिता आदि का श्राद्ध, तर्पण करके अपना श्राद्ध करने की रीति भी प्रचलित थी। जीवित व्यक्ति स्वय ही अपना पिडदान करके श्राद्ध करता था। मृत्यु के वाद उन्हें उस श्राद्ध का शुभ

---

१. पुत्राणामथ पौत्राणा पितृणाञ्च महीपते।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां प्रेतकार्याणि कारय॥ स्त्री ९।७

२. इत्युक्त्वा धर्मराज. स वासुदेवस्य धीमतः।
मातुलस्य च वृद्धस्य रामादीना तथैव च॥ इत्यादि। महा प्र १।१०-१४

३ ततो व्रजप्रधानास्ते वृष्ण्यन्धककुमारका.।
सर्वे चैवोदकं चक्रु॰ स्त्रियश्चैव महात्मनः॥ इत्यादि। मौषल ७।२७-३२

४. एतच्छ्रुत्वा तु पुत्रस्य वचः शूरात्मजस्तदा।
विहाय शोक धर्मात्मा ददौ श्राद्धमनुत्तमम्॥ इत्यादि। अश्व ६२।१-६

५. एवमुक्त्वा ततश्चक्रे ज्ञातिभिः परिवारितः।
उदकं पाडुपुत्राणा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुत॥ आदि १५०।१५

फल मिलता है, यही शास्त्रो का अभिप्राय है। धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ ग्रहण करते समय अपना व गाधारी का श्राद्ध स्वय ही किया था।[1]

धृतराष्ट्र आदि का श्राद्ध—महर्षि नारद के मुँह से धृतराष्ट्र, गाधारी एव कुन्ती की मृत्यु का सवाद सुनकर पाडवो ने यथाविधि अशौच पालन करके हरिद्वार मे उनकी और्ध्वदेहिक क्रियाएँ की थी। युधिष्ठिर ने उनकी सद्‌गति कामना से वहुत सा स्वर्ण, रजत, गौएँ, यान, शय्या आदि ब्राह्मणो को दान मे दिया था।[2]

उपर्युक्त उदाहरणो से पता चलता है कि उस काल मे श्राद्ध को सभी आवश्यक समझते थे। प्रत्येक गृहस्थ शास्त्रीय विधि के अनुसार प्रेतकर्म करता था। उदाहरण चूंकि राजपरिवारो के है, इसलिये दान की बहुलता का वर्णन है। यह नही कहा जा सकता कि साधारण समाज मे भी श्राद्ध आदि का यही रूप था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्यय करता था। 'ब्राह्मणादि-परीक्षा' नामक प्रकरण से तो यही प्रतीत होता है।

श्राद्ध का प्रधान फल—यूं तो श्राद्ध के सैकडो फलो का बखान किया गया है, किन्तु प्रधान फल पितरों की परितृप्ति एव आनुषगिक आत्मतृप्ति ही है, दूसरे फलों का वर्णन तो प्रासगिक मात्र है।[3]

नित्य श्राद्ध—प्रतिदिन तर्पण व श्राद्ध करने का विधान महाभारत मे मिलता है। अन्न, जल, दूध, फल, मूल आदि से रोज पितरो को तृप्त करने के लिये कहा गया है।[4]

प्रशस्त काल—शुक्लपक्ष की अपेक्षा श्राद्ध आदि के लिये कृष्णपक्ष उत्तम बताया है, कृष्णपक्ष मे भी पूर्वाह्न की अपेक्षा अपराह्नकाल श्रेष्ठ माना है। सबसे उत्तम तिथि अमावस्या है।[5]

---

१. एवं स पुत्रपौत्राणां पितॄणामात्मनस्तथा।
गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्वदेहिकम्॥ आश्र १४।१५

२. द्वादशेऽहनि तेभ्यः स कृतशौचो नराधिपः।
ददौ श्राद्धानि विधिवद्दक्षिणावन्ति पांडवः॥ इत्यादि। आश्र ३९। १६-२०

३. पितरः केन तुष्यन्ति मर्त्यानामल्पचेतसाम्। इत्यादि। अनु १२५। ७०-७३

४. कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च।
पयोमूलफलैर्वापि पितॄणां प्रीतिमाहरन्॥ अनु ९७।८

५. मासार्द्धे कृष्णपक्षस्य कुर्यान्निर्वपणानि वै॥ अनु ९२।१९

नैमित्तिक श्राद्ध—शास्त्रो मे श्राद्ध किसी सद्ब्राह्मण की उपस्थिति मे करने को कहा गया है। किसी विशिष्ट ब्राह्मण का समागम, दही, दूध आदि द्रव्यो की तथा आरण्य-मास की प्राप्ति, अमावस्या तिथि आदि को नैमित्तिक श्राद्ध के निमित्त बताये हैं।[1]

गुणवान अतिथि के समागम पर श्राद्ध—उतकोपाख्यान मे वर्णित है कि गुरुपत्नी के आदेश से उतक जब राजा पौष्य के दरबार मे पहुँचे तो पौष्य ने कहा—"भगवन, सचराचर मे उपयुक्त पात्र मिलना दुर्लभ होता है। आप गुणवान अतिथि हैं, अतएव कुछ देर ठहरिये, मैं श्राद्ध करना चाहता हूँ।"[2] लेकिन बाद मे श्राद्धीय अन्न की अशुचिता को लेकर दोनो मे झगडा हो गया। महाभारत मे सुयोग्य अतिथि के समागम पर श्राद्ध करने का यही एक उदाहरण मिलता है।

काम्य श्राद्ध—विभिन्न फलो की कामना से जो श्राद्ध किया जाय, उसे 'काम्य श्राद्ध' कहते हैं। अलग-अलग तिथि नक्षत्रो के योग मे श्राद्ध करने से अनुष्ठाता को भिन्न-भिन्न फलो की प्राप्ति होती है।

कार्तिक में गुड मिश्रित अन्न का दान—रेणुक-दिग्गजसवाद मे कहा गया है कि कार्त्तिक मास के कृष्णपक्ष की अष्टमी को यदि अश्लेषा नक्षत्र का योग हो तो पितरो के उद्देश्य से गुडमिश्रित अन्न का दान करने से अशेष पुण्य लाभ होता है।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा की श्रेष्ठता—कार्त्तिक की पूर्णिमा श्राद्ध के लिये उत्तम तिथि है। वन जाने के पूर्व धृतराष्ट्र ने इसी दिन भीष्म आदि का काम्य श्राद्ध किया था। उस अवसर पर उन्होने बहुत धन, रत्न आदि दान दिये थे।[4]

गजच्छाया योग—भाद्रपद के कृष्णपक्ष मे मघा नक्षत्र के योग में गजच्छाया

देवं पौर्वाह्णिके कुर्यादपराह्ण च पैतृकम्॥ अनु २३।२

यथा चैवापर. पक्ष. पूर्वपक्षाद्विशिष्यते।

तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते॥ अनु ८७।१९

१. श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः प्राप्त दधि घृत तथा।
सोमक्षयश्च मासश्च यदारण्य युधिष्ठिर.॥ अनु २३।२४

२. भवाश्च गुणवानतिथिस्तदिच्छे श्राद्धं कर्त्तुम्। आदि ३।११४

३. कार्त्तिके मासि चाश्लेषा बहुलस्याष्टमी शिवा। अनु १३२।७, ८

४. इत्युक्ते विदुरेनाथ धृतराष्ट्रोऽभिनन्द्य तान्।
मनश्चक्रे महादाने कार्त्तिक्यां जनमेजय॥ इत्यादि। आश्र १३।१५। आश्र १४ वां अ।

नामक शुभ श्राद्धीय योग होता है। उस योग मे दक्षिणाभिमुख होकर अष्टम मुहूर्त्त मे पितरों का श्राद्ध करने से अक्षय फल मिलता है।[1]

हस्ति की छाया में श्राद्ध—हाथी के कर्ण परिवीजित स्थान पर उसी की छाया मे बैठकर श्राद्ध करने से वर्षों तक उस श्राद्ध का फल खत्म नही होता।[2]

तिथि विशेष में श्राद्ध का फल—पितृयज्ञ यश तथा सन्ततिवर्द्धक होता है। देव, असुर, मनुष्य, गधर्व, सर्प, रक्ष, पिशाच, किन्नर आदि सभी को पितृयज्ञ करना पडता है, यह शास्त्रीय विधान है। तिथिविशेष मे काम्य श्राद्ध का फल बताते हुए भीष्म ने कहा है, प्रतिपदा के दिन श्राद्ध करने से उत्कृष्ट भार्या मिलती है। इसी तरह द्वितीया को सुदर्शन दुहिता, तृतीया को अश्व, चतुर्थी को क्षुद्र पशु, पचमी को बहु पुत्र, षष्ठी को दिव्य काति, सप्तमी को प्रचुर शस्य, अष्टमी को वाणिज्य मे उन्नति, नवमी को एक खुर वाले अगण्य पशुओ, दशमी को गोसम्पत्ति, एकादशी को उत्कृष्ट वस्त्र आदि एव ब्रह्मवर्चस्वी पुत्र, द्वादशी को धनरत्न आदि सम्पदा, त्रयोदशी को ज्ञाति श्रेष्ठता एव चतुर्दशी को करने से युद्धनैपुण्य का लाभ होता है। लेकिन चतुर्दशी के दिन श्राद्ध करने से युवक पुत्रादि की मृत्यु स्वरूप अनिष्ट भी हो सकता है। अमावस्या के दिन श्राद्ध करने से सब मनोकामनाएँ पूर्ण होती है। कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोडकर दशमी से लेकर अमावस्या तक की पाँच तिथियाँ श्राद्ध के लिये बहुत शुभ होती है।[3]

नक्षत्र विशेष मे श्राद्ध का फल—नक्षत्र विशेष मे भी काम्य श्राद्ध के विभिन्न फलो का भीष्म ने उल्लेख किया है। अति प्राचीन काल मे धर्मराज यम ने शशबिन्दु को नाक्षत्रिक काम्य श्राद्ध के फलाफल के बारे मे बताया था। कृत्तिका नक्षत्र योग मे श्राद्ध करने से स्वस्थ शरीर, पुत्रपौत्र तथा दीर्घजीवन का लाभ होता है। इसी प्रकार रोहिणी नक्षत्र मे श्राद्ध करने से सन्तान, मृगशिरा मे करने से तेजस्विता, आर्द्रा नक्षत्र मे करने से क्रूरकर्म मे आसक्ति, पुनर्वसु मे करने से कृषि मे उन्नति, पुष्य मे करने से पुष्टि, आश्लेषा नक्षत्र मे करने से सुपडित पुत्र, मघा मे करने से कुलश्रेष्ठता, पूर्वाफाल्गुनी मे करने से सुभगत्व, उत्तर-फल्गुनी मे करने से सतान, हस्ता नक्षत्र मे करने से सब कार्यों मे सफलता, चित्रा नक्षत्र मे करने से सुदर्शन पुत्र, स्वाति नक्षत्र मे करने से वाणिज्य मे उन्नति, विशाखा नक्षत्र मे करने से बहु-

---

१. श्रूयतां परमं गुह्यं रहस्यं धर्मसंहितम्।
परमान्नेन यो दद्यात् पितॄणामौपहारिकम्। इत्यादि। अनु १२६।३५-३७

२. छायायां करिणः श्राद्धं तत्कर्णपरिवीज्यते। वन १९९।१२१

३. अनु ८७ वाँ अध्याय।

पुत्रत्व, अनुराधा नक्षत्र मे करने से ऐश्वर्य, ज्येष्ठा नक्षत्र मे करने से आधिपत्य, मूला नक्षत्र मे करने से नीरोगता, पूर्वाषाढा नक्षत्र मे करने से उत्तम यश, उत्तराषाढा मे करने से शोकहीनता, अभिजित नक्षत्र मे करने से महती विद्या, श्रवण नक्षत्र मे करने से परलोक मे सदगति, धनिष्ठा नक्षत्र मे करने से राज्य, शतभिषा नक्षत्र मे करने से चिकित्साविद्या मे दक्षता, पूर्वभाद्रपद मे करने से बहुसख्यक बकरियां व भैस, उत्तरभाद्रपद मे करने से गोसम्पद, रेवती नक्षत्र मे करने से बहुवित्तता, अश्विनी नक्षत्र मे अश्व तथा भरणी नक्षत्र मे करने से दीर्घजीवन का लाभ होता है।[1]

मघात्रयोदशी—सनत्कुमार कथित पितृगाथा मे त्रयोदशी के श्राद्ध मे मघा नक्षत्र के योग को अति उत्तम बताया है। दक्षिणायन मे मघायुक्त त्रयोदशी को घी मिश्रित खीर से, बकरे के मांस से या लाल रग के साग से जो श्रद्धा सहित पितरो का श्राद्ध करता है, वह भाग्यवान होता है। मघायुक्त त्रयोदशी को कुजर छाया योग में पितर श्राद्ध की आशा करते हैं।[2]

गया श्राद्ध (अक्षयवट)—गया श्राद्ध भी पितरो का परम आकाक्षित होता है। वहाँ एक वटवृक्ष पितरो की अनन्त तृप्ति का साक्षी है। पितर सदा यह आकाक्षा करते है कि "हमारी सन्तति की सख्या अधिक हो, उनमे से शायद कोई गया श्राद्ध कर दे।" यह वचन गयाश्राद्ध की श्रेष्ठता के सूचक हैं।[3]

श्राद्ध की विधि के सबध मे भी महाभारत मे बहुत कुछ कहा गया है।

प्रशस्त द्रव्य—घृत, तिल, उत्कृष्ट तदुल, मधु, दूध आदि द्रव्य श्राद्ध के लिये उत्तम हैं।[4]

अग्नौकरण—पितरो के उद्देश्य से पिंडदान करने से पहले श्राद्धीय द्रव्यो का कुछ अश अग्निदेव को देना पडता है, इसी का नाम 'अग्नौकरण' है। अग्नौकरण के द्वारा ब्रह्मराक्षस आदि विघ्न डालने वालो का प्रभाव सम्पूर्ण रूप से खत्म हो जाता

---

१ अनु ८९ वां अध्याय।

२. गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति पितृगीता युधिष्ठिर।
सनत्कुमारो भगवान् पुरा मय्यभ्यभाषत॥ इत्यादि। अनु ८८।११-१३

३. एष्टव्या बहव॰ पुत्रा यद्यप्येको गयां व्रजेत्।
यत्रासौ प्रथितो लोकेष्वक्षय्यकरणो वट॰॥ अनु ८८।१४

४ पात्रमौदुम्बर गृह्य मधुमिश्र तपोधन। अनु १२५।८२
परमान्नेन यो दद्यात् पितृणामौपहारिकम्। अनु १२६।३५
तिलोदकञ्च यो दद्यात् पितृणा मधुना सह। अनु १२९।११

है। पिता, पितामह तथा प्रपितामह के उद्देश्य से यथाक्रम पिंडदान करने का विधान है।

सावित्री जप—प्रत्येक पिंड पर सावित्री जप करना पडता है। 'सोमाय पितृमते' इत्यादि मन्त्रो का पाठ करना जरूरी है।[1]

पिण्डत्रय की विसर्जन प्रणाली—तीनो पिंड मे पितृपिंड जल मे विसर्जित करना पडता है। वह पिंड चन्द्र की प्रीति का उत्पादन करता है और चन्द्र पितरो को तृप्त करता है। मध्यम याने पितामहपिंड पुत्रकामा पत्नी को देना पडता है। पितामह के उद्देश्य से उत्सर्ग किये गये पिंड का भोजन करने से पत्नी उत्कृष्ट पुत्र को जन्म देती है। प्रपितामह के पिंड की अग्नि मे आहुति देनी चाहिये, उससे पितर तृप्त होकर श्राद्धकर्त्ता को आशीर्वाद देते है।[2]

श्राद्ध में संयम—श्राद्धकर्त्ता तथा श्राद्ध भोक्ता ब्राह्मण को श्रद्धासहित कार्य करना चाहिये। श्राद्ध के तथा श्राद्ध से पहले दिन स्त्री सम्भोग करना निषिद्ध है।[3]

मत्स्य मांसादि का निवेदन—श्राद्ध के द्रव्यो मे मत्स्य मास आदि भी उत्तम द्रव्य माने जाते है।[4]

विभिन्न प्राणियो के मांस से पितरो की तृप्ति—तिल, चावल, जौ, उडद, फल, मूल आदि के द्वारा श्राद्ध करने से पितर एक मास तक तृप्त रहते हैं। श्राद्ध मे तिल ही सर्वापेक्षा प्रधान है। मत्स्य से पितर दो मास तक तृप्त रहते हैं। भैसे के मास से तीन मास तक, शश के मास से चार मास तक, बकरे के मास से पाँच मास तक, वराह के मास से छह मास तक, शकुल मास से सात मास तक, चितकबरे हरिण के मास से आठ मास तक, रौरव मास से नौ मास तक, गवय मास से दस मास तक, महिष मास से ग्यारह मास तक और गव्य, घी व खीर से पूरे साल भर तक तृप्त रहते हैं। गैंडे के मास से उनकी तृप्ति बारह वर्ष तक अक्षुण्ण रहती है।

---

१. सहितास्तात भोक्ष्यामो निवापे समुपस्थिते। इत्यादि। अनु ९२। १०-१५

२. पिंडो ह्यधस्ताद् गच्छंस्तु अप आविश्य भावयेत्।
पिंडन्तु मध्यमं तत्र पत्नी त्वेका समश्नुते।
पिंडस्ततीयो यस्तेषां तं दद्याज्जातवेदसि॥ इत्यादि। अनु १२५। २५, २६, ३७-४०

३. श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च पुरुषो यः स्त्रियं व्रजेत्।
पितरस्तस्य तं मासं तस्मिन् रेतसि शेरते॥ इत्यादि। अनु १२५।२४, ४१

४. प्रीयन्ते पितरश्चैव न्यायतो मासतर्पिताः। अनु ११५।६०

गडार के मास से पितरो को अनन्त तृप्ति मिलती है। काले साग, लाल साग तथा वकरे का मास श्राद्ध मे देने से अक्षय फल मिलता है। जल, फल, मूल, मास, अन्न आदि मधुमिश्रित होने पर पितरो को विशेष प्रिय होते हैं।[1]

वर्जनीय व्रीहि आदि—श्राद्ध के लिए वहुत सी वस्तुएँ वर्जनीय भी वताई हैं। कोदो (एक तरह का धान), पुलक (एक तरह की सरसो), प्याज, लहसुन, शौभाञ्जन (सहजिन), कोविदार (कचनार), गृजन (जहर वुझे शस्त्र से मारे गये पशु का मास), गोल कद्दू, काला नमक, पालतू वराह का मास, अप्रोक्षित द्रव्य, काला जीरा, खारा नमक, शीतपाकी (एक तरह का साग), वशकरीर आदि अकुर, सिंघाडा, लवन, जामुन, सुदर्शन (एक तरह का साग) आदि द्रव्य श्राद्ध के लिये वर्जनीय हैं।[2]

वर्जनीय व्यक्ति—श्राद्ध करने की जगह चाडाल, वधिक, गैरिकवस्त्रधारी, कुष्ठी, ब्रह्मघ्न, सकरयोनि विप्र, पतित, पतितससर्गी, रजस्वला नारी, विकलाग आदि व्यक्तियो की उपस्थिति निषिद्ध है। इनकी उपस्थिति से श्राद्धकर्म मे पवित्रता नही रह पाती।[3]

अन्य वशज नारी का पक्वान्न आदि निषिद्ध—किसी अन्यवशजा नारी के हाथ का पका हुआ अन्न वगैरह श्राद्ध मे नही देना चाहिये।[4]

अमेध्य द्रव्य वर्जनीय—लघित, अवलीढ (चाटा हुआ), कलहपूर्वक वनाया हुआ, उच्छिष्ट, अवघुष्ट, क्षुतदूषित, कुकुरस्पृष्ट, केश-कीट युक्त, अश्रुजलसिक्त, तथा आज्यविहीन द्रव्य भी श्राद्ध मे नही देने चाहिये। अमेध्य (यज्ञ के अनुपयुक्त) होने के कारण ये वस्तुएँ दैवकर्म तथा पितृकर्म के लिये वर्जनीय हैं।[5]

ब्राह्मण वरण—ब्राह्मण के विना श्राद्ध नही होता। पितरो के उद्देश्य से प्रदत्त द्रव्य ब्राह्मण को देना पडता है। ब्राह्मण की तृप्ति मे ही पितरो की तृप्ति है। दैवकर्म की वस्तुएँ तो किसी भी ब्राह्मण को दान की जा सकती हैं, किन्तु

---

१. अनु ८८ वाँ अध्याय।

२. अश्राद्धेयानि धान्यानि कोद्रवाः, पुलकास्तथा।
हिंगुद्रव्येषु शाकेषु पलाडु लशुनं तथा। इत्यादि। अनु ९१।३८-४२

३. चाडालश्वपचौ वर्ज्यौ निवापे समुपस्थिते। इत्यादि। अनु ९१।४३, ४४ अनु ९२।१५ अनु २३।४

४. सग्राह्या. नान्यवंशजा। अनु ९२।१५

५. लंघित चावलीढञ्च कलिपूर्वञ्च यत्कृतम्। इत्यादि। अनु २३। ४-१० अनु ९१।४१

पितृकर्म के लिये ब्राह्मण की अच्छी तरह परीक्षा किये विना वरण नही करना चाहिये।

ब्राह्मण परीक्षा—कुल, शील, वयस, रूप, विद्या, विनय, व्यवहार आदि के बारे मे ख्याल रखकर श्राद्ध के लिये ब्राह्मण ढूंढना चाहिये।[1]

देवकृत्य के लिए वर्जनीय ब्राह्मण—शातिपर्व मे एक जगह कहा गया है कि देवकृत्य के लिये भी ब्राह्मण की अच्छी तरह परीक्षा कर लेनी चाहिये। जो ब्राह्मण युद्ध, कृषि, वाणिज्य या नौकरी करके जीवनयापन करता हो वह निन्दनीय है। वेश्यागामी, दुश्चरित्र, वृषलीपति, ब्रह्मवधु, गायक, नर्त्तक, खल, राजकर्मचारी आदि ब्राह्मण भी शूद्र के समान होते है। ये देवकृत्य करने के अयोग्य है।[2]

दम आदि गुणो से युक्त ब्राह्मण ही श्राद्ध मे वरणीय—जिस ब्राह्मण मे शम, दम, सत्य, सरलता, क्षमा आदि गुण हो, वही पितृकर्म मे वृत हो सकता है। सयमी, सद्‌गुणविभूषित, सावित्रीज्ञ, क्रियावान, अग्निहोत्री, अचौर, अतिथिवत्सल, अहिसक, अल्पदोषी, स्वल्प सञ्चयी ब्राह्मण ही श्राद्ध मे वरणीय है। जो शुरू के जीवन मे दुष्कृत्य करता रहा हो, लेकिन बाद मे अपने को सुधार ले, वह भी श्राद्धकर्म के लिये उपयुक्त ब्राह्मण होता है।[3]

पंक्तिपावन ब्राह्मण अति प्रशस्त—जो विद्यावेदव्रती, सदाचाररत, त्रिणाचिकेत, पचाग्निनिरत, त्रिसुपर्ण, वेदागी, वेदाध्यापक, सामगायक, मातृपितृवश्य, कम से कम दस पीढियो से श्रोत्रिय, धर्मपत्नीनिरत, गृहस्थब्रह्मचारी, अथर्वशिरोध्येता, सत्यवादी, स्वकर्मनिरत, पुण्यतीर्थो मे अभिषिक्त, अवभृथप्लूत (याज्ञिक स्नान द्वारा पवित्रीकृत शरीर), अक्रोधी, शान्त, क्षात, दात, सर्वभूतहितरत हो, ऐसे ब्राह्मण को —'पक्तिपावन' ब्राह्मण कहते हैं। ये ब्राह्मण श्राद्ध कराने के लिये सर्वोत्तम होते हैं। मोक्षधर्मज्ञ, यति एव आत्मनिग्रही ब्राह्मण, जो इतिहास,

---

१. ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित्।
दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्याय्यमाहुः परीक्षणम्। इत्यादि। अनु ९०।२-४

२. ज्याकर्षण शत्रुनिवर्हणञ्च......।
राजन्नेतान् वर्जयेद्देवकृत्ये।। इत्यादि। शांति ६३।१-५

३. दम. शौचमार्जवञ्चापि राजन्। इत्यादि। शाति ६३।७, ८
चीर्णव्रता गुणैर्युक्ता भवेयुर्षेऽपि कर्षकाः।
सावित्रीज्ञाः क्रियावन्तस्ते राजन् केतनक्षमाः।। इत्यादि। अनु २३।
२४-३१

पुराण, व्याकरण, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन करना, उसकी दृष्टि पडने से ही श्राद्ध सफल हो जाता है।[1]

मित्र अथवा शत्रु वरणीय नहीं—श्राद्ध मे मित्र या शत्रु ब्राह्मण को निमन्त्रित नही करना चाहिये। जिस ब्राह्मण से कोई सबध न हो वही श्राद्ध के लिये उपयुक्त पात्र होता है। अयोग्य ब्राह्मण के निमन्त्रित होने से श्राद्ध का फल विनष्ट हो जाता है।

सम्भोजनी अति निन्दनीय—श्राद्ध आदि कृत्यो मे किसी भाई-बद ब्राह्मण को बुलाकर परितृप्त करने को 'सम्भोजनी' कहा जाता है। 'सम्भोजनी' को महाभारत मे 'पिशाचदक्षिणा' नाम दिया है। कहा गहा है, सम्भोजनी करने से श्राद्ध तो असफल होता ही है, वरन् श्राद्धकर्त्ता को भी पाप का भागी बनना पडता है। अतएव जिस ब्राह्मण के साथ कोई सबध न हो, वही श्राद्ध के योग्य है।

दरिद्र ब्राह्मण से श्राद्ध कराना प्रशसनीय—दरिद्र, निरीह, पवित्रचेता, धर्म-विश्वासी, व्रती, तपोनिष्ठ, ब्राह्मण को श्राद्ध आदि मे दान देने से अनन्त फल मिलता है।[2]

श्राद्ध आदि मे अपूज्य ब्राह्मण—जिन ब्राह्मणो को श्राद्ध मे निमन्त्रित नही करना चाहिये, उनकी सूची निम्नलिखित है। निन्दित कर्म करने वाला, वीभत्स, विकृत नखवाला, कुष्ठी, वर्णसकर, मूर्ख, नर्त्तक, गायक, परनिन्दक, खल, भ्रूणहत्या करानेवाला, क्षयरोगी, पशुपालक, सूदखोर, वैश्यजीवी, गृहदाही, विष देनेवाला, जारज का अन्न खानेवाला, सोमविक्रयी, सामुद्रिक, राजकर्मचारी, तेलव्यवसायी, धोखेबाज, पितृद्रोही, पुश्चलीपति, अभिशप्त, चोर, मित्रद्रोही, परस्त्रीगामी, शूद्राध्यापक, शस्त्रोपजीवी, मृगयाव्यसनी, रगमच का अभिनेता, चिकित्सक, देवल (देवपूजा से धन कमाने वाला), पौनर्भव, काना, नपुसक, श्वेतकुष्ठरोगी आदि ब्राह्मण अपाक्तेय है। ऐसे ब्राह्मणो को श्राद्ध आदि मे निमन्त्रित करने से अनुष्ठान विफल हो जाता है।[3] स्वर्गनरकगामी प्रकरण मे कहा गया है कि पतित,

---

१. इमे तु भरतश्रेष्ठ विज्ञेया. पक्तिपावना.। इत्यादि। अनु ९०।२४-३७

२. यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च।
न प्रीणन्ति, पितृन् देवान् स्वर्गञ्च न स गच्छति॥ इत्यादि। अनु ९०।४१-४६

येषा दारा प्रतीक्षन्ते सुवृष्टिमिव कर्षका।
उच्छेषपरिशेष हि तान् भोजय युधिष्ठिर॥ इत्यादि। अनु २३।४९-५८

३ श्राद्धकाले तु यत्नेन भोक्तव्या ह्यजगुप्सिता। इत्यादि। वन १९९। १७-१९। शाति २९४।५। अनु ९० वाँ अ०

जड़, उन्मत्त, श्वेतकुष्ठरोगी, नपुसक, कोढी, क्षयरोगी, अपस्मारी, अध, चिकित्सक, देवलक, वृथानियमधारी, सोमविक्रेता, गायक, नर्त्तक, योधक, शूद्रयाजक, शूद्र-शिष्य, भृतकाध्यापक, भृतकाध्येता, शूद्रापति, श्रौतस्मार्त्तकर्मभ्रष्ट, अनाग्नि, मृत-निर्यातक, पुत्रिकापुत्र, ऋणकर्त्ता, सूदखोर, प्राणिविक्रयी, स्त्रीजित, स्त्रीपण्योप-जीवी, वेश्यागामी, सध्यावन्दन न करनेवाला आदि ब्राह्मण अपाक्तेय है। श्राद्ध वगैरह मे इनका सर्वथा वर्जन करना चाहिये।[1] वर्त्तमान युग मे इस तरह देखा जाय तो सद्ब्राह्मण मिलना दुर्लभ होगा, इसमे सन्देह नही है, किन्तु जो मिले उन्ही मे से अपेक्षाकृत सदाचारी ब्राह्मण से अनुष्ठान कराना चाहिये। आजकल सद्ब्राह्मण के अभाव मे कुशब्राह्मण द्वारा ही श्राद्ध आदि कराया जाता है।

सर्वत्र ही ब्राह्मण को भोजन व्यवस्था—उपर्युक्त ब्राह्मण-परीक्षा प्रकरण से समझा जा सकता है कि स्वकर्मनिरत, शान्त, शिष्ट एव दरिद्र ब्राह्मण श्राद्धीय दानग्रहण का उपयुक्त पात्र होता है, इसके अलावा दूसरे ब्राह्मण श्राद्ध मे निमन्त्रित होने के अधिकारी नही होते। हर क्रियाकर्म मे ब्राह्मण को भोजन कराने का नियम था, किन्तु गुणवान ब्राह्मण को न बुलाकर किसी नामधारी भाई-बद को ब्राह्मण के स्थान पर नियुक्त करने से अनुष्ठान विफल माना जाता था।[2]

सामर्थ्य के अनुसार व्यय का विधान—पितृकृत्य के लिये ब्राह्मण-परीक्षा के इतने कठोर नियम देखकर प्रतीत होता है कि उस काल मे गुणसम्पन्न ब्राह्मण मिलना दुर्लभ नही था। महाभारत मे सिर्फ राजपरिवारो के श्राद्धतर्पण आदि का वर्णन किया गया है। साधारण समाज मे निश्चय ही इतना आडम्बर नही रहा होगा। दान आदि मे राजा ही मुक्तहस्त थे। मध्यमवर्गी तथा निम्नवर्गी समाज मे लोग अपनी अपनी आर्थिक दशा के अनुरूप ही व्यय करते थे। ऋण लेकर धर्म-कृत्य करना कभी भी प्रशसित नही हुआ, क्योकि ऋणग्रस्त व्यक्ति को पातकी कहा गया है।[3]

श्राद्ध मे अधिक ब्राह्मणो को बुलाना निन्दनीय—महाभारत मे यह तो स्पष्ट

---

१. अत ऊर्ध्वं विसर्गस्य परीक्षां ब्राह्मणे श्रृणु। अनु २३।११-२२
   राजपौरुषिके विप्रे घान्टिके परिचारिके। इत्यादि। अनु १२६।२४,२५

२. तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान्। सभा ४।४
   सर्वे ब्राह्मणमाविश्य सदान्नमुपभुञ्जते।
   न तस्याश्नन्ति पितरो यस्य विप्रा न भुञ्जते॥ अनु ३४।७
   ब्राह्मणेषु च तुष्टेषु प्रीयन्ते पितरः सदा। अनु ३४।८

३. ऋणकर्त्ता च यो राजन्। इत्यादि। अनु २३।२१

रूप से कही नही लिखा हुआ है कि श्राद्ध मे ब्राह्मणो की सख्या जितनी कम हो उतना अच्छा है, किन्तु परीक्षा प्रकरण से इसका अनुमान अवश्य होता है। विशेषत सद्-ब्राह्मणो मे अधिकतर दान लेने से विमुख रहते थे। ब्राह्मणो की धारणा थी कि दान ब्रह्मतेज को विनष्ट करता है।[1] अतएव धनीवर्ग तो किसी तरह बहुत से सद्ब्राह्मण जुटा भी लेता था, लेकिन औरो के लिये असम्भव था। शास्त्रीय विधान मे महा-भारतकार ने मनु के आदर्श को ही उच्च स्थान दिया है। मनुसहिता मे उक्त हुआ है कि श्राद्ध मे देव के लिये दो और पितर के लिये तीन ब्राह्मणो को या देव और पितर दोनो के लिये एक एक ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिये, समृद्ध व्यक्ति को भी इससे अधिक ब्राह्मणो को निमन्त्रित नही करना चाहिये। ब्राह्मणो की सख्या बहुल होने से उनकी सेवा, देश, काल, शुद्धि, अशुद्धि एव पात्र-अपात्र का विचार आदि नियमो का यथार्थरूप मे प्रतिपालन नही होता। अत श्राद्ध मे अधिक ब्राह्मणो को नही बुलाना चाहिये।[2]

सहिता एव पुराण आदि का भी यही अभिमत—पूरी स्मृतिसहिता मे ब्राह्मणबहुलता की निन्दा की गई है। वशिष्ठस्मृति के ग्यारहवे अध्याय के दो कथन पूर्वोक्त मनुवचन से अभिन्न रूप से मिलते हैं। मत्स्यपुराण मे भी (१६। ३१,१७।१४) इसी के अनुरूप कथन मिलता है।

प्राचीन श्राद्ध-विधि मे अनाडम्बर—इन शास्त्रवचनो से अनुमान होता है कि वर्त्तमान काल की तरह उस काल मे श्राद्ध आदि कृत्यो मे आडम्बर का कोई स्थान नही था एव मानरक्षा के लिये ऋण लेकर विपत्तिग्रस्त नही होना पडता था। आजकल लोग केवल लोकलाज की खातिर श्राद्ध, विवाह आदि मे अधिक खर्च करके आफत मोल ले लेते है, लेकिन प्राचीन समाज मे इस तरह आडम्बर कोई नही करता था।

श्राद्ध का अधिकारी—श्राद्ध करने का कौन अधिकारी होता है, इस पर स्पष्ट रूप से महाभारत मे कुछ नही कहा गया है, किन्तु ऐसा अनुमान होता है कि पुत्र ही मुख्य अधिकारी है, उसके बाद श्राद्ध करने के लिये पत्नी को अधिकार होता है।

---

१. प्रतिग्रहेणे तेजो हि विप्राणा शाम्यतेऽनघ। अनु ३५।२३
कृष्णपक्षे तु य श्राद्ध पितृणामश्नुते द्विज।
अन्नमेतदहोरात्रात् पूतो भवति ब्राह्मण ॥ इत्यादि। अनु १६३।१२-१९

२ द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत् सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्येत विस्तरे॥ इत्यादि। मनु ३।१२५, १२६

एक ही मृत व्यक्ति के उद्देश्य से उसके निकट सम्बन्धियो के पृथक्-पृथक् श्राद्ध करने के उदाहरण मिलते है। अभिमन्यु का श्राद्ध उसके मातुलकुल मे भी किया गया था। इसी तरह दुर्योधन आदि का श्राद्ध तर्पण उनकी विधवा पत्नियो के करने के बाद भी धृतराष्ट्र ने फिर से किया था।[1]

गगा मे अस्थि विसर्जन—गगा मे अस्थि विसर्जन करने का मात्र एक उदाहरण मिलता है।[2]

क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण का श्राद्ध—क्षत्रिय शिष्य भी ब्राह्मण गुरु के उद्देश्य से श्राद्ध करते थे। द्रोणाचार्य की सद्‌गति के निमित्त युधिष्ठिर वगैरह ने उनका श्राद्ध किया था।[3]

श्राद्ध आदि द्वारा समाज का उपकार—श्राद्ध प्रकरण पढने से पता लगता है कि प्रत्येक मृत व्यक्ति के उद्देश्य से उसके आत्मीय स्वजन श्राद्ध करते थे। उस उपलक्ष्य मे तरह तरह के लोकहितकारी कार्यो का भी अनुष्ठान होता था। धनी व्यक्ति मृत व्यक्ति की तृप्ति कामना से तालाब आदि खुदवाते थे, मठ बनवाते थे। श्रद्धा सहित बिना किसी आडम्बर के ये कर्म किये जाते थे। दरिद्र, स्वकर्मनिरत ब्राह्मण इन क्रियाकर्मों मे दान लेते थे। दान का उपयुक्त पात्र प्रस्तुत करने के लिये समाज की जो व्यवस्था थी, आदर्श के नाते वह विशेष रूप से लक्ष्य करने का विषय है। सत्प्रतिग्रह को जो वृत्ति रूप मे ग्रहण करते थे, उनकी विद्या, चरित्रबल, व वृत्ति की शुचिता अनन्य साधारण होती थी। अतएव गौण रूप से इन क्रिया कर्मों द्वारा समाज का भी बहुत उपकार होता था।

---

१. स्त्री २७ वाँ अध्याय। आश्र १४ वाँ अध्याय। शांति० ४२ वाँ अध्याय।

२. सकल्प्य तेषां कुल्यानि पुनः प्रत्यागमंस्ततः। इत्यादि। आश्र ३९।२२, २३

३. आश्र १४ वाँ अध्याय। शांति ४२ वाँ अध्याय।

दायविभाग

सर्वप्रथम पुत्र का अधिकार—पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के सबध मे कई नियमो का उल्लेख किया गया है। सम्पत्ति के उत्तराधिकार का निर्णय भी धर्मशास्त्रीय अनुशीलन के अन्तर्गत आता है। पिता की छोडी हुई सम्पत्ति पर पहला हक पुत्र का ही होता है। सवर्णा पत्नी के गर्भजात सब पुत्रो का समान अधिकार होता है, केवल ज्येष्ठ पुत्र को ज्येष्ठत्व के कारण एक भाग अधिक मिलने का विधान है।

जननी क्रम के अनुसार धनविभाग में पार्थक्य—यदि सवर्णा भार्याओ की सख्या एक से अधिक हो तो प्रथम पत्नी के गर्भजात पुत्रो को एक अश मिलेगा, मध्यमा के पुत्रो को मध्यमाश अर्थात् प्रथमा के पुत्रो से कुछ कम मिलेगा। इसी प्रकार जननियो के अनुक्रम से धन विभाग की व्यवस्था महर्षि मारीच काश्यप ने बताई है। विभिन्न जातीय भार्या की गर्भजात सन्तानो मे जननी के जन्मगत वर्ण के अनुसार दायविभाग का वैषम्य शास्त्रविहित है।

ब्राह्मण का चातुर्वर्णिक विवाह—ऐसे तो ब्राह्मण किसी भी वर्ण की कन्या का पाणिग्रहण कर सकता है, किन्तु शास्त्रानुसार शूद्रकन्याग्रहण उसके लिये निषिद्ध है। इन्द्रियासक्ति के वशीभूत होकर ब्राह्मण भी कभी कभी शूद्र कन्या से विवाह करते थे।

जननी के वर्णभेद से पुत्र का सम्पत्ति पर अधिकार—ब्राह्मणी माता से जात ब्राह्मण पुत्र को अच्छे बैल, रथ, वस्त्रो आदि का बँटवारा न करके अकेले ही ले लेने चाहिये। अवशिष्ट धन को दस भागो मे विभक्त करके उसके चार भाग भी ब्राह्मणी से जात पुत्र ले लें। क्षत्रिया माता से जात सन्तान ब्राह्मण होते हुए भी जननी के भिन्नवर्णा होने के कारण बचे हुए सात भागो मे से तीन के मालिक होंगे। इसी प्रकार वैश्यवर्णा की सन्तान के हिस्से मे दो भाग एव शूद्रा की सन्तान के हिस्से मे बचा हुआ एक भाग आयेगा। शूद्रा का पुत्र ब्राह्मण तनय होते हुए भी ब्राह्मण नही होता, अत उसका सबसे कम अधिकार होता है। वह पैतृक सम्पत्ति पर दावा नही कर सकता, पिता के इच्छानुसार बँटवारा करने पर वह आपत्ति नही उठा सकता। ऐसे तो शास्त्रत पैतृक सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार नही होता, तब भी सम्पत्ति का दशमाश उन्हे दयावश दे देना चाहिये, यही रीति है।

ब्राह्मणी के अधिकार वैशिष्ट्य से पुत्र का विशेष अधिकार—ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या के गर्भ से ब्राह्मण के जो पुत्र जन्म लेते है, यद्यपि वे सभी ब्राह्मण होते हैं, किन्तु ब्राह्मण के घर मे होनेवाले हव्यकव्य आदि कर्मों को करने का एकमात्र ब्राह्मणी के पुत्रो को ही अधिकार होता है। इसीलिये उन्हे पिता की सम्पत्ति का अधिक भाग मिलता है। ब्राह्मणी के बाद क्षत्रिया का और उसके बाद वैश्या का स्थान है।

क्षत्रिय की सम्पत्ति का बँटवारा—क्षत्रिय विवाहिता क्षत्रिय कन्या, वैश्य कन्या, शूद्रकन्या, तीनो के पुत्र हो तो क्षत्रिय की सम्पत्ति के आठ भाग किये जायेंगे। उनमे से चार क्षत्रिया के पुत्रो को, तीन वैश्या के पुत्रों को और एक शूद्रा के पुत्रो को मिलेगा। शूद्रा से विवाह करना क्षत्रिय के लिये भी निषिद्ध है। यदि कामवश शूद्रा को भी भार्यारूप मे ग्रहण करे ही तो उसकी गर्भजात सन्तान को सम्पत्ति का एक भाग देना उचित है। युद्धविजय मे क्षत्रिय को जो धन मिले, उस पर केवल सवर्णा पत्नी के पुत्रो का अधिकार होगा।

वैश्य की सम्पत्ति का बँटवारा—वैश्य की वैश्या तथा शूद्रा दोनो पत्नियो के पुत्र हो तो सम्पत्ति को पाँच भागो मे विभक्त किया जायगा। सवर्णा के पुत्र चार भागो के मालिक होगे, अवशिष्ट एक भाग शूद्रा के पुत्रो को मिलेगा। लेकिन शूद्रा के पुत्र पिता की करुणा पर निर्भर होंगे, सम्पत्ति पर ऐसे उनका कोई दावा नही होगा।

शूद्र की सम्पत्ति का बँटवारा—शूद्र अन्यवर्णा पत्नी ग्रहण करने का अधिकारी नही होता, अत सवर्णा के सब पुत्रो मे सम्पत्ति का समान बँटवारा हो जायेगा।[1]

यौतुक धन पर कन्या का अधिकार—अपुत्रक व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति पर कन्या का अधिकार होता है।[2] माता के दहेज मे लाये हुए धन की भी कुमारी कन्या ही अधिकारिणी होती है।

दौहित्र का अधिकार—पुत्र व कन्या के अभाव मे मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर दौहित्र का अधिकार होगा। दौहित्र पिता एव मातामह दोनो का श्राद्ध करने का अधिकारी होता है। धर्मत पुत्र व दौहित्र मे कोई पार्थक्य नही होता।

पुत्रिकाकरण के बाद पुत्र उत्पन्न होने पर सम्पत्ति का विभाग—कन्या को पुत्र मान कर सम्पत्ति की अधिकारिणी बनाने पर यदि बाद मे पुत्र का जन्म हो तो उस व्यक्ति की सम्पत्ति के पाँच भाग किये जायेंगे। उनमे से दो कन्या को तथा

---

१. अनु ४७ वाँ अध्याय।

२. कुमारो नास्ति येषाञ्च कन्यास्तत्राभिषेचय। शांति ३३।४५

तीन पुत्र को मिलेगे। कन्या को पुत्र मानने के वाद यदि दत्तक पुत्र लिया जाय तो पाँच भागो मे से तीन कन्या को और दो दत्तक पुत्र को मिलेंगे।[1]

पत्नी को सम्पत्ति देने का विधान—पति को चाहिये पत्नी के लिये भी थोडी सम्पत्ति देकर जाय। प्रचुर धन होते हुए भी पत्नी को तीन सहस्र मुद्रा से अधिक देना अनुचित है। पति के दिये हुए धन का पत्नी मनचाहा उपयोग कर सकती है। पुत्रो का माता के उस धन पर अधिकार नही होता।

माता के धन पर दुहिता का अधिकार—ब्राह्मण पिता सवर्णा पत्नी की गर्भजात कन्या को विवाह मे या वाद मे कुछ धन दे तो उस धन पर उस कन्या की मृत्यु के वाद एकमात्र उसकी दुहिता का अधिकार होगा। इस प्रकार शास्त्रविहित नियमो के अनुसार सम्पत्ति का वँटवारा करना चाहिए। मन्वादि ऋषि दायविभाग की यही व्यवस्था करके गये हैं।[2]

धन की अतिवृद्धि शास्त्रविहित नहीं—गृहस्थ के लिये धन का स्तूपीकरण करना शास्त्रविहित नही है। तीन साल तक परिवार का भरण-पोषण हो सके, इतना इकट्ठा करने के वाद अधिक सचित न करके अच्छे कामो मे धन का उपयोग कर देना चाहिये।[3]

पितृ-व्यवसाय त्यागी पितृधन से वचित—पिता की मृत्यु के वाद सारी सम्पत्ति सर्वप्रथम वडे भाई के हाथ पडती है, वह सव भाइयो को उनका प्राप्य दे दे, यही नीतिसगत है। यदि वह कर्त्तव्य विमुख हो, तो उसे राजदरवार से यथोचित दड मिलना चाहिये। यदि कोई पूर्वजो का व्यवसाय छोडकर असत् कर्म द्वारा जीविका-निर्वाह करे तो उसे पैतृक सम्पत्ति से विल्कुल वचित कर देना चाहिये।[4]

अंगहीन का अनधिकार—धर्मज्ञ एव उदार होते हुए भी प्रतीप के पुत्र, शान्तनु के ज्येष्ठ भ्राता देवापि को राज्य नही मिला, क्योकि वह चर्मरोगी

---

१. यथैवात्मा तथा पुत्र. पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्। इत्यादि। अनु ४५। १२-१५

२. त्रिसहस्रपरो दायः स्त्रियै देयो धनस्य वै। इत्यादि। अनु ४७।२३-२६

३ त्रैवार्षिकाद् यदा भक्तादधिक स्याद्द्विजस्य तु।
यजेत तेन द्रव्येण न वृथा साधयेद्धनम्॥ अनु ४७।२२

४ अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः।
अज्येष्ठ स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च स॥ इत्यादि। अनु १०५। ७-१०

(कोढी) थे। ज्येष्ठ होते हुए भी नेत्रहीनता के कारण धृतराष्ट्र को राज्य नही मिला था।[1]

स्व-उपार्जित धन पर किसी का अधिकार नहीं—पितृधन की सहायता के विना जो केवल अपनी क्षमता से कुछ उपार्जित करे, उस धन मे से दूसरे को हिस्सा देना या न देना उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। न देने पर दूसरा हक नही जमा सकता।[2]

पुत्रो की इच्छा पर समान विभाग—पुत्र अगर पिता की सम्पत्ति का अलग-अलग उपभोग करने की इच्छा प्रकट करे, तो पिता सब पुत्रो मे समान रूप से सम्पत्ति बाँट दे, किसी प्रकार का वैपम्य प्रदर्शन शास्त्रविहित नही है।[3]

भार्या, आदि स्वतन्त्र नहीं—भार्या, पुत्र एव दास ये तीनो ही पराधीन होते है। उनकी स्वय की उपार्जित सम्पत्ति पर भी अपना अधिकार नही होता। शिल्प आदि द्वारा भार्या के उपार्जित धन का पति ही एकमात्र अधिकारी होता है। पुत्र चाहे कुछ भी क्यो न कमाये, पिता के हाथ मे सब कुछ दे देना ही उसका धर्म है। दास के उपार्जित धन पर भी स्वामी का ही अधिकार होता है।

शिष्य के धन पर गुरु का अधिकार—शिष्य के उपार्जित धन पर गुरु का अधिकार होता है। जितने दिन शिष्य गुरु के घर रहेगा, भिक्षालब्ध द्रव्य उसे गुरु को ही देना पडेगा।[4]

---

१. उद्योग० १४९ वाँ अध्याय।

२. अनुपध्नन् पितुर्द्रायं जंघाश्रमफलोऽध्वगः।
स्वयमीहितलब्धन्तु नाकामो दातुमर्हति॥ अनु १०५।११

३. भ्र.तृणामविभक्तानामुत्थानमपि चेत् सह।
न पुत्रभाग विषमं पिता दद्यात् कदाचन॥ अनु १०५।१२

४. त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुत.।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ इत्यादि। उद्योग ३३।६८
आदि ८२।२२
त्रय किलेमे ह्यधना भवन्ति। इत्यादि। सभा ७१।१

राजधर्म (क)

शन्तिपर्व का राजधर्म अनेको तथ्यो से परिपूर्ण है। सभा पर्व के नारदीय राजधर्म व कणिक की कूटनीति, आश्रमवासिक पर्व की धृतराष्ट्रजिज्ञासा, उद्योगपर्व की विदुरनीति आदि प्रकरणो मे राजधर्म के सबध मे वहुत कुछ कहा गया है। इस परिच्छेद मे उन उक्तियो को उद्धृत करके यह वताने की चेष्टा की गई है कि उन दिनो राजधर्म का स्वरूप क्या था। विषय वहुत वडा होने के कारण इस परिच्छेद को कई भागो मे विभक्त कर दिया गया है। मनुवचनो पर महर्षि व्यास ने अपनी अपरिसीम श्रद्धा प्रकट की है। प्रत्येक प्रसग मे दो चार वार मनु का उदाहरण दिया गया है। उसके अलावा प्राचीन राजधर्मप्रणेता दूसरे ऋषि मुनियो का नाम भी प्रसगवश आया है।

राजधर्म प्रवर्त्तक मुनि—वृहस्पति, विशालाक्ष, काव्य (उशना), महेन्द्र, भरद्वाज, गौरशिरा आदि धार्मिक व्रह्मवादी मुनि राजधर्म के प्रवर्त्तक थे।[1]

अराजक समाज की दुरवस्था—अराजक समाज मे कोई निश्चिन्त होकर धर्म चर्चा नही कर सकता, लोगो मे वाद-विवाद चलता ही रहता है, विशेषत दस्युगण तरह-तरह के उत्पातो से मनुष्य का जीना मुश्किल कर देते है, अतएव समाज को कभी भी अराजक अवस्था मे नही रखना चाहिये।[2]

मात्स्य-न्याय—अराजक राज्य मे मात्स्य न्याय का जोर हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार जल मे वडी मछलियाँ छोटी मछलियो को खा जाती हैं, उसी प्रकार अराजक राज्य मे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली अवस्था हो जाती है। दुर्वल मनुष्यो को सारा जीवन सत्रस्त रहकर काटना पडता है, उनकी सुनने वाला कोई नही होता, इसलिये राज्य को अराजक रखना युक्तिसगत नही है।[3]

---

१. वृहस्पतिर्हि भगवान् नान्य धर्मं प्रशसति। इत्यादि। शाति ५८।१-३।
शाति ५६वाँ तथा ५७वाँ अध्याय

२. अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते। इत्यादि। शाति ६७।२-८।

३. राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारक।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्वल बलवत्तरा.॥
इत्यादि। शाति ६७।१६, १७

राजा ही समाज का रक्षक—प्रजा के धर्माचरण का मूल एकमात्र राजा होता है। राजा के डर से ही मनुष्य-समाज मे शाति बनी रहती है। राजा के अभाव मे किसी की कोई भी वस्तु निरापद नही रह पाती। कृषि, वाणिज्य आदि राजा की सुव्यवस्था पर ही निर्भर होते है। राजा समाज का सचालक होता है। उसके अभाव मे मनुष्य का जीवन दु साध्य हो जाता है। सतत उद्विग्नता मे जीवन काटना मनुष्य के लिये मुश्किल होता है और रक्षक के अभाव मे निश्चिन्त होकर जीवनयापन करने की सम्भावना ही कहाँ रहती है? विद्यास्नात, व्रती, तपस्वी ब्राह्मण राजा की सुव्यवस्था के कारण ही वेद का अध्ययन-अध्यापन कर सकते है। राजा न हो तो वर्णसकरो की वृद्धि होने लगे और दुर्भिक्षो का अत ही न रहे। राज्यशासन के फलस्वरूप ही समाज मे शाति व क्रमबद्धता स्थापित रहती है। राज्य मे अगर सुव्यवस्था हो तो अलकारविभूषिता अबलाएँ भी राजपथो पर निश्चिन्त होकर चल-फिर सकती हैं।[1]

शमीक मुनि-वर्णित अराजक राज्य की भीषणता—क्षमाशील मुनि शमीक ने अपने पुत्र शृगी से कहा है, अराजक राज्य मे सदा डर कर रहना पडता है। उच्छृखल व्यक्तियो को राजा दड के द्वारा शात रखता है। राजदड के भय से प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, तभी समाज मे क्रमबद्धता आती है। चित्त अगर हमेशा उद्विग्न रहे तो कोई भी धर्माचरण नही कर सकता, राजा से धर्म एव धर्म से स्वर्ग का लाभ होता है। राजा ही याग-यज्ञ का प्रवर्त्तक है। यज्ञ से देवतुष्टि होती है, उससे सुवृष्टि होती है, सुवृष्टि से अच्छी फसल और अच्छी फसल से प्रजा का पालन होता है। इस प्रकार राजा ही लोकस्थिति का मूल होता है, समाज का धाता होता है। मनु ने कहा है, राजा दश श्रोत्रिय ब्राह्मणो के समान मान्य है।[2]

आदि राजा वैन्य—मूलाध्याय मे युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे भीष्म ने कहा है, सतयुग मे शासन प्रणाली नही थी, धर्म के भय से ही सब अपना-अपना कर्त्तव्य करते थे। अचानक वे लोग मोहग्रस्त एव लोभ के वशीभूत हो गये। समाज मे विशृखलता देखकर देवताओ ने ब्रह्मा के पास जाकर सब कुछ बताया। ब्रह्मा ने पहले तो शास्त्र एव दण्डनीति की रचना की, बाद मे नारायण की सहायता से एक

---

१. शाति ६८वाँ अध्याय।

२. अराजके जनपदे दोषा जायन्ते वै सदा। इत्यादि। आदि ४१।२७–३१

... नृपहीनञ्च राष्ट्रम् एते सर्वे शोच्यता यान्ति राजन्।

शांति २९०–२६

राजा का निर्माण किया। उस राजा का नाम पृथु था, वेण के दक्षिण हस्त से उसकी उत्पत्ति होने के कारण उसका एक नाम वैन्य भी पडा।[1]

दूसरे मत से आदि राजा मनु—राजकरण अध्याय मे कहा गया है कि समाज मे विश्रृखलता उपस्थित होने पर मनुष्य पितामह की शरण मे गये। पितामह ने पृथ्वी का राज्यभार ग्रहण करने के लिये मनु को आदेश दिया। मनु ने पहले तो इतनी बडी जिम्मेदारी लेने के लिये असम्मति प्रकट की, लेकिन बाद मे प्रजा के अनुनय करने पर तथा नानाप्रकार के कर देने की प्रतिज्ञा करने पर तैयार हो गये। वही पृथ्वी के आदि राजा थे।[2] एक ही विषय को लेकर दो प्राचीन उपाख्यान वर्णित है, लेकिन दोनो के स्पष्टीकरण मे कोई भिन्नता नही है। राजा के बिना समाज-व्यवस्था किस तरह ठीक रहे यह विषय उस काल मे भी राजधर्मज्ञ व्यक्तियो के लिये विवादास्पद था। व्यक्तिगत कर्त्तव्य एव धर्मज्ञान मे किञ्चित शिथिलता आते ही राजा के बिना काम नही चल सकता, यही शायद उपर्युक्त उपाख्यानो का गूढ अर्थ है।

राजकरण तथा राजा का सम्मान—आगे भी कहा गया है कि पृथ्वी पर जो उन्नति की आशा रखते हो, उन्हे पहले ही राजा का वरण कर लेना चाहिये, अराजक राज्य निवास के अनुपयुक्त होता है। राजा की भक्ति करनी चाहिये तथा उसके अनुकूल रहना चाहिये। प्रजा ही यदि राजा का यथोचित सम्मान नही करेगी, तो दूसरे लोग तो उसकी अवज्ञा करेंगे ही और यह राज्य के लिये बहुत ही अकल्याण-कर होता है।[3]

राजा की नियुक्ति मे साधारण प्रजा का अधिकार—इन वर्णनो से यह भी पता लगता है कि राजा की नियुक्ति के लिये साधारण प्रजा को पूर्ण अधिकार प्राप्त था। निरापद, शान्तिपूर्ण जीवन बिताने के उद्देश्य से प्रजा मिलकर राजसुलभ गुण-वान व्यक्ति को राजपद पर बिठाती थी। यह प्रथा अति प्राचीन थी।

---

१. नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।। इत्यादि।
शाति ५९।१४–१०९

२. अराजका प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति न श्रुतम्। इत्यादि।
शाति ६७।१७–३२

३. एव ये भूतिमिच्छेयु. पृथिव्या मानवा क्वचित्।
कुर्यु राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ।। इत्यादि।
शाति ६७।३३–३५

वशगत अधिकार—राजसिंहासन पर वशपरम्परागत अधिकार प्राचीन प्रथा न होते हुए भी महाभारतकालीन समाज मे वशगत अधिकार प्रतिष्ठित हो गया था।

राजा भगवान की विभूतिस्वरूप—राजा मे किन-किन गुणो का होना आवश्यक है, इस विषय पर सैकडो उक्तियाँ उद्धृत है। ग्रथकार ने बहुत सी जगह तो उशना, इन्द्र, वृहस्पति, मनु आदि राजधर्मवेत्ताओ के अभिमत को ही ग्रहण किया है और बहुत सी जगह भीष्म के मुख से अपना मत भी प्रकट किया है। विभूतियोग मे भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते है, "नरो मे मैं नराधिप हूँ"। अर्थात् राजा मे ही मनुष्यत्व का पूर्ण विकास होता है, इसलिये वही भगवान की विभूतिस्वरूप है।[1]

राजा के जन्मजात गुण—पूर्वजन्म के पुण्यबल से राजा मे बहुत से गुण अनन्य सुलभ होते हैं, किन्तु शिक्षा के द्वारा भी उन्हे बहुत से गुणो का अर्जन करना पडता है। स्वाभाविक गुणो के सबध मे मनुसहिता मे कहा गया है कि भगवान जिन उपादानो से इन्द्र, अनिल, यम, अर्क, अग्नि, वरुण, चन्द्र, कुवेर आदि देवताओ की सृष्टि करते हैं, उन्ही से राजा की करते है, इसीलिये उनका तेज दूसरो को अभिभूत करने मे समर्थ होता है।[2]

चरित्रगठन मे राजा का दायित्व—राजधर्म ही सब धर्मों का मूल होता है। सब प्राणियो के पदचिन्ह जैसे हाथी के पदचिन्ह के नीचे विलीन हो जाते है उसी प्रकार दूसरे धर्म भी राजधर्म मे विलीन हो जाते है। राजधर्म के परित्यक्त होने पर दूसरा कोई धर्म उन्नत नही हो सकता। अत समाज के स्थायित्व के विपय मे अपने दायित्व को अच्छी तरह समझकर राजा को अपने चरित्रगठन मे मनोयोग करना चाहिये।[3]

आदर्श चरित्र—राजा का चरित्र कैसा होना चाहिये, इस सबध मे भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्मप्रकरण मे सैकडो उपदेश दिये हैं। नीचे सक्षेप मे उन पर प्रकाश डाला जा रहा है।

पुरुषार्थ—उद्योग के बिना कोई कार्य सफल नही होता, इसलिये राजा को सदा पुरुषार्थ की सेवा करनी चाहिये। कोई शुरू किया हुआ काम दैववश यदि अधूरा

---

१. नराणाञ्च नराधिपम्। भीष्म ३४।२७

२. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ इत्यादि। मनु ७।४,५

३. व्राह्मयत्तं क्षत्रियैर्मानवाना लोकश्रेष्ठ धर्ममासेवमानै.। इत्यादि
शाति ६३।२४–३०

रह जाय तो सताप नही कहना चाहिये, दुगने उत्साह से उसे पूरा करने का दुवारा यत्न करना चाहिये।

सत्यनिष्ठा—सत्य कार्य सिद्धि का प्रधान साधन होता है, विशेषकर राजाओ के लिये। सत्यनिष्ठ राजा ऐहिक तथा पारत्रिक श्रेय लाभ करने मे सफल होता है। शौर्य, गाम्भीर्य आदि गुणो से युक्त नृपति सदा श्रीमत रहता है।

मृदुता व कठोरता के बीच का मार्ग अपनाना चाहिये—राजा यदि मृदुस्वभावी होता है तो प्रजा उसका यथोचित मान नही करती और यदि बहुत ही तीक्ष्ण-स्वभावी हो तो सत्रस्त रहती है। इसलिये राजा को दोनो के बीच का मार्ग अपनाना चाहिये। राजा को वसन्त के सूर्य की तरह यथोचित मृदुता व कठोरता का अवलम्बन लेना चाहिये। प्रजा भी सत्यवादी, धर्मनिष्ठ राजा की अनुरक्त होती है।

व्यसन-परित्याग—राजा को हर प्रकार के व्यसन से दूर रहना चाहिये। अपने दोष के वारे मे सदा सावधान रहना चाहिये। अगर कोई दोप हो तो उसे सुधारने की कोशिश करनी चाहिये।

प्रजा के हित के लिये गर्भिणीधर्म का अवलम्बन—गर्भवती स्त्री जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु के हित के लिये अपनी प्रिय वस्तु का त्याग करने मे जरा भी कुठित नही होती, उसी प्रकार राजा को सर्वभूत के हितसाधन को व्रतस्वरूप ग्रहण करना चाहिये।

धीरता—धैर्य का कभी परित्याग नही करना चाहिये। धीर एव दत्तचित्त मनुष्य को किसी तरह का भय नही होता।

भृत्य आदि के साथ व्यवहार मे अपनी मर्यादा रखना—नौकर-चाकरो के साथ बहुत हँसी-ठट्ठा नही करना चाहिये। ऐसा करने से सेवक स्वामी की मर्यादा का उल्लघन करते है। नृपति यदि बहुत ही मृदुस्वभावी या परिहासप्रिय होता है तो प्रजा एव अमात्यगण शिथिलता एव अशिष्टता दिखाते है। और यह राज्य शासन के लिये बहुत ही प्रतिकूल होता है।[1]

प्रजा के हित के लिए कठोर त्याग—राजा को सदा प्रजा की हितकामना करनी चाहिये। प्रजा के हित के लिये राजा सगर ने ज्येष्ठ पुत्र असमज को त्याग दिया था। प्रजा के मगल के लिये सव तरह के दु ख-कष्टो का भी वरण करना पडता है। उद्यम करने से मनुष्य मे त्याग की सामर्थ्य आती है।

चातुर्वर्ण्य-सस्थापन—राजा ही चातुर्वर्ण्य का सस्थापक होता है। धर्मसकर

---

१. शाति ५६वाँ अध्याय।

(परस्पर विरोधी धर्मों का सम्मिश्रण) तथा वर्णसकर से प्रजा की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य है।

- **विचार बुद्धि**—कभी किसी पर पूरा विश्वास नही करना चाहिये। स्वय सोच-समझ कर निपुणता से राज्य चलाना चाहिये।

प्रजारंजक—जिसके शासन मे प्रजा निरुद्वेग व आनद से कालयापन कर सके, वही असली राजा होता है। प्रजा को सुखी रखनेवाले, दीर्घदर्शी राजा का ऐश्वर्य चिरस्थायी होता है।[1]

क्षत्रियधर्म का गुरुत्व—क्षत्रियधर्म बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। उसका यथोचित पालन करने से क्षत्रिय इह लोक मे अक्षय कीर्ति तथा परलोक मे अनन्त सुख का उपभोग करता है। केवल प्रजापालन के द्वारा ही साधु नृपति मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ होता है।[2]

समयानुवर्त्तिता आदि—यथासमय उपयुक्त चरो को नियुक्त करना तथा दूत भेजना, यथासमय दान देना, सद्वृत्त मात्सर्यरहित अमात्यो से परामर्श लेना, कर वसूल करने के लिये प्रजा पर अत्याचार न करना, साधुससर्ग करना तथा असाधुओ की सगत छोडना आदि कर्म राजधर्म के अग है।

अवसर देख कर साम आदि नीति का प्रयोग करना—साम, दाम, भेद व दड आदि नीतियो का प्रयोग उपयुक्त अवसर देखकर करना, अनार्यकर्म वर्जन, प्रजापालन तथा नगररक्षण राजाओ के आवश्यक कर्त्तव्य हैं। जो राजा पुरुषार्थ नही करता, जो प्रमादी, अतिमृदुस्वभावी या अति कठोर होता है, वह कभी भी निष्कटक राज्य नही कर सकता। अज्ञानी एव कापुरुष राजा राजपद के अनुपयुक्त होता है।

विश्वस्तता—जिन कार्यों को करने से राजा की धर्मनिष्ठा पर प्रजा के मन मे सन्देह उत्पन्न हो, वे कार्य करना राजा के लिये विपद्‌जनक होते है। प्रजा धर्मनिष्ठ तथा सुखी हो और राजा पर विश्वास करे, इसका राजा को विशेष रूप से ख्याल रखना चाहिये।[3]

प्रियवादिता, जितेन्द्रियता आदि—दूसरा व्यक्ति यदि उग्र भी हो तो राजा को इसके साथ सहास्यवदन मधुर व्यवहार करना चाहिये। उपकारी के प्रति कृतज्ञता, गुरुजनो मे दृढभक्ति, प्रजा का हितचिंतन तथा जितेन्द्रियता आदि गुण राजा मे होने

---

१. शाति ५७वाँ अध्याय।

२. शान्ति ६४वाँ अध्याय।

३. शान्ति ५८वाँ अध्याय।

जरूरी हैं। राजा को दर्शनार्थी के साथ मृदु एव भद्रता का व्यवहार करना चाहिये।[1] राजा ही प्रजा की सुखशाति का कारण होता है। महायशस्वी राजा दम, सत्य व सौहृद्य के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी पर एकछत्र राज्य करते हैं, और महत् यज्ञो का अनुष्ठान करके शाश्वतपद प्राप्त करते हैं। राजा को सर्वप्रथम अपने मन को जीतना चाहिये, अजितेन्द्रिय राजा दूसरे को वश मे नही रख सकता।[2]

शास्त्राभ्यास व दानशीलता—राजा को वेद-वेदाग आदि शास्त्रो पर पाडित्य लाभ करना चाहिये। तथा दानशील बनकर सर्वभूत के दुखमोचन की यथासाध्य चेष्टा करनी चाहिये।

राजधर्मका परिज्ञान—षाड्गुण्य त्रिवर्ग, तथा परमत्रिवर्ग विषयो पर राजा का पूर्ण अधिकार होना चाहिये।[3]

कार्यज्ञता—रागद्वेष का त्याग करके धर्माचरण करना, परलोक के लिये शुभ कर्म करना, बिना अत्याचार किये अर्थोपार्जन करना, सौम्यभाव से कामोपभोग करना राजा के विहित कर्म है। राजा को सदा मधुर वचन बोलने चाहिये, शूर होते हुए भी आत्मप्रशसक नही होना चाहिये तथा दाता होते भी अपात्र को दान नही देना चाहिये।

एकाग्रचित्तता आदि—अपकारी का विश्वास करना राजा के लिये उचित नही है। उसे किसी से भी ईर्ष्या नही करनी चाहिये। पूजार्ह की पूजा करना और दभ का त्याग करना राजधर्म के अपरिहार्य अग हैं। आहार-विहार मे सयम रखना बहुत आवश्यक है, सयम के अभाव मे श्रीहीनता आती है। हर कार्य मे समय-असमय का ख्याल रखना उचित है, जो कार्य जिस समय करने का हो, उसी समय करना चाहिये। एकाग्रचित्त होना चाहिये। जो व्यक्ति राजधर्म के इन नियमो का पालन करता है, वह इहलोक व परलोक मे सब सुखो का उपभोग करता है। इस अध्याय मे राजा के छत्तीस गुणो का उल्लेख किया गया है। प्रधान गुणो का विवरण नीचे दिया जा रहा है।[4]

काम व क्रोध को जीतना—राजा को चाहिये कि काम व क्रोध को जीतकर

---

१. गोप्ता तस्माद्द्राधर्ष. स्मितपूर्वाभिभाषिता। इत्यादि।
शाति ६७।३८,३९

२. राजा प्रजाना हृदय गरीयो गति. प्रतिष्ठा सुखमत्तमञ्च। इत्यादि।
शाति ६८।५९, ६०

३. शान्ति ६९वां अध्याय।

४. शान्ति ७०वां अध्याय।

राजश्री की सेवा करे। जो नृपति काम या क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित कार्य करता है, वह नितान्त कृपा का पात्र होता है, उसके धर्म एव अर्थ का विनाश अवश्यम्भावी होता है। सुरक्षक, दाता, निरलस एव जितेन्द्रिय व्यक्ति स्वभावत. ही सबकी श्रद्धा का पात्र बनने मे समर्थ होता है।

राजधर्मानुशासन के अनुसार कृत्य करना—राजा को अर्थशास्त्र के अनुशासन के अनुसार ही अर्थवृद्धि की व्यवस्था करनी चाहिये, नही तो अर्थ की वृद्धि होने पर भी उसका आकस्मिक विनाश निश्चित होता है। शास्त्रविरुद्ध प्रजा का उत्पीडन करने से राज्य का कल्याण नही हो सकता, वरन् सब कुछ नष्ट हो जाता है। अधिक दूध की आकाक्षा से यदि कोई निर्बोध व्यक्ति गाय के थनो मे छेद कर दे तो जिस प्रकार उसे फिर कभी दूध नही मिलता उसी प्रकार लोभी अत्याचारी राजा की दुर्गति होती है।[1]

पूज्य की पूजा—दानशील, उपवासादि व्रतपरायण, प्रजाहितकर राजा की प्रजा सदा श्रद्धा करती है। राजा को धार्मिक व्यक्तियो का यथोचित सम्मान करना चाहिये, उससे प्रजा को भी पूज्य व्यक्ति की पूजा करने की शिक्षा मिलती है।

दुष्ट का दमन तथा शिष्ट का पालन—राजा को यम की तरह दुष्ट व्यक्तियो को कठोर दड देना चाहिये, असाधु को कभी क्षमा नही करना चाहिये। जिस तरह सुरक्षित प्रजा के धर्मानुष्ठानो का चतुर्थांश पुण्यफल राजा को मिलता है, उसी प्रकार प्रजा के पापो का भी चतुर्थांश फल राजा को भोगना पडता है।

अति धार्मिक तथा अति निरीह राजा अच्छा नहीं होता—बहुत धार्मिक या बिल्कुल निरीह राजा राज्य चलाने के योग्य नही होता। केवल करुणा से भी राज्य की रक्षा नही होती।

रक्षक राजा प्रजा का प्रार्थनीय—शूरवीर, दुष्टो को दड देने वाले तथा शिष्टो की रक्षा करने वाले, अनृशस, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल एव स्वजन प्रतिपालक राजा के आश्रय मे प्रजा निश्चिन्त होकर जीवनयापन करनी है। सर्वभूत का अस्तित्व जिस प्रकार मेघो पर निर्भर होता है तथा पक्षी जिस प्रकार मीठे फलवाले वृक्ष पर बसेरा करना चाहते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणी रक्षक राजा के आश्रय मे स्वय को निरापद समझते है।[2]

सद्व्यवहार से प्रजा की श्रद्धा का पात्र बनना—जो राजा प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार नही करता, हमेशा नाक-भौ चढाये रहता है, वह सबका अप्रिय बन जाता

---

१. शान्ति ७१वाँ अध्याय।

२. शान्ति ७५वाँ अध्याय।

है। जो सदा हँसमुख रहता है, किसी को देखते ही बातचीत करने को आतुर हो उठता है, वही राजा प्रजा को अपनी ओर आकर्षित करने मे समर्थ होता है। मधुर वचनो से हर किसी को वश मे किया जा सकता है। जो सुकृत, विनय एव मधुरता के उपासक होते है, वे अद्वितीय पुरुष कहलाते है।[1]

अधिक विश्वास विपत्तिकर—राजा को स्वय तो दूसरो का विश्वासभाजन बने रहना चाहिये, किन्तु दूसरे पर सम्पूर्ण विश्वास कभी नही करना चाहिये, यहाँ तक कि पुत्र पर भी बहुत विश्वास करना अनुचित है। अविश्वास राजा के चरित्र का बडा गुण होता है।[2]

यथेच्छ भोग निन्दनीय—हर समय ख्याल रखना चाहिये कि राजा धर्म का प्रतिपालक होता है, यथेच्छ भोग-विलास राजा का आदर्श नही है। धर्माचरण से देवत्व का लाभ होता है और अधर्माचरण से नरक। प्राणिजगत धर्म पर ही आधारित है और राजा धर्म का सेवक होता है। सुतराम जो धर्म की रक्षा करने मे समर्थ हो, वही राजपद के लिये उपयुक्त होता है। धर्मनिष्ठ राजा प्रभूत अर्थ व काम का उपभोग करता है। धार्मिक राजा के राज्य मे प्रजा स्वच्छद रूप से अपने-अपने कर्त्तव्यो मे रत रह कर उन्नति करने मे समर्थ होती है और प्रजा की उन्नति ही राज्य की उन्नति है।[3]

प्रजा का आनन्द राजा की धर्मनिष्ठा का अनुमापक—धर्मनिष्ठ राजा के राज्य मे प्रजा भी धर्म का पालन करती है। दुर्गत व अनाथ व्यक्ति भी जब राज्य मे प्रफुल्लचित्त रहते हो, तभी समझना चाहिये कि राजा के आचरण मे धर्म प्रतिष्ठित है। प्रजा का आनन्द तथा धर्माचरण देखकर राजा की धर्मनिष्ठा का अदाज लगाया जा सकता है। जो मित्र की उन्नति, शत्रु की अवनति, साधु के सम्मान तथा असाधु के दड की व्यवस्था करता है, वही धार्मिक नरपति होता है।

धर्मनिष्ठ राजा सबकी श्रद्धा का पात्र—सत्यनिष्ठ, प्रजावत्सल, वदान्य व दाता राजा की प्रजा श्रद्धा करती है। जो उपयुक्त पात्र को भूमि दान करता है, ऋत्विक पुरोहित व आचार्य का यथोचित सम्मान करता है, उसे धर्मनिष्ठ कहा जा सकता है। राजा को साधु असाधु का ज्ञान, क्षमा, धृति, मधुर भाषण आदि सद्‌गुणो

---

१ शान्ति ८४ वाँ अध्याय।

२ विश्वासयेत् पराश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते। इत्यादि। शा ८५।३३, ३४

३ धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।। इत्यादि। शाति ९०। ३–७
अथ येषा पुन प्राज्ञो राजा भवति धार्मिक.। इत्यादि। अनु ६२।४३,४४

का अनुशीलन करना चाहिये। अनुशीलन शिक्षासापेक्ष होता है, इसमे रचमात्र सन्देह नही है।

अप्रमाद, उद्योग, शुचिता आदि गुण—राज्यशासन सहज नही है, यह एक बहुत बडी जिम्मेदारी होती है। अप्रमादी, उद्योगी, बुद्धिमान राजा ही यह गुरुभार वहन कर सकता है। लोककल्याण, मधुरबोल, अप्रमाद व शुचिता राजा के चरित्र के अपरिहार्य गुण है। दूसरे के दोष देखना तथा अपने दोष ढँकना भी राजा के लिये अन्यतम शिक्षणीय विषय है। बहुत से राजर्षि उल्लिखित गुणो के कारण ही प्रशसित हुए हैं। वासव, यम, वरुण आदि देव-राजा तथा दूसरे राजर्षि इन नियमो का पालन करके प्रभूत ऐश्वर्य के अधिकारी हुए है।[1]

धर्म, अर्थ, मित्र आदि की प्रचुरता काम्य—अर्थ की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ होता है, इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिये। जो सत् के लिये अर्थ व्यय करने मे कुठित होता हो, स्वेच्छाचारी तथा आत्मप्रशसक हो, उसका थोडे समय बाद ही विनाश हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि व मित्र के विषय मे स्वय को सदा अपूर्ण समझना चाहिये। इन्ही मे राजा का ऐश्वर्य प्रतिष्ठित होता है। कल्याणरत, असूया-हीन, जितेन्द्रिय राजा वृद्धिप्राप्त सागर की तरह राज्य करता है।[2]

आर्य-सेवित कर्मों मे रुचि—जिसके राज्य मे जनपद उन्नतिशील हो, जो दूसरे राजाओ का प्रियभाजन हो, सन्तुष्ट तथा बहुसचिवयुक्त हो उसी राजा को मजबूत समझना चाहिये। जो क्रोध को जीत लेता है वह शत्रुविहीन हो जाता है। राजा को कभी आर्यधर्म के विपर त कर्म नही करने चाहिये। सदा कल्याणकर कर्मों मे रत रहना चाहिये। जो उपर्युक्त नियमो का पालन करता है, विजय सदा उसके चरण चूमती है।[3]

गुप्तमंत्रणा तथा सुविवेचना—दक्ष, जितेन्द्रिय तथा बुद्धिमान व्यक्ति ही राज्य-शासन करने मे समर्थ होते है। जो मन्त्रियो के साथ गुप्त-मत्रणा करके विवेचना पूर्वक कार्य करता है वही अखिल पृथ्वी का शासन करनेयोग्य होता है।

आलस्य त्याग (उष्ट्र वृत्तांत)—आलस्य सर्वथा परित्याज्य है। आलस्य प्राणि की उन्नति के प्रतिकूल होता है। इस प्रसग मे प्राजापत्य युग के एक जातिस्मर ऊँट का उपाख्यान भी वर्णित है, जो आलसी होने के कारण एक नगण्य शृगाल द्वारा धीरे-धीरे भक्षित हो गया था। धी शक्ति के साथ यदि उद्योग मिल जाय तो असाध्य

---

१. शाति ९१ वाँ अध्याय।
२. शाति ९२ वाँ अध्याय।
३. शान्ति ९४ वाँ अध्याय।

भी साध्य बन जाता है। अत उन्नतकाम व्यक्ति को कभी आलस्य मे समय नही गँवाना चाहिये।[१]

विनय (सरित्सागर सवाद)—विनयी व्यक्ति कभी विपत्ति मे नही पडता। (सरित्सागर सवाद मे वेतसोपाख्यान मे कहा गया है कि बेंत की छडी हवा से भी नत हो जाती है, इसलिये कभी टूटती नही)। अतएव सदा विनय का पालन करना चाहिये।[२]

सचिवो से सहायता लेना—हमेशा सचिवो के साथ मिलकर कार्य करना उचित होता है। अकेले शासन किसी के लिये सम्भव नही होता। जिसके भृत्य विज्ञ होते हैं तथा स्वामी की श्रद्धा करते हैं वही अच्छी तरह राज्य चला सकता है। जिस राजा की प्रजा समृद्ध, हृष्ट व सत्पथावलम्बी होती है उसी का राज्य निष्कटक होता है। सन्तुष्ट व विश्वस्त कर्मचारियो द्वारा जिसके भडार की वृद्धि होती है, वही राजा सुख से राज्य करता है।

सन्धि-विग्रह आदि का ज्ञान—जिसके राज्य मे न्याय की व्यावस्था होती है, उसका ऐश्वर्य चिरस्थायी होता है। जो राजधर्म से भलीभाँति परिचित होता है, सधिविग्रह आदि षड्वर्ग मे अभिज्ञ होता है तथा प्रजा के हित के लिये सतत यत्नशील होता है, वही राज्यपालन मे धर्म का लाभ कर सकता है।[३]

कर्मचारियो की नियुक्ति मे निपुणता (ऋषिसवाद)—अधीनस्थ कर्मचारियो के प्रति सद्भाव तो रखना चाहिये, किन्तु उन्हे अधिक प्रश्रय नही देना चाहिये। इस विषय मे 'ऋषि-सवाद' नामक उपाख्यान वर्णित है। एक दयालु ऋषि ने अपने तपोबल से एक कुत्ते को शरभ (एक अष्टपद सिंह से भी बलवान कल्पित मृग) बना दिया, लेकिन जब वह ऋषि को ही खाने के लिये उद्यत हुआ तो ऋषि ने फिर से उसे कुत्ता बना दिया।[४]

असयम का दोष (गाधारी का उपदेश)—दभी पुत्र दुर्योधन को दीर्घदर्शिनी गाधारी ने राजसभा मे जो उपदेश दिये थे, वे भी उल्लेख योग्य है। "इन्द्रियो का दास अधिक दिन तक ऐश्वर्य का भोग नही कर पाता, विजितात्मा मेधावी व्यक्ति ही राज्यभोग के लिये उपयुक्त होता है। असयत अश्व जिस प्रकार सारथि को विपत्ति मे डाल देता है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय नृपति कामक्रोधादि रिपु की ताडना

---

१. शान्ति ११२ वाँ अध्याय।

२. शान्ति ११३ वाँ अध्याय।

३. शान्ति ११५ वाँ अध्याय।

४. शान्ति ११६ वाँ तथा ११७ वाँ अध्याय।

से पथभ्रष्ट हो जाता है। सयमी, जितेन्द्रिय तथा दुष्टो को दड देने वाला राजा ही दीर्घकाल तक राज करता है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ तथा दर्प को जो अच्छी तरह वश मे कर लेता है वही महीपति बनने के योग्य होता है। जो कामक्रोधादि रिपुओ की प्रेरणा से मिथ्या व दुराचरण करते है, राजलक्ष्मी उन्हे त्याग देती है। जो सुहृदो का परामर्श ग्रहण नही करते, वे अपने शत्रुओ का आनन्द बढाते है।"[1]

आदर्श गृहस्थ के समस्त सद्गुण राजा मे होने चाहिये—शास्त्रविशारद, धीर, अमर्षी, शुचि, तीक्ष्ण, शुश्रूषु, श्रुतवान्, श्रोता, युक्तिवित्, मेधावी, धारणायुक्त, न्यायानुवर्त्ती, दान्त, प्रियभाषी, क्षमाशील, दानशील, श्रद्धालु, सुखदर्शी, आर्त्तशरण, अमात्यप्रिय, अनहकारी, सुख दुख सहिष्णु, सुविवेचक, भक्तजनप्रिय, सुसगतिसाधक, अस्तब्ध, प्रसन्नवदन, भृत्यजनापेक्षी, अक्रोधी, उदारचित्त, समुचितदडदाता, धर्म-कार्यरत, प्रजावत्सल, धर्मार्थिकुशल, राजा सर्वजनवाछित होता है। एक आदर्श गृहस्थ के जितने भी गुण हो सकते हैं, उनमे से कोई नही छूटा है। जो राजा नित्य नई वस्तुओ के सग्रह करने का आग्रही, मित्राढ्य तथा उद्योगी होता है, वही राज-श्रेष्ठ कहलाता है।[2]

समय विशेष मे परिवर्त्तन—मयूर जिस तरह विचित्र वर्णो के पख धारण किये रहता है, उसी प्रकार धर्मज्ञ नरपति को परिस्थिति के अनुसार कार्य करना चाहिये। कठोरता, कुटिलता, अभयदान, सत्य तथा आर्जव इन गुणो का जो समयानुसार सहारा लेता है वही सुखी रहता है। जिस समय जो उचित हो, वही करना चाहिये, जैसे दड देते समय कठोरता एव अनुग्रह के समय शम को अपनाना चाहिये। बहु-रूप धारण करने मे अभ्यस्त नृपति की कभी कोई क्षति नही होती।

मन्त्रगुप्ति—मयूर जिस तरह शरद्ऋतु मे मौन धारण कर लेता है, उसी प्रकार राजा को गुप्तमत्रणा के सबध मे मौन रहना चाहिये। गुप्तमत्रणा कभी किसी पर प्रकट नही करनी चाहिये।

स्वयं कार्यदर्शन करना—जिसका क्रोध एव हर्ष विफल नही होता, जो सब कामो की देखभाल स्वय करता है, आत्मविश्वास ही जिसका कोषागार होता है, उस राजा के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी धन इकट्ठा करती है। जो अच्छी तरह सोच-विचार कर

---

१. उद्योग १२९ वाँ अध्याय।

२. एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः। इत्यादि।

शाति ११८।१६–२३

सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा।
उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः॥ शांति ११८।२७

अनुग्रह या निग्रह करता है, जो आत्मरक्षा तथा राज्यरक्षा के प्रति सदा सतर्क रहता है, वही वास्तविक राजधर्मज्ञ होता है।[1]

शील का महात्म्य (इन्द्रप्रह्लाद-संवाद)—शीलवर्णनाध्याय मे कहा गया है कि शील से तीनो लोको को जीता जा सकता है, शीलवान पुरुष के लिये कुछ भी असाध्य नही होता। मांधाता एक दिन, जनमेजय तीन दिन तथा नाभाग चार दिन शीलपालन के फलस्वरूप सम्राट् बने थे। शीलवान, दयालु राजा के पास लक्ष्मी स्वय आ जाती है। जहाँ शील होता है, वही धर्म, सत्य, वृत्त और श्री का वास होता है। अतएव सुविवेचक नृपति पहले ही अपने चरित्र को उन्नत भित्ति पर प्रतिष्ठित करता है। दैत्यपति प्रह्लाद के शील की सहायता से देवराज इन्द्र का राज्य जीतने की घटना प्रसिद्ध है। ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र ने प्रह्लाद को अपना गुरु बना कर शील के महात्म्य की शिक्षा ली थी। प्रह्लाद ने कहा था—"हे विप्र, मैं कभी ब्राह्मणो पर रोष नही करता। उनके मुख से काव्यप्रणीत नीतिशास्त्र श्रद्धा सहित सुनता हूँ। सत्कृत ब्राह्मणो से शास्त्रतत्त्व सुनकर मैं स्वय को धन्य समझता हूँ।" आचार्य का उपदेश सुनने के बाद इन्द्ररूपी शिष्य ने गुरु के प्रसादस्वरूप उनका शील माँगा। सत्य की मर्यादा रखने के लिये प्रह्लाद ने बिना कुंठा के सर्वस्व दान कर दिया।[2]

अभयदान तथा प्रजावात्सल्य—प्रजा को सदा अभय देना चाहिये। मनु ने कहा है, राजा के चरित्र मे माता, पिता, गुरु, रक्षक, वह्नि, वैश्रवण तथा यम इन सातो के गुण होते हैं। अनुकम्पावश राजा प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार करता है। अति विपन्न व्यक्ति का भी वह सस्नेह प्रतिपालन करता है इसलिये मातृ-स्थानीय होता है। अनिष्ट को दूर करने के कारण अग्नि एव दुष्टो को शासित करने के कारण उसे यम कहा जाता है। साधु व्यक्ति को अभिलषित दान देता है, इसलिये कुबेर, धर्मोपदेश देता है इसलिये गुरु और आपद विपद मे रक्षा करता है इसलिये रक्षक होता है। जो प्रजा मे सम्मानित व्यक्तियो का यथोचित सम्मान करता है, उसका सुख अनन्त होता है। जिसकी प्रजा नियत करो के कारण उत्पीडित होती है उस राजा का पराभव शीघ्र ही हो जाता है। इसके विपरीत जिसकी प्रजा सरोवर के पद्मो की तरह सदा उत्फुल्ल रहती है, वह हर प्रकार के ऐश्वर्य का भोग करता है।[3] राजा को सर्वदा स्वकार्यरत रहना चाहिये। कोई-कोई राजा हिम की

---

१. शान्ति १२० वाँ अध्याय।

२. शान्ति १२४ वाँ अध्याय।

३. माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यम।
सप्त राज्ञो गुणानेतान्मनुराह प्रजापति ॥ इत्यादि। शांति १३९।१०३,११०

तरह शीतल, अग्नि की तरह क्रूर एव यम की तरह विचारक होता है, कोई शत्रु का मूलोच्छेद करने मे हल जैसा तथा दुष्टो के लिये वज्र जैसा कठोर होता है। हर राजा को शुभकार्यरत रहना चाहिये।[1]

उपर्युक्त उद्धरणो से यह अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि राजा को अपना चरित्रगठन किस प्रकार करना चाहिये। इसके अलावा उद्योगपर्व मे विदुर नीति के प्राय. प्रत्येक श्लोक मे मानवधर्म का वर्णन किया गया है। उस सबका उल्लेख यहाँ करना सभव नही है। मन्वादिसहिता, कामन्दकीय आदि अर्थशास्त्र, रामायण, अग्नि पुराण आदि मे भी राजा के गुणो का बखान किया गया है। किन्तु महाभारत की तरह एक ही प्रकरण मे नाना प्रकार के वर्णन और किसी ग्रथ मे नही मिलते। राज्य मे सुव्यवस्था तथा शान्ति स्थापित करने के लिये राजा को कठोर परिश्रम करना पडता है, आराम करने का समय नही मिलता, राजपद ग्रहण करना अतीव दायित्वपूर्ण है। कर-व्यवस्था, शिल्प तथा वाणिज्य की उन्नति, विचार-पद्धति, आत्म-रक्षा, राजकोष की वृद्धि आदि विषयो पर महाभारत मे बहुत कुछ कहा गया है।

धर्मकार्यों में अर्थव्यय—राजा को सचित अर्थ-धर्म कार्यों मे लगाना चाहिये, चारो ओर उपभोग की सामग्री की प्रचुरता होते हुए भी मन को सयत रखना चाहिये।

यथाशास्त्र धर्म, अर्थ व काम का उपभोग—पूर्वजो के आचार-व्यवहारो का पालन करते हुए सबके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये। धर्म, अर्थ एव काम के उपभोग का जो काल शास्त्रविहित है, उसका व्यतिक्रम नही करना चाहिये। नास्तिकता, असत्य, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता आदि का त्याग करके सदा अपने कर्त्तव्य के प्रति सतर्क रहना चाहिये।

शत्रु, मित्र आदि की गतिविधियों पर ध्यान रखना—शत्रु, मित्र तथा उदासीन (जो न शत्रु हो न मित्र) व्यक्तियो की गतिविधियो पर सदा नजर रखनी चाहिये।

परिणाम चिन्तन—जो काम करने मे आसान होने के साथ ही फलप्रद हो, वह शीघ्र ही आरभ कर देना चाहिये। कोई भी काम करने से पहले उसके परिणाम के बारे मे दूरदर्शिता से सोच लेना चाहिये।

विश्वस्त कर्मचारियोकी नियुक्ति—महत्त्वपूर्ण कार्यों का भार विश्वस्त एव निर्लोभी कर्मचारियो को देना चाहिये। समाप्ति से पहले कार्य की गोपनीयता आव-श्यक है।

राजकुमारो की शिक्षा-व्यवस्था—राजकुमारो की शिक्षा-दीक्षा के लिये, सर्व-शास्त्र विशारद आचार्यों को नियुक्त करना चाहिये।

---

१. घटमानः स्वकार्येषु कुरु निःश्रेयसं परम्। इत्यादि। शांति १५२।२०, २१

पडित सग्रह—सहस्र मूर्खों की अपेक्षा एक पडित का मतामत अधिक मूल्यवान होता है। राजा को सहस्र मूर्खों को रखने के वजाय एक पडित रखना चाहिये, क्योकि पडित विपत्ति से रक्षा करने मे समर्थ होता है।

सामुद्रिक दैवज्ञ पडित का नियोग—सामुद्रिक शास्त्र के नियमानुसार शारीरिक शुभाशुभ चिन्हो की परीक्षा करने मे जो निपुण हो, ज्योतिषविद्या का पारदर्शी हो, शुभाशुभ निमित्तज्ञानी हो, ऐसे दैवज्ञ, पडित को सभा मे आदर सहित स्थान देना चाहिये। जो जिस कार्य के लिये उपयुक्त हो, उसे उसी पद पर नियुक्त करना उचित है।

राजहित के लिये विपत्ति मे पडे व्यक्तियो के परिवार का भरण-पोषण—जो राजा के लिये अपना वलिदान कर देते है उनके परिवारो का भरण-पोषण करना राजा का कर्त्तव्य है।

कोष आदि के तत्वावधान के लिए विश्वस्त की नियुक्ति—कोष, शस्यगृह, शस्त्रागार, द्वार आदि का तत्त्वावधान करने के लिये खूब विश्वस्त तथा विचक्षण व्यक्ति की नियुक्ति करनी चाहिये।

आय-व्यय का सामजस्य रखना—आय तथा व्यय मे सदा सामजस्य वना रहना चाहिये। आय के चतुर्थांश, अर्द्धांश या त्रिचतुर्थांश के द्वारा व्यय चलाना चाहिये। कोष को उन्नत करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये।

मद्य-द्यूत आदि का त्याग—यदि चरित्र मे कभी मद्यपान, द्यूतक्रीडा आदि व्यसन घर कर ले तो उन्हे गोपनीय रखना उचित है तथा धीरे-धीरे उन्हे त्याग देने की चेष्टा करनी चाहिये।

शेषरात्रि मे धर्मार्थ चिन्तन—रात्रि के अतिम प्रहर मे शय्या त्याग कर धर्म तथा अर्थ पर चिंतन करना चाहिये।

शिष्ट व दुष्ट की परीक्षा—विना भलीभांति जांच पडताल किये किसी को पुरस्कृत या दडित करना अन्याय है।

शारीरिक व मानसिक रोगो का उपचार—शारीरिक रोग होने पर उपयुक्त चिकित्सक के निर्देशानुसार औषधि का व्यवहार करके तथा मानसिक रोग होने पर ज्ञानियो के उपदेश सुनकर रोगो का उपशम करना चाहिये।

न्याय—न्यायप्रार्थी तथा अभियुक्त के प्रति न्यायसगत व्यवहार करना चाहिये।

नगरवासियो के चरित्र पर तीक्ष्ण दृष्टि—किसी दूसरे प्रवल व्यक्ति से अर्थ-सहायता लेकर प्रजा विद्रोह न कर दे, इस ओर भी नजर रखनी चाहिये।

प्रधान राजाओ के साथ सद्भाव—अपने आश्रित राजाओ के साथ सद्व्यवहार करना चाहिये, नही तो वे विद्रोही हो जाते है।

अग्निहोत्र, दान तथा सद्व्यवहार—राजा को चाहिये कि अग्निहोत्र होम का अनुष्ठान करके वेदपाठ को, दान तथा भोग के द्वारा धन को और चरित्रगठन व पुण्य के द्वारा विद्या-शिक्षा को सफल करे।

शिल्पियो तथा वणिको की उन्नति का विधान—शिल्प तथा वाणिज्य की उन्नति के लिये सतत प्रयत्न करना राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है। (इस विषय पर 'शिल्प व वाणिज्य' नामक प्रबध मे काफी कहा जा चुका है।)

हस्तिसूत्र आदि शिक्षणीय विषय—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, यन्त्रसूत्र, धनुर्वेद आदि की शिक्षा राजा को अवश्य लेनी चाहिये। (देखिये 'शिक्षा प्रबध' पृष्ठ ११७)

राज्यरक्षा तथा विपद्ग्रस्त पर दया—अग्नि, सर्प, रोग आदि के डर से प्रजा को सदा मुक्त रखना राजा का कर्त्तव्य है। अघे, गूंगे, पगु, विकृताग, अनाथ तथा सन्यासी का पितृवत् पालन करना चाहिये।

अतिनिद्रा आदि छह दोषो का परित्याग—अतिनिद्रा , आलस्य, भय, क्रोध, मृदुता तथा दीर्घसूत्रता इन छहो को त्याग देना चाहिये। युधिष्ठिर को दिये गये देवर्षि नारद के उपदेशो को हम सक्षेप मे पाठको के समक्ष रख रहे हैं। राजधर्म के अनुशासन पर यह अध्याय परम उपादेय है।[1]

मध्यस्थता का अवलम्बन—राजा को युद्ध के लिये लोग इकट्ठे करते रहना चाहिये तथा राज्यशासन सबधी मत्रणा कभी किसी पर प्रकट नही करनी चाहिये। अज्ञानी व्यक्ति राजतन्त्र की रक्षा करने मे असमर्थ होता है। अति सरलस्वभावी राजा को भी सब ठगने की चेष्टा करते हैं, अतएव राजा को सरलता तथा कठोरता के बीच का मार्ग अपनाना चाहिये।[2]

खिन्न व्यक्ति को सन्तुष्ट करना—अपने दुर्व्यवहार के कारण अगर किसी को व्यथा पहुँची हो तो, नम्र वचनो से सान्त्वना देकर धन से सन्तुष्ट करना चाहिये।

आत्मा, अमात्य आदि की रक्षा—आत्मा, अमात्य, कोष, दड, मित्र, जनपद व नगर इन सातो की राजा को निपुणता से रक्षा करनी चाहिये। षाड्गुण्य आदि का ज्ञान राज्यशासन के लिये बहुत ही प्रयोजनीय है। उनकी अभिज्ञता के लिये राजा को विशेष परिश्रम करना चाहिये।[3]

राजा कालस्य कारणम्—नृपति युग का स्रष्टा होता है। यदि राज्य मे अच्छे शासन के फलस्वरूप धर्म की वृद्धि हो, तभी सतयुग आता है। इसी प्रकार क्रमश

---

१. सभा ५ वाँ अध्याय।

२. राज्ञो रहस्य तद्वाक्यं यथार्थं लोकसंग्रहः। इत्यादि। शांति ५८।१९–२३

३. कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद्धनसञ्चयैः। इत्यादि। शांति ६९।६२–६६

धर्म के ह्रासानुसार त्रेता, द्वापर, तथा कलियुग की सृष्टि होती है। अत धर्म का अच्छी तरह पालन हो, इस ओर राजा की सतर्क दृष्टि रहनी चाहिये। राजा ही समय के शुभाशुभ का हेतु होता है।[1]

प्रजाकृत पाप व पुण्य का फल—प्रजा सुरक्षित रहे तो उसके किये धर्म का चतुर्थांश पुण्य राजा को लगता है, लेकिन यदि राजा की किसी त्रुटि के कारण प्रजा कोई पाप करे तो उसका चतुर्थांश फल भी राजा को भोगना पडता है। यह ख्याल रखते हुए राजा को सदा कल्याणकर कर्म करने चाहिये।[2]

किसी के चुराये हुए धन के न मिलने पर राजकोष की क्षतिपूर्ति—नगर मे किसी के घर चोरी हो जाय तो चोर को पकडवाकर राजा सजा दे तथा धन मालिक को लौटा दे। चोर अगर पकडा न जा सके तो उसकी क्षतिपूर्त्ति राजकोप से कर देनी चाहिये।

ब्रह्मस्व की रक्षा—राजा को ख्याल रखना चाहिये कि ब्राह्मण के धन की क्षति न हो। ब्राह्मण के प्रसाद से ही राजा कृतकृत्य होता है।

लोभसयम—लोभ को सदा वश मे रखना चाहिये। लोभी राजा कभी सफल नही होता।[3]

अमात्यादि के दोषो का ज्ञान—राज्य की वृद्धि करने वालो की राजा को सर्वदा रक्षा करनी चाहिये, किन्तु यदि राजा को किसी से अमात्य आदि के दुराचरण की खबर मिले तो राजा को उसकी अच्छी तरह जाँच पडताल करनी चाहिये। अमात्य आदि रक्षक ही यदि भक्षक बन जायेंगे तो राज्य टिकना मुश्किल हो जायगा।

राजकोष के लिये हितकारी व्यक्ति की रक्षा—जो व्यक्ति राजकोष का हितेच्छु

---

१. राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च। इत्यादि।
शाति ६९।९८–१०१।उद्योग १३२।१७–२०
कालो वा कारण राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते सशयो माभूद् राजा कालस्य कारणम्।।
शाति ६९।७९। उद्योग १३२–१६

२. य हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिता.।
चतुर्थं तस्य, धर्मस्य राजा भारत विन्दति।। इत्यादि। शाति ७५।६८

३. प्रत्याहर्त्तुमशक्य स्याद्धनं चौरैर्हृत यदि।
तत् स्वकोशात् प्रदेय स्यादशक्ते नोपजीवत॰।। इत्यादि। शाति ७५।-१०–१४

हो, उसकी अगर राजा रक्षा न करे तो वह निरुपाय हो जाता है क्योकि अर्थलोलुप अमात्य उसे चक्षु शूल समझता है।[1]

आत्मरक्षा—राजा को दर्प और अधर्म का त्याग करना चाहिये। निगृहीत अमात्य अपरिचिता स्त्री, विषम पर्वत, हाथी, घोडे व सरीसृप आदि के पास नही जाना चाहिये। इनके पास जाना यदि बहुत ही जरूरी हो तो कम से कम रात को तो बिल्कुल नही जाना चाहिये।[2]

मूढ़ लोभी राजा का विनाश—मूढ, इन्द्रियलोलुप, लोभी, अनार्यचरित, शठ, वञ्चक, हिंस्र, दुर्बुद्धि, मद्यरत, द्यूतप्रिय, लम्पट, शिकारी राजा बहुत जल्द विनाश को प्राप्त हो जाता है। जो प्रलोभन से अपनी रक्षा करके सर्वभूत का कल्याण करता है, उसकी लक्ष्मी दिन दूनी रात चौगुनी बढती है।[3]

समयज्ञान का सुफल—दुर्ग आदि का निर्माण, युद्ध धर्मानिशासन, मन्त्रणा तथा आमोद-प्रमोद, इन पाँचो को यथासमय करने से राज्य सुरक्षित तथा वृद्धिशील रहता है। इन सब चीजो की दक्षता अर्जित करनी चाहिये। जो सासारिक सुखो को छोड कर चतुर्वर्ग के मार्ग पर चलता है, मनुष्य साधारणत उसी का अनुसरण करता है।

अप्रिय किन्तु हितकर वचन सुनने का फल—जो नगर की पूरी खबरे तथा अप्रिय किन्तु हितकर वचन, बिना कुठा के सुनता हो, वही राजा बनने के योग्य है।[4]

शंक्यालुता तथा सुविवेचना—राजा रात मे यदि अकेले अन्त पुर का भ्रमण करे तो कवच कभी नही उतारना चाहिये। हमेशा आत्मसयम रखना चाहिये। शम-वचनो द्वारा दूसरो मे विश्वास पैदा करना चाहिये। अनागत विषयो के बारे मे धीरज सहित सोच विचार कर कोई निर्णय लेना चाहिये।[5] नगरवासी प्राय: एक दूसरे के विरुद्ध राजा के कान भरते है, लेकिन राजा को उनकी बातो पर कान नही देने चाहिये। उनकी बातो का विश्वास करके किसी को दडित या पुरस्कृत करना उचित नही है।[6]

---

१. यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नरः। इत्यादि। शान्ति ८२।१–४

२. स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते। इत्यादि। शांति ९०।२८–३१। शाति ९३।३१

३. मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्। इत्यादि। शान्ति ९३।१६–१८

४. रक्षाधिकरण युद्ध तथा धर्मानुशासनम्। इत्यादि। शांति ९३।२४–३०

५. प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जते निशि निर्जने। इत्यादि। शांति १२०।१३–२०

६. बहवो ग्रामवास्तव्या दोषाद् ब्रूयुः परस्परम्। इत्यादि। शांति १३२।११–१३

सहायक अधिक मिलें ऐसा व्यवहार—राजा को सवके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये कि उसे अधिक से अधिक सहायक मिल सकें। पडितगण लोकव्यवहार को भी धर्म के रूप मे ग्रहण करते है।[1]

विद्यावृद्धो से परामर्श लेना—सदा अपने से ज्ञानी व्यक्तियो के उपदेश सुनते रहना चाहिये। प्रात काल सम्मान सहित अभिवादन करके उनसे कृत्याकृत्य के वारे मे पूछना चाहिये। जितेन्द्रिय नृपति को सुयोग्य व्यक्ति से परामर्श लिये विना कुछ नही करना चाहिये।[2]

दिन के काम—जो आय-व्यय आदि की देखभाल करते हो, उनसे राजा को सुवह ही मिल लेना चाहिये। उसके वाद कपडे वगैरह पहनकर सैनिको से मिलना और उनका उत्साह वढाना चाहिये। दूत एव चरो से सध्या-समय मिलना चाहिये। मध्यरात्रि निद्रा तथा विहार आदि और शेपरात्रि अगले दिन की दिनचर्या वनाने मे व्यतीत करनी चाहिये।[3]

छल का परित्याग व साधु आचार—छलपूर्वक किसी का धन नही लेना चाहिये श्रुतिस्मृति निर्दिष्ट तथा देशकुलागत धर्म का पालन करने से राजा सवका प्रिय तथा श्रद्धा का पात्र वनता है।[4]

वलवृद्धि—हर तरह से राजा को अपना वल वढाते रहना चाहिये। विशेपत अर्थवल तथा मित्रवल राजा के लिये परम सहायक होता है। वलहीन राजा सवकी अवज्ञा का पात्र वनता है। अतीत मे जिनके साथ राजा का विरोध हुआ हो, वे सुयोग पाते ही अनिष्ट करने की चेष्टा करते हैं, यहाँ तक कि दिखावटी मित्र वनकर अन्दर ही अन्दर जड काटने की ताक मे रहते है। इन सव वातो की तरफ से राजा को वहुत सावधान रहना चाहिये।

आत्ममर्यादा की रक्षा—आत्ममर्यादा का विसर्जन कभी नही करना चाहिये। नतशिर होने पर साधारण व्यक्ति भी राजा का आदर नही करना चाहता।[5]

दस्यु, निकम्मे तथा अतिकृपण का धन छीनना उचित—यज्ञशील ब्राह्मण तथा सज्जनो की सम्पत्ति को कभी हाथ नही लगाना चाहिए, किन्तु दस्यु एव निकम्मे

---

१. यथा यथास्य वहर. सहाया स्युस्तथा परे।
आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम्।। शान्ति १३२।१५

२. विद्यावृद्धान् सदैवत्वमुपासीथा युधिष्ठिर। इत्यादि। आश्र ५।१०–१३

३. प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते। इत्यादि। आश्र। ५।३२–३५

४. व्याजेन विन्दन् वित्त हि धर्मात् स परिहीयते। शाति १३२।१८

५ अवलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः। शान्ति १३३।४–१३

व्यक्ति का धन हरण कर लेना ही उचित है। जिनका धन सत्कार्यों मे नही लगता, उनका धन राजा को ले लेना चाहिये। असाधु का धन बलपूर्वक छीनकर साधु का देना राजा का धर्म है।[1]

भविष्य चिन्तन (शाकुलोपाख्यान)—हर कार्य से पहले भविष्य के बारे मे सोच लेना चाहिये। विपत्ति की आशका देखकर ही जो सावधान हो जाता है वह अनागत विधाता होता है। तीक्ष्ण बुद्धि के बल से जो आयी हुई विपत्ति से आत्मरक्षा कर लेता है, उसे प्रत्युत्पन्नमति कहते है, और जो हर कार्य की अवहेलना करता रहता है वह दीर्घसूत्री कहलाता है। अनागत विधाता ही सर्वापेक्षा बुद्धिमान होता है, उसे कभी विपत्ति का सामना नही करना पडता। प्रत्युत्पन्न मति वुरे से अच्छा होते हुए भी, उसका भविष्य सशकित होता है और दीर्घसूत्री का विनाश तो अवश्यम्भावी होता है। अतएव नृपति को सदा अनागतविधाता बनने की चेष्टा करनी चाहिए। इस विषय पर शाकुलोपाख्यान के द्वारा उपदेश दिया गया है।[2]

किसी समय शत्रु द्वारा भी मित्रकार्य साधित होता है (मार्जार मूषिक सवाद)—अपने चारो ओर शत्रु हो तो भी धीरज नही छोडना चाहिये। किसी समय शत्रु भी मित्र का काम करता है। (मार्जारमूषिक सवाद मे इसके बारे मे बताया गया है।) कार्य साधित होने पर भी शुत्र का विश्वास नही करना चाहिये।[3]

स्वार्थसाधन—राजा को कूटनीति का सहारा लेकर अपने प्रतिपाल्य का दूसरे से प्रतिपालन कराने मे कोयल की तरह व्यवहार करना चाहिये। प्रत्येक गाँव एक हाथी पालने के लिये के लिये दे देना चाहिये, ताकि ग्रामवासी ही उसका खर्च चलाये। इसी प्रकार गो पालन तथा कृषि पर स्वय खर्च न करके सम्पन्न वैश्यो द्वारा स्वार्थ सिद्ध करना चाहिये। लेकिन पालक को पुरस्कृत कर देना चाहिये।

कूटनीति—राजा को शूकर की तरह शत्रु को जडमूल से नष्ट करने के लिये कमर कसे रहना चाहिये। मेरु की तरह अपनी दृढता व गम्भीरता को अक्षुण्ण रखना चाहिये। प्रसाद, क्रूरता आदि भावो को प्रकट करने मे नट का अनुकरण करना चाहिये। दरिद्र की तरह सदा धन की कामना करनी चाहिये। प्रजा के

---

१. शान्ति १३६ वाँ अध्याय।
न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन। शान्ति ५७।२१

२. अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति॥ इत्यादि। शांति १३७ वाँ अ०।

३. शान्ति १३८ वाँ अध्याय।

प्रति सदय व्यवहार करने के लिये मित्र का अनुकरण करे, अर्थात् आवश्यकता न होते हुए भी ऊपर से नम्र व्यवहार करे।[1]

शत्रु से भी कुशल प्रश्न पूछना राजा का कर्त्तव्य है। आलसी, नपुसक, अभिमानी, लोकनिन्दा-भीत तथा दीर्घसूत्री राजा श्रेयलाभ नही कर सकता। अपने दोषो का किसी को पता नही लगने देना चाहिये। लेकिन दूसरे के दोषो का सदा पता लगाते रहना चाहिये। कूर्म की तरह आत्मगुप्ति राजा के लिये शिक्षणीय विषय है। राजा को बक की तरह अर्थचिन्ता, सिंह की तरह पराक्रम, वृक की तरह आत्मगोपन एव शर की तरह शत्रुभेद करना चाहिये। सुरापान, अक्षक्रीडा, मृगया, स्त्रीसभोग, गीतवाद्य आदि का उपभोग परिमित करना ही उचित है, इनमे अत्यासक्ति अकल्याण का हेतु होती है। मृग की तरह सावधानी से सोना चाहिये। अवस्था की विवेचना करते हुए अधे या बहरे की तरह व्यवहार करना चाहिये। विचक्षण बुद्धि राजा देशकाल के अनुसार अपना पराक्रम दिखाता है। अच्छी तरह अपने बल की परीक्षा करके निर्णय लेना चाहिये। जब तक भय न हो तब तक भीत व्यक्ति की तरह रहना चाहिये, लेकिन भय का कारण सामने आये तो धैर्य के साथ उसके प्रतिकार का उपाय करना चाहिये। मनुष्य सशय का आश्रय लिये बिना कल्याण का अधिकारी नही हो सकता। सशय के सहारे यदि विजयी हो तो निश्चय ही मगल होता है। समागत सुख का प्रत्याख्यान करके अनागत सुख की कल्पना करना उचित नही है। उपयुक्त गुप्तचरो द्वारा सब बातो का पता लगाकर काम करना चाहिये। शत्रु के साथ सधि होने पर भी निश्चित नही रहना चाहिये।[2]

ज्ञातिविरोध का कुफल—ज्ञातियो से कभी विरोध नही करना चाहिये। ज्ञातिविरोध अनर्थों का कारण होता है।[3]

कुमारी या परस्त्री पर आसक्त नहीं होना चाहिये—अपरिचित, नपुसक, स्वैरिणी, परस्त्री या कन्या पर कभी आसक्त नही होना चाहिये। वर्णसकर के फलस्वरूप कुल मे पाप प्रवेश करता है तथा अपग, नपुसक सन्तान की उत्पत्ति होती है। अत राजा को कभी प्रमादग्रस्त नही होना चाहिये।[4]

अतिवृष्टि, अनावृष्टि भी कुशासन का फल—राजा के कुशासन के फलस्वरूप

---

१. कोकिलस्य वराहस्य मेरो शून्यस्य वेश्मन।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत्॥ शाति १४०।२१

२. शान्ति १४० वाँ अध्याय।

३. कुर्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रिय किञ्चिदाचरेत्। शान्ति ८०।३८

४. अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीवासु स्वैरिणीसु च। शान्ति ९०।३२।-३५

शीतकाल मे उपयुक्त शीत नही पडता। राज्य मे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, व्याधि, उत्पात आदि के लिये भी राजा ही उत्तरदायी होता है।[1]

अधार्मिक राजा के राज्य की दुर्गति—राजा यदि प्रमादी हो, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है। किसी को भी सुख शान्ति की आशा नही रहती। राजा के अधार्मिक होने से हाथी, घोडे, ऊँट गाय आदि पशु भी अवसन्न हो जाते है। राजा ही रक्षक होता है और राजा ही विनाशक। राजा के नास्तिक अधर्मज्ञ होने से प्रजा उद्विग्नता से कालयापन करती है।[2]

नृशंस पुरुष का अविश्वास—नृशस व्यक्ति का विश्वास करना उचित नही है। नृशस व्यक्ति नीचकर्मरत तथा वचनापरायण होता है। राजा को ऐसा आदमी कभी किसी कार्य के लिये नियुक्त नही करना चाहिये। ऐसे आदमी की तो सगत से भी दूर रहना चाहिये।[3]

कृतघ्न से संबंधविच्छेद—मित्रद्रोही, कृतघ्न व्यक्ति से स्वय को दूर रखना ही उचित है। कृतघ्न के लिये कोई भी नीचकर्म असाध्य नही होता। निर्लज्ज, कृतघ्न व्यक्ति ससार मे सबसे अधिक पापी होता है, अतएव उससे पूरी तरह सबधविच्छेद कर लेना चाहिये।[4]

राजा की सामान्य त्रुटि से भी बडी क्षति—राजलक्ष्मी अत्यन्त चचल होती है, जरा-सी त्रुटि देखते ही वह राजा का त्याग करने के लिये उद्यत हो जाती है। उसे दीर्घकाल तक एक ही जगह रोके रखना कठिन है।[5] सत्य, दान, व्रत, तपस्या, पराक्रम एव धर्म की उपासना करने से लक्ष्मी प्रतिष्ठित रहती है।[6]

राजा भी समाज का ही व्यक्ति—उपर्युक्त राजधर्म के प्रकटीकरण से उस काल

---

१. अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते। इत्यादि।
शांति ९०।३६–३८

२. राजैव कर्त्ता भूतानां राजैव च विनाशकः। शाति ९१।९–११
अथ येषामधर्मज्ञो राजा भवति नास्तिकः। इत्यादि।
अनु ६२।४१–४२

३. शान्ति १६४ वाँ अध्याय।

४. शान्ति १७३ वाँ अध्याय।

५. यामेता प्राप्य जानीषे राजश्रियमनुत्तमाम्।
स्थिता मयीति तन्मिथ्या नैषा ह्येकत्र तिष्ठति॥ शान्ति २२४।५८

६. सत्ये स्थितास्मि दाने च व्रते तपसि चैव हि।
पराक्रमे च धर्मे च.....। शान्ति २२५।१२

के आदर्श का काफी अनुमान लगाया जा सकता है। धर्म, वीरता, प्रजा का कल्याण आदि जो कुछ भी राजा का कर्त्तव्य होता है, प्राय सभी का उपदेश दिया गया है। राजा समाज से अलग नही होता था, वह भी समाज का ही एक व्यक्ति था। ऐसा भी नही था कि सर्वसाधारण के लिये वह बिल्कुल ही दुष्प्राप्य तथा दुर्दृश्य हो।

राजा का आदर्श बहुत ऊँचा होता था—उल्लिखित उपदेशो के अलावा और भी बहुत से उपदेश महाभारत के राजधर्मप्रकरण मे दिये गये है। चरित्र सुधारने के लिये क्या क्या करना चाहिये, कौन-कौन से दोषो को त्यागना चाहिये आदि के बारे मे उस प्रकरण की समीक्षा से जाना जा सकता है। ससार मे बिल्कुल निर्दोष चरित्र के व्यक्ति का मिलना दुर्लभ है, लेकिन तब भी राजा को आदर्श चरित्र बनना चाहिए। उसे उत्कृष्ट गुणो को अपनाने के साथ-साथ राज्यकार्य के प्रतिकूल दोषो के परिहार का भी यत्न करना चाहिये।

किन्ही विशिष्ट कारणो से उत्तराधिकारी का अधिकारच्युत होना—यह पहले ही कहा जा चुका है कि महाभारतीय युग मे राज्यपद पर वशगत उत्तराधिकार की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। पुत्र क्रम से सिंहासन आरोहण का अधिकार महाभारत मे सर्वत्र वर्णित है। किन्तु कभी कभी विशिष्ट कारण वश उत्तराधिकारी के अधिकारच्युत होने का उदाहरण भी मिलता है। धृतराष्ट्र जन्मान्ध होने के कारण राजा नही बन सके, पाडु को ही राजसिंहासन मिला। विदुर के सबध मे किसी प्रश्न का उठना यद्यपि असगत था, किन्तु राज्यप्राप्ति के लिये जन्मगत नियम बनाने के उद्देश्य से विदुर का भी, उल्लेख आया है। कहा गया है कि शूद्रा के गर्भजात होने के कारण राजगद्दी पर उनका अधिकार नही था।[1]

आधी सम्पत्ति पर धृतराष्ट्र का अधिकार—धृतराष्ट्र यद्यपि राज्य के अधिकारी नही थे, लेकिन आधी सम्पत्ति पर उनके अधिकार का उल्लेख मिलता है।[2]

विदुर के अधिकार के सबध मे महाभारतकार मौन—विदुर के अधिकार

---

१ धृतराष्ट्रस्त्व चक्षुष्टाद् राज्य न प्रत्यपद्यत।
पारशवत्वाद्विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह॥ इत्यादि। आदि १०९।२५

२. धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च सुतावेकस्य विश्रुतौ।
तयो समान द्रविण पैतृकं नात्र सशय.॥ उद्योग २०।४
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणा यथोचितमरिन्दम।
यदीच्छसि सहामात्यं भोक्तुमर्द्धं महीक्षिताम्॥ इत्यादि।
उद्योग १२९।४३-४६

के सबध मे महाभारत मे कुछ नही कहा गया है। शूद्रा माता की सन्तान होने के कारण शायद सम्पत्ति मे से भी उन्हे कोई हिस्सा नही दिया गया।

पुत्र के अभाव मे कन्या का अधिकार—पुत्र के अभाव मे राजसिहासन पर कन्या का अधिकार स्वीकृत हुआ है।[1]

---

१. कुमारो नास्ति येषाञ्च कन्यास्तत्राभिषेचय। शान्ति ३३।४५

राज़धर्म (ख)

राजधर्म के इस भाग मे हम अमात्य आदि की नियुक्ति तथा कोषसचय आदि पर प्रकाश डाल रहे हैं।

अकेले राज्य चलाना असम्भव—राज्यशासन के दायित्व को अकेले निभाना असम्भव है। राजा चाहे कितना भी धीर, वीर तथा जितेन्द्रिय क्यो न हो, लेकिन अकेले वह विभिन्न विभागो का परिचालन नही कर सकता।[1] अतएव उसे प्रत्येक विभाग के लिये सहायक कर्मचारी नियुक्त करने पडते हैं। हालाँकि हर विषय मे कर्त्ता वही होता है। मन्त्री, मित्र, सेनापति, ग्रामाधिपति, न्यायाधीश आदि की सहायता से राजा को राज्य चलाना चाहिये।

विचक्षणता आदि का ज्ञान—मित्र आदि के गुण अवगुण तथा व्यवहार पर नजर रखना तथा उनके साथ कब कैसा व्यवहार करना उचित है, आदि विषयो का विशेष अध्ययन करना पडता है। अर्थशास्त्र और मन्वादि धर्मशास्त्र मे इन विषयो पर बहुत उपदेश दिये गये हैं। महाभारत के राजधर्म प्रकरण मे भीष्म-युधिष्ठिर सवाद के बहाने तथा दूसरे प्रकरणो मे भी प्रसगवश बहुत कुछ कहा गया है। उस काल मे राजा धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का विशेष अध्ययन करके, उसके अनुसार जीवनयापन करते थे।

रामायण व मनुसहिता का अनुसरण—महाभारत मे कर्मचारियो की नियुक्ति मत्रणा आदि के बारे मे जो कुछ कहा गया है वह रामायण तथा मनुसहिता से मिलता जुलता है। (कामन्दक और शुक्र नीति मे भी इन विषयो पर अनुरूप वर्णन मिलता है।)

वीर तथा शास्त्रज्ञो की सहायता—राज्य चलाने के लिये सहायता लेना बहुत ही जरूरी है। सुपुरुष, वीर, शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ तथा कृतप्रज्ञ मित्र की सहायता से राजा हर चीज जीत सकता है।[2]

---

१ न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता। शान्ति ११५।१२
यदप्यल्पतर कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह॥ शान्ति ८०।१

२ अन्वेष्टव्या सुपुरुषाः सहाया राज्यधारणे। इत्यादि। शाति ११८।२४-२७।

मंत्री के गुणों की परीक्षा—शीलवान, कुलीन, विद्वान्, विनीत, वर्मार्थकुशल ब्राह्मण को ही मत्रीपद पर आसीन करना चाहिये।[1]

ब्राह्मण को ही मन्त्री बनाना उचित—ब्राह्मण की सलाह के बिना कोई क्षत्रिय राजा दीर्घकाल तक राज्य नही कर सकता। अतएव ब्राह्मण को ही मत्रीपद देना उचित है।[2]

सत्कुलोत्पन्न सचिव की नियुक्ति का फल—अच्छी तरह परीक्षा किये बिना सचिव की नियुक्ति नही करनी चाहिये। अनाचारी अकुलीन सचिव की नियुक्ति से राजा विपन्न होता है। सत्कुलोत्पन्नसचिव अपमानित होने पर भी राज्य का बुरा नही सोचता, किन्तु दुष्कुलोत्पन्न व्यक्ति सज्जनो का ससर्ग मिलने पर भी अपना स्वभाव नही छोडता, सामान्य कारणो से ही शत्रुता कर लेता है। अतएव राजा को विवेचनपूर्वक कुलीन शिक्षित, प्राज्ञ, ज्ञानविज्ञान पारगत, सर्वशास्त्रो के तत्त्वो से अवगत, सहिष्णु, कृतज्ञ, बलवान, क्षान्त, दान्त, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, लब्धसन्तुष्ट, स्वामी तथा मित्र का शुभाकाक्षी, देशकालज्ञ, तत्त्वान्वेषी, व्यूहतत्त्वज्ञ इगितज्ञ, पौरजनपदप्रिय, शुचि, विनयी मृदुभाषी, धीर, सन्धिविग्रहपडित एव प्रियदर्शी व्यक्ति को ही मन्त्रिरूप मे वरण करना चाहिये। जो राजा अच्छी तरह देखकर उपर्युक्त गुण विभूषित व्यक्ति को अपना मन्त्री बनाता है, उसका राज्य बढते चाँद की चाँदनी की तरह विस्तृति लाभ करता है।[3]

श्रेष्ठ मन्त्रि की नियुक्ति से राज्य का मंगल—जिस राजा का मन्त्री सत्कुलोत्पन्न, निर्लोभी, अनागत-विधाता, कालज्ञानविशारद एव अर्थचिन्तापरायण हो, वही राजा शाति से राज्यसुख भोग सकता है।[4] धर्मज्ञ मन्त्री के रहने से राज्य मे मगल ही मगल रहता है।[5]

---

१. मत्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान् विद्याविशारदान। इत्यादि। आश्र ५।२०, २१

२. नाब्राह्मणंभूमिरियं सभूति—
वर्णं द्वितीयं भजते चिराय। वन २६।१४

३. नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कर्त्तुमर्हति। इत्यादि।
शान्ति ११८।४–१५

४. मंत्रिणा यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः। शान्ति ११५।१६–१८
कुलीनान् शीलसम्पन्नानिगितज्ञान निष्ठुरान्। इत्यादि। शांति।
८३।८–१०

५. यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्य मुत्तमम्।
योगक्षेमस्तदा राज्ञः कुशलायैव कल्पते॥ शान्ति ७५।३०

अपडित मित्र को भी नियुक्त नहीं करना चाहिये—अपना मित्र भी यदि अपडित हो तो उसे राज्यकार्य के लिये नियुक्त नही करना चाहिये। पडित व्यक्ति अगर बहुभाषी हो तो वह भी सर्वथा वर्जनीय है। बिना परीक्षा किये किसी व्यक्ति को मत्री नही बनाना चाहिये।[१]

वशपरम्परागत मन्त्रणापटु व्यक्ति की नियुक्ति लाभप्रद—निरभिमानी, सत्यनिष्ठ, जितात्मा, क्षान्त, कुलीन, दक्ष आत्मवान, शूर एव कृतज्ञ व्यक्ति को मत्री बनाना उचित है। जिसका वश उच्च हो, जो वेदमार्गावलम्बी हो तथा मन्त्रणा आदि की कार्यपटुता जिसे वशपरपरागत विरासत मे मिली हो, जिसकी बुद्धि प्रखर हो, स्वभाव अच्छा हो, वही मत्री बनने के उपयुक्त होता है।

तेजस्वी, वीरपुरुष—तेज, धैर्य, क्षमा, शौच, अनुराग, स्थिति, घृति, अकपटता, वीरता, प्रतिपत्ति, इगितज्ञता, अनिष्ठुरता आदि गुणो से जो विभूषित हो, उसी व्यक्ति को अमात्यपद के लिये चुनना चाहिये।

शास्त्रज्ञ तथा गुणसम्पन्न व्यक्ति की नियुक्ति—जिस मन्त्री को शास्त्रो का ज्ञान बहुत कम हो, वह गुणसम्पन्न होते हुए भी उतना कार्यदक्ष नही होता, और जो बहुश्रुत तो हो लेकिन गुण सम्पन्न न हो वह भी छोटे-छोटे काम विवेचनपूर्वक नही कर पाता। जिसका सकल्प हर क्षण बदलता है वह विद्वान् तथा शास्त्रज्ञ होते हुए भी कोई अच्छा काम करने मे असमर्थ होता है। अतएव ऐसे व्यक्तियो को नियुक्त करना उचित नही है।[२]

शिष्ट तथा स्थिरमना व्यक्ति की नियुक्ति—शूर स्वामीभक्त, निरोगी शिष्ट, सम्मानित, विद्वान्, धार्मिक, साधु स्थिरमना, जो किसी के द्वारा प्रताडित न किया गया हो, श्रद्धाशील तथा लोगो के स्वभाव के ज्ञाता व्यक्ति को मन्त्री बनाने से राजा सदा सुखी रहता है।

नृपति तथा सचिव मे सौहार्द्र—राज्यशासन तथा आज्ञाप्रदान को छोडकर बाकी सब काम मत्री के आधीन होते हैं।[३]

---

१. अपडितो वापिसुहृद् पडितो वाप्यनात्मवान्।
नापरीक्ष्य महीपाल· कुर्यात् सचिवमात्मनः॥ उद्योग ३८।१९

२. अमानी सत्यवान् क्षान्तो जितात्मा मानसयुत।
स ते मन्त्रसहाय स्यात् सर्वावस्थापरीक्षित॥ इत्यादि।
शाति ८३।१५-२८

३. शूरान् भक्तानसहार्यान् कुले जातानरोगिन। इत्यादि।
शाति ५७।२३-२५

सहस्र मूर्खो की अपेक्षा एक पंडित मे अधिक क्षमता—सहस्र मूर्खो को सभासद बनाने से कोई लाभ नही होता किन्तु मेधावी, दक्ष, शूर तथा प्रत्युत्पन्न-मति एक अमात्य की नियुक्ति से राजा का कल्याण होता है।[१]

अमात्यहीन राजा संकटापन्न—जिस राजा का मत्री नही होता वह तीन दिन भी राजसुख नही भोग सकता। अतएव राजा को चाहिये कि बुद्धिमान शौर्य-वीर्यशाली व्यक्ति को अपना मन्त्री बनाये।[२]

दुष्ट मत्री की नियुक्ति से नृपति का विनाश—दुष्ट तथा पापी व्यक्ति राजा का मत्री बन जाय तो उस राजा का सपरिवार विनाश हो जाता है।[३]

गुणवान की नियुक्ति से समृद्धि—कुलीन शीलवान क्षमाशाली आर्य, विद्वान व्यक्ति को अमात्यपद देना उचित है। ऐसा व्यक्ति सदा अच्छी मत्रणा देकर राजा की समृद्धि का कारण बनता है।[४]

मर्मज्ञ और संधिविग्रहवित् सचिव उत्तम—जो व्यक्ति धर्मशास्त्रो का मर्मज्ञ हो सर्विविग्रह आदि मे पटु हो, धीर, लज्जाशील, रहस्य गोपनकारी, कुलीन, सत्त्व सम्पन्न एव शुद्धचरित्र हो वही अमात्य होने के उपयुक्त है।[५]

कम से कम तीन मंत्रियो की नियुक्ति—कम से कम तीन मन्त्रियो की नियुक्ति का विधान है। एक जगह तो यह भी कहा गया है कि राजा को पॉच बुद्धिमान मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार काम करना चाहिये।[६]

आठ का विधान—अन्यत्र आठ मन्त्रियो की नियुक्ति का उल्लेख भी मिलता

---

१. एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षण।
राजानं राजपुत्र वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥ सभा ५।३७

२. न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम्। इत्यादि।
शान्ति १०६।११,१२

३. असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति॥ शांति ९२।९

४. कुलीनः शीलसम्पन्नस्तितिक्षुरविकत्थनः। इत्यादि। शांति ८०।-
२८–३१

५. धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः संधिविग्रहिको भवेत्। इत्यादि।
शांति ८५।३०, ३१

६. मत्रिणः प्रकृतज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सर.। शान्ति ८३।४७
पचोपधाव्यतीताश्च कुर्याद्राजार्थकारिणः। शाति ८३।२२
मन्त्रचिता सुखं काले पंचभिर्वर्द्धते मही। शांति ९३।२४।

है। उनकी जाति, विद्या आदि के सवध मे भी विशेष नियम थे । उस जगह यह भी वताया गया है कि राजसभा मे कितने सभासद रखने चाहिये।

छत्तीस व्यक्ति विभिन्न जातीय तथा एक सूत सभासद होना चाहिये—चार विद्वान् स्नातक तथा प्रत्युत्पन्नमति ब्राह्मण, उन्ही के समान गुणसम्पन्न एव वलवान शस्त्रपाणि आठ क्षत्रिय, इक्कीस वित्तवान वैश्य तथा शुचि विनीत निन्य कर्माचरणशील तीन शूद्रो को सभासद वनाना चाहिये। इनके अलावा शुश्रूपा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहन, अपोहन, विज्ञान, तत्त्वज्ञान इन आठ गुणो से युक्त, प्रगल्भ, अनसूयक, श्रुतिस्मृति के ज्ञाता, विनयी, समदर्शी, कार्यपटु, सत्परामर्शदाता, अव्यसनी पचास या उससे कुछ अधिक की उम्र के एक सूतजातीय व्यक्ति को अमात्यरूप मे ग्रहण करने का विधान है।[1]

सैंतीस सभासदो मे आठ मन्त्री—उपर्युक्त सैंतीस सभासदो मे से चार ब्राह्मण तीन शूद्र तथा एक सूत इन आठ को मत्रिपद देने का नियम है तथा उन्ही के परामर्श से हर कार्य करने को कहा गया है। एक एक अमात्य को एक एक विभाग देना चाहिये। एक ही विभाग मे एक से अधिक व्यक्तियो को नियुक्त करना उचित नही होता।[2]

सहार्थ आदि चार प्रकार के मित्र—मित्रो को सहार्य, भजमान, महज व कृत्रिम इन चार भागो मे बाँटा है। (क) "अमुक शत्रु को हम दोनो मिलकर जीतेंगे", इस तरह का परामर्श देने वाले को 'सहार्थ' कहते हैं। (ख) जो वशानुक्रम से एक ही राजपरिवार की सेवा कर रहा हो वह 'भजमान' होता है। (ग) मौसेरे, फुफेरे आदि भाई, 'सहज' कहलाते है। (घ) धन लेकर काम करने वालो को 'कृत्रिम' की सज्ञा दी गई है।

सत्यनिष्ठ पाँचवीं तरह का मित्र—धर्मात्मा एव सत्यनिष्ठ व्यक्ति सहज ही सवका मित्र वन जाता है।

भजमान व सहज का प्राधान्य—उल्लिखित मित्रो मे भजमान तथा सहज को श्रेष्ठ वताया है, क्योकि सहार्थ तथा कृत्रिम मित्र साधारण सी वात पर ही शत्रुता कर सकते हैं।[3]

---

१. चतुरो ब्राह्मणात् वेद्यान् प्रगल्भान् स्नातकान् शुचीन्। इत्यादि।
शाति ८५।७-१०

२. अष्टानां मन्त्रिणा मध्ये मन्त्र राजोपधारयेत। शाति ८५।११।
द्रष्टव्य नीलकठ।

नैव द्वौ न त्रय. कार्या न मृष्येरन् परस्परम्। शान्ति ८०।२५

३. चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञा राजन् भवन्त्युत। इत्यादि। शाति ८०।३-६

गुणवान, बहुदर्शी, वयस्क व्यक्ति ही उपयुक्त अमात्य—नारदीय राजधर्म मे कहा गया है कि राजा आत्म-सयमी, कुलीन, कार्यपटु, बहुदर्शी एव वृद्ध व्यक्ति को अपना मत्री बनाये। राजा का ऐश्वर्य तथा विजय मन्त्री के ही अधीन होते है।[1]

प्रज्ञा आदि पाँच प्रकार के बल—प्रज्ञा, वश, धन, अमात्य और बाहु—इन पाँच बलो से बलीयान् राजा सम्पूर्ण पृथ्वी पर राज्य कर सकता है, अत अमात्यबल उपेक्षणीय नही है।[2]

मन्त्रणापद्धति—मत्रियो से सलाह लिये बिना राजा को कोई काम शुरू नही करना चाहिये। सवृतमन्त्र, शास्त्रविद् मत्री के द्वारा ही राज्य रक्षित रहता है।[3]

मंत्रगुप्ति का शुभ फल—मत्रणा को सावधानीपूर्वक गोपनीय रखना चाहिये। मत्रगुप्ति राजा का श्रेष्ठ गुण होता है। मयूर जिस प्रकार शरत्काल मे मौन धारण कर लेता है उसी प्रकार राजा को भी मत्रणा के बारे मे मौन ही रहना चाहिये। राजा के हितैषी मत्रियो को भी मत्रगुप्ति के विषय मे सतर्क रहना चाहिये। मन्त्रणा राजा के लिये कवचस्वरूप होती है। दूसरे लोग यहाँ तक कि अतरग से अतरग व्यक्ति भी जिस राजा की मत्रणा नही जान पाते, वही हर कार्य मे सफल होता है। काम करने से पहले उसका जिक्र किसी से नही करना चाहिये, कार्यसम्पन्न होने पर लोग स्वय ही पूर्व-सकल्प जान जाते है। मत्रभेद अकल्याण का हेतु है। जो राजा स्वय तथा उसके मन्त्री मन्त्रसवरण मे पटु होते है, उसकी कार्यसिद्धि मे किसी सदेह का स्थान नही होता।[4] मन्त्रियो को मन्त्रगुप्ति की आवश्यकता का बार-बार स्मरण कराते रहना उचित है। इस ओर मत्रियो को सदा सतर्क दृष्टि रखनी चाहिये।[5]

हर अमात्य से अलग-अलग सलाह लेना—एक ही समय कई मन्त्रियो के साथ

---

१. कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः। इत्यादि। सभा ५।२६,२७

२. बलं पंचविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे। इत्यादि। उद्योग ३७।५२–५५

३. कच्चित् संवृतमन्त्रैस्तै अमात्यैः शास्त्रकोविदैः।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात......॥ सभा ५।२८

४. कच्चित्ते मंत्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति। सभा ५।३०
नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद् यथा मूकः शरच्छिखी॥ इत्यादि।
शांति १२०।७। शाति ८३।५०। उद्योग ३८।१५–२१

५. दोषाश्च मन्त्रभेदस्य ब्रूयास्त्वं मन्त्रि मंडले। इत्यादि। आश्र ५।२५, २६

मत्रणा करना उचित नही है। प्रत्येक अमात्य का अभिमत पृथक्-पृथक लेना अच्छा होता है।[1]

रात्रि को मत्रणा निषिद्ध—मन्त्रणा का स्थान तथा समय अच्छी तरह सोच-विचार कर निश्चित करना चाहिये। रात को कभी मन्त्रणा नही करनी चाहिये। क्योकि शत्रुपक्ष के गुप्तचर अधकार मे छुपकर सब कुछ सुन सकते हैं।[2]

अरण्य मे या तृणरहित भूमि पर बैठकर मन्त्रणा करना उचित—जगल मे या तृणरहित भूमि पर बैठकर मन्त्रणा करनी चाहिये। घास पर बैठने से निकटस्थ गुप्तचर की पदध्वनि सुनाई नही देती।[3]

मंत्रणागृह का सुरक्षण—मन्त्रणा स्थल पर ही करनी चाहिये। मन्त्रणागृह का सुरक्षित एव चारो तरफ़ से घिरा हुआ होना आवश्यक है।[4]

वामन कुब्ज आदि वर्जनीय—जिस जगह मन्त्रणा की जाय, उनके आगे-पीछे ऊपर नीचे या किसी भी तरफ बौने, कुबडे, कृश, लगडे, अधे, मूर्ख, स्त्री तथा नपुसक इनमे से किसी का भी होना वर्जनीय है।[5] इन सब प्राणियो को मन्त्रणास्थान से दूर रखने का कारण महाभारत मे तो नही बताया है, लेकिन मनुसहिता के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने लिखा है—शुक आदि पक्षी, वृद्ध पुरुष तथा स्त्रियाँ स्वभावत चचलस्वभावी होती हैं। इनके सुन लेने पर मन्त्रभेद की आशका रहती है, और बौने, कुबडे आदि विकलाग पूर्वजन्म के पापो के फलस्वरूप इस अवस्था को प्राप्त होते हैं, वे जरा-सा तिरस्कृत होते ही स्थिर नही रह पाते, अत उनपर विश्वास नही करना चाहिये।[6]

गिरिपृष्ठ पर या निर्जन प्रासाद में—पहाड पर जाकर या निर्जन प्रासाद मे मन्त्रणा करने के लिये विदुरनीति मे कहा गया है।[7]

नौका द्वारा किसी साफ जगह जाना—किसी गम्भीर विषय पर मन्त्रणा करनी हो तो नौका मे बैठकर घासफूस रहित साफ जगह जाना चाहिये। नौका के बाहर

---

१ कच्चिन्मन्त्रयसे नैक कच्चिन्न बहुभि सह। सभा ५।३०
तै. सार्द्ध मंत्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभि सह। इत्यादि। आश्र ५।२१,२२
२. न च रात्रौ कथञ्चन। आश्र ५।२३।
३. अरण्ये नि शलाके वा। इत्यादि। आश्र ५।२३। उद्योग ३८।१८
४ सुसवृतं मन्त्रगृहं स्थल चारुह्य मन्त्रये। आश्र ५।२२
५. न वामना. कुब्जकृशा न खञ्जा.। इत्यादि। शाति ८३।५६
६ मनु ७।१५०
७ गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासाद वा रहो गतः। उद्योग ३८।१७

आवाज न जाय, इसका विशेष ख्याल रखना चाहिये। आँख, मुँह, हाथ आदि की भावभगिमा भी वर्जनीय है।[1]

मन्त्री के अलावा दूसरे की उपस्थिति निषिद्ध—मत्री को छोडकर किसी और व्यक्ति को मन्त्रणास्थल पर नही होना चाहिये। और तो और मनुष्यभाषा के अनुकारी पक्षी के कानो मे भी मन्त्रणा नही पडनी चाहिये।

पक्षी, बन्दर, जड़ पंगु आदि वर्जनीय—पक्षी, वन्दर, मूर्ख, पगु, अतिवृद्ध तथा स्त्री के सामने मन्त्रणा करना उचित नही है।[2]

अल्पप्रज्ञ दीर्घसूत्र आदि वर्जनीय—अच्छी तरह पता लगाये विना किसी के भी साथ मन्त्रणा नही करनी चाहिये। अल्पप्रज्ञ, दीर्घसूत्र, चारण, आलसी एव हर्षोन्मत्त व्यक्ति के साथ मन्त्रणा करना अनुचित है।[3]

अननुरक्त मत्री वर्जनीय—मत्री यदि राजा के प्रति पूरी तरह वफादार न हो तो उसके साथ मन्त्रणा नही करनी चाहिये। ऐसा मत्री दूसरे मत्रियो के साथ मिलकर राजा का समूल नाश कर सकता है।[4]

शत्रुपक्षावलम्बी वर्जनीय—जो गोपनीय रूप से शत्रु का साथ देता हो तथा पुरवासियो के साथ सद्व्यवहार न करता हो, उसे मन्त्रणा मे शामिल नही करना चाहिये। अविद्वान्, अशुचि, शत्रुसेवी, क्रोधी, लोभी व्यक्ति मन्त्रणा के लिये अनुपयुक्त है।

नया मित्र भी वर्जनीय—नया-नया आया हुआ व्यक्ति भले ही विद्वान् तथा सद्गुणसम्पन्न हो, उसके साथ मन्त्रणा नही करनी चाहिये।

राजदंड प्राप्त व्यक्ति का पुत्र भी वर्जनीय—किसी अपराध के कारण जिसके पिता को राजदड मिला हो, वह व्यक्ति सत्कृत एव राजसभा का सदस्य होते हुए भी मत्रश्रवण का अधिकारी नही है। सामान्य कारण से ही जो सुहृद् व्यक्ति का सर्वस्व हरण कर सके, वह भी मत्रणा के लिये अयोग्य होता है। एकमात्र कृतप्रज्ञ,

---

१. आरुह्य नावन्तु तथैव शून्य। इत्यादि। शान्ति ८३।५७

२. नासुहृत परमं मत्रं भारतार्हति वेदितुम्। उद्योग ३८।१८
वानरा. पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुसारिणः। इत्यादि।
आश्र ५।२३, २४। सभा ४२।८

३. अल्पप्रज्ञै सह मन्त्रं न कुर्यान्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च।
उद्योग ३३।७३

४. मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते। इत्यादि।
शाति ८३।३०, ३१

मेधावी, सुपडित, व्यक्ति ही मन्त्रणा सुनने के योग्य होता है। जो शत्रु व मित्र को पहचान सके तथा सुहृद् को अपने समान समझे, उस मित्र के साथ मन्त्रणा करना कर्त्तव्य है।[1]

अपरिणामदर्शी की राय अग्राह्य—जो व्यक्ति कार्य का परिणाम सोचे-समझे विना ही अपनी राय दे उसकी सलाह के अनुसार काम नही करना चाहिये।[2]

राजा तथा मन्त्रियो की सम्मिलित मन्त्रणा से उन्नति—राजा और मन्त्री यदि एक साथ बैठकर राज्य के बारे मे सलाह-मशविदा करें तो राज्य की उन्नति सुनिश्चित है। मन, वचन, काय से जो स्वामी की उन्नति की कामना करते हो, उनसे बिना सलाह लिये कोई कार्य नही करना चाहिये।[3]

मन्त्रणा करने के दूसरे क्षण ही काम शुरू नहीं करना चाहिये—मन्त्रियो के साथ मन्त्रणा करने के तुरन्त वाद ही काम शुरू नही करना चाहिये। यदि सव मन्त्रियो का अभिमत एक हो तब तो ठीक है, लेकिन अलग-अलग मत होने पर उनके और अपने मत पर अच्छी तरह सोच कर राजा को बुद्धिमान , जितेन्द्रिय ब्राह्मण गुरु को सब कुछ बताना चाहिये। उनका मत भी यदि औरो के मत से मिलता हो तो कार्य शुरू करना उचित है।[4]

राजपुरोहित सब से ऊपर—उपर्युक्त उद्धरण से पता चलता है कि मन्त्री भी मन्त्रणा के लिये पूर्ण प्रामाणिक नही हैं। राजगुरु अर्थात् पुरोहित का स्थान सबसे ऊँचा होता है।

मन्त्रियो के प्रति राजा का व्यवहार—किसी को भी मित्र रूप मे देखने के वाद उसके साथ नम्र व्यवहार करना ही उचित है, यह सभी जानते है। केवल अर्थ के वल पर किसी को पूर्ण रूप से अपना नही बनाया जा सकता। महाभारत मे इस तरह की सैकडो उक्तियाँ मिलती हैं कि सुहृत् को पाने की अपेक्षा सौहार्द्र की रक्षा

---

१. योऽमित्रैः सह सबधो न पौरान् वहुमन्यते। इत्यादि।

शाति ८३।३६-४६

२. केवलात् पुनरादानात् कर्मणो नोपपद्यते।
परामर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह दुर्मते.॥ शान्ति ८३।२९

३. राज्यं प्रणिधिमूल हि मन्त्रसार प्रचक्षते। इत्यादि।

शाति ८३।५१, ५२

४. तेषा त्रयाणा विविध विमर्ष विबुध्य चित्त विनिवेश्य तत्र।
स्वनिश्चय तत्प्रतिनिश्चयज्ञ निवेदयेद्गुत्तर मत्रकाले॥ इत्यादि।

शाति ८३।५३, ५४

करना मुश्किल है। मन्त्री वगैरह के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस संबंध मे भी राजधर्म प्रकरण मे उपदेश दिये गये हैं।

उपयुक्त व्यक्ति को श्रेष्ठ कार्य का भार देना—जो अमात्य सत्यनिष्ठ व शुद्धाचारी हो, राजदर्बार मे स्थान जिसे पूर्वजो से मिला हो, उसे किसी श्रेष्ठ कार्य का भार देना चाहिये।[1]

सम्मान के द्वारा अमात्य का हृदय जीतना—मन्त्रियो को यथोचित सम्मान देना चाहिये। उपयुक्त पद मिलने पर कर्मचारी सन्तुष्ट रहते हैं। जो जिस तरह के सम्मान के उपयुक्त हो, उन्हे वही सम्मान देना चाहिये। यथोचित सम्मान के द्वारा सहज ही हर किसी का हृदय जीता जा सकता है।[2]

मंगलाकाक्षी अमात्य पितृवत् विश्वसनीय—जो मत्री मेधावी, चिंतावान एव दक्ष हो, जो अपमानित होकर भी बुरा न सोचता हो, वह यदि राजमहल मे ऋत्विक, आचार्य या सुहृद् के रूप मे रहता हो तो राजा उसका अत्यधिक सम्मान तथा पितृवत् विश्वास करे।[3]

अमात्य के सम्मान से समृद्धि—कृतज्ञ, प्राज्ञ अमात्य को यथोचित सम्मान मिले तो राज्य का कल्याण सुनिश्चित है।[4]

उपयुक्त कर्म कराना—मन्त्री को मत्रणाकार्य न देकर अपेक्षाकृत छोटा काम दिया जाय तो अनिष्ट की सभावना रहती है। उपयुक्त कार्य न मिलने से व्यक्ति असन्तुष्ट रहता है।[5]

सभासद को असन्तुष्ट नहीं करना चाहिये—उन्नतिकाम राजा को कभी किसी सभासद को असन्तुष्ट नही रखना चाहिये, उन्हे यथोचित सम्मान न मिलने पर तरह-तरह के अनिष्टो की आशका रहती है। राजा को सुबह ही विद्यावृद्ध, हिता-

---

१. अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहान् शुचीन्।
श्रेष्ठान् श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु॥ सभा ५।४३

२. पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिता.। इत्यादि।
शाति ८०।२९, ३०
यथार्ह प्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम्। शाति ८१।२१

३. मेधावी स्मृतिमान् दक्षः प्रकृत्या चानृशंसवान्। इत्यादि।
शान्ति ८०।२२–२४

४. धर्मनिष्ठं स्थितं नीत्या मंत्रिणः पूजयेन्नृपः। शाति ६८।५६

५. स्वजातिगुणसम्पन्ना स्वेषु कर्मसु संस्थिताः।
प्रकर्त्तव्या ह्यमात्यास्तु नास्थाने प्रक्रिया क्षमा॥ शान्ति ११९।३

काक्षी सभासदो से साक्षात् करके यथायोग्य अभ्यार्थना करनी चाहिये। उन्हे यथोचित सम्मान मिलने से राज्य मे मगल ही मगल होता है।[1]

राजा के प्रति मत्री का व्यवहार, आनुगत्य—मन्त्री को राजा की अनुमति लेकर ही राजकार्य करना चाहिये। राजा की कभी अवज्ञा नही करनी चाहिये।[2]

न पूछे जाने पर भी हितवचन बोलना—समयविशेष पर राजा न पूछे तो भी मत्री को चाहिये कि उसे अच्छे बुरे का ज्ञान कराये। यह गुण धृतराष्ट्र के प्रधान मत्री विदुर के चरित्र मे खूब विकसित हुआ है। धृतराष्ट्र यदि विदुर की सलाह मानते तो कौरव पाडवो मे झगडा नही होता। ससार मे अप्रिय किन्तु हितकर वचनो का वक्ता और श्रोता, दोनो ही दुर्लभ है।[3]

अप्रिय होते हुए भी हितकारी बात कहनी चाहिये—कोई-कोई सौहार्द्र खत्म हो जाने के ख्याल से राजा के दोप नही वताता, और कोई स्वार्थसाधन के निमित्त सदा राजा की वडाई करता रहता है। अप्रिय हितकर बात का श्रोता मिलना यूं तो मुश्किल है, लेकिन वुद्धिमान व्यक्ति, हितकारी बात यदि कडवी भी हो तो सुनकर विचलित नही होते, वरन् स्वय को सुधारने की चेष्टा करते हैं।[4]

अमात्य ही हितवक्ता—सुहृद व्यक्ति आपातत अप्रिय होते हुए भी हितकर वचन विना किसी कुठा के कह देता है। महामति विदुर ने दो वार धृतराष्ट्र से कहा है—"राजन्, यथार्थ धार्मिक मत्री वही होता है जो राजा को प्रिय या अप्रिय लगने का ख्याल किये विना हितकारी वात कहता है। वस्तुत ऐसा मन्त्री ही राजा की श्रेष्ठ सम्पदा है।"[5] मन्त्रित्व को भी यदि साधारण नौकरी समझा जाता तो

---

१. न विमानयितव्यास्ते राज्ञा वृद्धिमभीप्सता। शान्ति ११८।२४
प्रातरुत्थाय तान् राजन् पूजयित्वा यथाविधि। इत्यादि।
आश्व ५।११,१२

२ राष्ट्रं तवानुशासन्ति मत्रिणो भरतर्षभ। इत्यादि। सभा ५।४४,४५

३ लभ्यते खलु पापीयान् नरः सुप्रियवागिह।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ॥ सभा ६४।१६।
उद्योग ३७।३५

४. केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते।
स्वार्थ हेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत॥ इत्यादि। सभा १३।४९, ५०

५ यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान्॥ सभा ६४।१७।
उद्योग ३७।१६

इतनी निर्भीकता सम्भव नही होती। दूसरे कर्मचारियो की अपेक्षा मत्री का दायित्व अधिक मानकर ही अप्रिय वचन कहने का साहस किया जा सकता है। इस प्रकार के साहस के औचित्य या अनौचित्य के बारे मे सोचना तो मुश्किल है, लेकिन यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के साहस का फल वक्ता के लिये सदा शुभ नही होता। राजा धृतराष्ट्र भी स्पष्टवादी विदुर की बाते हमेशा सहन नही कर पाते थे।[1] शायद इसी कारण दूसरी जगह कहा गया है कि राजा की इच्छा के विपरीत या कोई अप्रिय बात उससे नही कहनी चाहिये।[2]

सभासद्—मत्री के अलावा और भी सभासदो की नियुक्ति के विषय मे पहले ही कहा जा चुका है।

शूर, विद्वान तथा उत्साही व्यक्ति प्रशंसनीय—स्वभावत लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, सरल, प्रिय-अप्रिय कहने मे समर्थ व्यक्ति को राजा सभासद बनाये। शूर, विद्वान्, ब्राह्मण, सतोषी तथा उत्साही व्यक्ति राजसभा मे स्थान पाने के उपयुक्त होता है। कुलीन, रूपवान, अनुरक्त, शक्तिशाली, बहुश्रुत व्यक्ति ही राजा का सभासद बनने के योग्य होता है।[3]

लोभी तथा नृशंस व्यक्ति परित्याज्य—दुष्कुलोत्पन्न, लोभी, नृशस, निर्लज्ज व्यक्ति केवल अच्छे दिनो का मित्र होता है।[4]

पंडित को स्थान देना श्रेयस्कर—विशिष्ट शास्त्रो के अभिज्ञ पडितो को राजसभा मे उच्च आसन देने का विधान था। सहस्र मूर्खों की अपेक्षा एक पडित को स्थान देना अच्छा है, यह बात बार-बार दुहराई गई है।[5]

---

१. यथेच्छकं गच्छ वा तिष्ठ वा त्व। इत्यादि। वन ४।२१

२. यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत्। इत्यादि।

शाति ८०।५ विराट ४।१६,३२

३. ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः।
शक्ताः कथयित् सम्यक् ते तव स्युः सभासदः। इत्यादि।

शान्ति ८३।२–६,१०

४. ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणय। शान्ति ८३।७

५. ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे। इत्यादि। मौषल ७।८।

आदि २०७।३८

एको हि बहुभि श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः। वन ९९।२२
कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्। सभा ५।३५

सामुद्रविद् पडित का स्थान—सामुद्रज्ञ तथा ग्रह-नक्षत्रो के ज्ञाता एक ज्योतिषी को राजसभा मे विशिष्ट आसन दिया जाता था।[1]

राजसभा मे ज्ञानियो का समागम—उस काल की राजसभाओ के वर्णन मे एक चीज और विशेष रूप से लक्ष्य मे आती है। नारद, व्यास, वशिष्ठ, लोमश, मार्कण्डेय, मैत्रेय आदि देवर्षि, महर्षि एव आचार्य राजसभाओ मे अक्सर जाते रहते थे। कभी-कभी कुछ दिनो के लिये राजनगरी मे ठहर भी जाते थे। नियुक्त किये गये स्थायी सभासदो के अलावा इन महाज्ञानियो मे से कोई कोई तो प्राय सर्वदा ही अपनी उपस्थिति से राजसभा की शोभा बढाते थे। इनकी अर्चना के लिये राजा भी सदा सावधान रहते थे। द्वारपाल इनका रास्ता नही रोकता था। समय असमय जब इनकी इच्छा होती थी, ये राजसभा मे चले जाते थे। इन मनीषियो के उपदेश व उपाख्यानो से राजा तथा प्रजा को कितनी शिक्षा मिलती थी, यह कुछ शब्दो मे बताना मुश्किल है। शिष्य इनके सहचर होते थे। किसी विषय मे शका उपस्थित होने पर राजा विनीतभाव से इन ज्ञानियो को बताता था। ये भी प्रश्न की मीमासा करके सशय दूर करते थे। कभी-कभी राजा के जिज्ञासा न करने पर भी राज्यकल्याण के निमित्त ये तरह-तरह के उपदेश देते थे। इससे राजा स्वय को धन्य समझता था। अत अस्थायी होते हुए भी इन्हे सामयिक सभासद कहा जा सकता है। (शिक्षा प्रबध देखिये पृष्ठ १३९ और १४०)

मित्र की पहचान तथा मित्र लाभ—बिना मित्रो के राज्य की रक्षा करना असभव है। दान, प्रियवचन, उदार तथा निश्छल व्यवहार मित्रलाभ के अनुकूल है। स्वामीभक्त, कृतप्रज्ञ, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शुभकर्मा व कार्यपटु व्यक्ति ही मित्रता के योग्य होता है।[2]

हमदर्द व्यक्ति ही मित्र—राजा की समृद्धि देखकर जो खुश तथा क्षय देखकर दुखी होता हो, उसी को सच्चा मित्र समझना चाहिये।[3]

भावी राजा को मित्र नहीं बनाना चाहिये—अपनी मृत्यु के बाद जो व्यक्ति

---

१. कच्चिदगेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादक.।
उत्पातेषु हि सर्वेषु दैवज्ञ. कुशलस्तव। सभा ५।४२

२. दृढभक्ति कृतप्रज्ञं धर्मज्ञ सयतेन्द्रियम्।
शूरमक्षुद्रकर्माण निषिद्धजनमाश्रयेत्॥ शाति ६८।५७

३. यन्तु वृद्धा न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत्।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते॥ शाति ८०।१६

राजा बनने वाला हो, वह भले ही भाई, पुत्र या ज्ञाति हो, उसे मित्र नही बनाना चाहिये।[1]

राजा पर निर्भर व्यक्ति विश्वसनीय—शत्रु के साथ जिसका अल्पमात्र भी सबध हो उसे मित्र नही बनाया जा सकता। राजा की अनुपस्थिति मे जो अपना अकल्याण समझे वही प्रकृत मित्र है। उस पर पितृवत् विश्वास किया जा सकता है।[2]

राजा के अनिष्ट से प्रसन्न व्यक्ति शत्रु—राजा की क्षति को जो अपनी क्षति समझे वही सच्चा मित्र होता है। राजा का नुकसान देखकर जो व्यक्ति प्रसन्न होता हो, उसे परम शत्रु मानना चाहिये।[3]

व्यसन से भीत व्यक्ति अपने समान—जो व्यक्ति व्यसनो से बहुत डरता हो तथा अपनी समृद्धि से किसी का अनिष्ट न करता हो उसे अपने समान समझना चाहिये। जिसकी आकृति व कठस्वर उत्तम हो, जो क्षमाशील, सत्कुलोत्पन्न एव असूया रहित हो, उसे राजा अपना मित्र बना सकता है।[4] जो यशस्वी हो, कभी नीति विगर्हित कार्य न करता हो, कामक्रोध आदि के वश होकर अपने धर्म का त्याग न करता हो, जिसकी सत्यनिष्ठा, कार्यदक्षता एव यथार्थवादिता अनन्य साधारण हो उसे राजा यदि अपना मित्र बनाये तो उसके लिये कल्याणप्रद होता है।[5]

मूर्ख मित्र से पडित शत्रु अच्छा—पडित व्यक्ति यदि शत्रु भी हो तो अच्छा है किन्तु मूर्ख के साथ कभी मित्रता नही करनी चाहिये।[6]

---

१. य मन्येत समाभावादिममर्थागमं स्पृशेत्।
नित्य तस्माच्छकितव्यममित्र तद्विदुर्बुधाः॥ शान्ति ८०।१३

२. यस्य क्षेत्रादप्युदक क्षेत्रमन्यस्य गच्छति। इत्यादि। शांति ८०।१४,१५
यन्मन्येत् समाभावादस्याभावो भवेदिति।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वास यथा पितरि वै तथा॥ शाति ८०।१७

३. क्षताद्भीत विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम्।
ये तस्य क्षतिमिच्छन्ति ते तस्य रिपवरः स्मृताः॥ इत्यादि।
शाति ८०।१९।शान्ति १०३।५०

४. व्यसन्नानित्यभीतो यः समृद्धया यो न दुष्यति।
यत् स्यादेवविध मित्रं तदात्मसममुच्यते॥ शांति ८०।२०
रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः। इत्यादि। शात ८०।२१

५. कीर्त्तिप्रधानो यस्तु स्याद् यश्च स्यात् समये स्थितः। इत्यादि।
शाति ८०।२६, २७

६. श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः॥ शांति १३८।४६

विद्या आदि सहज तथा गृह क्षेत्र आदि कृत्रिम मित्र—विद्या, शौर्य, वल, दक्षता एव धैर्य इन पाँच को मनुष्य के सहजात मित्र बताया है। गृह, ताम्र-पात्र, खेत, भार्या तथा सुहृद इन पाँचो को पडितो ने उपाधिमित्र अर्थात् कृत्रिम मित्र की सज्ञा दी है। आवश्यक होने पर उपाधिमित्र का त्याग किया जा सकता है।[1]

पीठ पीछे निन्दा करना शत्रु का काम—जो पीठ पीछे किसी की निन्दा करे तथा गुणो की बात सुनकर मन ही मन जले, दूसरा यदि गुणो का वखान करता हो तो मौनधारण कर अन्यमनस्क हो जाय—बीच-बीच मे ओठ काटकर सिर हिलाकर विरोध प्रकट करे, असलग्न बातें कहे, वचनवद्ध होकर भी काम करने की चेष्टा न करे, साक्षात् होने पर भी मुँह से न बोले, एक साथ भोजन करना पसन्द न करे, उसे शत्रु समझना चाहिये।[2]

जो कभी बुरा न सोचे वही प्रकृत मित्र—स्वामी चाहे पदच्युत करे या कठोर वचन कहकर भर्त्सना करे, लेकिन तब भी जो उसका बुरा न सोचे, वही असली मित्र है।[3]

शत्रुमित्र का निर्णय करने मे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम-प्रमाण की सहायता से शत्रु व मित्र का निर्णय करना चाहिये। व्यक्ति उपकारी है या अपकारी यह उसके प्रत्यक्ष आचरण से समझा जा सकता है। आँख, मुख आदि के हावभावो से मन की बात का अनुमान लगाना कठिन नही है। दूसरे लोगो के प्रति उसके व्यवहार को देखकर भी उसके चरित्र का पता लगाया जा सकता है और सामुद्रिक आदि शुभाशुभसूचक आगम के द्वारा शारीरिक चिन्हो की परीक्षा करके इसके चाल-चलन आदि के बारे मे जाना जा सकता है। अच्छी तरह से परीक्षा किये विना किसी को भी मित्र रूप मे ग्रहण करना या शत्रु समझकर त्यागना उचित नही है।[4]

---

१. विद्या शौर्यञ्च दाक्ष्यञ्च बलं धैर्यञ्च पञ्चमम्। इत्यादि।
शाति १३९।८५।८६

२. परोक्षमगुणानाह सद्‌गुणानभ्यसूयते। इत्यादि।
शान्ति १०३।४६-४९

३ सक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति। इत्यादि।
शान्ति ८३।३२-३४

४. प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यश ॥ शान्ति ५६।४१

शत्रुता व मित्रता अकारण नहीं होती—शत्रु व मित्र का निर्णय करना आसान काम नही है। बिना सोचे समझे कोई कदम नही उठाना चाहिये। इस ससार मे बिना किसी कारण के कोई भी शत्रु या मित्र नही बनता। स्वार्थसाधन के निमित्त ही मनुष्य-मनुष्य से शत्रुता या मित्रता करता है।[1]

भ्राता, भार्या आदि भी अहेतुक मित्र नहीं—भाई-भाई मे या पति-पत्नी मे जो सौहार्द्र होता है, वह भी अकारण नही होता। (वृहदारण्यक उपनिषद की "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति" इस उक्ति से महाभारतकार का मत मिलता है।) भाई, स्त्री आदि मित्र किसी कारणवश कुपित होने पर पुन मित्रता कर लेते है, किन्तु दूसरो के लिये यह सम्भव नही होता।[2]

शत्रु व मित्रकी उत्पति कारगाधीन—शत्रुत्व या मित्रता कभी चिरस्थायी नही होती, शत्रु या मित्र का उद्भव प्रयोजनाधीन होता है। काल विशेष मे शत्रु व मित्र का विपर्यय होना असम्भव नही है, क्योकि मनुष्य साधारणत स्वार्थ का दास होता है। जो व्यक्ति बिना कारण समझे मित्र पर अत्यधिक विश्वास करता है या शत्रु से द्वेष करता है, उसकी लक्ष्मी चचल होती है। अविश्वस्त पर विश्वास तथा विश्वस्त पर अतिविश्वास दोनो ही सगत नही है। अवस्था विशेष मे प्रियतमा पत्नी तथा प्रिय पुत्र का भी परित्याग करना पडता है, अतएव स्वार्थ या आत्मरक्षा ही सबसे बडी चीज है।[3]

मित्र ग्रहण एव परित्याग के लिये लम्बी परीक्षा—काफी दिनो तक परीक्षा करने के बाद ही किसी को मित्र रूप मे ग्रहण किया जाय और जिसे एक बार मित्र बना लिया जाय, उसका त्याग भी काफी जाँच पडताल के बाद करना चाहिये। अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद बनाया गया मित्र प्राय प्रतिकूल आचरण नही

---

१. वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः।
एतत् सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसम्मतम्॥ शांति १३८।१३७
न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
अर्थतस्तु निबध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ शाति १३८।११०

२. कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात्।
अर्थार्थी जीवलोकोऽय न कश्चित् कस्यचित् प्रियः॥ इत्यादि।
शाति १३८।१५१।१५४

३. नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम्।
अर्थयुक्त्या तु जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा॥ इत्यादि।
शाति १३८।१४१–१४६

करता।[1] जो मित्र भयाक्रांत रहता हो, उसकी हर प्रकार से रक्षा करना कर्त्तव्य है।[2]

मैत्रीनाशक व्यक्ति हतभागी—मैत्री-स्थापन के वाद यदि यथारीति उसका पालन न किया जाय तो परिणाम वडा ही कष्टदायक होता है। जिसकी गलती से मित्रता खत्म होती है, उस हतभागे को आपद्‌काल मे कभी मित्र लाभ नही होता। मित्रता निभाने मे कभी शिथिलता नही दिखानी चाहिये, इसमे सकटाः पन्न होने की आशका रहती है।[3]

एक बार मित्रता खत्म होने पर पुन स्थापित करना अच्छा नहीं—एक बार राजा के अविश्वास का पात्र बन जाने पर उस नगर मे रहना अच्छा नही होता। जहाँ पहले सम्मान तथा वाद को किसी कारणवश अपना अपमान हुआ हो वहाँ रहने का शास्त्रज्ञ अनुमोदन नही करते। एक बार मैत्री टूटने पर उसे फिर नही जोडा जा सकता, अत उसे फिर से जोडने की चेष्टा न करना ही अच्छा है। स्नेह या प्रीति का निभाव केवल एक के करने से नही होता, दोनो के दिलो मे प्यार न हो तो मित्रता कैसे सम्भव हो सकती है ?[4]

ज्ञाति के प्रति व्यवहार—ज्ञाति तथा दूसरे सवधियो के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विपय पर 'पारिवारिक व्यवहार' नामक प्रवध मे कहा जा चुका है।

पुरोहित—हर चीज के पर्यवेक्षण के लिये एक पुरोहित को नियुक्त करना चाहिये। समस्त सभासदो की अपेक्षा पुरोहित का दायित्व अधिक होता है।

विद्वान, मन्त्रवित् व बहुश्रुत ब्राह्मण की नियुक्ति—पुरोहित के लक्षणो के सवध मे कहा गया है कि जो यावतीय अनिष्ट के शमन तथा इष्ट वर्द्धन मे समर्थ

---

१. चिरेण मित्र वध्नीयाच्चिरेण च कृत त्यजेत्।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति॥ शाति २६५।६९

२ यन्मित्र भीतवत् साध्यं यन्मित्रं भयसहितम्।
सुरक्षितव्य तत्कार्यं पाणि· सर्पमुखादिव॥ शान्ति १३८।१०८

३ कृत्वा हि पूर्वमित्राणि य पश्चान्नानुतिष्ठति।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मति ॥ शाति १३८।१२८
न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्त्तव्यो मित्ररक्षणे॥ शाति ८०।७

४ पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
न त धीरा· प्रशसन्ति सम्मानित विमानितम्॥ इत्यादि।
शान्ति १११।८५।८७

हो, जो विद्वान् मत्रवित एव बहुश्रुत हो, राजा की धर्म एव अर्थोन्नति कर सके वही पौरोहित्य के पद पर आसीन होने के योग्य है। षडगवेदनिरत, शुचि, सत्यवादी, धर्मात्मा, कृतात्मा, ब्राह्मण ही पुरोहित बनने का अधिकारी है। राज्य का सम्पूर्ण भार राजा पर होता है, जो राजा के कल्याण-अकल्याण का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले, वही पुरोहित है।[१]

ब्राह्मण व क्षत्रिय की सम्मिलित शक्ति से समृद्धि—राजा केवल दृष्ट भय का प्रतीकार कर सकता है, लेकिन पुरोहित की शक्ति असीम होती है, वह अदृष्ट व अनागत भय का प्रतिकार भी कर सकता है। मुकुन्दोपाख्यान मे कहा गया है कि जो राजा हर कार्य मे पुरोहित के आदेश का पालन करता है, वह सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने मे समर्थ होता है। तेजस्वी, तपस्वी ब्राह्मण की ब्रह्मशक्ति तथा क्षत्रिय का बाहुबल दोनो के इकट्ठे होने पर ही राज्य का कल्याण तथा समृद्धि सभव है, अन्यथा नही।[२] पुरोहित की अपरिहार्यता तथा उपयोगिता के सबध मे ये प्रकरण अनुसरण योग्य है।

पुरोहित के परामर्श से चलने पर उन्नति निश्चित—गधर्वराज चित्र-रथ ने पुरोहित की नियुक्ति के संबध मे अर्जुन को बहुत उपदेश दिये हैं। उसमे कहा गया है—ब्राह्मण को अग्रगामी बनाये बिना क्षत्रिय की विजय का कोई भरोसा नही होता। समस्त श्रेयकर्मों मे पुरोहित को अग्रस्थान देने पर सिद्धि सुनिश्चित् होती है। जो राजा धर्मविद्, वाग्मी, सुशील, शुचि, विद्वान ब्राह्मण को पुरोहित बनाता है, उसके राज्य की उन्नति के बारे मे कोई सदेह नही होता। जो पुरोहित के उपदेश को श्रद्धासहित सुनता है, उसके हाथो मे सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य स्वय ही आ जाता है। केवल शौर्य तथा साहस के बल पर राजा कोई बडा कार्य नही कर सकता। ब्राह्मणत्व के

---

१. य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्त्तयेत्।
स एव राज्ञा कर्त्तव्यो राजन् राजपुरोहितः॥ इत्यादि।
शांति ७२।१।शांति ७३।१
वेदे षडंगे निरताः शुचयः सत्यवादिनः।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः॥ आदि १७०।७५
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते। शांति ७४।१

२. एवं यो धर्मविद् राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्त्तते।
जयत्यविजितामूर्वीं यशश्च महदश्नुते॥ इत्यादि।
शांति ७४।२१,२२

साथ मिले विना क्षत्रशक्ति नितान्त निष्प्रभ होती है। ब्राह्मण परिचालित राज्य हर तरह से निरापद रहता है।[१]

बृहस्पति व वशिष्ठ आदि के पौरोहित्य का फल—गधर्वराज ने और भी कहा है कि "देवराज इन्द्र को पुरोहित बृहस्पति की सहायता से ही देवराज का पद मिला है। महर्षि वशिष्ठ की विद्या वुद्धि के बल से वहुत से प्राचीन राजाओ ने उन्नति की थी। अतएव हे पाण्डवश्रेष्ठ, तुम भी एक धार्मिक वेदज्ञ ब्राह्मण को पुरोहित बनाओ, राज्य की समृद्धि के लिये सर्वप्रथम पुरोहित को वरण करना चाहिये। धर्मकामार्थ-विद् पुरोहित की सहायता के बिना कोई राजा उन्नत नही हो सकता। गुणवान् जितेन्द्रिय विद्वान् तथा तेजस्वी ब्राह्मण को तुम अवश्य अपना सहयोगी बनाओगे, मैं यही आशा करता हूँ।"[२] बृहस्पति तथा वशिष्ठ के उदाहरणो से पता लगता है कि पुरोहित याजन के साथ-साथ गभीर मत्रणा का दायित्व भी लेते थे। नारदीय राजनीति मे वर्णित है—"विनयशील, बहुश्रुत, सत्कुलोत्पन्न शास्त्रज्ञ, ऋजु, मतिमान्, अनुसूय विप्र को पुरोहित बनाना चाहिये। पुरोहित को अग्निहोत्र आदि अनुष्ठानो का भी तत्त्वावधान करना चाहिये।[३]

पाडवो द्वारा धौम्य की नियुक्ति—गधर्वराज के निर्देशानसार पाडवो ने उत्कोचकतीर्थ स्थित धौम्य के आश्रम मे जाकर उनसे पौरोहित्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। प्रार्थना स्वीकृत होने पर, धौम्य को गुरु रूप मे पाकर पाडवो ने स्वय को कृतकृत्य समझा।[४]

---

१ यस्तु स्यात् कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृत ।
जयेन्नक्तञ्चरान् सर्वान् स पुरोहितधूर्गत.॥ इत्यादि।
आदि १७०।७३–८०

२. पुरोहितमिम प्राप्य वशिष्ठमृषिसत्तमम्। इत्यादि।
आदि १७४।११, १२

तस्माद्धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सित ।
ब्राह्मणो गुणवान कश्चित् पुरोधा प्रतिदृश्यताम्॥ इत्यादि।
आदि १७४।१३–१५

३. कच्चिद् विनयसम्पन्न कुलपुत्रो बहुश्रुतः।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहित ॥ इत्यादि। सभा ५।४१, ४२

४. तत उत्कोचक तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमन्तु ते।
त वव्रुः पाडवा धौम्य पौरोहित्याय भारत॥ इत्यादि।
आदि १८३।६।–१०

पांडवो के हितार्थ धौम्य के कार्य—पुरोहित धौम्य बारह वर्ष तक पाण्डवो के साथ वन मे रहे। अज्ञातवास के पूर्व पाण्डवो को नीतजनक उपदेश देकर, अग्निहोत्र के समस्त उपकरण साथ लेकर वे पाचाल चले गये।[1] विराट नगरी मे प्रवेश करने से पहले धौम्य ने राजवस्ती के सबध मे पाण्डवो को जो उपदेश दिये थे, वे बहुत मूल्यवान हैं। उन उपदेशो को सुनकर युधिष्ठिर ने कहा था, "हमे आपने अद्‌भुत शिक्षा दी है। माता कुन्ती तथा महामति विदुर के अलावा हमारा और कोई ऐसा शुभाकाक्षी नही है, जो इस तरह के उपदेश दे। हमारे कल्याण के लिये जो भी करना हो वही आप करिये"।[2] (धौम्य का उपदेश आगे विवृत होगा।)

राज्य परिचालन के विषय मे कोई विशेष उपदेश देते हुए धौम्य को कही नही देखा जाता, सम्भवत वे यजन आदि कर्मो मे ही अधिक समय व्यतीत करते थे।

सोमक राजा का पुरोहित—सोमकराजवश के भी एक मत्रविद् पवित्र पुरोहित का उल्लेख मिलता है। याजन के अलावा वे दूसरे कर्मो मे योग देते थे।

महत् कार्यो मे पुरोहित की विश्वस्तता—अर्जुन के लक्ष्यवेध करने के बाद लक्ष्यवेद्धा का यथार्थ परिचय जानने के लिये राजा द्रुपद ने पुरोहित को ही भेजा था। उद्योगपर्व के शुरू मे ही द्रुपद राजा के अपने पुरोहित को कुरुसभा मे भेजने का जिक्र हुआ है। पुरोहित को कौरवपाडवो मे सौहार्द्र स्थापित करने के उद्देश्य से भेजा गया था। बाद मे इसी उद्देश्य से कृष्ण भी कुरुसभा मे गये थे। इन उदाहरणो से पता चलता है कि महत् कार्यो के लिये पुरोहित पर ही राजा विश्वास करता था।[3] पुरोहित और राजा के सबध बहुत घनिष्ठ होते थे। आदान प्रदान रूप स्वार्थ की इसमे गध तक नही होती थी।

---

१. कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहित.।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत॥ इत्यादि।
सभा ८०।२२। विराट ४।५७

२. अनुशिष्टाः स्म भद्र ते नैतद्वक्तास्ति कश्चन्।
कुन्ती मृते मातर नो विदुरं वा महामतिम्॥ विराट ४।५२

३. पुरोहित. सोमकाना मत्रविद् ब्राह्मणः शुचिः।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिवत्तदा॥ आदि १८५।३१
पुरोहित प्रेषयामास तेषा विद्याम युष्मानिति भाषमानः।
आदि १९३।१४
ततः प्रज्ञावयोवृद्धं पाञ्चाल्यः स्वपुरोहितम्।
कुरुभ्यः प्रेषयामास युधिष्ठिरमते स्थितः॥ उद्योग ५।१८

पुरोहित स्वामी के अन्तर्गत—स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग व वल इन सातो के सम्मिलित रूप को ही राज्य कहते है।[१] इनमे स्वामी को तीन भागो मे विभक्त किया है—पुरोहित, ऋत्विक तथा नृपति, अर्थात्, नृपति, पुरोहित और ऋत्विक्, तीनो ही राज्य के स्वामी माने जाते थे। पुरोहित और ऋत्विक् का सम्मान तथा प्रतिपत्ति कितनी अधिक थी, इस विपय मे शायद उपर्युक्त उक्ति ही विशेष प्रामाणिक है।[२]

शान्तिक एव पौष्टिक कर्म के लिये ऋत्विक् की नियुक्ति—राजा तथा ऋत्विक् के सबध मे ज्ञातव्य विषयो का उल्लेख किया गया है। राजाओ के शातिक एव पौष्टिक कर्म करने के लिये ऋत्विक् की आवश्यकता होती थी।

वेद व मीमासाशास्त्र के पडित ऋत्विक् का वरण—ऋत्विक् वेद तथा मीमासा शास्त्र का पडित होना चाहिये। उसमे समदर्शिता, अनृशसता, सत्यनिष्ठा, तितिक्षा, दम, शम, प्रज्ञा, अहिसा और काम क्रोध आदि का अभाव, इन गुणो का होना आवश्यक है। इस तरह के तेजस्वी ब्राह्मण को ऋत्विक् पद देकर राजा को उसका यथोचित सम्मान करना चाहिये और ऋत्विक् राजा के कल्याण के उद्देश्य से सदा यागयज्ञ करते रहना चाहिये।[३]

ब्राह्मण का उपदेश ग्रहण—राजा को ब्राह्मण के आदेशानुसार चलना चाहिये। जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय तथा पत्थर से लोहे की उत्पत्ति हुई है। लोहे से पत्थर काटने, अग्नि के जल मे पडने तथा क्षत्रिय के ब्राह्मण-द्वेषी होने से विनाश अनिवार्य है। अतएव क्षत्रिय को ब्राह्मण के आदेशानुसार ही चलना चाहिये।[४] तपस्वी ब्राह्मण के हाथो मे राज्य देकर विनीत भाव से राजा इसके अनुकूल चले

---

१. आत्मामात्याश्च कोषाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि। इत्यादि।
शाति ६९।६४, ६५

२. स्वामिरूपा प्रकृतिः ऋत्विक् पुरोहित नृपभेदेन त्रिविधा। नीलकठ।
शान्ति ७९।१

३: प्रतिकर्म पराचार ऋत्विजा स्म विधीयते। इत्यादि।
शान्ति ७९।२-६

४. ब्रह्मणैव सन्नियन्तृ स्यात् क्षत्र हि ब्रह्मसम्भवम्। इत्यादि।
शाति ७८।२१-२३

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मत. क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषा सर्वत्रगं, तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति॥ शान्ति ५६।२४।
शाति ७८।२२।उद्योग १५।३३

तो कोई भय नही रहता। सशितव्रत तपस्वी, राजा का कल्याण करने मे समर्थ होता है।[1]

ब्राह्मण की बात न मानने से अवनति—साधु, विद्वान्, ब्राह्मण को समस्त महत्त्व-पूर्ण कार्यो मे प्रमाण मानना ही उचित है। प्रत्येक महत् कार्य के संबध मे उसे बता देना चाहिये। राजा यदि पूर्ण रूप से अधिष्ठत हो, तो भी बिना ब्राह्मण के परामर्श के उसका शीघ्र ही पतन हो जाता है। ब्राह्मण क्षत्रिय का परम सहायी होता है।[2]

मूर्ख ब्राह्मण को वरण नहीं करना चाहिये—मूर्ख कदाचार ब्राह्मण को ऋत्विक् का पद नही देना चाहिये। धर्मनिष्ठ शास्त्रज्ञ ब्राह्मण की चरण-वन्दना करके, उसी के आदेशानुसार हर कार्य करने का विधान है।[3]

सेनापति की नियुक्ति—सेनापति की नियुक्ति के सबध मे 'युद्ध' प्रबध मे बताया जायगा।

द्वारपाल तथा दुर्गरक्षक—द्वारपाल तथा दुर्ग नगर आदि के रक्षको की नियुक्ति से पहले उनके भी गुण अवगुण अच्छी तरह देख लेने का नियम है। सद्गुण सम्पन्न, वाग्मी, प्रियवद, यथोक्तवादी एव स्मृतिमान आदि गुण जिस व्यक्ति मे न हो, वह किसी किसी भी राजकार्य के उपयुक्त नही है।[4]

हिसाब-किताब का लेखक गणितज्ञ—आय-व्यय का हिसाब रखने के लिये गणितज्ञ को नियुक्त करना चाहिये।[5]

निदान आदि अष्टाग का अभिज्ञ चिकित्सक—राजनगरी मे अच्छे वैद्यो की

---

१. आत्मान सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च।
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा॥ इत्यादि।
शाति ८६।२६–३२

२. तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक्।
सर्वं श्रेष्ठं विशिष्टञ्च निवेद्यं तस्य धर्मतः॥ आदि।
शाति ७३।३१,३२। शांति १२०।८
ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः। इत्यादि।
शांति १४२।३६। शांति ७१।३,४

३. अनधीयानमृत्विजम्। उद्योग ३३।८३। शांति ५७।४४

४. एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहारोऽस्य रक्षिता।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः॥ शान्ति ८५।२९

५. कच्चिच्चायव्यये युक्ता सर्वे गणकलेखकाः। सभा ५।७२

नियुक्ति करके उन्हे उचित वेतन दिया जाता था। निदान पूर्वलिंग आदि अष्टाग आयुर्वेद के अभिज्ञो को ही राजवैद्य बनने का सौभाग्य प्राप्त होता था।[1]

स्थपति आदि—राज, बढई, शिल्पी आदि भी सम्मान सहित नगरी मे रहते थे।[2]

दूत की नियुक्ति—सधि-विग्रह आदि के विषय मे दूसरे राजा या किसी और के पास कुछ समाचार भेजने के उद्देश्य से दूत की नियुक्ति की जाती थी।

श्रीकृष्ण व पाचालराजा के पुरोहित का दौत्य—विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये कभी कभी घनिष्ठ सबधी या पुरोहित आदि बुद्धिमान व्यक्ति को भी दूत के रूप मे भेजा जाता था। उद्योगपर्व मे वर्णित श्रीकृष्ण तथा पाचाल नरेश के पुरोहित के दौत्य को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है।

दूत की योग्यता—केवल दौत्यकार्य के लिये नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति की योग्यता भी अमात्य आदि से कम नही होती थी। दूत निर्वाचन-प्रसग मे कहा गया है कि जिसने उच्चकुल मे जन्म लिया हो, जो कुलोचित कर्म मे निपुण हो, वाग्मी दक्ष, प्रियवादी, यथोक्तभाषी तथा स्मृतिमान हो, उसी को दौत्यकर्म के लिये नियुक्त करना चाहिये।[3] अन्यत्र कहा गया है कि अनहकारी, शक्तिशाली, क्षिप्रकारी, सदय, प्रियदर्शी, अन्यकर्त्तृक अभेद्य, स्वास्थ्यवान उदारवाक् व्यक्ति को दूत बनाना चाहिये।[4]

वार्त्तावह तथा निस्सृष्टार्थ—दूत दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो प्रेपक की बात ज्यो की त्यो कह देना ही अपना कर्त्तव्य समझता है और दूसरा वह जो दोनो पक्षो के हावभाव अच्छी तरह समझकर प्रेषक के हितार्थ जो उचित हो, वही कहे। दोनो मे दूसरी श्रेणी का दूत ही उत्तम होता है। उद्योगपर्व मे वर्णित दूतो मे श्रीकृष्ण, पाचाल पुरोहित एव सजय द्वितीय श्रेणी के दूत थे और दुर्योधन प्रेषित उलूक केवल वार्त्तावह थे।

दूत के प्रति व्यवहार—दूत यदि कोई अप्रिय बात भी कहे तो उसे सजा नही देनी चाहिये, क्योकि उसके मुख से तो प्रेषक की बात ही प्रकट होती है, वह तो

---

१ साम्वत्सरचिकित्सका। शान्ति ८६।१६
कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टागाया विशारदा। सभा ५।९०

२ महेष्वासा स्थपतय. ...। शाति ८६।१६

३. कुलीन कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्ष प्रियवद॰।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूत स्यात् सप्तभिर्गुणै.॥ शाति ८५।२८

४. अस्तब्धमक्लीवमदीर्घसूत्रम्। इत्यादि। उद्योग ३७।२७

केवल अनुभाषक होता है। दूत से कभी कटुवचन नही कहने चाहिये।[1] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है, दूत की कभी हत्या नही करनी चाहिये, दूत तो मात्र यथोक्तवादी होता है, उसका कठोर या अप्रिय भाषण तो प्रेषक के ही वचन होते हैं। दूत का वध करने से पितरो को ब्रह्महत्या का पाप लगाता है और हन्ता को भी नरकगामी बनना पडता है।[2]

अत.पुररक्षक वृद्ध---अन्त पुर की रक्षा के लिये वृद्ध पुरुषो को रक्खा जाता था। युवा या प्रौढ का वहॉ कोई स्थान नही था।[3]

विशेष कार्य के लिये बुद्धिमान व्यक्ति की नियुक्ति---दौत्यकर्म के अलावा अन्वेषण आदि विशिष्ट कार्यो के लिये बुद्धिमान व्यक्तियो को नियुक्त किया जाता था।[4] न्यायविभाग, करसग्रह आदि के लिये जिन कर्मचारियो की नियुक्ति होती थी, उनके विषय मे आगे कहा जायगा। स्वामी, अमात्य, सुहृद के रूप मे जिन व्यक्तियो की राजा को आवश्यकता होती थी, उनका उल्लेख किया जाता है।

हर कार्य के लिये बुद्धिमान व निरलस व्यक्ति की नियुक्ति---हर कर्मचारी की नियुक्ति करते वक्त राजा को कुछ साधारण बातो का ख्याल रखना पडता था। राजकार्य-निर्वाह के निमित्त जितने लोगो की आवश्यकता होती थी, उन सबका बुद्धिमान, चतुर एव निरलस होना जरूरी था। जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य हो, उसे वही कार्य देने का विधान था।

योग्यतानुसार नियुक्ति---अनुकम्पावश ऋषि अपने आश्रम के कुत्ते को शरम बनाकर किस तरह विपत्ति मे पड गये थे तथा बाद को क्यो उन्होने फिर से उसे कुत्ता बना दिया था, यह उपख्यान ऋषिसवाद मे वर्णित हुआ है। इसी प्रसग मे राजा को उपदेश दिया गया है कि योग्यता समझे बिना किसी को नियक्त नही करना चाहिये। जिसका जो स्थान हो उसे वही रखना चाहिये। जो राजा भृत्य को उसके अनुरूप कार्य देता है, उसका भविष्य बहुत उज्वल होता है। मूर्ख, क्षद्र, अशिक्षित, असयमी व्यक्ति को किसी भी कार्य के लिये नियुक्त नही करना चाहिये। सिह भी

---

१. उलूकश्च न ते वाच्यः परुषं पुरुषोत्तम।
दूता. किमपराध्यन्ते यथोक्तस्यानुभाषिणः॥ उद्योग १६१।३७

२. न तु हन्यान्नृपो जातु दूत कस्याञ्चिदापदि। इत्यादि।
शांति ८५।२६, २७

३. स्थविरैर्वृतम्। वन ५६।२५

४ भर्त्तुरन्वेषणार्थन्तु पश्येय ब्राह्मणानहम्।
यद्येवमिह वत्स्यामि त्वत्सकाशे न सशय.॥ वन ६५।७०

यदि कुत्तों द्वारा घिरा रहे तो उसका विक्रम धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त हो जाता है। अतएव कुलीन, प्राज्ञ व बहुश्रुत सभासदो की नियुक्ति करके राजा को राज्य का परिचालन करना चाहिये।[1]

अल्पज्ञ की नियुक्ति से समृद्धि का ह्रास—जो व्यक्ति कार्यनिपुण तथा अनुरक्त हो उसे महत्कार्य का दायित्व देना चाहिये। जितेन्द्रिय, निर्लोभी, चतुर व्यक्तियो को अर्थविभाग मे नियुक्त करना चाहिये। मूढ, इन्द्रियासक्त, अनार्य-चरित, शठ-वचक, हिंस्र, दुर्बुद्धि, मद्यसेवी, द्यूतरत, अतिस्त्रैण, मृगयाव्यसनी तथा अल्पज्ञ व्यक्ति को महत्कार्य सौंपने से राजा शीघ्र ही समृद्धिहीन हो जाता है।[2]

नृपति स्वय ही नियुक्ति करे—कर्मचारियो की नियुक्ति राजा को स्वय ही करनी चाहिये, दूसरे लोगो को यह कार्य नही सौंपना चाहिये।[3]

राजा को ही वेतन तय करना चाहिये—किसे कितना वेतन मिलना चाहिये, यह राजा को ही तय करना पडता था। प्रार्थी भी राजा के समक्ष स्वय उपस्थित होकर आवेदन करते थे।[4]

विराटपुरी मे पाडवो की कर्मप्रार्थना—छद्मवेशी पाडवो ने विराट राजा के समक्ष उपस्थित होकर ही काम देने के लिये अनुरोध किया था, तभी प्रत्येक को योग्यतानुसार कार्य दिया गया था। विशेषरूप से वही यह विधान देखने मे आता है।[5]

युधिष्ठिर द्वारा कर्मचारियो की नियुक्ति—कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद राजसिंहासन मिलने पर युधिष्ठिर ने स्वय ही विदुर आदि की नियुक्ति की थी।[6]

---

१ अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो च· प्रयच्छति।
स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुपाश्नुते॥ शाति ११९।८–१३
भृत्या ये यत्र स्थाप्या. स्युस्तत्र स्थाप्या. सुरक्षिता.। शाति ११८।३
मृदुशीलं तथा प्राज्ञ शूर चार्थविधानवित्।
स्वकर्मणि नियुञ्जीत ये चान्ये च बलाधिका ॥ शाति १२०।२३

२ शक्तञ्चैवानुरक्तञ्च युञ्ज्यान्महति कर्मणि। इत्यादि। शाति ९३।१४, १५
मूढमैन्द्रियक लुब्धमनार्य चरित शठम्। इत्यादि। शाति ९३।१६, १७

३. अश्वाध्यक्षोऽसि .... । वन ६७।६
किं वापि शिल्प तव विद्यते कृतम्। विराट् १०।८

४ . ...वेतन ते शत शता.। वन ६७।६
. .वदस्व किं चापि तवेह वेतनम्। विराट १०।८

५. विराट ५वें अध्याय से १२वें अध्याय तक।

६ शान्ति ४१वां अध्याय।

यथासमय वेतन देना—कर्मचारियो को यथासमय वेतन मिलता है कि नही इस ओर भी राजा सतर्क दृष्टि रखता था। यथासमय वेतन न मिलने से कर्मचारी असन्तुष्ट रहते हैं, वे प्रसन्नता से कार्य तो कर ही नही पाते, राजा की अनिष्ट-कामना भी करते है। अतएव कर्मचारियो को यथासमय वेतन देकर सतुष्ट रखना ही उचित है।[1]

प्रतिकूल आचरण करने वाले कर्मचारियो का परित्याग—जो कर्मचारी अशिष्ट हो, श्रद्धा सहित आदेश का पालन न करता हो, काम से जी चुराता हो, प्रज्ञाभिमानी हो तथा प्रतिकूल बात कहता हो, उसे शीघ्र ही पदच्युत कर देना चाहिये। राजा के परोपकारी, सर्वभूतहितेच्छु एव सर्व-गुणविशिष्ट होते हुए भी जो भृत्य उसके विरुद्ध विद्रोह करे उस पापात्मा का वर्जन करना ही उचित है।[2]

अनुगत के सौहृद्य से समृद्धि—जो मन वचन से राजा के अभ्युदय की आकाक्षा करते हो उनका कभी त्याग नही करना चाहिये। जो राजा अपनी व आज्ञाकारी सभासदो की रक्षा करता है, उसकी प्रजा दिन प्रतिदिन उन्नति करती है और वह भी ऐश्वर्य भोग करता है।[3]

कार्य का पर्यवेक्षण स्वयं करना उचित—वीणा आदि वाद्ययन्त्रो के तार जिस तरह विभिन्न स्वरो का अनुवर्त्तन करते हैं उसी प्रकार राजा को भी कर्मचारियो की गतिविधियो पर नजर रखनी चाहिये।[4]

कर्मचारियो के साथ राजा का व्यवहार—अमात्य, ऋत्विक्, पुरोहित आदि

---

१. देयं काले च दापयेत्। शाति ५७।१२
कच्चिद्बलस्य भक्तञ्च वेतनञ्च यथोचितम्।
संप्राप्यकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि।। इत्यादि।
सभा ५।४८, ४९

२. वाक्यन्तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः।
इत्यादि। उद्योग ३७।२६
अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्त्तारं प्रियवादिनम्।
अभिद्रुह्यति पापात्मा न तस्माद्विश्वसेज्जनात्।। शांति ९३।३८

३. भक्त भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः। शान्ति ९३।१३
रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान् यश्चानुरक्षति।। इत्यादि। शांति ९३।१८

४. अथ दृष्ट्वा नियुक्तानि स्वानुरूपेषु कर्मसु।
सर्वान्स्ताननुवर्त्तेत स्वरास्तन्त्रीरिवायता।। शांति १२०।२४

व्यक्तियो के साथ राजा के तथा राजा के साथ उनके व्यवहार के सबध मे पहले ही बताया जा चुका है। अब यहाँ साधारण कर्मचारियो के साथ राजा के तथा राजा के साथ उनके व्यवहार के बारे मे बताया जाता है। कर्मशील भक्त भृत्यो के साथ सश्रद्ध एव सदय व्यवहार करने का जिक्र बहुत जगह आया है। किन्तु भीष्म के उपदेश मे कुछ विशिष्ट व्यवहारो का उल्लेख हुआ है।

मर्यादा-लघन से राज्य की क्षति—भृत्यो के साथ समय-समय पर अतरगता सहित हास-परिहास करना उचित नही है। उपजीवी भृत्यो के साथ रहने से वे यथोचित सम्मान करने मे कुठित होते है तथा अपनी मर्यादा का उल्लघन करके वचनो द्वारा स्वामी का अनादर करते हैं। किसी कार्य का आदेश देने पर सशय प्रकट करके उपेक्षा दिखाते हैं। गोपनीय बातें भी प्रकट कर देते हैं। अप्रार्थनीय द्रव्य की प्रार्थना करते हैं और प्रगल्भता वश राजा के उद्देश्य से आया खाद्य भी स्वय ही उदरस्थ कर जाते है। स्वामी पर क्रोध करते हैं तथा उसकी अपेक्षा अपने को अधिक बुद्धिमान साबित करने की चेष्टा करते हैं। प्रजा से रिश्वत लेकर तथा और दूसरे कुकर्मो द्वारा राजतन्त्र की बदनामी कराते है। झूठे शासनपत्र आदि बना कर अधिकृत देशो को अन्दर से खोखला कर देते हैं। महिला नौकरानियो से मिलकर अन्त पुर मे प्रवेश करने का सुयोग ढूँढते रहते हैं। साज पोशाक मे भी राजा का अनुकरण करते हैं। इतने निर्लज्ज बन जाते हैं कि राजा के सामने ही थूकने, जम्हाई लेने आदि मे भी नही सकुचाते। राजा यदि बहुत ही मृदुस्वभावी तथा परिहासप्रिय हो तो उसके रथ, हाथी, घोडे आदि वाहनो का व्यवहार भी अपने लिये बिना हिचक के करते है। "हे राजन्, आप यह काम नही कर सकेंगे", "यह आपकी दुरभिसधि है", आदि अशिष्ट वचनो द्वारा सब के सामने द्विधारहित होकर अपमान कर देते हैं। राजा यदि क्रोधावेश मे हो तो वे हँसते हैं, राजा के प्रसाद को भी ग्रहण नही करते। उसके आदेश का पालन नही करते। अपने अधिकारो की सीमा का उल्लघन करके अन्याय द्वारा राज्य को आतमसात करने की चेष्टा करते हैं, अपनी वृद्धि से सन्तुष्ट नही रहते। और तो और सूत्रबद्ध पक्षियो की तरह राजा को हाथ की मुट्ठी मे पाकर उससे खेलने लगते है। "राजा तो हमारे हाथ का खिलौना है" इस तरह के वाक्यो का प्रयोग करने मे भी वे कुण्ठित नही होते। अतएव भूपति को कभी अपनी मर्यादा नही छोडनी चाहिये।[1]

सम्मानित व्यक्ति का अपमान अमगलदायक—स्वय अच्छी तरह जाँच पडताल किये बिना किसी भी कर्मचारी को सजा नही देनी चाहिये। किसी की सज्जनता के

---

१. परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदताम्वर। इत्यादि। शाति ५६।४८–६१

अपनी स्वार्थसिद्धि मे बाधक बनने पर दुष्ट कर्मचारी उसके विरुद्ध राजा के कान भरते है। उनकी बातो पर विश्वास करके राजा यदि कोई फैसला कर दे तो उसका परिणाम बहुत खराब होता है। सच्चा हितैषी यदि पहले सम्मानित हो और बाद को झूठ मूठ उसका असम्मान किया जाय तो वह इस अपमान को सह नही पाता। अत राजा को खूब सोच समझ कर ही कोई निर्णय लेना चाहिये। राजधर्म प्रकरण के 'व्याघ्रगोमायु-सवाद' मे उपाख्यान के द्वारा यह उपदेश दिया गया है।[1]

राजा के प्रति भृत्यो का व्यवहार—राजा के प्रति भी कर्मचारियो के कुछ विशिष्ट कर्त्तव्य होते है। राज्य द्वारा सम्मानित या मित्रस्वरूप गृहीत होने पर भी उन्हे स्वामी-भृत्य के सबधो को नही भूलना चाहिये। सर्वदा अपनी मर्यादा तथा अधिकार का ख्याल रखना चाहिये।

पुरोहित धौम्य का उपदेश—राज्यसभा मे रहते समय जिन बातो का ख्याल रखना चाहिये, उन्ही के बारे मे पुरोहित धौम्य ने पाण्डवो तथा द्रौपदी को अज्ञात-वास से पहले बताया था। वह पूरा अध्याय बहुत ही उपादेय है। "प्रतिहारियो की सम्मति के बिना कभी राजसभा मे प्र ेश मत करना। जो आसन दूसरे के लिये हो, उसपर मत बैठना। दूसरे के यान, वाहन, पर्यंक व आसन पर बिना अनुमति लिये नही बैठना चाहिये। द्यूतस्थान, वेश्यालय या मदिरालय मे कभी मत जाना। इस तरह के व्यवहार से राजा के गुप्तचर चरित्र पर सदेह करके राजा को खबर दे देते हैं। राजसभा मे बिना किसी के पूछे कभी मत बोलना, यदि राजा कोई प्रश्न पूछे तो स्थिरचित्त होकर शिष्टता के साथ केवल प्रश्न का उत्तर देना। राजा की खुशा-मद करना भी अनुचित है। खुशामदप्रिय व्यक्तियो से राजा मन ही मन घृणा करता है। रानी के साथ बातचीत करने की चेष्टा करना बहुत ही बुरा है, अन्त पुर के रक्षको के साथ बातचीत करने से भी राजा के मन मे सन्देह उत्पन्न हो सकता है। राजद्वेषी व्यक्ति से सदा दूर रहना चाहिये। निपुणता सहित हिताहित की विवेचना करके जो व्यक्ति राजसभा मे रहता है, उसे कोई डर नही होता। राजा जब तक बैठने के लिये न कहे, आसन ग्रहण नही करना चाहिये। अधिकारो का उल्लघन करके जो राजसन्निधान की कामना करता है, वह भले ही राजा का पुत्र या भाई हो, आदृत नही होता। बहुत निकट जाने से राजा अग्नि की तरह दहन कर देता है और जरा भी अवज्ञा होने से देव की तरह सर्वस्व हरण कर लेता है। अतएव उसे सतुष्ट रखना दक्षता का विषय है। राजा के सामने सदा तथ्य एव प्रिय वचन बोलना, अप्रिय, अहितकारी बात कभी मुख पर मत लाना। लेकिन हितकारी बात

---

१. शाति १११ वाँ अध्याय।

यदि अप्रिय भी हो तो कह देना ही उचित है। "मैं राजा को बहुत प्रिय हूँ"—ऐसा कभी नही सोचना चाहिये, इसके विपरीत 'मैं राजा का प्रिय नही हूँ' यह सोचकर ही राजा की सेवा करना उचित है। राजा के बाँयी या दाँयी तरफ दूसरे आसन पर बैठना चाहिये, पीठ पीछे या मुंह के सामने नही बैठना चाहिये। राजा यदि कुछ झूठ भी कहे तो दूसरे पर यह बात प्रकट नही करनी चाहिये। राजप्रसाद मिलने या ऐश्वर्यलाभ होने से अति हर्षित होना अच्छा नही होता, इससे चपलता प्रकट होती है। राजा के सामने ओठ, भुजा या जघा पर हाथ नही रखना चाहिये। जम्हाई लेने, थूकने आदि के सबध मे भी खूब सावधान रहना चाहिये। राजा का कोई आचरण यदि हास्यजनक हो, तो भी अट्टहास करना अनुचित है। किसी भी विषय मे राजा के साथ प्रतियोगिता नही करनी चाहिये। 'राजा की अपेक्षा मैं अधिक बुद्धिमान हूँ' ऐसा भाव कभी प्रकट नही करना चाहिये। निरलस वीर पुरुष की तरह सदा अपने कार्य के प्रति सजग रहना। कार्य करने के लिये सदा इस तरह प्रस्तुत रहना कि राजा को आदेश देने की आवश्यकता न पडे। धनधान्य आदि की रक्षा या शत्रु-जय, किसी भी कार्य का आदेश मिलने पर कुठित मत होना। तत्क्षण साहस व भरोसे के साथ कार्य करने के लिये चल पडना ही उचित है। प्रवास मे रहते वक्त स्त्री पुत्र आदि को बार-बार याद नही करना चाहिये। रिश्वत आदि कभी नही लेनी चाहिये। राजा खुश होकर यान, वाहन, वस्त्र या कुछ और दे तो उसका अनादर मत करना। जो राजसभा मे रहते समय इन सब बातो की ओर सतर्क दृष्टि रखते हैं, वे सुख सम्मान से समय बिताते हुए राजा के विशेष कृपापात्रो मे गिने जाते हैं।"[1]

विदुर का उपदेश—महामति विदुर के नीतिवचनो मे कहा गया है कि जो व्यक्ति स्वामी का अभिप्राय समझ कर सतर्कता के साथ कार्य करते वही राजप्रसाद पाकर सुख से कालयापन करते हैं।[2]

बाहुबल आदि पाँच प्रकार के बल—बाहुबल, अमात्यबल, धनबल, अभिजात बल (पितापितामह के श्रम से प्राप्त सामाजिक प्रसिद्धि) तथा प्रज्ञाबल, इन पाँच प्रकार के बलो मे बाहुबल सर्वापेक्षा निम्न एव प्रज्ञाबल श्रेष्ठ है।[3]

---

१. दृष्टद्वारो लभेद द्रष्टु रहस्येषु न विश्वसेत्। इत्यादि।

विराट ४।१३-५०

२. अभिप्राय यो विदित्वा तु भर्त्तु. सर्वाणि कार्याणि करोत्यन्द्री।

इत्यादि। उद्योग ३७।२५

३. बल पचविध नित्य पुरुषाणा निबोध मे। इत्यादि।

उद्योग ३७।५२-५५

कोषबल का स्थान तीसरा—पाँचो बलो मे कोषबल का स्थान तीसरा है। ससार मे धन के बिना एक दिन भी काम नही चलता। निर्धन व्यक्ति का कोई आदर नही करता। कोई भी लौकिक कार्य धन के बिना सम्पन्न नही होता।

समाज मे धन का विशिष्ट स्थान—राजा धन के बिना डग भी आगे नही बढ सकता, इसीलिये पचबलो मे धन को अन्यतम बताया है और सप्तप्रकृतियो मे उसे विशिष्ट स्थान दिया है। धन का महात्म्य सर्वत्र वर्णित हुआ है।[1]

राजकोष प्रजा के कल्याणार्थ—यह प्रथम ही जान लेना उचित है कि राजकोष यद्यपि राजा के अधीन होता है, किन्तु अपने आमोद-प्रमोद या रागरग आदि पर धन खर्च करने का अधिकार राजा को नही दिया गया है। राजसूययज्ञ, अश्वमेधयज्ञ आदि प्रजा के कल्याणार्थ किये जाते थे। इसी कारण जब भी राजकोष का धन खर्च होता था, प्रजा उपकृत होती थी। धन की महत्ता प्राचीन राजाओ का आदर्श नही था।

अर्थ का फल भगवान को समर्पित—महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ मे श्रेष्ठ अर्घ्य के प्रापक भगवान श्रीकृष्ण थे। राजा अपने अर्थ का फल भगवान को समर्पित करते थे। गीता मे राजा को भगवान की विभूति बताया है।[2] राजा भगवान का प्रतिनिधि होता है। उसे राजकोष की रक्षा जनसाधारण के लिये करनी पडती है।

अर्थ सग्रह का आदर्श—राजा जितेन्द्रिय बने, यह बात बार-बार कही गई है। राजकोष का धन राजा के भोग के लिये नही होता। राज्य के मगल के निमित्त कोष की निरन्तर वृद्धि करनी पडती है। अर्थसग्रह के उपाय तथा व्ययपद्धति के बारे मे इसी प्रबध मे बताया जायगा।

न्यायपथ द्वारा अर्थसंग्रह—वानप्रस्थ लेने के बाद धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को जो उपदेश दिये थे, उनमे एक बात यह भी कही थी—"कोष की वृद्धि सदा न्यायतः ही करना। महाराज, अन्याय के द्वारा अर्थ वृद्धि की चेष्टा मत करना"।[3]

न्याय तथा अन्याय क्या है? यह भीष्म के उपदेश से अच्छी तरह जाना जा सकता

---

१. धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्। इत्यादि।

उद्योग ७२।२३–२७

दारिद्र्यमिति यत् प्रोक्त पर्यायमरणं हि तत्। उद्योग १३४।१३

विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च। शांति ८।१५

२. नराणाञ्च नराधिपम्। भीष्म ३४।२७

३. कोशस्य निचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा।

विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः। इत्यादि। आश्र ५।३६, ३७

है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ किसी विशेष सार्थकता से ही 'महाराज' शब्द प्रयुक्त हुआ है। युधिष्ठिर को सावधान करते हुए धृतराष्ट्र ने इस विशेषण का प्रयोग करके मानो उन्हे अपने महत्वपूर्ण दायित्व एव धर्मपालन का स्मरण कराया है। 'दूसरे साधारण राजाओ की तरह व्यवहार करना तुम्हे शोभा नही देगा, क्योकि तुम महाराज हो'। युधिष्ठिर ने भी कभी धृतराष्ट्र के आदेश का उल्लघन नही किया।

प्रजा की सामर्थ्य के अनुसार कर-निर्धारण—भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है, "राजा को सदा प्रजा की कल्याणकामना करनी चाहिये, प्रजा के कल्याण के उद्देश्य से ही उससे कर लेना चाहिये। देश, काल व पात्र की विवेचनापूर्वक अपना व प्रजा का दोनो का मगल हो तथा पाल्यपालक सबधो की क्षति न हो, इस प्रकार अर्थवृद्धि की चेष्टा करनी चाहिये। भ्रमर जिस प्रकार पौधे को बिना कोई क्षति पहुँचाये उसके फूल से मधु ले लेता है, उसी प्रकार तुम भी प्रजा को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाए उत्थित अश से कोष को समृद्ध करना। गाय को दुहते समय जिस प्रकार बछडे का ख्याल रखना पडता है, उसी प्रकार कर लेते समय यह अच्छी तरह देख लेना चाहिये कि अधिक भार से कही प्रजा दब न जाय। शेरनी जिस तरह अपने बच्चे को दाँतो से मुँह मे दबाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है, लेकिन तो भी बच्चे को कोई कष्ट नही होता, उसी तरह तुम प्रजा को बिना कष्ट पहुँचाये कोष की उन्नति के लिये अर्थसग्रह करना। एक ऐसा चूहा होता है जो सोते हुए आदमी के तलवे का माँस धीरे से काट कर ले जाता है, लेकिन निद्रित व्यक्ति को पता भी नही चलता तुम भी उसी तरह प्रजा से कर लेकर अपना भडार भरना। जो व्यक्ति समृद्धशाली हो उनसे हर वर्ष पहले वर्ष की अपेक्षा कुछ अधिक कर लेना। उन्हे इससे कोई कष्ट नही होगा। देश, काल का विचार करके ही उचित कर निर्धारित करना। स्थिरचित्त होकर दयाभाव रखते हुए निपुणता के साथ ही कर निश्चित करना चाहिये। असगत अपायो से किसी को वश मे नही किया जा सकता। किसी विपत्ति मे पडे बिना प्रजा से कुछ भी मत माँगना"।[१]

षष्ठाश कर रूप मे लेना—उत्पन्न वस्तु का छठवाँ हिस्सा प्रजा को कर रूप मे देना पडता था। कृषक, शिल्पी, वणिक या दूसरे किसी प्रकार की जीविकावाले वार्षिक आय का छठवाँ हिस्सा राजा को देते थे।[२]

प्राचीन काल मे दशमाश ग्रहण की पद्धति—सुलभा-जनक सवाद मे कहा गया

---

१. शाति ८८ वाँ अध्याय। शान्ति ८७।२०–२२

२. बलिषड्भागहारिणम्। इत्यादि। आदि २१३।९। शाति २४।१२। शाति ६९।२५। शाति १३९।१००। शाति ७१।१०

है कि उत्साही राजा को आय का दसवाँ हिस्सा कर रूप मे लेना चाहिये।[1] अति प्राचीन काल मे शायद यही नियम था, लेकिन महाभारत के काल मे आय का षष्ठाश कर रूप मे लेने के अनेको प्रमाण मिलते हैं।

अश्व, वस्त्र आदि लेना—अश्व, वस्त्र मणिमाणिक्य, धान्य आदि वस्तुएँ कर स्वरूप ली जाती थी। अर्थात् जिस जगह जो चीज पैदा होती थी तथा जिस परिवार मे जिस व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन होता था, उससे वही कर स्वरूप लिया जाता था।[2]

राजा प्रजा के बीच कोई समझौता नहीं होता था—इस सबध मे हमे यह ख्याल रखना चाहिये कि उस काल मे राजा और प्रजा के बीच ऐसा कोई समझौता नही होता था कि कर अदायगी के बदले राजा राज्य की रक्षा करेगा। धर्मबुद्धि से ही राजा प्रजा का पालन करता था। प्रजा भी धर्म समझ कर ही राजा को कर देती थी। हर श्रेणी की प्रजा से कर लेने की रीति नही थी। दरिद्र, अनाथ, विधवा, विपन्न तथा तपस्वी स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण से कर नही लिया जाता था।

अधिक कर लेना निन्दनीय—अत्यधिक कर लेने की बार-बार निन्दा की गई है। कहा है, जिसकी प्रजा कर भार से पीडित तथा राज्यशासन प्रणाली से सदा उद्विग्न रहती है, उस राजा का शीघ्र ही पतन हो जाता है। जिसकी प्रजा सरोवर के प्रस्फुटित पद्मो की तरह सदा प्रफुल्ल रहती है, वह नृपति नाना प्रकार के ऐहिक ऐश्वर्यों का भोग करके परलोक मे स्वर्गलाभ करता है।[3]

वृत्ति रक्षण—बणिको, शिल्पियो आदि से उनकी आय के अनुसार ही कर लिया जाता था। कर-भार से प्रजा अधिक न दब जाय इसका ख्याल रखने के लिये राजा को बार बार सतर्क किया गया है। धनधान्य तथा कृषि आदि की अवस्था पर अच्छी तरह सोच विचार कर ही कर निश्चित करना उचित है। अतिरिक्त कर के दबाव से यदि जातीय व्यवसाय मे कुछ लाभ न हो तो कोई भी उस

---

१. यश्च राजा महोत्साहः क्षत्रधर्मरतो भवेत्।
स तुष्येद्दशभागेन ततस्त्वन्यो दशावरैः॥ शान्ति ३२०।१५८

२. ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम्॥ इत्यादि।
सभा २८।१६-१९

३. नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीड़िताः।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम्॥ इत्यादि।
शांति १३९।१०९, ११०

व्यवसाय की उन्नति की चेष्टा नही करता। अतएव यह ख्याल रखना चाहिये कि कर निर्धारण की दुर्व्यवस्था से कही जातीय वृत्ति खत्म न हो जाय।[1]

अर्थ-क्षुधित राजा अश्रद्धेय—अति तृष्णा से कही आत्ममूल राज्य तथा पर-मूल कृषि आदि कर्मों का समूल उच्छेद न हो जाय, कर निश्चित करते समय इस ओर लक्ष्य रखना राजा का कर्त्तव्य है। राजा यदि लोभी हो जाय तो राज्य नही चल सकता राजा की अर्थक्षुधा प्रवल होने पर प्रजा उसका विश्वाम ही नही कर पाती, श्रद्धा तो दूर की चीज है।[2]

प्रजा का जीवन निर्वाह करने के लिए राजा बाध्य—शास्त्रानुसार अपराधी से दड स्वरूप प्राप्त धन, कर मे मिला द्रव्य एव मार्ग मे सुरक्षित वणिको द्वारा प्रदत्त कर राजा को राजकोष मे जमा कर देना चाहिये। इसी प्रकार धान्य आदि के षष्ठाश कर द्वारा राज्य की रक्षा करनी चाहिये. किन्तु पैदावार का षष्ठाश करस्वरूप देने के बाद यदि अवशिष्ट धान्य आदि से किसी का साल भर तक जीवननिर्वाह न हो सके, तो राजा उसका वार्षिक खर्च पूरा करने के लिये धर्मत बाध्य है। इस सबध मे राजा को विशेष रूप से उपदेश दिया गया है।[3]

अति लोभी राजा का विनाश अवश्य-भावी—लोभवश शास्त्रविरुद्ध तरीको से कर वसूल करने पर प्रजा को कष्ट तो होता ही है, लेकिन अपने विनाश का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है। अधिक दूध की इच्छा से गाय के थनो मे छेद करने पर जिस तरह अतिलोभी के भाग्य मे कुछ नही रह जाता, इसी तरह अधिक धन की तृष्णा से प्रजा का शोषण करने पर अजितेन्द्रिय अधम राजा का विनाश शीघ्र ही हो जाता है। पयस्विनी गाय की यथोचित सेवा करने से जैसे पुष्टिकारक स्वादिष्ट दूध मिलता है, वैसे ही विना किसी लोभ के प्रजा की सेवा करने से प्रसन्न प्रजा के सश्रद्ध दान

---

१ यथा यथा न सीदेरस्तथा कुर्यान्महीपति । शाति ८७।१६
फल कर्म च सप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत्। इत्यादि।
शाति ८७।१६, १७

२. सवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेया सतत कराः ।
नोच्छिद्यादात्मनो मूलं परेषा चापि तृष्णया॥ इत्यादि।
शाति ८७।१८–२०

३. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम्॥ इत्यादि।
शाति ७१।१०,११

द्वारा राजकोष स्वयं ही भरा रहता है और राजा के सुख सौभाग्य मे भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।[1]

कोशसंचय की न्यायपरता से ऐश्वर्यलाभ—प्रजा यदि सुरक्षित रहे और कोष की वृद्धि के लिये किसी प्रकार के अन्याय को प्रश्रय न दिया जाय, तो यह वसुधरा राजा के लिये मातृवत् अतुल ऐश्वर्य विधायिनी बन जाती है।[2]

मालाकार सदृश आचरण से समृद्धि—भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है—"महाराज, तुम सदा माली की तरह व्यवहार करना, आगारिक की तरह कभी व्यवहार मत करना। आगारिक अगारो के लिये वन जगल आदि को जला डालता है और माली वन को ही उद्यान मे परिणत करके उसकी शोभा से स्वय भी मुग्ध होता है, दूसरो को भी मुग्ध करता है और सुगन्धित कुसुमो का चयन करके खूबसूरत माला बनाता है। तुम भी माली के आचरण का अनुकरण करके राज्य के कल्याण मे आत्मनियोग करो, सुरक्षित प्रजा की श्रद्धा व कृतज्ञता का आनन्द ही तुम्हारे लिये सुगधित माला की तरह लोभनीय हो।"[3]

दरिद्र से कर लेना अनुचित—अपने आश्रित दरिद्र नगरवासियो पर राजा को सामर्थ्यानुसार कृपा करनी चाहिये। कर वसूली मे इस श्रेणी के लोगो को छोड़ देना चाहिये।[4]

धनी वैश्य के कर से व्ययनिर्वाह—प्राकार-निर्माण, भृत्यपोषण, युद्ध तथा दूसरे राजकार्यो मे होने वाले व्यय के लिये राजा समर्थ वैश्यो पर कर लगाये। आरण्यक ग्वालो की देखभाल न की जाय तो वे उन्नति नही कर पाते। अत' उनके प्रति राजा को सदय व्यवहार करना चाहिये। वैश्य, कृषि, गोपालन एव वाणिज्य के

---

१. अर्थमूलोऽपि हिंसा च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः॥ इत्यादि।
शांति ७१।१५-१८

२. दोग्ध्री धान्यं हिरण्यंच मही राज्ञा सुरक्षिता।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः॥ शांति ७१।१९

३. मालाकारोपमो राजन् भव मांगारिकोपमः।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन्॥ शान्ति ७१।२०

४. पौरजानपदान् सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनानपि॥ शांति ८७।२४

द्वारा राज्य का वहुत कल्याण करते हैं। इसलिये कर निर्धारण करते वक्त उन पर सदय भाव रखना चाहिये।[१]

रक्षाविधान के बाद कर निर्धारण—वृक्ष की विना कोई क्षति किये जिस प्रकार ताड, खजूर आदि के वृक्षो से रस सग्रह किया जा सकता है, उसी प्रकार प्रजा के आय-व्यय, सामर्थ्य आदि पर अच्छी तरह सोचकर उनका सपरिवार निर्वाह हो सके, यह देखने के वाद कर वसूल करना चाहिये।[२]

कर के लिये प्रजा का उत्पीडन करना पाप—प्रजा पर स्नेह होने के कारण, उसी के कल्याण के निमित्त अर्थ लिया जाता है। प्रजा का उत्पीडन करके विजली की तरह उसपर गिरना राजा का कर्म नही है। अधिक धन के लोभ से कभी भी शास्त्रविरुद्ध उपायो द्वारा धन सग्रह नही करना चाहिये। जो शास्त्रानुशासन न मानकर स्वेच्छाचार को प्रश्रय देते है, उनका धर्म व अर्थ चचल होता है।[३]

धर्म के साथ अर्थ शास्त्र के सामञ्जस्य का विधान—केवल अर्थशास्त्र के निर्देशानुसार चलने से काम नही चलता। धर्म के साथ सामजस्य रखकर अर्थशास्त्र का प्रयोग करना चाहिये। नही तो छीनी हुई सम्पत्ति समूल विनष्ट हो जाती है।[४]

धन नष्ट होने पर ब्राह्मण के अलावा धनी व्यक्तियो से सग्रह करना—दूसरे राजा के आक्रमण के फलस्वरूप यदि कोषागार खाली हो जाय तो साम द्वारा प्रजा से थोडा-थोडा लेने की चेष्टा करनी चाहिये। किन्तु ऐसे समय ब्राह्मण से राजा धन नही ले सकता। ब्राह्मण का धन कभी नही लेना चाहिये। यहाँ तक कि विपत्ति मे पडने पर भी ब्राह्मण पर कर लगाना उचित नही है।[५]

---

१. प्राकार भृत्यभरण व्ययं सग्रामतो भयम्।
योगक्षेमञ्च सप्रेक्ष्य गोमिन' कारयेत् करम्॥ इत्यादि।
शाति ८७।३५–३८

२. लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा वृहद् वृक्षमिवाश्रवत्। शान्ति १२०।९

३. तस्माद्राजा प्रगृहीत' प्रजासु मूल लक्ष्म्या' सर्वशो ह्याददीत।
शाति १२०।४४

मास्म लोभेनाधर्मेण लिप्सेथास्त्वं धनागमम्। शाति ७१।१३

४. अर्थशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति॥ शाति ७१।१४

५ परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षय.।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत्॥ इत्यादि।
शान्ति ७१।२१–२३

अर्थविभाग मे पाँच कर्मचारियो की नियुक्ति—अर्थ विभाग मे पाँच कर्मचारियो को रखने का विधान मिलता है। उनमे बुद्धि, विनय, तेज, धैर्य, क्षमा, शौच, अनुराग, स्थिति, धृति तथा निष्कपटता आदि गुणो का होना आवश्यक है। इस तरह के सज्जन व्यक्तियो को नियुक्त करने से कही भी अन्याय या अविचार की आशका नही रहती।[1]

खान आदि की आय पर कर—सुवर्ण आदि की खदानो, लवण के उत्पत्ति स्थान, अनाज की आढतो, नदी की संतरण प्रतियोगिता (शायद एक प्रकार का जुआ), हाथी के खेदो आदि की आय-व्यय का लेखा-जोखा करके इन स्थानो से भी कर लेकर अर्थ की वृद्धि करनी चाहिये। इन स्थानो पर हितकारी व दक्ष कर्मचारियो को नियुक्त करना उचित है।[2]

लोभी व्यक्ति को अर्थसंग्रह के लिये नहीं रखना चाहिये—अर्थ सग्रह आदि के लिये लोभी व्यक्ति को नियुक्त नही करना चाहिये। निर्लोभी, सदय एव सुबुद्धि व्यक्ति को ऐसे काम सौपने से राजा व प्रजा दोनो का ही कल्याण होता है। मूर्ख व लोभी व्यक्ति प्रजा को उत्पीडित करके प्रसन्न होता है। जो कर्मचारी प्रजा को कष्ट देकर अन्याय द्वारा धन वसूल करे, उसे राजा को कठोर सजा देनी चाहिये।[3]

अर्थ विभाग मे नियुक्त पाँच व्यक्तियो का कर्मविभाग—युधिष्ठिर के पूछने पर नारद ने जो राजधर्म का उपदेश दिया है, उसमे कहा गया है कि जनपद मे से कर वसूल करने के लिये पाँच वीर, कृतप्रज्ञ व्यक्तियो को चुनना चाहिये। उनमे से एक कर वसूली करे, एक ग्राम शासन करे, कर वसूल करने वाला और प्रजा दोनो एक दूसरे की बात मानें, उसके लिये एक व्यक्ति नियुक्त करना चाहिये। एक व्यक्ति पर सब कुछ लिखने का भार हो और पाचवाँ हर बात का साक्षी रहे।[4]

---

१. येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना। इत्यादि।
शांति ८२।२१–२३

२. आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान्। शांति ६९।२९

३. मास्म लुब्धाश्च मूर्खाश्च कामार्थे च प्रयूयुजः। शांति ७१।८,९
दण्ड्यास्ते च महाराज धनादान प्रयोजकाः।
प्रयोग कारयेयुस्तान् यथाबलिकरांस्तथा॥ शांति ८८।२६

४. कच्चिच्छूरा कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिताः।
क्षेम कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव॥ सभा। ५।८०।
नीलकंठ देखिये।

कर वसूली का उद्देश्य प्रजा का मंगल—प्रजा का पालन धर्मसगत होना चाहिये। कर वसूल करने का उद्देश्य प्रजा का कल्याण ही है। जो राजा कर वसूल करने मे तो खूब चतुर हो, लेकिन प्रजा की हितकामना न करता हो, उसे राजा कहना तो दूर की बात है, वह तो पुरष कहलाने योग्य भी नही होता, ऐसा व्यक्ति तो पुरषवेशधारी नपुसकमात्र ही कहा जा सकता है।[1]

प्रजापीडन के कारण उद्भूत विद्रोह राज्यनाशक—प्रजा का उत्पीडन करने से धन की वृद्धि हो भी जाय तो वह धन टिकता नही। प्रजा की अश्रद्धा से उत्पन्न विद्रोहाग्नि राजा को पूर्ण रूप से नष्ट करे विना पीछा नही छोडती।[2]

राजकोश प्रजा की ही न्यस्त सम्पत्ति—जो पौर व जनपद प्रजा के सुख का ख्याल रखकर राज्य करता है, वह इस लोक व परलोक मे अनन्त सुख भोगता है।[3] इन सब उपदेशो से पता चलता है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर प्रजा का उत्पीडन करना उस काल मे अत्यन्त घृणित माना जाता था, कर प्रजा के सुख के निमित्त ही लिया जाता था। राजकोष प्रजा की ही रक्षित सम्पत्ति होती है, इसका कई जगह उल्लेख आया है। जो राजा करस्वरूप आय का षष्ठाश प्रजा से ले लेता है, लेकिन प्रजा के सुख की व्यवस्था नही करता, पडितो ने उसे 'पापाचारी' की सज्ञा दी है।[4] जो षष्ठाश लेकर प्रजापालन मे उदासीनता दिखाता है, उसे सम्पूर्ण राज्य के पाप का चतुर्थांश फल भोगना पडता है।[5] प्रजा से जो धन लेकर राजकोष मे इकट्ठा किया जाता है, वह प्रजा की रक्षा के उद्देश्य से ही सचित होता है। व्यक्तिगत आवश्यकताओ के लिये उस धन के उपयोग का अधिकार राजा को नही होता।[6]

अरक्षक राजा पार्थिवतस्कर—जो राजा राजकोश का धन प्रजा के हितार्थ

---

१. विहीन कर्मणा न्याय यः प्रगृह्णाति भूमिपः।
उपायस्याविशेषज्ञ तद्वै क्षत्र नपुसकम्॥ शान्ति १४२।३१

२ दु.खादान इह ह्येष स्यात्तु पश्चात् क्षयोपमः।
अभिगम्यमतीना हि सर्वासामेव निश्चयः॥ शाति १३०।९

३. यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान् गुणैः।
न तस्य भ्रमते राज्य स्वयं धर्मानुपालनात्॥ शाति १३९।१०७

४ अरक्षितार राजान वलिषड्भागहारिणम्। इत्यादि। आदि २१३।९

५. प्रतिगृह्णाति तत् पाप चतुर्थांशेन भूमिपः। शांति २४।२२

६. स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये। शाति ६९।२५

खर्च न करके भोग विलास मे उडा देता है उसे 'पार्थिवतस्कर' कहा गया है, अर्थात् उसमे और चोर मे कोई अन्तर नही होता।[1]

प्रजाशोषण से अनर्थ—प्रजा का शोषण करने से धन की वृद्धि तो नही, हाँ अनर्थो की वृद्धि अवश्य होती है। सयमी तथा बुद्धिमान राजा का अर्थ ही उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। प्रजा से लिया गया धन उसी के कल्याण के लिये लगाना उचित है।[2]

किस किस से कर लेना अनुचित—अपने अधीन रिश्तेदार राजाओ से कर नही लिया जाता था। अनाथ, विधवा, अति विपन्न, दरिद्र और फिर वृद्ध, इन सबकी उदरपूर्ति की व्यवस्था राज्य की तरफ से की जाती थी। राजा को कभी भी धर्म-विरुद्ध उपायो द्वारा वृद्धि की कामना नही करनी चाहिये। उपयुक्त पात्र को दान तथा यज्ञानुष्ठान आदि सत्कार्यो के लिये धन खर्च करना उचित है। युद्ध आदि के कारण प्रजा का बहुत नुकसान होता हे, अत उसके बाद भी उससे जबर्दस्ती कर वसूल करना नितान्त अन्याय है। साधारणत ब्राह्मण से कर नही लिया जाय, किन्तु किन्ही विशेष कारणो से राजा यदि विपत्ति मे पड जाय तो केवल उन ब्राह्मणो से कर वसूल कर सकता है जो ब्राह्मण की वर्णगत वृत्ति त्याग कर वैश्य आदि की वृत्ति द्वारा जीविकोपार्जन कर रहे हो। स्वधर्मनिरत ब्राह्मण से किसी भी अवस्था मे कर नही लिया जा सकता।[3]

---

१. बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत्।
न रक्षति प्रजा सम्यग् य स पार्थिवतस्करः॥ इत्यादि।
शांति १३९।१००–१०३

२. नित्य वुद्धिमतोऽप्यर्थ. स्वल्पकोऽपि विवर्द्धते। शाति १३९।८८
काल प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातन। शाति १३०।१३

३ द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत।
वैवाहिकेन पाञ्चाला सख्येनान्धकवृष्णय.। सभा ५२।४९
यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यञ्चाप्यपीड़या। इत्यादि। शांति ८६।२३,२४
स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थे द्विजसत्तम।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायण.॥ अश्व ३।१४
एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च॥ शाति ७६।९
क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत॥ शांति १३०।२०

असदाचारी ब्राह्मण से कर ग्रहण—असदाचारी ब्राह्मण को उपयुक्त शिक्षा देने के लिये उससे कर लेने का विधान है। त्यक्ताचारी, स्ववृत्तिविरोधी व्यक्ति की सम्पत्ति पर राजा का अधिकार बताया है। अर्थ संग्रह करते वक्त भी सज्जन को सबके समक्ष पुरस्कृत तथा दुर्जन को पीडित किया जाता था।

प्रजा की जीविका के लिये राजा उत्तरदायी—कहा गया है कि जिसके राज्य मे कोई विप्र चोरी करने के लिये बाध्य हो, तो यह राजा के अपटु होने का प्रमाण है। जीविका का साधन रहते चोरी आदि दुष्कर्म करने का कोई कारण नही होता। प्रजा की जीविका निर्वाह के कष्ट के लिये शासनपद्धति एव कोशसग्रह पद्धति को ही उत्तरदायी बताया है।[1]

दस्यु तथा कृपण का अर्थ लेकर सत्कार्य मे लगाना—देवार्पित एव याज्ञिक की सम्पत्ति कभी नही लेनी चाहिये। दस्यु तथा असदाचारी का धन राजा ले सकता है। जो नीच व्यक्ति केवल धन का सग्रह करने से आनन्दित होता हो, उस धन को यागयज्ञ या किसी लोकहितकारी कार्य मे खर्च न करता हो, उसका धन बिल्कुल ही वृथा होता है। धर्मज्ञ नृपति को ऐसे कृपण का धन जबर्दस्ती छीन लेना चाहिये, लेकिन वह धन कोषागार मे जमा न करके जनसाधारण के कल्याण मे लगा देना चाहिये।[2]

उन्मत्त आदि का अर्थ प्रजा के कल्याण मे लगाना—मत्त, उन्मत्त का आदि का धन लेकर राजा को नगर की रक्षा के लिये खर्च करना चाहिये। लेकिन इन व्यक्तियों की चिकित्सा तथा जीविका व्यवस्था भी राजा को ही करनी पडेगी।[3]

विजित राजाओ से कर ग्रहण—विजित राजाओ से कर लेने का नियम था।[4]

सतत सञ्चय की आवश्यकता—राज कोष मे धन सदा सचित रखना चाहिये।

---

१. अब्राह्मणाना वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्।
ब्राह्मणानाञ्च ये केचिद्विकर्मस्था भवन्त्युत॥ इत्यादि।
शाति ७६।१०–१३।शाति ७७।२–५

२. न धन यज्ञशीलाना हार्यं देवस्वमेव च।
दस्यूना निष्क्रियाणाञ्च क्षत्रियो हर्त्तुमर्हति॥ इत्यादि।
शाति १३६।२–६

३. दशधर्मगतेभ्यो यद्वसु वह्वल्पमेव च।
तदाददीत सहसा पौराणा रक्षणाय वै॥ शान्ति ९६।२६

४. ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृता.। इत्यादि।
आदि ११३।३८।सभा २५वें अध्याय से ३२वें अ० तक

यदि आय अधिक और व्यय कम हो तभी सञ्चय सभव हो सकता है। वेकार के खर्चो से राजकोप को हानि न पहुँचे, इस ओर विशेष रूप से लक्ष्य रखना चाहिये। बुद्धि-कौशल तथा कार्यदक्षता से धन सचित होता है। दरिद्र व्यक्ति ही ससार मे सर्वा-पेक्षा दुर्बल होता है। धन वल ही प्रकृति वल माना जाता है। कोष की सुरक्षा तथा सद्व्यय से धर्म, अर्थ एव काम की प्राप्ति सभव होती है। अतएव धर्मपथ पर चलकर कोष को उन्नत करने की चेष्टा करनी चाहिये, अधर्म का कभी अवलम्बन नही लेना चाहिए।[१]

आपद्वृत्ति—आपद्काल मे उल्लिखित नियमावली मे परिवर्त्तन व परिवर्द्धन कर लिया जाता था। कहा गया है कि आपत्ति पडने पर अधर्म को भी धर्म के रूप मे ग्रहण करना चाहिये।[२]

दुर्बल को छोड़कर सबसे कर लेना—आपद्काल मे अपनी रक्षा करना ही धर्म होता है अत. उस समय दुर्बल व्यक्ति को छोडकर वाकी सवसे कर लिया जा सकता है। कोष की शक्ति राज्य की सर्वोत्कृष्ट शक्ति होती है। आपत्ति के समय अन्याय द्वारा धन की वृद्धि करना भी निष्पाप है। यज्ञ आदि मे इस तरह के अनेको कर्म करने पडते हैं जो देखने मे नितान्त अशोभनीय लगते है, किन्तु यज्ञ के अग होने के कारण जैसे उनका त्याग नही किया जा सकता, उसी प्रकार आपद्काल मे धन की आवश्यकता पूरी करने के लिये अशोभनीय कर्म करना भी अनुचित नही है।[३]

कोशसंचय के विरोधी का हनन—आपत्तिकाल मे यदि कोई धन संग्रह का विरोध करे तो उसकी हत्या कर देनी चाहिये। देश एव काल भेद के अनुसार कार्याकार्य के नियमो मे थोडा बहुत परिवर्त्तन करने के लिये हर एक व्यक्ति वाध्य होता है।[४]

---

१. सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान्। इत्यादि।
शांति १३०।४९, ५०

२. तस्मादापद्यधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः। शान्ति १३०।१६

३. आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम्। इत्यादि।
शांति १३०।२५, २६

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम्। इत्यादि।
शांति १३०।३५–३७

४. एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः।
तान्हत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परन्तप। इत्यादि॥
शांति १३०।४२–४४

आपद्काल के उद्देश्य से सचय—प्रजा राजा को जो धन देती है, उसमे से थोडा थोडा राजा को आपद्-विपद् के लिये सचित करते रहना चाहिये।[1]

साधु व असाधु उपायो के बीच का मार्ग अपनाना—विपत्ति पड़ने पर कोष-सचय की ओर विशेष रूप से लक्ष्य रखना चाहिये। अपने व दूसरे राज्यो से धन इकट्टा करना उचित है। कोष की उन्नति से ही राज्य की उन्नति सभव है। धन सग्रह करके यत्नपूर्वक उसकी रक्षा तथा वृद्धि की व्यवस्था करनी चाहिये। आपद्-काल मे केवल नेक उपायो पर निर्भर न रहकर अच्छे व बुरे के बीच का मार्ग अपनाना ही वुद्धिमत्ता है। दुर्बल राजा अर्थसग्रह नही कर पाता और धन के विना राज्य की रक्षा करना दुष्कर है। राजलक्ष्मी वीर पुरुष पर ही अनुग्रह करती है। महत्त्वशाली व्यक्ति की समृद्धि का ह्रास तथा मृत्यु दोनो एक समान होती है, अतएव हर तरह से धनवल और मित्रवल की वृद्धि की चेष्टा करना ही उचित है।[2]

हीनकोष नृपति अवज्ञा का पात्र—जिसका खजाना खाली हो, वह राजा सवकी अवज्ञा का पात्र होता है। राजकर्मचारी भी उसका कार्य करने मे उत्साह नही दिखाते। एकमात्र कोष के कारण ही सब राजा का सम्मान करते हैं। जिस तरह वस्त्र मनुष्य के कुत्सित अवयवो को ढके रखता है, उसी प्रकार राजा की समस्त कलुषताओ पर धनागार का आवरण पडा रहता है।[3]

सकट काल मे कर वृद्धि—सकटकाल मे कर बढा देना अन्याय नही है। यद्यपि यह भी देखने मे शोषण ही लगता है, लेकिन जरा स्थिरचित्त होकर सोचने पर पता चलता है कि प्रजा के कल्याण के लिये ही कर बटाया जाता है। इसके वावजूद भी यह अवश्य ख्याल रखना चाहिये कि करवृद्धि के कारण किसी व्यक्ति को अत्यधिक कष्ट न पहुँचे।[4]

कोश के शुभचिंतक का सम्मान—राजकोष के शुभचिन्तक व्यक्ति को सम्मान सहित राज सभा मे स्थान देना चाहिये। राजकोष की क्षति की जरा सी भी आशका होते ही जो व्यक्ति तत्क्षण राजा से कह दे वही वास्तविक शुभचिन्तक कहलाता है।

---

१ आपदर्थं च निर्यात धन त्विह विवर्द्धयेत्। शाति ८७।२३

२ स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राच्च कोशं सजनयेन्नृप। इत्यादि।
शाति १३३।१–५

३ हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवा.। इत्यादि।
शान्ति १३३।६,७

४ पार्श्वत. करणं प्राज्ञो विष्टम्भित्वा प्रकारयेत्।
जनस्तच्चरित धर्मं विजानात्यन्यथान्यया॥ शाति १४२।९

ऐसे अमात्यो की बातें सदा एकात मे सुननी चाहिये। राजकोश के रक्षक से दूसरे राजकर्मचारी ईर्ष्या करते है, अत यदि राजा ही उनका ख्याल नही रक्खेगा तो फिर वे कहाँ जायँगे।[1]

संकट काल मे प्रजा से ऋण लेना—सकट के समय प्रजा से ऋण लेने का भी विधान था। राजा धनी व्यक्तियो से कहता था, "वर्त्तमान सकटकालीन अवस्था मे तुम लोगो की रक्षा करने के लिये मैं तुम लोगो से ऋण देने का अनुरोध करता हूँ सकट टल जाने पर मै आपका ऋण चुका दूंगा। दस्यु या तस्कर तुम्हारे ऊपर यदि आक्रमण करेंगे तो तुम्हारा सब कुछ विनष्ट हो जायगा। आपद-विपद मे काम आने के लिये ही धन का सचय किया जाता है। तुम लोग मेरे लिये सन्तान तुल्य हो, तुम्हारी अर्थ सहायता से मैं इस सकट से पार पाना चाहता हूँ।" इस प्रकार मधुर वचनो द्वारा प्रजा से ऋण लिया जा सकता है।[2]

विपत्ति की दुहाई देकर धर्म त्यागना गर्हित—आपद् काल मे भी धर्मबुद्धि का बिल्कुल ही विसर्जन नही कर देना चाहिये; यह ख्याल रखना चाहिये कि धर्म सबसे ऊपर होता है। धन की वृद्धि करना उचित है, किन्तु विपत्ति की दुहाई देकर धर्म को छोड देना गर्हित है। बलपूर्वक प्रजा का शोषण करने से अनर्थों की उत्पत्ति होती है। अधार्मिक, स्वेच्छाचारी राजा का शीघ्र ही विनाश हो जाता है।[3]

बालक, वृद्ध आदि का धन अग्राह्य—बालक, वृद्ध, अध व दुर्गत के धन की सदा रक्षा करनी चाहिये। उनके धन को किसी भी अवस्था मे हाथ नही लगाना चाहिये राजा पर चाहे जैसी विपत्ति आये पर वह दरिद्र श्रमजीवियो का धन नही ले सकता। दरिद्र के कष्टसचित अर्थ पर राजा की लुब्धदृष्टि पडते ही राजलक्ष्मी चचल हो उठती है।[4]

---

१. यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नर.। शाति ८२।१–४

२. अस्यामापदि घोराया सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भरतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः॥ इत्यादि। शांति ८७।२९-३४

३. अर्थसिद्धे परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः।
वृद्ध्याञ्च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते॥ इत्यादि।
शान्ति ९२।७–९

४. वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च। अनु ६१।२५
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्तीर्धनं हरेत्।
क्षतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम्। इत्यादि।
अनु ६१।२५, २६

प्रजा को अन्न का अभाव होने से राजा पाप का भागी—दरिद्र तथा अनाथ व्यक्ति यदि अन्नाभाव से पीडित हो उस राजा का धन निरर्थक है। विद्वान् व्यक्ति को भी यदि जीविका की चिन्ता करनी पडे, तो फिर राजा के राजा होने का क्या लाभ ऐसे राजा को भ्रूणहत्या का पाप लगता है।[1]

राज्य की अवस्थानुसार व्यय का विधान—जिस वर्ष राज्य मे कृषि आदि की अवस्था अच्छी हो, उस साल कोश मे सचित अर्थ के चतुर्थांश द्वारा राज्य का खर्च चलाना चाहिये। जिस वर्ष राज्य की अवस्था न बहुत अच्छी न बहुत बुरी हो, उस साल कोष का आधा भाग खर्च करना चाहिये। और जिस साल देश मे दुर्भिक्ष पडे उस साल कोप के चार भागो मे से तीन भाग धन खर्च करना चाहिये।[2]

दुर्विनीत का ऐश्वर्य अमगल का हेतु—दुर्विनीत व्यक्ति सम्पत्ति, विद्या एव ऐश्वर्य का अधिकारी होते हुए भी उनका यथोचित व्यवहार नही कर पाता। और उसका वह सौभाग्य दुर्भाग्य का कारण बन जाता है।[3]

अरक्षक राजा वध के योग्य—जो अर्थ के लिये प्रजा का शोषण करने मे तो पटु हो, किन्तु रक्षा करने के प्रति उदासीन हो, वह राजा नितान्त अधम होता है: प्रजा को मिलकर निर्दयता के साथ उसकी हत्या कर देनी चाहिये।[4]

---

१ यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान् सीदेत् क्षुधा द्विजः।
भ्रूणहत्याञ्च गच्छेथा कृत्वा पापमिवोत्तमम्॥ इत्यादि।
अनु ६१।२८, २९

२. कच्चिदायस्य चार्द्धेन चतुर्भागेन वा पुन.।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्यय सशोध्यते तव॥ सभा ५।७०

३ दुर्विनीता श्रिय प्राप्य विद्यामैश्वर्यमेव वा।
तिष्ठन्ति न चिर भद्रे यथाह मदगर्वितः॥ वन २४८।१८

४. अरक्षितारं हर्त्तार विलोप्तारमनायकम्।
त वै राजकलि हन्यु प्रजा. सन्नह्य निर्घृणम्। इत्यादि।
अनु ६१।३२,३३

राजधर्म (ग)

महाभारत मे राज्य शब्द बहुत व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र दुर्ग तथा बल इन सातो की समष्टि को राज्य कहते है। सप्तागक राज्य के पचमस्थानीय राष्ट्र शब्द का तात्पर्य प्रजा व प्रजा के वासस्थान जनपद से है। यूँ तो राजा प्रजा के सबध, प्रजापालन आदि के बारे मे राष्ट्र की समीक्षा करते हुए बताना चाहिये, किन्तु प्रसगवश उसकी थोडी सी झाँकी स्वामी व अमात्य के बारे मे बताते हुए दिखा दी गई है। शत्रु-मित्र की पहचान एव उनके प्रति राजा का कर्त्तव्य, सन्धिविग्रह, चरनियोग आदि विषय भी राष्ट्रीय समीक्षा के अतर्गत आते हैं। उसके बाद दुर्ग, राजधानी तथा शासनप्रणाली के बारे मे भी इसी प्रबध मे बताया जायेगा।

पद पद पर मनुष्य के शत्रु—मनुष्य के शत्रु पद-पद पर होते है, यह बात बिल्कुल सत्य है। जल, स्थल, अतरिक्ष हर जगह मनुष्य के अगण्य शत्रु हैं। शत्रुओ से भरी इस पृथ्वी पर बाघ, भालू, मगर, साँप आदि प्राणियो को तो उनकी आकृति से पहचाना जा सकता है, लेकिन भद्रवेशधारी मनुष्य को पहचानना सबसे कठिन कार्य है। इसीलिये शत्रु व मित्र की पहचान कुशलता से करने के लिये राजा को उपदेश दिया गया है। प्रतापी से प्रतापी राजा भी शत्रुओ द्वारा आक्रान्त होकर सदा के लिये विलुप्त हो गये, इस तरह के सैकडो उदाहरण पुराणो व इतिहासो मे मिलते हैं।

परिवारस्थ शत्रु—शत्रु केवल घर से बाहर ही नही होते। बहुत से राजाओ ने अपनी प्रियतमा महिषी, परम स्नेही सहोदर तथा प्राणतुल्य पुत्र के हाथो प्राण गँवाये हैं। अत इस विषय का विशेष ज्ञानार्जन करना राजा के लिये बहुत आवश्यक है।

कोई व्यक्ति शत्रुहीन नहीं होता—ससार मे कोई व्यक्ति ऐसा नही है जो शत्रुविहीन हो, महाभारतकार का यही कहना है। और तो और वनवासी सन्यासी जो स्वय किसी के साथ शत्रुता नही करता, उसके भी शत्रुओ का अभाव नही होता। जो वनवासी मुनि केवल अपने काम से काम रखते है, ससार का कल्याण ही जिनकी कामना होती है, उनके भी शत्रु, मित्र तथा उदासीन तीनो श्रेणियो के लोग होते हैं। लोभी व्यक्ति शुचि स्वभावी से द्वेष करता है, कातर भीरु व्यक्ति तेजस्वी पुरुष से ईर्ष्या करता है, मूर्ख पडित का शत्रु होता है, दरिद्र धनी को अपना शत्रु समझता

है, धार्मिक व्यक्ति अधार्मिक पापाचारी के आँख का काँटा होता है, बदसूरत व्यक्ति सुन्दर से ईर्ष्या करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ससार मे शत्रुहीन व्यक्ति एक भी नही है।[1]

शत्रु व मित्र को पहचानना सहज नहीं—शत्रु व मित्र के विषय मे इससे पहले भी थोडा बहुत बताया जा चुका है। शत्रुमित्र की पहचान के लिये कुछ साधारण नियम हैं तो अवश्य, परन्तु उन वाह्यिक लक्षणो द्वारा तीक्ष्णबुद्धि शत्रु को नही पहचाना जाता। वे बाहर से तो मित्र का-सा व्यवहार करते हैं किन्तु मन मे सदा शत्रता रूपी सचित हलाहल के तीव्र आक्रोश को सफल बनाने का सुयोग ढूंढते रहते हैं। शत्रु-मित्र की पहचान बहुत ही कुशलता से करनी चाहिये। "जो मेरे सुख मे सुख तथा दुख मे दुख का अनुभव करे वही प्रकृत मित्र है जिसका आचरण इसके विपरीत हो अर्थात् जो मेरे सुख से दुखी और दुख से सुखी हो वही शत्रु है।" केवल इसी एक लक्षण से शत्रु तथा मित्र का परिचय मिल जाता है।[2] जिन व्यक्तियो की जीविका का साधन एक ही होता है, उनमे प्राय शत्रुता बनी रहती है। इसीलिये राजा का शत्रु राजा, ब्राह्मण का शत्रु ब्राह्मण और चिकित्सक का शत्रु चिकित्सक होता है। इसी तरह समव्यवसायियो की प्रतियोगिता प्राय शत्रुता द्वारा समाप्त होती है। शायद यही कारण है कि ज्ञाति को 'सहजशत्रु' की सज्ञा दी गई है।[3]

क्षुद्र शत्रु भी उपेक्षणीय नहीं—छोटे से छोटे शत्रु की भी उपेक्षा करना उचित नही है। शत्रु की उपमा अग्नि तथा विष से दी गई है। अग्नि का एक पतगा भी बडे से बडे नगर को राख के ढेर मे परिणत कर देता है, विष का सेवन बहुत कम मात्रा मे किया जाय तो भी परिणाम बहुत भयानक होता है।[4]

---

१. मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वत.।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रव.॥ इत्यादि।
शाति १११।६०–६२

२. आर्त्तिवार्त्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम्।
विपरीतन्तु बोध्यव्यमरिलक्षणमेव तत्॥ शान्ति १०३।५०

३. नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते।
येन साधारणी वृत्ति. स शत्रुर्नेतरो जनः॥ सभा ५५।१५

४. न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि वलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च॥ इत्यादि।
शांति ५८।१७।सभा ५५।१६, १७

शत्रुता का प्रतीकार—शत्रुता के यथोचित प्रतीकार के लिये सदा पौरुष का आश्रय लेना चाहिये। निरुद्योगी, आलसी व्यक्ति सहज ही शत्रु द्वारा आक्रान्त हो जाता है।[1] राजा को शत्रु से बदला लेने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये तथा उसकी गतिविधियो का पता तत्परता के साथ लगाना प्रथम कर्त्तव्य है।[2]

गुप्तचरों द्वारा शत्रु की गतिविधियो का पता लगाना—मित्र को पहचानना अपेक्षाकृत सहज होता है। मित्र के लक्षणो आदि के सबध मे बहुत सी ज्ञातव्य बाते पहले ही बताई जा चुकी है। राज्य मे गुप्तचरो को छोडकर शत्रु की गतिविधियो के सबध मे सब खबरो का पता लगाकर पहले ही सतर्क हो जाने से विपत्ति की अधिक आशका नही रहती। गुप्तचरो की नियुक्ति के कुछ अभिमतो का सकलन इस प्रबध के अत मे किया जायगा।

साम आदि के प्रयोग की पद्धति—शत्रु हो या मित्र, सबको साम, दान, भेद व दड इन चार उपायो मे से किसी एक के द्वारा वश मे करना चाहिये। यदि एक उपाय से वश मे करना सभव न हो तो एक से अधिक का प्रयोग करना चाहिये। जिसको जिस उपाय से वश मे किया जा सके, उसे उसी के द्वारा अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करना राजा का कर्त्तव्य है।[3]

शत्रु के साथ भी पहले साम-व्यवहार—निश्चित रूप से किसी के शत्रु होने का पता चल भी जाय तो भी पहले उसके साथ मिलने की चेष्टा करनी चाहिये। साम या शान्ति जैसा उत्कृष्ट उपाय दूसरा नही है, साम का प्रयोग सफल न हो तो कुछ नुकसान उठाकर दान के द्वारा अपना पक्ष प्रबल करने की चेष्टा करे, दान के भी असफल होने पर शत्रुपक्ष के लोगो मे फूट डाल कर भेदनीति के द्वारा शत्रु को जीतने की कोशिश करनी चाहिये। उल्लिखित तीनो उपायों के बेकार साबित होने पर अत मे दण्ड या युद्ध का आश्रय लेना चाहिये।[4]

---

१. उत्थानहीनो राजापि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजंग इव निर्विषः॥ शांति ५८।१६

२. कच्चिद्धियाषमविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा।
नित्ययुक्तो रिपून्, सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन॥ सभा ५।३९

३. दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सुनृतया गिरा।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः॥ शान्ति ७५।३१

४. सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिपः॥ शान्ति ६९।२४
सन्निपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथञ्चन।
सान्त्वभेदप्रदानाना युद्धमुत्तरमुच्यते॥ शान्ति १०२।२२
साम्नैव वर्त्तयेः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि। शान्ति १०२।१६

अगत्या दण्डप्रयोग—दण्ड के द्वारा शत्रु को वश मे करना श्रेष्ठ उपाय नही है, यह रास्ता लाचार होकर अपनाना पडता है। बुद्धिमान व्यक्ति को तो साम, दान, भेद आदि के द्वारा ही शत्रु को वश मे करने की चेष्टा करनी चाहिये।[1]

षड्वर्ग चिन्ता—राजा के लिये विशेष रूप से चिन्तनीय छह विषयो को षड्वर्ग कहा गया है। सधि, विग्रह (युद्ध), यान (शत्रु पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान), आसन (शत्रु के प्रति उपेक्षा प्रदर्शन), द्वैधीभाव (सेना को योद्धा व सरक्षक, दो भागो मे विभक्त करना) और सश्रय (शौर्यवीर्यशाली साधु राजा का आश्रय लेना) इन छहो पर कुशलता सहित सोचना चाहिये। और जव जिसकी आवश्यकता हो उसकी व्यवस्था करनी चाहिये।[2]

ऊपर से सरल व्यवहार—प्रतिपक्षी के बल आदि की विवेचना करके राजा को पहले प्रणाम, दान, मधुर वचन आदि के द्वारा शत्रु को वश मे करने का प्रयत्न करना चाहिये। शत्रु के मन मे किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो, ऊपर से ऐसा कोई व्यवहार नही करना चाहिये। जिन शत्रुओ के मन मे सन्देह पैदा होने की खबर मिले, उनके निकट कभी नही जाना चाहिये। वे अपमानित होने के वाद हमेशा बदला लेने के लिये मौके की ताक मे रहते हैं। अतएव नृपति को खूब सावधानी से चलना चाहिये।[3]

साम आदि का क्रमिक प्रयोग—शत्रु पर साम, दान भेद व दड चारो का प्रयोग एक साथ नही करना चाहिये। एक साथ प्रयोग करने मे समर्थ होते हुए भी एक एक का ही प्रयोग करना उचित है। एक ही बार मे बहुत से शत्रुओ को जीतने की चेष्टा भी नही करनी चाहिये।[4]

शत्रु को नुकसान पहुँचाना—राजा को अपने शत्रु की कीर्त्ति को खत्म करना चाहिये तथा उसे उसके धर्म से च्युत करने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे अर्थहानि

---

१. न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तु मपकारिण ।
बालैरासेवितं ह्येतद् यदमर्षो यदक्षमा ।। शान्ति १०३।७

२. षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रायानविधौ तथा ।। शान्ति ८१।२८
षाड्गुण्यमिति यत् प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर । इत्यादि ।
शांति ६९।६७, ६८

३. प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन् ।
अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशंकयेत् ।। इत्यादि । शाति १०३।३०-३२

४. न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन शात्रवान् ।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरन्दर ।। इत्यादि । शाति १०३।३६, ३७

पहुँचे ऐसे उपाय करने चाहिये। रिपु दुर्बल हो या वलवान, उसकी उपेक्षा करना उचित नही है।[1]

जहाँ अपराध किया हो, वह स्थान परित्यज्य—किसी व्यक्ति ने यदि किसी जगह कोई अपराध किया हो तो उसे वह स्थान छोड देना चाहिये। वहाँ रहने की पडित व्यक्ति सम्मति नही देते।[2]

कृतबैरी पर अविश्वास—कृतवैर की मीठी बातो मे कभी नही आना चाहिये। जो मूढ उसकी बातो पर विश्वास कर लेता है, वह शीघ्र ही विपद्ग्रस्त हो जाता है। कृतबैरी व्यक्ति पर अविश्वास करना ही सुख का हेतु है। विश्वासघाती का विश्वास करना उचित नही है। राजा को स्वय तो दूसरे पर पूर्ण विश्वास नही करना चाहिये, किन्तु उसका विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करनी चाहिये।[3]

बैरभाव पूर्ण रूप से कभी खत्म नहीं होता—आपस मे यदि एक बार वैरभाव हो जाय तो वह जीवन मे कभी पूर्ण रूप से नही भुलाया जा सकता। किसी का अपकार करने के बाद यदि उसे अर्थ आदि से सम्मानित किया जाय तो भी वह व्यक्ति पूर्वकृत अपकार को नही भूल पाता, उसका मन एक बार मैला होने के बाद बिल्कुल साफ कभी नही होता। "शत्रु ने मेरा सम्मान किया है या मेरे साथ मित्रता स्थापित की है", यह सोचकर शत्रु का विश्वास नही करना चाहिये। कई बार विश्वास ही मनुष्य के लिये विपत्ति का कारण बन जाता है। शत्रु के साथ साक्षात् न होना ही अच्छा है।[4]

बैर उत्पत्ति के पाँच कारण—पडितो ने बैर के पाँच कारण बताये है यथा-स्त्रीकृत, वास्तुकृत, वाक्कृत, जातिकृत तथा अपराधकृत। कृष्ण व शिशुपाल की शत्रुता का कारण रुक्मिणी का विवाह था। कौरव पाडवो के बैर का कारण वास्तु

---

१. हरेत् कीर्त्ति धर्ममस्योपरुन्ध्यादर्थे दीर्घं वीर्यमस्योपहन्यात्। इत्यादि। शाति १२०।४०

२. सकृत् कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः।
न तद्बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम्॥ शांति १३९।२५

३. सान्त्वे प्रयुक्ते सततं कृतवैरे न विश्वसेत्। शान्ति १३९।२६
सर्वेषा कृतवैराणामविश्वासः सुखोदयः। इत्यादि। शांति १३९।२८, २९

४. अन्योन्यकृतवैराणां न संधिरुपपद्यते। इत्यादि। शांति १३९।३१, ३२
नास्ति वैरमतिक्रान्तं सान्त्वितोऽस्मीति नाश्वसेत्।
विश्वासाद्बध्यते लोके तस्माच्छ्रेयोऽप्यदर्शनम्॥ शांति १३९।३८

अर्थात् सम्पत्ति का अधिकार था। द्रुपद तथा द्रोणाचार्य का विवाद वाक्कृत था। साँप नेवले और चूहे बिल्ली का वैर जन्मगत होता है। अपकार का बदला अपकार से देना अपराधकृत होता है। काष्ठ मे छिपी अग्नि की तरह वैरभाव भी हृदय मे छुपा रहता है। सागर की कोख मे बडवानल की तरह वैरभाव कभी खत्म नही होता। एक पक्ष की मृत्यु से पहले शत्रुता का अत नही होता।[1]

प्रीति टूटने पर फिर नहीं जुडती—मिट्टी के बर्त्तनो को जिस तरह एक बार टूटने के बाद फिर से नही जोडा जा सकता, उसी प्रकार शत्रुता द्वारा विश्वास उठने पर फिर से नही दिलाया जा सकता।[2]

वश-परम्परागत शत्रुता—उशना ने प्रह्लाद को उपदेश देते हुए कहा है कि जो व्यक्ति शत्रु की बातो पर विश्वास करता है, उसकी वही गति होती है जो सूखे तिनको से आच्छादित प्रपात मे गिरे भौरे की होती है। कही-कही तो शत्रुता पूर्वजो के समय से चलती आती है। प्रकृत शत्रुओ के लोकान्तरित होने के बाद भी उनके वशज उस वैर को उसी तरह निभाते चले जाते है।[3]

सन्धि करने के बाद भी निश्चित नहीं रहना चाहिये—शत्रुता खत्म करने के लिये जो शत्रु से सधि कर लेता है, वह भी सुयोग देखकर पत्थर पर गिरे घडे की तरह शत्रु के विनाश की चेष्टा करता है।[4] मुंह मे राम बगल मे छुरी की तरह मन मे तो सदा वैरभाव रखना चाहिये लेकिन ऊपर से शिष्ट मधुर व्यवहार करना चाहिये। काम निकालने के लिये शत्रु से सधि कर लेने पर भी हृदय से उसका विश्वास नही करना चाहिये। कृतकार्य होने पर उससे दूर रहना ही उचित है।[5]

---

१. वैरं पचसमुत्थान तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः।
स्त्रीकृत वास्तुज वाग्ज समपत्नापराजधम्॥ इत्यादि।
शाति १३९।४२–४६

२. वैरमन्तिकमासाद्य यः प्रीतिं कर्त्तुमिच्छति।
मृण्मयस्येव भग्नस्य यथा सन्धिर्न विद्यते॥ शाति १३९।६९

३ ये वैरिण· श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधुशुष्कतृणैर्यथा॥ इत्यादि। शाति १३९।७१,७२

४. उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप।
अथैनं प्रतिपिषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि॥ शान्ति १३९।७३

५ वाङ्मात्रेण विनीत स्याद्धृदयेन यथा क्षुर.।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्ज्जयेत्॥ शान्ति १४०।१३
सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा संधि न विश्वसेत्॥ शाति १४०।१४, १५

कुटिल राजधर्म—शत्रु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस सबध मे अनेको कुटिल उपदेश दिये गये है, उनमे से कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। आगे की प्रत्येक बात कूटनीति के अन्तर्गत आती है। कुटिल राजधर्म पर कणिक का उपदेश सर्वापेक्षा विस्तृत व सारगर्भित है। (शान्ति १४० वाँ अध्याय)

स्वयं दुर्बल हो तो झूठी विनय का प्रदर्शन—जब तक स्वय दुर्बल रहे तब तक हाथ जोडकर सिर झुकाकर बात करे, अपने को अत्यन्त विनीत प्रदर्शित करने की चेष्टा करे। जब तक समय न आये शत्रु को कधे पर उठाकर चले और समय आते ही पाषाण पर निक्षिप्त मिट्टी के घडे की तरह शत्रु को खत्म कर देना चाहिये।[1]

शत्रु को स्वतन्त्र नहीं करना चाहिये—कृतघ्न शत्रु काम निकल जाने पर उपकार भूल जाता है। अतएव शत्रु के साथ अपने ऊपरी सद्व्यवहार को खत्म नही करना चाहिये। शत्रु बिल्कुल स्वतन्त्र न हो जाय, इस ओर ख्याल रखना चाहिये।[2]

कुशल क्षेम—बीच-बीच मे शत्रु के घर जाकर उसके परिवार वालो की कुशल क्षेम पूछते रहना चाहिये।[3]

स्वच्छिद्र गोपन—कछुए की तरह अपने दोषो को यत्नपूर्वक छिपाना चाहिये, लेकिन शत्रु के दोष सदा ढूँढते रहना उचित है।[4]

शत्रु का चिह्न भी नहीं छोड़ना चाहिये—शत्रु का जो अच्छी तरह दमन नही करता वह राजा शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है। जो शत्रु के साथ सधि करके निश्चितता से कालयापन करता है, वह वृक्ष के अग्र भाग पर सुख से सोये मनुष्य की तरह जमीन पर गिरने के बाद ही शिक्षा पाता है।[5]

---

१. अंजलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।
अश्रुप्रमार्जनञ्चैव कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता॥ इत्यादि। शांति १४०।
१७, १८

२. नानार्थिकोऽर्थ सबंधं कृतघ्नेन समाचरेत।
अर्थी तु शक्यते भोक्तु कृतकार्योऽवमन्यते।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत्॥ शान्ति १४०।२०

३. कुशलञ्चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत्। शांति १४०।२२

४. नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद्विधाच्छिद्रं परस्य तु। शांति १४०।२४

५. दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति। इत्यादि।
शान्ति १४०।३०, ३८, ३९
योऽरिणा सह सन्धाय सुखं स्वपिति विश्वसन्।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते॥ शांति १४०।३८

शत्रु के शत्रु से मित्रता करना विधेय—शत्रु के शत्रुओ से मित्रता करना उचित है। उनके साथ मिलकर शत्रु का सहज ही नाश किया जा सकता है।[१]

बनावटी वेशभूषा द्वारा विश्वासोत्पादन—ध्यान, मौनावलम्बन, गैरिक वस्त्र, जटा, अजिन आदि धारण करके शत्रु के हृदय मे विश्वास पैदा करना चाहिये। उसके बाद सुयोग मिलने पर वृक की तरह अकस्मात् आक्रमण करके शत्रु का समूल उच्छेद कर देना बुद्धिमानी का कार्य है।[२]

'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे—शत्रु के करुण वचनो से पिघलना नही चाहिये। पूर्व के अपकार को स्मरण रखते हुए मन ही मन प्रतिशोध लेने की कल्पना करना उचित है। राजा को शत्रु पर प्रहार करते समय भी प्रिय वचन बोलने चाहिये, प्रहार करने के बाद भी प्रिय वचन बोलने चाहिये, तलवार से मस्तक काट लेने पर भी उसके लिये कृत्रिम शोक प्रकट करना व रोना चाहिये।[३]

समय विशेष मे अधे बहरे जैसा व्यवहार—समय विशेष मे राजा को अधे व बहरे आदमी की तरह व्यवहार करना चाहिये। शत्रु के दोष देखकर भी अनदेखे और सुनकर भी अनसुने कर देने चाहिये। किन्तु अन्दर ही अन्दर वनचारी मृगो की तरह सदा सतर्क रहना चाहिये। जब शत्रु को वशीभूत करना सभव हो, तब साम, दान आदि का प्रयोग करे।[४]

शत्रु का विनाश—छोटा सा काँटा भी भीषण कष्टदायी हो जाता है, अतएव शत्रु का कोई चिन्ह नही छोडना चाहिये। उसके राज्य के दुर्ग, गृह, मार्ग आदि का ध्वस करके उसको निश्चिन्ह कर देना चाहिये।[५]

गृध्रदृष्टि, बकध्यान आदि—राजा को गीध की दृष्टि, वक के ध्यान, कुत्ते की चेष्टा सिह के विक्रम काक की शका तथा भुजग की क्रूरता का अनु-

---

१. ये सपत्नाः सपत्नाना सर्वास्तानुपसेवयेत्। शाति १४०।३९

२ अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनै'।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद् यथा वृकः॥ शान्ति १४०।४६

३. अमित्र नैव मुञ्चेत वदन्त करुणान्यपि। शान्ति १४०।५२
प्रहरिष्यन् प्रिय ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम्।
असिनापि शिरच्छित्त्वा शोचेत च रोदेत च॥ इत्यादि।
शाति १४०।५४।शाति १०२।३४-४१

४. अध' स्यादधवेलायां वाधिर्यमपि संश्रयेत्। शान्ति १४०।२७

५. नासम्यक् कृतकारी स्यादप्रमत्त. सदा भवेत्। इत्यादि।
शाति १४०।६०, ६१

करण करना चाहिये। राजा मे यदि ये गुण हो तो उसे शत्रु का कोई डर नही रहता।[१]

वीर लोभी के साथ व्यवहार—वीर पुरुष के पास विनीत बन कर जाना उचित है। लोभी व्यक्ति को अर्थ के द्वारा वश मे किया जा सकता है।[२]

दूर रहकर भी निश्चिन्त नहीं रहना चाहिये—विद्वान् तथा बुद्धिमान व्यक्ति के साथ झगडा करके कितनी भी दूर रहे लेकिन निश्चित न रहे। बुद्धिमान व्यक्ति के पास या दूर रहने मे कोई अन्तर नही होता। वह अगर चाहे तो कही भी रहकर बदला ले सकता है।[३]

विषकन्या की परीक्षा—कई बार शत्रु राजा उपहारस्वरूप सुन्दरी युवती भेजता है। परिमित मात्रा मे विप खिला खिलाकर उस कन्या को ऐसा बना दिया जाता है कि उसके स्पर्शमात्र से दूसरे प्राणी की मृत्यु हो जाती है। ऐसी कन्या को विषकन्या कहते हैं। गुप्तचरो द्वारा सब बातो का अच्छी तरह पता लगाकर ही सावधानी के साथ रहना चाहिये। इन सब प्रलोभनो से राजा यदि स्वय को न बचा सके तो विनाश अवश्यभावी है।[४]

आशा देकर दीर्घकाल तक रोकना—शत्रु को आशापाश के बधन मे बाँधना चाहिये। उसे ऐसी आशा दे कि वह दीर्घकाल अपेक्षित हो। जब वह काल खत्म हो जाय तो फिर एक प्रतिबधक दिखाकर उसे निरस्त करना चाहिये। इस प्रकार सिर्फ आशा के बल पर शत्रु को बाँधे रखने की चेष्टा करनी चाहिये।[५]

(शान्तिपर्व के १४० वे अध्याय और आदिपर्व के १४० वे अध्याय के अधिकाश श्लोक एक से ही हैं, लेकिन सख्या नही मिलती। आदिपर्व के इस अध्याय को 'कणिक-

---

१. गृध्रदृष्टिर्वकालीन. श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।
अनुद्विग्नः काकशंकी भुजंगचरितं चरेत॥ शान्ति १४०।६२

२. शूरमञ्जलिपातेन......। शांति १४०।६३
लुब्धमर्थ प्रदानेन......। शान्ति १४०।६३

३. पण्डितेन विरुद्धा सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।
दीर्घो बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिसति हिंसितः॥ शांति १४०।६८

४. प्रणयेद्वापि तां भूमि प्रणश्येद् गहने पुनः।
हन्यात् क्रुद्धानतिविषास्तान् जिह्मगतयोऽहितान्॥
शान्ति १२०।१५।नीलकंठ देखिये।

५. आशा कालवतीं दद्यात् कालं विघ्नेन योजयेत्।
विघ्न निमित्ततो ब्रूयान्निमित्त वापि हेतुतः॥ आदि १४०।८८

वाक्य' और शान्तिपर्व के अध्याय को 'कणिकोपदेश' का नाम दिया गया है। दोनो अध्यायो मे ही कुटिल राजधर्म की समीक्षा की गई है। ऊपर के प्राय सभी उदाहरण हमने शान्तिपर्व से लिये है।)

साम व दान—जव तक युद्ध के विना रहा जा सके, युद्ध से बचना चाहिये, यह पहले ही कहा जा चुका है। साम के द्वारा शत्रु को वश मे न किया जा सके तो दान का प्रयोग करना चाहिये।

दान के द्वारा प्रतिपक्षी के सन्तोष का विधान—बलवान प्रतिपक्षी यदि अधार्मिक तथा पापाचारी हो तो उसे कुछ धनसम्पत्ति देकर सधि करने का यत्न करना चाहिये। अधार्मिक धन गर्वित शत्रु अत्यन्त भयानक होता है। उसके विरुद्ध कभी कोई कार्य नही करना चाहिये। धन-सम्पत्ति की थोडी सी क्षति होने से ही यदि प्राणरक्षा हो सके, तो वह उत्तम है। अन्त पुर दुर्दमनीय शत्रु के हाथो मे न चला जाये, इसकी यथासाध्य कोशिश करनी चाहिये, लेकिन यदि रक्षा न की जा सके तो उसके साथ अपनी जान नही गँवानी चाहिये। जिन्दा रहने पर समय यदि लौटे तो गँवाई हुई सम्पत्ति का उद्धार किया जा सकता है। अतएव अविवेकी, बलवान शत्रु से सधि कर लेना ही बुद्धिमत्ता है।[1]

साम या सधि—सधि साधारणत दो प्रकार की होती है, अविग्रह तथा विग्रहोत्तर। विग्रह अर्थात् युद्ध न करके पहले ही शत्रु के साथ सधि कर लेना अविग्रह सधि है और युद्ध होने के बाद सधि करने को विग्रहोत्तर सधि कहते हैं।

बलवान के साथ संधि—बलवान शत्रु के सामने सदा झुक जाना चाहिये। बलवान के साथ सधि कर लेना ही बुद्धिमत्ता है। अपना पक्ष दुर्बल या विपक्षी के समान हो तब भी सधि का प्रयत्न करना उचित है।[2]

हृत सपत्ति का कौशल से उद्धार करने का प्रयत्न—प्रतिपक्षी बलवान हो तो भी उसके साथ सधि करके साम आदि के द्वारा उसे अपने व्यवहार से सन्तुष्ट रखना चाहिये। उसके द्वारा अधिकृत सम्पत्ति को धीरे-धीरे कौशल से हस्तगत करने का

---

१. योऽधर्म विजिगीषु स्याद्बलवान् पापनिश्चयः।
आत्मनः सन्निरोधेन सधि तेनापि रोचयेत्॥ इत्यादि। शाति १३१।५-८

२. प्रणिपात च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयस । इत्यादि।
शांति १०३।२९ आश्व ९।८
हीयमानेन वै संधिः पर्येष्टव्यः समेन च। शल्य ४।४३
यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना। इत्यादि।
शाति ६९।१४,१५

प्रयत्न करना चाहिये। विशेषत यदि प्रतिपक्षी धर्मपरायण हो, तो उसके साथ युद्ध करना मूर्खता का परिचायक है।[1]

संधि के बाद अन्दर ही अन्दर शक्ति बढ़ाना—सधि के बाद धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढाते रहना चाहिये और फिर सुयोग समझ कर शत्रु पर धावा बोलना बुद्धिमानी है।[2]

संधिकाम प्रतिपक्षी के पुत्र को अपने पास रखना—दुर्बल विपक्षी यदि सधि करना चाहे तो उसके पुत्र को अपने पास रख लेना चाहिये। पुत्रस्नेह के आकर्षण से वह व्यक्ति फिर कभी विरोध करने का साहस नही करेगा।[3]

संधिकाम से उत्कृष्ट भूमि आदि लेना—विपक्षी की अपेक्षा यदि स्वय बलवान हो तो सधि के समय उससे उर्वरा भूमि, कुशल बलवान योद्धा एव विचक्षण अमात्य आदि लेकर सधि करनी चाहिये। विपक्षी यदि दुर्बल हो तो वह असगत प्रस्तावो पर भी आपत्ति नही उठा पाता।[4]

भेद प्रयोग—चतुर राजा शत्रु के मित्रो को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करता है। मित्रो के साथ छोड देने से शत्रु बलहीन हो जाता है। उस समय उसे अनायास ही पराभृत किया जा सकता है। भेदनीति के द्वारा शत्रु के अमात्य आदि को अपनी तरफ कर लेने से अपनी शक्ति बढ जाती है। बहुत से मधुकर मिलकर मधु ले जाने वाले को विनष्ट करने मे समर्थ होते है।[5]

शत्रु का क्षतिसाधन—शत्रु की शक्ति आदि के बारे मे पता लगाकर भेदनीति, उपहार प्रदान अथवा विष आदि के प्रयोग से उसकी शक्ति को क्षीण करने की चेष्टा करनी चाहिये।[6]

---

१. वाह्यश्चद्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थ कुशलः शुचिः।
जवेन सधि कुर्वीत पूर्वमुक्तान् विमोचयेत्॥ शान्ति १३१।४

२. द्रव्याणां सञ्चयश्चैव कर्त्तव्यः सुमहांस्तथा।
यदा समर्थो यानाय न चिरेणेव भारत। आश्र ६।९

३. सन्ध्यर्थं राजपुत्र वा लिप्सेथा भरतर्षभ।
विपरीतं न तच्छ्रेयः पुत्र कस्याञ्चिदापदि। आश्र ६।१२

४. तदा सर्वं विधेयं स्यात् स्थानेन स विचारयेत्।
भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत॥ इत्यादि। आश्र ६।१०,११

५. अमित्रं मित्रसम्पन्नं मित्रैर्भिन्दन्ति पण्डिताः। वन ३३।६८
अमित्रः शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव। वन ३३।७०

६. बलानि दूषयेदस्य जानन्नेव प्रमाणतः।
भेदेनोपप्रदानेन संसृजे दौषेधस्तथा॥ शान्ति १०३।१६, १७

विफल होने पर दडप्रयोग—सर्वप्रथम हर जगह साम, दान व भेद का प्रयोग करना चाहिये। भेदनीति के विफल होने पर दडरूप युद्ध करना चाहिये।[१]

शत्रु का मूलोत्पाटन—आश्रय का मूलोत्पाटन होने पर सब प्राणी विपन्न हो जाते हैं। छिन्नमूल वृक्ष पर शाखायें नही रह पाती। बुद्धिमान राजा को सर्वप्रथम शत्रु के मूल का पता लगाकर उसे उखाडने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके बाद शत्रु के सहायक और अमात्यो को हस्तगत करने का प्रयत्न करना चाहिये। भेदनीति के द्वारा भीरु व्यक्ति को सहज ही अपनी ओर मिलाया जा सकता है।[२]

दृढप्रतिज्ञ व्यक्ति पर भेदनीति विफल (कर्ण)—दृढप्रतिज्ञ व्यक्ति को चालाकी द्वारा अपनी तरफ मिलाना सभव नही होता। इस विषय मे कर्ण का दृष्टान्त उत्कृष्ट प्रमाण है। कर्ण को अपनी तरफ मिलाने के कृष्ण ने कई बार प्रयत्न किया, लेकिन हर बार उन्हे निराश होना पडा। वे किसी भी तरह कर्ण को दुर्योधन से अलग नही कर सके।[३]

बुद्धिहीन व्यक्ति (शल्य)—जरा सी प्रशसा करके ही दुर्योधन ने शल्य को अपनी तरफ मिला लिया था। उन्हे जरा भी जोर नही डालना पडा। शल्य इतने मदान्ध तथा प्रशसाप्रिय थे कि दुर्योधन के साथ मिल जाने के बाद भी उन्होंने युधिष्ठिर का गलत अनुरोध मान लिया। कर्ण के सारथी बनकर उन्होने उन्हे तरह तरह के डर दिखाये और युधिष्ठिर की मनोकामना पूरी की। ऐसे अस्थिरचित्त अल्पबुद्धि व्यक्ति को भेदनीति द्वारा आसानी से वश मे किया जा सकता है।[४]

गृहयुद्ध कराना—चालाकी से विपक्षी के अमात्यो आदि मे झगडा करा देने पर भी अपनी कार्यसिद्धि सहज ही हो जाती है। झगडा खूब सावधानी से कराना चाहिये, ताकि विपक्षी को अपने उद्देश्य का पता न लगे।[५]

भेदनीति का प्रयोग तीक्ष्ण बुद्धिसापेक्ष—भेदनीति को कार्यरूप मे परिणत करना धुरधर बुद्धिमान व्यक्ति का काम है। उद्योग पर्व के प्रारम्भ मे जब पाचाल-

---

१. भेदञ्च प्रथम युञ्ज्यात्। शान्ति १०३।२८

२. छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषा जीवन हतम्।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ॥ इत्यादि।
शाति १४०।१०, ११

भीरुं भेदेन भेदयेत्। शान्ति १४०।६३

३ उद्योग १४३वां अध्याय। भीष्म ४३।९०–९२

४. उद्योग ८ वां अध्याय।

५. अमात्य वल्लभानाञ्च विवादास्तस्य कारयेत्। शान्ति ६९।२२

राज अपने पुरोहित को दूत बनाकर कुरुसभा मे भेजते है, तब उसे कहते हैं, "आप कुरुसभा मे ऐसी धर्मार्थ युक्त बात कहियेगा कि सबका मन पिघल जाय। वचन-विन्यास इस तरह करियेगा कि भीष्म, द्रोण व कृपाचार्य आदि वीरो मे मतभेद हो जाय"।[1] पुरोहित ने सफलकाम होने की यथासाध्य चेष्टा की थी, परन्तु हुए नही। ब्राह्मण की जिह्वा क्षत्रिय की जिह्वा जैसी चतुर नही होती। उनकी बाते सुनकर भीष्म ने कहा था कि, "आप जो कुछ भी कह रहे है, ठीक है, लेकिन सम्भवत ब्राह्मणत्व के कारण ही आपकी बाते बहुत तीक्ष्ण है"।[2]

भेद-नीति के संबंध में उपाख्यान—आदिपर्व के कणिकवाक्य मे अत्यन्त कुटिल भेदनीति के सबध मे एक उपाख्यान वर्णित है। धूर्त्त श्रृगाल ने अपने बुद्धिबल से व्याघ्र आदि जन्तुओ को निरस्त करके प्रचुर मासलाभ किया था।[3]

अपने पक्ष की फूट से विनाश निश्चित—विपक्षी के घर मे फूट पडना जिस प्रकार अभ्युदय का हेतु है, उसी प्रकार अपने पक्ष के लिये फूट विनाश का कारण है। अतएव बुद्धिमान राजा को सदा अपने अमात्य आदि सभासदो को सावधानी पूर्वक इससे बचाये रखना चाहिये। अपने लोगो को वश मे रखने के लिये जितेन्द्रि-यता तथा मधुर व्यवहार की बहुत आवश्यकता है। समयविशेष मे सभासदो वगैरह के दोषी होने पर भी उन्हे क्षमा देनी पडती है। सद्व्यवहार से यदि उन्हे वश मे न रक्खा जाय तो विपक्षी आसानी से उन्हे अपनी ओर कर लेता है।[4]

आपस मे कभी विवाद नही करना चाहिये, इससे शत्रु को भेदनीति के प्रयोग का सुयोग मिल जाता है। क्षमा, इन्द्रियनिग्रह तथा त्याग के द्वारा हर एक किसी को वश मे किया जा सकता है। शत्रु का बल कम करने के जितने भी उपाय मनी-षियो ने बताये है, उनमे भेद ही प्रमुख है। आत्मपक्ष के लिये फूट से अधिक अनिष्ट-कारी और कोई उपाय नही है।[5]

---

१. मनांसि तस्य योधानां ध्रुवमावर्त्तयिष्यति। उद्योग ६।९, १०

२. भवता सत्यमुक्तन्तु सर्वमेतन्न संशयः।
अतितीक्ष्णन्तु ते वाक्यं ब्राह्मण्यादिति मे मतिः॥ उद्योग २१।४

३. आदि १४० वाँ अध्याय।

४. नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान्।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसावह॥ शान्ति ८१।२३

५. भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव। इत्यादि। शांति ८१।२५–२७
बलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः।
मुख्यो भेदो हि तेषान्तु पापिष्ठो विदुषा मतः॥ विराट ५१।१३

बालक शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये—शत्रु यदि बालक भी हो तो भी उपेक्षणीय नही है, क्योकि वह सदा दोष ढूंढता रहता है। बालक भी यदि सधिविग्रह आदि का जानकार हो, तो वह भी नि सदेह पार्थिव-श्रेष्ठ होता है।[१]

स्थान व काल की अनुकूलता आवश्यक—देश एव काल का परीक्षण किये बिना विक्रम दिखाना उचित नही है। स्थान और काल अनुकूल न हो तो शौर्य-प्रदर्शन विफल हो जाता है।[२]

आत्मपक्ष के दुर्बल होने पर युद्ध का फल—समान बल वाले शत्रु के साथ भी लाचार होकर युद्ध करना पडता है, लेकिन अपने से अधिक बलवान के साथ तो कभी भी युद्ध नही करना चाहिये। आत्मपक्ष यदि दुर्बल हो तो कुछ क्षति उठाकर भी सधि कर लेनी चाहिये और फिर धीरे-धीरे शक्ति बढाकर प्रतिशोध लेना चाहिये। दुर्बल व्यक्ति के बलवान से भिडने पर क्या परिणाम होता है, यह पवन-शाल्मलि-सवाद मे एक उपाख्यान के द्वारा भीष्म ने युधिष्ठिर को समझाया है। बल-वान के साथ शत्रुता का फल आत्मविनाश है।[३]

भेद आदि द्वारा शत्रु को दुर्बल बनाकर बाद मे युद्ध करना—उपयुक्त समय आने पर शत्रु को भय दिखाना चाहिये। शत्रु को विपन्न करने की हर प्रकार चेष्टा करनी चाहिये। भेदनीति, मित्राकर्षण आदि उपायो द्वारा शत्रु को भीतर ही भीतर दुर्बल बनाकर बाद मे युद्ध करना चाहिये।[४]

उत्साहशक्ति आदि परीक्षणीय—आक्रमण से पहले बलाबल की विवेचना कर लेनी चाहिये। दोनो पक्षो की उत्साहशक्ति, प्रभुशक्ति, तथा मत्रशक्ति की पर्यालोचना मे अपना पलडा भारी हो तभी आक्रमण करना चाहिये। मित्रवल, अटवीबल, भृत्यबल तथा श्रेणीबल विशेष रूप से देख लेने चाहिये। मित्रबल सर्वापेक्ष अधिक परीक्षणीय है।[५]

---

१. बालोऽप्यबालः स्थविरो रिपुर्यः सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात्॥

शाति १२०।३९

२. देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः।
देशकाल व्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत्। इत्यादि।

शांति १४०।२८, २९

३. समं तुल्येन विग्रहः। इत्यादि। शाति १४०।६३। शांति १५७ वाँ अध्याय।

४. आमर्द्दकाले राजेन्द्र व्यपसर्पेत्ततः परम्। इत्यादि। आश्र ७।३, ४

५. प्रयास्यमानो नृपतिस्त्रिविधां परिचिन्तयेत्।
आत्मनश्चैव शत्रोश्च शक्तिं शास्त्रविशारदः॥ इत्यादि। आश्र ७।५–८

पूर्वोपकारी शत्रु अवध्य—जिस शत्रु ने अतीत मे कभी अपने ऊपर उपकार किया हो, उसे युद्ध मे हराने के वाद मारना नही चाहिये, वरन् उसका वीरोचित सम्मान करना चाहिये। ऐसा न करने से विजयी राजा अपने क्षात्रधर्म से भ्रष्ट होता है। उपकृत शत्रु यदि हृदयवान् होगा तो अवश्य ही प्रत्युपकार करेगा।[१]

विजित शत्रु को क्षमा करना बडप्पन—युद्ध मे जीत जाने पर शत्रु राजा को क्षमा करने से विपत्ति की आशका होते हुए भी राजा के यश की वृद्धि होती है, शत्रु भी उस राजा के प्रति विश्वस्त होते हैं।[२]

गुप्तचर—चरो की सहायता के बिना शत्रु मित्र का पता लगना कठिन है, इसीलिये राजा को चारचक्षु कहा जाता है। चरो के द्वारा ही राजा शत्रु मित्र की गतिविवियो से अवगत रहता है। शत्रु के अर्थवल, जनवल आदि की जानकारी होना वहुत आवश्यक है और चर के बिना सही सही खवर मिलना मुश्किल है। चर की आवश्यकता केवल शत्रु मित्र की गतिविधियो का पता लगाने तक ही सीमित नही है। राज्य मे प्रजा अपने राजा की शासनपद्धति से सतुष्ट है कि नही, वह क्या कहती है, राजा को इन सब वातो का ज्ञान भी अवश्य रहना चाहिये। गुप्तचर के विना राजा को कोई खबर नही मिल सकती, अतएव राज्य शासन के लिये चर भी प्रवान सहायक होता है। इसके विना राज्य की रक्षा सभव नही है। चर को यदि राज की रक्षा का मूल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।[३]

चर से सव खवरें जानकर कार्य करना—राज्य मे अन्दर-वाहर, पुरी, जनपद हर जगह चर रखना चाहिये। चरो के द्वारा सव खवरें मिलने पर कर्त्तव्य स्थिर करना चाहिये। मत्र, कोश, दण्ड आदि चर पर ही निर्भर होते हैं। शत्रु, मित्र, उदासीन की जानकारी के लिये राजा को चर का चक्षुस्वरूप व्यवहार करना चाहिये चर से राज्य की खवरो का पता लगाये बिना कुछ भी करना उचित नही है।[४]

---

१ द्विषन्तं कृतकल्याण गृहीत्वा नृपति रणे।
यो न मानयते द्वेषात् क्षत्रधर्मादपैति स ॥ शाति ९३।६, ८

२. विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञो विवर्द्धते।
महापराधे ह्यप्यस्मिन् विश्वसन्त्यपि शत्रव ॥ शाति १२०।३०

३ राज्य प्रणिधिमूल हि मन्त्रसार प्रचक्षते। शाति ८३।५१

४. वाह्यमाध्यन्तरञ्चैव पौरजानपद तथा।
चारै सुविदित कृत्वा तत कर्म प्रयोजयेत्। इत्यादि।
शाति ८६।१९–२२।शाति ९३।१९

चर द्वारा लोगों के चरित्र का ज्ञान—अपने व दूसरे के दोषो को देखने के लिये भी चर अन्यतम साधन है। कौन राजा मे दोष ढूँढता है, कौन राजा के प्रति स्वामिभक्त है आदि बातो का पता भी चर द्वारा लगाना चाहिये। मनुष्य स्वभाव को समझना बहुत कठिन है, किसका कैसा स्वभाव या चरित्र है, यह जानने के लिये दीर्घकाल तक उसके सपर्क मे रहना पडता है। चर की नियुक्ति के बिना लोगो के चरित्र आदि के बारे मे कुछ भी जानना असभव है।[1]

पुत्र आदि के उद्देश्य का ज्ञान—अमात्य, मित्र, यहाँ तक कि पुत्र के मनोभाव जानने के लिये भी चर नियुक्त करना पडता है।[2]

गुप्त रूप से चरो को भेजना—राजधानी मे, जनपदो मे तथा सामन्त राजाओ के पास इस तरह गुप्तरूप से चर भेजने चाहिये कि चर भी आपस मे एक दूसरे को न पहचान सकें।[3]

गुप्तचर की योग्यता—जो विचक्षण व्यक्ति किसी भी समय मौका पडने पर मूर्ख, अधे, बहरे की तरह बन सकता हो, जो भूख-प्यास से जल्दी कातर न हो जाय, वही गुप्तचर बनने के योग्य है।[4]

छद्मवेश मे चर—विपक्षी चर को पहचान न सके, चर को ऐसा वेश धारण करना चाहिये। भिक्षुक, तपस्वी आदि के छद्मवेश मे चरो को राज्य मे छोडना चाहिये।[5]

उद्यान आदि मे गुप्तचर छोड़ना—उद्यानो विहारभूमियो, प्रपाओ, मदिरालयो तीर्थों, सभासमितियो आदि सब जगहो पर गुप्तचर छोडने चाहिये। व्यापार केन्द्रो मे दुकानो मे, हाट मे, अखाडो मे, पुरवाटिका मे, बहिर्वाटिका मे, खानो

---

१. चारैर्व्विदित्वा शत्रुंश्च ये राजामन्तरैषिणः। इत्यादि।
आश्र ५।३७–३९

२. अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः॥ शान्ति ६९।९

३. पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।
यथा न विदुरन्योन्य प्रणिधेयास्तथा हिते॥ शान्ति ६९।१०

४. प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जड़ान्धवधिराकृतीन्।
पुसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रम क्षमान्॥ इत्यादि।
शांति ६९।८।उद्योग १९४।६२ द्रोण ७३।४

५. चारस्त्वविदितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत्॥ शाति १४०।४०

मे, चौराहो पर, राजसभा मे तथा अमात्य आदि के घरो मे गुप्तचर लगाने चाहिये।[1]

विपक्षी के गुप्तचरो को पकडने की चेष्टा—इन सब जगहो पर विपक्षी के गुप्तचरो को पडने की चेष्टा भी करनी चाहिये और पकडे जाने पर उपयुक्त दड देना चाहिये।[2]

स्वकृत कार्य का फल जानना—"मैंने जो कुछ किया, उससे प्रजा सन्तुष्ट है कि नही, वह मेरे कार्यो की प्रशसा करती है कि नही, मेरी वर्त्तमान शासनपद्धति के प्रति प्रजा की सहानुभूति है कि नही, नगरो व जनपदो मे मेरी ख्याति प्रजा द्वारा अभिलषित है कि नही," इन सब बातो का पता लगाने के लिये अनुगत गुप्तचरो को चारो दिशाओ मे छोडना चाहिये।[3] यद्यपि महाभारत मे यह स्पष्ट नही किया गया है कि गुप्तचर मे कौन-कौन से गुण होने चाहिये, तथापि गुप्तचर के कार्य से अदाज होता है कि आकार इगितज्ञ, स्मृतिमान, कष्टसहिष्णु, परचित्तपरीक्षक एव अत्यधिक कुशल व्यक्ति को ही इस कार्य के लिये नियुक्त किया जाता था। ऐरे-गैरे व्यक्ति को दायित्वपूर्ण कार्य नही सौपा जाता। मनुसहिता व कामन्दकीय नीतिसार मे इस विषय पर बहुत सी ज्ञातव्य बातें बताई गई हैं। अब राष्ट्र एव दुर्ग के बारे मे उल्लेख किया जाता है।

राजधानी—राज्यशासन के केन्द्र या राजा जिस नगरी मे रहता हो, उसे राजधानी कहते हैं। राजा अधिकतर राजधानी मे ही रहता था।

एक जनपद कई गाँवों मे विभक्त—राष्ट्र या एक एक जनपद को कई गाँवो मे विभक्त किया जाता था। प्रत्येक गाँव के लिये एक अधिपति निर्वाचित होता था। कई गाँवो के अधिपतियो के परिचालक स्वरूप एक और कर्मचारी को नियुक्त

---

१ उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च।
पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च॥ इत्यादि।
शाति १४०।४१, ४२
चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च। इत्यादि।
शाति ६९।५२, ११, १२

२. एव विचिनुयाद् राजा परचारं विचक्षण। शाति ६९।१३
समागच्छन्ति तान् बुद्धा नियच्छेच्छमयीत च। शान्ति १४०।४२

३. अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
गुप्तैश्चारैरनुमतै. पृथिवीमनुसारयेत्॥ इत्यादि।
शाति ८९।१५, १६

किया जाता था। इसी प्रकार क्रमश ऊर्ध्वतन कर्मचारियो की नियुक्ति के द्वारा राष्ट्ररक्षा की व्यवस्था थी।

गणमुख्य या ग्रामशासक—हर काम मे साधारण प्रजा की राय ली जाती थी। लेकिन वह आजकल के वोट की तरह नही थी। विद्या, बुद्धि एव चरित्रबल के द्वारा जो ग्रामवासियो की श्रद्धा का पात्र बनने मे सफल होता था उसी को गॉव के प्रतिनिधित्व का अधिकार मिलता था। मनोनीत व्यक्ति को 'गणमुख्य' कहा जाता था।[१]

गणमुख्य का सम्मान—गणमुख्यो को राज्यसभा मे विशेष सम्मान मिलता था। राज्यशासन बहुत अशो मे उन पर भी निर्भर होता था। जनसाधारण के हित के लिये कोई भी काम करने से पहले राजा को गणमुख्यो से परामर्श अवश्य ले लेना चाहिये। गणमुख्यो मे यदि आपस मे विवाद उपस्थित हो जाता था तो राजा ही उसे निपटाता था।[२]

ग्रामाधिप, दशग्रामाधिप आदि—पहले प्रत्येक ग्राम के लिये एक अधिपति नियुक्त होता था। फिर दस गाँवो के प्रतिनिधियो को ठीक से चलाने के लिये एक क्षमताशाली को दस गाँवो का अधिपति बनाया जाता था। दो दशग्रामाधिपतियो पर एक और भी सामर्थ्यवान योग्यतर व्यक्ति रक्खा जाता था। इसी प्रकार सौ ग्रामो का तथा सहस्र ग्रामो का आधिपत्य उत्तरोत्तर योग्य व्यक्तियो को सौंपा जाता था।[३]

अधिपतियो की कार्यपद्धति—गॉव मे चोरी, डकैती अथवा कुछ और घटता था तो ग्रामाधिपति स्वय उसका निराकरण करता था। असमर्थ होने पर दशग्रामाधिपति को बताता था। वह भी यदि निराकरण नही कर पाता था तो विंशतिग्रामाधि-पति को, खबर देता था। इसी प्रकार उत्तरोत्तर यदि सभी कर्म-चारी असमर्थ होते थे तो बात राजदरबार मे पहुँचती थी। लेकिन क्रमिकता का उल्लघन नही किया जा सकता था।[४]

---

१. तस्मादनयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः। शांति १०७।२३

२. लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव। शाति १०७।२३
गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः। शाति १०७।२५–२७

३. ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथा परः।
द्विगुणाया शतस्यैव सहस्रस्य च कारयेत॥ शाति ८७।३

४. ग्रामे यान् ग्रामदोषाश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद्दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै॥ इत्यादि। शाति ८७।४, ५

नियुक्तो की वृत्ति व्यवस्था—गाँव मे जो खाद्यवस्तु पैदा होती थी, ग्रामवासी उनमे से थोडा-थोडा ग्रामाधिप को देते थे। वह दान राजा का ही प्राप्य होता था। पर राजा की व्यवस्था के अनुसार उन लब्ध वस्तुओ पर ग्रामाधिप का अधिकार होता था। ग्रामाधिप मिलकर दशग्रामाधिपो का भरण-पोषण करते थे और दशग्रामाधिप विंशति ग्रामाधिप के जीविका-निर्वाह के लिये वाध्य होते थे। इस प्रकार गाव मे उत्पन्न द्रव्य से ही ग्राम शासको का जीवननिर्वाह होता था।[1]

शतग्रामाधिप आदि की जीविका वृत्ति—जो गाँव वहुत वडे होते थे तथा जिनकी जनसख्या भी अधिक होती थी, उनके ग्रामवासियो द्वारा प्रदत्त सरकारी प्राप्य शतग्रामाध्यक्ष स्वय लेता था। ग्रामाधिपतियो मे जिनकी क्षमता सबसे अधिक होती थी, वह सहस्रग्रामाध्यक्ष गाँवो की प्रजा से मिलकर एक शाखानगर की स्थापना करता था और उस शाखानगर के राजप्राप्य धान्य आदि से अपना जीवन निर्वाह करता था।[2]

प्रत्येक नगर मे सर्वार्थ चिन्तक सचिव की नियुक्ति—ग्रामाधिपति के अपने गाँव मे कोई कार्य होता था तो कोई एक विचक्षण सचिव वहां उपस्थित रहकर हर चीज का पर्यवेक्षण करता था और प्रत्येक नगर मे एक सर्वार्थचिन्तक सचिव रहता था। नगरविकास कार्यों का पर्यवेक्षण करना उनका काम था। जिस प्रकार उच्चस्थान स्थित ग्रह निम्नस्थ ग्रहो की गतिविधि पर नियन्त्रण रखते हैं, उसी प्रकार नगरसचिव भी ग्रामाध्यक्षो की कार्यपद्धति की देखभाल करता था। सर्वार्थचिन्तक अमात्य सभासदो के काम काज के परिदर्शक भी होते थे। वे नगरो, ग्रामो मे गुप्तचर छोडकर ग्रामाध्यक्षो एव सभासदो के व्यवहार की जानकारी प्राप्त करते थे। घातक, पापात्मा व परस्वहारी कर्मचारी या ग्रामाध्यक्ष से प्रजा की रक्षा करना ही उनका प्रधान कार्य था। राज्यशासन के मामले मे इन सचिवो का दायित्व सबसे अधिक होता था। इनकी साधुता एव कर्मपटुता पर ही समग्र राज्य का मगल निर्भर करता था, इसलिये नृपति स्वय परीक्षा किये बिना सर्वाध्यक्ष के पद पर किसी को नियुक्त नही करता था।[3]

---

१. यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्नियात्।
 दशपस्तेन भर्त्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः॥ शाति ८७।६

२. ग्राम ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः। इत्यादि। शाति ८७।७-९

३. धर्मज्ञ. सचिवः कश्चित्तत् पश्येदतन्द्रित.।
 नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः। इत्यादि। शाति ८७।१०-१३

कर्मचारियो की कार्यप्रणाली का पर्यवेक्षण—राज्य मे सघटित किसी अन्याय या दुराचार के लिये राजा ही उत्तरदायी होता है, अत कर्मचारियो की नियुक्ति मे उसे बहुत-सावधानी बरतनी चाहिये। किन्तु केवल कर्मचारियो को नियुक्त करके राजा का दायित्व समाप्त नही हो जाता। कर्मचारी किस तरह अपना कर्त्तव्य पालन करते है, इस पर भी राजा को नजर रखनी चाहिये। प्रजा के सुकृत व दुष्कृत कर्मों का फल राजा को भी भोगना पडता है, यह बात बार-बार दुहराई गई है। इन सब बातो को ख्याल मे रखते हुए राजा को इस तरह शासन करना चाहिये कि राज्य मे दुराचारी व्यक्ति बचे ही नही। जो राजा शासन की ओर से विमुख रहता है, वह दीर्घकाल तक राज्यसुख नही भोगता।[1]

गाँव की उन्नति का विधान—राजधानी तथा नगरो की उन्नति के साथ साथ गाँवो की उन्नति पर भी ध्यान देना चाहिये। नारदीय राजधर्म मे एक जगह देवर्षि नारद युधिष्ठिर से पूछते है, "तुमने गाँवो को नगरो मे और जगली जातियो के वासस्थानो को गाँवो मे परिणत किया है क्या"? जिन जगहो मे साधारणत कृषि ही जीविका का प्रधान साधन होती थी उसे ग्राम कहा जाता था। नीलकठ ने गाँवो को 'शूद्रजन बहुल जनपद' कहा है। लेकिन नारद ने युधिष्ठिर से अधिकतर प्रश्न कृषि आदि के बारे मे ही किये है। इससे प्रतीत होता है कि ग्राम शब्द कृषि प्रधान जनपद के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है, शूद्रजन बहुल जनपद मे नही।

गाँवो की उन्नति से नगर की उन्नति—गाँवो को उन्नत करने के सबध मे नारद ने कहा है गाँवो की उन्नति मे ही नगरो की उन्नति निहित है। कृषि आदि मे यदि गाँव उन्नति नही करेगे तो गाँव भी नही टिक पायेंगे।

जगली बस्तियो की उन्नति—जगली जातियाँ गाँव के बाहर छोटे-छोटे मुहल्ले जैसी बस्तियो मे रहती थी। उन बस्तियो को 'प्रान्त' कहा जाता था। नारद ने कहा है, प्रान्तो को गाँवो का रूप देने की कोशिश करनी चाहिये। जगली या पहाडी लोगो को भी ग्रामवासियो जैसी ही सुविधाएँ मिले, इस उद्देश्य से बस्तियो को उन्नत करना चाहिये। हर जातीय प्रजा राज्य का अग होती है, अत किसी को भी उसके अपने हाल पर छोड देना या हीन मानकर उपेक्षा करना उचित नही है।[2]

---

१. भोक्ता तस्य तु पापस्य सुकृतस्य यथा तथा।
नियन्तव्याः सदा राज्ञा पापा ये स्युर्नराधिप॥ इत्यादि। शाति ८८।-
१९, २०

२. कच्चिन्नगर गुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः॥ सभा ५।८१

कृषि व वाणिज्य की उन्नति का विधान—नारद ने युधिष्ठिर से पूछा है, "तुम्हारे राज्य मे चोर, लोभी या दुष्टो का उत्पात तो नही होता? कृषक तुम्हारी शासन-पद्धति से सन्तुष्ट है न? खेती की सुविधा के उद्देश्य से तुमने राज्य मे जगह जगह तालाब आदि तो खुदवा दिये है न? कृपि जीवियो को अन्न का अभाव तो नही रहता। फसल बोने के लिये बीज तो प्रचुर मात्रा मे मिल जाता है? कृषि, वाणिज्य, पशुपालन तथा महाजनी आदि की सुव्यवस्था का तुम सदा ख्याल रखते हो न"?[1]

कर वसूल करने के लिये कृतप्रज्ञ व्यक्ति की नियुक्ति—नारद मनि ने कहा है प्रत्येक जनपद मे कर आदि वसूल करने के लिये कृतप्रज्ञ वीर पुरुष को नियक्त करना चाहिये। ये उक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि गाँवो की हर प्रकार की उन्नति की यथेष्ट चेष्टा की जाती थी।[2]

नाना प्रकार के दान तथा फलश्रुतियाँ—राज्य मे स्वच्छ पानीय जल की व्यवस्था करना, दरिद्र को अन्न दान देना, विद्वान् ब्राह्मण को बिना कर की भूमि देना आदि जनहितकारी कार्यों के तरह तरह के फल बताये गये है। राजा को इन सब कार्यों के लिये उत्साहित करने के उद्देश्य से महाभारत मे बहुत कुछ कहा गया है। अनुशासन पर्व का दान धर्म प्रकरण नाना प्रकार के दान तथा फलश्रुतियो से परिपूर्ण है। जनसाधारण के उपकार की ओर दृष्टिपात किया जाय तो प्रत्येक अध्याय अतुलनीय है। अर्थक्षति तथा शारीरिक कष्ट के भय से जिस कार्य की ओर प्रवृत्ति नही होती उसका फल यदि शास्त्रो मे अनन्त काल तक स्वर्गभोग या कोई दूसरा बडा फल बताये जाने पर आस्तिक, शास्त्रो पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति उस कार्य को क्षमतानुसार करने की चेष्टा करता है। सम्भवत यही सोचकर अनुशासन पर्व के दान प्रकरण मे तरह तरह के पुण्यफलो का गुणगान किया गया है।[3]

दुर्ग या राजधानी—अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना ही धनी व्यक्तियो की सबसे बडी समस्या होती है। चोर दस्युओ के हाथ से धन-दौलत को दूर रखने के लिये निरापद स्थान की आवश्यकता पडती है। साधारण मनुष्य तो सर्दी-गर्मी से बचाने लायक घर मे ही सुख से रह सकता है, लेकिन धनी व्यक्ति को वासगृह बनवाते

---

१. कच्चिन्न चौरे र्लुब्धैर्वा कुमारै: स्त्रीबलेन वा।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित्तुष्टा कृषीबला.॥ सभा ५।७८।७९

२. क्षेम कुर्वन्ति सहत्य राजन् जनपदे तव। सभा ५।८०

३. पानीय परम दान दानानां मनुरब्रवीत्।
तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तडागानिच खानयेत्॥ अनु ६५।३

समय बहुत कुछ सोचना समझना पडता है। धनवान को शत्रुओ का अभाव नही होता, अत उसे सदा सावधान रहना पडता है। राजाओ की तो फिर बात ही अलग है, शत्रुभय उनका चिरसगी होता है। शत्रुपक्ष अपने आक्रमण मे सफल न हो सके इसके लिये आवासस्थान तथा कोशागार आदि सुदृढ एव सुरक्षित होने चाहिये। इसीलिये दुर्ग या राजधानी को सप्राग राज्य का अन्यतम अग माना गया है। शास्त्र-कारो ने भी दुर्ग आदि की निर्माण पद्धति के प्रसग मे बहुत से विधि निषेधो का उल्लेख किया है। मनसहिता, अग्निपुराण, कामन्दकीय तथा शुक्रनीति मे इस सबध मे बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है। किन्तु यहाँ हम महाभारतकार के अभिमत पर ही ृष्टिपात करेगे।

धन्व आदि के भेद से छह प्रकार के दुर्ग—धन्वदुर्ग (मरुवेष्टित), महीदुर्ग (पाषाण या ईंटो से घिरा), अव दुर्ग (जलवेष्टित) वार्क्ष दुर्ग (महावृक्ष, कण्टक व गुल्मादि वेष्टित), नृदुर्ग (सेनापरिवेष्टित)तथा गिरिदुर्ग (पर्वतशृग पर बना निभृत व दुर्गम) के भेद से छह प्रकार के दुर्ग होते है।[1] (उपर्युक्त दुर्ग भेद मनुसहिता मे मिलते है, महाभारत मे अव्दुर्ग के स्थान पर मृद्दुर्ग का उल्लेख किया गया है। सम्भवत महाभारत का कथन समीचीन नही है, क्योकि महीदुर्ग व मृद्दुर्ग एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द है, और इसको मानने से छह प्रकार के दुर्ग नही रह जाते)।

दुर्ग आदि युक्त पुरी ही राजा के लिये वासोपयोगी—जो नगरी दुर्ग युक्त हो, सुदृढ प्राकार व परिखा से घिरी हो, बलवान मनुष्यो एव हाथी, घोडो आदि से सुशोभित हो, जिसमे विद्वान शिल्पियो का आवास हो, धन धान्यादि सम्पदायो से समृद्ध हो, दक्ष व धार्मिक व्यक्तियो का जहाँ निवास हो, चौराहे तथा बड़ी-बडी दुकानो की पक्तियाँ जिस नगरी की शोभा बढाती हो, जिस नगरी के निवासी प्रशान्त, निर्भीक व सुन्दर हो, जहाँ शूरवीर व धनाढ्य व्यक्ति सानन्द निवास करते हो, जिसमे नित नये सामाजिक उत्सव होते हो, जिसके निवासी सदा देव व द्विज की अर्चना करते हो तथा जो नगरी सर्वदा वेदध्वनि एव गीतवाद्यो से मुखरित रहती हो, उसी नगरी मे राजा को अपने अनुगत पात्रमित्रो सहित सानन्द निवास करना चाहिये।[2]

---

१. धन्वदुर्गं महीदुर्गमवदुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम्। मनु ७।७०
षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्। इत्यादि। शान्ति ८६।४, ५

२. यत् पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम्॥ इत्यादि। शांति ८६। ६–१०

राजधानी मे रक्षणीय द्रव्य आदि—ऐसी नगरी मे रहते हुए राजा को कोप वल मित्र आदि की वृद्धि का सतत प्रयत्न करना चाहिये। धनागार, शस्त्रागार व धान्यादि सम्पदाओ की वृद्धि का ख्याल रखना चाहिये। काष्ठ, लौह, तुप, ईंधन, देवदारु, शृंग, अस्थि, मज्जा, वाँस, तेल, वसा, मधु, औपध, शण, सर्जरस (चूना), धान्य, शर, आयुध, चर्म, स्नायु, वेत्र, मूंज, वल्वज, वधन (रस्सी, वेडी, शृंखला आदि), कूप, जलाशय, क्षीरवृक्ष (जिन वृक्षो मे दूध जैसा रस निकलता हो, जैसे वट, कटहल, पीपल आदि) आदि द्रव्य राजधानी मे सदा प्रचुर मात्रा मे विद्यमान रहने चाहिये।[1]

यज्ञ आदि का अनुष्ठान—पुरी मे याग-यज्ञ व दान आदि का अनुष्ठान करते रहना चाहिये, इससे प्रजा धर्मपरायण होती है।[2]

दुर्ग की विशालता—दुर्ग कभी छोटा नही वनाना चाहिये, क्योकि छोटे दुर्ग पर शत्रु आसानी से अधिकार कर लेता है। नगरस्थित छोटे-छोटे वृक्षो को तथा वडे वृक्षो की वडी-वडी शाखाओ को कटवा देना चाहिये।[3]

दुर्ग निर्माण पद्धति—दुर्ग की प्राकार वहुत ऊँची वनवानी चाहिये। परकोटे की दीवार पर काफी आदमियो के वैठने की व्यवस्था होनी चाहिये। वाहरी परकोटे पर चढकर दूर की वस्तु भी देखी जा सकती है, अत दुर्ग के अन्दर से ही वाहर शत्रु को देखने के एव अन्दर हवा के आवागमन के निमित्त परकोटे मे छोटे-छोटे झरोखे रखने चाहिये। आवश्यकता पडने पर इन झरोखो से वाहर खडे शत्रुपक्ष पर आग्नेय अस्त्र फेंके, जा सकते हैं। परकोटे के वाहर चारो ओर गहरी खाई खुदवानी चाहिये। खाई मे मगर एव जीव-जन्तु भक्षक वडी वडी मछलिया पालनी चाहिये, पानी मे होने वाले पेडो की डालिया व पत्ते कटवा कर उनमे चारो तरफ वडे-वडे काँटे गडवा कर खाई मे लगवा देने चाहिये, ताकि प्राकार मे छँलाग लगा कर भागते समय शत्रुगण उन काँटो मे विंध जाय और पानी मे गिरे तो मगर आदि का भक्ष्य वन जाय।

द्वार पर मारण-अस्त्र-स्थापन—पुरी से वाहर जाने के लिये छोटे-छोटे द्वार रक्खे जायँ, जो सकटकाल मे काम आयें। उन द्वारो पर पहरे के लिये विचक्षण

---

१ अर्थसन्निचय कुर्याद् राजा परवलार्दित । इत्यादि। शाति ६९।५६–५९
तत्र कोश वल मित्र व्यवहारच वर्द्धयेत्।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान्निवर्चयेत्॥ इत्यादि। शाति ८६।११–१५

२ यष्टव्य क्रतुभिर्नित्य दातव्य चाप्य पीड़या। शाति ८६।२३

३. दुर्गानाञ्चाभितो राजा मूलच्छेद प्रकारयेत्। इत्यादि। शाति ६९।४१,४२

व्यक्तियो को नियुक्त करना चाहिये। सब द्वारो पर वृहत् मारण अस्त्र रक्खे जायँ। आवश्यकता पडने पर जल्दी जल्दी फेंके जा सके, इस तरह के शतघ्नी अस्त्र भी द्वारो पर रखने चाहिये।[1]

कूप आदि खनन—राजा को राजधानी मे प्रचुर मात्रा मे काष्ठ सगृहीत करके रखना चाहिये। जगह-जगह नये कुएँ खुदवाते और पुराने कुएं व जलाशयो को उलीचवाते रहना चाहिये।

अग्निभय निवारण—चैत्र मास मे अग्नि के प्रकोप से बचने के लिये फूस की छत वाले घरो को लिपवा देना चाहिये तथा जगह-जगह विखरे घास-फूस को इकट्ठा कराके अग्नि से दूर रखना चाहिये। दिन को अग्निहोत्र के अलावा आग जलाना निषिद्ध कर देना चाहिये। भोजन पकाने की व्यवस्था रात को कर देनी चाहिये। लुहार की कर्मशाला व सूतिकागृह की अग्नि को किसी पात्र से ढककर रखने का आदेश दे दें। चैत्र मास मे दिन के वक्त जो व्यक्ति आग जलाये उसे उचित दड देना चाहिये। इन दिनो भिक्षुक, गाडीवान, नपुसक, पागल एव नृत्यगीत से आजीविका चलाने वालो को नगर से बाहर कर देना चाहिये, क्योकि इनमे विचार-बुद्धि अपेक्षाकृत कम होती है।[2]

रक्षको की नियुक्ति—दुर्ग मे, पुरी के अन्दर व बाहर, राज्य की सीमा पर, नगर मे उपवन मे अन्त पुर के उद्यान मे, चौराहो तथा पडावो पर पदाति-रक्षको को नियुक्त करना राजा का कर्त्तव्य है।[3]

नट, नर्त्तक आदि का स्थान—नट, नर्त्तक, पहलवान तथा जादूगर व्यक्ति को नगर मे स्थान देना चाहिये।[4]

राजमार्ग, प्याऊ, आदि—राजा को चाहिये कि राजमार्ग काफी चौडे बनवाये और प्याऊ तथा क्रय-विक्रय के स्थान निश्चित कर दे। भडार, कोशगृह, आयुधागार, अश्वशाला, गजशाला, राजशिविर, परिखा, अभ्यन्तर पथ, अत पुरस्थ उद्यान

---

१. प्रगण्डी कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तदा।
आपूरयेच्च परिखा स्थाणुनक्रझषाकुलाम्॥ इत्यादि। शांति ६९। ४३–४५

२. काष्ठानि चाभिहार्य्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्। इत्यादि। शांति ६९।४६–५१

३. न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन। इत्यादि। शांति ६९।६, ७

४. नटाश्च नर्त्तकांश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा।
शोभयेयुः पुरवर मोदयेयुश्च सर्वशः॥ शान्ति ६९।६०

आदि ऐसे स्थानो पर बनवाने चाहिये कि किसी आगन्तुक को आसानी से उनका पता न लगे।[१]

इन्द्रप्रस्थ का वर्णन—आदिपर्व मे इन्द्रप्रस्थ का जो वर्णन किया गया है, उससे विदित होता है कि उपर्युक्त वर्णित भीष्मदेव के उपदेशो का अक्षरश पालन हुआ था। चारो ओर की परिखा सागर तुल्य थी, प्राकार गगनचुम्बी थी तथा नाना प्रकार के गोपुरो द्वारा पुरी सुरक्षित थी। हस्तक्षेप्य लौहयष्टि, तीक्ष्ण अकुश, शतघ्नी आदि शस्त्र प्राकार पर सुसज्जित थे। अभ्यन्तर पथ प्रशस्त एव पदाति रक्षको द्वारा सुरक्षित थे। नगर के चारो ओर आम्र, आम्रातक, कटहल, अशोक, चम्पक, जामुन आदि तरह तरह की वृक्षपक्तियाँ थी। वापी, सरोवर, कूप, तडाग आदि की कमी नही थी। वेदवित्, विभिन्न भाषावित् पडित, वणिक, शिल्पी, राजवैद्य आदि नगर की शोभा मे चार चाँद लगाते थे।[२]

अब दडनीति या न्यायपद्धति पर प्रकाश डाला जाता है। दडनीति बलप्रकृति के अन्तर्गत है। बलप्रकृति सप्तागक राज्य का सप्तम अग है। बल शब्द का मुख्य अर्थ सेना है। 'युद्ध' प्रकरण मे सेना की नियुक्ति आदि विषयो पर महाभारतकार का अभिमत दर्शाया जायगा।

दण्डनीति का उद्देश्य लोकस्थिति—प्रजा ही राज्य का मूल है, अत प्रजारक्षण राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। मनुष्य मात्र काम-क्रोध आदि शत्रुओ की ताडना वश समय समय पर अन्याय या दुष्कर्म करता है, सुतराम्, लोकस्थिति के निमित्त शासन आवश्यक है। शासन का उद्देश्य है राष्ट्ररक्षा। दण्डनीति का दूसरा नाम पालन विद्या है। महाभारत मे विद्यास्थान का निर्देश करते हुए दण्डनीति को भी लिया है।[३]

व्यवहार, प्राग्वचन आदि पर्यायवाची शब्द—दडनीति द्वारा ससार मे पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा बताई है, अत दडनीति की प्रयोजनीयता के बारे मे मतान्तर का प्रश्न ही नही उठता।[४] कहा गया है कि दड के उचित प्रयोग से प्रजा रक्षित रहती है,

---

१. विशालान् राजमार्गाश्च कारयेत् नराधिप.। इत्यादि। शाति ६९।५३–५५

२. सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलकृतम्। इत्यादि। आदि २०७।३०–५१

३. दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निर्दशिताः। शाति५९।३३

४. दण्डेन नीयते चेदं दण्ड नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीन् लोकानभिवर्त्तते॥ शाति ५९।७८

दड का उद्देश्य केवल आधिपत्य-विस्तार नही है, रक्षण भी है। दड को धर्म भी कहा गया है और व्यवहार तथा प्राग्वचन शब्द भी दण्ड के अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। दड को दैवत एव अग्नि सदृश अतिशय तेजस्वी बताया है।[1]

दण्डाधिष्ठाता देवता—दण्ड का अधिष्ठाता एक देव बताया है, जिसकी आकृति के सबध मे कहा गया है कि, दण्ड नीलोत्पल सदृश श्यामवर्ण, चतुर्दंष्ट्र चतुर्भुज, अष्टपाद, बहुनेत्र, शकुकर्ण, ऊर्ध्वरोमवान्, जटी, द्विजिह्व, ताम्रास्य तथा मृगाराजतनुच्छद होता है।

दण्डधर्म या व्यवहार—रूपक रूप मे प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दो की टीकाकार नीलकठ ने विस्तृत व्याख्या की है। उसका अनुवाद इस प्रकार है—"शब्दो का मूल अर्थ लेकर यदि दण्डधर्म व्यवहार अर्थात् न्यायप्रणाली की ओर दृष्टिपात किया जाय तो मानना पडेगा कि दण्ड सहार की मूर्त्ति है। दण्डनीय व्यक्ति राजा का विद्वेष पात्र होता है, राजा उसका धन अपहरण कर लेता है। अत विद्वेष की मलिनता एव ग्रहण की रक्तिमा दण्ड मे मिलकर उसे नीललोहित वर्ण से रजित कर देती है। दण्ड द्वारा अपराधी को जो सजा दी जाती है उसे चार दाँतो की उपमा दी जा सकती है। यथा—मानभग, धनहरण, अगवैकल्य तथा प्राणनाश। प्रजा एव सामत राजाओ से कर लेना, न्यायप्रार्थी वादी के झूठा साबित होने पर दुगना जुर्माना लेना, प्रतिवादी के झूठा साबित होने पर उससे धन लेना, धनवान कृपण ब्राह्मण की सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण करना, इन चार कर्मो के लिये दण्ड की चतुर्भुज के रूप मे कल्पना की गई है। व्यवहार या न्यायप्रणाली पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से 'अष्टपाद' आदि विशेषण प्रयुक्त हुए है। आवेदन, भाषा, मिथ्योत्तर, कारणोत्तर, प्राङ्न्याय प्रतिभू, क्रिया एव फलसिद्धि ये आठ व्यवहार के पाद है। इन पादो का अवलम्बन लेकर दण्ड चल सकता है अर्थात् न्याय करते समय इन आठो अवस्थाओ पर अच्छी तरह विचार करके दड का प्रयोग किया जाता है, इसी कारण आवेदन आदि को 'पाद' कहा गया है। न्यायालय मे उपस्थित होकर न्यायप्रार्थना का नाम 'आवेदन' है। प्रतिवादी के न्यायालय मे उपस्थित होने पर उसके समक्ष फिर से आवेदन लिखने का नाम 'भाषा' है। प्रतिवादी यदि वादी के आवेदन की सब बाते स्वीकार कर ले तो कोई भी दडित नही किया जाता। प्रतिवादी की इस स्वीकृति को 'सम्प्रतिपत्ति' कहते है। अगर प्रतिवादी वादी द्वारा, लगाये गये आरोप सर्वथा अस्वीकार करे तो उसे 'मिथ्योत्तर' कहेगे। आवेदन का कुछ अश स्वीकार करके बाकी को

---

१. सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना।
प्रजा रक्षति यः सम्यग् धर्म एव स केवलः। इत्यादि। शांति १२१।११–१४

अस्वीकार कर देना 'कारणोत्तर' है। वादी पहले एक बार मुकदमा चलाकर उसमे हार गया हो और दूसरी बार फिर से दावा करने पर प्रतिवादी यदि उसकी पूर्व पराजय वाली बात न्यायालय मे कह दे, तो उसे 'प्राङ्न्यायोत्तर' कहा जायगा। यदि वादी व प्रतिवादी दोनो को किसी से जमानत दिलवानी पडे तो उस जमानत देने वाले को 'प्रतिभू' कहा जाता है।" मैं इस मुकदमे मे हार गया तो अमुक वस्तु दूंगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करना 'क्रिया' है। अपने पक्ष मे प्रस्तुत किये गये साक्ष्य, दलील पत्र आदि की सत्यता यदि न्यायाधीश स्वीकार कर ले तो आदमी मुकदमा जीत जाता है। उपर्युक्त आठो प्रकार से विवेचन करने के बाद ही अपराधी को दड देने का नियम है। राजा, अमात्य, पुरोहित व सभासद आदि व्यक्ति दड की आँखे हैं, मुकदमा इनके देख लेने के बाद दड दिया जाता है। शकुकर्ण का अर्थ तीक्ष्णकर्ण है, सब बातो को अच्छी तरह सुनकर ही फैसला किया जाता है और दडित व्यक्ति को उसे दिये गये दड के बारे मे भली भाँति बताया जाता है। 'ऊर्ध्व-रोमवान' शब्द प्रफुल्लता का द्योतक है, दड के उचित प्रयोग से उसका धर्म प्रसन्न होता है, किसी प्रकार की ग्लानि उसे स्पर्श तक नही कर पाती। दड मे तरह-तरह की जटिलताएँ विद्यमान होती हैं, अत अच्छी तरह सोचे-समझे बिना दड का प्रयोग नही करना चाहिये। वादी तथा प्रतिवादी की बातो मे प्राय समानता नही पाई जाती, अधिकाश मुकदमो मे मतैक्य नही हो पाता, सुतराम् दड द्विजिह्व है। आह-वनीय आदि अग्नि दड का मुख हैं, अर्थात् ईश्वर का स्मरण करके दड दिया जाता है, इसलिये उसे 'ताम्रास्य' कहा गया है। दड का शरीर कृष्णमृगचर्म से आच्छादित होता है अर्थात् दड भी दीक्षाप्रधान यज्ञ रूप मे परिगणित है। क्षत्रिय का दान, उपवास, होम आदि सब कुछ दड की विशुद्धि के लिये होता है।[1]

दड भगवान की शक्ति का प्रतीक—दड को भगवान की शक्ति के मूर्त्त-प्रकाश स्वरूप बताया गया है। कहा है कि दड भगवान नारायण का स्वरूप है। महत् रूप धारण करने के कारण उसे 'महान् पुरुष' की सज्ञा दी गई है।[2]

दड नीति की प्रशसा—दडनीति ब्रह्मा की दुहिता है वही वृत्ति, लक्ष्मी, सर-स्वती एव जगद्धात्री है। समाज मे विद्या, ऐश्वर्य, शौर्य, वीर्य आदि सब कुछ दड-

---

१ नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुज ।
अष्टपा न्नैकनयनः शकुकर्णोर्द्धरोमवान्॥ इत्यादि। शाति १२१।१५-
१६।टी० नीलकठ

२. दडो हि भगवान विष्णुर्दण्डो नारायण प्रभु ।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन् महान् पुरुष उच्यते॥ शाति १२१।२३

नीति के उचित प्रयोग पर आधारित है। उच्छृखल मात्स्य न्याय की ताडव लीला से लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियाँ डरती है, इसलिये दडनीति द्वारा ही समाज का हर प्रकार का कल्याण व उन्नति की जा सकती है।[1]

दंड वैदिक भित्ति पर प्रतिष्ठित—दड वैदिक भित्ति पर प्रतिष्ठित है। वेद मे जिन कर्मो को निषिद्ध बताया है, उनके लिये श्रुति व स्मृति मे प्रायश्चित्त व दड का विधान बताया है। वेद मे उल्लिखित विधिनिषेध, शास्त्रज्ञो का अनुशासन एव धर्मज्ञ व्यक्तियो का व्यवहार देखकर दड का प्रयोग करना चाहिये।[2]

दंडोत्पत्ति-उपाख्यान—महाभारत मे दड की उत्पत्ति पर एक उपाख्यान वर्णित है, जो इस प्रकार है—नृपति माधाता अगराज वसुहोम के समक्ष उपस्थित होकर बोले, "भगवन्, आपने बार्हस्पत्य व औशनस राजधर्म मे निपुणता प्राप्त की है, कृपया मुझे दड की उत्पत्ति के बारे मे बताइये।" वसुहोम कहने लगे, "प्रजा मे अनुशासन बनाये रखने के उद्देश्य से ही दड की सृष्टि हुई है। ब्रह्मा एक यज्ञ करना चाहते थे , कोई उपयुक्त ऋत्विक न मिलने पर वह कई सालो तक सिर पर एक गर्भ धारण किये रहे। हजार साल बाद वह गर्भ-भूमिष्ठ हुआ। वह सन्तान प्रजापति क्षुप के नाम से परिचित हुई। उन्होने ही ब्रह्मा के यज्ञ मे ऋत्विक् का पद सँभाला। प्रजानियन्ता ब्रह्मा के यज्ञ मे दीक्षित हो जाने से प्रजा को नियन्त्रण मे रखने के लिये दंड सहसा अन्तर्हित हो गया। समाज मे घोर दुर्नीति फैल गई। इस नई विपत्ति के आ पडने पर ब्रह्मा शूलपाणि की शरण मे गये। शिव ने दड की उत्पत्ति की व्यवस्था की तथा देवी सरस्वती ने दडनीति की सृष्टि की। इसके बाद भगवान शिव ने सर्वत्र शक्तिशाली पुरुषो को शासक एव पालक के रूप मे नियुक्त किया। इन्द्र को देवलोक का, यम को पितृलोक का तथा कुबेर को राक्षस लोक का आधिपत्य दिया। इस प्रकार प्रत्येक विभाग मे एक एक अधिपति नियुक्त हुआ। ब्रह्मा का यज्ञ समाप्त होने पर शिव ने दड विष्णु को दे दिया। विष्णु ने अगिरा को, अगिरा ने इन्द्र व मरीचि को, मरीचि ने भृगु को दिया। इस प्रकार क्रमश मनुपुत्रो के हाथ मे दड पहुँचा। मनु के उपदेश से दड का यथारीति पालन होने लगा और समाज मे पुन शान्ति स्थापित हुई।[3]

---

१. तथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्वृत्तिः सरस्वती।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः॥ शांति १२१।२४

२. व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते।
मौनश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथापरः॥ इत्यादि। शाति १२१।५१-५७

३. शाति १२२ वाँ अध्याय।

दड का कल्याण व रौद्ररूप—उपाख्यान के रूपक अग को छोडकर हम यह समझ सकते हैं कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने लोकस्थिति के ख्याल से शिव-रुद्र महादेव द्वारा दड की उत्पत्ति की व्यवस्था की थी अर्थात् दड सृष्टिरक्षा एव सब प्रकार की उन्नति के लिये प्रधान सहायक है। साधु पुरुषो के लिये दड का रूप अति प्रसन्न व कल्याण-कारी है किन्तु असाधु व्यक्तियो के लिये वही अति भयकर व रौद्र है। राजाओ मे भी बहुत ही उत्साही व धर्मनिष्ठ राजा के अलावा दूसरे शिवनिर्मित इस दड धारण के अधिकारी नही है।

दड-माहात्म्य—दडनीति की बहुत जगह प्रशसा की गई है। दडनीति के प्रवर्त्तन से समाज का कल्याण होता है, उसके अभाव मे मात्स्य न्याय का बोलवाला हो जाता है। दड चातुर्वर्ण्यधर्म एव दूसरे मागलिक कार्यो मे प्रतिष्ठित होता है, अत भूपति को कभी भी दडनीति की मर्यादा का उल्लघन नही करना चाहिये।[1]

दड नीति के उचित प्रयोग का शुभ फल—दडनीति के यथायथ प्रयोग से राजा व प्रजा की समृद्धि बढती है। दडनीति चारो वर्णो को अपने-अपने धर्म मे रत रखती है। चातुर्वर्ण्य के बने रहने से वर्णसकरो की उत्पत्ति की आशका नही रहती। सभी स्वकर्म की उन्नति की चेष्टा करते हैं। इससे समाज समृद्ध होता है। राजा ही काल का कारण होता है। वह जब दडनीति की मर्यादा का अच्छी तरह पालन करता है, तभी समाज मे धर्मप्रधान सत्ययुग की स्थापना होती है। इसी प्रकार राजसेवित दडनीति के दुरुपयोग से त्रेतादि युग की उत्पत्ति होती है। इससे यही निष्कर्ष निक-लता है कि दडनीति का सदुपयोग सर्वविध कल्याण का मूल है।[2]

मुकदमे मे राजा की सहायता—वादी व प्रतिवादी दोनो की सब बातें सुनने के बाद यथोचित न्याय करने के लिये सद्वशज, सुपडित, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान, न्याय-परायण व सर्वार्थदर्शी व्यक्तियो को न्यायासन पर बैठाया जाता था। राजा अकेला फैसला नही करता था।[3]

---

१ दडनीत्या प्रणीताया सर्वे सिद्धन्त्यपक्रमाः। इत्यादि। शाति १५।२९–३५

२. महाभाग्य दण्डनीत्या. सिद्धै शब्दैः सहेतुकै। इत्यादि। शाति ६९।७५–९८

दण्डनीत्या यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्त्तते।
तदा कृतयुग नाम काल श्रेष्ठ. प्रवर्त्तते॥

इत्यादि। उद्योग १३२।१५०–२०

३. व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुता.। शाति २४।१८

पक्षपातित्व महापाप—न्यायासन पर बैठकर पक्षपात करना महापाप है। ऐसे व्यक्ति को न्यायासन पर नही बैठाना चाहिये।[1]

कानून ऋषिप्रणीत—मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि मुनी ऋपी कानून बनाते थे। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन लेकर न्याय करना पडता था। आवश्यकता पडने पर विधान मे परिवर्तन या परिवर्द्धन करने की क्षमता तक राजा के हाथ मे नही होती थी, प्रणेताओ पर ही इन सब बातो का दायित्व होता है।[2]

जूरियो की राय—जटिल मुकदमो मे जूरियो से सहायता लेने का नियम था। महाभारत मे इस सबध मे अधिक नही कहा गया है। मनुसहिता के आठवे अध्याय मे इसका विशद वर्णन मिलता है।[3]

शासन व न्याय विभाग पृथक्—उपर्युक्त सक्षिप्त वर्णन से पता चलता है कि राजा दूसरे सुपडित सभासदो के साथ न्यायासन पर बैठता था। न्याय के मामले मे ग्राममुख्यो को कोई अधिकार प्राप्त नही था, वे सिर्फ ग्राम शासन के अधिकारी थे। शासन एव न्याय ये दोनो अलग विभाग थे तथा दोनो विभाग चलाने के लिए अलग-अलग व्यक्ति थे। एक विभाग के व्यक्तियो को दूसरे विभाग मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही था।

साक्ष्यविधि—साक्ष्य विधान के सबध मे भी कोई विशेष उल्लेख नही मिलता। मनु, याज्ञवल्क्य तथा विष्णुस्मृति का अध्ययन करने पर बहुत से तथ्यो का पता चलता है।

धर्मासन की महिमा—न्यायासन का दूसरा नाम 'धर्मासन' था। कहा गया है कि धर्मासन पर बैठकर जो राजा या मत्री न्याय-मर्यादा की रक्षा नही करता, वह अनतकाल तक नरक की यन्त्रणा भोगता है।[4]

साक्ष्यविहीन न्याय—अनाथ एव दरिद्र व्यक्ति प्रबल प्रतिपक्षी द्वारा उत्पीडित होने पर, साक्षी या दलील आदि जुटाने मे असमर्थ होता है। एकमात्र राजा

---

१. भक्तिश्चैषा न कर्त्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते। शांति ६९।२७

२. कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः। इत्यादि। सभा ५।४४

३. श्रोतुञ्चैव न्यसेद् राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः। इत्यादि। शांति ६९।२८
यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः। इत्यादि। मनु ८।१०

४. अथ योऽधर्मतः पाति राजामात्योऽथवात्मजः।
धर्मासने सन्नियुक्तो धर्ममूले नरर्षभः॥ इत्यादि।
शांति ८५।१६, १७

ही उसकी गति होता है। ऐसी जगह राजा को विशेष रूप से जांच पडताल करके तथ्य सग्रह करने चाहिये।'[1]

लेख्यादि (दलीलपत्र)—जहां तक सभव हो दोनो पक्षो के वक्तव्यो के समर्थक साक्ष्य प्रमाण तथा दलील आदि देखनी चाहिये।

अग्नि, तुला आदि दिव्य विधान—साक्ष्य एव दलीलो आदि के द्वारा भी किसी निष्कर्ष पर न पहुँच पाने पर प्रतिवादी को दिव्य विधान से परीक्षा देनी पडती थी। अग्नि प्रवेश, विषभक्षण, तुलादड पर आरोहण आदि दिव्य परीक्षाएँ कहलाती थी। (याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियो मे वर्णित रघुनन्दन भट्टाचार्य प्रणीत, 'दिव्यतत्त्व' मे इस पद्धति का विस्तृत वर्णन मिलता है।) परीक्षा के उपरात हार जीत का फैसला होता था। न्यायपद्धति मे धर्म का योग न होने पर अग्नि-परीक्षा आदि दिव्य विधियो का प्रचलन नही हो सकता।[2]

सामुद्रक आदि का साक्ष्य अग्राह्य—साक्ष्यदान का भी सबको अधिकार नही था। सामुद्रक (हस्तरेखाओ द्वारा जो भाग्य के बारे मे बताते हैं), चोरवणिक (जिस व्यापारी की तराजू ठीक न हो), शलाक-धूर्त्त (शलाका या रस्सी द्वारा गणना का भान कराकर जो प्रतारणापूर्वक अर्थोपार्जन करता हो), शत्रु, मित्र व नर्त्तकी का दास, लम्पट आदि दुश्चरित व्यक्ति एव चिकित्सक—इनका साक्ष्य प्रमाणित नही माना जाता था।[3]

झूठी गवाही देना पाप—जो गवाह न्यायालय मे जाकर झूठी गवाही देता है, वह अपनी ऊर्ध्वतन सात एव अधस्तन पाँच पीढियो को नरकगामी बनाता है। हमेशा यथार्थ कहने को भी सत्य नही कहा जाता। समय विशेष पर दूसरे की भलाई के निमित्त बोला गया झूठ भी सत्य कहा जाता है।

यथार्थ साक्ष्य न देना भी पाप—यथार्थ घटना जानते हुए भी जो व्यक्ति पूछे जाने पर कोई जवाब न दे, वह भी पूर्वोक्त पाप का भागी होता है।[4]

---

१. बलात्कृताना बलिभि. कृपण बहुजल्पताम्।
नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथाना नृणा भवेत्॥ शान्ति ८५।१८

२. तत. साक्षिबल साधु दैवपक्षात्तथा कृतम्।
असाक्षिकमनाथवा परीक्ष्य तद्विशेषत ॥ शान्ति ८५।१९

३ सामुद्रिक वाणिज चोरपूर्वं शलाकधूर्त्तञ्च चिकित्सकञ्च।
अरिञ्च मित्रञ्च कुशीलवञ्च नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त॥ उद्योग ३५।४४

४. पृष्ठो हि साक्षी य साक्ष्य जानानोप्यन्यथा वदेत्।
स पूर्वानात्मन सप्त कूले हन्यात् तथा परान्॥ इत्यादि। आदि ७।३, ४। अनु ९३।१२०

अपराधी का दण्ड विधान—पूर्ण रूप से निष्कर्ष पर पहुँच जाने के उपरात अपराधी के दड का विधान है। कठोर वचन, धनग्रहण, कारागार मे बन्द करना, अगभग, प्रहार व हनन आदि का प्रयोग दण्डरूप मे किया जाता था। इनमे धनी व्यक्तियो को *अर्थदण्ड* व दरिद्र व्यक्तियो को *कारादण्ड* ही आमतौर पर दिया जाता था। बहुत ही गुरुतर अपराध न होने से प्राणदण्ड किसी को नही दिया जाता था।[1]

शूलदण्ड सर्वापेक्षा कठोर—सूली पर चढाकर वध करना सबसे कठोर दड माना जाता था।[2]

अपराधी होने पर पुत्र भी दण्डनीय—अपराध करने पर पुत्र को भी दण्ड देने मे धर्मपरायण राजा हिचकिचाते नही थे। नगरवासी दुर्बल शिशुओ को नदी मे फेक देने के अपराध मे राजा सगर ने अपने पुत्र असमञ्ज को देशनिकाला दिया था।[3]

अपराधी गुरु भी दण्डनीय—यहाँ तक कहा गया है कि गुरु को भी अपराध करने पर दड देना चाहिये।[4]

ब्राह्मण के लिये निर्वासन ही चरमदण्ड—अपराध गुरुतर होते हुए भी ब्राह्मण को प्राणदण्ड नही दिया जाता था। ब्रह्मघ्न, गुरुपत्नीगामी या राजविद्वेषी ब्राह्मण को देशनिकाला देने का प्रचलन था। शारीरिक दड ब्राह्मण के लिये प्रयोज्य नही माना जाता था।[5]

---

१. दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा।
व्यंगता च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात्॥ इत्यादि। शांति १६६।-
७०–७१ अपराधानुरूपञ्च दण्डं पापेषु धारयेत्।
नियोजयेद्धनैर्ऋद्धानधनानथ बन्धनैः॥ इत्यादि। शाति ८५।२०, २१
आश्र ५।३१

२. जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धकः। मौषल १।३०

३. पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते। शांति ९१।३२
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो मे विप्रवास्यताम्। इत्यादि। वन १०७-
४३। शांति ५७।८

४. गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः॥ इत्यादि। शाति ५७।७।
शाति १४०।४८।उद्योग १७९।२५।-

५ सापराधानपि हि तान् विषयान्ते समुत्सृजेत्। इत्यादि। शांति ५६।
३१–३३

पाप के न्यायाधीश धर्मशास्त्रज्ञ पडित—नैतिक पाप एव सामाजिक अपराध दोनो के मुकदमे राजसभा मे ही देखे जाते थे। नैतिक पाप के मुकदमे मे न्यायाधीश का आसन शास्त्रवेत्ता पडित ग्रहण करते थे। फैसले के बाद जो प्रतीकार बताया जाता था, उसका नाम 'प्रायश्चित्त' था। अपराधी के लिये प्रयुक्त राजाज्ञा को 'दड' कहा जाता था।

गुरुतर पाप करने पर दड व प्रायश्चित्त दोनो—पाप के गुरतर होने पर प्रायश्चित्त व दड दोनो ही दिये जाते थे। प्रायश्चित्त के रूप मे चान्द्रायण आदि व्रत करने की आज्ञा दी जाती थी तथा साथ ही साथ अर्थदड भी दिया जाता था।

निष्पापी व्यक्ति का स्वय दण्डग्रहण (शखलिखितोपाख्यान)—निष्कलक व्यक्ति यदि कोई पाप या अपराध करता था तो प्रायश्चित्त एव दड लेने के लिये स्वय ही व्याकुल हो उठता था। इसी के प्रमाण मे शखलिखित उपाख्यान कहा गया है, जो इस प्रकार है। सशितव्रत लिखित ऋषि एक दिन राजा सुद्युम्न के समक्ष उपस्थित होकर बोले, "राजन्, मैंने बिना पूछे अपने बडे भाई के आश्रम के फल खाये है अत आप मुझे इस अपराध के लिये उचित दड दीजिये।" राजा ने ऐसे सत्यनिष्ठ, धर्मप्राण तपस्वी ब्राह्मण को दड देना उचित नही समझा, किंतु अपराधी के बार बार अनुरोध करने पर उन्हे दड देना पडा। राजा की आज्ञा से दोनो हाथ काट दिये जाने पर लिखित ने परम शाति का अनुभव किया। सुद्युम्न भी उपयुक्त दड देने के फलस्वरूप पुण्य के भागी बने। बाद मे भाई के आदेश से बाहुदा नदी मे तर्पण करके लिखित ने अपने हाथ पुन प्राप्त किये।[1]

न्यायप्रणाली की विशिष्टता—उस काल की न्यायप्रणाली तथा दण्डविधान पर दृष्टिपात करने से कुछ विशेषताएँ बडी सहजता से पकड मे आ जाती है, जैसे— वादी व प्रतिवादी को किसी भी प्रकार का खर्च नही उठाना पडता था। राजसभा मे व्यवहारजीवियो अर्थात् वकीलो की मध्यस्थता की कोई आवश्यकता नही होती थी। वादी एव प्रतिवादी को स्वय उपस्थित होकर अपनी बात कहने का अधिकार प्राप्त था। मुकदमे पर विचार जल्दी से जल्दी खत्म कर दिया जाता था, उसके लिये अशाति एव उत्कठा मे अधिक समय नही काटना पडता था। कानून प्रणयन का दायित्व जिन लोगो पर था, उनका किसी भी प्रकार के स्वार्थ से सम्पर्क नही था। एकमात्र समाज की हितकामना के उद्देश्य से ही उन्होने धर्मशास्त्रो की रचना की थी। मुकदमें आदि राजधर्म के अग माने जाने के कारण कानून समाज-गठन के लिये विशेष रूप से सहायक था।

---

१. शाति २३ वाँ अध्याय।

राजधर्म व राजनीति एक नहीं—उपसहार मे राजधर्म विषयक और भी कई बाते कहने लायक है। यह ख्याल रखना चाहिये कि महाभारत का 'राजधर्म' 'राजनीति' नही है। राजा के कृत्यो को धर्म से पृथक् नही माना गया है। महाभारत के राजा को धर्म के साथ जितना युक्त किया गया है, उसे देखते हुए राजधर्म का उपदेश न देकर केवल राजनीति का उपदेश देना उतना युक्तियुक्त नही होता।

राजधर्म का श्रोता ही मोक्षधर्म का श्रोता—राजधर्म के श्रोता युधिष्ठिर ही मोक्षधर्म के श्रोता थे। राजधर्म का उपदेश देने के बाद ही उन्हे मोक्षधर्म का उपदेश दिया गया। अतएव इससे यह पता चलता है कि महाभारत का राजधर्म मोक्षधर्म की पहली सीढी है। कर्म से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। राजा के कर्त्तव्यो का यथायथ रूप से पालन करने पर राजा मोक्ष का अधिकारी होता है। नीलकठ टीका मे भी मोक्षधर्म के प्रारम्भ मे यही कहा गया है।

ईश्वरत्व क्षत्रिय का स्वभाव सिद्ध गुण—राजधर्म का परिचालक क्षत्रिय केवल मनुष्य नही होता, समाज मे नियमबद्धता स्थापित रखने के कारण उसमे ईश्वरत्व भी विद्यमान होता है। नियमन-शक्ति का ही दूसरा नाम ईश्वरत्व है। श्रीमद्-भगवतगीता मे कहा गया है कि शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध मे पीठ न दिखाना, दान एव सुव्यवस्थापन क्षत्रिय के जन्मजात कर्म हैं।[1] इसी कारण उसके शासन की विधि-व्यवस्था का नाम 'राजधर्म' है।

राज शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ—लोकहितकर जितने भी अनुष्ठान होते थे, उन सबमे राजा को अग्रणी बनना पडता था। राजा के उत्साह से ही प्रजा को अनुप्रेरणा मिलती थी। प्रजा का मनोरजन करने के कारण प्रजापालक को 'राजा' कहा गया है।[2]

राजा के अनुग्रह से ही सुखशांति—जिसके अभाव मे प्राणिजगत विलुप्त हो जाय, जिसकी सत्ता मे ही प्राणिजगत की सत्ता निहित हो, उस व्यक्ति की कौन पूजा नही करेगा। अग्निदग्ध वस्तु की अतिम परिणति भस्म होती है, किन्तु राजरोष से दग्ध वस्तु की परिणति कुछ भी नही होती। राजा के अनुग्रह से ही मानवसमाज सुखशाति मे कालयापन करता है। राजा यदि अच्छा

---

१. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्।। भीष्म ४२।४३

२. रजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते। इत्यादि। शांति ५९।१२५। शांति ५७।१.

शासक न हो तो उसके राज्य मे रहना उचित नही है, इससे सदा अशाति बनी रहती है।[1]

राजा प्रजा का आपसी संबध—राजा एव प्रजा मे आपसी श्रद्धा एव स्नेह लोकदिखावा नही होता था, दोनो मे आतरिक सबध होते थे। जिस प्रकार राजा निष्कपटभाव से राष्ट्र की कल्याणकामना करता था, उसी प्रकार प्रजा भी राजा की भक्ति व श्रद्धा करती थी। धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर, दुर्योधन आदि कुरुराजाओ के साथ उनकी प्रजा के व्यवहार के सबध मे जो प्रसग महाभारत मे आये हैं, उनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

धृतराष्ट्र का कथन—गार्हस्थ्य आश्रम छोडकर वानप्रस्थ लेते समय धृतराष्ट्र ने अपनी प्रजा को बुलाया था। प्रजा के उपस्थित होने पर राजा ने कहा था, "कुरु-वश के राजाओ के साथ आपका सौहृद्य वशपरम्परागत है। हम लोग सदा से एक दूसरे की मगलकामना करते आये हैं। हम लोगो मे जो स्नेह सबध चले आ रहे हैं, वह दूसरे देशो मे दिखाई नही देते। मैंने यथाशक्ति आपकी सेवा करने की चेष्टा की है। मेरे पुत्र ने मन्दबुद्धि होते हुए भी कभी आपकी सेवा मे शिथिलता नही दिखाई। यदि कभी अनजाने मे मुझसे कोई गलती हुई हो तो उसके लिये मैं आज हाथ जोड कर आप लोगो से क्षमा चाहता हूँ। आशा है अपने प्राचीन राजवश का उत्तराधिकारी होने के कारण आप मुझे अवश्य क्षमा कर देंगे। विशेषत इस समय मैं अतिवृद्ध, अपटु एव पुत्रशोक से सतप्त हूँ। मेरी सहधर्मिणी भी आपकी अनुमति चाहती है। आप लोग प्रसन्नचित्त हमे वानप्रस्थ लेने की अनुमति दीजिये। आपके राजा युधिष्ठिर को आप लोगो के हाथो मे सौंपता हूँ। आप यदि उन्हे सुमार्ग पर चलायेंगे तो वे अवश्य अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकेंगे।"

प्रजा का प्रत्युत्तर—धृतराष्ट्र के वचन सुनकर सारी प्रजा की आंखो से अश्रु-धारा बहने लगी। प्रजा की ओर से साम्ब नामक वेदज्ञ ब्राह्मण बोले, "महाराज आपकी उपस्थित प्रजा ने अपने विचार आपके समक्ष प्रकट करने का काम मुझे सौंपा है। आपने हम लोगो मे राजा व प्रजा के जिस सौहृद्य का उल्लेख किया है, वह सच है। कुरुवशी राजाओ की प्रजाप्रीति चिरप्रसिद्ध है, आप लोग ही हमारे

---

१. यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः।
भावे च भावो नित्य स्यात् कस्त न प्रतिपूजयेत्।। शान्ति ६८।३७
कुर्य्यात् कृष्णगतिः शेष ज्वलितोऽनिलसारथिः। इत्यादि। शाति ६८।-
५०–५२, ५५

कुराज्ये नृर्वृतिर्भास्ति कुदेशे नास्ति जीविका। शाति १९३।९४

माता पिता है। प्रजा को आप लोगो से सदा मातृपितृ-स्नेह मिलता रहा है। युवराज दुर्योधन ने हम लोगो के साथ कभी बुरा व्यवहार नही किया। आपके वश मे जितने भी राजाओ ने राज्य किया है, वे सभी करुणहृदय एव न्यायवान् रहे है। आपके गार्हस्थ्य परित्याग के सकल्प मे हम लोग बाधा नही देना चाहते। महर्षि कृष्णद्वैपायन एव महाराज युधिष्ठिर ने जिस सकल्प का अनुमोदन किया है, वह अवश्य ही कल्याणकर होगा। आप मुनिधर्म मे दीक्षित होकर शातिलाभ करिये, यही हमारी कामना है।"[1]

पांडवो के वनगमन के समय प्रजा की व्यथा—पाडवो के सपत्नीक वन को जाते समय शोकार्त्त प्रजा के क्रन्दन का जो वर्णन महाभारत मे किया गया है, वह भी राजा प्रजा के आपसी सौहृद्य का परिचायक है। बहुत से लोग वन तक पाडवो के पीछे-पीछे गये थे, बाद मे युधिष्ठिर के विशेष आग्रह पर वे लौट आये थे।[2]

प्रजा का राजा के पास जाना—आवश्यकता पडने पर प्रजा स्वय ही राजा के समक्ष उपस्थित होकर जो कहना होता था कहती थी, किसी की मध्यस्थता की आवश्यकता नही पडती थी। द्वारपाल समागत व्यक्ति की उपस्थिति की सूचना राजा को दे देता था, उसके बाद राजा की अनुमति मिलने पर राजा तक पहुँचने मे कोई बाधा नही होती थी।[3]

राजा प्रार्थी को लौटाता नहीं था—राजा द्वार पर आये किसी प्रार्थी को कभी नही लौटाता था। सब की जीवनयात्रा आसानी से चले यही राजा का प्रधान लक्ष्य होता था। प्रजा को पुत्रवत् मानना राजचरित्र का आदर्श था।[4]

दुर्गत आदि का भरण-पोषण—विपन्न, वृद्ध, दरिद्र व विधवाओ का भरण-पोषण ठीक प्रकार से हो रहा है कि नही, इस ओर तीक्ष्ण दृष्टि रखने के लिये राजा को उपदेश दिया गया है। अगहीन, अति दरिद्र, बौने, अधे, कुबडे, अनाथ, वृद्ध तथा लगडे व्यक्तियो को राजकोश से नियमित रूप से वृत्ति मिलती थी। ऐसे

---

१. आश्र ८वें से १०वें अध्याय तक।

२. इति पौराः सुदुःखार्त्ताः, क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः। इत्यादि। सभा ८०।२६।
वन पहला अध्याय।

३. सतत्र वारितो द्वाःस्थैः प्रविशन् द्विजसत्तमः। इत्यादि। आदि ५४।२९।
आदि १२३।६

४. आत्मनश्च परेयाञ्च वृत्तिं संरक्ष भारत।
पुत्रवच्चापि भृत्यान् स्वान् प्रजाश्च परिपालय॥ इत्यादि।
अनु ७१।१७,१८।

व्यक्तियो का ख्याल राजा स्वय ही रखता था। आश्रित व्यक्ति के भरण-पोषण के लिये राजा को वार-वार सतर्क किया गया है।[1]

दूसरे प्रबंधों मे राजधर्म का उल्लेख—शिक्षा, वृत्तिव्यवस्था, कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि प्रवधो मे भी राजधर्म के वारे मे थोडा वहुत कहा गया है। प्रजा की रक्षा करना ही राजा का श्रेष्ठ धर्म वताया है। वृत्तिदान, निष्कर भूमिदान, ऋण-दान आदि के वारे मे भी उपरोक्त प्रववो मे प्रसगवश उल्लेख किया गया है।

अति प्राचीन काल मे राज निर्वाचन के लिये प्रजा का अनुमोदन—प्राचीन काल मे राजा के निर्वाचन मे प्रजा के अधिकार वाली वात पहले ही कही जा चुकी है। महाभारत के काल से वहुत पहले राजा ययाति ने अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को राजसिहासन पर वैठाते वक्त राज्य के ब्राह्मणो एव प्रजा से अनुमति माँगी थी।[2] किन्तु महाभारत काल मे यह नियम नही था, क्योकि पाडवो के वनगमन के समय अत्यन्त क्षुब्ध होते हुए भी प्रजा को प्रकट मे दुर्योधन के विरुद्ध कुछ कहने का साहस नही हुआ। यह तो सच है कि वहुत से लोगो ने पाडवो का अनुगमन किया, किन्तु दुर्योधन को राज्यच्युत करने का साहस किसी को नही हुआ। वाद मे शायद दुर्योधन के शासन से प्रजा सन्तुष्ट ही थी।

---

१. कृपणानाथवृद्धानां विधवानांच योषिताम्।
योगक्षेमञ्च वृत्तिञ्च नित्यमेव प्रकल्पयेत्॥ शाति ८६।२४
तदाश्रया बहवः कुब्जखञ्जाः। इत्यादि। उद्योग ३०। ३९, ४०।
सभा ५।९२

२. आदि ८५वां अध्याय।

साधारण नीति

नीतिशास्त्र का ज्ञान होना अत्यावश्यक—समाज मे रहने के लिये नैतिक व्यवहार के बारे मे बहुत कुछ जानना पडता है। अपने स्वय के प्रति, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति एव वृहत् समाज के प्रति हर व्यक्ति के अनगिनत कर्त्तव्य होते हैं। उन कर्त्तव्यो का पालन करने के उद्देश्य से सब को नीतिशास्त्र के उपदेशो पर ध्यान देना चाहिये। किताब पढकर जानने की अपेक्षा आदर्श चरित्र व्यक्ति के ससर्ग मे रहकर तथा माता-पिता आदि गुरुजनो से जानने का मूल्य अधिक होता है। बहुत बार आदमी धोखा खाकर भी सीखता है, लेकिन जो पहले से ही अभिज्ञ हो, वह धोखा नही खाता।

नीतिशास्त्र में महाभारत उपजीव्य—महाभारत मे दिये गये नैतिक उपदेशो की भरमार है। उन सबको यदि सकलित किया जाय तो एक बडा ग्रथ तैयार हो जाय। विष्णुशर्मा ने हितोपदेश के बहुत से श्लोक महाभारत से ही लिये है। परवर्त्ती जितने भी ग्रथकार हुए हैं, उन सबने प्रयोजनानुसार अपने अपने ग्रथ मे महाभारत से बहुत कुछ उद्धृत किया है।

भार्गवनीति की प्राचीनता—पुरातन काल मे जगतहित के निमित्त भार्गव-मुनि ने नीतिशास्त्र का प्रचार किया।[1]

वृद्धवचन का गुरुत्व—नैतिक आचार-व्यवहार जानने के लिये वृद्धसाहचर्य सर्वोत्तम उपाय है। यही महाभारत का उपदेश है। वयोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध व्यक्तियो के पास बैठने से, जानने की इच्छा हो या अनिच्छा हो दो चार अच्छी बाते सुनने की सभावना रहती ही है। वृद्ध के साहचर्य के बिना मनुष्य कभी भी पक्का ज्ञानी नही बन सकता। वृद्धसेवा के फलस्वरूप मनुष्य जितनी जल्दी ज्ञानलाभ कर सकता है उतना और किसी तरह नही। बार-बार कहा गया है कि श्रेयस्काम व्यक्ति को जब भी सुयोग मिले वृद्ध के ससर्ग मे रहना चाहिये।[2] अनुशासनपर्व के उपदेशो से

---

१. भार्गवो नीतिशास्त्रं तु जगाद जगतो हितम्। शांति २१०।२०

२. चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः। इत्यादि। उद्योग ३६।३९। सभा ५५।५।वन ३१२।४८

प्रतीत होता है कि जहा तक संभव हो नित्य प्रति वृद्धवचन सुनने चाहिये। सुबह शाम दोनो वक्त कुछ देर वृद्धो के पास बैठने से प्रचुर लाभ होता है।[1]

नैतिक उपदेशबहुल अध्याय—ययात्युपाख्यान, आदि ८५वाँ तथा ८९वाँ अध्याय। नारद प्रश्न, सभा ५वाँ अध्याय। दुर्योधन सताप, सभा ५५वाँ अ०। विदुरहित वचन, सभा ६२वाँ व ६४वाँ अध्याय। युधिष्ठिर शौनक सवाद, वन २रा अध्याय। द्रौपदी युधिष्ठिर सवाद, वन २९वाँ व ३०वाँ अध्याय। अजगर पर्व, वन १८१वाँ अध्याय। मार्कण्डेय समास्या, वन १९३वाँ व १९९वाँ अध्याय। द्विजव्याध सवाद, वन २०६वे से २०८वें अध्याय तक। यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद, वन ३१२वाँ अध्याय। विदुर वचन, उद्योग ३३वे से ४१वें अध्याय तक तथा ६४वाँ अध्याय। युधिष्ठिर वचन, उद्योग ७२वाँ अध्याय। विदुर श्रीकृष्ण सवाद, उद्योग ९२वाँ अध्याय। श्रीकृष्ण वचन उद्योग ९५वाँ अध्याय। विदुलावचन, उद्योग १३३वाँ व १३४वाँ अध्याय। श्रीकृष्ण -अर्जुन-सवाद, कर्ण ६९वाँ अध्याय। धृतराष्ट्र आश्वासन, स्त्री २रा अध्याय। धृतराष्ट्र शोकापनयन, स्त्री ३रा व ७वाँ अध्याय। विदुर वचन, स्त्री ९वाँ अध्याय। अर्जुन वचन, शाति ८वाँ व १५वाँ अध्याय। भीमवचन, शाति १६वाँ अध्याय। देवस्थान वचन, शाति २१वाँ अध्याय। व्यास वचन, शाति २३ वाँ अध्याय। सेनजित उपाख्यान, शाति २५ वाँ अध्याय। युधिष्टिर वचन, शाति २६ वाँ अध्याय। व्यास वचन, शाति २७ वाँ व २८ वाँ अध्याय। सत्यानृतविभाग, शाति १०९ वाँ अध्याय। दुर्गातितरण, शाति ११० वाँ अध्याय। व्याघ्रगोमायु सवाद, शाति १११वाँ अध्याय। उष्ट्रग्रीवोपाख्यान, शाति ११२ वाँ अध्याय। सरित्सागर सवाद, शाति ११३ वाँ अध्याय। ऋर्षि सवाद, शाति ११६ वाँ ११७ वाँ अध्याय। शीलवर्णन, शाति १२४ वाँ अध्याय। शाकुलोपाख्यान, शाति १३७ वाँ अध्याय। मार्जारमूषिक सवाद, शाति १३८ वाँ अध्याय। ब्रह्मदत्तपूजनी सवाद, शाति १३९ वाँ अध्याय। पवनशाल्मलि सवाद, शाति १५७ वाँ अध्याय। सत्य प्रशसा, शाति १६२ वाँ अध्याय। कृतघ्नोपाख्यान, शाति १७२ वाँ अध्याय। ब्राह्मण सेनजित सवाद,

---

न वै श्रुतिमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि॥ उद्योग ३९।४०, ७५।
उद्योग ४०।२३। उद्योग ६४।१२। शाति ५९।१४२। शाति २२२।३४।
अनु १६३।१२

१. सायं प्रातश्च वृद्धानां शृणुयात् पुष्कला गिरः।
श्रुतमाप्नोति हि नर. सततं वृद्धसेवया॥ अनु १६२।४९

युद्ध

'महाभारत' महायुद्ध का इतिहास—वैयाकरण पडित कहते है भरतवशी वीरो के महायुद्ध का इतिहास जिस ग्रंथ मे मिलता है, उसी का नाम 'महाभारत' है। लेकिन ग्रथकर्त्ता व्यासदेव का मत इससे भिन्न है, उन्होने महाभारत के विषय-वस्तु के महत्त्व व गुरुत्व को समझाने के उद्देश्य से ही ग्रथ का नाम महाभारत रक्खा है।[1] खैर महाभारत नाम किसी भी कारण से क्यों न रक्खा गया हो, पर यह सत्य है कि कौरव पाडवो के बीच हुए महायुद्ध की घटना को सूत्र मान कर ही महाभारत के अध्यायो मे सामजस्य रक्खा गया है। 'यतो धर्मस्ततो जय'[2] यही कारिका, भाष्य व वार्त्तिक रूप मे इस महाग्रथ का मूलसूत्र बताया गया है अधर्म पथ का अतिम परिणाम है—'समूलस्तु विनश्यति'।[3]

जिस महासग्राम के इतिहासरूप मे महाभारत की रचना हुई है उसी सग्राम की नियम पद्धति आदि पर इस अध्याय मे प्रकाश डाला जा रहा है।

युद्ध क्षत्रिय का धर्म—वर्णाश्रम धर्म के नियमानुसार क्षत्रिय जाति देश की शासक थी। वे समाज के बाहुस्वरूप थे। देश की रक्षा करना तथा आपद विपद से समाज को बचाना राजधर्म के अन्तर्गत था। शूरवीर धर्मनिष्ठ क्षत्रिय आवश्य-कता पडने पर अन्याय के विरुद्ध शस्त्र हाथ मे लेकर खडे होने के लिये लोकत व धर्मत बाध्य होते थे।

साम्राज्य लिप्सा युद्ध का कारण—बहुत बार समाज एव धर्मस्थिति के लिये युद्ध जरूरी हो जाता था, लेकिन ऐसे भी बहुत से युद्ध होते थे, जिनका कारण केवल साम्राज्यलिप्सा होती थी। पुरूरवा की दिग्विजय, पाडु की दिग्विजय तथा पाडवो व कर्ण की दिग्विजय का उद्देश्य धर्मरक्षा या समाजशासन नही था, ये अभियान केवल राज्यविस्तार तथा धनसम्पत्ति के लोभ से ही किये गये थे। जिस महायुद्ध का इतिहास महाभारत मे वर्णित है, उस युद्ध का मूल भी ईर्ष्यालु दुर्योधन की साम्राज्य-

---

१. सग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः। पाणिनि ४।२।५६। काशिका वृत्ति देखिये
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते। आदि १।२७४

२. उद्योग ३९।९।भीष्म २१।११। स्त्री १४।९

३. मनु ४।१७४

लिप्सा थी। दुर्योधन की भोगलिप्सा अगर अपनी सीमा से बाहर न होती तो यह युद्ध कभी नही होता।[१]

धर्म्ययुद्ध—साधारणत युद्ध मे एक पक्ष अन्यायी होता है। दोनो पक्ष न्याय पथ पर चलें तो युद्ध की नौबत ही न आये। यदि केवल अन्याय का प्रतिवाद करने के उद्देश्य से किसी को युद्ध करना पडे तो वह युद्ध धर्म्ययुद्ध कहा जा सकता है।

पांडवो का न्यायानुवर्त्तन—महाभारत के महायुद्ध मे भी पाडव न्याय पथ पर थे। पैतृकसम्पत्ति से पूर्णरूप से वचित होने पर भी उन्होने केवल पाँच गाँव माँगे थे। घमडी दुर्योधन का बिना युद्ध किये सुई की नोक बराबर भी जमीन न देने का निर्णय कुरुक्षेत्र के महायुद्ध का कारण हुआ।

युद्ध में मृत्यु क्षत्रिय के लिये श्रेयस्कर—धर्मयद्ध के लिये प्रोत्साहित करने के निमित्त क्षत्रिय से कहा गया है—विस्तर पर पडे रहकर दुर्गत रोगी की तरह मरना क्षत्रिय के लिये अधर्म है। उसे तो वीर की तरह युद्ध मे प्राण त्यागने चाहिये, उसी मे उसका जीवन सार्थक है।[२]

लाचार होने पर युद्ध कर्त्तव्य—अन्यायी प्रतिपक्षी को शिक्षा देने के लिये अपनी शक्तिसामर्थ्य का सही अदाजा लगा कर निपुण सभासदो आदि से परामर्श लेकर युद्ध की घोषणा करनी चाहिये।[३]

युद्धविद्या में भरद्वाज का ज्ञान—बहुत प्राचीन काल मे मुनि भरद्वाज युद्धविद्या के श्रेष्ठ अध्यापक माने जाते थे।[४]

युद्ध की अपेक्षा साम आदि श्रेष्ठ—भीष्मपर्व के निमित्ताख्यान नामक अध्याय मे कहा गया है कि मेघावी पुरुष को पहले चतुरगिणी सेना इकट्ठी करके साम अथवा दाम द्वारा प्रतिपक्षी को जीतने की चेष्टा करनी चाहिये। उसमे असफल होने पर आपस मे भेद (फूट) डालकर शत्रु को पराभूत करना चाहिये। युद्ध द्वारा जीतना बहुत ही जघन्य है, क्योकि पहली बात तो यह है कि युद्ध मे जय-पराजय अनिश्चित

---

१. आदि ११३ वाँ अ०। सभा २५वें से ३२वें अ० तक। वन २५३वाँ अ० शांति ५वाँ अध्याय।

२. अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत्।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्॥ इत्यादि। शांति ९७।२३–२५

३. मंत्रोऽयं मंत्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरै.। इत्यादि। सभा १४।३५। उद्योग ४था व ६वाँ अध्याय।

४. भरद्वाजो धनुर्ग्रहम्। शान्ति २१०।२१

होती है और दूसरी बात यह है कि युद्ध मे यदि विजय भी हो तो जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति करना असभव हो जाता है। युद्ध मे जय भी क्षय का दूसरा नाम है। सेनानीति प्रकरण मे भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है, "साम आदि उपायो मे युद्ध सबसे निकृष्ट है। युद्ध मे बहुत बार भाग्य पर निर्भर रहना पडता है। बुद्धिमान् व्यक्ति दूसरे उपायो द्वारा सफल होने की सम्भावना रहने पर युद्ध मे प्रवृत्त नही होते। युद्ध मे विजयी पक्ष की भी अपरिसीम क्षति होती है। बहुत बार देखा जाता है कि पाँच सात मिले हुए दृढ निश्चयी व्यक्ति शत्रुसेना का ध्वंस कर डालते हैं। अत साम, दाम, अथवा भेदनीति द्वारा यदि अभिलषित कार्य सिद्ध हो सके, तो कभी युद्ध मत करना।[1]

युद्ध से पहले दोनों पक्षो का सरल व्यवहार—युद्ध के प्रारम्भ मे देखा जाता है कि युधिष्टिर योद्धृवेश त्यागकर नग्नपाद भीष्म, द्रोण आदि गुरुओ के पास जाते और पाँव छूकर आशीर्वाद माँगते हैं। गुरुगण आशीर्वाद देकर कहते हैं, "राजन् हम दुर्योधन के अर्थ का दासत्व करते हैं, इसलिये हम उसकी तरफ से युद्ध करने के लिये बाध्य हैं। लेकिन हरि तुम्हारे मत्री है, जय तो तुम्हारी ही होगी। जहाँ धर्म है, वहाँ कृष्ण हैं, और जहाँ कृष्ण हैं वहाँ विजय है।" दोनो पक्षो के प्रधान पुरुषो का ऐसा आपसी व्यवहार देखकर आर्य, म्लेच्छ आदि उपस्थित योद्धा साधु साधु कहने लगे। पाडवो की धर्मप्रवणता की इस उपलब्धि से शत्रुपक्ष वालो के नेत्र भी भीग गये थे।[2]

धर्मयुद्ध के नियम—युद्ध के समय भी साधारणत किसी शिष्टाचार का उल्लघन करना बुरा समझा जाता था। कुरुक्षेत्र के मैदान मे दोनो पक्षो की सेनाएँ खडी थी। कुरुक्षेत्र मानो अशात सागर की तरह गर्जन कर रहा था। ठीक ऐसे समय कौरव, पाडव व द्रुपदो ने मिल कर युद्ध के बारे मे कुछ नियम बनाये। (क) रोज युद्ध समाप्ति के बाद हमारे पारस्परिक स्नेह सबधो मे कोई अतर नही आयेगा। (ख) समान प्रतिद्वन्दी के साथ ही युद्ध किया जायेगा। (ग) जो केवल वाग्युद्ध करेगा, उसके साथ वचन द्वारा ही युद्ध करना होगा। (घ) जो व्यक्ति सेना से निकल जायगा, उसका कभी वध नही किया जायगा। (ङ) रथी के साथ रथी,

---

१. सत्कृत्य महतीं सेनां चतुरंगां महीपते।
उपायपूर्वं मेधावी यतेत सततोत्थितः॥ इत्यादि। भीष्म ३।८०-८५
'संभृत्य महतीं सेनां चतुरगां युधिष्ठिर।
साम्नैव वर्त्तयेः पूर्वं प्रयतेयास्ततः युधि॥ इत्यादि। शांति १०२।१६-२२

२. भीष्म ४३वाँ अध्याय।

गजरोही के साथ गजरोही,अश्वारोही के साथ अश्वारोही तथा पदाति के साथ पदाति को युद्ध करना पडेगा। कोई भी कभी इसका व्यक्तिक्रम नही करेगा। (च) प्रतिपक्षी की योग्यता, उत्साह, बल आदि का ख्याल रखकर युद्ध करना पडेगा। इन विषयो मे कोई अविवेक न हो। (छ) प्रहार करते समय शत्रु को सम्बोधित करके प्रहार करना होगा। काम मे लगे हुए व्यक्ति को नही मारना होगा। (ज) विश्वस्त या विह्वल व्यक्ति पर प्रहार नही करना होगा। (झ) दूसरे के साथ युद्ध करके हुए शरणागत, युद्धविमुख, क्षीणशस्त्र, अथवा निशस्त्र व्यक्ति पर प्रहार नही करना होगा। (ञ) सूत, चूर्य (हाथी, घोडा आदि वाहन), शस्त्रवाहक अथवा रणवादक पर प्रहार नही करना होगा।[1] शान्तिपर्व मे और भी कई नियम उल्लिखित हुए हैं। (क) जिसके शरीर पर कवच न हो, उसके साथ युद्ध करना गर्हित है। (ख) युद्ध मे एक एक को आह्वान करना होगा। (ग) यह छोडा मैंने तीर, अब तुम छोडो, आदि अवधान वचन कहकर युद्ध करना होगा। (घ) सन्नध (वर्म अर्थात कवच आदि से सुसज्जित अथवा श्रेणीवद्ध) के साथ सन्नध एव ससैन्य के साथ ससैन्य व्यक्ति युद्ध करेगा। (ड) धर्मयोद्धा के साथ धर्मयुद्ध व कूटयोद्धा के साथ कूटयुद्ध होगा। (च) विभिन्न प्रकार के वाहनो मे बैठे योद्धा आपस मे युद्ध नही करेंगे, युद्धरत दोनो व्यक्तियो के वाहन एक जैसे होने चाहिये। (छ) विषबुझे अथवा विपरीतमुख बाणो द्वारा युद्ध नही करना होगा। (ज) दुर्बल पर प्रहार नही करना होगा। (झ) नि सन्तान व्यक्ति वध करने योग्य नही है। (ञ) भग्नशस्त्र, न्यस्तशस्त्र, विपन्न, कृतज्य एव हतवाहन व्यक्ति का वध नही किया जायगा। इसके विपरीत इस प्रकार किसी विपदा मे पडे व्यक्ति की चिकित्सा की व्यवस्था कराकर उसे उसके घर भेज देना उचित होगा। (ट) जो अभिज्ञ न हो उस पर ब्रह्मास्त्र नही छोडना होगा। यही धर्मयुद्ध के नियम हैं, धर्मयद्ध मे हुई मृत्यु भी प्रशसनीय है, किन्तु पापयुद्ध मे हुई विजय अच्छी नही। जो क्षत्रिय इन नियमो का उल्लघन करके अधर्म द्वारा विजयी होता है वह स्वय अपना वध करता है, अर्थात् उसके परलोक का कोई ठिकाना नही होता।[2]

हर अवस्था में वध के अयोग्य—विभिन्न स्थानो पर युद्धनीति का वर्णन करते समय युद्ध मे वध के सर्वथा अयोग्य व्यक्तियो के बारे मे भी कहा गया है। जो व्यक्ति

---

१. ततस्ते समयञ्चक्रुः कुरुपाण्डवसोमकाः। इत्यादि। भीष्म १।२६–३२

२. नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे।
एक एकेनवाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च॥ इत्यादि। शांति ९५।७–१७
ब्रह्मास्त्रेण त्वया दग्धा अनस्त्रज्ञा नरा भुवि।
यदेतदीदृशं विप्र कृतं कर्म न साधु तत्॥ द्रोण १८९।३९

युद्ध छोडकर शत्रु के सामने आत्मसमर्पण कर दे, उसे कभी नही मारना चाहिये। जिसके पास रथ न हो, जो सेना से विछड गया हो, जिसके शस्त्र टूट गये हो, वह अवध्य है। स्त्री, वालक व वृद्ध भी युद्ध मे वध्य नही होते।[१] 'मैं तुम्हारा दास हूँ'—जो सवके सामने यह कहे, उसे अवश्य आश्रय दिया जाय।[२] जो एक मात्र सन्तान का पिता या अपुत्रक हो, उसे नही मारना चाहिये।[३] भयभीत, शरणागत या हाथ जोडे हुए प्रतिपक्षी को मारना राक्षस नीति के अन्तर्गत आ जाता है।[४] किसी का भी पीठ पीछे से आक्रमण करके वध करना उचित नही है। जो दाँतो मे तिनका दवाकर विनीत भाव से क्षमा माँगे उसको मारना अनुचित है।[५] सोये हुए, प्यासे, थके हुए, भयभीत तथा योद्धाओ के भोजन आदि के व्यवस्थापक कर्मचारी पर कभी प्रहार नही करना चाहिये। इनका हनन करना घोर पाप का कारण है।[६]

विपन्न को क्षमा करना ही महत्ता—श्रान्त, भीत, शस्त्रहीन, विपन्न, कृताजलिवद्ध प्रतिपक्षी को आश्रय देना ही वीर पुरुषो को शोभनीय है। जो व्यक्ति हाथ मे आये विपन्न शत्रु को भी क्षमा कर दे, वही सच्चा पुरुष होता है। विजित शत्रु के शरण मे आने पर उसकी पुत्रवत् रक्षा करना वास्तविक क्षत्रियधर्म है।[७]

---

१. यो वा निपतितं हन्ति तवास्मीति च वादिनम्।
तथा स्त्रियञ्च यो हन्ति वालं वृद्धं तथैव च॥ इत्यादि। वन १८।१३, १४
अयुध्यमानस्य वधस्तथा शत्रोश्च भारत। इत्यादि। कर्ण ६९।२५, २६।
कर्ण ९०।१०५, १०६

२. दासोऽस्मीति त्वया वाच्यं संसत्सु च सभासु च।
एव ते जीवितत् दद्यामेष युद्धजितो विधिः॥ वन २७१।११

३. निक्षिप्तशस्त्रे पतिते विमुक्तकवचध्वजे। इत्यादि। भीष्म १०७।७७-७९

४. न चात्र शूरान् मोक्ष्यामि न भीतान्न कृताञ्जलीन्।
सर्वानेव वधिष्यामि राक्षसं धर्ममास्थितः॥ द्रोण १७१।६५

५. वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः।
तृणचूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत्॥ शांति ९८।४९

६. प्रसुप्तास्तृषितान् श्रान्तान् प्रकीर्णान्नाभिघातयेत्। इत्यादि।
शाति। १००।२६–२९

७. श्रान्तं भीतं भ्रष्टशस्त्रम्। इत्यादि। शाति २९७।४
विशीर्णकवञ्चैव तवास्मीति च वादिनम्।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न विहिंसयेत्॥ इत्यादि। शाति ९६।३।
शांति २२७।२३।सभा ५।५५

विपक्षी को उपयुक्त शस्त्र आदि देना—निरस्त्र व्यक्ति पर वार करना बहुत बुरा समझा जाता था। विपक्षी को उपयुक्त शस्त्र आदि देकर उसे युद्ध मे ललकारना क्षत्रिय धर्म द्वारा अनुमोदित है।[1]

समान वाहन में युद्ध करना—दोनो पक्ष के योद्धाओ का समान वाहन वाले से ही युद्ध करना यद्यपि सर्वत्र अनुसृत नही हुआ, तब भी उसके दृष्टान्त मिलते हैं। रथारोही योद्धा पदाति के साथ युद्ध करना असगत समझते थे।[2]

विपरीत दृष्टान्त (हाथी व रथ)—एक पक्ष के रथ पर बैठकर तथा दूसरे पक्ष के रथ पर चढकर युद्ध करने के उदाहरण भी मिलते हैं। अर्जुन व भगदत्त मे इसी प्रकार युद्ध होता था। भगदत्त का हाथी बहुत ही इगितज्ञ तथा असाधारण रूप से चतुर था।[3] उधर अर्जुन के रथ पर श्रीकृष्ण सारथि थे। शायद यही कारण था कि विभिन्न प्रकार के वाहन पर रहकर युद्ध करना सभव हो सका। दोनो मे से कोई भी शायद अपने अभ्यास व सुविधा को त्यागने का इच्छुक नही था। प्रा ज्योतिषपुर मे हाथी सभवतः अधिक होते थे। अश्वमेध पर्व मे यज्ञाश्वरक्षक अर्जुन के साथ भगदत्त के पुत्र वज्रदत्त के युद्ध का वर्णन मिलता है। वहाँ भी वज्रदत्त के हाथी की चतुरता व रणकौशल विस्तृत रूप से उल्लिखित है।[4]

संकुलयुद्ध में नियम का उल्लंघन—पूर्वोक्त नियमावली मे एक नियम है—'वाहन और सारथि का वध नही करना चाहिये।' किन्तु इस नियम का प्राय उल्लघन हुआ है। अर्जुन जैसे वीर ने भी भगदत्त तथा वज्रदत्त के साथ युद्ध करते हुए पहले उनके वाहन का वध किया था। सकुल वध मे तो सारथिवध के उदाहरण भी अगणित मिलते है। पूर्वोक्त नियमो मे से अनेको सकुलयुद्ध मे उल्लघित हुए हैं। जब दोनो पक्षो के असख्य योद्धा मिलकर यद्ध कर रहे हो तो प्रत्येक का परिचय जानकर या सबोधित करके अस्त्र फेकना कदापि सभव नही हो सकता।

---

१. आमुञ्च कवचं वीर मूर्द्धजान् यमस्व च।
यच्चान्यपि ते नास्ति तदप्यादत्स्व भारत॥ इत्यादि। शल्य ३२।६०
सभा २१।२४

२. भूमिष्ठं नोत्सहे योद्धुं भवन्तं रथमास्थितः। उद्योग १८१।२

३. भगदत्तो गजस्कन्धात् कृष्णयोः स्यन्दनस्थयोः। द्रोण २८।३
तमापतन्तं द्विपदं दृष्ट्वा क्रुद्धमिवान्तकम्। इत्यादि। द्रोण २७।२८।
द्रोण २५ वाँ अध्याय

४. अश्व ७५ वाँ अध्याय।

रात्रि को युद्ध—आवश्यक समझने पर रात को भी युद्ध किया गया है, इसका प्रमाण तो कुरुक्षेत्र मे ही मिल जाता है।[1]

कुरुक्षेत्र में दुर्नीति—सौप्तिक पर्व मे अश्वत्थामा की पैशाचिक प्रतिहिंसा, सप्तरथियो द्वारा अभिमन्यु का वध, कूटनीति का आश्रय लेकर छलपूर्वक भीष्म, द्रोण, व कर्ण का वध आदि स्थूल घटनाएँ उल्लिखित नियमावली के विल्कुल-प्रतिकूल हैं। इन अन्यायो का धर्मयुद्ध के किसी भी नियम द्वारा समर्थन नही किया जा सकता। इनके अलावा छोटे-मोटे अन्यायो के तो हजारो उदाहरण मिलते हैं। दुर्योधन, भूरिश्रवा, जयद्रथ आदि के वध मे भी निष्कपटता रक्षित नही हुई।

आदर्शस्खलन—किसी भी युग मे मनुष्य के आदर्श व व्यवहार मे समानता नही पाई जाती। जिन उच्च विचारो द्वारा आदर्श की सृष्टि होती है, व्यवहार मे उन विचारो को स्थान देना दुष्कर हो जाता है। वहुत से आदर्श व्यक्ति भी सर्वदा अविचलित नही रह पाते। भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि वेजोड वीरो ने भी समय-समय पर दुर्वलता का परिचय दिया है। अत यह वात स्वीकार करनी ही पडेगी कि युद्ध के प्रारम मे वनाये गये नियम कुरुक्षेत्र के योद्धाओ के यथार्थ वीरत्व व उदारता के परिचायक है एव उस काल की सामाजिक सभ्यता का निदर्शन करते हैं। यूँ तो सभी ने आदर्श की रक्षा की चेष्टा की है किन्तु प्रतिपक्ष के प्रवल आक्रमण के कारण वार-वार आदर्शच्युति हुई है।

प्रतिदिन युद्धोपरात पारस्परिक सद्भाव नहीं रहा—प्रतिदिन युद्ध समाप्त होने पर आपस मे प्रीतिभाव का कोई उदाहरण महाभारत मे नही मिलता, वरन् उसके विपरीत ही देखा जाता है। अष्टम दिन युद्धावसान के वाद दुर्योधन परामर्श के निमित्त भीष्म के शिविर मे गये। प्रसिद्ध वीर उनके रक्षको के रूप मे उनका अनुगमन कर रहे थे।[2] इस घटना से अनुमान लगाया जा सकता है कि सद्भाव तो दूर की चीज थी, वल्कि जरा भी असतर्क होने पर छिपे हुए शत्रुओ द्वारा प्राणहानि का भय ही अधिक था।

तीन वर्ष लम्बा युद्ध—महाभारत मे उल्लिखित युद्धो मे शान्तनुपुत्र चित्रागद एव गधर्व चित्रागदो के बीच हुआ युद्ध सर्वापेक्षा दीर्घकाल व्यापक था। यह युद्ध तीन वर्ष तक चला था।[3]

---

१. द्रोण १५२ वाँ तथा १६० वाँ अध्याय।

२. आत्तशस्त्राश्च सुहृदो रक्षणार्थं महीपतेः। भीष्म ९७।२५

३. तयोर्वंबलतोस्तत्र गधर्वकुरुमुख्ययोः।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः तिथिनक्षत्रपूजितः॥ आदि १०१।८
एवं सञ्चिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्र पूजितः।

शुभमुहूर्त्त में युद्ध-गमन—शुभ तिथि व नक्षत्र देखकर युद्ध को गमन करने का विधान है। 'सेनानीति कथन' प्रकरण मे भीष्म ने कहा है, जो सेना नीति को अच्छी तरह समझ कर शुभ तिथि नक्षत्र मे ब्राह्मण आदि गुरुजनो का आशीर्वाद लेकर युद्ध को गमन करते है, उनकी जय सुनिश्चित होती है।[1]

जय के लक्षण—बुद्धिमान व विद्वान् व्यक्ति दैव प्रकोप अथवा मनुष्य से किसी प्रकार के भय की आशका का अनुमान अशुभ लक्षणो आदि के द्वारा पहले ही लगा लेते हैं। इसी कारण विचक्षण दैवज्ञ व पुरोहित की आवश्यकता होती है। भावी दुरदृष्ट के नाश के निमित्त जप, होम एवं नाना प्रकार के अनुष्ठान करना उचित है। जिस सेना मे योद्धाओ का अन्त करण खूब प्रफुल्ल हो एव वाहन भी प्रसन्न दिखते हो उस पक्ष की अवश्य जय होती है। वायु यदि अनुकूल हो तथा इन्द्रधनु, सूर्यरश्मि मे पीछे की ओर हो तो समझना चाहिये लक्षण शुभ है। श्रृगाल व गृध्रो का सानन्द विचरण करना जय का सूचक होता है। शब्द, स्पर्श, गध आदि की अनुकूलता भी जय की सूचक हैं। बलवान की अपेक्षा भाग्यवान व्यक्ति की विजय की आशा अधिक होती है। सप्तर्षि मडल को पीछे की ओर रखकर युद्ध करना अच्छा होता है। वायु, सूर्य एव शुक्र ग्रह का आनुकूल्य जय की सूचना देता है।[2]

युद्ध का उत्कृष्ट काल—युद्ध गमन के लिये चैत एव अगहन मास श्रेष्ठ है। उस समय अनाज भी पक जाता है तथा पानी का भी अभाव नही रहता (?) विशेषत यह मौसम न बहुत गर्म होता है न बहुत ठडा।[3]

महाभारत के युद्ध का समय—कुरुक्षेत्र का युद्ध अगहन मास मे हुआ था। श्रीकृष्ण कार्तिक मास मे रेवती नक्षत्र का योग देखकर दौत्यकर्म के लिये हस्तिनापुर गये थे।[4] वहाँ से लौटते समय उन्होंने कर्ण से कहा था, "तुम भीष्म,

---

१. विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन्॥ शान्ति १००।२५
निर्ययौ च महेष्वासो नक्षत्रे शुभदैवते।
शुभे तिथौ मुहूर्त्ते च पूज्यमानो द्विजातिभिः॥ इत्यादि। वन २५२।२८, २९

२. दैवे पूर्वं प्रकुपिते मानुषे कालचोदिते। इत्यादि। शांति। १०२।३–१५
सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युद्ध्येयुरचला इव। इत्यादि। शांति १००।१९, २०
कृती राजन् विशिष्यते। शल्य ३२।८

३. चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा सेनायोगः प्रशस्यते। इत्यादि।
शाति १००।१०–१२

४. कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे। उद्योग ८३।७

द्रोण व कृपाचार्य से कहना कि इस महीने तृण, काष्ठ आदि अच्छा मिलता है। यह मास सौम्य है, यह शिशिरकाल अधिक गर्म नही होता एव निष्पक रहता है, इस समय जल रसवत् व निर्मल होता है। वनवीथियाँ लतागुल्मो से परिपूर्ण होती हैं, इस काल मे हर प्रकार के फल-फूल व औषधि प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। आज से सातवें दिन अमावस्या है, उसी दिन युद्ध शुरू हो जाय।[1]

युद्ध का आयोजन—सर्वप्रथम दोनो पक्ष मिलकर युद्ध का स्थान तय करते थे। निर्वाचित स्थान पर दोनो पक्षो की सेनाएँ, यान, वाहन, अस्त्र-शस्त्र तथा दूसरी रणसामग्री इकट्ठी की जाती थी। प्रत्येक प्रसिद्ध वीर के लिये शिविर बनाया जाता था और उसके प्रचुर प्रमाण मे खाद्य सामग्री जमा की जाती थी। किसी भी समय किसी भी चीज का अभाव न हो, इस ओर प्रत्येक पक्ष की सतर्क दृष्टि होती थी।

युद्ध-शिविर मे शिल्पी का स्थान—उपयुक्त शिल्पियो को वेतन देकर वहाँ रखने की व्यवस्था की जाती थी। शिल्पी सदा शिविर आदि के कार्य मे व्यस्त रहते थे।

वैद्य—शास्त्रविद् चिकित्सक निरुद्वेग चित्त युद्ध क्षेत्र मे आहत एव पीडित व्यक्तियो की चिकित्सा कर सके, इस उद्देश्य से विचक्षण चिकित्सको को युद्धभूमि के निकट ही वासस्थान दिया जाता था। वे उपयुक्त अर्थ पाकर रणक्षेत्र मे घायल व्यक्तियो की चिकित्सा करते थे।[2]

सूत-मागध आदि का स्थान—सूत, मागध, चारण, गणिका, गुप्तचर आदि को भी युद्धभूमि के निकट ही स्थान दिया जाता था। पक्ष के प्रधान व्यक्ति उनकी देखभाल करते थे।[3]

संग्रहीत द्रव्य—रणक्षेत्र मे जो जो चीजें इकट्ठी की जाती थी, उनकी एक सक्षिप्त सूची उद्योगपर्व मे मिलती है। प्रचुर काष्ठ, नाना प्रकार के भक्ष्य व पेय द्रव्य, मधु, घृत, पर्वत-प्रमाण सर्जरस मिश्रित पाशु, घास-फूस, अग्नि आदि द्रव्य प्रत्येक शिविर मे अधिक मात्रा मे रक्खे जाते थे। उसके अलावा रथ, हाथी, घोडे आदि

---

१. ब्रूयाः कर्ण इतो गत्वा द्रोण शान्तनवं कृपम्।
सौम्योऽय वर्त्तते मासः सुप्रापयवसेन्धनः॥ इत्यादि। उद्योग १४२।-
१६–१८

२. उद्योग १५१ वाँ व १९७ वाँ अध्याय।

३. ये चान्येऽनुगतास्तत्र सूतमागधवन्दिनः।
वणिजो गणिकाश्चारा ये चैव प्रेक्षका जनाः॥ इत्यादि। उद्योग १९७।-
१८, १९

वाहन एवं जितने भी प्रकार के कवच व अस्त्र-शस्त्र उस समय व्यवहृत होते थे, उनके सग्रह मे जरा भी त्रुटि नही होती थी।[१]

युद्धगमन के समय ब्राह्मण की पूजा आदि—उस काल मे वीर युद्धगमन के पूर्व ब्राह्मण को गो, निष्क आदि दान करते थे। फलस्वरूप समागत ब्राह्मण जय तथा आशीर्वाद सूचक मत्रो का पाठ करते थे।[२]

स्वस्त्ययन—यजमान के युद्धगमन के समय ऋत्विक् तरह-तरह के जाप व महौषधि द्वारा स्वस्त्ययन करते थे। यजमान राजा भी उनकी फल, पुष्प, वस्त्र, गो, निष्क आदि द्वारा अभ्यर्थना करके आशीर्वाद माँगते थे।[३]

अर्जुन की दुर्गास्तुति—युद्ध के पूर्व कृष्ण के उपदेशानुसार अर्जुन ने दुर्गास्तोत्र का पाठ किया था। उनकी स्तुति से प्रसन्न होकर भगवती अतरिक्ष से ही शत्रुजय का वर देकर अन्तर्धान हो गई थी।[४]

अस्त्र-पूजा—युद्ध के प्रारभ मे गधादि द्वारा अस्त्र-शस्त्रो की पूजा की जाती थी। वीर रक्षासूत्र बाँधकर स्वस्तिमत्र का पाठ करते थे।[५]

त्रैयम्बक बलि—अधिक बलवान प्रतिपक्षी से युद्ध का मौका पडता था तो युद्ध की पूर्वरात्रि को 'त्रैयम्बक बलि', नामक एक प्रकार का उपहार देवताओ के उद्देश्य से निवेदित किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि त्रैयम्बक अर्थात् महादेव के उद्देश्य से ही यह बलि दी जाती थी। जयद्रथ से युद्ध करने के पूर्व अर्जुन ने यह अनुष्ठान किया था, और फिर कृष्ण को नाना अलकारो से विभूषित करके वह नैश उपहार उन्हे ही प्रदान कर दिया था।[६]

रथाभिमंत्रण—किसी किसी युद्ध मे रथ को भी अभिमन्त्रित किया जाता था। मंत्र का उल्लेख तो नही मिलता, लेकिन कहा गया है कि अभिमत्रण का मत्र जैत्र साग्रामिक अर्थात् युद्ध मे जयप्राप्ति के अनुकूल होता था।[७]

---

१. ज्याधनुर्वर्मशस्त्राणां तथैव मधुसर्पिषोः। इत्यादि। उद्योग १५१।८४–८७

२. वाचयित्वा द्विजश्रेष्ठान् गोभिर्निष्कैश्च भूरिशः। उद्योग १५५।३२

३. जप्यैश्च मंत्रैश्च महौषधीभिः समन्ततः स्वस्त्ययनं ब्रुवन्तः। इत्यादि।
भीष्म २२।७, ८

४. भीष्म २३वाँ अध्याय।

५. अधिवासितशस्त्राश्च कृतकौतुक मंगलाः। उद्योग १५१।३८
गंधमाल्यार्च्चितं शरम्। द्रोण १४४।११२

६. त्रैयम्बकं बलिम्। इत्यादि। द्रोण ७७।३, ४

७. जैत्रैः संग्रामिकैर्म्मन्त्रैः पूर्वमेव रथोत्तमम्।
अभिमन्त्रितमर्च्चिष्मानुदयं भास्करो यथा॥ द्रोण ८२।१६

शंखनिनाद व रणवाद्य—सज्जित योद्धा समरक्षेत्र मे उपस्थित होकर सर्व-प्रथम शखध्वनि करते थे। उच्च शखध्वनि स्वपक्षी वीरो को आनन्दित करने के साथ साथ विपक्षी योद्धाओ मे भय का सचार करती थी। भेरी, पणव (ढोल), आनक (डका), मृदग, दुन्दुभि, ककच महानक, झर्झर, पेशी, गोविषाण, पुष्कर, मुरज, डिण्डिभ आदि तात्कालिक रणवाद्य थे। प्रत्येक सेनादल के साथ वाद्यभाड (मुरज, मृदग आदि) चलते थे। सूत, मागध, बन्दी, गायक व वादकगण उपयुक्त वेतन पाकर रणभूमि को गीतवाद्यो से मुखरित कर देते थे। युद्ध उपकरणो मे रण-वाद्य बहुत ही आवश्यक माना जाता था।[1]

शूरो की शख प्रीति—उल्लिखित वाद्ययन्त्रो मे शख ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ माना जाता था। विवाहादि मागलिक कार्यों मे जिसकी ध्वनि शान्ति व कल्याण का प्रतीक मानी जाती थी वही शख वीरो के हाथ मे पडकर रुद्रभैरव का रूप धारण कर लेता था। शखध्वनि सुनते ही प्रत्येक योद्धा उल्लसित हो उठता था। शायद शखध्वनि उन्हे विशेषतया उत्तेजित करती थी। महाभारत मे बहुत से योद्धाओ के शखो के विभिन्न नाम दिये गये हैं। यथा—कृष्ण के शख का नाम पाचजन्य, धनजय के शख का नाम देवदत्त, वृकोदर के शख का पौंड्र, युधिष्ठिर के शख का अनन्तविजय, नकुल के शख का सुघोप, सहदेव के शख का मणिपुष्पक आदि। भीष्म, शिखण्डी, धृष्ट-द्युम्न, सात्यकि आदि वीरो का भी शख के प्रति यथेष्ट लगाव था। कुरुक्षेत्र की रण-भूमि प्रत्येक पल शखनाद से गूँजती रहती थी।[2]

युद्ध परिधान—वीरो की पोशाक आदि का विस्तृत वर्णन महाभारत मे नही मिलता, लेकिन ऐसा इगित अवश्य होता है कि धोती ही परिधान रूप पहनी जाती थी। किंतु उस धोती की लम्बाई-चौडाई या किसी अन्य रूप के बारे मे कुछ पता नही चलता। विराटपुरी मे कौरवो के साथ हुए युद्ध मे अर्जुन का परिधान लाल रग का जोडा बताया गया है।[3]

---

१. आदि २२०।११। भीष्म २४।६। भीष्म ४३।८, १०३। भीष्म ५१।२३। भीष्म ५८।४६। भीष्म ९९।१७—१९। द्रोण ३८।३१। कर्ण ११।३६। शाति १०२।९

२. तस्य सजनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनाद विनद्योच्चैः शख दध्मौ प्रतापवान्॥ इत्यादि। भीष्म २५।-१२।१९। भीष्म ५१।२२—२९
ततः शखं प्रदध्मौ स द्विषता लोमहर्षणम्। विराट ५३।२३

३. वस्त्राण्युपादाय महारथानां तूर्णं पुनस्तत्प्रथमारुरोह। इत्यादि। विराट ६६।१५। विराट ६९।१०, ११
रक्ते च वाससी। विराट ३८।३१

माल्यचन्दन—शूरवीर माल्यचन्दन आदि से विभूषित होकर रणक्षेत्र को जाते थे। उनके माल्यचन्दन की सुगंध रणभूमि को आमोदित रखती थी।[1]

गोधांगुलित्राण—वाण की डोरी की रगड से बचाव के लिये योद्धा अगुलित्राण अर्थात् गोह के चमडे के दस्ताने पहनते थे। ये दस्ताने शायद कुहनियो तक के होते थे, क्योकि वाण छोडते समय डोरी की रगड हाथ पर लगने की ही अधिक आशका रहती है।[2]

तनुत्राण या कवच—प्रत्येक योद्धा कवच का व्यवहार करता था। शरीर को कवच से ढके बिना शस्त्रयुद्ध के लिये उपस्थित नही होता था। कवच का उल्लेख बहुत से प्रसगो मे आया है। विराट के रणयात्रा प्रसग मे नाना प्रकार के कवचो का वर्णन हुआ है। कवच अतिशय उज्ज्वल, विचित्र एव वज्र व लौहनिर्मित होते थे। ऊपर से सुवर्ण खचित होते थे। किसी किसी कवच पर स्वर्णविन्दु झिलमिलाते थे। किसी किसी कवच पर तरह तरह के चित्र बने होते थे।[3]

लौहवर्म का वर्णन—कोई कोई शिरस्त्राण लौहनिर्मित होते हुए भी सूर्य-किरण की तरह उज्ज्वल व सफेद रग का होता था। महाभारत मे आये शिरस्त्राणो के वर्णन से प्रतीत होता है कि लोहे के टोप ही अधिकतर व्यवहृत होते थे।[4]

कवचधारण के पूर्व मंत्रपाठ—कुछ लोग आचमन आदि द्वारा शुद्ध होकर यथाविधि मत्रपाठ करके कवच धारण करते थे। शायद उस काल के समाज मे इस प्रकार के कार्यों के साथ भी आनुष्ठानिकधर्म को अच्छेद्य रूप मानना आदर्श माना जाता था।[5]

अस्त्रादिपूर्ण बैलगाड़ी—बडे बडे योद्धा अपने साथ तो अस्त्र रखते ही थे। इसके अलावा उनके नजदीक ही अस्त्र-शस्त्रो से भरी बहुत सी बैलगाडियाँ भी रहती थी।[6]

---

१. स्रजः समाः सुगंधानामुभयत्र समुद्भवः। भीष्म २४।४
आदाय रोचनां माल्यम्। इत्यादि। सभा २३।४
२. वद्धगोधांगुलित्राणाः कालिन्दीमभितो ययुः। इत्यादि। विराट। ५।१। आदि १३४।२३
३. राजानो राजपुत्राश्च तनुत्राण्यथ भेजिरे। इत्यादि। विराट ३१।१०–१४
अथ वर्माणि चित्राणि कांचनानि बहूनि च। उद्योग १५२।२१
४. सुवर्णदृष्टं सूर्याभम्। इत्यादि। विराट ३१।१५। कर्ण ८१।२७
५. आबबन्धाद्भुततमं जपन्मत्रं यथाविधि। द्रोण ९२।३९
६. अष्टागवामष्टशतानि वाणान् मया प्रयुक्तस्य वहन्ति तस्य। कर्ण ६७।६
अस्त्यायुधं पाण्डुवेयावशिष्टं न यद्वहेच्छकटं षड्गरीयम्। कर्ण ७६।१५

धनुर्वेद चतुष्पाद व दशांग—महाभारत मे युद्धवाहिनी तथा स्थान व काल-विशेष मे उसके विशिष्ट् विधान आदि विषयो पर बहुत ही थोडा प्रकाश डाला गया है। (कौटिल्य, शुक्रनीति, अग्निपुराण आदि ग्रन्थो मे विस्तृत वर्णन मिलता है।) धनुर्वेद को चतुष्पाद एव दशाग बताया है। मूलग्रथ मे इस उक्ति की कोई विस्तृति नही है। टीकाकार नीलकठ ने अपनी टीका मे कहा है—दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा एव इन तीनो का साधन ये चार धनुर्वेद के पाद है। व्रत, प्राप्ति, धृति, पुष्टि, स्मृति, क्षेप, अरिभेदन, चिकित्सा, उद्दीपन एव कृष्टि ये दस उसके अग हैं।[1]

चतुरगवाहिनी—युद्ध के लिये चतुरगिणी सेना इकट्ठी करनी पडती थी। रथी, गजारोही, अश्वारोही व पदाति इन चार श्रेणियो की सेना समष्टि की पारिभाषिक सज्ञा ही 'चतुरग' है। कुरुक्षेत्र युद्ध मे रथो का प्राधान्य था। प्रत्येक रथ के साथ दस हाथी, प्रत्येक हाथी के साथ दस अश्व, प्रत्येक अश्व के साथ दस पदाति रक्षकस्वरूप रहते थे। उनकी सज्ञा, 'पादरक्षक' होती थी। एक रथ की रक्षा के निमित्त पचास हाथी, प्रत्येक हाथी की रक्षा के उद्देश्य से पचास घोडे, प्रत्येक घोडे की रक्षा के लिये सात पदाति रहते थे। पचास आदमियो की सेना एकत्रित होने पर उसे 'पत्ति' कहा जाता था। (अमरकोष आदि मे इस गणना का व्यतिक्रम दृष्ट होता है।) तीन पत्तियो पर एक 'सेनामुख', तीन सेनामुखो पर एक 'गुल्म' व तीन गुल्मो पर एक 'गज' होता था।[2]

सेनापति—एक सेनापति के अधीन एक सैन्यदल गठित होता था। सेनापति का आदेश हर दशा मे मान्य होता था। विना सेनापति के अच्छी से अच्छी सेना भी युद्धक्षेत्र मे विजय लाभ नही कर सकती। युद्धकुशल, शास्त्रज्ञ, शूर, हिताकाक्षी एव दीर्घदर्शी पुरुष को ही सेनापति का पद दिया जाता था।[3]

सेनापतिपति—कई सेनापतियो के ऊपर एक विचक्षण व्यक्ति तत्त्वावधायक के रूप मे नियुक्त किया जाता था, जो "सेनापतिपति" कहलाता था।[4]

दल का सेनापति—एक स्थान पर कहा गया है कि दस सैनिको के अध्यक्ष

---

१. दशाग यश्चतुष्पादमिष्वस्त्रं वेद तत्त्वतः। शल्य ६।१४

२. उद्योग १५४ वां अध्याय।

३. तासां ये पतयः सप्त विख्यातास्तान्निबोधत। इत्यादि। उद्योग १५१।३
सभा ५।४६।उद्योग १५५।१०
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत्। इत्यादि। शाति ८५।३१, ३२

४. सर्वेषामेव तेषान्तु समस्तानां महात्मनाम्।
सेनापतिपतिञ्चक्रे गुडाकेशं धनञ्जयम्॥ उद्योग १५६।१४

रूप मे एक सेनापति नियुक्त होता था। इसी प्रकार एक सौ एव एक हजार सैनिको की अध्यक्षता के लिये एक और सेनापति रक्खा जाता था। इन सेनाध्यक्षो का वेतन साधारण सेनाध्यक्ष से दुगना होता था।[1]

रथ का सारथि—रथ के सारथि की नियुक्ति भी बहुत ही विवेचनापूर्वक की जाती थी। बहुत बार अरोही की अपेक्षा सारथि का अधिक पटु होना आवश्यक होता है। श्रीकृष्ण को सारथि रूप मे पाकर अर्जुन को कितना लाभ हुआ था, यह कुरुक्षेत्र के युद्ध मे पद पद पर लक्ष्यगत होता है। इन्द्र के मातलि, कृष्ण के दारुक व अर्जुन के कृष्ण सारथि की बुद्धिमानी से सभी परिचित है।

सारथि की गुरुपरम्परा—सारथ्य कर्म भी गुरुपरम्परा द्वारा शिक्षणीय था। उत्तर ने अर्जुन से कहा है, "मैंने गुरु से सारथ्य की शिक्षा ली है।"[2]

सारथिकृत यमक आदि मंडल—कृपाचार्य व अर्जुन के मध्य हुए युद्ध मे उत्तर की अभिज्ञता का परिचय मिलता है। उसने शत्रुनिरोधक 'यमकमडल' द्वारा हठात् रथ की गति बदल कर विशेष कृतित्व का परिचय दिया था।[3]

यात्रा व दुर्गविधान—जलपूर्ण एव तृणाच्छादित पथ से सेना को युद्धक्षेत्र के समीपवर्त्ती दुर्ग मे ले जाना चाहिये, पथ ऊँचा-नीचा न होकर समान हो तो अच्छा है। प्रस्थान के पूर्व रास्ते जानने वाले कुछ चर इकट्ठे कर लेने चाहिये। प्रत्येक सेना के साथ एक पथप्रदर्शक होना चाहिये। दुर्ग के निकट जल की प्रचुरता हो। रणभूमि के निकटस्थ उन्मुक्त प्रातर मे सेना के शिविर बनाना बहुत अशो मे निरापद होता है।[4]

स्थानविशेष के अनुसार सेनायोग—कीचड रहित, जलशून्य तथा सेतु, प्राकार आदि विहीन शुष्क भूमि पर अश्वारोही योद्धाओ को सुविधा होती है। कीचड-रहित व समान भूमि रथ चलाने के लिए श्रेष्ठ होती है। जिस जगह छोटे-छोटे पौधे व जल हो वहाँ युद्ध करना गजारोहियो के लिये आरामप्रद होता है। बाँस, बेत से परिपूर्ण तथा ऊबड-खाबड रणक्षेत्र पदाति सैनिको के लिये अच्छी होती है।[5]

---

१. दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा। इत्यादि। शांति १००।३१,३२

२. शिक्षितो ह्यस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ। विराट ४५।१८

३. यमकं मंडल कृत्वा तान् योधान् प्रत्यवारयत्। विराट ५७।४२

४. जलवांस्तृणवान्मार्गः समगम्यः प्रशस्यते। इत्यादि। शांति १००।१३–१७

५. अकर्दमामनुद काममर्यादामलोष्टकाम्। इत्यादि। शांति १००।२१–२३
तृणाश्मानं वाजिरथप्रवाहं ध्वजद्रुमैः संवृतकूलरोधसम्।
पदाति नागैर्बहुकर्दमां नदीं सपत्ननाशे नृपतिः प्रयोजयेत्॥ आश्र, ७।१४

काल विशेष मे सेनायोग—जिस वाहिनी मे पदाति सैनिको की सख्या अधिक हो वह सेना श्रेष्ठ होती है। क्योकि धूप या बारिश मे वाहन आदि की अवस्था मे परिवर्तन होने की सभावना रहती है, किन्तु साहसी पदाति को किसी चीज का भय नही होता। वृष्टि न हो रही हो तो रथ एव अश्ववहुल वाहिनी पूर्ण शक्ति से युद्ध चला सकती है। वर्षाकाल मे गजवहुल वाहिनी उत्तम होती है।[1]

आक्रमण पद्धति—असिचर्मयुक्त पदाति सेना को वाहिनी के अग्रभाग मे रखना चाहिये, रथ उनके पीछे होने चाहिये। वहुत शक्तिशाली योद्धाओ को ही पदाति रक्षण का कार्य देना उचित है। स्त्रियो को पदाति व रथो के वीच मे रहना चाहिये। (स्त्रियो के वारे मे उपर्युक्त वात की सार्थकता समझ मे नही आती, क्योकि स्त्रियो की सेना तो कही भी वर्णित नही हुई है)।[2]

गुरु के साथ युद्ध—प्रयोजन होने पर अस्त्रविद्या के गुरु के साथ भी क्षत्रिय युद्ध करते थे। भीष्म ने परशुराम के साथ[3] एव अर्जुन ने द्रोणाचार्य के साथ युद्ध किया था। पहला वाण द्रोणाचार्य छोडेगे, तव अर्जुन प्रतियुद्ध करेगे, यह प्रतिज्ञा उनमे हुई थी। अर्जुन ने सर्वत्र अपनी प्रतिश्रुति की रक्षा की है।[4] भीष्म एव अर्जुन ने गुरु के साथ युद्ध करने मे किसी भी प्रकार की अशिष्टता नही दिखाई।

आततायी का वध पाप नहीं—अर्थशास्त्र के अनुशासन मे आततायी के वध को पाप नही वताया है। अग्निद अर्थात् आग लगाने वाला, गरद अर्थात् विष देने वाला, शस्त्रपाणि, धनापहारी, क्षेत्रापहारी व दारापहारी, इन छह को 'आततायी' कहा जाता है। आततायी यदि नानागुणो से विभूषित एव सर्वप्रकार से श्रेष्ठ भी हो, तथापि वह वध्य है। जो शस्त्रपाणि आततायी ब्राह्मण की हत्या करता है, उसे कोई पाप नही लगता। यह धर्मज्ञो का मत है। भार्याहरणकारी एव राज्यहर्त्ता शत्रु यदि शरणागत भी हो तो उसे क्षमा नही करना चाहिये। यदि ब्राह्मण सन्तान व वेदान्ती आततायी भी शस्त्र हाथ मे लेकर आक्रमण करे तो उसे क्षमा नही करना चाहिये। उसका वध करने से ब्रह्महत्या का पाप नही लगता।[5]

---

१. पदातिबहुला सेना दृढ़ा भवति भारत। इत्यादि। शाति १००।२४, २५
२. अग्रतः पुरुषानीकससिचर्मरता भवेत्। इत्यादि। शाति १००।४३–४५
३. उद्योग १८१ वाँ अध्याय।
४. विराट ५८ वाँ अध्याय। द्रोण ८९वाँ अध्याय।
५. ज्यायासमपि चेद वृद्ध गुणैरपि समन्वितम्।
आततायिनमायान्त हन्याद् घातकमात्मनः॥ इत्यादि। भीष्म १०७।१०१। वन २७०।४६। उद्योग १७९।२८, २९

अर्जुन की आशंका—आततायी वध के समर्थन में महाभारत मे इतनी उक्तियाँ रहते हुए भी कुरुक्षेत्र का युद्ध आरभ होने से पहले विषण्ण अर्जुन ने कहा है, "इन सब आततायियो का वध करने से मुझे पाप ही लगेगा।"[1]

समाधान—उपर्युक्त कथन की टीका मे नीलकठ ने कहा है कि आततायीवध अर्थशास्त्र द्वारा तो अनुमोदित है, किन्तु धर्मशास्त्र इसके प्रतिकूल है, इसीलिये अर्जुन को पाप की आशका हुई थी। शूलपाणि कृष्ण ने कात्यायन के वचन उद्धृत करके अर्जुन के इस कथन का सामजस्य बनाये रक्खा है। वचन का तात्पर्य यह है कि आततायी व्यक्ति यदि हता व्यक्ति से विद्या, जाति कुल इत्यादि मे श्रेष्ठ हो तो वह वध करने योग्य नही है।[2]

अश्वत्थामा की मुक्ति—प्रतीत होता है, महाभारतकार का भी यही मत है। सौप्तिकपर्व मे कहा है कि पैशाचिक हत्याकारी, ब्रह्मबध्‌ अश्वत्थामा भी एकमात्र ब्राह्मणकुल मे जन्म लेने के कारण बच गये।[3]

युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ—भीष्म, द्रोण आदि गरुजनो एव दुर्योधन आदि ज्ञातियो के वध से पाप लगने की आशका होने पर ही युधिष्ठिर ने महर्षि व्यास के उपदेशानुसार अश्वमेध यज्ञ किया था।[4]

जय की अपेक्षा धर्मरक्षा का प्राधान्य—कहा गया है कि युद्ध मे विजय पाना ही परम लाभ नही है, युद्ध का प्रधान लक्ष्य धर्मरक्षा होना चाहिये। आततायी की अवध्यता भी इसी का समर्थन करती है।[5]

युद्धकाल में उपासना आदि—युद्धकाल मे भी वीर पुरुष उपासना आदि अनुष्ठानो का यथानियम पालन करते थे उपासना का समय आने पर दोनो पक्ष कुछ देर युद्ध से विरत रहकर उपासना कर लेते थे।[6]

प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
जिघांसंतं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥ इत्यादि। शांति ३४।१७-१९

१. पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः। भीष्म २५।३६

२. आततायिनि चोत्कृष्टे तपःस्वाध्यायजन्मतः।
वधस्तत्र तु नैव स्यात् पापे हीने वधो भृगुः॥ कात्यायन संहिता

३. जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च॥ सौप्तिक १६।३२

४. अश्व ३रा अध्याय।

५. धर्मलाभाद्धि विजयाल्लाभः कोऽभ्यधिको भवेत्। शांति १६।११

६. दिवाकरस्याभिमुखं जपन्तः संध्यागताः प्राञ्जलयो बभूवुः॥ इत्यादि। द्रोण १८५।४।द्रोण १८६।१

शान्तिकाम ब्राह्मण के मध्यस्थ बनने पर युद्ध विरति—युद्ध में रत दोनो पक्षो के बीच मे कोई शान्तिकाम ब्राह्मण आकर खडा हो जाता था तो तत्क्षण युद्ध बन्द करना पडता था। ब्राह्मण की अवमानना करने से क्षत्रिय की मर्यादा घटती है।[1]

अस्त्रशस्त्र—युद्ध मे जिन अस्त्रो का व्यवहार होता था, उनके नाम अनेक स्थानो पर उद्धृत हुए हैं। विराट, भीष्म, द्रोण, कर्ण व शल्य पर्वो मे युद्ध का वर्णन है। विशेष रूप से जिन स्थानो पर अस्त्र आदि का नाम आया है, वे निम्न-लिखित हैं।

आदि १९।१२-१७। आदि ३२।१२-१४। आदि १३९।६। आदि २२७।२५। वन १५।६-१०। वन २०।३३, ३४। वन २१।२,२५ वन ४२।४५। वन १६९।१५, १६। विराट ३२।१०। विराट ४२ वाँ अध्याय। उद्योग १९।३,४। उद्योग १५४।३-१२ भीष्म १६।९। भीष्म १८।१७। भीष्म ४६।१३, १४। भीष्म ५८।३। भीष्म ६१।२२, भीष्म ७६।४-६। द्रोण १४६ वाँ व १७७ वाँ अ०।

जिन अस्त्र-शस्त्रो का उल्लेख मिलता है, उन पर अकारादि क्रम से नीचे प्रकाश डाला जा रहा है।

अंकुश—लौहमय अस्त्रविशेष जो हाथी को चलाने के लिये व्यवहृत होता है। युद्ध मे भी इसका प्रयोग देखने मे आता है।

अश्मगुड़क—वर्त्तुलीकृत पापाण। यह शत्रु पर फेका जाता है।

असि की उत्पत्ति का विवरण—शान्तिपर्व मे कहा गया है कि नकुल खड्ग-युद्ध के विशेषज्ञ थे। उन्होने शरशय्या पर शायित पितामह से खड्ग की उत्पत्ति का विवरण जानना चाहा। भीष्म बोले—"ब्रह्मा ने सृष्टि रक्षा के निमित्त यज्ञ किया था, उसी यज्ञकुड से नीलोत्पल सदृश,तीक्ष्णदष्ट्र, दुर्द्धर्षतर असि की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा ने वह असि भगवान रुद्र को प्रदान कर दी। रुद्र ने रुद्ररूप धारण करके उस असि द्वारा दानवकुल का सहार किया और पुन शिवत्व रूप मे प्रतिष्ठित हुए। तब असि उन्होंने विष्णु के हाथ मे सौप दी। विष्णु ने मरीचि को, मरीचि ने ऋषियो को, ऋषियो ने वासव को, वासव ने लोकपालो को, लोकपालो ने मनु को, मनु ने क्षुप को और क्षुप ने इक्ष्वाकु को दी। इसी प्रकार गुरुपरम्परानुसार द्रोणाचार्य तक पहुँची और आचार्य से वह तुम्हे मिली है"। असि का जन्मनक्षत्र कृत्तिका अधिपति-देवता अग्नि, गोत्र रोहिणी एव गुरु रुद्र हैं। असि, विशसन, खड्ग, तीक्ष्णधार, दुरासद,

---

१. अनीकयो सहतयोर्यदीयाद् ब्राह्मणोऽन्तरां।
शांतिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत्॥ इत्यादि। शांति ९६।८-१०

श्रीगर्भ, विजय एव धर्मपाल---ये आठ असि के नाम है। इसका एक नाम 'निस्त्रिश' भी है। अर्थात् असि की लम्बाई तीस अगुल से अधिक होती है।[१]

असिसंचालन के इक्कीस प्रकार---असिसचालन के इक्कीस प्रकार बताये गये है। लेकिन नाम सिर्फ दस के ही मिलते हैं, जो ये हैं---भ्रात उद्भ्रान्त, आबिद्ध, आप्लूत, प्रसृत, सृत, परिवृत्त, निवृत्त, सम्पात व समुदीर्ण।[२] एक जगह और खड्गयुद्ध के वर्णन मे चौदह मडलो का उल्लेख किया गया है किन्तु वहाँ भी भ्रात, उदभ्रान्त आदि केवल आठ मडलो के नाम दिये गये हैं।[३]

असि का कोष---गोचर्म, व्याघ्रचर्म अथवा स्वर्णादिनिर्मित म्यान मे तलवार रक्खी जाती थी। किसी-किसी खड्ग पर सोने का काम भी किया होता था। पच-नख प्राणी के चमडे से निर्मित कोष मे असिस्थापन का जिक्र भी आया है। शायद गेंडे या गोह के चमडे से कोष बनाया जाता था।[४]

ऋष्टि---काष्टनिर्मित दण्डविशेष।[५] जिस खड्ग के दोनो ओर धार हो उसे भी 'ऋष्टि' कहा गया है। (देखिये वाचस्पत्य अभिधान)

कचग्रह-विक्षेप---जिस शस्त्र के द्वारा निकटस्थ शत्रु के बाल पकड कर मारा जाय। यह शस्त्र दण्ड के समान होता है और अग्रभाग मे गोद जैसा चिकने द्रव्य का लेप कर दिया जाता है जिस पर बाल चिपक जाते हैं और वह व्यक्ति पकड मे आ जाता है।[६]

कणप---जिस लौहयन्त्र की गर्भस्थ गोलियाँ आग्नेय द्रव्य की शक्ति से उल्काओ की तरह चारो ओर विकीर्ण हो जायँ।[७]

कर्णि व कम्पन (?)---(कर्ण ८१।१२। भीष्म ७६।७)

कुलिश---वज्र की आकृति का अस्त्रविशेष।

क्षुर---पार्श्वधार, तीक्ष्णाग्र व ऋजु एक अस्त्र।[८]

---

१. विराट ४२।१६, नीलकंठ। शांति १६६वाँ अध्याय।

२. स तदा विविधान् मार्गान् प्रवरांश्चैकविंशतिम्। द्रोण १९०।३७-४

३. चतुर्दश महाराज शिक्षाबलसमन्वितः। इत्यादि। कर्ण २५।३१, ३२

४. विराट ४२वाँ व ४३वाँ अध्याय।

५. वन २०।३४।उद्योग १५४।२ नीलकंठ।

६. उद्योग १५४।५ नीलकंठ।

७. आदि २२७।२५ नीलकंठ।

८. आदि १३९।६ नीलकंठ।

क्षुरप्र—क्षुर-तुल्य, तीक्ष्ण बाणविशेप। तीक्ष्ण क्षुरप्र द्वारा खड्ग का भी छेदन किया जा सकता है।[१]

गदा—यूँ तो गद नामक असुर की अस्थियो से निर्मित मुद्गर को ही गदा कहा गया है (वायु-पुराण, गयामाहात्म्य), किन्तु बाद मे तत्सादृश्य मुद्गर मात्र को ही गदा की सज्ञा दी गई है। साधारणत युद्ध की गदाएँ लौह-निर्मित होती थी। गदा का वर्णन कई स्थानो पर मिलता है। बलराम, भीम व दुर्योधन गदायुद्ध मे प्रवीण थे। भीम की गदा का जो वर्णन हुआ है, उसमे उनकी गदा को अष्टकोण-विशिष्ट, बृहद एव सुवर्णभूपित बताया है।[२]

गदायुद्ध के मण्डल आदि—भीम व दुर्योधन के गदायुद्ध मे विभिन्न मण्डलो का वर्णन किया गया है। प्रतिपक्षी के चारो ओर घूमने का नाम 'मण्डल' है। प्रतिपक्षी के सम्मुखस्थ होने का नाम 'गत' है। प्रतिपक्षी के अभिमुख रहकर ही एक ओर सामान्य हट जाने को 'प्रत्यागत' कहते है। प्रतिपक्षी के मर्मस्थल पर प्रहार करके, उसे उठाकर शून्य मे फेक दिया जाय या भूपातित कर दिया जाय तो उस मण्डल को 'अस्त्रयन्त्र' कहते है। 'प्रहार परिमोक्ष' व 'प्रहार वर्जन' भी मण्डल के अन्तर्गत आते है। इसमे उपयुक्त समय देखकर प्रतिपक्षी पर प्रहार किया जाता है, नही तो विपक्षी की ही जय होती है। जल्दी-जल्दी दाँये बाये घूमने का नाम 'परिधावन' है। बिजली की तरह प्रतिपक्षी के सामने आने को 'अभिद्रवण' कहते हैं। चलते समय या गतिपरिवर्त्तन के समय यदि प्रतिपक्षी को गिरा दिया जाय तो इस मण्डल को 'आक्षेप' कहते हैं।

चाचल्य छोड़कर शत्रु के छिद्रान्वेपण करने को 'अवस्थान' कहते है। भूपातित विपक्षी के उठने पर पुन उससे युद्ध करना 'सविग्रह' कहलाता है। विपक्षी पर प्रहार करने के उद्देश्य से उसके चारो ओर सावधानीपूर्वक चलने को, 'परिवर्त्तन' कहते है। शत्रु के प्रसरण को रोकने का नाम 'सवर्त्त' है। प्रतिपक्षी के प्रहार को विफल करने के उद्देश्य से शरीर को जरा सा नत करना 'अवप्लुत' कहलाता है। ऊपर को उछल कर विपक्षी का प्रहार विफल करना 'उपप्लुत' होता है। शत्रु की गल्ती समझ कर निकट से उस पर प्रहार करने को 'उपन्यस्त' कहते है। जरा घूमकर शत्रु की पीठ पर मारने को 'अपन्यस्त' कहते हैं।[३] गदायुद्ध मे 'गोमूत्रिक' नामक एक और मण्डल का नाम आया है, परन्तु उसका स्पष्टीकरण नही हुआ है।[४]

---

१. क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन खड्गञ्चिच्छेद सुप्रभम्। कर्ण २५।३६

२. अष्टास्त्रिमायसीं घोरा गदा काञ्चन भूषणाम्। उद्योग ५१।८

३. शल्य ५७।१७–२० नीलकठ।

४. दीक्षणं मंडल सव्य गोमूत्रिकमथापि च। शल्य ५८।२२

नाभि के नीचे प्रहार करना वर्जित—गदायुद्ध मे नाभि के अधोभाग मे प्रहार करना अनुचित बताया है। भीम के इस विपरीत आचरण से उनके गुरु बलराम बहुत क्रुद्ध हुए थे। बाद को कृष्ण के बहुत समझाने पर शात हुए थे।[1]

चक्र—गोलाकार तेजधार वाला अस्त्र। कृष्ण का सुदर्शन चक्र प्रसिद्ध है।

चक्राश्म—नीलकठ ने लिखा है कि जिसके घूमने की शक्ति से बडे बडे पाषाण-खडो को भी दूर फेंका जा सके, उस काष्ठमय यत्र का नाम चक्राश्म है।[2]

तुलागुड्—भाण्डगोलक। नालबन्दूक (?), यन्त्रयुक्त वायुस्फोट, निर्घात, महामेघस्वन। इस यन्त्र के आकार प्रकार की ठीक धारणा नही बनाई जा सकी।[3]

तोमर—हाथ से फेका जाने वाला दीर्घदड अस्त्र। नीलकठ ने कहा है, लाटदेश (दक्षिण गुजरात) मे तोमर को 'इटा' कहा जाता है।[4]

धनु—धनुष लकडी, बाँस आदि से बनाया जाता था। सीग के धनुष का भी जिक्र हुआ है।[5]

नखर—नख के समान तीक्ष्ण अस्त्र। (?)[6]

नाराच—लोहे का बाण जिसका पार्श्वभाग धारदार अग्रभाग तीक्ष्ण होता है। यह धनुष से छोडा जाता है।[7]

नालीक—बाणविशेष। (?) वाचस्पत्याभिधान के अनसार अन्तश्छिद्र बाण-विशेष।

पट्टिश—एक प्रकार का खड्ग जो दोनो ओर से तेज धार वाला व आगे से तीक्ष्ण होता है, यह 'पटा' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[8]

परश्वध—परशु।

परिघ—सम्पूर्ण काँटेदार लौहदड।[9]

---

१. अधो नाभ्या न हन्तव्यमिति शास्त्रस्य निश्चयः। शल्य ६०।६–२४
२. आदि २२७।२५ नीलकंठ।
३. वन ४२।५ नीलकंठ।
४. आदि १९।१२ नीलकंठ।
५. शार्गंधनु श्रेष्ठम्। वन २१।२५
६. भीष्म १८।१७
७. आदि १३६।६ नीलकंठ
८. आदि १९।१४ नीलकठ
९. आदि १९।१७ नीलकंठ

पाश—रज्जु। समीप आये शत्रु के गले मे डालकर उसे अपनी ओर खीचने के काम मे आती थी।[१]

प्रास—हाथ से फेंका जानेवाला छोटा भाला। विध्यदेश में यह 'करकाठी' के नाम से प्रसिद्ध है।[२]

विपाठ—दही मथने की रई जैसा स्थूलमुख बाण।[३]

भल्ल—लम्बा व वक्र अग्रभाग वाला अस्त्र। विपक्षी के पेट मे भोक कर बाहर निकालने पर जिसके साथ आँते भी बाहर आ जाती हैं।[४]

भिन्दिपाल—हस्तप्रमाण शर या हाथ से फेंका जाने वाला लौहदड।[५]

भुशुंडी—चर्म व रज्जु द्वारा निर्मित शस्त्र।[६] इससे पाषाण निक्षेप किये जाते थे।[७]

मुद्गर—गदा।

मुषल—मूसल। मूसल लेकर आपस मे मारपीट करते-करते ही यदुवश का नाश हुआ था।

यमदष्ट्रा—नीलकठ ने कहा है, कि यह अस्त्र 'जमघड' के नाम से प्रसिद्ध है।[८] इसके बारे मे कुछ अदाज नही लगता।

यष्टि—अति प्रसिद्ध। (लाठी)

रथचक्र—कुछ भी हाथ न लगने पर रथ के पहिये भी शस्त्र के रूप मे व्यवहृत होते थे।[९]

शक्ति—हाथ से फेंका जानेवाला लौहदड। इसका नीचे का भाग स्थूल होता है।[१०]

शतघ्नी—आग्नेय औषधि के बल से फेंके गये प्रस्तरखडो द्वारा जो शस्त्र एक साथ सैकडो मनुष्यो की हत्या कर सके, उसे शतघ्नी कहते हैं।[११] शतघ्नी का उल्लेख

---

१. उद्योग १५४।४ नीलकठ

२. आदि १९।१२ नीलकंठ। वन ४२।४

३, ४. आदि १३९।६ नीलकठ

५. उद्योग १५४।६ नीलकठ

६, ७. आदि २२७।२५ नीलकंठ

८. आदि १९।१२ नीलकठ

९. वन १६९।१५

१०. आदि १९।१३ नीलकंठ

११. आदि २०७।३४ नीलकंठ

अनेक स्थानो पर हुआ है। शब्दकल्पद्रुम मे लोहे के काँटो से आच्छादित वृहद शिलाखड को शतघ्नी कहा है। शतघ्नी को दुर्ग की प्राकार पर स्थापित करने का जिक्र महाभारत मे भी आया है। शब्दकल्पद्रुम का अर्थ ग्रहण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रुपक्ष के लोग यदि दुर्ग की प्राकार पर चढने की चेष्टा करते थे तो वह कण्टकित शिलाखण्ड ऊपर से फेक दिया जाता था, जिससे एक साथ बहुत से लोग दबकर मर जाते थे । कहा गया है कि शतघ्नी को चक्र पर रखकर रणभूमि मे ले जाया जाता था।[1] कोई कोई समझता है कि शतघ्नी सम्भवत. तोप का ही प्राचीन रूप है, किन्तु टीकाकार नीलकठ या अभिधानिको के मत से इस कथन का समर्थन नही होता। उस काल मे तोप व बन्दूक थी कि नही, यह भी कहना कठिन है। टीकाकार नीलकट ने यद्यपि बन्दूक व तोप शब्दो का व्यवहार किया है, किन्तु ये उनके कल्पित शब्द है या कही आये है, यह विवेचनीय विषय है।[2]

शर—लौहनिर्मित शर का उल्लेख ही अधिक मिलता है। शर-दण्ड निर्मित शर के बारे मे स्पष्ट रूप से तो कुछ नही कहा गया है, किन्तु जो कुछ कहा है उससे उसका आभास अवश्य मिल जाता है। कुएँ मे गिरी वीटा अर्थात् गुल्ली को निकालने के लिये द्रोणाचार्य ने मन्त्रपूत इषीका का व्यवहार किया था। अश्वत्थामा के ऐषीकास्त्र त्याग करने के वर्णन से भी पता चलता है कि शर द्वारा एक प्रकार का अस्त्र बनाया जाता था। शायद उसका नाम वाण के अलावा और कुछ नही है।[3] बाँस द्वारा निर्मित वाण का उल्लेख भी मिलता है। वाण के मूल मे पक्षी के पख लगाये जाते थे । वाण के सुवर्णमडित पुख का वर्णन भी मिलता है। पक्षियो मे शायद गृध्र के पख ही अधिक लगाये जाते थे, क्योकि वाण के विशेषण रूप मे 'गार्द्धपत्र' शब्द प्राय प्रयुक्त हुआ है।[4]

विभिन्न आकृति व वर्ण के शर—शूरवीर अपनी रुचि के अनुसार नाना वर्णों के शरो का व्यवहार करते थे । उनकी आकृति भी भिन्न प्रकार की होती थी अग्रभाग को अर्द्धचन्द्राकार वक्र करके एक प्रकार का वाण बनाया जाता था।[5] भीम ने अर्द्धचन्द्राकार वाण से जयद्रथ को पचचूड बनाया था। इससे अवगत होता है कि वाण का अग्रभाग क्षुर की तरह तीक्ष्ण धारवाला होता था।[6]

---

१. द्रोण १७७।४६
२. वन १५।५ नीलकंठ
३. आदि १३१।२७ सौप्तिक १३।२२
४. द्रोण ९७।८ आदि १०२।२७।द्रोण १२३।४७।विराट ४२।७ नीलकंठ
५. वन २७०।१३। विराट ४३।१४। द्रोण ९७।७। विराट ४२।७ नीलकंठ
६. अर्द्धचन्द्रेण वाणेन किञ्चिदभ्रुवतस्तदा। वन २७१।९

नामांकित शर—कोई कोई शौक से बाण के बीच मे अपना अपना नाम लिख लेते थे।[1]

तूणीर मे शर रखना—बाण तूणीर मे रक्खे जाते थे। शर की तरह नालीक व नाराच (लोहे का बाण) भी धनुष से छोडे जाते थे।

लौहशर आदि की तैलधौति—लोहे या इस्पात निर्मित बाण, खड्ग आदि मे जग न लगे, इस उद्देश्य से तैलधौत करने (तेल लगाने) का नियम था।[2]

शूल—लोहे का बना त्रिशूल की आकृति का अस्त्र।

हल—लागल। बलराम का लागल अस्त्र अति प्रसिद्ध है।

अस्त्रो पर मीनाकारी—अस्त्र-शस्त्रो पर मीनाकारी का जो कार्य किया जाता था, उसका विस्तृत वर्णन विराटपर्व के अस्त्रदर्शन नामक अध्याय मे हुआ है। धनजय सुवर्णखचित, विभिन्न वर्णो से चित्रित, सुखस्पर्श, अव्रण व आयत गाण्डीव रखते थे। युधिष्ठिर का धनु इन्द्रगोपक चित्र व चारुदर्शन था। नकुल के धनुष पर सुवर्णसूर्य अकित था। सहदेव के धनुष पर स्वर्णशलभ चित्रित था। इसी अध्याय मे बाण एव म्यान का भी विशद् वर्णन मिलता है।[3]

निकट व दूर से अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग—उल्लिखित अस्त्र-शस्त्रो मे शतघ्नी, शर आदि का दूर से प्रक्षेपण उचित है। प्रतिपक्षी के निकट होने पर दूसरे शस्त्र काम मे लिये जा सकते है। धनुर्विद्या शायद दूरस्थ शत्रु पर आक्रमण करने का प्रथम आविष्कार है। शराभ्यास व लक्ष्यभेद बहुत ही श्रमसाध्य एव गुरुगम्य हैं। अर्जुन की धनुर्विद्या की पटुता नाना रूपो मे प्रकट हुई है। धनुष की निर्माणप्रणाली या योद्धृसम्प्रदाय के कौशल का कोई वर्णन महाभारत मे नही मिलता। (अग्निपुराण के धनुर्वेद प्रकरण मे इन विषयो की विशद व्याख्या मिलती है।)

अन्यान्य युद्धोपकरण—उपर्युक्त अस्त्र शस्त्रो के अलावा युद्ध मे और भी बहुत सी वस्तुओ की आवश्यकता पडती थी। कुरुक्षेत्र के युद्ध का आयोजन करते समय उन सब वस्तुओ की एक तालिका बनाई गई थी। बाणकोप या तूणीर, वरूथ (रथ की रक्षा के लिये व्याघ्रादि के चमडे से बनाया गया) उपासग (अश्व अथवा गज द्वारा वाहित तरकश, ध्वज, निपग (पदाति द्वारा ढोया जाने वाला तूणीर), पताका,

---

१. आत्मनामांकिता'। इत्यादि। द्रोण ९७।७।द्रोण १२३।४७।द्रोण १३६।५ द्रोण १५७।३७। शल्य २४।५६

२. रुक्मपुखैस्तैलधौतैः। इत्यादि। शल्य २४।५६। उद्योग १९।४।द्रोण १७७।२६

३. विराट ४३वाँ अध्याय।

खौलता हुआ तेल, गरम गुडजल, उपलखण्ड (यत्रक्षेप्य), मोम (पिघला कर शत्रु पर डालने के लिये), कण्टक दण्ड विष (आवश्यकता पडने पर तोमर आदि शस्त्रो पर लगाने के लिये), शूर्प (गर्म गुड आदि फेकने के लिये), पिटक, दात्र, परशु, कील, क्रकच, व्याघ्रचर्म, शृग (गदा के आघात से जमे हुए रक्त को फिर से सचालित करने के लिये), तैलसिक्त क्षौमवस्त्र (जलाकर प्रहार स्थल पर लगाने के लिये), पुराना घी चोट पर लगाने के लिये तथा अशुभहर औषधि आदि।[1]

दिव्यास्त्र व उनकी प्रयोगविधि—वहुत से अस्त्रो को दिव्यास्त्र कहा जाता था। उन अस्त्रो की असामान्य क्षमता देखकर ही शायद उन्हे 'दिव्य' की आख्या दी गई थी। दिव्यास्त्र की निर्माण व प्रयोग-प्रणाली वहुत ही गोपनीय होती है। गुरु परम्परागत शस्त्रविद्या के विशारद से उन अस्त्रो की दृष्टि व सहरण विधि सीखी जाती थी। इन शस्त्रो के प्रयोग से पहले मन ही मन देवताओ व गुरुजनो को स्मरण करने का नियम था। प्रत्येक अस्त्र किसी न किसी देवता के नाम पर होता था। जैसे—वायव्य, पर्जन्य, आग्नेय, गुह्यक इत्यादि। वायव्य अस्त्र द्वारा वायु-मडल मे वायु की क्षमता वढा दी जाती थी, पर्जन्य-अस्त्र द्वारा मेघो की सृष्टि कराकर वर्षा कराई जाती थी तथा जमीन के अन्दर से जल निकाला जाता था। आग्नेयास्त्र के प्रयोग से अग्नि की वर्षा होती थी। इसी प्रकार वरुणास्त्र, सम्मोहनास्त्र आदि के द्वारा भी अद्भुत कार्य किये जाते थे। नाम के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से ही अस्त्र के प्रयोग व फल के सवध मे वहुत कुछ समझ मे आ जाता है। दिव्यास्त्र के प्रयोग मे मन्त्रपाठ का विधान था। अशुचिता या मत्रभ्रश के फलस्वरूप दिव्यास्त्र की विस्मृति वहुत जगह उल्लिखित हुई है। वहुत ही कम लोग दिव्यास्त्र का प्रयोग जानते थे। कुरुक्षेत्र के युद्ध मे भीष्म, द्रोण, अर्जुन आदि कुल चार पॉच लोग दिव्या-स्त्रवेत्ता थे। कर्ण अतिम काल मे गुरु के शापवश दिव्यास्त्र प्रयोग भूल गये थे। अश्वत्थामा अस्त्र का प्रयोग तो जानते थे, किन्तु सहरण नही जानते थे। अकाट्य निष्ठा के विना दिव्यास्त्र नही मिलता। जव दिव्यास्त्र से युद्ध किया जाता था तो प्रतिपक्षी विपरीत अस्त्र का प्रयोग करता था। जैसे एक पक्ष यदि अग्नेयास्त्र का प्रयोग करता था तो दूसरा पक्ष उनके प्रशमन के निमित्त वारुणास्त्र की शरण लेता था। इसी प्रकार वायव्यास्त्र के विपरीत गुह्यकास्त्र व सम्मोहनास्त्र के विपरीत प्रज्ञास्त्र का प्रयोग किया जाता था। एक अस्त्र के नाम से ही अधिकतर समझ मे आ जाता है कि प्रतिकूल अस्त्र क्या होगा।[2]

---

१. उद्योग १५४वां अध्याय।
२. पार्जन्यास्त्रेण संयोज्य सर्वलोकस्य पश्यतः। इत्यादि। भीष्म १२१।२३। सभा २७।२६।वन १७१।८–१०।भीष्म ७७।५३।

त्वाष्ट्र की शक्ति—'त्वाष्ट्र' एक प्रकार के परमास्त्र का नाम है (शायद दिव्यास्त्र हो ?)। रणक्षेत्र मे अर्जुन ने इस अस्त्र का प्रयोग किया था। इस अस्त्र की विशेषता यह थी कि प्रतिपक्षी पर निक्षेप्ता का प्रतिबिम्ब पड़ता था अर्थात् प्रतिपक्ष के सब योद्धाओं मे निक्षेप्ता की आकृति दिखाई देती थी। अर्जुन के इस अस्त्र का प्रयोग करने पर विपक्षी सेना एक दूसरे को अर्जुन समझ कर आपस मे ही मार-काट करके क्षय प्राप्त हो गई। इस अस्त्र को यद्यपि परमास्त्र कहा गया है, किन्तु प्रतीत होता है मानो यह एक प्रकार का माया-जाल था।[1]

मायायुद्ध—दिव्यास्त्र युद्ध के अलावा एक प्रकार का और अलौकिक युद्ध था जिसे मायायुद्ध कहा जाता था। यह युद्ध मायाजाल की तरह था। इसमे अस्त्र की वास्तविकता कुछ नही होती, किन्तु उसके प्रयोग अगणित होते हैं। इन्द्रजाल की सृष्टि से वस्तु सत्य प्रतीत होती है किन्तु ऐन्द्रजालिक कौशल के अलावा कुछ नही होता। राक्षस व असुर मायायुद्ध मे निपुण थे।[2] घटोत्कच के मायायुद्ध से परेशान होकर कर्ण एक वीरहन्त्री शक्ति उस पर फेकने के लिये बाध्य हुए थे।[3]

देश एव जाति विशेष मे युद्धवैशिष्ट—दिव्यास्त्र व मायास्त्र को छोड़कर बाकी सब अस्त्र मनुष्यास्त्र कहलाते थे। सब जगहो पर अस्त्र का प्रयोग समान नही था। महाभारत मे हुए युद्ध के वर्णन से ऐसा अनुमान होता है कि भिन्न प्रदेश व भिन्न जातिया विभिन्न अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोग मे निपुण थी। गाधार, सिंधु व सौवीर प्रदेश के योद्धा नखर तथा प्रासयुद्ध के विशेषज्ञ थे। उशीनर सर्वशास्त्रो मे कुशल व सत्त्ववान होते थे। प्राच्यप्रदेशी कूटयोद्धा व मातगयुद्ध मे कुशल थे। यवन, कम्बोजी एव माथुरगण नियुद्ध अर्थात् बाहुयुद्ध मे निपुण थे। दक्षिणात्य

आग्नेय वारुण सौम्य वायव्यमथ वैष्णवम्।
ऐन्द्र पाशुपत ब्राह्म पारमेष्ठ्य प्रजापते.॥ इत्यादि। भीष्म १२१।४०-४२
उद्योग १८२।११, १२

१. अथास्त्रमरिसघघ्न त्वाष्ट्रमभ्यस्यदर्जुनः। इत्यादि। द्रोण १८।११-१४

२. अगारपाशुवर्षञ्च शरवर्षञ्च भारत।
एव माया प्रकुर्वाणो योधयामास मा रिपुः। वन २०।३७, १७, २६।
भीष्म ९३।५

३. सा ता माया भस्म कृत्वा ज्वलती भित्त्वा गाढ हृदय राक्षसस्य।
द्रोण १७७।५७

निवासी योद्धा असियुद्ध मे कुशल थे। पर्वतप्रदेशीय योद्धा नियुद्ध व पाषाणयुद्ध के ज्ञाता थे।[1]

निवातकवचों का जल युद्ध—निवातकवच नाम के दानव उत्कृष्ट जलयोद्धा थे। वे समुद्र के मध्य दुर्ग मे वास करते थे।[2]

व्यूहरचना व व्यूहभेद—अपने पक्ष की व्यूहरचना तथा दूसरे पक्ष का व्यूहभेद करने मे विशेष रूप से सग्रामनैपुण्य प्रकट होता था।

प्राचीन अभिज्ञ वृहस्पति—व्यूह विद्या मे वृहस्पति बहुत पटु माने जाते थे।[3]

भीष्म व द्रोण की अभिज्ञता—कुरुक्षेत्र के युद्ध मे भीष्म व द्रोण के समान और कोई व्यक्ति इस विषय मे निपुण नही था। वे दोनो नाना प्रकार के आसुर व पैशाच व्यूहो का निर्माण करने मे कुशल थे। उनके वाद अर्जुन का स्थान आता था।[4]

व्यहरचना आदि विषयो का विस्तृत विवरण महाभारत मे नही मिलता। (शुक्रनीति, कौटिल्य, कामन्दक व अग्निपुराण मे इस विषय पर वहुत लिखा गया है।) परन्तु जिन व्यूहो का नाम महाभारत मे गृहीत हुआ है, नीचे हम उन पर थोडा प्रकाश डाल रहे हैं।

अर्द्धचन्द्र—इस व्यूह के दक्षिणी सिरे पर एक प्रसिद्ध वीर रहता था और वायी ओर वहुत से योद्धा। मध्य मे एक गजारोही को रक्खा जाता था। यह व्यूह गरुड़ व्यूह या क्रौञ्चव्यूह का प्रतिद्वन्दी था।[5]

क्रौञ्च (क्रौञ्चारुण)—इस व्यूह मे सेना को क्रौच पक्षी की तरह खडा किया जाता था। सवसे आगे एक योद्धा और पक्षी के कल्पित मस्तक पर अन्य योद्धा सेना के साथ रहते थे। इसी प्रकार कल्पित चक्षु, ग्रीवा, पखे, पीठ, पूंछ आदि की जगहो पर एक एक योद्धा के अधीन एक एक सेना रहती थी।[6]

---

१. गांधाराः सिधुसौवीरानखर प्रास योधिनः। इत्यादि। शान्ति १०१।३–५ पाषाणयोधिनः शूरान् पार्वतीयानचोदयत्। इत्यादि। द्रोण ११९।-२९–४४

२. समुद्रकुक्षिमाश्रित्य दुर्गे प्रतिवसन्त्यत। वन १६८।७२

३. यथा वेद वृहस्पतिः। इत्यादि। उद्योग १६४।९। भीष्म १९।४।भीष्म ५०।४०

४. आसुरानकरोद् व्यूहान् पैशाचानथ राक्षसान्। इत्यादि। भीष्म १०८।-२६।उद्योग १६०।१०

५. अर्द्धचन्द्रेण व्यूहेन व्यूहं तमतिदारुणम्। भीष्म ५६।११–१८

६. भीष्म ५०।४०–५८। द्रोण ६।१५

गरुण (सुपर्ण)—यह व्यूह अधिकाश मे क्रौच व्यूह के सदृश ही था। केवल इतना अतर था कि इसमे मस्तक की जगह दो वीर दो सेनाओ के साथ रहते थे तथा पूँछ व पीठ, के स्थान पर सैन्यसमावेश कुछ अधिक होता था। दोनो पख आयत व लम्बे होते थे।[१]

चक्र—अभिमन्यु से युद्ध करने के लिये द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की थी। व्यूहभेद करने का कौशल अभिमन्यु ने पिता से सीखा था किन्तु निष्क्रमण की रीति न जानने के कारण वह सप्तरथियो द्वारा मारा गया था।[२]

वज्र—इस व्यूह के आदि गुरु इन्द्र थे।[३]

मकर—इसके सर्वाग्र मे ससैन्य एक वीर होता था और पीछे क्रमानुसार रथी पत्ति व दन्ती होते थे। मकरव्यूह का प्रतिद्वन्दी क्रौञ्चव्यूह था।[४]

मडलार्द्ध—यह सुपर्णव्यह का प्रतिद्वदी है।

शकट या चक्रशकट व्यूह—अभिमन्यु वध के बाद अर्जुन के साथ युद्ध करते समय आचार्य द्रोण ने शकटव्यूह का निर्माण किया था। इस व्यूह का पीछे का भाग कमल जैसा होता है।[५]

शृगाटक—इस व्यूह की आकृति सिघाडे की तरह त्रिकोण होती है, किन्तु नीलकठ ने कहा है कि इसका आकार चतुष्पथ अर्थात् चौराहे जैसा होता है।[६]

श्येन—श्येनव्यूह करीव करीब गरुडव्यूह जैसा ही होता है। यह मकरव्यूह का प्रतिरोधक है।[७]

सर्वतोभद्र—इस व्यूह का आकार गोल होता है। मध्य मे सेना व साधारण योद्धा रहते हैं और चारो ओर उन्हे घेर कर बडे बडे योद्धा खडे होते हैं।[८]

---

१ भीष्म ७५।१५–२६। द्रोण १९।४

२. चक्रव्यूहो महाराज आचार्येणाभिकल्पितः। द्रोण ३३।१३

३. अचल नाम वज्राख्य विहित वज्रपाणिना। भीष्म १९।७

४. अकरोन्मकरव्यूह भीष्मो राजन् समन्ततः। भीष्म ६९।४–६।भीष्म ७५।४–१२

५. द्रोण १९।४

६. अस्माक शकटव्यूहो द्रोणेन विहितोऽभवत्। इत्यादि। द्रोण ६।१५। द्रोण ७३।२७।द्रोण ८५।२१

७. भीष्म ८७।१७

८. भीष्म ६९।७–१२

९. भीष्म ९९।१–८

सागर—यह सागर सदृश विस्तृत एक विशेष प्रकार का व्यूह होता है।[1]

सूचीमुख—प्रतिपक्षी की सेना की सख्या अपने से अधिक हो तो इस व्यूह की रचना की जाती है।[2]

यमक आदि मण्डल—योद्धागण व्यूहरचना के अलावा नाना प्रकार के मण्डलों द्वारा भी शत्रु को त्रस्त कर देते थे। शत्रु की कमियाँ देखकर रथ आदि की गति परिवर्त्तन कर देना मण्डल कहलाता है।[3]

नियुद्ध—जिस युद्ध मे अस्त्र-शस्त्र के बिना पहलवान कुश्ती द्वारा अपने अपने बाहुवल से विपक्षी को जीते, वही नियुद्ध है। नियुद्ध मे कुश्ती या मल्लयुद्ध ही प्रधान है। मुष्टियुद्ध भी इसी मे सलग्न माना जाता था, उसे अलग युद्ध की सज्ञा नही दी जाती थी। इसमे लडने वाले दोनो पक्षो के मल्लो को रणक्षेत्र मे उतरकर सर्वप्रथम अपना नाम व वशपरिचय बताना पडता था। राजा साधारणतया विपक्षी राजा के अलावा किसी और के साथ द्वन्द्वयुद्ध नही करता था।[4]

नियुद्ध का कौशल—युद्ध के आरम्भ मे परस्पर नमस्कार करने व हाथ मिलाने का नियम था। इसके वाद उँगलियाँ चटकाना आदि क्रियाओ द्वारा शरीर की जड़ता को दूर करके दोनो पहलवान आमने सामने खडे होते थे। जोर जोर से हाथ पाँवों को झटक कर पेशियो को सचालित करते थे और फिर एक दूसरे से भिड़ कर दृढहाथो से जकड लेते थे। इस बन्धन को 'कक्षाबध' कहते थे। इसके वाद प्रतिपक्षी के गले पर अपने गण्ड व कपाल से आघात करते थे। सुयोग देखकर प्रतिपक्षी का हाथ या पैर मरोडकर उसकी स्नायुमडली को पीडा पहुँचाते थे। वक्ष पर मुष्टि प्रहार का मौका ढूंढते थे। दोनो हाथो की अगुलियो को आपस मे मिलाकर शत्रु के मस्तक पर प्रहार करते थे, जिससे वह शीघ्र ही अवसन्न हो जाता था। इसे 'पूर्ण-कुम-प्रयोग' कहा जाता था। सुयोगानुसार थप्पड भी मारते थे। शत्रु के वगल मे जाकर उसे कमर से पकड आसानी से गिरा देते थे। यदि शत्रु बाँहो के घेरे मे जकड लेता था, तो श्वास की रेचक क्रिया द्वारा शरीर मे लघुता लाकर उसके वधन से निकल जाते थे और प्रचड वेग से उस पर प्रहार करते थे। इस प्रकार

---

१. भीष्म ८७।५

२. सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां वहूभिः सह। इत्यादि। भीष्म १९।५। भीष्म ७७।५९।शाति १००।४०

३. मंडलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च। द्रोण १२१।६०

४. अय पृथायास्तनयः कनीयान् पाण्डुनन्दन.। कौरवो भवता सार्द्धं द्वन्द्वयुद्ध करिष्यति॥ इत्यादि। आदि १३६।३१–३३

तरह-तरह के कौशलो द्वारा प्रतिपक्षी को पीठ के वल जमीन पर डाल देना विजय मानी जाती थी।[1]

वाहुकण्टक नियुद्ध—अपने दोनो पाँवो मे शत्रु की एक जाँघ दवाकर दूसरी जाँघ को हाँथो से खीचकर शरीर को चीरने की क्रिया का नाम 'वाहुकटक' था। वाहुकण्टक शव्द का अर्थ 'केतकी का पत्ता' होता है। वलवान वीर यदि अपेक्षाकृत दुर्वल विपक्षी का शरीर केतकी के पत्ते की तरह विदीर्ण करने को उद्यत हो तो उसे वाहुकण्टक की सज्ञा मिलती है। कर्ण एव जरासघ मे वाहुकटक युद्ध होने के वाद सधि हुई थी।[2]

मल्लयुद्ध की परिभाषा—विराटपुरी मे जीमूत व भीम के मध्य हुए नियुद्ध का वर्णन करते हुए महाभारतकार ने वहुत से पारिभाषिक शव्दो का प्रयोग किया है। नीलकठ ने अपनी टीका मे उन शव्दो की व्याख्या भी दी है। अचानक विपक्षी के किसी अग को पीडा पहुँचाना 'कृत' कहलाता है। कृतमोचन का नाम 'प्रतिकृत' है। मुट्ठी कसकर बाँधने को 'सुसकट' कहते है। विभिन्न अगो की मुठ-भेड को 'सन्निपात' कहा जाता है। सबल शत्रु को दूर फेंकने का नाम 'अवधूत' है। जमीन पर गिरा कर जोर से दवाना 'प्रमाथ' है। प्रमथित शत्रु को उठाकर उसके अगो को कष्ट पहुँचाना 'उन्मथन' कहलाता है। शत्रु को अकस्मात उसके स्थान से हटा देना 'क्षेपण' है। दृढमुष्टियो के प्रहार से वक्षपीडन करना 'मुष्टि' कहलाता है। शत्रु को कधे पर उठाकर तथा सिर नीचे व पाँव ऊपर करके घुमाते घुमाते दूर फेंक देने से जो शब्द होता है, उसे 'वराहोद्धूतनि स्वन' कहते हैं। ढीली अगुलियाँ करके थप्पड मारना 'प्रसृष्ट' है। एक उगली को तान कर जोर जोर से शत्रु के शरीर मे मारना 'शलाका' कहलाता है। घुटने व सिर से चोट पहुँचाने को 'अवघट्टन' कहते हैं। परिश्रान्त विपक्षी को अनाचक घसीटने को 'आकर्षण' कहते हैं। घसीटे हुए शत्रु को वाँहो मे दवाकर पीडित करना 'प्रकर्षण' कहलाता है। शत्रु की गल्तियाँ ढूँढने के लिये उसके आगे-पीछे, दाँये-वाँये घूमने को 'अभ्याकर्ष' कहते हैं। मौका देखकर शत्रु को उठाकर जमीन पर पटक देना 'विकर्षण' कहा जाता है।[3]

मल्लयुद्ध अप्रशस्त—नीलकठ की टीका मे मल्लयुद्ध के जिस अनुशासन का उल्लेख किया गया है, उससे अवगत होता है कि मल्लयुद्ध मे निहत व्यक्ति

---

१. सभा २३ वाँ अध्याय। (नीलकठ देखिये)

२. बाहुकटक युद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः। इत्यादि। शाति ५।४-६ नीलकठ देखिये।

३. विराट १३वाँ अध्याय। नीलकठ।

स्वर्गगमन का अधिकारी नही होता एव इहलोक मे भी वह यशस्वी नही माना जाता।[1]

उत्सव आदि मे मल्लयुद्ध—उस काल मे उत्सव आदि मे भी मल्लयुद्ध का आयोजन किया जाता था। विराट नगरी मे जीमूत व भीम का मल्लयुद्ध भी उत्सव के उपलक्ष्य मे ही हुआ था। यह उत्सव शरद् ऋतु मे नया अनाज पकने पर हुआ था।

उत्सव में हुए नियुद्ध मे प्राणहानि—यह तो ठीक है कि ये कुश्तियाँ उत्सव का एक अग होती हैं, किन्तु दोनो मे से एक के मरने तक कुश्ती जारी रखने की सार्थकता समझ मे नही आती और ना ही इस नीति का समर्थन किया जा सकता है। विराट के आदेश से भीम को बाघ, सिंह व हाथी के साथ भी युद्ध करना पड़ा था। इस अद्भुत ख्याल का भी कोई अर्थ नही है।[2]

विजयी वीर का नगर प्रवेश—युद्ध मे विजयी वीर नगर प्रवेश के पूर्व दूत द्वारा विजय की सूचना भेजते थे। खबर मिलने पर विजयोत्सव के उपलक्ष्य मे प्रमुख राजपथो को उज्ज्वल प्रकाशस्तभो द्वारा आलोकित कर दिया जाता था। सुगन्धित कुसुमो से सज्जित पताकाएँ पथ के दोनो ओर उडती रहती थी तथा सारी नगरी चन्दन, अगुरु आदि की खुशवू से महक उठती थी।[3]

विजय मे प्राप्त धन सम्पत्ति का भोग—युद्ध मे विजयी होने पर प्रतिपक्षी से प्राप्त धन सम्पत्ति के उपभोग के भी कुछ नियम थे। विजेता यदि शत्रु को बदी वनाकर ले आते थे तो उसे एक साल तक दास बनाकर रखा जाता था। उस काल मे यदि उसके कोई सन्तान पैदा होती थी, तो उस सन्तान को आजन्म पितृविजेता की आधीनता मे रहना पडता था। विजित की कन्या यदि विजेता से विवाह नही करना चाहती थी तो विजेता उसे छोड देने के लिये वाध्य होता था, वह उस पर किसी भी प्रकार की जवर्दस्ती नही कर सकता था। इसी प्रकार विजय मे मिले दास-दासी या दूसरी धनसम्पत्ति भी एक साल के वाद विपक्षी को लौटा देना उचित समझा जाता था। किन्तु विपक्षी यदि चोर या दस्यु होता था, तो उसकी सम्पत्ति नही लौटाई जाती थी। साधारणतया एक राजा दूसरे राजा के साथ ही युद्ध करता था।[4]

---

१. मृतस्य तस्य न स्वर्गो यशो नेहापि विद्यते। विराट १३।३०।नीलकंठ

२. विराट १३वाँ अध्याय।

३. विराट ३४वाँ व ६८वाँ अध्याय।

४. बलेन विजितो यश्च न तं युध्यत भूमिपः।
संवत्सरं विप्रणयेत्तस्माज्जातः पुनर्भवेत॥ इत्यादि। शाति ९६।४–७

युद्ध मे विपन्न परिवारो की व्यवस्था—युद्ध मे हत योद्धाओ के परिवारो का भार राजा को अपने ऊपर लेना पडता था।[१]

१. कच्चिदारान् मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्।
व्यसन चाभ्युपेतानां विभर्षि भरतर्षभ॥ इत्यादि। सभा ५।५४।
अनु १६७।२

आयुर्वेद

राजसभा में आयुर्वेदवेत्ता का सम्मान—निदान, पूर्वलिंग रूप, उपशय, सम्प्राप्ति, औषधि, रोगी व परिचायक के भेद से अष्टाग आयुर्वेदशास्त्र के ज्ञाता चिकित्सको को राजसभा मे विशेष सम्मानसूचक पद दिया जाता था। उस काल मे राजाओ की चेष्टा एव सर्वविध अनुकूलता के कारण आयुर्वेद विद्या काफी उन्नत हो गई थी।[1]

कृष्णात्रेय का चिकित्सा ज्ञान—प्राचीन काल मे कृष्णात्रेय मुनि चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञाता माने जाते थे।[2]

त्रिधातु की समता ही स्वास्थ्य—शरीर मे नित्य अवस्थित वायु, पित्त व कफ, इन तीनो धातुओ का सघर्ष चलता रहता है। (भीष्म ८४।४१) इन तीनो धातुओं की समता का नाम ही स्वास्थ्य है। दूसरी ओर सत्त्व, रज व तम, ये तीन मन के गुण हैं। इन तीनो की समता मानसिक स्वस्थता का आधार है। शरीर व मन दोनो की स्वाभाविक अवस्था ही स्वस्थता का लक्षण है।[3]

'त्रिधातु' ईश्वर का भी नाम—पित्त, श्लेष्मा व वायु की समष्टि को 'सघात' कहा जाता है। इस सघात की समता से ही प्राणी स्वस्थ रहते हैं। आयुर्वेद के पडितो ने भगवान को 'त्रिधातु' की सज्ञा दी है।[4]

शरीर व मन का घनिष्ठ सम्पर्क—व्याधि का जन्म शरीर व आधि का जन्म मन मे होता है। शरीर अस्वस्थ हो तो मन भी स्वस्थ नही रहता और दूसरी ओर मन की अशाति शरीर को अस्वस्थ बना देती है।[5]

---

१. कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टांगायां विशारदाः।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा॥ सभा ५।९०

२. कृष्णात्रेयश्चिकित्सितम्। शान्ति २१०।२१

३. शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥ इत्यादि।
शांति १६।११-१३

४. आयुर्वेदविदस्तस्मान्त्रिधातुं मां प्रचक्षते। शान्ति ३४२।८९

५. द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते॥ इत्यादि।
शांति १६।८, ९ अश्व १२।१, ३

चिकित्सा का उद्देश्य—शारीरिक धातुवैषम्य या मानसिक गुणो की विषमता के प्रकट होने पर उनमे पुन समानता स्थापित करना ही चिकित्सा का उद्देश्य होता है। पित्त की वृद्धि से कफ का ह्रास व कफ की वृद्धि से पित्त का ह्रास होता है, इस नियम के अनुसार एक की कमी होने पर दूसरे को बढाकर समता स्थापित करना ही चिकित्सक का कार्य है। मानसिक आधि मे भी ठीक इसी प्रकार हर्ष द्वारा शोक का उपशम होता है। सत्त्वादि गुणो मे भी एक की वृद्धि से दूसरे का ह्रास होता है। शरीर या मन की चिकित्सा करने के लिये सर्वप्रथम विषमता का कारण ढूंढना और फिर समता लाने की व्यवस्था करनी चाहिये।[1]

रोग के कारण—रोग के कुछ स्थूल कारण बताये गये हैं। अतिभोजन, अभोजन, दूषित अन्न एव मद्यपान, परस्पर विरोधी खाद्यग्रहण, अति व्यायाम, अति कामुकता, मलमूत्र का वेग धारण, रसबहुल द्रव्यो का खाना व दिवानिद्रा आदि शारीरिक रोगो के हेतु है।[2]

स्वास्थ्यरक्षा के अनुकूल व्यवस्था—स्वास्थ्यरक्षा के कुछ साधारण नियम नाना प्रसगो पर वर्णित हुए हैं। प्रात उठना, दिन को न सोना, परिमित व्यायाम स्वास्थ्य के लिये गुणकारी हैं। स्नान प्रतिदिन करना चाहिए, इससे बल, रूप, स्वरशुद्धि स्पष्ट उच्चारण शक्ति, शरीर की कोमलता, उत्तम गध, लावण्य; कान्ति व ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। निर्वस्त्र होकर स्नान करना या रात्रि को स्नान करना हानिकारक है।[3]

मिताहार व प्रसाधन आदि—परिमित भोजन के छह गुण बताये गये हैं—आरोग्य, आयु, बल, सुख, अनिन्द्यता तथा सुसन्तानजनकता। स्वास्थ्यरक्षा के निमित्त प्रसाधन आदि का उपयोग करना उचित है। केशप्रसाधन, अजन, दतधावन आदि कार्य पूर्वाह्न मे ही निपटा लेने चाहिये। शुक्ल पुष्पो की माला पहनने से मन प्रफुल्ल रहता है। कमल एव कुवलय की माला कभी नही पहननी चाहिये। रक्तमाल्य भी निषिद्ध है। बट की जड एव प्रियगु को एक साथ पीसकर उसका लेप करना अच्छा होता है।[4]

---

१. तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते।
उष्णेन बाध्यते शीत शीतेनोष्ण प्रबाध्यते ॥ इत्यादि। शाति १६।१२-१५

२. अत्यर्थमपि वा भुक्ते न वा भुक्ते कदाचन। इत्यादि। अश्व १७।९-१२

३. न चाभ्युदितशायी स्यात्। इत्यादि। अनु १०४।४३, ५१। अनु ९३। १२। अनु १२७।९ आदि १०९।१८। शांति ११०।६। उद्योग ३७।३३

४. गुणाश्च षण्मितभुक्त भजन्ते। इत्यादि। उद्योग ३७।३८। अनु १०४। २३। अनु ९८।१०

पथ्याशन—सदा स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करना ही विधेय है। जो व्यक्ति पथ्य द्रव्य छोडकर अहितकर द्रव्यो का सेवन करता है, वह नीरोग नही रहता। जो व्यक्ति प्रतिदिन तिक्त, कषाय, मधुर आदि रस लेता है, उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। खाद्यवस्तु स्वास्थ्यरक्षा का प्रधान उपाय है।[1]

भोजन की नियमावली—भोजन करते वक्त मौन रहने का विधान बताया है।[2] किन्तु स्वास्थ्य के लिए इसकी उपयोगिता का पता लगाना कठिन बात है। हो सकता है कि खाद्य वस्तुओ के प्रति मन की अधिक लालसा को रोकने के लिये यह नियम बनाया गया हो। भोजन के शुरू व अत मे भी कुछ नियम पालन करने का उपदेश दिया गया है, इनका भी स्वास्थ्यरक्षा ही उद्देश्य है। आहार के पूर्व अच्छी तरह हाथ पाँव धोकर तीन बार आचमन करना चाहिए। उत्तम आसन पर बैठकर प्रसन्न मन भोजन करना चाहिये। भोजन के पात्र भी मनोरम होने चाहिये। एक वस्त्र पहन कर भोजन नही करना चाहिये। भोजन के बाद तीन बार आचमन व दो बार मुखमार्जन करना चाहिये।[3]

बालवत्सा गाय का दूध अपेय—जिस गाय ने हाल ही मे बछडा दिया हो उसका दूध नही दुहना चाहिये। वह दूध स्वास्थ्य के लिये बहुत ही हानिकर होता है।[4]

अर्कपत्र अभक्ष्य—मदार (धतूरे) के पत्ते खाने से मनुष्य अधा हो जाता है। इसके क्षार, तिक्त, कटु, रुक्ष एव तीक्ष्णविपाक गुण चक्षुघातक होते है।[5]

रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यन्तु पण्डितैः।
वर्जयित्वा तु कमलं तथा कुवलय प्रभो॥ अनु १०४।८३
घृष्टो वटकषायेण अनुलिप्तः प्रियंगुना। अनु १२५।५२

१. पथ्यं मुक्त्वा तु यो मोहाद्दुष्टमश्नाति भोजनम्।
परिणाममविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम्॥ इत्यादि।
शांति १३९।८०, ८१

२. न शब्दवत्। अनु १०४।९६

३. अन्नं बुभुक्षमानस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः।
भुक्त्वाचान्नं तथैव त्रिर्द्वि पुनः परिमार्जयेत्॥ अनु १०४।५५-६०, ६१, ६६

४. बालवत्साञ्च ये धेनुं दुह्यन्ति क्षीरकारणात्।
तेषा दोषान् प्रवक्ष्यामि तान्निबोध शचीपते॥ अनु १२५।६१

५. स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारतिक्तकटुरूक्षैस्तीक्ष्णविपाकैश्चक्षुष्युपहतोऽधो बभूव। आदि ३।५१

श्लेष्मातक भक्षण के दोष—शलेष्मातक-फल (लिसोडे) खाने से बुद्धि मन्द होती है।[1]

नस्यकर्म—आवश्यकता पडने पर नाक द्वारा औषधि ली जाती थी, जिसे नस्यकर्म कहते थे।[2]

वर्जनीय कर्म—स्वास्थ्यरक्षा के निमित्त सायकाल व रात्रि को न करने योग्य कुछ कार्यों का उल्लेख हुआ है। दिन छिपे सोना या पढना अनुचित है। सध्या समय भोजन करने से आयु कम होती है। रात्रि को पित्र्यकर्म नही करने चाहिये। रात को स्नान करना भी स्वास्थ्य के लिये खराब होता है। भोजन के बाद प्रसाधन नही करना चाहिए। रात्रि का खाद्य यथासाध्य सुपाच्य होना चाहिये तथा रात को ठूँस कर नही खाना चाहिये। गीले हाथ-पाँव लेकर बिस्तर पर नही जाना चाहिये।[3]

ज्वर की उत्पत्ति का विवरण—ग्रथकार ने ज्वर की उत्पत्ति पर पूरा एक अध्याय ही लिख दिया है। ज्वर के कारण शरीर मे उत्पन्न दुर्बलता ही वृत्रासुर के वध मे सहायक हुई थी। मेरुपर्वत के एक शिखर का नाम 'ज्योतिष्क' था। वह शिखर नाना प्रकार के रत्नो से विभूषित एव सर्वजनपूजित था। एक बार हर-पार्वती उस शिखर पर बैठे प्रेमालाप कर रहे थे। उसी समय अष्टवसु, अश्विनी-कुमारद्वय, कुबेर आदि देवताओ तथा उशना, सनत्कुमार, अगिरा आदि ऋषियो ने वहाँ उपस्थित होकर उनकी चरण-वदना की। कुछ देर बाद देवता व ऋषिगण गगाद्वार मे हो रहे दक्ष के अश्वमेध यज्ञ मे चले गये। पार्वती के प्रश्न करने पर महादेव ने इन लोगो के गमन का कारण बता दिया। महादेव को यज्ञ का निमत्रण नही मिला, यह जानकर पार्वती को बहुत दु ख हुआ। वह चुप बैठी रही, उनके हृदय मे ज्वाला धधकने लगी। पार्वती का दु ख दूर करने के लिये महादेव ने नन्दी आदि भीषणकाय अनुचरो को भेजकर यज्ञ नष्ट करवा दिया। अति क्रोध से शकर के ललाट से पसीना टपक कर जमीन पर गिर गया। भूपतित उन्ही स्वेद बिन्दुओ से कालानल के समान महान अग्नि का उद्भव हुआ। उस अग्नि मे से ह्रस्व, रक्ताक्ष, ऊर्ध्वकेशी, कृष्णवर्ण, रक्तवास एक भयकर मूर्ति का आविर्भाव हुआ। उसे देखकर सब लोग डर से थर-थर काँपने लगे। तब ब्रह्मा ने शिव के आगे बहुत

---

१. श्लेष्मातकी क्षीणवर्चा· शृणोषि। वन १३४।२८

२. नस्यकर्मभिरेव च। भेषजै· सचिकित्स्य स्यात्। शाति १४।३४

३. संध्याया न स्वपेद्राजन् विद्या न च समाचरेत्।
 न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत्॥ इत्यादि।
 अनु १०४।११९।१२२, ६१। अनु १६२।६३

हाथ-पाँव जोडे और वचन दिया कि आगे से यज्ञ मे उनके नाम से विशेष आहुति दी जायेगी। तब जाकर कही शकर का क्रोध शान्त हुआ। ब्रह्मा ने ही रुद्र की क्रोधाग्नि से उत्पन्न उस अतिकाय व्यक्ति का नाम 'ज्वर' रक्खा। देवताओ की स्तुति से प्रसन्न होकर शिव ने ज्वर को सर्वत्र आधिपत्य स्थापित करने का आदेश दिया। तभी से ज्वर का प्रभाव हर जगह चला आ रहा है।

प्राणिभेद से ज्वर का प्रकाश—वृक्ष के शीर्ष ताप को ज्वर कहते हैं। इसी प्रकार पर्वत की शिलाजीत, जल का शैवाल, साँप की केचुली, गाय का पादरोग, पृथ्वी की ऊषरता, पशुओ की दृष्टिहीनता, अश्व की कठनाली का मास, मयूर का शिखोद्भेद, कोयल का नेत्ररोग, मेष का पित्त-भेद, शुक की हिचकी, व्याघ्र का श्रम—ये सब इनके ज्वर के लक्षण है। प्राणी मात्र को जन्म व मृत्यु के समय ज्वर रहता है।[१]

असंयम से यक्ष्मारोग—अत्यन्त कामुकता क्षयरोग को आह्वान करती है। विचित्रवीर्य तथा व्युषिताश्व की इसी दोष के कारण यक्ष्मारोग से अकालमृत्यु हुई थी।[२]

रोगी की शुश्रूषा—रोगी व्यक्ति की यथोचित रूप से चिकित्सा व सेवा-सुश्रूषा करनी पडती है। साधारणतया सुहृद व्यक्तियो को ही सुश्रूषा का भार लेना चाहिए।[३]

शान्तिस्वस्त्ययन आदि—रोगी को नीरोग करने के निमित्त परिवार के लोग शान्ति स्वस्त्ययन, मत्रपाठ आदि का अनुष्ठान भी करते थे।[४]

मूर्च्छारोग में चन्दनोदक—मूर्च्छित व्यक्ति के सिर पर चन्दन का पानी डालने का उदाहरण मिलता है।[५]

विष द्वारा विष का नाश—दुर्योधन ने भीम को विष खिलाकर नदी मे फेंक दिया था। चेतनाहीन होने के कारण भीम नदी के रसातल मे चले गये।

---

१. शान्ति १८२ वाँ अध्याय।

२. ताभ्यां सह समाः सप्त विहरण् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मजाः समगृह्यत॥ इत्यादि।
आदि १०२।७० आदि १२१।१८

३. सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः। आदि १०२।७१

४. रक्षोघ्नाश्च तथा मंत्रान् जेपुश्चक्रुश्च ते क्रियाः। वन १४४।१६

५. कुंतीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः। आदि १३६।२८

वहाँ विषधर सर्पों ने भीम को डसा और फलस्वरूप उन्हे चैतन्य लाभ हो गया। सर्प-विष की क्रिया से स्थावर विप का प्रभाव खत्म हो जाता है।[१]

रसायन—वासुकि के सुरक्षित कुड का रसायन पान करने से भीम पर कालकूट विप का भी असर नही होता था।[२]

विशल्यकरणी आदि—युद्ध के समय चिकित्सको को शिविर मे रक्खा जाता था। लेकिन वडे वडे योद्धा विशल्यकरणी आदि शक्तिवर्द्धक औपधियाँ अपने साथ भी रखते थे। छह दिन के युद्ध के वाद भीष्म ने दुर्योवन के शिविर मे जाकर उन्हे विशल्यकरणी दी थी।[३]

शल्यचिकित्सा—शरशय्या पर पडे भीष्म को कष्टमुक्त करने के लिये दुर्योधन शल्यविद्या मे निपुण कई चिकित्सको को आवश्यक उपकरणो सहित पितामह के समीप लाये। पितामह ने शल्यचिकित्सा कराने की असम्मति प्रकट करके चिकित्सको को लौटा देने का आदेश दिया।[४]

अरिष्टलक्षण—रोगी की आसन्नमृत्यु के सूचक वहुत से लक्षणो का उल्लेख मिलता है। मृत्यु निकटवर्ती हो तो मनुष्य को पेड-पौवे सुनहरे रग के दिखाई देते हैं। उसकी इद्रियाँ वस्तुओ को अधिकतर उनके ययार्थ रूप मे ग्रहण नही कर पाती।[५] मृत्यु के एक वर्ष पूर्व से ही नाना प्रकार के मृत्युसूचक लक्षण प्रकट होने लगते हैं। अरुधती, ध्रुव-नक्षत्र, पूर्णचन्द्र एव प्रदीप जिन्हे दृष्टिगोचर नही होते, उनकी आयु एक वर्प से अविक नही होती। दूसरे की आँखो की पुतलियो मे जो अपनी प्रतिच्छवि नही देख पाते, वे भी एक वर्प से अधिक जीवित नही रहते, यह निश्चित है। अचानक शरीर की काति अत्यन्त वढ या निष्प्रभ हो जाय, जो आयु मात्र छह मास की रह जाती है। प्रज्ञा की अति वृद्धि व ह्रास भी मात्र छह मास जीवनकाल शेष रहने की सूचक है। देवताओ की अवज्ञा व ब्राह्मणो का विरोध करना भी आसन्न-मृत्यु के लक्षण हैं। अपनी परछाई यदि धूसरवर्ण की प्रतीत हो तो समझ लेना चाहिये कि छह मास मे मृत्यु सुनिश्चित है। सूर्य एव चन्द्र को देखने पर उनमें मकडी के जाले की तरह छोटे-छोटे छिद्रो की अनुभूति हो तो मृत्यु मात्र एक सप्ताह

---

१. ततोऽस्य दश्यमानस्य तद्विषं कालकूटकम्।
हत सर्पविषेणैव स्थावर जगमेन तु॥ आदि १२८।५७

२. तच्चापि भुक्त्वाऽजरयदविकार वृकोदरः। आदि १२९।३८, २२

३. एवमुक्त्वा ददौ चास्मै विशल्यकरणीं शुभाम्। भीष्म ८१।१०

४. उपतिष्ठन्नथो वैद्या. शल्योद्धरणकोविदा ॥ भीष्म १२०।५९-६०

५. मुमूर्षुर्हि नरः सर्वान् वृक्षान् पश्यति काञ्चनान्॥ भीष्म ९८।१७

दूर रह जाती है। मदिर मे बैठे जिस व्यक्ति को सुगधित द्रव्यो की गध शवगध जैसी लगे, उसकी आयु केवल एक सप्ताह की होती है। कान एव नाक का अवनमन, दाँत व आँखो के स्वाभाविक वर्ण मे परिवर्त्तन, सज्ञाहीनता एव शरीर का उत्तापनाश अति शीघ्र मृत्यु के लक्षण हैं। हठात् जिसकी बाँयी आँख से पानी जाने तथा सिर से धुँआँ निकलने लगे, वह कुछ ही देर का मेहमान रह जाता है।[1]

मंत्रादि के प्रयोग से रोग मुक्ति—रोगमुक्ति के लिये औषधि की तरह मन्त्र का भी प्रयोग किया जाता था। उस काल मे रोग के अलावा और भी बहुत सी बातो मे लोग मन्त्रशक्ति की शरण लेते थे।[2]

विषनाशक मंत्र—ब्राह्मण काश्यप ने तक्षकदष्ट अश्वत्थ की भस्म को इकट्ठा करके मत्र द्वारा पुन उसमे जीवन-सचार किया था।[3] (आयुर्वेदशास्त्र की अगदतन्त्रीय काश्यपसहिता के रचयिता क्या यही काश्यप थे, यह खोज का विषय है।)

सर्प आदि के विष की हारक औषधि—महाराज परीक्षित ने साँप का जहर उतारने मे निपुण बहुत से मत्रवित् ब्राह्मणो को नियुक्त किया था। सर्पविष नाशक बहुत सी औषधियाँ भी लाकर घर मे रक्खी गई थी।[4]

मृतसंजीवनी विद्या—आचार्य शुक्र की सजीवनी विद्या का सर्वत्र प्रभाव था। देवताओ ने बृहस्पति के पुत्र कच को यह विद्या सीखने के लिये शुक्राचार्य के पास भेजा था।[5]

भवितव्य की अवश्यंभाविता—ससार की अनित्यता एव भवितव्य की अवश्यभाविता पर व्यास ने युधिष्ठिर को बहुत से उपदेश दिये है, जिसमे एक जगह कहा है कि आयुर्वेद के महापडित वैद्य भी रोगपीडित होकर कष्ट भोगते हैं। विविध कषाय, घृत आदि का पान करने पर भी वे मृत्यु के हाथ से नही बच पाते। रसायन

---

१. अरिष्टानि प्रवक्ष्यामि विहितानि मनीषिभिः।
संवत्सरवियोगस्य संभवन्ति शरीरिणः॥ इत्यादि।
शांति ३१७।८-१७

२. अस्तंभयत तोयञ्च मायया मानुजाधिपः। शल्य २९।५२

३. भस्मराशि कृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत्। आदि ४३।९

४. रक्षाञ्च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च।
ब्राह्मणान् मंत्रसिद्धाश्च सर्वतो वै न्ययोजयत्॥ आदि ४२।३०

५. आदि ७६ वाँ अध्याय।

के ज्ञाता लोग स्वास्थ्यरक्षा के निमित्त न जाने कितने रसायनो का पान करते हैं, लेकिन तब भी जराग्रस्त होकर कष्ट उठाते हैं।[1]

जन्मतत्त्व—राजर्षि अष्टक के प्रश्न के उत्तर मे ययाति ने कहा है—मनुष्य अपने पुण्य फल से स्वर्ग मे वास करता है। पुण्य का क्षय होने पर विलाप करते करते स्वर्गलोक से पुन मर्त्यलोक मे आता है। आते समय मार्ग मे उसे नाना प्रकार के कष्ट सहने पडते हैं। स्वर्गच्युति के समय जीव मेघजाल मे प्रवेश करके जलमय हो जाता है। फिर वह जलीय जीव पुष्प, फल, वनस्पति, औषधि आदि मे प्रविष्ट होता है। गृहस्थ व्यक्ति इन द्रव्यो का भक्षण करता है तो इनका सार रस आदि धातुओ मे परिणत हो जाता है। क्रमश यही धातु चरम धातु अर्थात् शुक्ररूप मे परिणत होकर कालक्रमानुसार स्त्री के गर्भ मे पहुँचती है और तब जन्मान्तरीय अदृष्ट बल से जीव जन्म लेता है। वायु शुक्र को आकर्षित करती है और फिर शुक्र व आर्त्तव (स्त्रीरज) के मिलने से शरीर-रचना होती है। अनन्त जन्मो के सस्कारो से पूर्णता लाभ कर यह क्षुद्र देह मातृगर्भ से बाहर आती है। सब जरायुज प्राणियो का यही नियम है। जीव यदि शुक्र के साथ ससृष्ट न हो तो वह शुक्र स्त्रीगर्भ मे पहुँचकर भी गर्भाधान करने मे समर्थ नही होता। जीवयुक्त शुक्र-शोणित क्रमश वायु द्वारा परिवर्द्धित होते हैं। शुक्र का आधिक्य पुरुष मे व शोणित का आधिक्य स्त्री मे होता है और इन दोनो की समता से क्लीव की उत्पत्ति होती है। वायु प्रताडित शुक्र यदि भिन्न-भिन्न पथो द्वारा जरायु मे प्रविष्ट हो तो यमज-सन्तान (जुडवाँ) की उत्पत्ति होती है। मानव दम्पत्ति के शुक्र व शोणित के मिलन से उत्पन्न भ्रूण प्रथम दिन कललका, पांच दिन मे बुलबले का, सात दिन मे पेशि का, पद्रह दिन मे अर्बुद का, पच्चीस दिन मे घन का एव एक महीने मे ठोस आकार धारण करता है। उस मासपिंड मे दो महीने मे सिर, तीन महीने मे ग्रीवा तक, चार महीने मे त्वक, पाँच महीने मे नख व रोम व छह महीने मे आँख, नाक, कान व मुँह का आकार बनता है। सात मास के भ्रूण मे स्पदन होता है, आँठवें महीने उसमे बुद्धि का योग होता है और नवें महीने सब अग प्रत्यग पूर्णता लाभ कर लेते हैं। जन्म लेते ही शिशु इन्द्रियो द्वारा चीजो की अनुभूति करने लगता है। और फिर ससार के सुख-दुख भोगकर कालप्राप्त होने पर मृत्यु के बाद पुन अपने कर्मफल के अनुसार जन्म लेता है।[2]

---

१ आयुर्वेदमधीयानाः केवल सपरिग्रहाः।
दृश्यस्ते बहवो वैद्या व्याधिभि. समभिप्लुता.॥ इत्यादि।
शाति २८ ४५-४७

२. आदि ९० वां अध्याय। नीलकंठ

शुक्र की उत्पत्ति—शरीर के उपादान पचभूत एव मन आहार्य द्रव्यो द्वारा परिपुष्ट होते है। इनकी पुष्टि से शरीर मे शक्र की उत्पत्ति होती है। जीव पच-भूत के साथ मिलकर वायु के प्रभाव से सर्वप्रथम मेघरूप मे, फिर वृष्टिरूप मे परि-णत होकर औषधि आदि मे पहुँचता है। गृहस्थ द्वारा भुक्त वे सब द्रव्य शुक्र का रूप धारण करके यथाकाल गर्भस्थ होते है। ससारचक्र वर्णन मे वृहस्पति ने शुक्र की उत्पत्ति के सबध मे जो कुछ कहा है उससे इतना ही पता चलता है।[1] पूर्व जन्मो के शुभाशुभ कर्मफल भोगने के निमित्त ही जीव मेघ आदि का रूप लेकर क्रमश वीर्यत्व को प्राप्त होता है। शुक्र का स्थान कफवर्ग एव रज का स्थान पित्तवर्ग मे होता है।[2]

नारद देवमत सवाद मे कहा गया है कि शुक्र के गर्भ मे प्रवेश करते ही उसमे प्राणो का सचार हो जाता है। प्राणो के द्वारा विशुद्ध शुक्र की विकृति होने से उसमे अपान वायु का आविर्भाव होता है, तब स्थूल देह की उत्पत्ति होती है। पर-मात्मा उस स्थूल शरीर व उसके कारण मे लिप्त न रहकर साक्षीरूप मे अवस्थान करते है। कामना के द्वारा शुक्र केन्द्रीभूत होता है। समान एव व्यान वायु की क्रिया द्वारा शुक्रशोणित की सृष्टि होती है।[3]

मनोवहा नाड़ी का कार्य शुक्राकर्षण—भुक्त द्रव्यो का रस शिराओ द्वारा वात, पित्त, कफ, रक्त, त्वक, मास, स्नायु व अस्थियो को बढाता है। मनुष्य के शरीर मे वातादिवाहिनी दस धमनियाँ होती है। ये नाड़ियाँ पाँचो इन्द्रियो मे अपने अपने विषय ग्रहण की पटुता लाती हैं। सहस्रो छोटी-छोटी धमनियाँ उक्त प्रधान दस धमनियो की क्रिया द्वारा सचालित होती हैं। जिस प्रकार अनगिनत छोटी छोटी नदियाँ सागर मे मिलकर उसका अस्तित्व बनाये रखती है, उसी प्रकार मनुष्य

---

१. विदुन्यासादयोऽवस्थाः शुक्रशोणितसम्भवाः। शान्ति ३२०।११५-१२०
पूर्वमेवेह कलले वसते किञ्चदन्तरम्॥ इत्यादि। स्त्री ४।२-८।
अश्व १७।१९-२१

अन्नमश्नंति यद्देवाः शरीरस्था नरेश्वर।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिर्मनस्तथा॥ इत्यादि।
अनु १११। २८-३०

२. जीवः कर्मसमायुक्तः शीघ्र रेतस्त्वमागतः।
स्त्रीणां पुष्पं समासाद्य सूते कालेन भारत॥ अनु १११।३५
मेघेपूर्द्धं सन्निधत्ते प्रजानां पवनः पतिः। इत्यादि। अनु ६३।३६-४०
कफवर्गेऽभवच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम्। हरि ४१वाँ अध्याय

३. शुक्राच्छोणितसंसृष्टात् पूर्वं प्राणः प्रवर्त्तते। अश्व २४।६-९

शरीर की धमनियाँ रस सचार के द्वारा शरीर को परिपुष्ट बनाये रखती हैं। हृदय के मध्यस्थल मे अवस्थित धमनी 'मनोवहा' कहलाती है। सकल्पज शुक्र को सम्पूर्ण शरीर से आकर्षित करके उपस्थ की ओर लाना इस धमनी का कार्य है। सम्पूर्ण शरीर व्याप्त दूसरी शिराओ का सबध आँखो से होता है। इसी कारण वे तैजस गुण द्वारा देखने आदि की क्रियाओ मे सहायता करती हैं। मथानी से मथने पर जिस प्रकार दूध से मक्खन निकलता है उसी प्रकार समय विशेष मे इन्द्रियो के उत्तेजित होने पर मनोवहा नाडी आकर्षण द्वारा सचित शुक्र को बहिर्गत करती है। अन्नरस, मनोवहा नाडी एव सकल्प ये तीन शुक्र के बीज है।[1]

सतान के शरीर मे माता-पिता के शरीर के उपादान—गर्भस्थ सतान अस्थि, स्नायु व मज्जा पिता से तथा त्वक, मास व शोणित माता से ग्रहण करती है। इस विषय मे सब शास्त्र एकमत हैं।[2]

स्त्री का जननीत्व एवं पुरुष का प्रजापतित्व—भृगु भरद्वाज-सवाद मे कहा गया है कि जिस प्रकार पृथिवी प्राणियो की जननी होती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी। पुरुष प्रजापति है एव उसका शुक्र तेजोमय है। ब्रह्मा ने स्त्री-पुरुष के ससर्ग से प्रजावृद्धि की व्यवस्था की है। अपने अपने कर्मानुसार प्राणी बार बार ससार मे आवागमन करते है। यथाकाल मे भोग के अभाव मे स्त्रियो मे अकालवार्द्धक्य देखा जाता है।[3]

सन्तानजनन से जननी को अत्यधिक आनन्द—स्त्री-पुरुष मे प्रगाढ प्रणय न हो तो सतान स्वस्थ व तेजस्वी नही होती। दोनो मे ही अच्छे स्वास्थ्य व प्रफुल्लता का होना अत्यावश्यक है। सन्तान जन्म से पुरुष की अपेक्षा स्त्री को अधिक आनन्द होता है।[4]

द्रोणाचार्य आदि का अस्वभाविक जन्मवृत्तात—महाभारत मे बहुत से चरित्रो का जन्म अस्वाभाविक रूप से बताया है। द्रोणाचार्य, कृप, धृष्टद्युम्न, द्रौपदी,

---

१ वातपित्तकफान् रक्त त्वंमास स्नायुमस्थि च। शान्ति २१४।१६-२३

२. अस्थि स्नायुश्च मज्जा च जानीमः पितृतो द्विज।
त्वङ्मास शोणितञ्चेति मातृजान्यपि शुश्रुम॥ शान्ति ३०५।५

३. पृथिवी सर्वभूताना जनित्री तद्विधा· स्त्रिय । इत्यादि।
शाति १९०।१५, १६

असम्भोगे जरा स्त्रीणाम्। उद्योग ३९।७९

४. अप्रमोदात् पुनः पुस. प्रजनो न प्रवर्द्धते। अनु ४६।४
स्त्रियाः पुरुषसयोगे प्रीतिरभ्यधिका सदा। अनु १२।५२

मत्स्यराज,[1] मत्स्यगंधा[2] और्व,[3] आदि पुरुष व महिलाओ की उत्पत्ति को लेकर एक एक आख्यान गढ डाला है। कही किसी मत्रशक्ति का प्रभाव बताया है तो कही कोई अद्‌भुत अलौकिक कारण बताया है।

सूतिकागृह का चित्र—सूतिकागृह का मात्र एक चित्र इस ग्रथ मे मिलता है। परीक्षित के भूमिष्ठ होते ही पता चला कि उनके शरीर मे किसी प्रकार का स्पदन नही था। अश्वत्थामा के इर्षीकास्त्र से मातृगर्भ मे ही इनका चैतन्य लुप्त हो गया था। कुन्ती व सुभद्रा का कातर क्रन्दन सुनकर श्रीकृष्ण सूतिकागृह मे आये। कमरे के चारो कोनो मे जल से भरे कुभ स्थापित् थे, पूरा कमरा श्वेत मालाओ द्वारा सुशोभित था। घृत के प्रदीप, सरसो आदि रक्खे हुए थे, एक तरफ प्रज्वलित अग्नि एक वर्त्तन मे रक्खी थी। वृद्धा रमणियाँ एव यक्ष चिकित्सक अपने अपने कार्य मे व्यस्त थे। अभिज्ञ व्यक्तियो ने घर मे नाना प्रकार की औषधियाँ व मागलिक द्रव्य यथास्थान रखे हुए थे। सूतिकागृह का ढग उपयुक्त देखकर श्रीकृष्ण ने बहुत सन्तोष प्रकट किया था।[4]

पार्थिव देह मे अग्नि आदि की अवस्थिति—पार्थिव शरीर मे अग्नि, वायु, आकाश आदि भूततत्वो का किस प्रकार अवस्थान होता है भरद्वाज के इस प्रश्न के उत्तर मे भृगु ने कहा है, प्रज्ञात्मा अग्नि सहस्रार मे अवस्थित रहकर शरीर का पालन करती है। प्राण नामक वायु मूर्द्धा एव अग्नि मे रहकर शरीर को जीवित रखती है। चित्, प्रज्ञा एव प्राणो के सघात को ही जीव कहा जाता है। यही जीव समस्त कार्यकारणो का कर्त्ता व सनातन है। विषय भेद से जीव मन, बुद्धि, अहकार व भूत समुदाय के रूप मे परिणत हो जाता है।

पञ्चवायु का कार्य—यह शरीर प्राणो द्वारा परिचालित होता है। जठराग्नि की सहायता से समान वायु मूत्राशय व मलाशय को शुद्ध करती है। भुक्त द्रव्यो की परिणति मे जठराग्नि तथा समान वायु की शक्ति से ही होती है। अपान वायु मलमूत्र आदि की निस्सारक होती है। गमन आदि का प्रत्यन उदान वायु का कार्य है और शरीर के समस्त सधिस्थानो मे वर्त्तमान वायु का नाम व्यान है। समान वायु द्वारा प्रज्वलित जठराग्नि भुक्त द्रव्यो, त्वक आदि धातुओ तथा पित्त आदि मे व्याप्त रहती है। समानवायु का अधिष्ठान नाभिमण्डल मे होता

---

१. स मत्स्यो नाम राजासीद्धार्मिकः सत्यसगरः। आदि ६३।६३
२. सा कन्या दुहिता तस्या मत्स्या मत्स्यगधिनी। आदि ६३।६७
३. तदायमूरूणा गर्भो मया वर्षशत धृतः। आदि १७९।३
४. ततः स प्राविशत्तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव। इत्यादि। अश्व ६८।३-७

है, वहाँ रहकर यह जठराग्नि के योग से भुक्त द्रव्यो को रस आदि मे परिणत करती है।

जठराग्नि के नियन्त्रण से योग साधन—मुखछिद्र से लेकर गुदा तक प्राणो के प्रवाह का मार्ग अवस्थित है। अग्नि के वेग को वहन करने वाली प्राणवायु गुह्य-प्रदेश तक जाकर रुक जाती है। वहाँ से फिर ऊपर की ओर प्रवाहित होकर शरीरस्थ अग्नि को उद्दीप्त करती है। नाभि के नीचे पाकाशय एव ऊपर आमाशय होता है। नाभिमडल मे समस्त वायुओ का यातायात रहता है। समस्त रस हृदय मे पहुँच कर प्राण आदि पचवायु तथा नाग आदि पचवायु, इन दस वायुओ की सहायता से धमनियो द्वारा पूरे शरीर मे प्रसृत होता है, इसी प्रक्रिया द्वारा मनुष्य जीवित रहता है। प्राणो का निरोध करने पर सम्पूर्ण इन्द्रियवृद्धि निरुद्ध एव वशीभूत हो जाती है। जठराग्नि को वश मे कर लेने पर योग साधन बहुत आसान हो जाता है।[1]

---

१. शान्ति १८५ वां अध्याय। वन २१२।३-१६

पशु व वृक्ष आदि की चिकित्सा

दीर्घतमा की गोधर्म शिक्षा—दीर्घतमा मुनि ने गोधर्म की शिक्षा दी थी, इसी कारण दूसरे ऋषि उन्हे आदर की दृष्टि से नही देखते थे।[1] (यद्यपि टीकाकार नीलकठ ने अपनी टीका मे गोधर्म शब्द का अर्थ 'प्रकाशमैथुन' दिया है, किन्तु गोधर्म शब्द गोचिकित्सा के अर्थ मे भी लिया जा सकता है)।

अश्वचिकित्सा मे नकुल पटु—नकुल अश्वचिकित्सा मे निपुण थे। अज्ञातवास मे विराट को उन्होंने अपना परिचय अश्वचिकित्सक के रूप मे ही दिया था।[2]

नल व शालिहोत्र की अभिज्ञता—राजा नल अश्व परिचालन तथा अश्व के स्वभाव परिज्ञान के बहुत बडे ज्ञाता थे। अश्वशास्त्र आचार्य शालिहोत्र ने लिखा था।[3]

सहदेव प्रवीण गौचिकित्सक—सहदेव बडे अच्छे गौचिकित्सक थे। विराट के समक्ष उन्होने कहा था—"मैं महाराज युधिष्ठिर का गोपरीक्षक था। मेरे तत्त्वावधान मे अति शीघ्र गौओ की सख्या मे वृद्धि हो जाती है और उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। जिन बैलो के ससर्ग से वध्या गाय भी बछडा दे दे, उन बैलो को मैं केवल मूत्र की गध से ही पहचान जाता हूँ"।[4]

सर्वत्र प्राणो का स्पंदन—ससार मे सर्वत्र प्राणो का स्पदन है। चाहे जल हो या स्थल, हर चीज मे प्राण होते है। फल-फूल, पेड-पौधे सब मे प्राणो का अस्तित्व है। जो प्राणी अति सूक्ष्म हैं, जिन्हे इन्द्रियो द्वारा देखा छुआ नही जा सकता उनका

---

१. गोधर्मं सोरभेयाच्च सोऽधीत्य निखिलं मुनिः।
प्रावर्त्तत तदा कर्त्तुं श्रद्धावास्तमशंकया॥ इत्यादि।
आदि १०४।२६-२८

२. अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि विनयंचापि सर्वशः।
दुष्टानां प्रतिपत्तिञ्च कृत्स्नञ्चैव चिकित्सितम्॥ विराट १२।७

३. शालिहोत्रोऽथ किन्तु स्याद्धयानां कुलतत्त्ववित्। वन ७१।२७

४. क्षिप्रं हि गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन। इत्यादि
विराट १०।१३, १४

भी अस्तित्व स्वीकार करना पडता है। अरण्यचारी मुनि भी प्राणरक्षा के निमित्त हिंसा तक करने को बाध्य होते हैं। प्राण ही सब कुछ है।[1]

वृक्षलता आदि की श्रवणस्पर्श शक्ति—महर्षि भरद्वाज ने भृगु से पूछा था कि वृक्षलता आदि का शरीर पचभौतिक होता है कि नही। पेड-पौधो के शरीर मे तेज, वायु व आकाश का कार्य किस प्रकार होता है, यह न समझ पाने के कारण भरद्वाज को सदेह हुआ था। वृक्षादि को श्रवण, स्पर्श, रस, गध व दर्शन की अनुभूति नही होती, तो इनका शरीर पचभौतिक कैसे होगा, यही उनके सन्देह का कारण था। प्रश्न के उत्तर मे भृगु ने कहा है कि यद्यपि वृक्षादि के शरीर के सूक्ष्म अवयन अर्थात् परमाणु बहुत ही घने है, तब भी उनके अन्दर आकाश है, इसमे कोई सन्देह नही। आकाश या अवकाश नही होता तो फूल और फल का जन्म नही हो सकता था। पत्ते, छाल, फूल सभी एक समय म्लान हो जाते हैं, इससे पता लगता है कि वृक्षादि मे तेज पदार्थ विद्यमान है। उनकी म्लानता व शीर्णता देखकर स्पर्शानुभूति का भी अनुमान लगाया जा सकता है। वायु के स्पर्श, अग्नि के ताप तथा वज्र के निर्घोष से फल व फूल विशीर्ण हो जाते हैं। इससे अवगत होता है कि वृक्षादि मे सुनने की शक्ति भी है। दूरस्थ लता भी अपने अवलम्ब्य वृक्ष की ओर अग्रसर होती है, इससे उसकी दृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। तरह तरह के गधद्रव्यो व दीप-घूप की सुवास से पेड-पौधो के रोग नष्ट होते हैं, अत उनमे गध ग्रहण करने की क्षमता भी अवश्य है। जडो के द्वारा जलग्रहण की शक्ति भी इनमे होती है। कोई कोई वृक्ष पानी डालने से सूख जाता है, इसके विपरीत कोई वृक्ष पानी मिलते ही हरा हो जाता है, इससे उनकी रसनेन्द्रिय के अस्तित्व का पता चलता है। कमल की नाल मुंह मे डालकर जिस प्रकार पानी पिया जा सकता है उसी प्रकार वृक्ष आदि भी वायु की सहायता से जडो द्वारा जल सोखते हैं।

वृक्ष आदि का जीवन व पुष्टि आदि—सुख-दु ख की अनुभूति एव छिन्न शाखा आदि का पुन निकलना देखकर पेड पौधो के जीवन का अनुमान लगाया जा सकता है। अग्नि एव वायु वृक्ष के जल आदि खाद्य को रस मे परिणत कर देती हैं, इसी से इनकी पुष्टि होती है। जगम प्राणियो की देह मे जिस प्रकार पचभूत का अनुभव किया जाता है, उसी प्रकार स्थावर प्राणियो मे भी पचभूत की लीला चलती रहती है।[2]

---

१. उदके बहव प्राणाः पृथिव्याञ्च फलेषु च। शान्ति १६।२५-२८
वृक्षास्तथौषधीश्चापि छिन्दति पुरुषा द्विज।
जीवा हि बहवो ब्रह्मन् वृक्षेषु च फलेषु च।। वन २०७।२६-३१

२. शान्ति १८४ वां अध्याय।

विषप्रयोग से वृक्ष की मूर्च्छा—तीव्र विष के प्रयोग से वृक्ष भी मूर्च्छित हो जाते है, उसका प्रतीकार करने पर पुन. स्वस्थ हो जाते है।[1]

वृक्ष आदि भी पुत्रवत् परिपालनीय—स्थावर प्राणी छह श्रेणियो मे विभक्त है। यथा—वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, त्वक्सार व तृण। इनके रोपण व परिवर्द्धन के अगणित पुण्यफल महाभारत मे कीर्त्तित हुए है।[2] इनको पुत्र की तरह पालने का उपदेश दिया गया है।[3] इन उक्तियो से प्रतीत होता है कि वृक्ष का रोपण व पालन उस काल मे धर्म का अग माना जाता था।

करजक वृक्ष को दीपदान—सुवर्चला नामक वल्ली की जड को छूकर जो व्यक्ति एक वर्ष तक करजक वृक्ष पर दीप चढाता है, उसकी सन्तान सतति सदा वृद्धि पर रहती है।[4] इस कार्य द्वारा उल्लिखित वृक्ष व वल्ली का कुछ उपकार होता होगा, तभी करने को कहा गया है।

हर प्राणी की भाषा है—अपने मनोभाव प्रकट करने के लिये ससार मे सब प्रकार के प्राणियो की अपनी अलग भाषा है।[5]

---

१ स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात् क्षतः।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः॥ अनु ५।६
भस्मराशिकृतं वृक्षं विद्यया समजीवयत्। आदि ४३।९

२. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामवरोपणम्। इत्यादि। अनु ५८।२२-२६

३. तस्य पुत्रा भवन्त्येते पादपा नात्र सशयः। अनु ५८।२७

४. यस्तु सवत्सरं पूर्णं दद्याद्दीपं करंजके।
सुवर्चलामूलहस्तः प्रजा तस्य विवर्द्धते॥ अनु १२७।८

५. भाषाज्ञश्च शरीरिणाम्। अनु ११७।८

गान्धर्व

गंधर्वो का आचार्यत्व—महाभारत मे कही भी 'सगीत' शब्द का प्रयोग नही हुआ है। 'गान्धर्व' शब्द ही सगीत विद्या के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस विद्या के आचार्य गन्धर्व थे। नारद को देवगधर्व माना जाता था।[1] अतिबाहु, हाहा, हूहू तथा तुबुरु ये चार गधर्वों मे श्रेष्ठ कहे जाते थे। ये चारो कश्यप पत्नी कपिला की सन्तान थे।[2] मार्कण्डेय पुराण मे नागराज अश्वतर व कवल की गधर्वविद्या का विस्तृत विवरण मिलता है। महाभारत मे भी इनका नाम आया है।[3]

देवर्षि नारद की अभिज्ञता—देवगधर्व नारद और देवर्षि नारद शायद दो भिन्न व्यक्ति थे। देवर्षि के हाथ मे एक उत्तम वीणा रहती थी, वे नृत्य व गीत दोनो के कुशल ज्ञाता थे। गाधर्वविद्या पर उनके अधिकार की बात जगह जगह दुहराई गई है।[4]

अर्जुन व श्रीकृष्ण—अर्जुन ने गीत, वाद्य व नृत्य की शिक्षा गधर्व चित्रसेन से ली थी। कहा गया है कि उन्होने देवराज इन्द्र के आदेश से गधर्वविद्या की ओर ध्यान दिया था। श्रीकृष्ण भी गधर्वविद्या मे निपुण थे।[5]

कच—शुक्राचार्य के शिष्य वृहस्पति पुत्र कच ने नृत्य, गीत व वाद्य मे विशेष

---

१. कलि. पचदशस्तेषा नारदश्चैव षोडश'। आदि ६५।४४

२. सुप्रिया चातिवाहुश्च विख्यातौ च हाहा हूहू'।
तुम्बुरिश्चेति चत्वारः स्मृता गधर्वसत्तमाः॥ आदि। ६५।५१, ५२

३. कम्बलाश्वतरौ चापि......। आदि ३५।१०

४. कच्छपीं सुखशब्दा ता गृह्य वीणा मनोरमाम्।
नत्ये गीते च कुशलो देवब्राह्मण पूजितः॥ इत्यादि।
शल्य ५४।१८। शाति २१०।२१
वल्लकीवाद्यमातन्वन् सप्तस्वरविमूर्च्छनात्। इत्यादि। हरि, विष्णु ८५ वाँ अध्याय।

५. नृत्यं गीतञ्च कौन्तेय चित्रसेनादवाप्नुहि। इत्यादि। वन ४४।६-१०
हरि, विष्णु १४८ वाँ अध्याय।

पटुता अर्जित की थी। उनके प्रति देवयानी के आकर्षण का यह भी एक कारण था।[1]

महिलाओ की गांधर्व शिक्षा—महिलाओ मे भी इस विद्या का प्रसार कम नही था। वडे घरो मे सगीत शिक्षक रक्खे जाते थे। अज्ञातवास के समय अर्जुन विराटदुहिता उत्तरा के सगीत शिक्षक के रूप मे ही विराट द्वारा नियुक्त किये गये थे।[2] उत्तरा के साथ साथ उसकी सखियो ने भी उन्हे अपना गुरु वनाया था।[3] शुक्राचार्य की कन्या देवयानी सगीतविद्या की विशेष अभिज्ञा थी।[4] शान्तनु की पत्नी गगा ने नृत्य करके पति का मनोरजन किया था।[5]

अप्सराएँ—इन्द्र की सभा मे विश्वाची, घृताची, रभा, तिलोत्तमा, मेनका, उर्वशी आदि अप्सराओ द्वारा गीत नृत्य प्रस्तुत किये जाने का वर्णन अनेको स्थानों पर हुआ है।[6]

उत्सव आदि में संगीत का स्थान—गीत, नृत्य व वाद्य आमोद मे सर्वोत्तम माने जाते थे।[7] हर उत्सव के ये प्रधान अग होते थे। विवाह सभा मे उनकी वहुत अधिकता देखने मे आती है।[8] परीक्षित के जन्मदिवस पर सगीत व नृत्य की कोई सीमा ही नही रही थी। रैवतक पर्वत पर वृष्ण्यधककुल के महोत्सव के उपलक्ष्य मे सगीत आदि का प्रदर्शन धूमधाम से किया गया था। युद्ध मे विजयी होने पर वीर शख व भेरी के निनाद से आकाश-पाताल गुजा देते थे।[9] कौरव-पाडवो की शस्त्रविद्या की परीक्षा के लिये जो सभामडप वनाया गया था, उसमे भी वादकों को सम्मान के साथ स्थान मिला था।[10]

राजाओ के सोने व उठने के समय वैतालिक—रात्रि को राजा के सोने के

---

१. गायन् नृत्यन्वादयंश्च देवयानीमतोषयत्। आदि ७६।२४

२. विराट ११ वाँ अध्याय।

३. गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत्तथा। आदि ७६।२६

४. वहुगंधर्वदर्शना। उद्योग ११६।२

५. संभोगस्नेहचातुर्यैर्हावलास्यमनोहरैः। आदि ९८।१०

६. शान्ति १९१।१६

७. सूतमागधसघाश्चाप्यस्तुवस्तरा:। आदि १८८।२४

८. अश्व १०।१८। आदि २१९।४। आदि ११३।४५। विराट ६८।२७

९. तत. प्रयाते दाशार्हे प्रावाद्यन्तैकपुष्कराः। उद्योग ९४।२१

१०. प्रावद्यन्त च वाद्यानि सशंखानि समन्ततः। आदि १३५।१०

प्रात उठने के समय निर्दिष्ट स्तावक मधुर गीत व वीणावादन से उनका मनोरजन करते थे।[१]

यागयज्ञ मे सगीत—यज्ञ आदि मे भी सगीत का विशेष आदर होता था। नट नर्त्तको आदि गुणी व्यक्तियो को यज्ञमडप के निकट ही स्थान दिया जाता था। युधिष्ठिर के अश्वमेघ यज्ञ मे नारद, तुम्वुरु, विश्वावसु, चित्रसेन आदि गान्धर्व-विशारदो की मडली उपस्थित थी। वे अवकाशमत उपस्थित याज्ञिक व दर्शको का नृत्य गीत द्वारा मनोरजन करते थे।[२]

राजसभा मे विशेष स्थान—राजसभा मे सगीतज्ञो का विशेष रूप से आदर किया जाता था। इन्द्रपुरी के ऐश्वर्यवर्णन मे सगीतज्ञो को भी वहाँ का ऐश्वर्य बताया है।[३] इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज मे सगीतज्ञ को बहुत ही अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

वाद्ययन्त्र—शख, मृदग, भेरी, पणव, आनक, गोमुख बाँसुरी, वीणा, झल्लीषक आदि वाद्ययन्त्रो का उल्लेख मिलता है। यन्त्र-सगीत के अनुशीलन का भी वर्णन आया है।[४]

शतांग तूर्य—नख, अगुलि, दण्ड, धनु, ज्या, मुख आदि के द्वारा कई तरह से तूर्य वाद्य के विषय मे कहा गया है। इसी कारण तूर्य को शताग कहा जाता था।[५]

मांगलिक कार्यों व युद्धभूमि मे शंखध्वनि—हर प्रकार मागलिक कार्य मे शंखध्वनि का विशेष स्थान होता था।[६] युद्ध मे शखध्वनि के विषय पर 'युद्ध-प्रबध' मे कहा जा चुका है।

---

१. सभा ५८।३६। आदि २१८।१४। शान्ति ५३।३-६

२. कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्त्तकान्। इत्यादि। सभा ३३।४९
अश्व ८५।३७

नारदश्च बभूवात्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः। इत्यादि। अश्व ८८।३९, ४०

३. गधर्वास्तुबुरुश्रेष्ठाः कुशला गीतसामसु। वन ४३।२८, ३२
गीतवादित्रकुशला. सम्यक् तालविशारदा.। सभा ४।३८, ३९

४. शखान्‌थ मृदगाश्च प्रवाद्यन्ति सहस्रश.।
वीणापणववेणूना स्वनश्चातिमनोरम ॥ इत्यादि। शाति ५३।४।
शाति १२०।२४। हरि, विष्णु १४८ वाँ अध्याय।

५. शतागानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन्। आदि १८८।२४

६. तत्र स्म दध्मु: शतशः शखान् मगलकारकान्। इत्यादि। सभा ५३।१७।
विराट ७२।२७

छालिक्य गान—हरिवश पुराण के विष्णुपर्व मे छालिक्य गान नामक एक प्रकार के यन्त्र सगीत का उल्लेख मिलता है। वीणा, झल्लीषक, बाँसुरी, मृदग आदि यत्रो के साथ पाँच गाधर्ववित् एक साथ मिलकर जो गान प्रस्तुत करते थे, वही शायद छालिक्य गान कहलाता था। वर्णन से तो यही प्रतीत होता है वैसे स्पष्ट रूप से उसमे कुछ नही बताया है।[1]

षड्ज आदि सप्तस्वर—षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम, धैवत, पचम एव निषाद इन सात स्वरो का उल्लेख मिलता है। स्वर को शब्दविशेष बताया है और आकाश से उसकी उत्पत्ति मानी है।[2]

गांधर्व मे अत्यासक्ति निन्दनीय—सगीत सभाओ के बहुत से उदाहरणो के साथ एक जगह यह भी कहा है कि नृत्यगीत के प्रति बहुत आसक्त नही होना चाहिये, ऐसी अवस्था मे बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं।[3] यह उपदेश राजधर्म प्रकरण मे दिया गया है। किंतु गाधर्व विद्या ही जिनकी जीविका का साधन अथवा उपासना का अग थी उनकी बात अलग थी।

---

१. छालिक्यगानं बहुसंविधानं तद्देवगंधर्वमुदाहरन्ति। इत्यादि।
हरि, विष्णु १४८ वाँ अध्याय।

२. षड्जऋषभगांधारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान्॥ इत्यादि। शांति १८४।
३९, ४० हरि, विष्णु ८५ वाँ अध्याय।

३. पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम्।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान्॥ शान्ति १४०।२६

व्याकरण व निरुक्ति

व्याकरण अवश्य पठनीय—महर्षि बृहस्पति ने गुरु प्रजापति को प्रणाम करके कहा, "भगवन, मैंने ऋक्, साम, यजु, छन्द, नक्षत्रगति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प एव शिक्षा आदि विषयो का ज्ञानार्जन किया है, किंतु आत्मतत्त्व के बारे मे मैं कुछ भी नही जानता। दया करके मुझे अपने शिष्यरूप मे ग्रहण कीजिये।"[1] (छान्दोग्योपनिषद) मे (७।१) नारद सनत्कुमार-सवाद मे भी यही बात कही गई है)।

वैयाकरण शब्द का अर्थ—सनत्सुजातीय प्रकरण मे कहा गया है कि जो व्यक्ति शब्दगत अर्थ, व्युत्पत्ति आदि की व्याक्रिया अर्थात् तत्त्वार्थ समझता है, उसे वैयाकरण कहते हैं। केवल शब्द शास्त्रवेत्ता प्रकृत वैयाकरण नही होता, जो जगत की उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण सम्यक् रूप से समझता है वही असली वैयाकरण है।[2]

षडगपाठ से श्रेयोलाभ—पराशर गीता मे कहा गया है कि धर्मशास्त्र, वेद व शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषशास्त्र स्वरूप वेद का षडग अध्ययन मनुष्य के लिये कल्याणकर है।[3] व्याकरण आदि षडगशास्त्र स्मृतिशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं। जापकोपाख्यान मे कहा गया है कि जो व्यक्ति षडग एवं मन्वादि स्मृतिशास्त्रो का अध्ययन करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।[4]

आर्ष प्रयोग—उस काल मे कौन सा व्याकरण प्रचलित था, यह पता नही लगता। महाभारत मे ऐसे बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए है, जो प्रचलित व्याकरण के

---

१. ऋक् सामसघाश्च यजूषि चापि छन्दासि नक्षत्रगति निरुक्तम्।
अधीत्य च व्याकरण सकल्पं शिक्षाञ्च भूतप्रकृति न वेग्मि॥ शाति
२०१।८, ९

२. सर्वार्थानि व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते। उद्योग ४३।६१

३. धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडगानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मण.॥ शान्ति २९७।४०

४. महास्मृति पठेद् यस्तु तथैवानुस्मृति शुभाम्।
तावप्येनेन विधिना गच्छेता मत्सलोकताम् शाति २००।३० नीलकठ
देखिये।

अनुसार शुद्ध नही है। हारकर उन्हे आर्ष प्रयोग ही मानना पडता है। सधि एव धातु के रूप मे ही आर्ष प्रयोग की बहुलता दिखाई पडती है, शब्द-साधन मे आर्ष-प्रयोग कम हुआ है। अध्यापक-परम्परा द्वारा पता लगता है कि उस समय 'माहेश' नामक एक प्रकाड व्याकरण था। पाणिनि के व्याकरण को तो उसकी तुलना मे गोपद जैसा बताया है।[1]

षड़ग—षडग मे प्रसगानुसार व्याकरण, शिक्षा, छद व निरुक्ति का नाम मात्र आया है। वैदिक कर्मकाड मे कल्प का जिक्र भी हुआ है। ज्योतिष पर भी बहुत ही कम प्रकाश डाला है।

यास्क का निरुक्त—महाभारत मे यास्काचार्य के निरुक्त का उल्लेख मिलता है। नारायणीय प्रकरण मे भगवान अर्जुन से कहते हैं—"प्रतिभाशाली ऋषि यास्क ने 'शिपिविष्ट' विशेषण द्वारा मेरी स्तुति की थी, मेरे प्रसाद से ही उन्होने निरुक्तशास्त्र का पता लगाकर पाताल से उसका उद्धार किया था।"[2]

निर्घन्टु—निर्घन्टु या निघन्टु प्रक्रिया द्वारा शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ग्रहण किया जाता था।[3]

मूलकारण श्रीकृष्ण—भगवान ने कहा है, "वेद की विभिन्न शाखाएँ, शाखाभेद से स्वर आदि का उच्चारण तथा गीतिसमूह मेरे द्वारा ही उत्पन्न हुई हैं"।[4]

गालव मुनि का क्रम (कल्प) व शिक्षाशास्त्र—ऋषि वामदेव कथित ध्यानपथ का अवलम्बन लेकर गालव मुनि ने नारायण की उपासना की थी और फिर भगवान का आशीर्वाद पाकर उन्होंने क्रम व शिक्षाशास्त्र की रचना की थी।[5]

---

१. यान्युज्जहार माहेशाद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि संति पाणिनिगोष्पदे॥ (प्राचीन उक्ति)

२. स्तुत्वा मा शिपिविष्टेति यास्य ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभि जग्मिवान्॥ शाति ३४२।७३

३. निर्घन्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥ शांति ३४२।८८

४ स्वरवर्णसमुच्चाराः सर्वास्तान् विद्धि मत्कृतान्। शाति ३४२।१००

५. वामादेशितमार्गेण मत्प्रसादान्महात्मना।

× × ×

क्रमं प्राणीयशिक्षांच प्रणयित्वा स गालवः। शांति ३४२।१०२-१०४

ज्योतिष

गणित, फलित व शाकुनविद्या—नाना प्रसगो मे ज्योतिषशास्त्र के किसी न किसी विषय पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत की ज्योतिष विद्या को गणित, फलित व शाकुनविद्या के भेद से तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है। गणित ज्योतिष का उल्लेख कम हुआ है। जिन पर थोडा बहुत कहा गया है, उनका भी अधिकाश आधुनिक ज्योतिष से एकमत नही होगा।

सूर्य गतिशील—सूर्य को गतिशील बताया है। कहा है कि मध्याह्न मे निमेषार्द्ध के लिये सूर्य स्थिर हो जाता है।[1]

सूर्यकिरण पापनाशक—सूर्यकिरण को पापनाशक बताया गया है।[2] सूर्य-किरणो के सेवन से बहुत से रोगो के क्षय की बात तो चिकित्सक भी स्वीकार करते हैं।

चन्द्ररसात्मक—चन्द्रकिरण जडी-बूटियो के लिये बहुत ही गुणकारक है। वृक्षलता आदि मे तो यह नये प्राणो का सचार कर देती है। चन्द्र स्वय रसस्वरूप है।[3]

चन्द्र का प्रभाव सब प्राणियो पर—ससार के सब प्राणियो को चन्द्र के शीतल स्पर्श की आकाक्षा होती है। चन्द्र प्राणिवर्ग के आनन्द का हेतु है। पुष्प के विकास मे चाँदनी बहुत अधिक सहायक होती है। पुष्प की उत्पत्ति चन्द्र से ही हुई है (इस उक्ति का वास्तविक अर्थ समझ मे नही आता।)[4]

महाप्रलय मे सप्तग्रह द्वारा चन्द्र का वेष्टन—महाप्रलय के समय सात ग्रह चन्द्र को घेर लेते है। इन ग्रहो का नाम नही दिया गया है। ग्रहपरिवेष्टित चन्द्र

---

१. चल निमित्त विप्रर्षे सदा सूर्यस्य गच्छत ।
   कथ चल भेत्स्यसि त्व सदा यान्त दिवाकरम्॥ अनु ९६।४
   मध्याह्ले वै निमेषार्द्धं तिष्ठसि त्व दिवाकर। अनु ९६।६
२. रश्मिभिस्तापितोऽर्कस्य सर्वपापमपोहति। अनु १२५।५६
३ पुष्णामि चौषधी सर्वा सोमो भूत्वा रसात्मक । भीष्म ३९।१३
४. सोमस्यात्मा च बहुधा सम्भूतः पृथिवीतले। अनु ९८।१७

की ज्योति जब क्षीण होते होते विलुप्त हो जाती है तो प्रलय काल की उपस्थिति जाननी चाहिये।'

ग्रह नक्षत्र मंडल के ऊर्ध्व मे अवस्थित—ग्रहो को नक्षत्रमडल से ऊपर अवस्थित बताया है।[2]

पुण्यात्मा व्यक्तियों की नक्षत्रत्व प्राप्ति—जो व्यक्ति इहलोक मे नाना प्रकार के पुण्य कर्म करता है, वह मृत्यु के बाद नक्षत्र का रूप धारण कर नक्षत्रमडल मे विराजता है।[3] देहत्यक्त आत्मा की नक्षत्रलोक प्राप्ति को पुण्यसापेक्षा बताना ही शायद इस रूपक का तात्पर्य है।

अश्विन्यादि नक्षत्र—अश्विन्यादि सत्ताईस नक्षत्रो का नाम महाभारत मे आया है।[4]

तिथि व नक्षत्रो के नाम—प्रसगवश नाना स्थानो पर बहुत सी तिथियो व नक्षत्रो के नाम आये है।[5]

श्वेतग्रह (धूमकेतु ?)—एक जगह 'श्वेतग्रह' नामक एक उपग्रह का जिक्र आया है। नीलकठ ने अपनी टीका मे इसे 'धूमकेतु' कहा है।[6]

तिथि नक्षत्रो का निर्देश अच्छा नहीं—तिथि एव नक्षत्रो का बताना उस काल मे बुरा समझा जाता था।[7] (सुना है काशी आदि उधर के कई अचलो मे पुराने लोग अभी भी प्रतिपदा तिथि का नाम नही लेते।)

नक्षत्रो की सहायता से दिशानिर्णय—दिशाभ्रम होने पर नक्षत्र देखकर सही दिशा का निर्णय किया जाता था।[8]

ब्राह्मदिन व रात्रि—मनुष्यो का एक वर्ष देवताओ का एक दिन होता है। देवताओ की गणना के अनुसार बारह हजार वर्षो के चार युग होते है और चार

---

१. प्रजासहरणे राजन् सोमं सप्तग्रहा इव। द्रोण १३५।२२

२. उच्चस्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रह। शांति ८७।११

३. एते सुकृतिनो पार्थ स्वेषु धिष्ण्येष्ववस्थिता।
यान् दृष्टवानसि विभो ताराारूपाणि भूतले॥ वन ४२।३८

४. अनु ११० वाँ अध्याय।

५. आदि १३४।९। वन १८२।१६। शांति १००।२५। अनु १०४।३८

६. श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे। उद्योग ३७।४३

७ न ब्राह्मणान परिवदेन्नक्षत्राणि न निर्दिशेत्।
तिथिं पक्षस्य न ब्रूयात्तथास्यायुर्न रिष्यते॥ अनु १०४।३८

८. नक्षत्रैर्विन्दते दिश। इत्यादि। आदि १४५।२६। आदि १५०।२१

युगो का सहस्रगुणा काल एक कल्प कहलाता है। कल्प का ही दूसरा नाम ब्राह्म-दिन है। ब्राह्मरात्रि भी ब्राह्मदिन के समान होती है।[1]

चतुर्युग—सतयुग आदि चार युगो का काल भी बताया गया है। कहा गया है कि जब एक ही राशि मे अवस्थित सूर्य, चन्द्र व बृहस्पति एक साथ पुष्या नक्षत्र के साथ मिलेंगे, तब सत्ययुग का आरम होगा।"[2]

अधिमास—विराट पर्व मे मलमास की गणनापद्धति बताई गई है। कला, काष्ठा, मुहूर्त्त, दिन, अर्द्धमास, मास, नक्षत्र, ऋतु, वर्ष आदि द्वारा काल के विभाजन की कल्पना की है। सूर्य व चन्द्र की गति के तारतम्य वश हर पाँच वर्ष मे दो चन्द्रमास अधिक होते हैं अर्थात् प्रत्येक तृतीय वर्ष मे एक मास की वृद्धि हो जाती है। इसी मास को अधिमास या मलमास कहते हैं।[3]

मनुष्य पर ग्रहो का आधिपत्य—माँस का टुकडा देखते ही जैसे कुत्ता उस पर झपटता है उसी प्रकार मनुष्य के भूमिष्ठ होते ही ग्रह उस पर अपना आधिपत्य जमा लेते हैं।[4]

जातपत्रिका (युधिष्ठिर आदि की)—जातशिशु के जन्म समय के ग्रह आदि का सस्थान या जन्मपत्री उस काल मे लिखी जाती थी। युधिष्ठिर के जन्म-वर्णन मे कहा गया है कि, 'शुक्लपक्ष को पूर्णतिथि को, ज्येष्ठा नक्षत्र मे दिन के अष्टम मुहूर्त्त मे युधिष्ठिर भूमिष्ठ हुए थे। नीलकठ का कहना है कि साधारणत आश्विन मास की शुक्ल पचमी को इस प्रकार नक्षत्रो का योग होता है। इसके विपरीत किसी किसी का मत है कि ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को नक्षत्रो का यह योग होता है।[5]

विवाहादि मे शुभदिन का विचार—विवाह आदि शुभ कर्मो मे तिथि नक्षत्रो का अच्छा बुरा योग देखा जाता था। द्रौपदी के विवाह मे राजा द्रुपद ने युधिष्ठिर

---

१. युग द्वादशसाहस्र कल्प विद्धि चतुर्युगम्। इत्यादि। शाति ३०२।१४, १५। शाति १८३।६

२ यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पती।
एकराशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदा कृतम्। इत्यादि। वन १९०।९०। शांति २३१ वाँ अध्याय। वन १८८।२२-२९

३. कलाकाष्ठाश्च युज्यन्ते मुहूर्त्ताश्च दिनानि च। इत्यादि। वि० ५२।१-४

४. तस्मान्मुक्त. स संसारादन्यान् पश्यत्युपद्रवान्।
ग्रहास्तमुपगच्छन्ति सारमेया इवामिषम्॥ स्त्री ४।५

५. ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्त्तेऽभिजितेऽष्टमे।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते॥ आदि १२३।६

से कहा था, 'आज शुभ दिन है, चन्द्र शुभनक्षत्रो के साथ युक्त है। अत. आज तुम पहले कृष्णा का पाणिग्रहण करो।'[1]

यात्रा मे तिथि नक्षत्रो का विचार—कही विदेश गमन के पूर्व ज्योतिषशास्त्रानुमोदित शुभ तिथि व नक्षत्रो का योग देखा जाता था। तिथि की अपेक्षा शायद नक्षत्रो की विशुद्धि पर अधिक जोर दिया जाता था, क्योकि बहुत से वर्णनो मे केवल नक्षत्रो का नाम गृहीत हुआ है तिथि को बिल्कुल छोड दिया है।[2]

मघा नक्षत्र मे विदेश गमन का कुफल—मघा नक्षत्र मे यात्रागमन अच्छा नही माना जाता था, लेकिन पौरुषमद से मत्त असुर इन सब बातो का विचार नही मानते थे। सुद व उपसुद 'मघा' नक्षत्र मे ही यात्रा पर गये थे।[3]

भाग्यगणना व सामुद्रिक की निन्दा—हाथ-पाँव की रेखा, मुखाकृति, कठस्वर आदि की सहायता से मनुष्य का भाग्य बताने की रीति तब भी प्रचलित थी।[4] जो पडित इस प्रकार जीविकानिर्वाह करते थे वे लोकसमाज मे आदर की दृष्टि से नही देखे जाते थे, ऐसे लोगो को 'सामुद्रिक' कहा जाता था। एक श्रेणी के पडित शलाका से जमीन पर अक लिखकर गणना किया करते थे, जिन्हे 'शलाकाधूर्त' कहा जाता था। समाज मे इनका भी अच्छा स्थान नही था।[5]

उत्पात या दुर्निमित्त—ग्रहनक्षत्र आदि की गति का व्यतिक्रम, बिना ऋतु की चीजो की उत्पत्ति, किसी अस्वाभाविक व अलौकिक घटना का सघटन, अकल्पनीय वस्तु का अकस्मात उद्भव, अग-प्रत्यगो का अस्वाभाविक स्पदन आदि प्राकृतिक विशृखलाओ को दुर्निमित्त या उत्पात कहा गया है।

शुभ निमित्त—अग प्रत्यगो का स्वाभाविक स्पदन, ऋतु के अनुसार पुष्प-लता आदि का फलना-फूलना आदि को शुभ निमित्त कहते थे।

शाकुन विद्या—चारो ओर की अवस्था देखकर शुभ-अशुभ का निर्णय करने

---

१. ततोऽब्रवीद् भगवान् धर्मराजमद्यैव पुण्याऽमुन व पाण्डवेया.। इत्यादि
आदि १९८।५

२. आदि १४५।३४। सभा ३।१०-१५। सभा २५।४। वन ९३।२६। वन २५९।२८। उद्योग ३।१७। उद्योग ८३।६। उद्योग १५०।३

३ मघासु [illegible]। आदि २१०।२। नीलकंठ देखिये।

४ [illegible]। विराट ९।१०। उद्योग ११६।२ [illegible]। उद्योग ५९।१९

५. सामुद्रिक [illegible] शलाकाधूर्त [illegible]। इत्यादि
उद्योग ३५-४४

मे जो विद्या सहायता करती है, उसी का नाम 'शाकुन विद्या' है। पशु-पक्षी की चाल-ढाल, कठस्वर आदि भी मनुष्य का शुभाशुभ बताने मे सहायक होते हैं यही सोचकर शायद इसका नाम शाकुन विद्या पडा है।

अशुभ दिन शृगाल का चीत्कार आदि अपशकुन—कुरुकुललक्ष्मी पाचाली का जिस दिन भरी सभा मे अपमान किया गया था उस दिन बार बार अपशकुन हो रहे थे। धृतराष्ट्र की गृहाग्नि के पास ही सियार चिल्लाने लगा। उसका चीत्कार सुनकर गधा तथा दूसरे उग्रस्वभावी पक्षी भी चीखने लगे। इस घोर शब्द को सुनकर विदुर, गाधारी, भीष्म, द्रोण एव गौतम को आसन्न विपत्ति का अनुमान हो गया था। उसके बाद और भी बहुत से बुरे लक्षण दिखाई दिये थे। यथा—वायु का वेग बहुत बढ गया, सूर्य राहुग्रस्त हो गया। रथशाला मे अचानक आग लग गयी। ध्वजाएँ अपने आप फट गईं। दुर्योधन के अग्निहोत्र के समीप सियार रोया और उसके अनुकरण मे गधो ने अपने चीत्कार से दशो दिशाओ को प्रकम्पित कर दिया।[१]

पशुपक्षियो का अस्वाभाविक आचरण—उधर भीम अजगर रूपी नहुष द्वारा आक्रात होकर वन मे पडे थे और इधर युधिष्ठिर बहुत ही अपशकुन देखकर विचलित हो रहे थे। दिन के समय ही आश्रम के निकट सियार बुरी तरह चिल्लाते हुए युधिष्ठिर की दाहिनी ओर दौडे। एक पख, एक आँख व एक पाँव का भयानक वटेर रक्तवमन करते करते सूर्य के सामने उडने लगा। जोर से आँधी चलने लगी। दक्षिण दिशा मे सब पक्षी विकट चीत्कार करने लगे। पीछे की तरफ बिल्कुल काला कौआ 'याहि' 'याहि' शब्द कर रहा था। युधिष्ठिर की दक्षिण बाहु बार बार फडक रही थी। हृदय एव बाँया पैर जैसे बेजान हो गये थे।[२]

ग्रह नक्षत्र आदि के परिवेष का घोरत्व—युद्ध विग्रह, आदि के पूर्व जो भीषण उत्पात लक्ष्य मे आता है, उसका वर्णन स्कदोत्पत्ति प्रकरण मे हुआ है। कहा है कि उस समय चन्द्र व सूर्य के परिवेश की आकृति भयानक हो जाती है। नद-नदी उल्टी दिशा मे बहने लगते हैं। उनका जल रक्तिम वर्ण हो जाता है। अग्निमुख शृगाली सूर्य की ओर मुंह करके रोती है। सोम, वह्नि व सूर्य के अद्भुत समागम को अति भय का कारण बताया है।[३]

---

१. ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे, गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे। इत्यादि। सभा ७१।१२। सभा ८१।२२-२५

२. दारुण ह्यशिवं नादं शिवा दक्षिणत· स्थिताः। वन १७९।४१-४५

३. सूर्याचन्द्रमसोर्घोरं दृश्यते परिवेषणम्। इत्यादि। वन २२३।१७-१९

रूक्ष वायु आदि—क्लीवरूप धनजय को युद्धक्षेत्र मे उपस्थित देखने के साथ साथ द्रोणाचार्य का जिन अपशकुनों की ओर ध्यान आकर्षित हुआ था, उनका विस्तृत विवरण गोहरण पर्व मे दिया गया है। धूलकणो की वर्षा करती हुई रूक्ष प्रचड वायु प्रवल वेग से चलने लगी। भस्मवर्ण अधकार से दसो दिशाएँ आच्छादित हो गईं। काले-काले मेघ आकाश मे छा गये। कोषसमूहो से विविध प्रकार के अस्त्र स्वय ही बाहर निकलने लगे। दिन मे सियार नाचने लगे। अश्व अश्रु वहाने लगे। अकम्पित ध्वजाएँ भी बार-बार स्वत कम्पायमान होने लगी। आदि।[1]

अश्व आदि की उत्तेजना की समाप्ति—गोहरण पर्व मे एक और जगह कई उत्पातो का वर्णन किया गया है। अस्त्र मलिन प्रतीत हो रहे थे। अश्वो की उत्तेजना समाप्त हो गई थी। अग्नि भी दीप्तिहीन हो गई थी। मृग सूर्य की ओर मुँह करके विकट चीत्कार कर रहे थे, उनके चीत्कार से दिग्मंडल विदीर्ण हो रहा था। ध्वजो पर कौए बैठे हुए थे। कुछ गीध दक्षिण दिशा की ओर उडकर भय की सूचना दे रहे थे। सियार घोर शब्द करते हुए सेना मे इधर-उधर घूम रहे थे। सूर्यकिरण बहुत ही मलिन पड गयी थी। पशुपक्षियो की इस प्रकार की उग्रता सेना मे भय का सचार कर रही थी। द्रोणाचार्य बोले, ये सब दुर्निमित्त (अपशकुन) देख कर ऐसा लग रहा है कि क्षत्रकुल के नाश का समय अब आ गया है।[2] पाडवो के दूतरूप मे हस्तिनापुर जाते समय कई अपशकुन देखकर कृष्ण समझ गये थे कि उनकी मध्यस्थता व्यर्थ जायगी। उस समय आकाश मे मेघ का तो चिह्न भी नही था किन्तु बिजली चमक व कडक रही थी। आकाश स्वच्छ था पर घोर वृष्टि पड रही थी। नद-नदियो का जल बहाव के उल्टी ओर बह रहा था। दिशा विदिशा का कुछ पता नही चल रहा था। चारो दिशाओ मे अग्नि प्रज्वलित हो रही थी। भूमिकम्प तथा अग्नि की लपटे त्रास का सचार कर रही थी। दसो दिशाओ मे धूल के बादल उड रहे थे।[3]

शुभाशुभ के सूचक लक्षण—श्रीकृष्ण तरह-तरह के प्रयत्न करके हार गये, पर कर्ण को दुर्योधन से अलग नही कर पाये। कर्ण ने कृष्ण से कहा, "सब कुछ

---

१. चण्डाश्च वाताः सवान्ति रूक्षा. शर्करवर्षिणः। इत्यादि। विराट ३९।४-७

२. शस्त्राणि न प्रकाशन्ते न प्रहृष्यन्ति वाजिनः।
अग्नयश्च न भासन्ते समिद्धास्तन्न शोभनम्। इत्यादि। विराट ४६। २५-३३

३. मृगाः शकुन्ताश्च वदन्ति घोरं, हस्त्यश्वमुख्येषु निशामुखेषु।। इत्यादि उद्योग ७३।३९। उद्योग ८४।५-९

जानते-बूझते हुए भी तुम क्यो मुझे मोहग्रस्त करना चाहते हो ? निश्चय ही क्षत्रिय वश के ध्वस का समय आ गया है। तरह-तरह के बुरे स्वप्न मुझे दिखाई देते हैं। दारुण उत्पात व घोर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं। प्रजापत्य नक्षत्र को तीक्ष्ण ग्रह शनि कष्ट दे रहा है। मगल ग्रह का ज्येष्ठा नक्षत्र से योग नही हुआ, इसलिये वह वक्रीभूत हो गया है। ऐसा लग रहा है कि कुरुवश पर विपत्तियो के बादल मँडरा रहे हैं। महापातग्रह चित्रा नक्षत्र को कष्ट दे रहा है। चन्द्र बहुत ही क्षीण प्रतीत होता है। सूर्य को राहु ने ग्रस लिया है। भीषण शब्द के साथ उल्कापात हो रहा है। हाथी बहुत ही अवसन्न है और अश्व आँसू बहा रहे हैं। उन्होंने खाना-पीना छोड दिया है। नाममात्र को खाद्य लेने पर भी सब प्राणी प्रभूत परिमाण मे मल-त्याग करते है। दुर्योधन की सेना व वाहन आदि की भी यही अवस्था है। मनी-पियो ने कहा है, ये सब उत्पात पराभव के लक्षण हैं। इसके विपरीत पाण्डवो के वाहन अति प्रसन्न हैं। उनके मृग प्रदक्षिणा क्रम से विचरण करते हैं, जो निश्चित रूप से जय के लक्षण हैं। दुर्योधन के मृग वाम दिशा मे घूमते है एव नाना प्रकार के अशरीरी वचन सुनाई देते हैं। मयूर, हस, चातक, सारस, जीवजीवक आदि शुभ पक्षी पाण्डवो का अनुगमन करते हैं।"

'गृध्र', 'कक' वक, श्येन, निशाचर वृक एव मक्खियाँ दुर्योधन पक्ष के अनुगामी हैं। उसके पक्ष का भेरी निनाद सुनाई नही पडता, जब कि उधर पाण्डवो के नगाडे की आवाज बिना बजाये भी सुनाई देती है। जलाशय निर्मल जल से परिपूर्ण है। इन लक्षणो से प्रतीत होता है कि दुर्योधन का अकल्याण अवश्यम्भावी है। मास एव शोणित की वर्षा हो रही है। प्रात एव सायकाल का दृश्य बहुत ही भयानक होता है। यह सियारो का हर वक्त चिल्लाना भी हार का लक्षण है। एक पाँव, एक हाथ व एक आँख वाले पक्षी विकट चीत्कार करते हुए उडते हैं। कृष्णगीव व रक्तपाद गीध सध्या समय इधर-उधर उडते दिखाई देते है। लोग ब्राह्मण, गुरु एव आदरणीय कर्मचारियो के साथ दुर्व्यवहार करने लगे हैं, यह भी पराभव का लक्षण है। पूर्व दिशा लोहितवर्ण, दक्षिण दिशा श्वेतवर्ण, पश्चिम दिशा श्यामवर्ण एव उत्तर दिशा शखरत्न वर्ण की हो गई है। दुर्योधन जहाँ होता है, वहाँ की चारो दिशायें ऐसी लगती हैं, जैसे आग लग गयी हो। ये सब उत्पात भावी भय की सूचना दे रहे हैं।'

स्वप्न मे देखे हुए दुर्निमित्त—"मैंने स्वप्न मे देखा है कि युधिष्ठिर अपने भाइयो के साथ सहस्रस्तभी प्रासाद मे जा रहे है। सबके सिर पर शुभ्र उष्णीप है, सबका परिधान भी शुक्ल है एव उनके आसन भी शुभ्रवर्ण है। स्वप्न मे यह भी देखा है कि तुम्हारा शरीर रुधिराक्त आँतो द्वारा परिवेष्टित है। तेजस्वी युधिष्ठिर अस्थियो

के ढेर पर वैठे सुवर्णपात्र मे घी, दूध खा रहे हैं। तुम्हारी दी हुई सम्पूर्ण पृथिवी का वे अकेले ही उपभोग कर रहे हैं। गदापाणि भीम ऊँचे पर्वत पर चढकर जैसे पृथिवी का ग्रास कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि वे युद्धक्षेत्र मे दुर्योधन पक्षी वीरो को अपनी गदा से पीस देंगे। अर्जुन को तुम्हारे साथ श्वेतवर्ण वहुत वडे हाथी पर वैठे देखा है। नकुल, सहदेव, सात्यकि आदि वीरो को शुक्ल केयूर एव शुभ्र कठाभरण पहने शुभ्र माल्य गले मे डाले नरवाहनो पर घूमते देखा है। उनके मस्तको पर श्वेत उष्णीष व पाडु का छत्र सुशोभित था। इसके विपरीत अश्वत्थामा, कृपाचार्य व कृतवर्मा को रक्तोष्णीष धारण किये दूसरे रक्तोष्णीषधारी राजाओ के साथ भ्रमण करते देखा है। देखा है कि उष्ट्रयान पर चढकर मैं, भीष्म, दुर्योधन एव द्रोण दक्षिण दिशा मे वहुत दूर चले गये हैं।[1]

अशुभ लक्षण—युद्ध की तैयारी खतम होने पर व्यास ने धृतराष्ट्र का ध्यान कई अशुभ लक्षणो की ओर ले जाकर भावी भय की आशका प्रकट की थी। जो इस प्रकार है—श्येन, गृध्र, काक, कक एव वक एक साथ वार-वार वृक्ष के सामने गिरते थे। शृगाल, काक आदि मासाहारी पशुपक्षी निकट ही फिरते रहते थे, ये हाथी व घोडो के मास की लालसा से वार-वार वहाँ आते थे। कक चिल्लाते हुए मनुष्यो के वीच से निकलकर दक्षिण की ओर जाते थे। प्रात. व सायकाल का सूर्य वादलो मे घिरा दिखाई देता है। सूर्योदयास्पर्शिनी क्षयतिथि युक्त नक्षत्र मे वुरे ग्रहो का अवस्थान देखकर भय से रोगटे खडे हो जाते थे। कार्त्तिकी पूर्णमासी को भी रक्तवर्ण आकाश मे प्रभाहीन, अलक्ष्य, अग्निवर्ण चन्द्र की आभा दिखाई देती थी। रोज रात को आपस मे लडते हुए सूअर व विल्लियो की आवाज दूर दूर तक सुनाई देती थी। देवप्रतिमा कभी कॉपती थी, कभी हँसती थी, कभी रक्त वमन करती थी तो कभी अपने आप जमीन पर गिर जाती थी। विना वजाये भी दुन्दुभि अपने आप वजने लगती थी। विना अश्वो के रथ अपने आप चलने लगते थे। कोकिल, मयूर, नीलकठ, भास, शुक, सारस आदि शुभसूचक पक्षियो का चीत्कार भी अशुभ की सूचना देता था। अरुणोदय के समय सैकडो कृष्णवर्णी शलभ अश्वो की पीठ पर मँडराते रहते थे। प्रात व साय सधिकाल के समय दिग्दाह होने लगता था। वादल धूल व मॉस की वर्षा करते थे। अरुंधती तारा वशिष्ठ के आगे चलने लगा था। रोहिणी नक्षत्र को वुरे ग्रह कष्ट पहुँचा रहे थे। चन्द्र का दाग दिखाई नही देता था। आकाश साफ रहता था, किन्तु

---

१. प्राजापत्यं हि नक्षत्रं ग्रहस्तीक्ष्णो महाद्युति.। इत्यादि।

उद्योग १४३।८-४५

मेघो का भीषण गर्जन सुनाई पडता था। पशु वाहनो की आँखो से अनवरत अश्रु गिरते रहते थे।[1]

आगे के अध्याय मे व्यासदेव ने और भी वहुत से बुरे लक्षणो का उल्लेख किया है, उसमे भी भौम, दिव्य व आतरिक्ष उत्पातो का वर्णन है। यथा गाय का गर्दभ शिशु जनना, असमय मे वृक्षो पर फल-फूल आ जाना, राजमहिषियो का भयानक आकृति सन्तान प्रसव करना। मॉसभक्षी पशु एव पक्षियो का एक साथ मिलकर एक ही स्थान पर आहार करना। तीन सीग, चार नेत्र, पाँच पैर, दो शिश्न, दो सिर एव दो पूँछ वाले भयकर दष्ट्रिको का अपने चीत्कार से दिग्मडल को प्रकम्पित कर देना। ब्रह्मवादियो की पत्नियो का पक्षी प्रसव करना। अश्विनी का वछडा, कुतिया का श्रृगाल, ऊँटनी का कुक्कुट एव शुक का अशुभ पक्षी को जन्म देना। किसी-किसी स्त्री का एक साथ चार-पाँच कन्याओ को जन्म देना और जनमते ही उन कन्याओ का हास्य, गीत व नृत्य से सव को आश्चर्यचकित करना। चडालो से उत्पन्न काने, कुब्जे शिशुओ का अपने हास्य, गीत, नृत्य से भय का उद्रेक करना। सशस्त्र दण्डपाणि शिशुओ का परस्पर लडना। पद्म, उत्पल, कुमुद आदि पुष्पो का स्थल पर प्रस्फुटित होना। वायु की ताण्डलीला का अनवरत चलना। दावानल का सदा प्रज्वलित रहना आदि।

ग्रहनक्षत्रो की विपर्यस्तता—आगे ग्रहनक्षत्रो के परिवर्त्तन का वर्णन करते हुए महाभारतकार कहते हैं—राहु ने सूर्य को ग्रस लिया है। राहु और केतु एक ही राशि मे आ गये हैं। उपग्रह धूमकेतु पुष्यानक्षत्र मे अवस्थित हो गया है, मघा नक्षत्र मे वक्री मगल तथा श्रवण मे वृहस्पति आ गया है। शनि उत्तर फाल्गुनी मे तथा शुक्र पूर्व भाद्रपद मे जाकर उत्पात मचाते हुए उत्तरभाद्रपद नक्षत्र पर आक्रमण करने की चेष्टा कर रहे हैं। श्वेत उपग्रह अर्थात् धूमकेतु सधूम प्रज्वलित अग्निवत् तेजस्वी ज्येष्ठा नक्षत्र पर आक्रमण करके उसके स्थान पर अवस्थित हो गया है। एक ही नक्षत्र मे अवस्थित सूर्य व चन्द्र राहु द्वारा आक्रान्त हैं। स्वाति नक्षत्रस्थित राहु सर्वतोभद्रचक्र भेदकर रोहिणी नक्षत्र को पीडा पहुँचा रहा है। मघास्थ मगल वार-वार मुडकर वृहस्पति द्वारा आक्रान्त राशि एव शरणानक्षत्र को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है। पृथ्वी शस्यपरिपूर्ण है व भूमि पचशीर्ष यज तथा शतशीर्ष शालि से आच्छादित है। प्रसव के वाद गौओ के स्तनो से क्षीर के वजाय दूध आ रहा है। खड्ग व धनुष का रूप अति उज्ज्वल हो गया है। चारो ओर का वातावरण देखकर लगता है कि लोकनाशकारी युद्ध समुपस्थित है। शस्त्र,

---

१. इह युद्धे महाराज भविष्यति महान् क्षयः। भीष्म २।१६-२३

ध्वज, कवच आदि की अग्निवर्ण, प्रभा देखकर बहुत डर लगता है। प्रतीत होता है, कौरव पाडवो के इस युद्ध मे पृथ्वी पर रक्त की नदी बहने लगेगी। पशु-पक्षी भयानक रूप से क्रन्दन करने लगे हैं। वृहस्पति व शनि अब विशाखासमीपस्थ होकर एक वर्ष तक अवस्थान करेंगे। त्रयोदशी तिथि के दिन ही चन्द्र व सूर्य दोनो राहुग्रसित हो गये हैं। ग्रहादि की स्थिति से तो यही अनुमान होता है कि यह जगत क्षत्रिय शून्य हो जायगा। एक ही चान्द्रमास मे दो बार राहुग्रास का देखा जाना बहुत ही दुर्योग है, इसमे कोई सन्देह नही।

प्रकृति के विपर्यय—आगे व्यासदेव लिखते हैं कि प्रकृति मे भी परिवर्त्तन शुरू हो गये हैं। कैलास, मन्दर, हिमालय आदि पर्वतमालाओ से अनवरत पत्थर टूट-टूटकर गिर रहे हैं। समुद्र का जल भी आगे बढ रहा है। प्रबल आँघी तूफान से वृक्ष उखड रहे हैं। ब्राह्मणो की होम-अग्नि ने नील, लोहित एव पीतवर्ण धारण कर लिया है। अग्नि की जिह्वा बाँयी ओर है तथा आहुति डाले हुए घृत आदि वस्तुओ से दुर्गंध निकलती है। सब वस्तुओ का स्पर्श रस, गघ जैसे बिल्कुल बदल गया है। रथ के ध्वजो से धुँआँ एव भेरी आदि से अगार निकल रहे हैं। कौवे बाँयी दिशा के वृक्षो पर बैठकर उच्च स्वर मे शोर मचाने लगे है।[१]

नाना प्रकार के उत्पात—युद्ध के नवम दिन युद्धगमन के समय भीष्म का भी बहुत से अपशकुनो की ओर ध्यान गया था।[२] दसवें दिन के युद्ध मे आचार्य द्रोण ने भी प्रकृति के उत्पात देखकर अश्वत्थामा से भविष्य के प्रति शका प्रकट की थी।[३] कर्ण की मृत्यु के बाद नदी मे ज्वार, भूकम्प आदि बहुत से प्राकृतिक उत्पातो का वर्णन किया गया है।[४] युद्ध मे विजय मिलने पर युधिष्ठिर राजसिंहासन पर बैठे। पैंतीस वर्ष राज्य करने के बाद छत्तीसवे वर्ष के प्रारम मे उन्हे अनेक दुर्लक्षण दिखाई दिये।[५]

महाभारत मे उपर्युक्त वर्णित दुर्निमित्तो के अलावा ग्रथकार ने और भी कई प्रकार के अपशकुनो का उल्लेख वृष्ण्यघको के आपसी युद्ध का वर्णन करते समय

---

१. खरा गोषु प्रजायन्ते रमन्ते मातृभिः सुताः॥ इत्यादि। भीष्म ३।१-४६
२. पक्षिणश्च महाघोरं व्याहरन्तो विबभ्रमुः। इत्यादि। भीष्म ९९।२२-२८
३. दिक्ष्वशान्तानि घोराणि व्याहरन्ति मृगद्विजाः। इत्यादि। भीष्म ११२। ६-१६ द्रोण ६।२४-३०
४. हते कर्णे सरितो न प्रसस्रुर्जगाम चास्तं कलुषो दिवाकरः। इत्यादि कर्ण ९४।४७-५०
५. बबुर्वाताश्च निर्घाता रूक्षाः शर्करवर्षिणः। इत्यादि। मौषल १।२-७

किया है। जो इस प्रकार है—मूषक निर्भय होकर सडको पर घूमते थे और रात को सोते हुए लोगो के केश, नख आदि उखाडकर ले जाते थे। गृहसारिकाएँ रातदिन ची-ची करती रहती थी। सारस उल्लू की आवाज का अनुकरण करते थे। भैंस बकरी आदि सियार की तरह हुँआ हुँआ चिल्लाती थी। सडको पर प्राय मिट्टी के वर्त्तन पडे दिखाई देते थे। पशुपक्षियो का भिन्नजातीय शावक-प्रसव, अग्नि का वर्णवैचित्र्य, गर्दभो का कृष्ण-शख के निनाद का अनुकरण आदि अगणित दुर्लक्षण उन दिनो दिखाई देते थे। वृष्णि व अन्धकवशी लोगो ने स्वप्न मे देखा एक कृष्ण-वर्णा स्त्री दाँत निपोरते हुए द्वारका मे घूम रही है, अग्निहोत्रकक्ष एव शयनकक्ष मे घुसकर गीध उन लोगो को खा रहे हैं, भीषण आकृति वाले निशाचर अलकार, छत्र, ध्वज एव कवच जबर्दस्ती छीन रहे हैं, श्रीकृष्ण का चक्र सब के देखते-देखते स्वर्गलोक मे अन्तर्हित हो गया, सारथि दारुक देखता ही रह गया और रथ के चारो घोडे कृष्ण का रथ लेकर समुद्र में डूब गये, ताल एव सुवर्णचिह्नित दोनो महाध्वज कृष्ण व बलराम द्वारा पूजित होकर अन्तर्हित हो गये।[1]

शुभ लक्षण, आहुति की सुगध आदि—शुभसूचक लक्षण कौन से है, धृतराष्ट्र के इस प्रश्न के उत्तर मे महर्षि व्यास ने कहा है—"शुभ्रकाति ऊर्ध्वरश्मि अग्नि यदि धूमविहीन होकर दक्षिणावर्त्त मे अपनी शिखा का विस्तार करे, तो उसे शुभ समझना। आहुति की मधुर पवित्र गध भावी जय की सूचक होती है। गभीर-नादी शख एव मृदग यदि गभीर शब्दो मे बज उठे, सूर्य एव चन्द्र की किरणें विशुद्ध हो तो मगलसूचक समझना। बैठे एव उडते हुए कौवे का स्वर यदि शुभसूचक हो, पीछे से कौवा जाने के लिये कहे और आगे का कौआ धीर शब्द करके जाने को मना करे तो मगलसूचक जानना। राजहस, शुक, क्रौंच, शतपत्र आदि पक्षी कल्याणसूचक शब्द करते करते प्रदक्षिणक्रम से विचरण करें तो जय निश्चित होती है। अलकार, ध्वज, कवच आदि की मनोहर काति हाथी, घोडे आदि वाहनो का स्वाभाविक स्वर व हर्ष भी जय के लक्षण हैं। जहाँ वीरो का कठ स्वर दृढ, माल्य अम्लान तथा चाल निर्भय हो वहाँ जय निश्चित रूप से होती है।[2]

अशुभ सूचक वर्णनो की बहुलता—महाभारत मे अशुभसूचक वर्णन ही अधिक पाये जाते हैं, शुभसूचक वर्णन तो कदाचित ही देखने को मिलते हैं।

---

१. उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने। मौषल २।४-१७
कालो स्त्री पांडुरैर्दन्तैः प्रविश्य हसती निशि। इत्यादि। मौषल ३।१-६

२. प्रसन्नभा पावक ऊर्ध्वरश्मिः प्रदक्षिणावर्त्त शिखो विधूमः। भीष्म ३।६५-७४

गणित ज्योतिष के कुछ विशेष ज्ञातव्य विषय—महाभारत मे गणित ज्योतिष के जो उदाहरण मिलते हैं, वे वर्तमान ज्योतिष सिद्धान्त के अनुसार गलत प्रमाणित होते है। वेदाग ज्योतिष मे उनका कुछ प्रयोग पाया जाता है। पाँच साल का एक युग माना जाता था।[१] अगहन मास से वर्ष आरभ होता था, यही वर्ष का पहला मास कहलाता था।[२] श्रवणा नक्षत्र मे उत्तरायण का आरभ होता था।[३] शिशिर को प्रथम ऋतु रूप मे लिया जाता था।[४] चैत्र एव वैशाख वसन्तमास कहे जाते थे।[५] कृत्तिका से, श्रवणा से एव धनिष्ठा से नक्षत्रगणना के उदाहरण भी मिलते हैं।[६] कालभेद से तीन प्रकार की गणना ही उस समय प्रचलित थी। मृगशिरा नक्षत्र की आकृति मृग के शिर के समान बताई है।[७] नक्षत्र के पीछे धनुर्धारी रुद्र के चित्र की कल्पना की गई है।[८] पुनर्वसुनाम मे चन्द्र के दानो ओर दो नक्षत्रो का अवस्थान बताया है।[९] हस्तानक्षत्र को पँच तारो की समष्टि बताया है।[१०] विशाखानाम के भी दो नक्षत्र चन्द्र के दोनो ओर रहते हैं।[११] पक्ष चौदह, सौर दिन, पद्रह दिन एव सोलह दिन का भी माना गया है, तेरह दिन का पक्ष विशेष रूप से दुर्योग का सूचक बताया गया है।[१२] उपर्युक्त गणित ज्योतिष की व्याख्या किसी किसी महापडित ने इस प्रकार की तो है, किन्तु वह सर्वसम्मत नही है। किसी किसी ने तो उद्योगपर्व मे वर्णित गालवोपाख्यान के गालव, ययाति विश्वमित्र, माधवी आदि को भी नक्षत्र रूप मे लिया है।

---

१. पांडुपुत्रा व्यराजन्त पंच संवत्सरा इव। आदि १२४।२२
२. अनु १०९ वाँ व ११० वाँ अध्याय।
३. प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकांर यः। आदि ७१।३४
४. ऋतवः शिशिरादयः। अश्व ४४।२
५. सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे। आदि १२५।२
६. मासाः शुक्लादयः स्मृताः। अश्व ४४।२
७. अनु ६४ वाँ व ८९ वाँ अध्याय। अश्व ४४।२। वन २२९।१०
८. वन २७७।२०। सौप्तिक १८।१४। अश्व ७८।४७
९. चन्द्रस्येव पुनर्वसु। कर्ण ४९।२६
१०. पंचतारेण संयुक्तः सावित्रेणेव चन्द्रमाः। आदि १३५।३०
११. विशाखयोर्मध्यगतः शशी यथा। कर्ण २०।४८
१२. इमान्तु नाभिजानेनऽमावास्या त्रयोदशीम्। भीष्म ३।३२

वेद और पुराण

वेदमूलक शास्त्र—वेद और परलोक मे विश्वास रखने वाले सम्प्रदाय के समस्त शास्त्रो का ही आधार वेद है। वेदो का अवलम्बन लेकर ही पुराण, धर्म-शास्त्र एव दर्शन की रचना हुई है। यदि किसी शास्त्र का किसी बात मे वेद से विरोध हो तो आस्तिक सम्प्रदाय उस शास्त्र को अप्रामाणिक मानता है। सभी शास्त्रकारो ने वेदो की सर्वांगीण प्रामाणिकता एक स्वर से स्वीकार की है।[1]

वेद व वेदाग की नित्यता—वेद व वेदाग नित्य बताये गये हैं। सनातन सम्प्रदायी उनकी रचना किसी व्यक्ति द्वारा नही बल्कि वेद की रचना ब्रह्मा एव वेदाग की रचना बृहस्पति द्वारा मानते हैं। कहा जाता है कि बाद मे इनका प्रचार गुरुपरम्परा द्वारा हुआ।[2]

आर्षशास्त्रो की अवज्ञा से क्षति—कहा है, वेदमूलक आर्ष शास्त्रो की अवज्ञा करके केवल लौकिक बुद्धि से धर्म-अधर्म का निर्णय नही करना चाहिये। वेद एव वेदमूलक मन्वादिशास्त्रो पर अविश्वास करने से मुक्तिलाभ नही होता।[3]

वेदविरोधी शास्त्र, शास्त्र नहीं—वेदमूलक शास्त्रो के अतिरिक्त दूसरे शास्त्रो को ग्रथकार ने 'अशास्त्र' की सज्ञा दी है। कहा है, वेदविरोधी शास्त्र शास्त्र ही नही है। महाभारत मे इसी बात पर जोर दिया गया है कि आस्तिक व्यक्ति को वेद एव वैदिक शास्त्रानुसार ही अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिये।[4]

शास्त्रीय नियम-पालन से श्रेय लाभ—वेदादि शास्त्र मनुष्यहित के निमित्त प्रवर्त्तित हुए हैं। अत शास्त्रीय विधिनिषेधो का भली-भाँति पालन करना

---

१. नास्ति वेदात् पर शास्त्र। अनु १०६।६५

२. वेदविद् वेद भगवान् वेदागानि बृहस्पति। शान्ति २१०।२०

३. आर्ष प्रमाणमुत्क्रम्य धर्म न प्रतिपालयन्।
सर्वशास्त्रातिगो मूढ श जन्मसु न विन्दति।। इत्यादि। वन ३१।२१, ८

४. न प्रवृत्तिर्ऋते शास्त्रात काचिदस्तीति निश्चय.।
यदन्यद्वेदवादेभ्यस्तदशास्त्रमिति श्रुति। शान्ति २६८।५८

स्वय का उपकार करना है। श्रुतिविहित धर्म ही सत्य है, वही एकमात्र प्रामाणिक है।[1]

वेद व आरण्यक में विश्वास—जो व्यक्ति वेदवचन एव आरण्यक शास्त्रो (उपनिषदो) पर विश्वास नही करता वह कभी भी ग्रहण करने योग्य किसी उपदेश का लाभ नही उठा सकता। जिस प्रकार केले के पेड की छाल उतारने से उसके अन्दर कुछ नही मिलता उसी प्रकार वेद-विरोधी शास्त्र मे भी कोई सार नही होता।[2]

शब्द-ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से परब्रह्म की प्राप्ति—वेद को कहा जाता है शब्द ब्रह्म। शब्दब्रह्म मे निष्णात व्यक्ति ही परब्रह्म तत्त्व को समझ सकता है। वेद के समान मनुष्य हितकर शास्त्र दूसरा नही है। जो व्यक्ति श्रद्धासहित वेदो का तात्पर्य समझने का प्रयत्न करता है, वह निश्चित रूप से शाति लाभ करता है।[3]

कर्मकाड व ज्ञानकाड का ऐक्य—कर्मकाड एव ज्ञानकाड के भेद से यद्यपि श्रुति दो प्रकार की मानी जाती है, किंतु कर्मकाण्ड ज्ञानकाड का ही एक अग है। कर्म के विना ज्ञान मार्ग पर मनुष्य अग्रसर नही हो सकता, अतएव वैदिक क्रियाकाडो के उपदेष्टा शास्त्र भी ज्ञानप्राप्ति मे सहायक होने के कारण ज्ञानकाड के विशिष्ट अगस्वरूप माने जाने चाहिये। टीकाकार नीलकठ ने इस विषय पर विस्तृत रूप से लिखा है।[4]

महाभारत की सर्वशास्त्रमयता—महाभारत एक ऐसा ग्रथ है जिसमे काव्य, पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र व वेद सबका समावेश है। महाभारत को

---

१. धर्मशास्त्राणि वेदाश्च षडगानि नराधिप।
श्रेयसोऽर्थे विधीयन्ते नरस्याक्लिष्टकर्मणः। इत्यादि। शाति २९७। ४०, ३३

२. वेदवादान्यतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सार ददृशिरे न ते॥ शाति १९।१७

३. वेदा. प्रमाण लोकाना न वेदा. पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ इत्यादि। शांति २६९।१,२

४. नास्तिक्यमन्यथा च स्याद् वेदानां पृष्ठतः क्रिया।
एतस्यानंतमिच्छामि भगवन् श्रोतुमञ्जसा॥ इत्यादि। शांति २६८। ६७, ६८

कर्मज्ञानकाण्डयोः पार्यगत्ये वेदस्यैकस्मिन्नर्थे पर्यवसानाभावाद्वाक्यभेदः स्यात्। इत्यादि नीलकण्ठ। शान्ति २६८।६७

पचम वेद कहा गया है। यह बहुत से पौराणिक तथ्यो तथा वशगत चरित्रो आदि के वर्णनो से समृद्ध है।[1]

इतिहास व पुराण की उपयोगिता—जो वेदपाठ के अधिकरी नही हैं अथवा जो वेद पढकर उसका यथायथ अर्थ समझ नही पाते उनके लिये ऋषियो ने पुराणो की रचना की है। पुराणो मे उपाख्यानो के माध्यम से वैदिक तत्त्व को समझाया गया है। इतिहास व पुराण दोनो ही वेद का तत्त्व सरल रूप मे प्रकट करते हैं।[2]

पुराणवक्ता ऋषियो की सर्वज्ञता—द्रौपदी-युधिष्ठिर-सवाद मे कहा गया है कि सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी ऋषि ही पुराणो के वक्ता थे। उनके उपदेशो पर अविश्वास करना असगत है। जो व्यक्ति आर्ष की प्रामाणिकता को नही मानता एव धर्माधर्म का निर्णय करने मे शास्त्र-वचनो की अवहेलना करता है, वह जीवन मे कभी सुख का अधिकारी नही होता।[3]

रामायण व वायुपुराण की प्राचीनता—मार्कण्डेयसमास्या पर्व मे वायुपुराण का नाम आया है। दूसरे किसी पुराण का नाम महाभारत मे कही नही मिलता। रामायण की चर्चा अवश्य कई जगह हुई है।[4]

चरित्रचित्रण मे गार्ग्य—देव, ऋषियो आदि के जीवन-चरित्रो मे गार्ग्य मुनि को असाधारण पडित बताया है।[5]

पुराण का आदर व प्रचार—सर्वसाधारण लोगो मे पौराणिक तत्त्व के प्रचार की उपयोगिता उस काल के ऋषि भली भाँति समझते थे। इसी कारण प्रचार के पुण्यफल महाभारत मे जगह-जगह कीर्त्तित हुए हैं। कथा के माध्यम से धर्म का सार लोग आसानी से समझ लेते थे। पडित हो या मूर्ख प्रत्येक व्यक्ति आख्यायिका से कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करता था। दार्शनिक तर्कों द्वारा किसी

---

१. कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते। आदि १।२६८
अर्थशास्त्रमिद प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्। इत्यादि। आदि २।३८-३३८५

२. इतिहासपुराणाभ्या वेदं समुपबृहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुत.द्वेदो मामय प्रहरिष्यति॥ आदि १।२६७
पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुति ज्योत्स्ना प्रकाशिता.। आदि १।८६

३ पुराणमृषिभि. प्रोक्त सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः। वन ३१।२३
सर्वशास्त्रातिगो मूढ· श जन्मसु न विन्दति। वन ३१।२१

४. एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं मया।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषीसस्तुतम्॥ वन १९१।१६

५. देवर्षिचरित गार्ग्यः। शान्ति २१०।२१

बात के तत्त्व को समझने मे ज्ञान की आवश्यकता होती है, किंतु पौराणिक आख्यान सुनकर उसका मर्म समझने के लिये किसी प्रकार के पाडित्य की आवश्यकता नही पडती। यही कारण है कि कृत्तिवास एव तुलसीदास की रामायण तथा काशीदास के महाभारत का आदर घर-घर होता है।[1]

१. इदं नरः सुचरितं समवायेषु कीर्त्तयन्।
सर्वभागी च भवति न च दुर्गाण्यवाप्नुते। इत्यादि। अनु ९३।१४८

दार्शनिक मतवाद

महाभारत मे श्रीमद्भागवद्गीता, सनत्सुजातीय एव शातिपर्व का मोक्षधर्म दार्शनिक आलोचनाओ से परिपूर्ण है। सभी दर्शनो के कई सिद्धान्त एक समान हैं, इस विषय मे सव दर्शनशास्त्री एकमत हैं। प्रत्येक दर्शन की विशिष्ट वातो पर हम आगे प्रकाश डालेंगे, यहाँ पहले सब दर्शनो के समान सिद्धान्तो को उद्धृत कर रहे हैं।

जन्म व मृत्यु—ससार की सब घटनाओ मे जन्म व मृत्यु सर्वापेक्षा सत्य है। जो जन्म लेगा, उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी। प्राणियो का जीवन अनित्य है, कब किस क्षण मृत्यु आकर उपस्थित हो जाय यह कोई नही वता सकता।[1]

ससार एक अरण्य—जीवन की अनित्यता पर महामति विदुर ने एक अद्‌भुत रूपक की कल्पना की है, जो इस प्रकार है—एक पथिक रास्ता भूलकर बाघ, भालू, सर्प आदि हिंस्र जन्तुओ से परिपूर्ण किसी भीषण अरण्य मे जा पहुँचा और उस अरण्य को देखकर भयविह्वल हो गया। वन मे प्रवेश करते ही उसने पाया कि वह अरण्य अच्छेद्य जाल से घिरा हुआ है। कुछ काल उपरात एक भयानक आकृति की स्त्री दोनो हाथो से मार्ग वनाती हुई उस वन मे आई। चारो ओर के वातावरण से डरकर भागता हुआ वह पथिक तृणलताओ से आच्छादित एक कूप मे गिरकर झाडझखाड मे अटक गया। उसके पाँव ऊपर एव सिर नीचे झूलने लगा। कूप मे नीचे एक भीषण सर्प फुकार रहा था। कूप के ऊपर तृणलता आदि के पास वारह पाँव छह मुखवाला एक श्वेत व श्यामवर्ण का हाथी दिखाई दिया जो धीरे धीरे उसकी ओर बढ रहा था। वही कूप मे जिस वृक्ष से वह लटका हुआ था उसकी एक शाखा पर मधुमक्खियो का छत्ता लगा था, जिससे एक-एक बूद मधु टपक रहा था। वह पथिक सब कुछ भूलकर मुँह खोलकर मधु भक्षण करने लगा। उधर कुछ मूषक उस वृक्ष की जडो को काट रहे थे, लेकिन वह पथिक तो शहद खाने मे इतना तल्लीन ो गया कि चारो ओर के सकटो को अनदेखा कर गया। इस ससाररूपी अरण्य

---

१. जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु:। इत्यादि। भीष्म २६।२७, २८। स्त्री ३।६। शांति २७।३१। अश्व ४४।२०

मे हम सब उसी पथिक जैसे है, हमारी अवस्था भी विल्कुल उसके अनुरूप है। वर्णित अरण्य है ससार। हिस्र जन्तु व्याधियाँ है, भयाकृति नारी जरा का स्वरूप है, कूप मनष्य का शरीर है, कूपस्थित सर्प साक्षात् काल है। लतागुल्म आदि मनुष्य के वचने की आशाएँ हैं। षट्मुख हाथी वर्ष है और चूहे रात व दिन हैं। छत्ते की मधुमक्खियाँ मनुष्य की वासनाएँ हैं और बूंद बूंद टपकता मधु कामरस-मनुष्य इस रस के क्षणिक आनन्द के लोभ मे वडी से वडी विपत्ति को भूल जाता है। विवेकवान व्यक्ति इस ससारचक्र मे फँसे रहना नही चाहते, विवेक जाग्रत होने पर जीवन की अनित्यता का बोध होते ही वे मधु का लोभ छोडकर मुक्ति के लिये व्याकुल हो उठते है।[१]

आसक्ति का त्याग—रूप, यौवन, धन-सम्पत्ति, जीवन प्रियजन सब कुछ अनित्य है, अत ससार मे अत्यन्त आसक्त होना बुद्धिमान व्यक्ति को शोभा नही देता। वालक, वृद्ध, युवक, प्रत्येक की मृत्यु निश्चित है, इस लिये उसके लिये प्रस्तुत रहना ही बुद्धिमानी है। स्त्री, पुत्र, बधु, वावव आदि सभी से एक दिन तो बिछुडना ही है। समुद्र मे तरगो के सघर्ष से जिस प्रकार दो काष्ठखड मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ससार सागर मे सगे-सवधी बिछुड जाते है।[२] ससार की अनित्यता, विपयवासनाओ की कभी पूरी न की जा सकने वाली निरतर वृद्धि-शीलता, धन सम्पत्ति की तुच्छता आदि वैराग्य दिलाने वाले वर्णनो से महाभारत के आध्यात्मिक अध्याय भरपूर हैं।

भोग्यवस्तुओ की अनित्यता—भोग्य वस्तुओ के उपभोग से विपय-वासनाएँ कम नही होती वरन प्रज्वलित अग्नि मे घृताहुति की तरह वढती जाती हैं। ससार की समस्त भोग्य वस्तुएँ एक व्यक्ति को उपभोग के लिये दे दी जायँ तो भी उसकी तृष्णाएँ कम नही होगी, अत यथासभव भोगासक्ति का परित्याग करके चलने से ही ससार मे सुख-शाति की प्राप्ति हो सकती है।[३] सुविख्यात पिंगला के उपाख्यान

---

१. स्त्री ५ वाँ व ६ वाँ अध्याय।

२ स्त्री दूसरा-तीसरा अध्याय

पथिसंगतमेवेदं दारैरन्यैश्च बंधुभिः।
नायमन्त्यन्तसंवासो लब्धापूर्वो हि केनचित्॥ शांति ३१९।१०।

शाति २८।३६-३९

३. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ इत्यादि।

आदि ७५।५०, ५१

मे बताया गया है कि विषयवासनाओ के त्याग से कितना अपरिसीम सुख मिलता है।[1] मोक्षधर्म के कई अध्यायो मे वैषयिक स्पृहा के त्याग व उसके फल का गुणगान किया है। कामना की पूर्ति से मिलने वाले सुख की अपेक्षा कामना के त्याग से मिलने वाला सुख कही अधिक होता है।[2]

राजर्षि जनक की निर्लिप्तता—ससार धर्म का पालन करते हुए भी साधना के बल से मनुष्य ससार के प्रति निर्लिप्त रहकर कार्य कर सकता है। राजर्षि जनक निष्काम कर्मयोगियो मे अग्रगण्य थे। उन्होने एक जगह कहा है, "मेरा कुछ भी नही है, इसी कारण मै अतुल ऐश्वर्य का स्वामी हूँ। यह मिथिलानगरी यदि भस्म भी हो जाय तो मेरी कोई क्षति नही होगी।"[3]

सर्वप्रथम चित्तशुद्धि का प्रयोजन—केवल त्याग से ही मुक्तिपथ मिल जाता हो, ऐसी बात नही। सबसे अधिक आवश्यकता तो मन का निर्मल होना है। मन ही मनुष्य के सुख-दुख का कारण है। मन शुद्ध हो तो विपुल ऐश्वर्य मे रहकर भी मनुष्य निर्लिप्त रह सकता है और यदि मन शुद्ध न हो तो आचार-अनुष्ठान, तीर्थ, जप-तप आदि सब कुछ ढोग बन जाता है। मन ही मनुष्य की यज्ञभूमि है। मन को स्थिर व प्रसन्न कर पाने से सब साधनाएँ आसान हो जाती हैं। मन पवित्र हो तो हर नदी सरस्वती है और प्रस्तरखड देव प्रतिमा।[4] अगाध विमल सत्यस्वरूप

कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते।
अथैनमपरः कामतृष्णा विध्यति बाणवत्॥ इत्यादि। अनु ९३।४७।
उद्योग ३९।८५

१. सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिंगला॥ शान्ति १७४।६२

२. शाति १७६ वें से १७८ वें अध्याय तक।
यच्च कामसुख लोके यच्च दिव्य महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत. षोडशीं कलाम्॥ शाति १७४।४६।
शाति १७७।५१

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्। इत्यादि। शाति ३३०।
२१। वन २।३५।४६

३. अनन्तं बत मे वित्त यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्ताया न मे दह्यति किञ्चन॥ शाति १७।१९
शाति २७५।४

४ आकिञ्चन्ये न मोक्षोऽस्ति किञ्चन्ये नास्ति बन्धनम्। शाति ३२०।५०

जल से परिपूर्ण घृति स्वरूप हृदय मे स्नान करके पवित्रता प्राप्त करनी पडती है। निर्मल मानस तीर्थ मे स्नान करने पर मनुष्य के लिये कुछ भी अप्राप्य नही रह जाता। त्यागी, सत्वगुणविशिष्ट समदर्शी व्यक्ति के लिए ससार की हर वस्तु पवित्र होती है और हर स्थान तीर्थ।[1]

सुख व दुख—एक ही वस्तु किसी के लिये सुख का कारण होती है तो किसी के लिये दुख का। विशेषत सुख-दुख की अनुभूति भी सर्वत्र एक समान नही होती। समान अवस्था के व्यक्तियो मे भी कोई सुखी दिखाई देता है तो कोई दुखी। इससे ज्ञात होता है कि व्यक्तिभेद से सुख-दुख की अनुभूति विभिन्न प्रकार की है। ससार मे कोई भी व्यक्ति अपनी-अपनी अवस्था मे सुख-दुख की अनुभूति को सीमाबद्ध नही कर सकता; लेकिन यह भी सत्य है कि अपनी-अपनी अवस्था के साथ सामञ्जस्य बनाये रखने की क्षमता प्रत्येक प्राणी मे है। इसीलिये सुख एव दुख केवल अनुभूति पर निर्भर होता है और इनकी अनुभूति भी विचित्र होती है।[2]

सुख-दुख नित्यपरिवर्त्तनशील—कोई भी प्राणी केवल सुख या केवल दुख का भोग नही करता। सुख एव दुख चक्रवत् परिवर्तनशील है, एक के बाद दूसरा उपस्थित होता है। सुख मे अत्यन्त हर्ष एव दुख मे अति विमूढता—इन दोनो मे कोई भी अच्छी नही। दुख को सहन करने की अपेक्षा शान्त सहज भाव से सुख का वरण करना कठिन है।[3]

अर्थ-लोभ त्याग—धन सम्पत्ति, घर, जमीन आदि के साथ मनुष्य का जो स्वामित्व सबध होता है, वास्तव मे वह कल्पित है। लौकिक निर्वाह की दृष्टि से

सर्वाः नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः।
जाजले तीर्थमात्मैव मास्म देशातिथिर्भव॥ शांति २६२।४०

१. अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम्॥ इत्यादि। अनु १०८।३-९

२. सर्वत्र निरतो जीव इतश्चापि सुखं मम। इत्यादि। अनु ११७।१७, १८
यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते। शान्ति २९५।२७

३. अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी।
सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम्। इत्यादि। अश्व ४४।१८। वन २६०।४५
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्। भीष्म २९।२०
आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशित्वमचापलम्। इत्यादि। वन २१२। ३५, ३६। अश्व ३२ वाँ अध्याय।

देखा जाय तो इस संपन्नता को झुठलाने की क्षमता किसी मे भी नही है, गृहस्थ की प्रतिदिन की जीवनयात्रा मे अर्थ का स्थान सवसे ऊपर है। किंतु ससार की नश्वरता की दृष्टि से देखे तो पता चलता है कि ससार से विदा होते हुए मनुष्य को बिलकुल रिक्त हाथ जाना पडता है। मर्त्यलोक के सब उपकरण केवल लौकिक आवश्यकतो के निमित्त सगृहीत किये जाते हैं। यह वस्तु मेरी है—इस प्रकार का स्वामित्वज्ञान भी निराधार होता है। उपनिषदो की 'मा गृध कस्य स्विद्धनम्'—इस उक्ति को उद्धृत करके महाभारतकार ने कहा है, 'सर्वे लाभाः साभिमाना' वास्तविक रूप मे धन के साथ किसी का कोई सबध नही होता। प्रयोजन के अतिरिक्त-धन की कोई उपयोगिता नही है, उस धन से केवल लोभ की वृद्धि होती है। जो व्यक्ति गाय का दूध पीता है, वही गाय का मालिक है, इस प्रकार का मत ग्रथकार ने प्रकट किया है। तात्पर्य यह है कि प्रयोजनीय धन की अपेक्षा अधिक लाभ के निमित्त वृथा समय नष्ट करना तथा कठिनाइयाँ उठाना सगत नही है।[1] आत्मतत्त्वजिज्ञासु व्यक्ति को धन के प्रलोभन से दूर ही रहना चाहिये। राज्य की अपेक्षा दारिद्रय ऐश्वर्य अधिक होता है। धनी व्यक्ति सदा धन की वृद्धि एव उसकी रक्षा करने मे व्यस्त रहता है, उसकी परेशानियाँ कम नही होती। धनी व्यक्ति सर्वदा राजा, अग्नि, चोर, दस्यु, जल आदि से आतकित रहता है, जबकि दरिद्र बिल्कुल निश्चित होकर आत्मोन्नति की चेष्टा कर सकता है। धर्मकृत्यो के लिये धन की आवश्यकता नही होती। मुक्तिकाम व्यक्ति की लौकिक सचय-वृद्धि अनिष्टकारिणी होती है। ऐसा कोई सचयी व्यक्ति नही होता जो पूर्ण शाति से कालयापन कर सके। अतएव प्रक्षालन करने की अपेक्षा पक का स्पर्श न करना ही उत्तम है।[2]

स्नेह या अनुराग का त्याग—समस्त मानसिक अशातियो का मूल स्नेह

---

१. सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः। इत्यादि। शान्ति १८०।१०। शाति १७४।४४। शाति २७५ वाँ अध्याय।
धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः॥ शान्ति १७४।३२

२. आकिञ्चन्यञ्च राज्यञ्च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम्॥ इत्यादि।
शाति १७६।१०-१३

न हि संचयवान् कश्चिद्दृश्यते निरुपद्रवः॥ इत्यादि।
वन२।४८, ४९, ३९-४५

या अनुराग होता है। आत्मचिन्तन तथा ज्ञान के द्वारा मन को स्थिर करना चाहिये। दुख, भय, हर्ष, शोक आदि सब स्नेह या अनुराग से उत्पन्न होते हैं। विषयानुराग मुक्तिकामी के लिये उत्कट व्याधिस्वरूप होता है। इसका उपशम न होने पर मनुष्य बार-बार विविध विषयो की ओर आकृष्ट होकर नाना दुख भोगता है भोग्यवस्तुएँ न रहने से ही कोई त्यागी नही बन जाता, बल्कि भोग्य विषयो के रहते हुए भी जो व्यक्ति उनकी उपादेयता के विषय मे न सोचकर हेयत्व को समझने का अभ्यस्त होता है, वही प्रकृत त्यागी होता है। गृहस्थ के लिये पूर्ण-अनासक्ति असभव है। अत विषयवैराग्य से यह अर्थ लेना चाहिये कि प्रयोजन के अतिरिक्त भोग्य वस्तुओ के प्रति अनासक्ति या उदासीनता ही वैराग्य है। रम्य वस्तु के श्रवण, दर्शन या मनन से चित्त प्रफुल्ल होता है, इसके बाद मन मे उस वस्तु के उपभोग की कामना जाग्रत होती है और एक बार कामना की उत्पत्ति होने पर विषयवासनाओ की क्रमश वृद्धि होती जाती है। इसलिये पहले से ही अतिस्पृहा को सयत करके रखना चाहिये।[1]

कामना का स्वरूप—माल्य-चन्दन आदि के स्पर्श या अर्थ आदि के लोभ से जिस प्रीति का जन्म होता है उसी प्रीति से कामना का उद्भव होता है। काम चित्त का संकल्पस्वरूप है। वह अशरीरी है, किंतु उसकी क्षमता असीम है।[2] द्रव्य-अर्थसयोगजनित प्रीति को किसी भी दर्शन मे कामना रूप मे नही माना है। सकल्प या इच्छा कामना का ही दूसरा नाम है—यही न्याय आदि दर्शनो का सिद्धात है।

जीवलोक स्वार्थ के अधीन—ससार मे मनुष्यो का पारस्परिक प्रीतिभाव भी बिल्कुल स्वार्थशून्य नही है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रीति के निमित्त दूसरे से स्नेह करता है। अच्छी तरह देखने पर पता चलेगा कि सभी अपने उद्देश्य-साधन के लिये दूसरे को सन्तुष्ट रखते हैं। वृहदारण्यक की 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति' यह श्रुति उक्त मतवाद का मूल है।[3]

सत्यनिष्ठा आदि साधारणगुण—सत्यनिष्ठा, आचार-पालन, क्रोधादि-सयम प्रभृति गुणो के अभाव मे मनुष्य आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर नही

---

१. स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा। इत्यादि। वन २।२९-३४

२. द्रव्यार्थस्पर्शसयोगे या प्रीतिरुपजायते।
स कामश्चित्तसंकल्पः शरीरं नास्य दृश्यते॥ वन ३३।३०

३. अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः। इत्यादि। शांति १३८।१५२, १५३

हो सकता। श्रद्धा एव सत्यनिष्ठा ही समस्त शुभकार्यो का मूल है। मन को स्थिर करने के लिये गुरुप्रदर्शित पथ का अनुसरण करना चाहिये। यद्यपि अधिकारी भेद से उस पथ के अलग-अलग रूप हैं, किंतु उल्लिखित सद्वृत्तियो को सभी के लिये साधारण गुण कहा जा सकता है।[1]

प्रकृत शाति—दूसरे को सुखी मानकर उसके समान सुख प्राप्ति के निमित्त व्याकुल नही होना चाहिए। अनागत लाभ की चिन्ता मे वर्त्तमान की उपेक्षा करना अनुचित है। विपुल अर्थ के लाभ से अति हर्षित या प्रभूत क्षति से अत्यन्त दुखी होना सगत नही है। ये दोनो ही चित्त की स्थिरता के प्रतिकूल हैं। शम, दम आदि स्वरूप शील ही मनुष्य को प्रकृत शाति का पथ दिखा सकता है। विद्या, विभव, बाधव आदि कभी भी शाति देने मे समर्थ नही हो सकते।[2]

चित्त की स्थिरता-साधन—शातिपर्व के 'श्रेयोवाचिक' अध्याय मे मन को स्थिर करने के बहुत से उपाय बताये गये हैं। कहा है, वैदिकशास्त्रो पर अकाट्य श्रद्धा, सर्वभूत पर दया, दुष्कर्मो से निवृत्ति, सत्सग, सरल व्यवहार, प्राणिहितकर वचन, अहकारत्याग, प्रमादनिग्रह, सन्तोष, वेद-वेदातो का अध्ययन, मिताहार ज्ञानजिज्ञासा, परनिन्दा-परित्याग, रात्रि जागरण-त्याग, दिवानिद्रा-त्याग, निष्काम कर्मव्यस्तता, वाक्सयम (किसी के कुछ पूछे विना स्वत प्रवृत्त होकर कोई बात नही कहनी चाहिये। वृथा विवाद, बेकार के प्रश्नो के उत्तर देना आदि सर्वथा वर्जनीय है।), धर्मपरायण व्यक्तियो का सान्निध्य, वर्णाश्रम धर्म का अनुसरण, कुदेश त्याग, असत्सग वर्जन आदि उपायो द्वारा मन को स्थिर किया जा सकता है। समस्त प्राणियो के प्रति सदय व्यवहार चित्तशुद्धि का सर्वोत्तम उपाय है। सर्वभूत मे परमात्मा का अवस्थान समझ कर कभी किसी की अवज्ञा नही करनी चाहिए। इसी प्रकार मन को बडा बनाकर उसकी मलिनता को दूर करना चाहिये।[3]

---

१. कामलोभग्रहाकीर्णां पञ्चेन्द्रियजला नदीम्।
नाव धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर॥ इत्यादि।
वन २०९।७२, ६३-७०

२. समाहितो न स्पृहयेत् परेषा नानागतं चाभिनन्देच्च लाभम्॥ इत्यादि।
वन २८६।१४, १५

३. शान्ति २८७ वाँ अध्याय।
निर्गुण. परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते।
तमह ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लंघये॥ वन १४७।८

सन्तोष—सन्तोष सब सुखो का मूल है। किसी भी अवस्था मे रहते हुए मनुष्य यदि उस अवस्था को अपने अनुकूल मान ले तो बहुत से दु खो से छुटकारा मिल जाता है। जिस व्यक्ति को थोडे से ही सन्तोष हो जाता है वह स्वल्पतुष्ट व्यक्ति किसी भी बात से दुखी नही होता। तृप्ति ही मनुष्य को आनन्द मार्ग पर लाती है। जो व्यक्ति पर्यंकशय्या एव भूमिशय्या को एक समान समझता है, सौभाग्य उसके चरणो पर पडा रहता है। इसी प्रकार स्वल्प-सतुष्ट व्यक्ति अन्न-वस्त्र के लिये कभी परेशान नही होता। प्रयत्न करने से जो भोग्य सामग्री प्राप्त हो उसी से निर्वाह कर लेना सबसे श्रेष्ठ साधना है। गृहस्थजीवन मे भी अतिस्पृहा जीवनयात्रा पथ का सबसे बडा रोडा है।[1]

अहिंसा—अहिंसा से चित्तवृत्ति उन्नत होती है, हिंसा मनुष्य के मन को संकुचित बना देती है। ससार मे रहते हुए जीवनरक्षा के निमित्त प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य होकर थोडी बहुत हिंसा करनी ही पडती है। यागयज्ञ के लिये जो हिंसाएँ शास्त्रविहित हैं, कर्मकाड के अनुष्ठाताओ को वे करनी ही पडती है। महाभारत-कार का कहना है कि वैध हिंसा मे पाप नही होता। पूर्णरूप से हिंसा का वर्जन एक तरह से योग के अन्तर्गत आ जाता है। मोक्ष के अभिलाषी मानव को चित्त की पूर्ण शुद्धि के निमित्त हिंसा का त्याग करके सब प्राणियो को मित्रवत् समझना चाहिये। अहिंसा सब धर्मों मे श्रेष्ठ है। हिंसावृत्ति जैसा नीचकर्म और दूसरा नही है। एक शब्द मे यदि धर्म का सार बताना हो तो उसके लिये केवल 'अहिंसा' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। देव, ऋषि, व ब्राह्मणो ने बार-बार अहिंसा की प्रशसा की है। हिंसा को चार भागो मे विभक्त किया गया है—मनोज, वाक्यज, कर्मज और भक्षणज हिंसा। जो व्यक्ति इन चारो प्रकार की हिंसाओ से विरक्त हो, वही वास्तविक रूप से अहिंसा का उपासक है। इस मत के अनुसार जो व्यक्ति भक्ष्य रूप मे भी पशु-पक्षियो का हनन जीवन रक्षा के निमित्त जितना आवश्यक हो, उससे अधिक नही करता, वह भी अहिंसक है। जिस कार्य से दूसरे का अनिष्ट हो, वही हिंसा है। बल्कि आत्मरक्षा के निमित्त जो हिंसा आवश्यक है, उसे न करना पाप के अन्तर्गत आ जाता है। आत्मरक्षा मनुष्य का पहला धर्म है। इसी कारण शास्त्रकार आततायी के वध का समर्थन करते है। जिन महापुरुषो का चरित्रगुण अहिंसा है, उन्ही को तपस्वी कहा जाता है। अहिंसा की अपेक्षा श्रेष्ठ दूसरी तपस्या नही है। अहिंसा

---

१. पर्यंकशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः।
शालयश्च कदन्नञ्च यस्य स्यान्मुक्त एव सः ।। इत्यादि।
शांति २८८।३२, ३४, ३५

परम धर्म है, श्रेष्ठ दम है, उत्कृष्ट दान है एव परम यज्ञ है। अहिंसा जैसा सच्चा मित्र मनुष्य का दूसरा नही होता। अहिंसा परम सत्य है, सर्वशास्त्रो का सार है। यज्ञ तीर्थ, दान आदि मनुष्य की चित्तशुद्धि के लिये जितने उपयोगी हैं, अहिंसा उनसे अधिक ही है, कम नही। अहिंसक व्यक्ति सर्वभूत का मातृपितृ स्थानीय होता है। अहिंसक व्यक्ति अखिल विश्व का विश्वासपात्र होता है, उसका कोई भी कुछ नही बिगाड सकता।[1] अहिंसा पालन द्वारा मनुष्य दीर्घायु होता है। जिसका चरित्र हिंसा से कलुषित होता है, वह किसी का भी विश्वासभाजन नही होता एव सुखी व दीर्घजीवन बिताना उसके भाग्य मे नही होता।[2]

जीवसेवा—सेवा द्वारा मन की पवित्रता मे वृद्धि होती है। भगवान् समस्त प्राणियो मे विराजमान है। श्रद्धा सहित किसी प्राणी की सेवा करना ही भगवान् की उपासना है। मन-वचन काय से प्राणिसेवा की जाय तो सर्वव्यापक भगवान् विष्णु उस सेवा से सतुष्ट होते हैं।[3]

तपस्या और विशुद्ध कर्म—मन को स्थिर करने का श्रेष्ठ साधन तपस्या है। हित एव मित आहार-विहार आदि द्वारा शरीर को नीरोग रखना चाहिये। शरीर की उपेक्षा करके तपस्या नही की जा सकती। कभी कभी का उपवास स्वास्थ्य के लिये लाभदायक होता है, इसलिये उपवास को भी श्रेष्ठ तपस्या माना गया है।[4] विशुद्ध कर्म द्वारा जीविकानिर्वाह करना, किसी का अनिष्ट न सोचना आदि भी तपस्या के अग है। प्रत्येक व्यक्ति सत्य, प्रिय व हित वचन रूप वाङ्मय तपस्या करने

---

१. न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेद जीवितमासाद्य वैर कुर्वीत केनचित्॥ इत्यादि। वन २१२।३४, ३०
चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभि॰।
एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन॥ इत्यादि। अनु ११४।४-१०, २
अनु ११३ वाँ तथा ११६ वाँ अध्याय।

२ अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः॥ अनु १६३।१२
पापेन कर्मणा देवि बद्धो हिंसारतिर्नव॰।
अप्रियः सर्वभूताना हीनायुरुपजायते॥ अनु १४४।५४, ५२

३. ये यजन्ति पितॄन् देवान् गुरूश्चैवातिथींस्तथा।
गाश्चैव द्विजमुख्याश्च पृथिवीं मातर तथा॥ इत्यादि।
शाति ३४५।२६-२८

४. तपो नानशनात् परम्। इत्यादि। अनु १०६।६५। अनु १०७ वाँ अध्याय उद्योग ४३।२०। वन १९९।१००

का अधिकारी है। मनस्तुष्टि, सौम्यता, स्थिरता, जितेन्द्रियता, भावशुद्धि आदि को मानस तपस्या बताया गया है। चरित्र मे उत्तम आदर्शों को उभारने के लिये तपस्या आवश्यक होती है। गृहस्थाश्रम छोडकर वन मे चले जाना ही तपस्या नही कहलाता। कर्म के माध्यम से ही मनुष्य की तपस्या सत्य व सार्थक होती है। ससार की समस्त वस्तुएँ तपस्या द्वारा प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार इह-लोक मे तपस्या के बिना कोई महत् कार्य सम्पन्न नही होता उसी प्रकार परलोक के लिये तपस्या पाथेय स्वरूप है। जो व्यक्ति उस परमपुरुष को जानने के लिये एकाग्रचित्त होकर व्रत, योग आदि तपस्याओ मे निरत रहता है, उसी को उस परम ज्योति के दर्शन होते है। तपस्वी व्यक्ति ही शोकरहित व विमुक्त हो सकता है। ईश्वर की इस विराट सत्ता का अनुभव केवल तपस्वी ही कर सकता है। ईश्वर एकमात्र तपोज्ञेय है।[1]

तपस्या का अन्तिम फल मुक्तिलाभ—पारलौकिक शाति के उद्देश्य से मनुष्य स्वभावत तपस्या की ओर आकृष्ट नही होता। बहुत से घात-प्रतिघातो द्वारा वह स्पृहा जाग्रत होती है। राजस व तामस प्रकृति मानव अति आसक्तिवश घर, क्षेत्र, धन, स्त्री, पुत्र आदि मे डूबा रहता है। इन सबकी अनित्यता को न समझकर मनुष्य दिन पर दिन रागद्वेष की वृद्धि करता जाता है। रागद्वेष से मोह एव मोह से रति की उत्पत्ति होती है। तब अज्ञानाच्छन्न मनुष्य ग्राम्यसुख अर्थात् स्त्रीससर्ग को ही आनन्दप्रद समझता है। विषयभोगो से कभी भी वासना या रति का क्षय नही होता। कालान्तर मे स्नेहभाजनो के वियोग, प्रेमी के चिरविच्छेद, धन के नाश आदि कारणो से मोहग्रस्त मनुष्य को भी वैराग्य हो जाता है। वैराग्य से आत्मसबोध, सबोध से शास्त्रदर्शन और शास्त्रदर्शन के बाद तपस्या की इच्छा जाग्रत होती है। विवेकशील तपस्वी व्यक्तियो की सख्या बहुत कम होती है। जितेन्द्रिय, शान्त, दान्त तपस्वी अनायास ही सासारिक बधनो से छुटकारा पा जाता है।[2]

महर्षि व्यास ने युधिष्ठिर से कहा है, "राजन्, तुम शोक से अधीर मत होओ।

---

१. तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत्। इत्यादि। वन ९१।१९।
शान्ति १९।२६

स चेन्निवृत्तबन्धस्तु विशुद्धश्चापि कर्मभिः।
तपोयोगसमारम्भं कुरुते द्विजसत्तम। इत्यादि॥ वन २०८।३८-५३।
वन १८६।२७-३०

२. शान्ति ९५ वाँ अध्याय।

तुम तपस्या द्वारा पुन अपना हारा हुआ राज्य पा सकोगे।"[1] ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जो तपस्या से न प्राप्त की जा सके। दुष्प्राप्य प्रतीत होने वाली वस्तु भी अनायास ही हस्तगत हो जाती है।[2] सश्रद्ध तपस्या द्वारा जो कुछ भी सिद्ध होता है, उसी की शक्ति अपरिसीम होती है। यावतीय भोग्य वस्तुओ का तो कहना क्या, यहाँ तक कि मुक्ति भी तपस्यालभ्य है। भगवान् सनत्कुमार ने धृतराष्ट्र को तपोमाहात्म्य विशद रूप से समझाया था।[3] किसी भी महत् कार्य की सिद्धि के लिये तपस्या प्रयोजनीय है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा भी तपस्या के बल से ही जगत् की सृष्टि करने मे समर्थ हुए थे।[4] तपस्या का माहात्म्य इतना अधिक है कि देवता भी तपस्वी से डरते हैं। तपस्वी की इच्छा का अनादर करने का साहस इस पृथिवी के किसी प्राणी मे नही होता।[5]

विषयासक्ति आध्यात्मिक तपस्या की प्रतिरोधक—आध्यात्मिक उन्नति के उद्देश्य से तपस्या करने के लिये हर प्रकार के पार्थिव बधन से स्वय को मुक्त रखना चाहिये। पत्नी, पुत्र आदि के बन्धन से मुक्त होना अतीव दुष्कर है। वानप्रस्थ आश्रम करते समय भी ससार की माया मनुष्य को आकर्षित करती है।[6]

इन्द्रिय-जय का फल—दम-प्रशसा-प्रकरण मे इन्द्रिय-विजय का बहुत गुणगान किया गया है। कहा है—दान्त व्यक्ति हर अवस्था मे सुखी रहता है। उसकी इच्छा कभी विफल नही होती। यूं तो दान से भी चित्त उदार एव प्रसन्न होता है किन्तु दम की महिमा उससे कही अधिक होती है। दम के प्रभाव से जितेन्द्रिय व्यक्ति असाध्य भी साधन कर सकता है।[7]

कर्म द्वारा मनुष्य का आत्मप्रकाश— मनुष्य के कार्य ही उसके अच्छे

---

१. राज्यात् स्फीतात् परिभ्रष्टस्तपसा तदवाप्स्यसि। वन २६०।४४
२. तपोमूल हि साधनम्। इत्यादि। अश्व ५१।१६-२४
३. तपोमूलमिदं सर्व यन्मा पृच्छसि क्षत्रिय।
तपसा वेदविद्वासः पर त्वमृतमाप्नुयुः॥ उद्योग ४३।१३
४. प्रजापतिः प्रजा. पूर्वमसृत्तपसा विभुः। इत्यादि। शाति २९५।१५-१८
५. स त घोरेन तपसा युक्तं दृष्ट्वा पुरन्दर.।
प्रावेपत सुसन्त्रस्तः शापभीतस्तदा विभो॥ अनु ४१।१८
६. उपरोधो भवेदेवमस्माक तपसः कृते
त्वत्स्नेहपाशबद्धा च हीयेय परात्॥ आश्र ३६।४१
७. दमस्य तु फल राजन् शृणु त्व विस्तरेण मे।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ता. सर्वत्र निर्वृताः। इत्यादि। अनु ७५।११-१७

या बुरे होने के द्योतक होते है। कर्म द्वारा ही मनुष्य अपने गुणो का परिचय देता है।[1]

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ—यथार्थ रूप मे मनुष्य बनने की तपस्या ही सर्वापेक्षा श्रेष्ठ है यह बात महाभारत मे नाना प्रकार से कही गई है। 'मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ और कुछ नही है, यही महत् एव गह्य तत्त्व है।'[2] इस साधना की अनुकूल सद्वृत्तियो को प्रयत्न द्वारा उभारना पडता है, यही तपस्या कहलाती है और यह प्रयत्न भी तपस्या का अग माना जाता है। शम, दम आदि तपस्या के फल है। जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर मुक्तिपथ पर अग्रसर होता है, उसे तपस्वी कहा जाता है। प्रत्येक शुभ प्रयास के मूल मे तपस्या विद्यमान होती है।

आत्मतत्त्व-श्रवण का अधिकारी—शम, दम, विरक्ति, तितिक्षा व समाधान—ये पाँचो जिस व्यक्ति के आधीन नही है, वह आत्मतत्त्व के सबध मे प्रश्न करने का भी अधिकारी नही है। आत्मतत्त्व के जिज्ञासु व्यक्ति को शात, दात होकर गुरु के समक्ष उपस्थित होना चाहिए।[3]

जन्मान्तरीय कर्मों का फल या भाग्य—कर्मफल, अदृष्ट, दैव ये सब शब्द समानार्थक है। महाभारत मे जन्मान्तरवाद एव अदृष्टवाद विस्तृत रूप से आलोचित हुआ है। इन दोनो मे घनिष्ठ सबध है। एक को स्वीकार करने पर दूसरे का अस्तित्व भी मानना पडता है। भारतीय आस्तिक दर्शन ने दोनो को ही माना है। ईश्वर पक्षपाती नही है, सुतराम ससार मे वैषम्य का कारण प्राणियो का अपना अपना भाग्य या जन्मान्तरीय कर्मफलजनित पाप व पुण्य हैं। पूर्वजन्म के सचित कर्मों का फल भोगने के लिये ही प्राणी जन्म लेता है। सृष्टि के आरभ मे वैषम्य का क्या कारण था, इस प्रश्न को टालने के उद्देश्य से जन्मान्तरवादी दार्शनिको को वाध्य होकर सृष्टि का अनादित्व स्वीकार करना पडता है। इसमे कोई सन्देह नही कि जन्मान्तरीय कर्मफल की स्वीकृति मनुष्य को दुख मे सामयिक सान्त्वना प्रदान करती है। देखने मे आता है कि किसी दुखी व्यक्ति को सान्त्वना देते समय उपदेष्टओ ने कर्मफल, दैव, जन्मान्तर, कालमाहात्म्य आदि विषयो पर नाना प्रकार के तर्कों द्वारा उपदेश दिया है। प्राणियो के सुख या दुख के समस्त कारण जन्मान्तरीय

---

१. मनुष्याः कर्मलक्षणाः। अश्व ४३।२१
   आत्मानमाख्याति हि कर्मभिर्नरः। अनु ८४।८९
२. गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि, न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।
   शांति २९९।२०
३. दिष्ट्या पंचसु रक्तोऽसि। वन ३१७।९

कर्मों का फल होते हो, यह बात नही है। जहाँ इस जन्म की किसी शुभ या अशुभ चेष्टा के अलावा अचानक कोई शुभ या अशुभ बीच मे आ जाता है, वही लाचारीवश प्रारब्ध को मानना पडता है। कहा गया है कि मनुष्य जीवन की जिस अवस्था मे जो कर्म करता है, पर जन्म मे मनुष्य रूप मे जन्म लेने पर वह उसी अवस्था मे उस कर्म का फल भोगता है। किसी भी दर्शन मे इतने जोर के साथ इस प्रकार के कर्म-फल भोग का वर्णन नही मिलता।[1] भगवान अपनी इच्छानुसार प्राणियो को सुख-दुख नही देते। पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही प्राणी इस जन्म मे फल भोगता है। यह बात जगह-जगह कही गई है।[2] उत्तम कुल मे जन्म, वीरत्व, नीरोगता रूप, सौभाग्य आदि पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के फल से मिलते हैं। विश्व के विचित्र विधान मे जन्मान्तरीय कर्मफल की शक्ति अपरिमित होती है। इस फल से बचने लायक शक्ति किसी मे नही है। कर्मों का फल भोगने के लिये ही मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, कर्मफल के समक्ष सब को हार माननी पडती है।[3] पूर्वजन्म के शुभ कार्यो के फलस्वरूप मनुष्य को देवलोक मिलता है, शुभ एव अशुभ कर्मो के मिश्रण से मनुष्य जन्म और केवल अशुभ कर्मो के उदय से अधोगति मे जाता है, यहाँ तक कि हीनयोनि के दुख भी सहने पडते हैं।[4] सहस्रो धेनुओ के बीच मे भी जिस प्रकार बछडा अपनी माँ को पहचान कर उसी के पीछे चलता है, ठीक उसी प्रकार पूर्वजन्म का कर्मफल पर जन्मो मे जीव का अनुसरण करता रहता है।[5] ससार मे पुत्र पत्नी

---

१. यस्या यस्यामवस्थाया यद् यत् कर्म करोति य.।
तस्या तस्यामवस्थाया तत्फल समवाप्नुयात्॥ इत्यादि।
सभा २२।१३। शाति १८१।१५

२. दधाति सर्वमीशान. पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरन्। वन ३०।२२
धातापि हि स्वकर्मैव तैस्तैर्हेतुभिरीश्वर.।
विदधाति विभज्येह फलं पूर्वकृत नृणाम्॥ इत्यादि। वन ३२।२१
अश्व १८।१२

३. कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते॥ इत्यादि। शाति २८।२३-२९
वन २०८।२४। शान्ति १९०।१६

४. शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवश.। शाति ३२९।२५

५. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥ शान्ति १८१।१६। ७।२२

स्वजन आदि के साथ रहते हुए भी कोई किसी के कर्म का उत्तरदायी नही होता। प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्मफल स्वय भोगना पडता है। ऊपर से देखने मे यद्यपि परिवार मे सबका भाग्य समान रूप से उन्नत या अवनत प्रतीत होता है, किन्तु उसके पीछे अपने-अपने कर्मो का ही फल होता है। किसी के कर्म से दूसरे के भाग्य पर कोई प्रभाव नही पडता। यह मानना पडेगा कि सुखी या दुखी परिवार के लोगो ने पूर्व जन्म मे सुख या दुख के अनुकूल कर्म किये होगे, नही तो एक परिवार मे जन्म नही होता। प्रिय अथवा अप्रिय जो कुछ भी मनुष्य के जीवन मे आता है, उसका मूल जन्मान्तरीय कर्म ही होता है।[1] अनुशासनपर्व के गोमती उपाख्यान मे कर्मफल वर्णन करते हुए बहुत से उपदेश दिये गये है। सम्पूर्ण अध्याय का सार यही है कि प्रत्येक प्राणी को अपने कृत कर्मों का फल भोगना पडता है, भवितव्यता का प्रतिरोध करने की शक्ति किसी मे नही होती। किसी न किसी रूप मे कर्मफल सामने आयेगा ही।[2] किसी की स्वाभाविक प्रवृत्ति पाप कर्म की ओर होती है तो किसी की पुण्य-कर्म की ओर, उसके मूल मे भी भाग्य की लीला होती है। मनष्य को यथेष्ट अर्थप्राप्ति पर आनन्दित एव क्षति से दुखित नही होना चाहिये, क्योकि लाभ और हानि, ये दोनो भी दैवायत्त है। अदृष्ट को बलवान मानकर किसी भी अवस्था मे अधिक आनन्द या दुख प्रकट नही करना चाहिये। जिस समय जैसी अवस्था सामने-आये, उसी के अनुकूल अपने को ढाल लेना चाहिये। निज शक्ति से दैवाधीन घट-नाओ का प्रतिकार नही किया जा सकता।[3] समस्त भोग्य वस्तुएँ जन्मान्तरीय कर्मफल से मिलती है, जिसका जितना प्राप्य होता है, वह उतना ही भोग पाता है, उससे अधिक लेशमात्र भी नही। कठपुतली जिस प्रकार चालक की इच्छा से ही उठती बैठती है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपने कर्मफल के हाथो नाचता है। मनुष्य की शक्ति बहुत ही परिमित होती है, दैव का अतिक्रम कर सके, इतनी क्षमता उसमे नही होती।[4] अदृष्ट मे जो है, वह भोगना ही है, इस प्रकार के तर्क मनुष्य को दुख पडने पर थोडी शान्ति देते हैं, इसके विपरीत जो भाग्य को नही मानता,

---

१. स्वयं कृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किञ्चिदत्र प्रियाप्रियम्॥ शांति ।-२९८।३०
सर्वः स्वानि शुभाशुभानि नियतं कर्माणि जन्तुः स्वयं।
गर्भात् सम्प्रतिपद्यते तदुभयंयत्तेन पूर्वं कृतम्॥ शांति २९८।४५

२. अनु पहला अध्याय।

३. न जातु हृष्येन्महता धनेन। इत्यादि ८९।७-१२। आदि १२३।२१

४. वन ३०।२२-४३

या जिसमे कर्तृत्वाभिमान होता है उसे ही दुख अभिभूत करता है। देव, ऋषि, महापुरुष, यहाँ तक कि वनवासी मुनियो को भी समय-समय पर दुख भोगना पडता है। अपने जीवन काल मे किसी भी प्रकार का दुष्कर्म न करने पर भी उन्हे क्यो दुख भोगने पडते हैं—इस प्रश्न का उत्तर भाग्य या जन्मान्तरवाद को माने बिना दिया ही नही जा सकता। विवेकवान व्यक्ति आपद-विपद मे भी हिमालय की तरह अटल रहते है और सुख-दुख को जो भाग्य की देन समझ कर समान भाव से ग्रहण कर ले, वही सच्चा विवेकवान है। मन्त्र, बल, वीर्य, प्रज्ञा, पौरुष, शील, वृत्त, अर्थ सम्पदा आदि कुछ भी अलभ्य वस्तु की प्राप्ति कराने मे समर्थ नही होता। जिसका जितना प्राप्य होता है, उसे उतना ही प्राप्त होता है।[1] पुण्यकर्म कल्याणकारी एव पापकर्म अकल्याणकारी होते हैं। जन्म सर्वदा पूर्वजन्म के कर्मफल से होता है। कोई कोई कहता है कि वह्नि की उष्णता एव जल की शीतलता के समान सुख एव दुख भी स्वाभाविक है, इसमे भाग्य की विडम्बना या किसी और कारण को न मानना ही उचित है। इस प्रकार के वितर्क के उत्तर मे कहा गया है कि कृत कर्मो का फल न भोगना और जो कभी किया न हो उसका फल भोगना, यह नितान्त अस्वाभाविक है, किसी भी तर्क द्वारा इसका समर्थन नही किया जा सकता। अपने अपने कर्मो का फल भोगना ही ससार का नियम है।[2]

मन के द्वारा जो पाप मनुष्य करता है, पर जन्म मे फलस्वरूप मनोदुख सहना पडता है। इसी प्रकार कायिक कर्मो का फल शारीरिक कष्टो के रूप मे भोग करना पडता है। बाल्य, यौवन आदि अवस्था भेद से जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल भी क्रमानुसार उन्ही अवस्थाओ मे मिलता है। पूर्वजन्मकृत कर्मो का फल इस जन्म मे न मिले तो आगे के जन्मो मे अवश्य भोगना पडता है। वृक्ष जिस प्रकार यथाकाल मे फूल एव फलो से समृद्ध हो उठता है, ठीक उसी प्रकार कर्मफल भी समय आने पर मनुष्य के उपभोग को नियन्त्रित कर देता है, अचानक सुख मे दुख या दुख मे सुख आकर उपस्थित हो जाता है। शास्त्रकारो ने सुख या दुख के लिये सदा प्रस्तुत रहने का उपदेश दिया है। कर्मफल भोगने के लिये ही जीव जन्म ग्रहण करता है, इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को यह समझ लेना चाहिये कि सुख या दुख भोगने के लिये ही हम इस ससार मे आये हैं, इसलिये समताभावो से उनका भोग करते हुए आगे के जन्म के लिये सुकृत कर्म करने चाहिये।[3] भाग्य विपरीत

---

१. शान्ति २२६ वां अध्याय।
२. शान्ति २९० वां अध्याय।
३. येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति य ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते॥ इत्यादि। अनु ७।३-५

हो तो बुद्धि, विद्या, विक्रम कुछ भी सहायक नही होता। पौरुष बल से मनुष्य कार्य कर तो सकता है किन्तु दैव प्रतिकूल हो तो उसका फल नही मिलता। भाग्यचालित होने के कारण ही प्राणी साधु या असाधु कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है। कर्म अपना फल देकर ही क्षय होते हैं। बहुत ही तत्परता के साथ किये जाने पर भी यदि किसी कर्म का अभिलषित फल न मिले तो समझ लेना चाहिये कि प्रबल प्रतिकूल दैव द्वारा सम्पूर्ण पौरुष व्यर्थ हो गया है और बहुत प्रयत्न न करने पर भी किसी कार्य का फल आशा से अधिक मिले तो समझना चाहिये कि भाग्य अनुकूल था। कम से कम अदृष्ट विश्वासी दैववादी पडितो का तो यही सिद्धात है।[1]

चेष्टा, उद्योग या पौरुष—उपर्युक्त उपदेशो के साथ साथ दैव के भरोसे सब कुछ छोडकर निश्चेष्ट रूप से कालयापन करने को बहुत ही निन्दनीय माना है। एक ओर दैव को स्वीकार करने के पक्ष मे जितने तर्क उपस्थित किये गये है, दूसरी ओर पुरुषार्थ की प्रशसा करते हुए दैव को बिल्कुल ही हीन बना दिया है। कहा है, पुरुषार्थहीन व्यक्ति केवल दैव के जोर पर किसी भी कार्य मे सफल नही हो सकता। दैव एव पुरुषार्थ दोनो एक दूसरे के सहायक हैं। दोनो का सयोग सोने मे सुहागे वाली कहावत को चरितार्थ करता है। तेजस्वी पुरुष अपना कर्त्तव्य समझकर दैव की ओर दृष्टिपात किये बिना ही कार्य मे लीन हो जाते है। अच्छा फल मिले तो बहुत प्रसन्न नही होते और यदि भाग्य की प्रताडना से उद्यम व्यर्थ हो जाय तो हाथ पाँव छोडकर एकदम निराश नही बैठ जाते, कर्त्तव्यबोध से उन्हे उद्यम मे ही आनन्द मिलता है। इसके विपरीत पुरुषार्थहीन व्यक्ति भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहते हैं। इस प्रकार के उत्कट दैवविश्वासी को 'क्लीव' की सज्ञा दी गई है।[2] पुरुषार्थ मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा देता है जबकि भाग्यवाद मनुष्य को आलसी बना देता है। कार्य सहज हो या कठिन, दृढ सकल्प करके इसमे जुट जाना ही बुद्धिमानी का लक्षण है। जो भाग्य मे बदा है वही होगा, यह सोचकर बैठ जाने पर लक्ष्मी अन्तर्हित हो जाती है, अत दैव की अपेक्षा पुरुषार्थ

---

१. दैवदिष्टेऽन्यथाभावो न मन्ये विद्यते क्वचित्। इत्यादि। द्रोण १५०। २२, २४-३०

दैव प्रज्ञाविशेषेण को निर्वत्तितुमर्हति। आदि १।२४६। भीष्म १२२।२७

दैवमेव परं मन्ये पुरुषार्थो निरर्थकः। वन १७९।२७। उद्योग ४०।३२।

२. हीनः पुरुषकारेण शस्यं नैवाश्नुते ततः। शान्ति १३९।७९

दैव पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात्।

उदाराणान्तु सत्कर्म दैव क्लीवा उपासते॥ शान्ति १३९।८२

का मूल्य कही अधिक है। अदृष्ट को दूर रखकर आत्मशक्ति मे विश्वास रखते हुए कार्य आरम करने का उपदेश सभी महापुरुषो ने दिया है, और महाभारत मे भी इसी का समर्थन किया गया है।[1]

दैव व पुरुषार्थ के मिलन से कार्यसिद्धि—युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे भीष्म ने दैव एव पुरुषार्थ पर इतना कहा है कि महाभारत का एक अध्याय इसी मे समाप्त हो गया है। उन्होंने कहा है कि बहुत पहले महर्षि वशिष्ठ ने भी पितामह ब्रह्मा से यही प्रश्न पूछा था। उत्तर मे पितामह ने कहा था, बीज एव क्षेत्र दोनो के योग के विना जिस प्रकार वृक्ष आदि की उत्पत्ति नही हो सकती, उसी प्रकार दैव और पौरुष दोनो का योग न हो तो किसी भी कार्य मे सफलता नही मिलती। पुरुषार्थ क्षेत्र है तो दैव बीज।

पुरुषार्थ का प्राधान्य—दैव एव पुरुषार्थ मे पुरुषार्थ ही प्रधान है। अकृतकर्मा पुरुष केवल दैवशक्ति द्वारा कुछ भी पाने मे समर्थ नही होता। जो इच्छामात्र से सृष्टि, स्थिति व प्रलय की उत्पत्ति कर सकते हैं, उन भगवान विष्णु को भी तपस्या करनी पडती है। पुरुषार्थ से यदि कुछ भी न मिलता तो विश्व के सभी प्राणी अदृष्ट के भरोसे नितान्त आलस भाव से जीवन यापन करते। जो व्यक्ति कार्य न करके केवल अदृष्ट की दुहाई देता है, उसका जीवन व्यर्थ है। अदृष्ट हमेशा उद्यम का अनुसरण करता है। बिल्कुल निश्चेष्ट निष्कर्म व्यक्ति को केवल भाग्य के जोर से सफलता मिली हो, ऐसा एक भी उदाहरण दिखाई नही देता। जन्मान्तरीय कर्म-फल अनुकूल हो तो छोटे कार्य मे भी मनुष्य को आशातीत फल मिल जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि एक छोटी सी अग्नि-स्फुलिंग पवन की अनुकूलता से विराट अग्नि का रूप लेती है। जिस प्रकार तेल के अभाव मे प्रदीप की क्षीण ज्योति कुछ क्षणो की रह जाती है, उसी प्रकार कर्म के विना अदृष्ट की शक्ति भी बहुत कम हो जाती है। दैव के प्रभाव से उच्चकुल, विपुल ऐश्वर्य, एव नाना प्रकार की भोग्यसामग्री उपलब्ध होते हुए भी पुरुषार्थ के विना मनुष्य इसका उपभोग नही कर पाता, वरन् अल्पकाल मे ही सब प्रकार के ऐश्वर्यो की समाप्ति होने पर दु खी व निराश जीवन व्यतीत करता है। इसके विपरीत प्रतिकूल अवस्थाओ मे जन्म लेने पर भी उद्यमी व्यक्ति अपने पुरुषार्थ-बल से सब प्रतिकूलताओ को अनुकूलताओ मे परिवर्तित कर देता है। असल मे दैव का कोई प्रभुत्व नही होता, पुरुषार्थ के सहायक रूप

---

१. कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चनः॥ इत्यादि। शाति १३९। ८३, ८४

मे ही उसका एक स्थान व उपयोगिता है, कर्म ही उसका पथ-प्रदर्शक गुरु होता है। भाग्य की छोटी-मोटी प्रतिकूलताओ को ऐकान्तिक कर्म द्वारा निरस्त किया जा सकता है, किंतु दैव बिना पुरुषार्थ के कभी अपनी शक्ति नही दिखा सकता। कृषि आदि मे भी अदष्ट के भरोसे आकाश की ओर देखते रहना कापुरुपता है; अपने पुरुषार्थ के बल से सिंचाई की व्यवस्था करके उचित फल लाभ किया जा सकता है। अतएव पुरुषार्थ ही एकमात्र अवलम्बनीय है, दैव पर निर्भर रहना कायरता है।[1]

भाग्यवाद से दुख में सान्त्वना—महाभारत मे कही पुरुषार्थ की अपेक्षा अदृष्ट को प्राधान्य दिया गया है तो कही अदृष्ट की अपेक्षा पुरुषार्थ को श्रेष्ठ बताया है। लेकिन दोनो की स्वीकृति के सबध मे ग्रथकार ने किसी मतभेद को स्थान नही दिया है। जिन अध्यायो मे अदृष्ट को प्रधानता मिली है, वे सब प्राय किसी न किसी दुखी व्यक्ति को सान्त्वना देने के लिये लिखे गये है। दुखी व्यक्ति को सात्वना देने के लिये अदृष्ट का स्मरण कराने की अपेक्षा सरल मार्ग और कोई नही है। अज्ञानाच्छन्न शोक-दुख-जर्जरित व्यक्ति से यदि कहा जाय कि 'तुम्हारा यह दुख पूर्व-जन्म के कर्मो का फल है, इसमे तुम्हारा कोई हाथ नही है, यह अखडनीय है,' तो इन वाक्यो से उसे थोडी सात्वना मिलती है, इसमे कोई सन्देह नही है। दैव एव पुरुषार्थ दोनो ही प्रत्येक कार्य के हेतु है, किन्तु उद्यम की क्षमता अधिक है।[2] यथोचित प्रयत्न व श्रम करने पर भी यदि कार्य मे सफलता न मिले तो अदृष्ट की दुहाई देकर मन को सात्वना देनी पडती है। कहना पडता है कि भाग्य का लिखा कोई नही मिटा सकता। स्वय भगवान श्रीकृष्ण ने पाडवो से यह बात कही है।[3]

कार्य के आरम्भ मे दैव का स्मरण नहीं करना चाहिये—कार्य किये बिना फल नही मिलता। असफल होने पर भी वार-बार यत्न करना चाहिये। यदि किसी भी तरह कार्यसिद्धि न हो तो समझना चाहिये कि अदृष्ट प्रतिकूल है। उस अदृष्ट को अनुकूल बनाना साध्यातीत है, उसके लिये पश्चात्ताप करना व्यर्थ है। किंतु उद्यम कभी नही छोडना चाहिये। कार्य शुरू करते समय भाग्य के बारे मे सोचना उचित नही है, अदृष्ट की चिंता मन को पगु बना देती है। पुरुषार्थ से ही उत्साह व आनन्द मिलता है।[4]

---

१. अनु ६ वाँ अध्याय।
२. दैवे च मानुषे चैव सयुक्तं लोककारणम्। उद्योग ७९।५
३. दैवन्तु न मया शक्यं कर्म कर्त्तुं कथञ्चन। उद्योग ७९।६
४. अनारम्भात्तु कार्याणां नार्थः सम्पद्यते क्वचित्।
   कृते पुरुषकारे च येषां कार्यं न सिध्यति।
   दैवेनोपऽतास्ते तु नात्र कार्या विचारणा। इत्यादि। सौप्तिक २।३३, ३४

जन्मान्तरवाद—भाग्यवाद एव जन्मान्तरवाद दोनो परस्पर सवद्ध हैं। एक की स्वीकृति से दूसरा अपने आप स्वीकृत हो जाता है। प्रारब्ध कर्मफल दिये विना नही झरते यदि यह मान लिया जाय तो साथ-साथ यह भी मानना पडेगा कि यदि कर्मो का फल इस जन्म मे न मिले तो उसके लिये दूसरा जन्म निश्चित रूप से लेना पडेगा। महाभारत मे अदृष्टवाद एव जन्मान्तरवाद के सवध मे कोई सन्देह ही नही उठता। अशावतरण अध्याय मे कौरव-पाडवो के पूर्वजन्म का सम्पूर्ण वृत्तान्त दिया गया है।[1] अज्ञानजनित भोगस्पृहा के फलस्वरूप प्राणी कर्मानिरूप विभिन्न योनियो मे भ्रमण करता है। वासना का अत न होने तक आवागमन चलता ही रहता है। बार-बार जीव को नये रूप मे जन्म लेना पडता है।[2] पूर्वजन्म का अस्तित्व मानने पर उसी तर्क से परजन्म भी मानना पडता है। और इस मत से वाध्य होकर सृष्टि का अनादित्व भी स्वीकार करना पडता है, क्योकि आदिसृष्टि के रूप मे कुछ माना जाय तो प्रश्न उठेगा कि सृष्टि के आदि मे विषमता का क्या कारण था? उस समय तो जन्मान्तरीय कर्म नही थे या फिर भगवान को पक्षपाती कहा जाय। इस समस्या से निस्तार पाने के उद्देश्य से ही आस्तिक दर्शन मे सृष्टि के अनादित्व को माना है।

अजगर पर्व मे जन्मान्तर के सबध मे बहुत कुछ कहा गया है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर मे सर्परूपी नहुष ने कहा है, कर्मानुसार मनष्य को तीन गति मिलती हैं—मनुष्यगति, देवगति और तिर्यञ्चगति। उत्कृष्ट कर्मों के फल से देव योनि, मध्यम कर्मो के फल से मनुष्य योनि और कुकर्मों के फलस्वरूप तिर्यञ्च योनि मे जन्म होता है। जिन पशुओ की यज्ञ आदि मे वलि दी जाती है, उन्हे उच्च योनि मिलती है। जीव का उत्थान या पतन उसके कर्मफल पर निर्भर होता है।[3] प्रत्येक प्राणी के स्वकृत कर्म छाया की तरह उसकी आत्मा का अनुवर्त्तन करते है। जो व्यक्ति कर्मफल या भाग्य को नही मानता, जन्मान्तर भी उसके लिये अर्थहीन होता है।[4] जिस प्रकार वीज के जल जाने पर उससे अकुर नही फूट सकते उसी प्रकार आत्मज्ञान

---

१. आदि ६७ वाँ अध्याय।

२. एव पतति ससारे तासु तास्विह योनिषु।
अविद्याकर्मतृष्णाभिर्भ्राम्यमानाऽथ चक्रवत्॥ इत्यादि। वन २।७१, ७२

३ तिस्रो वै गतयो राजन् परिदृष्टा स्वकर्मभि.।
मानुष्य स्वर्गवासश्च तिर्यग्योनिश्च तत्त्रिधा॥ इत्यादि। वन १८१।९-१५

४ तत्रास्य स्वकृत कर्म छायेवानुगत सदा।
फलत्यथ सुखार्हो वा दु खार्हो वाथ जायते॥ इत्यादि। वन १८३।७८-८६

द्वारा कर्मों के झर जाने पर पुन शरीर धारण करने की आवश्यकता नही पडती। जीव की मृत्यु नही होती, वह सनातन है। जीव के साथ शरीर के एक विशेष सबध को जन्म और उस सबध विच्छेद को मृत्यु कहा जाता हैं। शरीर से सबध समाप्त होने पर जीव के कर्मानुरूप दूसरा शरीर धारण करने को पुनर्जन्म कहा जाता है।[1]

पुण्य के उदय से जीव शुभ योनि मे एव पाप के उदय से अशुभ योनि मे जन्म लेता है। अविमिश्र शुभ कर्मों के उदय से देवयोनि मिलती है। शुभ कर्मो का चरम फल मुक्ति है। कर्मफल के प्रति निरासक्त रहकर कर्म करने से वह कर्म बंधन के हेतु नही बनते।[2]

प्रसिद्ध उपदेष्टा धर्मव्याध ने अपना पूर्वजन्म बताते हुए कहा है, "मेरा जन्म ब्राह्मणवश मे हुआ था। एक मृगयाविलासी राजा मेरा मित्र था। उसकी सगति से मुझे भी धनुर्विद्या का शौक लग गया। एक बार एक ऋषि मेरे शर से आहत हो गये। उसी पाप के कारण मैं ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो गया और इस जन्म मे व्याध के घर पैदा हुआ।[3] जन्म व मृत्यु दोनो ही अवश्यम्भावी हैं, अत इस पर शोक करना व्यर्थ है।[4] मृत्यु व जन्मान्तर को लेकर कई दृष्टान्तमूलक उक्तियाँ भी महाभारत मे कही गई हैं। गीता मे आया है कि मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्र को छोडकर नया वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीव भी जीर्ण शरीर का त्याग करके नया शरीर धारण करता है।[5] अन्यत्र कहा गया है—पुराना हो या नया, मनुष्य इच्छानुरूप एक वस्त्र को त्याग कर दूसरा धारण कर सकता है, उसी प्रकार नया शरीर धारण करना भी स्वकृत कर्मो पर निर्भर करता है। अर्थात् मुक्ति के अनुकूल कर्म करने पर जन्म लेने की आवश्यकता नही रहती। मुक्त आत्मा द्वारा जन्म नही

---

१. बीजानि ह्यग्निदग्धानि न रोहन्ति पुनर्यथा।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संयुज्यते पुनः॥ वन १९९।१०८
यथाश्रुतिरियं ब्रह्मन् जीवः किल सनातनः।
शरीरमध्रुवं लोके सर्वेषां प्राणिनामिह॥ इत्यादि। वन २०८।२३-२८

२. शुभकृच्छुभयोनिषु पापकृत् पापयोनिषु। इत्यादि। वन २०८।३१-४३
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः। इत्यादि। भीष्म ३०।४१-४३

३. शृणु सर्वमिदं वृत्तं पूर्वदेहे ममानघ। इत्यादि। वन २१४।२१-३१

४. पुनर्नरो म्रियते जायते च। इत्यादि। उद्योग ३६।४६, ४७
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। भीष्म २६।२७। स्त्री ३।१६

५. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय। इत्यादि। भीष्म २६।२२

लेती।[1] आत्मा की गृह के साथ तुलना की गई है। मनुष्य जिस प्रकार एक घर छोडकर दूसरे घर मे रहने चला जाता है, उसी प्रकार जीव भी एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। मृत्यु जीर्ण शरीर का परित्याग मात्र है, और कुछ नही। आत्मा मे मृत्यु से कोई परिवर्त्तन नही होता।[2] मनुष्य के जीवन मे प्रिय-अप्रिय जो कुछ घटता है उसका मूल कारण जन्मान्तरीय कर्मफल होता है। प्राज्ञ हो या मूढ, निर्बल हो या बलवान कोई भी कर्मफल के हाथो से निस्तार नही पा सकता। जन्मजन्मान्तरो तक एक ही अविनश्वर जीव नये नये शरीर धारण करके कृत कर्मों का फल भोगता है। जो महापुरुष ससार के इस आवागमन का मर्म भली भाँति समझ कर विषय वासनाओ से विरक्त हो जाता है, उसी को मोक्ष लाभ होता है।[3]

एक स्थान पर वर्णित है कि एक तपस्वी शूद्र ने अगले जन्म मे राजपरिवार मे जन्म लिया, जबकि एक ऋषि जो उस तपस्वी शूद्र का पुरोहित था, अगले जन्म मे भी पुरोहित के रूप मे जन्मा।[4] इस जन्म के कर्मो द्वारा दूसरे जन्म का अनुमान किस प्रकार होता है एव किस तरह के कर्मों से किस योनि मे जीव जाता है, इसका विस्तृत वर्णन ससारचक्रकथनाध्याय मे विवृत हुआ है।[5] यह तो हम पीछे ही बता चुके हैं कि जीव जिस शरीर मे, जिस काल मे जो कर्म करता है, अगले जन्म मे वही शरीर धारण करके उसी काल मे उन कर्मों का फल भोगता है।[6] लेकिन यह कथन युक्तिसगत प्रतीत नही होता, क्योकि यह निश्चित रूप से कैसे कहा जा सकता है

---

१. यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पुरुषः।
अन्यद्रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम्॥ स्त्री ३।८

२. यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवा।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते। इत्यादि। शांति १५।५७, ५८। शान्ति २७४।३३

३. पूर्वदेह कृत कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
प्राज्ञं मूढ तथा शूरं भजते यादृशं कृतम। इत्यादि। शाति १७४।४७-४९ शाति २७४।३६

४. अथदीर्घस्य कालस्य स तप्यन् शूद्रतापसः।
वने पंचत्वमगमत् सुकृतेन च तेन वै॥ इत्यादि। अनु १०।३४-३६

५. अनु १११ वाँ अध्याय।

६. येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते॥ अनु ११६।३७

कि जीव परजन्म मे भी उसी योनि मे जायगा, जिसमे पूर्वजन्म मे था। हा असत् कर्मो से सदा दूर रहने के निमित्त इस उक्ति को उपयोगी माना जा सकता है। असत् कर्मो का फल भोगने के लिये जीव किस रूप मे जन्म लेता है, यह बताने के लिये परवर्ती अध्याय मे एक कीट की कथा कही गई है। कीट कहता है, "मैं पूर्वजन्म मे नृशस, सूदखोर कदर्यप्रकृति का व्यक्ति था। मुझ मे परस्वहरण करना, भृत्यो व अतिथियो का अनादर करना, देवताओ पर, पितरो की श्रद्धा न करना आदि अवगुण कूट-कूट कर भरे हुए थे। इसी कारण वर्त्तमान जीवन मे मेरी अवस्था इतनी शोचनीय है।[1]

स्वधर्मभ्रष्ट व्यक्ति अगले जन्म मे नीच योनि मे जाता है और स्वधर्मनिष्ठ व्यक्ति उत्तरोत्तर उच्च योनि मे जाता है। शुभ एव अशुभ कर्मो के फल से ही उच्च या नीच योनि मे जन्म होता है, यह उमा-महेश्वर-सवाद मे भी कहा गया है।[2] अल्पप्रज्ञता, जन्मान्धता, क्लीवता आदि का कारण भी पूर्वजन्म की दुष्कृतियाँ ही होती है। यदि यह कहा जाय कि माता-पिता के शरीर या मन की किसी विकृति के कारण भी तो शिशु का जन्म इस रूप मे हो सकता है, तो इस पर जन्मान्तरवादी या भाग्यवादी कहेगे कि पूर्वजन्म के पाप कर्मो के उदय से ही तो जीव इस प्रकार के माता पिता के ससर्ग मे आता है। इस जगत् मे कारण के बिना कोई कार्य नही होता।[3] अनुगीता पर्व मे कहा गया है कि, हम लोग बार-बार जन्म लेते व मरते हैं। हमने विभिन्न जन्मो मे नाना प्रकार के आहार्य लिये है। अनेक जननियो के स्तनो का स्वाद लिया है। विचित्र सुख-दुखो का अनुभव हमे हुआ है। प्रत्येक जीवन मे प्रिय-अप्रिय बहुत सी घटनाओ को सहन करना पडा है।[4]

कालतत्त्व—विश्वरूपदर्शन नामक अध्याय मे भगवान ने कहा है "मैं ही लोकक्षयकारी महाकाल हूँ"।[5] इस उक्ति से यह तात्पर्य निकलता है कि काल भगवत्स्वरूप है, पृथक रूप से काल का निर्णय करना असम्भव है। काल के सबध मे विभिन्न दर्शनो मे यद्यपि विभिन्न विचार प्रदर्शित हुए हैं, किंतु किसी एक का

---

१. अहमासं मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः प्रभो।
अब्रह्मण्यो नृशंसश्च कदर्यो वृद्धिजीवनः॥ अनु ११७।१९-२३

२. अनु १४३ वाँ अध्याय।

३. अनु १४५ वाँ अध्याय।

४. पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः।
आहारा विविधा भुक्ता पीता नानाविधाः स्तनाः॥ अश्व १६।३२-३७

५. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः। भीष्म ३५।३२

सिद्धान्त गृहीत नही हुआ है। इस विषय मे मतभेद बहुत अधिक है। प्राचीन नैयायिक व वैशेषिक आचार्यों ने काल को अष्टद्रव्यो के अलावा द्रव्यस्वरूप माना है तो तार्किकाचार्य रघुनाथ शिरोमणि ने दिक् व काल को ईश्वर का अतर्भूत कहा है। मीमासक आचार्य भी काल को द्रव्य के रूप मे मानते है। काल के सवघ मे तो हर एक का अपना अलग मत है। महाभारत मे केवल एक जगह एक वाक्य मे काल का स्वरूप बताया है, वैसे उसकी सर्वातिशायिनी शक्ति का वर्णन बहुत जगह मिलता है। यथा—काल मे यह ब्रह्माड लीन है, काल ही उद्भव है, काल ही क्षय है, काल को कभी विश्राम नही है। उसकी गति अप्रतिहत है। सब वस्तुएँ जराग्रस्त होती हैं। किन्तु काल नित्य नूतन रहता है। उसके अन्तर्गत रहकर सब वस्तुएँ उसी के इगित पर चलती हैं, उसमे कभी कोई विकृति नही पैदा होती। काल के लिए प्रिय अप्रिय कुछ नही होता, काल का अतिक्रम करना साध्यातीत है, वह सदा सवको आकर्षित करता रहता है। तृणसमूह जिस प्रकार वायु द्वारा सचालित रहते है उसी प्रकार यह अखिल विश्व काल द्वारा परिचालित होता है।[1] काल अपने तेज से सवको अभिमूत कर देता है। अनन्त काल के गर्भ मे प्राणियो की व्यक्त-अव्यक्त रूप से निरन्तर लीला चलती रहती है। काल ही स्रष्टा है, काल ही सहारक है। काल की शक्ति अप्रमेय है, वह आदि अन्त हीन है। अग्नि, प्रजापति, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, क्षण, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्ण आदि सज्ञाओ मे एक ही अखड रूप महाकाल को अपनी अपनी सुविधा के उद्देश्य से अभिहित किया गया है।[2]

काल द्वारा पीडित व्यक्ति का उद्धार करने की शक्ति किसी मे नही होती। युग-युगातरो मे कितने जीव-अजीव मे उद्बुद्ध होकर फिर से काल के गर्भ मे समा गये, उसकी कोई गिनती नही है। मनुष्य का सुख व दुख पर्यायक्रम से काल के ही अधीन है। काल की अपेक्षा शक्तिशाली और कोई नही है। जिसे काल की सर्वातिशायिनी शक्ति का माहात्म्य अच्छी तरह ज्ञात है, वह किसी भी अवस्था मे विचलित नही होता।[3] बुद्धि, तेज, प्रतिपत्ति सव कुछ काल के अधीन है। अर्जुन जैसे वीर

---

१. कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत।
न कालस्य प्रिय' कश्चिन्न द्वेष्य. कुरुसत्तम।। इत्यादि। स्त्री ९।१४, १५

२. सर्वं काल' समादत्ते गभीर. स्वेन तेजसा। इत्यादि। शांति २२४।१९, २०
काल' सर्वं समादत्ते काल. सर्वं प्रयच्छति।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम्।। इत्यादि। शान्ति २२४।
२५-६०

३. शान्ति २२७ वां अध्याय।

तक दस्युहस्त यादव महिलाओ का उद्धार नही कर पाये। शस्त्रविस्मृति से उनकी तेजस्विता मूढता मे परिणत हो गई, यह काल का प्रभाव नही तो और क्या है? अर्जुन के पश्चात्ताप करने पर उन्हे सात्वना देते हुए महर्षि कृष्णद्वैपायन ने कहा है, "हे अर्जुन ससार मे जो कुछ भी देखते हो वह सव कालमूलक है। काल स्वेच्छानुसार सहार करता रहता है। आज जो व्यक्ति वहुत ही शक्तिशाली व सम्मानीय समझा जाता है, कालातर मे वही अत्यन्त दीन व अवज्ञा का पात्र वन जाय तो कोई आश्चर्य नही। काल की सामर्थ्य अवर्णनीय है।"[1] दिवारात्रि के भेद से अवस्था का परिवर्त्तन एव ऋतुभेद से प्रकृति के नित्य नये खेल सभी की आँखो के समक्ष होते हैं; इसी प्रकार एक कल्पित, साकेतिक स्थूल काल के अवसान मे सम्पूर्ण जगत का जो विराट् परिवर्त्तन दिखाई देता है, इसी का नाम युगसन्धि है। युगसधि के वाद ही परवर्त्ती युग का आरम्भ हो जाता है। प्रत्येक युग की अपनी भिन्न प्राकृतिक अवस्था होती है। पुराणो के युगवर्णन प्रसग मे प्रकृति की विभिन्न अवस्थाओ का विस्तृत वर्णन मिलता है। मार्कण्डेयसमास्यापर्व मे भी अनेक वर्णन मिलते हैं। प्रत्येक युग मे मनुष्य की प्रकृति, बुद्धि, हाव-भाव इत्यादि मे परिवर्त्तन होता रहता है। अविनश्वर काल कभी सूक्ष्म तो कभी स्थूल रूप मे अपना स्वरूप वदलता रहता है। प्रत्येक दिन का प्रत्येक मुहूर्त्त विचित्र होता है, एक के साथ दूसरे की कोई समानता नही होती। काल की इस असाधारण शक्ति की उपलब्धि के वाद ही ऋषियो ने उसे 'सर्वक्षयकृत', 'अनादिनिधन', 'स्वतन्त्र' आदि विशेषणो से विभूषित किया है।[2]

स्वर्ग, नर्क व परलोक—पुराण आदि मे स्वर्ग, नर्क एव परलोक के बहुत से चित्र अंकित हुए है। उन चित्रो को देखने से यह धारणा बनती है कि स्वर्ग केवल सुख सभोग का एक स्थान है और नर्क कुकर्मी पापियो को कठोर दड देने लायक विभिन्न प्रकार के उपकरणो से भरी हुयी एक दुर्गंवमय वीभत्स जगह। परलोक की कल्पना से भी इसी प्रकार का एक सुख दुख जडित चित्र सामने आता है। कुछ पौराणिक चित्रो को छोडकर हमारी कल्पना जैसे आगे वढना ही नही चाहती। महाभारत मे कहा गया है—स्वर्ग का अर्थ है नित्य सुख अर्थात् जिस सुख के साथ दुख की कल्पना तक जुडी न हो उसी सुख का दूसरा नाम स्वर्ग है। वहुत ही पुण्य के उदय से मनुष्य को यह सुख मिलता है। जिस जगह मनुष्य इस नित्यसुख का उप-

---

१. कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनंजय।
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया॥ इत्यादि। मौषल ८।३३-३६

२. वन १९० वाँ अध्याय। शान्ति २३७।१४-२१

भोग करता है, उसका नाम है स्वर्गलोक। मर्त्यलोक का सुख दुख-मिश्रित होता है, यथाक्रम इस सुख दुख का भोग मनुष्य को करना ही पडता है। मनुष्य योनि मे किसी के भी भाग्य मे केवल सुख या केवल दुख नही लिखा होता। केवल दुख का नाम नर्क है और जिस लोक मे पापात्मा जीव केवल दुख ही भोगते हैं, उसका भी नाम नर्क है। स्वर्ग प्रकाशमय है तो नर्क तमोमय। प्रकाश व तम दोनो की मिश्रित अवस्था को 'सत्यानृत' कहा जाता है। इहलोक मे सभी प्राणी सत्यानृत भोगते हैं। जो सदा सत्कार्य के लिए तत्पर रहते हैं उन्हे अमिश्रित सत्य या प्रकाश का सधान मिल जाता है और वही उनका स्वर्गसुख होता है। कुकर्मरत व्यक्ति केवल दुख उठाते हैं, उसी को 'नर्क' की सज्ञा मिली है, सत्य ही धर्म है, धर्म ही प्रकाश है और प्रकाश ही सुख है। अनुकूल चेष्टा के बिना कभी इच्छापूर्ति नही होती, इसलिये सुखप्राप्ति के अनुकूल कार्य करने चाहिये। वह कार्यपद्धति श्रति व स्मृति मे नाना रूपो मे प्रकट हुई है। राहुग्रस्त चन्द्रमा की निष्प्रभता के बारे मे जिस प्रकार किसी को बताना नही पडता उसी प्रकार तमोभिभृत व्यक्ति के सुखचैन का तिरोभाव भी उसके अपने व दूसरो के समक्ष स्वय ही प्रकट हो जाता है।[1] सुख दो प्रकार का होता है—शारीरिक व मानसिक। यद्यपि सुख की अनुभूति मन के द्वारा ही होती है तथापि शरीर के स्वास्थ्य व साफ-सुथरेपन से जिस सुख का उद्भव होता है उसे 'शारीरिक' सुख कहा गया है।[2] सुकृत सुख का एव दुष्कृत दुख का हेतु होता है।[3]

स्वर्गलोक का जो वर्णन मिलता है, उसमे स्वर्गलोक को मर्त्यलोक के ऊपर अवस्थित बताया है। सत्कर्मपरायण व्यक्ति ही देवयानमार्ग से वहाँ प्रवेश कर सकता है। देवलोक मे सभी दिव्यदेह एव दिव्यभाव वाले होते है। वहाँ क्षुधा, तृष्णा की ताडना नही होती। स्वर्गलोकवासी सर्वप्रकार से पार्थिव सुख-दुखो से ऊपर रहकर अपार्थिव परम सुख मे निमग्न रहते हैं। वहाँ अशुभ या बीभत्स कुछ नही होता। वहाँ का स्पर्श, रस, गध सब कुछ मनोज्ञ होता है। शोक, जरा, आयास, परिदेवना, अतृप्ति आदि का वहाँ कोई स्थान नही होता। वहाँ के निवा-

---

१. नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दु खमेवाहु. सुख तत् परमं पदम्॥ शान्ति १९०।१४
स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च।
सत्यानृतं तदुभय प्राप्यते जगतीचरैः॥ इत्यादि। शान्ति १९०।३-८
तमोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते। उद्योग ४२।१४

२. तत् खलु द्विविध सुखमुच्यते, शारीरं मानसञ्च। शाति १९०।९

३. सुकृतात् सुखमवाप्यते दुष्कृताद्दुःखमिति। शाति १९०।१०

सियो का शरीर तेजोदीप्त होता है।[1] किन्तु ऐसी जगह जाकर भी मुक्तिकामी व्यक्ति सुखी नही रहता वह उससे भी ऊपर पहुँच कर परमब्रह्म मे मिलना चाहता है। स्वर्ग ही सवका अभिलषित है, यह कहना अनुचित होगा, क्योकि स्वर्ग से भ्रश होने की आशका रहती है। भोग के द्वारा पुण्य का क्षय होने पर वहाँ से पुन. मर्त्य-लोक मे आना पडता है। इसलिये निष्काम व्यक्ति स्वर्ग के सुख को भी तुच्छ समझता है। इसके अन्तिम परिणाम की कल्पना के वाद उसके प्रति, भी कोई विशेष आकर्षण नही रह जाता।[2] जिस जीव ने एकमात्र मुक्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया हो, उसके लिये स्वर्ग सोने की जजीरो के सिवा कुछ नही रह जाता। उसे स्वर्ग और नर्क मे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता। महाभारतकार ने यह स्पष्ट रूप से कही नही वताया कि वे स्वर्ग को एक विशिष्ट स्थान मानते हैं या नही। उपर्युक्त दो प्रकार के वर्णन ग्रथ मे मिलते है। अर्जुन के इन्द्रलोकगमन का वर्णन करते हुए ग्रथकार कहते है—हिमालय पर्वत के ऊपर एक दिव्य नगरी है, वही स्वर्गपुरी है। वह पुरी सिद्धचारण सेवित है। सव ऋतुओ के कुसुमो से सुरभित है। पापी पुरुष वहाँ नही जा सकते। घृताची, मेनका, रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराएँ वहाँ की नर्त्तकियाँ हैं। वहाँ चित्त को प्रसन्न करने के सब साधन उपलब्ध है।[3] मनष्य का चित्त पुण्यकर्मो की ओर आकृष्ट हो सके, इसी उद्देश्य से शायद स्वर्ग की ऐसी विचित्र कल्पना की गई है।

अव यदि स्वर्ग नित्यसुख का दूसरा नाम है तो किसी स्थान का नाम स्वर्ग कैसे हो सकता है? दूसरे मत से यदि स्थानविशेष को स्वर्ग की सज्ञा दी जाय तो विशुद्ध सुख को स्वर्ग कैसे कहा जा सकता है? स्वर्गारोहण पर्व मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्वर्ग एक विशिष्ट स्थान का नाम है। वहाँ की त्रैलोक्यपावनी देवनदी के वर्णन एव दूसरे ऐश्वर्य वर्णनो से एक उत्कृष्ट पुरी की कल्पना मन मे उभरती है। स्वर्ग के निकट ही एक घोर अन्धकाराच्छन्न, दुर्गधमय स्थान वताया है, जिसे नर्क कहा गया है। इस वर्णन से तो प्रकट होता है कि स्वर्ग व नर्क दोनो अगल-वगल

---

१. उपरिष्टाच्च स्वर्लोको योऽयं स्वरिति संज्ञितः। इत्यादि। वन २६०।२-१५

२. पतनान्ते महद्दुःखं परितापं सुदारुणम्। वन २६०।३९
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। इत्यादि। भीष्म ३३।२१। आदि ९०।२
सुखंह्यनित्यं भूतानामिह लोके परत्र च। शान्ति १९०।७

३. वन ४३ वाँ अध्याय।

हैं। युधिष्ठिर को स्वर्ग जाते हुए रास्ते से ही नर्क के दर्शन हुए थे।[१] एक दूसरी जगह इस मर्त्यलोक को ही 'भौमनर्क' कहा गया है। आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक के नाम से त्रितापयुक्त पृथ्वी की नर्क से तुलना करते हुए यह अत्युक्ति आई है। नर्क दु खमय है और मोक्षार्थी की दृष्टि से यह ससार भी दु खमय है, इसलिये शायद ससार को 'भौमनर्क' माना है।[२]

शुभ कर्मों के उदय से स्वर्ग एव अशुभ कर्मों के उदय से नर्क मिलता है, यह पग-पग पर दुहराया गया है।[३] हिमालय पर्वत की उत्तर दिशा को 'परलोक' कहा है।[४] इस कल्पना की कोई सार्थकता है या नही, यह विवेचनीय विषय है। किंतु परलोक के वर्णन मे तो इस स्थान को बहुत ही पवित्र, मगलमय तथा मनोज्ञ बताया है। इस वर्णन को पढकर उसके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक ही है। परलोक के अस्तित्व के सबध मे भी बहुत कुछ कहा गया है।[५]

नास्तिक का लक्षण—पारलौकिक कार्यों मे जिसकी आस्था न हो, वही नास्तिक है।[६]

---

१. स्वर्गा २रा तथा ३रा अध्याय।

२. इमं भौमं नरकं ते पतन्ति। आदि ९०।४

३. वन १८१।२। अनु १३०।३९। अनु १४४।५-१७, ५२

४. उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते।
पुण्य क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते। शांति १९२।८-१०

५. उद्योग ३५।६८। शाति २८।४२। अनु ७३ वाँ तथा १०२ वाँ अध्याय।

६. पारलौकिककार्येषु प्रसुप्ता भृशनास्तिकाः। शांति ३२१।१०

आन्वीक्षिकी

आन्वीक्षिकी की उपादेयता—आन्वीक्षिकी या तर्कविद्या का नाम कई स्थानों पर आया है। शास्त्रमीमासा मे आन्वीक्षिकी विद्या की उपयोगिता एव प्रशस्तता को सव ने एकमत से माना है। शास्त्रानुमोदित वाद-विवाद को महाभारत मे वहुत ऊँचा स्थान मिला है। स्वय भगवान ने कहा है—"मीमासा मे मैं वादस्वरूप हूँ।"[1] वाद-विवाद द्वारा तत्त्व का निर्णय होता है, यही वाद की प्रशस्तता है।

जनक-याज्ञवल्क्य के सवाद मे कथित है—वेदान्तशास्त्री गधर्व विश्वावसु ने महर्षि याज्ञवल्क्य से वेद के विषय मे चौबीस और आन्वीक्षिकी के सबध मे एक प्रश्न किया। याज्ञवल्क्य ने देवी सरस्वती का ध्यान करके श्रुतिदर्शित आन्वीक्षिकी की सहायता से उपनिषदो के कथन की मन ही मन मीमासा करके प्रश्नो के उत्तर दिये।[2] महर्षि याज्ञवल्क्य एक स्थान पर राजर्षि जनक से कहते है—"हे राजश्रेष्ठ यह आन्वीक्षिकी विद्या मोक्ष के लिये, त्रयी वार्त्ता व दण्डनीति से भी अधिक उपयोगी है। मैंने इसके विषय मे तुम्हे पर्याप्त वता दिया है।"[3]

विश्वावसु के प्रश्नो के उत्तर मे महर्षि ने जो कुछ कहा है, वह भी गौतम के मत का समर्थन करता है। ऐश्वर्यभोग को मुक्ति नही कहा जा सकता, क्योकि वह भी दु खस्वरूप है।[4] युक्तिपूर्ण तर्क द्वारा वेदो का श्रवण या मनन करके कोई विशिष्ट धारणा वनानी चाहिये।[5] वेद द्वारा परम पुरुष का श्रवण एव आन्वीक्षिकी

---

१. वादः प्रवदतामहम् । भीष्म ३४।३२

२. विश्वावसुस्ततो राजन् वेदान्तज्ञान कोविदः।
चतुर्विंशस्ततोऽपृच्छत् प्रश्नान् वेदस्य पार्थिवः ।। शाति ३२८।२७-३३
तत्रोपनिषदञ्चैव परिशेषञ्च पार्थिव ।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ।। शांति ३१८।३४

३. चतुर्थी राजशार्दूल विद्यैषा साम्परायिकी।
उदीरिता मयातुभ्यं पंचविंशादधिष्ठिता ।। शाति ३१८।३५

४. अक्षयत्वात् प्रजनने अजमत्राहुरव्ययम् शांति ३१८।४६

५. विद्योपेतं धनं कृत्वा कर्मणा नित्यकर्मणि।
एकांतदर्शना वेदाः सर्वे विश्वावसो स्मृताः ।। शांति ३१८।४८

द्वारा मनन करना चाहिए, यही याज्ञवल्क्य कहना चाहते है। समग्र वेदशास्त्रो का अध्ययन करके भी यदि पाठक उनका प्रतिपाद्य विषय अच्छी तरह न समझ सके तो वह नितान्त करुणा का पात्र कहलाता है। न्याय अर्थात् तर्कशास्त्र के विना केवल वेदो के श्रवण से मुक्ति नही मिलती, तब तो श्रोता बस इतना ही समझ सकता है कि मोक्ष नामक कोई वस्तु भी ससार मे है। वेदार्थ के श्रवण एव तर्क की सहायता से उसके मनन की उपयोगिता की ग्रथ मे विशेष रूप से प्रशसा की गई है।[1]

तर्कविद्या या युक्तिशास्त्र का ज्ञान होना राजाओ के लिये आवश्यक माना जाता था। इसी कारण तर्कशास्त्र से ज्ञानलाभ करने का उन्हे उपदेश दिया गया है। राज्य की रक्षा के लिये न्याय आवश्यक है और तर्कशास्त्र का ज्ञान न हो तो न्यायपद्धति अच्छी नही हो सकती। मनु, याज्ञवल्क्य, गौतम आदि ऋषियो ने भी तर्कशास्त्र की उपादेयता स्वीकार की है। तर्क द्वारा मनन किये विना धर्म का निर्णय नही किया जा सकता।[2] मनीषियो ने नाना प्रकार के न्यायशास्त्रो का उपदेश दिया है, लेकिन विचार उन्ही पर करना चाहिये, जो हेतु व आगम अर्थात् श्रुति व स्मृति के विरुद्ध नही हैं। टीकाकार नीलकठ ने वैशेपिक, साख्य व पातञ्जल को न्यायशास्त्र कहा है, किन्तु न्यायशास्त्र साधारणत॰ गौतम की आन्वीक्षिकी विद्या को ही समझा जाता है। इसलिये आन्वीक्षिकी, न्याय आदि शब्द योगरूढ हैं।[3]

असाधु तर्क की निन्दा—कई जगह तर्कविद्या की निन्दा भी की गई है, परन्तु यह निन्दा आर्षशास्त्रविरोधी असाधु तर्कविद्या को लक्ष्य करके हुई है। नास्तिक तर्कविद्या श्रुति निन्दनीय मानी गई है। मनु आदि शास्त्रकारो ने भी वेद विरुद्ध शास्त्रो की निन्दा की है। इन्द्र काश्यप सवाद मे आन्वीक्षिकी को 'निरर्थक' कहा है, लेकिन यह शब्द उस तर्कशास्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ जो आर्षशास्त्र के प्रतिवाद-स्वरूप रक्खा जाता है। कहा है कि तर्कविद्याजनित मदाधता के कारण जो पडित वेदो की प्रामाणिकता मे सन्देह करने लगे थे उन्हे दूसरे जन्म मे शृगाल का रूप

---

१. वेदवादं व्यपाश्रित्य मोक्षाऽस्तीतिप्रभाषितुम्।
अपेतन्यायशास्त्रेण सर्वलोकविगर्हिणा॥ शाति २६८।६४

२ युक्तिशास्त्रञ्च ते ज्ञेयम्। इत्यादि। अनु १०४।१०८। अनु १२।१-५

३. न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभि॰।
हेत्वागमसमाचारैर्यदुक्तं तदुपास्यताम्॥ शाति २१०।२२। नीलकठ देखिये।

मिला था, अत ऐसी विद्या निश्चित रूप से आर्षशास्त्र समर्थित तर्कविद्या नही मानी जा सकती।[1]

पत्र परीक्षा प्रकरण मे भी आया है कि "वेदो को अप्रामाणिक मानना, आर्ष-शास्त्र का उल्लघन करना, मन मे सशय रखना और असयमता ये नाश के कारण है। स्वय को पडित समझने वाला जो अभिमानी व्यक्ति निरर्थक तर्कविद्या द्वारा वेदो की निन्दा करता फिरता है, जो पडितो की सभा मे अप्रामाणिक तर्कों द्वारा शास्त्रविरोधी सिद्धान्त स्थापित करने का प्रयास करता है, जो नितान्त उद्धत व परुषवक्ता होता है, उस मूढ सशकी व्यक्ति को कुत्ते जैसा समझना चाहिये।[2]

प्राचीन काल मे आचार्य शास्त्रश्रवण के अधिकारी की विवेचना किये बिना उपदेश ही नही देते थे। श्रद्धालु, गुरुभक्त, अमत्सर शिष्य ही शास्त्रोपदेश सुनने के उपयुक्त पात्र समझे जाते थे। शास्त्रश्रवण के अनधिकारियो की तालिका मे 'हेतुदुष्ट' का नाम भी आया है।[3] जो व्यक्ति अप्रामाणिक तर्कों की सहायता से प्रत्येक विपय का प्रतिवाद करता है, वही 'हेतुदुष्ट' कहलाता है। एक जगह आचार्यों को सावधान करते हुए कहा है कि तर्कदग्ध एव खल प्रकृति जिज्ञासु को कोई उपदेश नही देना चाहिये। वेदविरोधी तर्कमीमासा से जिसकी बुद्धि दग्ध हो गई हो अर्थात साधु-विषयो के सबध मे जो गलत धारणा रक्खे वही तर्कदग्ध है।[4] श्रुति एव प्रत्यक्ष प्रमाण इन दोनो मे कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है—इस प्रश्न के उत्तर मे भीष्म ने कहा है, "विद्वान मीमासक मन-वचन से अगोचर किसी भी अवाधित सत्य को स्वीकार नही करना चाहते।"[5] गौतम ने अपने न्यायशास्त्र मे सर्वत्र श्रुतिप्रमाण पर जोर दिया है। जहाँ और किसी तरह मीमासा करना सभव नही होता, वही श्रुति पर जोर डाला गया है और साधारणत श्रुति के अनुकूल मीमासा की ओर ही लक्ष्य रखा गया है। अत इससे यह तात्पर्य निकलता है कि

---

१. अहमासं पंडित को हेतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्॥ इत्यादि। शांति १८०। ४७-४९

२. अप्रामाण्यञ्च वेदानां शास्त्राणां चाभिलंघनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः॥ इत्यादि। अनु ३७।११-१५

३. न हेतुदुष्टाय गुरुद्विषे वा। अनु १३४।१७

४. न तर्कशास्त्रदग्धाय तथैव पिशुनाय च। शाति २४५।१८

५. प्रत्यक्षं कारणं दृष्ट्वा हैतुकाः प्राज्ञमानिनः।
नास्तीत्येवं व्यवस्यन्ति सत्यं संशयमेव च॥ अनु १६२।५

तर्कशास्त्री केवल प्रत्यक्ष प्रमाणवादी एव चार्वाकमतावलम्बी होते हैं। असाधु तर्कवाद को शुष्क तर्क की सज्ञा भी दी गई है। महाभारत मे शुष्क तर्क का त्याग करके श्रुति व स्मृति का आश्रय लेने का उपदेश दिया गया है।[1]

उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि श्रुति एव स्मृति सिद्धान्तो के पक्ष मे जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, वे शुष्कतर्क नही हैं। आर्षशास्त्र विरोधी तर्क ही शुष्कतर्क या नास्तिक हेतुवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। रामायण मे भी एक जगह रामचन्द्र ने कहा है कि बहुत से अभिमानी पडित मुख्य धर्म को छोडकर आन्वीक्षिकी ज्ञान के बल पर निरर्थक वाद-विवाद करते रहते हैं।[2] यहाँ आन्वीक्षिकी शब्द का अर्थ 'नास्तिक लोकायत विद्या' है। क्योकि वाल्मीकि का उद्देश्य यदि प्रकृत न्यायशास्त्र की निन्दा करना होता तो वे उत्तर काड मे तार्किक पडितो को विशिष्ट सभासदो मे कभी नही गिनते।[3] उपर्युक्त मीमासा से यह स्पष्ट हो जाता है कि गौतम के न्यायशास्त्र की निंदा करना महाभारत का उद्देश्य नही है। श्रुति व स्मृति विरोधी तर्क को ही निन्दनीय माना है।

टीकाकार नीलकठ ने कहा है, जो पडित तर्क द्वारा आकाश आदि की नित्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं वही 'पडितक' अर्थात् निन्दनीय पडित होते हैं। एकमात्र भगवान को छोडकर ससार मे सब कुछ अनित्य है, यही वैदिक सिद्धान्त है। आकाश परमाणु आदि द्रव्यो को जो नित्य मानता है, वही वेद के सिद्धान्त का विरोधी है, अत वही वेदनिन्दक कहलाता है। इसके बाद नीलकठ ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि कणाद एव अक्षपाद आदि द्वारा प्रणीत वैशेषिक एव न्याय शास्त्र अनुमान प्रधान तर्कशास्त्र हैं। श्रुति स्मृति के वस्तुतत्त्व की मीमासा करने के लिये अनुपयोगी होने के कारण ये निरर्थक है। स्वर्ग एव भाग्य आदि के सबध मे जिसे आशका है वह हर चीज के प्रति सशकित रहता है। ऐसे नास्तिक व्यक्ति की पक्ति मे ही वैशेषिक व नैयायिको का स्थान आता है। नीलकठ के इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक सिद्धान्त को दृढ करने के लिये अनुमान आदि की सहायता से भी मनन किया जाता है और उस मनन मे न्याय एव वैशेषिक शास्त्र उपयोगी सिद्ध होते है। वेद विरोधी जिन सिद्धान्तो को तर्कशास्त्र मे स्थान मिला है, वे सिद्धान्त नास्तिक दर्शन के समान हैं। वैदिक शास्त्रो मे उनका कोई

---

१. शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिं स्मृतिम्। वन १९९।११४

२. धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधा।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥ अयोध्याकांड १००।३९

३. हेतूपचारकुशलान् हैतुकाश्च वहुश्रुतान्। उत्तरकाड १०७।८

स्थान नही है। न्यायशास्त्र मे वस्तु स्वीकृति की लघुता गुरुता पूर्वक मीमासा करके लघुतावश बहुत से पदार्थों की नित्यता एव दूसरे श्रुतिविरुद्ध अनेक सिद्धातो को स्थान मिला है। अतएव यह मानना पडेगा कि तर्क शास्त्र पूर्ण रूप से आस्तिक दर्शन नही है। दर्शन के प्रकृतिगत युक्तिस्वातन्त्र्य या विचार शैली के वैशिष्ट्य की रक्षा के उद्देश्य से जिन तर्कों को इस शास्त्र मे स्थान मिला है, वे यदि श्रुति का अनुसरण नही करते तो वह 'निरर्थक आन्वीक्षिकी' के अन्तर्गत आ जाता है। यही शायद टीकाकार का अभिप्राय है। इस प्रकार यदि सामजस्य न रक्खा जाय तो एक ही शास्त्र की निन्दा व प्रशसा का कोई अर्थ ही नही होता।[1]

याज्ञवल्क्य का न्यायोपदेश—कही-कही पदार्थ की मीमासा करते हुए न्याय व वैशेषिक पद्धति अपनाने के बावजद भी 'यह न्याय सिद्धान्त है' या 'यह वैशेषिक सिद्धात है' इस प्रकार का कथन कही नही मिलता। वेदान्तवित् विश्वावसु के प्रश्न के उत्तर मे याज्ञवल्क्य ने तर्क व श्रुति की सहायता से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया है। याज्ञवल्क्य के इस उत्तर को युक्तिप्रधान होने के कारण आन्वीक्षिकी सिद्धात कहा गया है। वास्तविक रूप मे तो महर्षि ने श्रुति की सहायता से ही उपदेश दिया है।[2]

प्रत्येक विषय में तर्क प्रतिष्ठित नहीं—तर्क की गति सीमाबद्ध है। ससार मे ऐसे अनेक विषय है, जिनके सबध मे कोई तर्क नही चलता। मन के अगोचर अचिन्त्य तत्त्व के विषय मे एकमात्र श्रुति ही पथप्रदर्शक है।[3]

शास्त्र के स्रष्टा स्वयं भगवान—महर्षि गौतम न्याय शास्त्र के प्रणेता नही थे, वह तो प्रचारक मात्र थे। सब आस्तिक शास्त्रो के रचयिता स्वय भगवान है। कहा गया है कि देवताओ की प्रार्थना पर स्वयभू ने एक लाख अध्यायो की रचना की। उन्ही से धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का प्रचार हुआ। भगवान की उक्तियो मे ही कर्मकाड, ज्ञानकाड, वार्त्तारूप जीविकाकाड एव दडनीतिरूप पालन काड विवृत हुआ है। दर्शनशास्त्र कर्म व ज्ञानकाड के अन्तर्गत आता है। अन्वीक्षिकी को भी ज्ञानकाड स्वरूप बताया है।[4]

---

१. हेतुकोऽनारब्धद्रव्यत्वादित्यादिभिर्हेतुभिराकाशादेरपि नित्यत्व साधनपरः। नीलकंठ, शांति १८०।४७

२. पचविंशतिमं प्रश्नं पप्रच्छान्वीक्षिकीं तदा। इत्यादि। शांति ३१८।२८-३५

३. अचिन्त्या खलु ये भावास्तान्न तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ भीष्म ५।१२

४. त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्त्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निर्दशिताः॥ शांति ५९।३३। नीलकंठ

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण—महाभारत मे प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान व शब्द इन चार प्रमाणो का उल्लेख मिलता है। इन चारो प्रमाणो द्वारा ही किसी वस्तु के तत्त्व का निर्णय करने का उपदेश दिया गया है।[१] जहाँ प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का ज्ञान नही होता वहाँ अनुमान का सहारा लेना चाहिये।[२] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष या अनुमान मे प्रत्यक्ष प्रमाण ही उत्तम माना जाता है।

सुख आदि जीवात्मा का धर्म—आजगरपर्व मे बहुत से नैयायिक सिद्धातो की चर्चा मिलती है। कहा है सुख एव ज्ञान जीवात्मा के सहारे अवस्थित है, दोनो मे समानाधिकरण है।

मन का इन्द्रियत्व व अणुत्व—एक ही समय मे कई चीजो का ज्ञान नही हो सकता, इसलिये मन को इन्द्रिय मानकर उसकी सूक्ष्मता स्वीकृत हुई है।[३]

बुद्धि व आत्मा का अतर—जीवात्मा का ज्ञान अनित्य है अर्थात् उस ज्ञान की उत्पत्ति व विनाश दोनो होते हैं, इसलिये बुद्धि का कर्तृत्व नही माना जा सकता। बुद्धिमान व्यक्ति युक्ति व अनुभव के द्वारा बुद्धि और आत्मा के अन्तर को अच्छी तरह समझ सकता है। बुद्धि एव जीव को एक मानने से कृतनाश व अकृताभ्यागम का दोष उत्पन्न होता है।

बुद्धि एव मन इन दोनो मे किसी एक का कर्तृत्व स्वीकार किया जा सकता है या नही, इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि दोनो के ही कार्य भिन्न भिन्न हैं, अतएव एक को मानना व्यर्थ होता है। बुद्धि आत्मा की अनुचर है। कई बार बुद्धि का कार्य 'जलचन्द्र न्याय' के अनुसार आत्मा मे भी प्रतिफलित होता है। इस प्रकार बुद्धि व आत्मा का अन्योन्याध्यास प्रदर्शित हुआ है। तार्किको ने दोनो मे धर्मधर्मीभाव माना है। समवाय सबध से बुद्धि जीव मे प्रतिष्ठित है। यह अनन्योध्यास सम्भवत धर्मधर्मी भाव को प्रकट करने के उद्देश्य से विवृत हुआ है। विपय एव इन्द्रियो के सयोग से बुद्धि की उत्पत्ति होती है।[४]

पचभूत व इन्द्रिय—पच महाभूतो मे आकाश तक को अनित्य माना है। पाँच कर्मन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये ग्यारह इन्द्रियाँ स्वीकृत हुई हैं। प्रथम

---

१. प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यश.॥ शान्ति ५६।४१

२. प्रत्यक्षेण परोक्षं तदनुमानेन सिध्यति। शांति १९४।५०

३. किन्न गृह्णासि विषयान् युगपत्त्व महामते।
एतावदुच्यता चोक्त सर्वं पन्नगसत्तम॥ इत्यादि। वन १८१।१७-२१

४. बुद्धेरुत्तरकाला च वेदना दृश्यते बुधै। इत्यादि। वन १८१।२३-२६

महाभूत आकाश है, जिसका अध्यात्म श्रोत्र है, अधिभूत शब्द है, और अधिदेव दिशा है। दूसरा महाभूत वायु है, त्वक् उसका अध्यात्म है, स्प्रष्टव्य वस्तु अधिभूत है तथा विद्युत अधिदेव है। तीसरा भूत तेज है, जिसके अध्यात्म अधिभत व अधिदेव क्रमश चक्षु, रूप और सूर्य है। चौथा भूत जल है, उसका अध्यात्म जिह्वा, अधिभूत रस और अधिदेव सोम है। पाँचवा भूत पृथिवी है, घ्राण इसका अध्यात्म है, गध अधिभूत है और वायु अधिदेव है।[1] इन्द्रिय को अध्यात्म, ग्राह्य विषय को अधिभूत एव इन्द्रिय के अनुग्राही देवता को अधिदेव की सज्ञा दी गई है। ये सब पारिभाषिक शब्द न्यायदर्शन मे नही आये है, अधिदैवतवाद भी दर्शन मे गृहीत नही हुआ है। इन्द्रियो के कार्य के सबध से जिन मतवादो का उल्लेख किया गया है वे तर्कशास्त्रीय सिद्धान्तो के भी अनुकूल है। आकाश आदि का लक्षण बताते हुए कहा है—आकाश का लक्षण शब्द है और वायु का स्पर्श आदि। गध, रस आदि भी कौन सा द्रव्य किस इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है, इस सबध मे मूलदर्शन के साथ कोई मतभेद नही है। किन्तु क्षिति आदि पचभूतो के जिन गुणो का अस्तित्व माना है, वैशेषिक दर्शन मे उसकी अपेक्षा अधिक गुणो के नाम मिलते है। लेकिन यह मानना पडगा कि यह अश आशिक रूप से वैशेषिक सिद्धान्त को ही प्रतिपादित करता है। कहा गया है कि भूमि के शब्द, स्पर्श, रस, रूप एव गध ये पाँच गुण होते है। जल के शब्द, स्पर्श, रूप व रस ये चार गुण है। तेज के शब्द, स्पर्श व रूप ये तीन गुण हैं, वायु के शब्द और स्पर्श ये दो गुण है तथा आकाश का मात्र शब्द एक गुण है।[2] आकाश आदि द्रव्यो के गुणो का निर्णय करने के बाद गुणो का विभाग किया गया है। गध को पार्थिव बताकर दस भागो मे विभक्त किया है, यथा—इष्ट, अनिष्ट, मधुर, अम्ल, कटु, निर्हारी, सहत, स्निग्ध, रूक्ष और विशद। गुरु-शिष्यसवाद मे जल के गुणो मे 'द्रव' का भी नाम आया है। रस छह प्रकार के बताये है—मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय एव लवण। तेज का बारह प्रकार का रूप बताया है—शुक्ल, कृष्ण, रक्त, नील, पीत, अरुण, ह्रस्व, दीर्घ, कृश, स्थूल, चतुरस्र एव वृत्तवत्। स्पर्शगुण विशिष्ट वायु का स्पर्श भी अनेक प्रकार का बताया है, जैसे—रूक्ष, शीत, उष्ण, स्निग्ध, विशद, कठिन, चिकना, कोमल, दारुण और मृदु। शब्द की अनुभूति भी कई प्रकार की बताई है—षड्ज, ऋषभ, गाधार, मध्यम,

---

१. अश्व ४२ वाँ अध्याय। शान्ति २१० वाँ अध्याय।

२. शब्दलक्षणमाकाशं वायुस्तु स्पर्शलक्षण.। इत्यादि। आदि ४३।२२-३५
भूमिः पञ्चगुणा ब्रह्मन्नुदकञ्च चतुर्गुणम्। इत्यादि। वन २१०।४-८।
भीष्म ५।३-८। शान्ति २५१ वाँ अध्याय।

पचम, निषाद, धैवत, इष्ट, अनिष्ट व सहत आदि शब्द के ही प्रकार भेद हैं। न्याय अथवा वैशेषिक मे यद्यपि गुणो का विभाग इस प्रकार नही किया गया है, तथापि यह उनके सिद्धान्त के विपरीत नही है।[1]

जीवात्मा का अनुमान—सुख और दुख जीव के ही आश्रित हैं, अतएव सुख दुख की अनुभूति से जीवात्मा का अनुमान लगाया जा सकता है। पुण्य व पाप का आश्रय भी जीव होता है।[2]

पदार्थ निरूपण—वैशेषिको द्वारा स्वीकृत द्रव्य आदि सप्त पदार्थों को महाभारत मे स्थान नही मिला है। शुकानुप्रश्न मे कहा गया है कि पचभूत के अलावा और कोई पदार्थ नही होता। देही या आत्मा को पृथक् मानना पडेगा, दूसरे सब पदार्थ पचभूत के अन्तर्गत आ जाते है। नवीनता, पुरातनता आदि की तरह द्रव्यगत अतीत, वर्तमान एव भविष्यत् के व्यवहार से काल का ज्ञान होता है। यह भी द्रव्यमात्र है। दिक् को पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नही है। आकाश में तेजोमय सूर्य की अवस्थिति से उसे केन्द्र मानकर ही पूर्व पश्चिम आदि का निर्णय किया जाता है, अर्थात् आकाश के जिस कल्पित अश मे सूर्य उदित होता है उसे पूर्व और जिस अश मे अस्त होता है उसे पश्चिम माना जाता है, इस प्रकार दिशाएँ सूर्य के अवस्थान से आकाश का कल्पित स्थान मात्र हैं। (रघनाथ शिरोमणि ने भी दिशाओ को पृथक् पदार्थ नही माना है।) मन को भी पृथक् द्रव्य नही माना है। मन इन्द्रिय है, इसलिये वह जिस गुण को भी ग्रहण करेगा, उसी का आश्रय कहलायगा। और उन सब शब्द आदि भौतिक पचगुणो के आश्रय केवल पचभूत हैं, अतएव मन भी भूतात्मक पदार्थ है। भूतात्मक द्रव्यो की स्वभावच्युति होने पर उनमे स्पदन आदि जो क्रिया (कर्म) उपस्थित होती है, वह भी भूत के अतिरिक्त कुछ नही है। 'यह वस्तु सत् है' इस व्यवहार की उपपत्ति के निमित्त द्रव्य, गुण व कर्म मे 'सत्ता' अथवा 'सामान्य' पदार्थ माना गया है। आधार या अधिष्ठान की सत्ता मे ही वस्तु की सत्ता हो सकती है, उसके लिये दूसरे पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है।

विशेष समवाय व अभाव के प्रभाव का खडन—द्रव्यो मे नित्यता नामक विशेष पदार्थ मानना अनावश्यक है, क्योकि एकमात्र आत्मा के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु को नित्य मानना श्रुतिविरुद्ध है, अतएव 'विशेष' पदार्थ का सहज रूप से

---

१. अश्व ५०।३८।५४। शान्ति १८४ वाँ अध्याय।

२ व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनो व्याकरणात्मकम्।
कर्मानुमानाद्विज्ञेय. स जीव. क्षेत्रसज्ञक.॥ शाति २५१।११

खडन हो जाता है। समवाय को अगीकार न करने पर भी यह मानने मे कोई वाधा नही है कि द्रव्य मे समवाय विशिष्ट रूप आदि वस्तुएँ होती हैं। इसके अलावा श्रुतिविरुद्ध कोई भी सबधरूप पदार्थ मानने की आवश्यकता नही है। अभाव पदार्थ भी अधिकरण स्वरूप है। विशेषत असत् पदार्थ प्रागभाव एव प्रध्वसाभाव के प्रतियोगी हैं असत्प्रतियोगिक अभाव पदार्थ की स्वीकृति सगत नही है, अतएव अभाव का पृथक् पदार्थत्व भी खडित हो जाता है।[1]

संशय और निष्ठा—पाँच ज्ञानेन्द्रिय एव पाँच कर्मेन्द्रियो के सबध मे पहले ही कहा जा चुका है। मन का कार्य सशय है और बुद्धि का निष्ठा। इन्द्रियो के साथ जब तक मन का योग न हो, किसी प्रकार की अनुभूति नही होती।[2] मन व बुद्धि की जिन क्रियाओ का उल्लेख मिलता है, वे नैयायिक या वैशेषिक मत के सिद्धान्तो से भिन्न है। उनके मतानुसार सशय एव निष्ठा बुद्धि के ही प्रकार भेद हैं।

इन्द्रियो का विषयग्रहण—इन्द्रियो मे मन प्रधान है। मन के सयुक्त हुए बिना कोई भी इन्द्रिय विपयवस्तु ग्रहण नही कर सकती। मन यदि अस्वस्थ हो तो दूसरी इन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण करने मे असमर्थ होती हैं।[3] अन्यत्र कहा गया है कि मन ही मनुष्य की प्रवृत्ति का मूल कारण है। मन जिस इन्द्रिय की सहायता से जिस विषय का उपभोग करना चाहता है, उसी विषय का भोग करने के लिये जीव मे औत्सुक्य उपस्थित होता है, इसके वाद प्राणी मन व उस इन्द्रिय के सयोग से उस विषय का उपभोग करता है।[4] इस मत व युक्तिशास्त्र के सिद्धान्त मे पूर्ण समानता न होते हुए भी दोनो की प्रक्रिया प्राय एक सी है। कहा गया है, विषय-ग्रहण की उत्सुकता या प्रवृत्ति का जन्म जीवात्मा मे होता है, मन मे नही। यहाँ मन शव्द शायद जीव के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

मिथ्याज्ञान, मुक्ति आदि—विषयवासना सव कर्मो का मूल है और विषय-

---

१. आकाशं मारुतो ज्योतिरापः पृथ्वी च पंचमी।
भावाभावौ च कालश्च सर्वभूतेषु पंचसु॥ शांति २५१।२
पंचसु पंचात्मकेषु। एतेन भावाभावकालानामपि भौतिकत्वमुक्तम्।
इत्यादि। नीलकंठ। शांति २५१।२

२. अश्व २२ वाँ अध्याय।

३. मनश्चरति राजेन्द्र चरितं सर्वमिन्द्रियैः।
न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवानुपश्यति॥ शाति ३११।१६-२१

४. षडिन्द्रियाणि विषयं समागच्छन्ति वै यदा।
तदा प्रादुर्भवत्येषां पूर्वसंकल्पजं मनः॥ इत्यादि। वन २।६७-७०

वासना का मूल है प्रारब्ध। मुक्ति न मिलने तक इन दोनो मे चक्र की परिधि के समान क्रमिक पूर्वापरत्व रहता है। जब तक तत्त्व ज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान पूर्णरूप से तिरोहित नही होता, तब तक जीव को ससार मे बारम्बार आवागमन करना पडता है। मिथ्याज्ञान के दूर होने तक जीव की मुक्ति नही होती।[१] शरीर ही आत्मा के दु ख का कारण है, शरीर का हेतु है कर्म। कर्म न करने पर जन्मान्तरीय कर्मफल भोगने के लिये शरीर धारण नही करना पडता। राग आदि दोषो से कर्म मे प्रवृत्ति का जन्म होता है। और उसके प्रवर्त्तक अनुराग आदि मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतएव ससार का मूल कारण हुआ—मिथ्याज्ञान।[२] यह अश न्याय शास्त्र से बिल्कुल मिलता है। "दु ख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष मिथ्याज्ञानानामुत्त-रोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग", "दोषनिमित्त रूपादयो विषया सकल्पकृता" इन दोनो न्याय सूत्रो का तात्पर्य यह है कि, मिथ्याज्ञान या अज्ञान से सकल्प की उत्पत्ति होती है, सकल्प से भोग्य विषय, इसके बाद विषय मे प्रीति, फिर प्रीतिलाभ के निमित्त प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, प्रवृत्ति के होने से जन्म या शरीर धारण करना ही पडता है, शरीर धारण करने पर सुख दु ख भी अवश्यभावी हैं, सुख-दु ख से राग, द्वेष, वासना इत्यादि की उत्पत्ति होती है और इसके बाद फिर वही सकल्प—इस प्रकार मुक्ति न होने तक यह चक्र चलता रहता है समस्त विषयो के मूल कारण मिथ्याज्ञान का जब तक उच्छेद नही हो जाता, तब तक कार्यकारण की यह परम्परा समाप्त नही होती, रथचक्र की गति की तरह निरन्तर अपनी धुरी पर घूमती रहती है। युधिष्ठिरशौणक सवाद मे इस तत्त्व की विस्तृत आलोचना मिलती है। विषय-वैराग्य के अतिरिक्त इस दुख से उद्धार मिलने का कोई उपाय नही है।[३]

परमाणुवाद—परमाणुवाद के सबध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। अश्वमेध पर्व के गुरुशिष्यसवाद मे कहा गया है कि—"कुछ विद्वान् जगत्कारण का बहुत्व स्वीकार करते हैं।" नीलकठ ने परमाणवादी को ही बहुत्ववादी कहा है।[४]

---

१. तत्कारणैर्हि संयुक्तं कार्यसंग्रहकारकम्।
येनैतद् वर्त्तते चक्रमनादिनिधन महत्॥ शान्ति २११।७
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुन.॥ शान्ति २११।१७

२. नोपपत्त्या न वा युक्त्या त्वसद्ब्रूयादसंशयम्। शांति २७४।७

३. स्नेहादभावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा।
अश्रेयस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरुः स्मृतः॥ वन २।२९-३१

४. बहुत्वमिति चापरे। अश्व ४९।४। नीलकंठ

पंच अवयव—देवर्षि नारद के लिये जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनमें एक शब्द 'न्यायवित' है। इससे पता चलता है कि वे न्यायवैशेषिक शास्त्र एवं मीमांसा के पंचांगी अधिकरण के विद्वान् थे।[1] वहाँ यह भी कहा गया है कि देवर्षि नारद पंच अवयव युक्त वचनों के गुणदोष की मीमांसा करने में पटु एवं सुनिश्चित प्रमाण आदि विषयों में निपुण हैं। इस उक्ति से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार का मतलब न्याय के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पांच अवयवों से है।[2]

---

१. न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडंगविदनुत्तमः। सभा ५।३

२. पंचावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्। सभा ५।५

सांख्य और योग

महाभारत मे साख्यदर्शन की विस्तृत समीक्षा हुई है। यहाँ हम यथासभव सक्षेप मे उस पर प्रकाश डालेंगे।

सांख्यविद् आचार्य—जैंगीषव्य, असित, देवल, पराशर, याज्ञवल्क्य, वार्षगव्य, भृग, पचशिख, कपिल, शुकदेव, गौतम, आर्ष्टिसेवा, गर्ग, आसुरि, पुलस्त्य, सनत्कुमार, शुक्र, कश्यप, जनक, रुद्र व विश्वरूप ये सब साख्यविद् आचार्य माने जाते थे।[1]

याज्ञवल्क्य की श्रेष्ठता—इन सब आचार्यों मे याज्ञवल्क्य को सबसे ऊँचा आसन दिया गया है। साख्यशास्त्र मे कपिल का पाडित्य सर्वजनविदित है। महाभारत मे याज्ञवक्ल्य का उपदेश ही अधिक सकलित हुआ है।[2]

साख्य का प्रचार—सर्वप्रथम महर्षि कपिल ने आसुरि को साख्य विद्या सिखाई। कृष्ण ने भी साख्यकारिका के अत मे महामुनि कपिल के आदि प्रचारक होने का समर्थन किया है। उसमे लिखा है—महामुनि कपिल ही साख्यदर्शन के आदि प्रचारक थे। उन्होंने यह विद्या आसुरि को प्रदान की। आचार्य आसुरि पचशिख के गुरु थे और आचार्य पचशिख ने इस शास्त्र का सबसे अधिक प्रचार किया। जनक के कथन से भी स्पष्ट होता है कि आचार्य पचशिख ने कठिन परिश्रम द्वारा यह विद्या शिष्यो को सिखाई थी।[3]

सांख्य की विस्तृति—प्राचीन काल मे एक समय ऐसा आया था, जब साख्यदर्शन सर्वापेक्षा लोकप्रिय हो गया था, उसका प्रमाण यह है कि पुराण, इतिहास, व तन्त्र मे साख्य का मत ही प्रधानतया गृहीत हुआ है। पुराण आदि मे प्रसगवश

---

१. जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्। शान्ति ३१८।५९-६६

२. सांख्यज्ञानं त्वया ब्रह्मन्नवाप्तं कृत्स्नमेव च।
तथैव योगशास्त्रञ्च याज्ञवल्क्य विशेषतः॥ इत्यादि। शाति ३१८। ६७, ६८

३. एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पचशिखाय तेन च बहुधा कृत तन्त्रम्॥ साख्यकारिका ७०
यमाहु. कपिलं साख्याः परमर्षि प्रजापतिम्। शान्ति २१८।९, १०

जितने दार्शनिक मतो की चर्चा हुई है, उसका अधिकाश साख्यदर्शन पर अवलम्बित है। 'सिद्धाना कपिलो मुनि' गीता की इस भगवत्-उक्ति से महर्षि कपिल की विज्ञता स्पष्ट हो जाती है। "नास्ति साख्यसम ज्ञान, नास्ति योगसम बलम्" इस प्राचीन वाक्य मे भी साख्य का महत्व प्रदर्शित हुआ है। हिन्दूधर्म के अनुसार प्रत्येक हिन्दू को प्रतिदिन मरीचि, वशिष्ट आदि ऋषियो के उद्देश्य से तो तर्पण करना ही पडता है, किन्तु कपिल, आसुरि पचशिख आदि साख्याचार्यो को भी तर्पण दिये बिना वह जलग्रहण नही कर सकता। इन सब बातो से पता चलता है कि उस काल मे साख्याचार्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गये थे। उपर्युक्त आचार्यों मे केवल कपिल के सूत्र ग्रथबद्ध हुए है और व्यासभाष्य मे कही कही आचार्य पच-शिख के सूत्र उद्धृत हुए है। दूसरे आचार्यो के उपदेश कालक्रम मे विलुप्त हो चुके हैं। वर्त्तमान मे साख्यदर्शन की दशा सवार्पेक्षा शोचनीय होने का सबसे बडा कारण है ग्रथो का अभाव। साख्यशास्त्र महाज्ञान स्वरूप है। भीष्म ने कहा है, वेद, योग, पुराण, इतिहास आदि शास्त्रो मे जो ज्ञान उपलब्ध है, वह सब साख्यशास्त्र से लिया गया है।[१]

धर्मध्वज जनक का सांख्यज्ञान—राजर्षि जनक बहुत बडे तत्त्वज्ञानी थे। सर्वशास्त्रो का इतना बडा पडित एव विद्या का उत्साही योगी गृहस्थ आज तक पृथ्वी पर फिर जन्मा कि नही, इसमे सदेह है। उनके सिहासन को केन्द्र बनाकर एक प्रकाण्ड विश्वविद्यालय तैयार हो गया था। राजर्षि ससार मे रहते हुए भी मुक्त थे। ब्रह्मचारिणी सुलभा के साथ हुए कथोपकथन मे उन्होने कहा है "परा-शरगोत्र महान् वृद्ध भिक्षु पचशिख मेरे गुरु हैं, मैं उनका परम प्रिय शिष्य हूँ। साख्य, योग एव राजधर्म के वे असाधारण पडित है, विशेषत ज्ञान, उपासना और कर्म-काड मे उनकी विज्ञता अतुलनीय है। शास्त्र के सिद्धान्तो के ऊपर उनका अटल विश्वास है। एक बार परिव्राजक के रूप मे भ्रमण करते हुए वे मेरी नगरी मे आ गये थे और चार मास तक यहाँ रहे थे। उसी समय उन्होने अनुग्रहपूर्वक मुझे साख्य आदि मोक्षशास्त्र के तत्त्वो को समझाया था।[२]

---

१. बृहच्चैवमिद शास्त्रमित्याहुर्विदुषो जनाः। शान्ति ३०७।४६
ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणे सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र। इत्यादि।
शान्ति ३०१।१०८, १०९

२. पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पंचशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः। इत्यादि। शांति ३२०।२४-२८

कराल का साख्यज्ञान—जनकवशीय राजर्षि कराल ने वशिष्ठ से साख्य-दर्शन पढा था।[१]

वसुमान जनक की शिक्षा—वसुमान जनक ने एक भृगुवशीय ऋषि के चरणो मे बैठकर साख्यदर्शन की शिक्षा ली थी।[२]

दैवराति जनक का ज्ञान—दैवराति जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य की चरणसेवा करके साख्यदर्शन सीखा था।[३]

साख्य का उपदेश—मिथिला के इस राजर्षिवश जैसे सच्चरित्र, शास्त्रनिष्ठ व योगिराजवश का कोई और उदाहरण नही मिलता। महाकवि कालिदास ने रघुवश के राजाओ की गुणगाथा अपनी अमर लेखनी द्वारा लिखी है किंतु मिथिला के इस जनकवश का चित्र खीचने की किसी महाकवि ने चेष्टा नही की। महाभारत के रचयिता ने अवश्य इस राजवश के त्याग, आदर्श व विद्वत्ता का वर्णन किया है। उपरोक्त राजर्षि शिष्यो एव महर्षि अध्यापको के मुख से जो कुछ विवृत हुआ है, वही महाभारतीय साख्यदर्शन की मलभित्ति है। प्रसगवश श्रीमद्भगवतगीता अनुगीता, अश्वमेघपर्व, गुरुशिष्यसवाद आदि अध्यायो मे थोडा बहुत साख्यमत व्यक्त हुआ है।

पदार्थ-निरूपण—साख्य के पदार्थ-निरूपण मे कहा गया है कि आठ पदार्थ प्रकृति कहलाते हैं और सोलह पदार्थ विकृति। अव्यक्त, महत्, अहकार, पृथिवी, वायु, आकाश, अप् और ज्योति ये आठ प्रकृति माने जाते हैं। मूला प्रकृति एव महत् आदि प्रकृतिविकृति को भी केवल प्रकृति कहा गया है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गघ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ एव मन ये सोलह पदार्थ विकृति माने जाते हैं। सत्त्व आदि तीनो गुणो की साम्य अवस्था को अव्यक्त कहा गया है। अव्यक्त से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है, महत् से अहकार, अहकार से भूतगुणयुक्त मन, मन से पचभूत और पचभूत से यथाक्रम शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गघ का उद्भव होता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एव घ्राण की उत्पत्ति भी मन से ही होती है। प्राण, अपान, समान, उदान व व्यान नामक पचवायु इन्द्रियो मे ही परिगणित होती हैं। अतएव अव्यक्त, महत्, अहकार और मन ये चार, पचभूत, शब्द आदि पाँच तन्मात्र, पाँच ज्ञानेन्द्रिय एव पाँच कर्मेन्द्रिय—सब मिलाकर चौबीस पदार्थ या चौबीस तत्त्व साख्य मत मे माने जाते हैं।[४]

---

१. शान्ति ३०२ वें अध्याय से ३०८ वे अध्याय तक।

२. शान्ति ३०९ वाँ अध्याय।

३. शान्ति ३१० वें अध्याय से ३१८ वें अध्याय तक।

४. शान्ति ३१० वाँ अध्याय। अश्व ४१ वाँ व ४२ वाँ अध्याय।

साख्य सम्मत इन चौबीस तत्त्वो की चर्चा महाभारत मे कई स्थानो पर हुई है। महत तत्त्व को सूत्र एव अहकार को विराट नाम भी दिया गया है। महत् तत्त्व की दूसरी सज्ञा हिरण्यगर्भ है। आकाश आदि पचभूत की सृष्टि मे आकाश से वायु, वायु से अग्नि यह क्रमबद्धता श्रुतिसम्मत है। लेकिन यहाँ यह स्वीकृत नही हुआ है। कहा गया है कि पचमहाभूतो की सृष्टि एक ही साथ होती है। अव्यक्त अवस्था से एक ही समय मे व्यक्त अवस्था की प्राप्ति होती है। चौबीस तत्त्व साख्य सम्मत है।[1] इन चौबीस तत्त्वो के ऊपर एक पदार्थ और है, किंतु उसमे निर्गुणता होने के कारण उसे तत्त्व नही कहा जा सकता। यद्यपि कार्यकारणत्व का अभाव इसकी तत्त्वस्वीकृति मे बाधक है, तथापि समस्त तत्त्वो के चरम अधिष्ठान के रूप मे उसे भी तत्त्व की आख्या दी गई है। इस तत्त्व का नाम है पुरुषतत्त्व या अमर्त्ततत्त्व। पुरुष अमूर्त्त एव असग होता है, इस कारण वह किसी का भी अधिष्ठाता नही हो सकता। वह चेतन एव उपाधिरहित है। प्रकृत रूप मे अमूर्त्त होते हुए भी सष्टि प्रलय-विधायिनी प्रकृति मे प्रतिबिम्बित होने के कारण दर्पण मे प्रतिबिम्बित मुख के समान वह मूर्त्तिमान है।[2] दृश्यमान जगत का विनश्वर होना प्रकृति का ही परिणाम है, प्रकृति का एक नाम "प्रधान" है।[3]

पुरुष का शरीर धारण—अपना स्वरूप न समझ पाने के कारण पुरुष अज्ञानवश प्रकृति का अनुवर्त्तन करता रहता है, इसीलिये बार-बार जन्ममृत्यु के माध्यम से उसका सहस्रो शरीरो से सबध होता है। यह सबध भी प्रकृत नही होता, अभिमानिक मात्र होता है।[4]

छब्बीस तत्त्व एवं मुक्ति—महाभारत मे वर्णित साख्य मे ईश्वर या परब्रह्म

---

१. शान्ति ३०२ वाँ अध्याय।
महानात्मा तथा व्यक्तमहंकारस्तथैव च। इत्यादि। अश्व ३५।४७-५०
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः। वन २०९।२१

२. पंचविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः।
तत्त्वसंश्रयणादेतत्तत्त्वमाहुर्मनीषिणः॥ शान्ति ३०२।३८
चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्त्तः पंचविंशकः। इत्यादि। शाति ३०२।३९-४२

३. यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति। शान्ति ३०२।३९
प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च। शान्ति ३०३।३१

४. एवमप्रतिबुद्धत्वादबुद्धमनुवर्त्तते।
देहाद्देहसहस्राणि तथा समभिपद्यते॥ शांति ३०३।१

को भी स्थान मिला है। महाभारत के साख्य की मुक्ति ईश्वर को छोडकर नही मानी है। इस विषय पर आगे प्रकाश डाला जायगा। ईश्वर को पच्चीस तत्त्वो के ऊपर छब्बीसवाँ तत्त्व माना है। जीवात्मा या पुरुष को चौबीस तत्त्वो का ज्ञान होने पर भी आत्मज्ञान नही होता। अप्रमेय, सनातन छब्बीसवें तत्त्वरूप परब्रह्म का ज्ञान होते ही पुरुष को मुक्ति मिल जाती है। जीव जब प्रकृति पर अधिकार पा लेता है, तभी शुद्ध ब्रह्मबुद्धि उसमे उद्भूत होती है। अध्यात्मविद्या के उदय से छब्बीस तत्त्वो का ज्ञान एव प्रकृतिविजय दोनो एक साथ होते हैं। अव्यक्त प्रकृति से अपना यथार्थ भेद समझते ही जीव केवलधर्मा कहलाने लगता है, तब जीव स्वय को छब्बीसवाँ तत्त्व मानकर परब्रह्म के साथ मिल जाता है और प्राज्ञ, नि सग, स्वतत्र, केवलात्मा आदि विशेषणो से विभूषित हो जाता है। यह परब्रह्म प्राप्ति ही जीव की मुक्ति है, केवल तत्त्वो का ज्ञान होने से मुक्ति नही हो जाती। वशिष्ठ के साख्य का यही सिद्धान्त है।[१]

ब्रह्म व साख्य विद्या का ऐक्य—नारद ने यह विद्या वशिष्ठ से अर्जित की थी। नारद ने भीष्म को और भीष्म ने युधिष्ठिर को इसका उपदेश दिया। वशिष्ठ ने साख्य दर्शन का तत्त्व हिरण्यगर्भ से समझा था। भीष्म ने कहा है कि छब्बीसवें तत्त्व का स्वरूप जान लेने पर पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष अपना स्वरूप जान जाता है और उसे मुक्ति मिल जाती है। इस ज्ञान का आस्वाद मिलने पर मनुष्य को मत्यु का भय नही रह जाता, उसकी मूढता देवत्व मे परिणत हो जाती है यह विद्या वहुत ही श्रद्धालु, गरुमक्त, विनीत, क्रियावान् व पवित्रचेता शिष्य को देनी चाहिये। उपनिषदो की ब्रह्मविद्या के साथ साख्य का ऐसा सामजस्य साख्य या वेदान्त के किसी दूसरे ग्रथ मे किया गया है कि नही हमे नही मालूम। महा-भारत के इस पूरे अध्याय मे साख्य के साथ ब्रह्मविद्या को मिलाकर मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया गया है। कहा है, केवलात्मा स्वतन्त्र पुरुष, केवल, स्वतन्त्र स्वरूप ब्रह्म के साथ मिलकर मोक्षत्व को प्राप्त होता है। मुक्ति का यह लक्षण किसी भी साख्यग्रथ मे नही मिलता।[२]

जातिनिर्वेद आदि का उपदेश—प्रत्येक आस्तिक दर्शन का आरभ दुखवाद से और समाप्ति उस दुख के पूर्ण उच्छेद के पथप्रदर्शन से होती है। अप्रिय होने के कारण सभी व्यक्ति दुख से निष्कृति पाने की चेष्टा करते है, उस चेष्टा की चरम सार्थकता

---

१. शान्ति ३०८ वाँ अध्याय।

२. केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमवाप्नु ते॥ शान्ति ३०८।३०

मुक्ति मे ही है। महाभारत के साख्य प्रकरण मे एक अध्याय केवल इसी वात को समझाने के लिये लिखा गया है।[1] आचार्य पचशिख ने भी राजा जनक को पहले जातिनिर्वेद (जन्म ही दु ख का हेतु है), उसके वाद कर्मनिर्वेद (जपतप का फल चिरस्थायी नही होता, पुण्यक्षय होने पर फिर दुख भोगना पडता है) और अत मे सर्वनिर्वेद (मुक्ति का उपाय) के सबध मे उपदेश दिया था।[2]

प्रकृति या प्रधान—जिन छब्बीस तत्त्वो का उल्लेख आया है, उनमे प्रथम तत्त्व प्रकृति है सत्व, रज एव तम इन तीन गुणो की साम्य अवस्था का नाम प्रकृति है। ये तीनो गुण यद्यपि प्रकृति के धर्म नही है, किंतु प्रकृति से अभिन्न हैं। सत्व आदि तीनो गुणो का स्वरूप समझ मे आते ही प्रकृति का स्वरूप भी मनुष्य जान जाता है। गीता मे इन तीनो गुणो को 'प्रकृतिसम्भव' कहा गया है। प्रकृतिसभव शब्द 'प्रकृति से उत्पन्न' अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। अभेद मे भेद की कल्पना की गई है। वस्तुत गुणत्रय और प्रकृति एक ही वस्तु है। जो प्रधान है, वही 'प्रकृति' है। उस व्युत्पत्ति के द्वारा प्रकृति शब्द की योगरूढता वताई गई है।[3] जिसकी प्रतिच्छवि आत्मा मे झलकती है, वही 'प्रधान' है।[4] सत्वगुण की प्रधानता से मनुष्य का स्वभाव आनन्द, उद्रेक, प्रीति, सन्तोप, श्रद्धा, क्षमा, धृति अहिंसा , दानशीलता, सरलता, समता, सत्य आदि गुणयुक्त होता है। रजोगुण के फलस्वरूप मनष्य स्वभाव से अहकारी, भेदभाव रखने वाला, निर्लज्ज, कामी, क्रोधी, लोभी निर्दयी एव परनिन्दक होता है और जिस व्यक्ति मे मोह, दिवानिद्रा, अत्यासक्ति, धर्मद्वेष, आलस्य, प्रमाद आदि गुणो की प्रधानता हो वह तमोगुणी होता है।[5] श्रीमद्‌भगवतगीता के चौदहवे अध्याय तथा दूसरे कई स्थानो पर उसी के अनुरूप तीनो गुणो के कार्य एव प्रभाव का वर्णन पाया जाता है।[6] सत्व-

---

१. शान्ति ३०३ रा अध्याय।

२. जातिनिर्वेदमुक्त्वा स कर्मनिर्वेदमब्रवीत्। इत्यादि। शान्ति २१८।२१

३. प्रकृतिर्गुणान् विकुरुते स्वच्छन्देनात्मकाम्यया।
क्रीडार्थे तु महाराज शतशोऽथ सहस्रशः॥ शाति ३१३।१५

४. अनेन प्रतिबोधेन प्रधानं प्रवदन्ति तत्। शांति ३१८।७१। नीलकंठ देखिये।

५. सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाश्यमेव च। इत्यादि।
शांति ३१३।१७-२८। शांति २१२।२२-२४। शाति २१९।२६-३१

६. सत्त्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा।
तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धि सप्तगुणा तथा॥ इत्यादि। शाति ३०१।

गुण को देवत्व का द्योतक वताया है और दूसरे दोनो गुणो को 'आसुर' की सज्ञा दी गई है।[1]

प्रकृति अलिग एव अनुमेय होती है, प्रत्यक्ष रूप से उसे देखा नही जा सकता, किन्तु हेतु द्वारा सत्व, रज व तम गुणो का प्रभाव देखकर उसका अनुमान किया जा सकता है।[2]

साख्य दर्शन मे कहा गया है कि जड होते हुए भी प्रकृति ही कर्त्री होती है, पुरुप निष्क्रिय है परन्तु चेतन है। पगु-अव न्याय के अनुसार दोनो के मिलन से ही सृष्टि की प्रक्रिया चल सकती है। जीव की सृष्टि के लिये जिस प्रकार पुरुप एव स्त्री दोनो का मिलन आवश्यक है, क्या उसी प्रकार जगत की सृष्टि के लिये भी प्रकृति व पुरुप दोनो का मिलन आवश्यक है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वशिष्ठ साख्य मे कहा गया है कि, दृश्यमान जैव सृष्टि एव जगत सृष्टि मे बहुत अतर है। जिस प्रकार द्रोणाचार्य, अगस्त्य आदि व्यक्तियो का जन्म मातृगर्भ के विना ही गया था तथा धृष्टद्युम्न व कृष्णा का जन्म माता-पिता दोनो के ही अभाव मे हो गया था उसी प्रकार केवल प्रकृति से भी सृष्टि का होना सभव तो है, किंतु पुरुप का अधिष्ठातृत्व अवश्य मानना पडेगा।[3] पुरुप निमित्त कारण मात्र होता है, उपादान नही। प्रकृति की अनुमेयता सिद्ध करने के लिये उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार कालस्वरूप ऋतु प्रत्यक्षरूप से यद्यपि दृष्टिगोचर नही होती, किंतु भिन्न-भिन्न ऋतुओ के फल-फूल देखकर ऋतु का अनुमान लगाया जाता है, उसी प्रकार महत् आदि तत्त्वो के माध्यम से प्रकृति का अनुमान भी किया जा सकता है।[4] सृष्टि के लिये ईश्वर को भी निमित्त वनना पडेगा क्योकि उनकी इच्छा से ही प्रकृति अपनी परिणति पर पहुँचती है। प्रकृति की वहुमुखी परिणति का नाम ही सृष्टि

१४-१७ अश्व ३१।१, २। अश्व ३६ वें से ३८ वें अध्याय तक। शाति २८५ वाँ अध्याय। शाति ३०२ वाँ अध्याय।

१. सत्व देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ। शाति २१६।१८

२. अलिगा प्रकृति त्वाहुर्लिगैरनुमिमीमहे। शाति ३०३।४७

३. शान्ति ३०५ वाँ अध्याय। अश्व १८।२५-२८
अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते सहरत्यपि।। शाति ३१४।१२
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। भीष्म ३३।१०

४. यथापुष्पफलैर्नित्यमृतवोऽमूर्त्तयस्तथा।
एवमप्यनुमानेन ह्यलिगमुपलभ्यते।। शाति ३०५।२६

है। अनेको प्रकार से व्यक्त वस्तुएँ ईश्वर की इच्छा से अपने अपने कारण मे विलीन हो जाती हैं। अन्त मे केवल प्रकृति अवशिष्ट रहती है और फिर प्रकृति भी निराकार पुरुष मे लीन हो जाती है। प्रकृति के इस विलीनीकरण के बाद एकमात्र पुरुष परमार्थ मे प्रतिष्ठित रह जाता है। प्रकृति के विलीन होने का वर्णन भी महाभारतीय साख्य की एक विशिष्टता है।[1]

प्रकृति से महत् आदि की अभिव्यक्ति एव तत्त्वो का प्रतिलोम क्रम से अपने अपने कारण मे विलय ठीक सागर की लहरो के समान है। जिस प्रकार लहरो की समुद्र से अलग कोई सत्ता न होते हुए भी व्यवहार मे उन्हे 'समुद्र की तरग' कहा जाता है, उसी प्रकार लीलामयी प्रकृति की लीला या विशिष्ट अभिव्यक्तियो को ही आचार्यों ने पृथक्-पृथक् सज्ञा देकर शिष्यो को समझाया है। लौकिक व्यवहार निभाने के लिये ही उस सत्ता की कल्पना की गई है। वास्तव मे ये सव पदार्थ केवल विभिन्न नामो द्वारा पृथक् नही हो जाते।[2]

प्रकृति से परिणत कल्पित पदार्थ भी प्रकृति मे ही अधिष्ठित रहते है, यह सिद्धान्त भी गलत नही है। यो तो सर्वप्रथम इसी रूप की कल्पना उभरती है, किंतु वास्तव मे चिदात्मा मे ही समस्त वस्तुओ का अधिष्ठान है। केवल उसी का अधिष्ठातृत्व मुख्य है, प्रकृति के अधिष्ठातृत्व की कल्पना गौण है। पुरुप ही प्रकृति के माध्यम से महत् आदि तत्त्वो की सृष्टि करता है। सूर्यकात मणि स्वय एक तृण को भी नही जला सकती, किन्तु उसके माध्यम से आने वाली सूर्य किरण की दाहिका शक्ति को ही हम मणि की शक्ति मान लेते है। काष्ठ के अन्दर अग्नि होते हुए भी जिस प्रकार घर्षण के विना उसकी उपलब्धि नही होती, उसी प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु मे भगवत्सत्ता के होते हुए भी हमारे चित्त की मलिनता उसे देख नही पाती। ईश्वर ही सकल पदार्थो का अधिष्ठाता व अभिव्यजक है। प्रकृति मध्यवर्त्ती निमित्तमात्र है।[3]

पुरुष—पुरुष या जीवात्मा निर्गुण है। उसके स्वभाव का कभी क्रम विपर्यय नही होता। अज्ञानतावश जीव प्रकृति के धर्म को अपना धर्म मानकर स्वय को

---

१. यस्माद् यदभिजायेत् तत्तत्रैव प्रलीयते। शांति ३०६।३२। शाति ३४७।१३-१६

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथ्व्यप्सु प्रलीयते। इत्यादि। शांति ३३९।२९-३१

२. गुणा गुणेषु सततं सागरस्योर्मयो यथा। शाति ३०६।३२

३. सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम।

एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वञ्च तदासृजत्॥ शांति ३०६।३३-३८

सुख-दुख का भोक्ता समझ बैठता है। अपना प्रत्यक्षदर्शी स्वरूप समझ न पाने के कारण ही जीव इतना दुख उठाता है। याज्ञवल्क्य की साख्यविद्या मे यद्यपि यह कथित है कि बहुपुरुषवाद निरीश्वरसाख्य मे स्वीकृत हुआ है किंतु स्वय याज्ञवल्क्य ने इस सिद्धान्त का समर्थन नही किया है। उन्होने कहा है सर्वभूत पर दयावान केवल ज्ञानी महापुरुष अव्यक्त के एकत्व और पुरुष के बहुत्व सिद्धात को मानते हैं। उनके मतानुसार अव्यक्त आदि तत्व पुरुष अर्थात् जीव का ही बाह्यरूप है, इसको समझाने के लिये उन्होंने श्रुतिप्रसिद्ध मूंज और इषीका का दृष्टात दिया है। प्रकृति की व्यक्त अवस्थास्वरूप ससार से पुरुष की निर्लिप्तता को भली भाँति समझाने के लिये जलमत्स्य-न्याय, पुष्करोदक न्याय, मशकोदम्बर न्याय एव उखाग्नि न्याय का प्रयोग किया गया है।[1]

याज्ञवल्क्य के उपदेश मे पुरुष का एकत्व जिस भगिमा से दर्शाया गया है, वह वेदातदर्शन के जीवनिरूपण से हूबहू मिलता है। नीलकठ ने अपनी टीका के इस अध्याय के अत मे "अगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट" यह श्रुतिवाक्य उद्धृत किया है। अज्ञान से आछन्न जीव जब तक अपनी आनन्दमयता एव निर्लिप्तता को नही समझता, तब तक उसका अहकार बना रहता है तथा प्रकृति के धर्म को अपने ऊपर आरोपित करके उसमे उत्पन्न सुख दुख के कारण विमूढ बना रहता है। असग होते हुए भी अहकार के वशीभूत होकर वह ससार मे लिप्त रहता है, शुद्ध होते हुए भी अशुद्ध बना रहता है और स्वय को त्रिगुणात्मक प्रकृति का अनुगत मानने के कारण ही वह त्रिगुण कहलाता है। अज्ञानता भी जीव का धर्म नही है, वह भी प्रकृति का ही धर्म है, किंतु जीव इतना विमूढ बन जाता है कि प्रत्येक वस्तु को अपना मान लेता है।[2]

कल्पित महद् आदि तत्वो के प्रकृति मे विलीन होने पर जिस प्रकार एकमात्र प्रकृति ही अवशिष्ट रह जाती है, उसी प्रकार पच्चीसवें तत्त्वरूप क्षेत्रज्ञ अक्षर पुरुष भी अपना स्वरूप समझने के बाद छब्बीसवें तत्त्व को प्राप्त हो जाता है। अज्ञान का क्षय ही उसके इस स्वरूप ज्ञान का हेतु है। वास्तविकता तो यह है कि क्षेत्रज्ञ पुरुष स्वय द्रष्टा एव निर्गुण होता है। प्रकृति का सान्निध्य ही उसका बधन है। प्रकृति से अपनी पृथकता का ज्ञान होते ही वह पूर्ण रूप से विशुद्ध हो जाता है।

---

१. अव्यक्तैकत्वमित्याहुर्नानात्वं पुरुषास्तथा।
सर्वभूतदयावन्त. केवलं ज्ञानमास्थिता.॥ इत्यादि। शाति ३१५।११-२०

२. तदेव षोडशकलं देहमव्यक्तसंज्ञकम्।
ममायमिति मन्वानस्तत्रैव परिवर्त्तते॥ इत्यादि। शाति ३०४।८।११

जब जीव अपने अज्ञान को समझ लेता है तो वह अपनी पूर्व अज्ञानता के लिये बहुत लज्जित होता है। महाभारत मे उसकी इस अवस्था की दशा का वर्णन नाना प्रकार से किया गया हे।[1] प्रकृति अप्रतिबुद्ध अर्थात् जडस्वभावी है और पुरुष बुध्यमान है, अर्थात् अपना स्वरूप समझने की क्षमता उसमे है। अज्ञान के क्षय के साथ साथ उसका बुद्धत्वस्वरूप अर्थात् ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता जाता है। बुध्यमान की बुद्धत्वप्राप्ति मुक्ति का ही दूसरा नाम है।[2]

मुक्ति—प्रकृति के कार्य को जीव अपना कार्य समझता है। कर्तृत्व का यह अभिमान खत्म होते ही मुक्ति का पथ प्रशस्त हो जाता है। भगवान कृष्ण की 'साख्यकारिका' अथवा कपिलसूत्र मे वर्णित मुक्ति के रूप के साथ महाभारत मे वर्णित साख्यीय मुक्ति का रूप पूर्णतया नही मिलता। कपिलसाख्य के मतानुसार जीव और बुद्धि, इन दोनो की उदासीनता, विच्छेद या पृथक् अवस्थान को मुक्ति कहते है अथवा केवल जीव की उदासीनता को भी अपवर्ग कहा जाता है। मुक्ति जीव की नित्यसिद्ध वस्तु है, अविवेक द्वारा ज्ञान आच्छन्न हो जाता है और मुक्त आत्मा मे सुख-दु ख का अभिमान जन्मता है, यही बधन है। बधन मुक्त होते ही मुक्ति का स्वरूप प्रकट हो जाता है, इसीलिये सूत्रकार ने कहा है 'ज्ञानान्मुक्ति'। त्रिविध दु ख की सार्वकालिक निवृत्ति ही उनके मतानुसार मुक्ति नामक पदार्थ है। महाभारत मे कहा है, इन्द्रिय आदि कार्य एव प्रकृतिरूप कारण को जीव से भिन्न दूसरे पदार्थ समझते हुए अहं का त्याग करके निर्द्वन्द्व नारायण मे प्रविष्ट होना अर्थात् स्वय को परमब्रह्म मानना मुक्ति का लक्षण है।[3]

साख्यसूत्र आदि मे कथित सृष्टि अथवा अपवर्ग के लिये ईश्वर के अस्तित्व की स्वीकृति उपयोगी सिद्ध नही होती। किंतु महाभारत मे साख्य का वर्णन करते

---

१. गुणा गुणेषु लीयन्ते तदैका प्रकृतिर्भवेत्।
क्षेत्रज्ञोऽपि यदा तात तत्क्षेत्रे सम्प्रलीयते॥ इत्यादि। शांति ३०७।
१६-४२

२. बुद्धश्चोक्तो यथातत्त्व मया श्रुतिनिदर्शनात्। शांति ३१८।८१
यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विन्दति॥ इत्यादि। शांति ३१८।
८०। शांति ३०४।७

३. प्रकृतिं चाप्यतिक्रम्य गच्छत्यात्मानमव्ययम्।
परं नारायणात्मान निर्द्वन्द्वं प्रकृतेः परम्। इत्यादि। शांति ३७१।
९६, ९७

हुए लेखक ने सृष्टितत्त्व एव मुक्ति के प्रसग मे ईश्वर का नाम भी ग्रहण किया है। महाभारत की मुक्ति ईश्वर निरपेक्ष न होते हुए भी वैदान्तिक मुक्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। वेदान्त ने मुक्ति को नित्यपदार्थ ब्रह्मस्वरूप माना है और महाभारतीय साख्य की मुक्ति भी नित्यस्वरूप है। ध्यान, धारणा आदि द्वारा वस्तु के तत्त्व का यथार्थ-ज्ञान होने पर जीव अपना स्वरूप समझता है और उसके बाद ब्रह्मज्ञान होते ही जीव को ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो जाती है।[1] महाभारत मे जीवन्मुक्ति एव विदेह कैवल्यमुक्ति ये दोनो प्रकार की साख्यीय मुक्ति स्वीकृत हुई है। अज्ञान के दूर होने पर भी उसका प्रभाव शरीर व इन्द्रिय आदि पर तत्क्षण नही होता, अतएव मुक्त जीव को भी कुछ देर ससार मे रहना पडता है, यही अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है।[2]

महाभारतीय साख्य की विशिष्टता—वशिष्ठ याज्ञवल्क्य की साख्यविद्या एव कपिल की साख्यविद्या, दोनो मे भिन्नता है। पुरुष अर्थात् जीव का एकत्व और बुध्यमान पुरुष की बुद्धत्वप्राप्ति स्वरूप मोक्ष आदि सिद्धान्त केवल महाभारत मे ही पाये जाते है। महाभारत मे कहा गया है कि साख्यदर्शन के अनुसार चिदात्मा परब्रह्म मे जगत्प्रपच का विलोप होता है। साख्य शब्द का अर्थ है—ज्ञान। साख्य अमूर्त्त पुरुष की मूर्त्ति है। जीव और परमब्रह्म के अलावा चौबीस तत्त्वो का उल्लेख साख्य मे मिलता है।[3]

सृष्टिक्रम मे प्रकृति के परिणाम का वास्तविक कारण ईश्वर का अधिष्ठान है। ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति की साम्यावस्था की विच्युति और उसकी परिणति होती है। गीता के मतानुसार यही प्रकृति का गर्भाधान है। भगवान ने कहा है, कि वे ही प्रकृति मे गर्भाधान करते है। प्रकृति जगत् की जननी और ईश्वर पितृ-स्वरूप है।[4] साख्य के मत से प्रकृति का परिणाम स्वभावसिद्ध है, किन्तु महाभारत

---

१ सोऽयमेव विमुच्येत नान्यथेति विनिश्चय ।
परश्च परधर्मा च भवत्येव समेत्य वै ॥ इत्यादि । शांति ३०८।२६-३०
शांति ३०१ वां अध्याय ।

२ गुणा गुणवत सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणा ।
तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ॥ शांति ३०५।२९

३ अमूर्त्तस्तस्य कौन्तेय साख्यं मूर्त्तिरिति श्रुति.। शांति ३०१।१०६
साख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानुदर्शनम् । इत्यादि ।
शांति ३०६।४२, ४३

४. मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । इत्यादि । भीष्म ३८।३, ४

का मत इससे भिन्न है। महाभारत इस परिणाम के मूल मे भी ईश्वर को मानते हैं।[1]

तत्त्वसमास या साख्यकारिका मे ईश्वर के सबंध मे कुछ भी नहीं कहा गया है। प्रवचनसूत्र मे ईश्वर का प्रसग आया तो है, किंतु सृष्टि या मुक्ति के कारणरूप मे उन्हे स्थान नही मिला है। वाचस्पति मिश्र, माधवाचार्य आदि मनीषियो के मतानुसार कापिलदर्शन निरीश्वर है, किन्तु महाभारत का साख्यदर्शन ईश्वर की ज्योति से प्रकाशमान है, उसमे ईश्वर को ही जगत का स्रष्टा व सहारक बताया है। कहा है, साख्यदर्शन मे कथित 'प्रधान' ईश्वर की ही अपरा प्रकृति है और परा प्रकृति पुरुष है। पुरुष व प्रकृति वास्तव मे तो ईश्वर की ही भिन्न अवस्थाएँ हैं। जीव या पुरुष जैसे ही पच्चीस तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप को जान पाता है, इन्द्रजाल की तरह समस्त तत्त्वो की अयथार्थता उसके समक्ष तत्काल ही प्रकट हो जाती है। उसी समय छब्बीसवें तत्त्वरूप परमब्रह्म के साथ जीव अपने अभेद को समझ जाता है। छब्बीसवे तत्त्व मे कभी किसी प्रकार का परिवर्त्तन नही होता, यह सनातन सत्य-स्वरूप है।[2] किंतु प्रकृति व पुरुष ईश्वर के आधीन है। अपरा प्रकृति को 'क्षर-पुरुष' एव परा प्रकृति अर्थात् जीव को अक्षर पुरुष या क्षेत्रज्ञ कहा गया है।[3]

महाभारत का साख्यदर्शन वेदान्तदर्शन से बहुत कुछ मिलता जुलता है, यह पहले ही कहा जा चुका है। कपिल और याज्ञवल्क्य के साख्य मे मात्र इतना अन्तर है कि कपिल केवल ज्ञानप्राप्ति से मुक्तिलाभ बताते हैं और याज्ञवल्क्य ज्ञान के साथ साथ भगवत भक्ति को भी मुक्ति के लिये उपयोगी मानते है।[4] साख्यदर्शन मे वैदिक ज्ञानकाड की बहुमुखी व्याख्या व विश्लेषण को भी स्थान मिला है। साख्य

---

१. यतः प्रवृत्ति. प्रसृता पुराणी। भीष्म ३९।४

२. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

× × × ×

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ भीष्म ३१।४-७

स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्ति भूय.। शांति ३०१।११५

पचविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्त्तते। इत्यादि। शांति ३०५। ३७-३९

३. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। इत्यादि। भीष्म ३९।१६-१८

४. ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह। इत्यादि। शांति ३१८।८७। अश्व ३५।५०

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। भीष्म ४२।५५

को ज्ञानकाड भी कहा गया है।[१] महाभारत मे प्रकृति को भगवान की लीला में सहायक बताया है, ग्रथकार व्यास उसे स्वतत्र नही मानते। भगवान ने कहा है "सब कुछ मुझसे ही उत्पन्न होता है। मैं ही अपनी प्रकृति का अधिष्ठाता बनकर बार बार सृष्टि करता हूँ।"[२] महाभारत के साख्यदर्शन मे ईश्वर का स्थान छब्बीसवें तत्त्व अथवा पुरुषोत्तम के रूप मे सर्वोपरि माना है। कहा है केवल त्रिगुणात्मक प्रकृति का स्वरूप जानना ही पुरुष या जीव का सबसे बडा सत्य नही है बल्कि उसका चरम लक्ष्य है पुरुषोत्तम व पुरुष का अभेद-ज्ञान। उपर्युक्त विवेचना से पता लगता है कि यदि प्रकृति, महत् अहकार आदि कुछ पारिभाषिक शब्द व्यवहृत न होते तो साख्य और अद्वैतवेदान्त मे कोई प्रभेद न रहता।[३]

साख्य और योग का अभेद—योगदर्शन कहने पर हम भगवान पातजलि के योगसूत्रो को ही योगदर्शन शास्त्र समझते हैं। योग के समाधि, साधन, विभूति व कैवल्य ये चार पाद माने गये है। कठ श्वेताश्वतर, महानारायण आदि उपनिषदो मे भी योग का माहात्म्य वर्णित हुआ है। श्रुतिप्रसिद्ध निदिध्यासन अर्थात् अनवरत चिंतन ही योग या चित्तवृत्ति निरोध का उपाय है। योगविद्या भी अधिकतर साख्य के समान है। साख्य के पदार्थ योग मे भी स्वीकृत हुए हैं किंतु महर्षि पतजलि ने अपने मुह से यह बात कही भी नही कही है। कपिल के साख्यदर्शन को जो लोग निरीश्वरवाद कहते हैं, वे ही योगदर्शन को सेश्वर-साख्य की सज्ञा देते हैं। परन्तु महाभारत का मत ऐसा नही है क्योकि महाभारतीय साख्य मे भी पुरुषोत्तमरूप ईश्वर को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। अतएव यह मानना पडेगा कि साख्य और योग दोनो एक ही चीज हैं और दोनो के उपदेश का एक ही उद्देश्य है।[४] वशिष्ठ ने कहा है—साख्य और योग दोनो शास्त्रो की मैंने व्याख्या की है। दोनो की साधनप्रणाली व कैवल्यरूप चरमफल भी एक है, तथापि दोनो शास्त्रो का अलग-अलग उपदेश देने का प्रयोजन यह है कि जो व्यक्ति आत्मतत्व श्रवण के

---

१. साख्ययोगविधिशब्दैः क्रमेण ज्ञानोपास्तिकर्मकाडार्था ज्ञेया.। शांति ३२०। २५ नीलकंठ

२. प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुन पुन । इत्यादि। भीष्म ३३।८, ६। भीष्म ३४।८

३. तन्त्र शास्त्र ब्रह्मबुद्ध्या ब्रवीमि, सर्वं विश्व ब्रह्म चैतत् समस्तम्। शांति ३१८।८९

४ साख्ययोगौ पृथग् बाला प्रवदन्ति न पडिता.। इत्यादि। भीष्म २९। ४, ५। शान्ति ३०५।१९

उपरात ही उपासना मे मन लगा लेता है, वह 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतिवाक्यो का अर्थ न समझ कर सीधे योग का अनष्ठान शुरू कर देता है। ऐसे व्यक्ति योग के ज्ञान को गौण मानकर साख्यतत्त्व की विवेचना करना ही प्रधान कार्य समझते है। और जो उपासना नही करते, केवल आत्मतत्त्व का उपदेश सुनते है, उन्हे उपासना पूरी करने के लिये यौगिक प्रणाली को ही मुख्य रूप से अवलवनीय वनाना पडता है, साख्य दर्शन उनके लिये गौण विषय होता है। इसीलिये दोनो दर्शनशास्त्रो का अलग-अलग उपदेश देना आवश्यक है।[1] योगानुष्ठान के फल का मनुष्य धीरे-धीरे स्वय अनुभव करता है, इसलिये योगशास्त्र प्रत्यक्ष है, इसके विपरीत साख्य का ज्ञान शास्त्रगम्य है, अनुष्ठान द्वारा इसके वारे मे कुछ भी नही समझा जा सकता। किंतु साख्यज्ञान के साथ यदि यौगिक अनुष्ठान भी शुरू कर दिया जाय तो वहुत शीघ्र परमतत्त्व से साक्षात्कार हो जाता है। साख्य के साथ मिलने पर योग की शक्ति वढ जाती है।[2]

योग शब्द का अर्थ—पतजलि ने कहा है—चित्तवृत्ति निरोध का नाम योग है, किंतु महाभारत के रचयिता सर्वत्र ईश्वर की सत्ता की उपलव्धि एव उससे मिलन को योग कहते है। योग विद्या उपनिषद् या व्रह्मविद्या से भी पृथक् नही है। इसी कारण श्रीमद्भागवत्गीता को उपनिषद् व्रह्मविद्या व योगशास्त्र कहा गया है।[3]

योग की महिमा—महाभारत मे योग की वहुत प्रशसा की गई है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं—"योगी पुरुष तपस्वी, ज्ञानी एव कर्मी से भी श्रेष्ठ हैं। अतएव हे अर्जुन, तुम योगी वनो।" राजर्षि अलर्क की गाथा मे भी कहा गया है कि "जो परम सुख योग से मिलता है, वह और किसी चीज से नही मिलता।[4]

तपोमहिमा—ईश्वर से मिलने के लिये जो पथ ग्रहण किये जाते है, उनका नाम भी योग है। इसलिये तपस्या को भी योग की सज्ञा दी जा सकती है। तपस्या

---

१. सांख्ययोगौ मया प्रोक्तौ शास्त्रद्वयनिदर्शनात्।
यदेवशास्त्रं सांख्योक्तं योगदर्शनमेव तत्॥ इत्यादि। शाति ३०७। ४४-४८। शान्ति ३००।७

२. तुल्य शौचं तपोयुक्तं दया भूतेषु चानघ। इत्यादि। शाति ३००।९-११

३. योग एष हि योगानां किमन्यद् योगलक्षणम्। शाति ३०६।२५

४. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन। इत्यादि। भीष्म ३०।४६। अश्व ३०।३१

के विना कोई भी महत् कार्य सम्पन्न नही होता और तपोबल से प्रत्येक कार्य भलीभांति पूरा हो सकता है। तपस्या या योगसाधन, सब कुछ मन की स्थिरता पर निर्भर होता है। इसलिये चचल मन को स्थिर करना पडता है। अभ्यास व वैराग्य के द्वारा मन को एकाग्र किया जा सकता है। असयमी व्यक्ति योगसाधना नही कर सकता, अत सर्वप्रथम सयम के द्वारा इन्द्रियो को वश मे किया जाता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियाँ वश मे कर लेता है, उसके लिये दुष्कर कर्म भी आसान हो जाता है। अतएव सबसे पहले तपस्या मे मन लगाना चाहिये, यही योगविद्या का उपदेश है।[1] तपस्या और योग एक ही है, यह सनत्सुजातीय प्रकरण मे विशेषतया समझाया गया है। सनत्कुमार ने एक स्थान पर कहा है—तपस्या यदि अनुराग आदि दोषो से रहित हो तो वह विशुद्ध तपस्या कैवल्य प्राप्ति मे अत्यन्त सहायक होती है। ससार मे भोग्य वस्तुओ का उपभोग भी तपस्या पर अवलम्बित है। मुक्ति भी तपस्या के अधीन है। काम क्रोध आदि को जीत कर विशुद्ध ज्ञान, लाभ के उद्देश्य से जो तपस्या की जाती है, वही सच्ची तपस्या कहलाती है और साधक की कैवल्यप्राप्ति का कारण बनती हे।[2] तपस्या जैसे यम नियम वाले अष्टाग योग का अनुष्ठान करने से भी मनुष्य के सर्व दु ख दूर रहते हैं। शरीर मे आत्मबुद्धि रूप अज्ञान ही मनुष्य के लिये सबसे बडे दु ख का कारण है। उसके दूर होने तक कैवल्य प्राप्ति सभव नही होती। अष्टाग राजयोग का यथारीति पालन करने से जो तेज उत्पन्न होता है, उसी के प्रभाव से अज्ञान दूर होता है। तपस्वी बने विना योगसिद्धि नही होती। अनादि काल से मनुष्य का चित्त विषयवासनाओ से कलुषित रहता आया है, यह वासना तपस्या के विना खत्म नही होती और जब तक वासना का प्रभाव रहता है, तब तक योग की आशा व्यर्थ है। इसीलिये वासना को दूर करने के लिये तपस्या आवश्यक है।[3]

महाभारत की योगविद्या को तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है—

---

१. तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः। इत्यादि। अनु ५७।८-१०
अनु ११८।२। शांति २००।२३

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति'।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्नुमुपायत.॥ भीष्म ३०।३६

२. निष्कलमषं तपस्त्वेतत् केवल परिचक्षते।
एतत् समृद्धमप्यृद्ध तपो भवति केवलम्॥ इत्यादि। उद्योग ४३।१२,
१३, ३९

३. अष्टागा बुद्धिमाहुर्या' सर्वाश्रेयाविघातिनीम्। इत्यादि। वन २।१८

साधन परिच्छेद, विभूति परिच्छेद और कैवल्य परिच्छेद। समाधि पाद के विषयो को साधन के अन्तर्गत लिया जा सकता है। पातजल सूत्र की बगला टीका की भूमिका मे कालीवर वेदान्तवागीश ने योग शब्द के सत्रह प्रकार के प्रचलित अर्थ बताये है, किन्तु कैवल्यमुक्ति रूप महाभारतीय अर्थ उन्होंने भी नही लिया है। चौदह लक्षण बताते हुए केवल इतना कहा है—'आत्मा से आत्मा के सयोग का नाम योग है।'

साधन परिच्छेद—श्रीमद्‌भगवतगीता मे ध्यानयोग की विस्तृत व्याख्या मिलती है। आसन प्राणायाम आदि अष्टाग योग पर जोर दिया गया है। कहा है चित्त के स्थिर होने तक अभ्यास व वैराग्य आवश्यक है। कृष्ण ने सन्यास और योग को एक बताते हुए योग के लिये भी त्याग की आवश्यकता दिखाई है। मन मे नित्य नई वासनाओ का उदय होने से योगसाधना नही हो सकती।[1]

भागवत्‌गीता मे योग को ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के भेद से तीन भागो मे विभक्त किया गया है। इन तीनो का तत्त्वनिर्धारण करना ही गीता का मुख्य ध्येय है। यो तो इन तीनो की व्याख्या तीन विभिन्न अध्यायो मे की गई है, किंतु किसी न किसी प्रसग को लेकर सारी गीता मे ही इन तीनो योगो का वर्णन हुआ है।

ज्ञानयोग—श्रीकृष्ण ने कहा है, 'द्रव्यमय यज्ञ आदि से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है, क्योकि ज्ञान ही सकल कर्मों की परिसमाप्ति है।'[2] आत्मज्ञान लाभ के लिये ही मनुष्य आकुल रहता है और ज्ञान की चरम सार्थकता भी वही है। तत्त्वज्ञान का लाभ होते ही मनुष्य के सब सशय दूर हो जाते है। प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार लकडी के ढेर को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मों को जला देती है।[3] तपस्या, यागयज्ञ आदि कुछ भी ज्ञानयोग के समान मन शुद्धि के लिये उत्तम नही है। दीर्घ अवधि पर्यन्त कर्मयोग का अनुष्ठान करने से जब चित्त शुद्धि हो जाती है तो उस विशुद्ध चित्त मे सहज ही आत्मतत्त्व प्रतिफलित होता है। निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग ये दोनो ही ज्ञानयोग के परिपूरक हैं। भगवान

---

१. योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः। इत्यादि। भीष्म ३०।१०-१४
यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव। इत्यादि। भीष्म ३०।२

२. श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परन्तप॥
सर्वं कर्माखिलं पार्यज्ञाने परिसमाप्यते॥ भीष्म २८।३३

३. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ इत्यादि। भीष्म २८।३७-३९

के अस्तित्त्व मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति यदि गुरु के बताये मार्ग पर अग्रसर हो तो वह निश्चित रूप से परमतत्त्व को प्राप्त कर सकता है। कर्म और भक्ति के द्वारा जब ज्ञानयोग मे एक दृढता आ जाती है तो योगी व्यक्ति इच्छामात्र से सुसयत चित्त को परत्माभिमुख कर लेता है। कछुआ जिस प्रकार जब चाहे अपने अग प्रत्यगो को शरीर के भीतर छुपा लेता है, ठीक उसी प्रकार योगी व्यक्ति इन्द्रियो को विषयो से अनायास ही निवृत्त कर लेता है और तब उसका ज्ञान एकमात्र परमेश्वर मे प्रतिष्ठित हो जाता है।[1] इस प्रकार ज्ञान योगी बनने के लिये अकाट्य श्रद्धा तथा इन्द्रियसयम ये दोनो अत्यावश्यक हैं। श्रद्धा और सयम भी केवल इच्छा से प्राप्त नही किये जा सकते, वरन् उनके लिये भी यथोचित साधना करनी पडती है और यही साधना 'समक्ति कर्मयोग' कहलाती है।[2]

कर्मयोग—कर्म को बहुत बडा स्थान दिया गया है। कर्म को त्याग कर दड, कमडल या कौपीन धारण करने का उपदेश महाभारत नही देता। कर्म के बिना कोई व्यक्ति एक मुहूर्त्त भी जीवित नही रह सकता, कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है। कर्म से ही मनुष्य का परिचय मिलता हैं, कर्म के द्वारा ही मनुष्य स्वय को सच्चे रूप मे प्रकट करता है।[3] महाभारत के रचयिता कर्म शब्द के द्वारा क्या समझाना चाहते हैं। यह भी उन्होंने गीता मे स्पष्ट किया है। मनुष्य प्रतिक्षण जो कर्म करता है, उसका वास्तविक ज्ञान होना कोई निश्चित नही होता। हमारे समस्त कृत्य कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीन भागो मे विभक्त हैं। इन तीनो का तत्त्व जानना आवश्यक है। कर्म शब्द से ग्रथकार का तात्पर्य शास्त्रविहित कर्म से है, क्योकि कहा गया है——कर्म और अकर्म निश्चित करने के लिये एकमात्र प्रमाण शास्त्र है। शास्त्र के विधान को समझ कर ही कर्म करना उचित है। शास्त्र के विधान को छोडकर जो व्यक्ति स्वेच्छाचरण करता है, उसका वह कर्म तत्त्वज्ञान, शाति या मोक्ष के अनुकूल नही होता।[4] सन्यास आश्रम मे

---

१. यदा सहरते चायं कूर्मोऽगानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ भीष्म २६।५८

२. श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रिय.। भीष्म २८।३९

३. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत। भीष्म २७।५
मनुष्या कर्मलक्षणाः। इत्यादि। अश्व ४३।२१। अनु ४८।४९

४. यः शस्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥ इत्यादि। भीष्म ४०। २३, २४

प्रविष्ट होने के उपरात शास्त्रविहित कर्मो का त्याग 'अकर्म' और शास्त्रनिषिद्ध कर्म करना 'विकर्म' कहलाता है। कर्म को ही चरम रूप मे स्वीकार नही किया है। परमात्मा के साथ अपनी आत्मा को मिलाने के लिये कर्म एक साधनमात्र है। कर्म चित्त की स्थिरता साधन मे परम सहायक सिद्ध होता है।[1] भगवत्‌गीता के मूल मे यही कर्मप्रेरणा है। युद्धक्षेत्र मे पहुँचते ही अर्जुन को वैराग्य हुआ— 'ज्ञाति, बाधव व सुहृदो का वध करके राज्य का उपभोग करूँ इससे बडा पाप और क्या होगा।' यह सोचते ही अर्जुन ने अस्त्र-शस्त्र फेक दिये। तब उनको प्रकृत पथ पर चलाने के उद्देश्य से, उनके अज्ञान को दूर करने के लिये भगवान कृष्ण ने कर्म के माहात्म्य का ऐसा वर्णन किया कि वह विश्वसाहित्य मे अतुलनीय बन गया।

गीता की भाषा मे विशुद्ध ज्ञान लाभ के पूर्व कर्म का त्याग करना एक तरह से कायरता एव हृदय की दुर्बलता है। कर्म के त्याग से जीवन यात्रा अचल हो जाती है। ज्ञानभूमि मे डगमगाये व्यक्ति को चित्त-शुद्धि के निमित्त कर्म का ही आश्रय लेना चाहिये।[2] कर्म का अनुष्ठान किये बिना नैष्कर्म्यज्ञान उत्पन्न नही हो सकता। निष्काम अनुष्ठान के द्वारा चित्त जब तक विशुद्ध नही होगा, केवल सन्यास के बल पर मुक्तिलाभ नही हो सकता। किसी भी प्रकार के फल की आशा न रखकर एव अपनी ज्ञानेन्द्रियो को वश मे करके, ईश्वर की प्रीति के उद्देश्य से कर्मरूप योग का अनुष्ठान करना चाहिये। इस प्रकार का योग ही वीर्यवत्तर कहलाता है। यदि कर्म का उद्देश्य ईश्वर को समर्पण करना हो तो वह कर्म विशुद्ध कहलाता है। अनासक्त चित्त से कर्म का अनुष्ठान शुरू करना ही वास्तविक कर्म-सन्यास है और उसी को श्रेष्ठ कर्मयोग की सज्ञा दी गयी है।[3] जिस व्यक्ति का जो कुल धर्म जाति धर्म एव आश्रम धर्म हो, उसे वही पालन करना चाहिये। श्रद्धा-सहित स्वधर्म पालन करने के उद्देश्य से जो व्यक्ति निरासक्त होकर कर्म की ओर प्रवृत्त होता है, वही योगी है। गीता मे, सनत्सुजातीय मे, वनपर्व मे धर्मव्याध के उपाख्यान मे, शातिपर्व के तुलाधार जाजलि सवाद मे, इस विशुद्ध कर्मयोग की

---

१. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्य बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ भीष्म २८।१७
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। भीष्म ३०।३

२. कर्मयोगेन योगिनाम्। भीष्म २७।३

३. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ भीष्म २६।४७, ४८।
भीष्म ६।१

विस्तृत व्याख्या की गई है। गीता कहती है, जो कुछ भी करो ईश्वर को समर्पण करने के उद्देश्य से करो। इस प्रकार अनासक्त होकर कर्म करने से उस योगी को पाप-पुण्य का वधन नही रहता।[1] अनासग कर्मयोग का अभ्यास करके कर्म वधन के सुदृढ पाश से मुक्तिलाभ करना योग की प्रथम सीढी है। सर्वसाधारण व्यक्तियो की यह धारणा होती है कि स्नान, भोजन, निद्रा आदि का कष्टसाध्य अभ्यास करना ही योग साधना के पथ पर अग्रसर होना है और उनकी यह धारणा महाभारत मे वर्णित अर्जुन की कठोर तपस्या (वन), अवा की तपस्या (उद्योग), सूर्यकिरणमात्रसेवी बालखिल्य मुनियो की कठोर तपस्या (आदि ३०) आदि उदाहरणो से और भी परिपुष्ट होती है। किंतु इन उदाहरणो का उद्देश्य वास्तव मे है कुछ और ही। ग्रथकार इनके माध्यम से यह कहना चाहता है कि किसी विषय मे पारगत बनने के लिये बहुत कष्ट सहने पडते हैं। क्योकि गीता मे भी कष्टसाध्य साधना के विपरीत उपदेश दिया गया है। शरीरपीडन ऐहिक धर्मभाववृद्धि या पारलौकिक कल्याण हेतु के रूप मे कही भी स्वीकृत नही हुआ है। गीता मे कहा है—जबर्दस्ती शरीर या इन्द्रियो का निग्रह करने से इन्द्रियो के विषय ग्रहण की निवृत्ति तो हो जाती है, लेकिन अभिलाषा या कामना नष्ट नही होती। विषय वासनाओ की इच्छा के नष्ट न होने तक वाह्यिक निवृत्ति रूप मिथ्याचार ढोग के अलावा और कुछ नही है। एकमात्र स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ही वासना पर विजय पा सकता है। मन को वश मे करना ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये, शरीर-निग्रह तो पाप मे गिना जाता है। उपवास, व्रत आदि के द्वारा शरीर का क्षय करना धर्म का अग नही हो सकता, इन्द्रियो को वश मे करना विल्कुल ही अलग वात है। जो व्यक्ति शरीर को पीड़ित करके इन्द्रियो पर विजय पाना चाहता है, उसे 'आसुरनिश्चय' कहते हैं। गीता मे भगवान ने आगे कहा है कि "इस प्रकार के आसुरनिश्चय व्यक्ति अपने शरीर के अन्दर अन्तर्यामी रूप मे अवस्थित मुझे भी पीडित करते हैं।"[2]

---

१. यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ भीष्म ३३।२७
विमुक्तात्मा तथा योगी गुणदोषैर्ण लिप्यते। शाति २४७।१७

२. विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिन.।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ भीष्म २६।५९
कर्शयन्त शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्त.शरीरस्थं तान् विद्यासुरनिश्चयान्॥ भीष्म ४१।६

शरीर को कष्ट देना अधर्म है, यह योग के भी प्रतिकूल है लेकिन अतिरिक्त व अनियमित भोजन आदि और भी अनिष्टकर है। आहार-विहार आदि मे विशेष रूप से सयत रहना चाहिये। मिताचार, व मिताहार कर्मयोगी के लिये बहुत ही आवश्यक है। अनाहार, अत्याहार, अतिनिद्रा अनिद्रा आदि योग के अन्तराय है। युक्ताहार, युक्तविहार, युक्तचेष्ट, युक्तनिद्र एव युक्तावबोध (विवेकवान) व्यक्ति के ही योग द्वारा दुख दूर होते हैं।[1]

उल्लिखित नियम प्रत्येक मनुष्य को पालने चाहिये। सब विषयो मे सामञ्जस्य रखते हुए कर्मपथ पर चलना ही योग मे सहायक सिद्ध होता है अर्थात् उस प्रकार जीवन व्यतीत करने से शरीर व मन स्वस्थ रहते है, कर्मप्रवृत्ति सदा उद्बुद्ध होती है एव कर्म से आनन्द मिलता है। सब कर्मों का फल ईश्वर को समर्पित करके श्रद्धा व आनन्द सहित शास्त्रविहित कर्मो का अनुष्ठान करते रहना ही प्रकृत कर्मयोग है। सयम एव ध्यान-धारणा के फलस्वरूप जिसका रजोगुण क्षीण हो जाता है, वही प्रशान्तमना योगी समाधिसुख को भोगता है। और समाधिसुख की प्राप्ति के बाद ब्रह्मसस्पर्श या ब्रह्म के साथ एकत्व की अनुभूति जाग्रत होती है। योग के द्वारा समाहितचित्त एव समदर्शी व्यक्ति सर्वभूत मे स्वय को और अपने अन्दर निखिल भतजगत का अनुभव करता है। इस प्रकार उसके चित्त की प्रसन्नता व दूरदृष्टि इतनी व्यापक हो जाती है कि उसे सर्वत्र भगवान दिखाई देने लगते हैं। जो मनुष्य सर्वभूत मे भगवान की सत्ता देखने मे एक बार समर्थ हो जाता है वह कर्मत्याग करने पर भी भगवान की शाती व शीतलदायी क्रोड मे अवस्थान करता है। जो प्रशस्तमन योगी सबके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझता है, उसी की योगसाधना धन्य होती है। कर्मयोग के अनुशीलन मे जो व्यक्ति अतिम लक्ष्य तक नही पहुँच पाता, बीच मे ही बाधाओ के आ पडने से रुक जाता है, उसे भले ही योग-ससिद्धि न मिले परन्तु अधोगति भी नही मिलती। कल्याणकारी कर्म मे रत व्यक्ति कभी भी दुर्गति मे नही जाता। शुभकर्म करने वाला योगभ्रष्ट मनुष्य भी पुण्यवानो की तरह स्वर्ग सुख भोगकर शुचि व श्रीमन्त पिता के घर जन्म ग्रहण करता है। दीर्घकाल तक योगाभ्यास करने के बाद जो व्यक्ति योगभ्रष्ट हो जाय, वह दूसरे जन्म मे पुन किसी धीमान् योगनिष्ठ ज्ञानी पुरुष के वश मे जन्म लेता है। इस प्रकार का जन्म ससार मे बहुत ही दुर्लभ होता है। असाधारण कर्मी व्यक्ति को हम योगभ्रष्ट कह देते है, किंतु उपर्युक्त दोनों

---

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नतः॥ इत्यादि। भीष्म ३०। १६, १७

प्रकार के योगभ्रष्ट व्यक्ति ही जन्मान्तरीय बुद्धि वैभव के अधिकारी वनकर मर्त्यलोक को कृतार्थ करते हैं। ऐसे व्यक्ति मुक्ति पाने के लिये प्रत्येक जन्म मे अधिक से अधिक प्रयत्न करते हैं। पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण उनकी चित्तवृत्ति स्वभावत ही ईश्वर की ओर धावित होती है। वेदोक्त कर्मफल उन्हे वधन मे नही वाँध पाता। जो योगी जन्म-जन्मान्तरो तक ईश्वर से अपनी आत्मा के योग की रक्षा करते हुए चलता है, उसे नि सन्देह रूप से उत्कृष्ट गति प्राप्त होती है।

चित्त को स्थिर करने के लिये साधना करनी पडती है। ध्यान, धारणा, आसन, प्राणायाम आदि द्वारा मन को वश मे करना कोई कठिन वात नही है। धीरे-धीरे आगे वढते हुए सावक एक दिन समाधि रूप एकान्त स्थिरता मे लीन हो जाता है। इस अवस्था मे उसे जो आनन्द मिलता है वह अवर्णनीय है। ध्यान-योग का चरम फल भी कैवल्यप्राप्ति है। इसके लिए समय की कोई निश्चित अवधि नही होती, किसे कितने दिनो मे सिद्धि लाभ हो, यह कहा नही जा सकता। सिद्धि साधक की श्रमसापेक्ष है।[1]

दो लकडियो को आपस मे घिसने से अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। यद्यपि अग्नि काष्ठ के अन्दर ही प्रच्छन्न रूप से रहती है, तथापि उसको प्रकट करने के लिये रगडना आवश्यक है। इसी प्रकार हमारे शरीर मे स्थित आत्मा भी अज्ञानाच्छन्न बुद्धि मे प्रकट नही हो पाती। बुद्धि की मलिनता को दूर करने के लिये कुछ यौगिक उपायो का अवलवन लेना पडता है। योग द्वारा बुद्धि निर्मल हो जाती है और फिर इसमे आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है। यही योग का चरम उद्देश्य है।[2] जिस प्रकार सोना और लोहा एक साथ मिला दिया जाय तो सोने की स्वाभाविक उज्ज्वलता दब जाती है, उसी प्रकार अज्ञान बुद्धि के साथ इस तरह मिल जाता है कि वुद्धि का निर्मल स्वरूप नितान्त निष्प्रभ हो जाता है। और उस यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने के लिये योगसाधना आवश्यक है।[3] ध्यान-धारणा आदि साधना

---

१. शाति १९५ वाँ अध्याय।
अत· परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम्।
युञ्जतः सिद्धमात्मान यथा प्रश्यन्ति योगिनः॥ इत्यादि। अश्व १९। १५-३७

२. अग्निर्यथा ह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते॥ शान्ति २१०।४२

३. लोहयुक्त यथा हेम विपक्व न विराजते।
तथा पक्वकषायाख्य विज्ञान न प्रकाशते॥ शाति २१२।६

के जिन अगो का वर्णन शुकानुप्रश्न मे मिलता है, वह पूर्णरूप से योगसूत्र द्वारा अनुमोदित है। चित्तवृत्ति के निरोध से क्रमश अज्ञान दूर होता है और योगी के चित्त मे अभूतपूर्व आनन्द एव दीप्ति की उत्पत्ति होती है, उसी के बल से वह द्वन्द्वरहित होकर परमब्रह्म को प्राप्त होता है।[1]

बुद्धि, मन एव इन्द्रियो की एकाग्रता योग की प्रथम सीढी है। शुचि व श्रद्धालु व्यक्ति को गुरु से योगतत्त्व समझना चाहिये। काम, क्रोध, लोभ, भय और अतिनिद्रा ये पाँचो योग के परम शत्रु हैं। योगी व्यक्ति को शम द्वारा क्रोध को, सकल्प त्याग द्वारा काम को एव विषय वस्तुओ के स्वरूपनिर्णय की चिन्ता द्वारा निद्रा को जीतना चाहिये। धृति द्वारा शिश्न व उदर को, चक्षु द्वारा पाणि व पाद को, मन के द्वारा चक्षु व स्रोत को और कर्म द्वारा मन व वचन को सयत करना चाहिये। अप्रमाद से भय, त्याग से लोभ तथा प्राज्ञ से दभ का परिहार करना चाहिये।[2] झूठे व्यक्ति के साथ वार्त्तालाप करना अच्छा नही होता। ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्यवचन-ही, आर्जव, क्षमा, शौच, आचार, सशुद्धि, इन्द्रियनिग्रह आदि तेजवर्धक एव पाप-नाशक होते हैं। सर्वभूत मे समदृष्टि रखने वाला योगी काम व क्रोध को जीतकर ब्रह्मपद पर आसीन होता है। साधना का उपयुक्त समय गभीर रात्रि है। समस्त इन्द्रियो को अन्तर्मुखी करके, मन के साथ बुद्धि को एकाग्र करे और फिर परमपुरुष के ध्यान मे तल्लीन हो जाय। एकान्तभाव से भगवान के चरणो मे मन व प्राण समर्पित करने को ही योग कहते है। जिन उपायो द्वारा चचल चित्त को वश मे किया जा सके, उनको अपनाना साधना की पहली सीढी है। पर्वतगुहा, देवायतन, या शून्य गृह मे स्थिर चित्त होकर निवास करना चाहिए। योगाभ्यास के लिये निर्जनता बहुत उपयोगी है। निष्ठा सहित छह मास तक योगाभ्यास करने से उसका फल मिल जाता है। स्त्री एव शूद्र को भी योगाभ्यास का अधिकारी बताया है। श्रद्धा सहित चाहे कोई भी गुरु के चरणो मे उपस्थित हो, वही साधना के इस पथ पर अग्रसर हो सकता है। योग का चरम फल कैवल्य प्राप्ति है, यह श्रुति स्मृति मे वार-बार दोहराया गया है।[3] निन्दा और प्रशसा मनुष्य के धैर्य को खत्म करती है, विशेषतया योग मार्ग पर चलने का अभिलाषी व्यक्ति यदि दूसरे की निन्दा

---

१. शान्ति २३५ वाँ अध्याय।

२. शांति २३९ वाँ अध्याय, शाति २७३ वाँ अध्याय, वन २१० वाँ अध्याय। नाहं शक्योनुऽपायेन हन्तु भूतेन केनचित्। अश्व १३।१२-१९

३. शांति २३९ वाँ अध्याय। शांति २५२ वाँ अध्याय। शांति २७५ वाँ अध्याय।

या प्रशसा की ओर ध्यान दे तो अत मे अवनति के गर्त्त मे गिरेगा। इसलिये उसे उन दोनो से ऊपर उठना चाहिये। आहार विहार मे सयम रखने की वात भी कई स्थानो पर कही गई है। कहा है योगी के लिए कण, पिण्यक (तिल की खल) आदि खाद्य हितकर हैं। घी आदि चिकने पदार्थ न खाने से वलवृद्धि होती है।[1] शास्त्रीय विधिपूर्वक योगाभ्यास करने से साधक ब्रह्मत्व प्राप्त करता है, और मर्त्य-जगत् के हर प्राणी से ऊपर उठकर सकल्प मात्र से भूतजगत् की सृष्टि कर सकने लायक क्षमता उसमे आ जाती है। इस प्रकार वह असीम आनन्द का उपभोग करता है।[2] यौगिक उपकरणो मे ध्यान को सर्वश्रेष्ठ वताया है। वाशिष्ठ योग-विधि मे कहा गया है कि ध्यान दो प्रकार का होता है—भावना और प्रणिधान। दोनो प्रकार के ध्यान ही अज्ञान पर विजय पाने के लिये प्रधान अवलम्वन हैं। मन की एकाग्रता ध्यान का साधारण लक्षण है। प्राणायाम का स्थान दूसरा है। प्राणा-याम भी सगुण व निर्गुण के भेद से दो प्रकार है। भावना मे वस्तुतत्त्व की अपेक्षा नही होती जैसे कि शालिग्राम मे भी विष्णु की भावना की जाती है, किन्तु प्रणिधान वस्तुतत्त्व सापेक्ष होता है। प्राणायाम के साथ-साथ जप एव ध्यान भी चल सकता है, इस प्रकार का प्राणायाम सगर्भ या सगुण कहलाता है और केवल प्राणवायु की क्रिया वाला प्राणायाम निर्गुण होता है। योगी को स्तभ के समान अकम्प्य तथा गिरि की तरह निश्चल होना चाहिये। उसका लक्ष्य हर क्षण भगवान की ओर होना चाहिये। परमपुरुप की ओर लक्ष्य रहने से, वही परमपुरुप योगी के अज्ञान रूपी अधकार को दूर करके उसे परम ज्योतिर्मय स्वरूप के दर्शन कराते हैं और तव योगी मन व वचन से अगोचर अचिन्त्य अवस्था मे पहुँच जाता है। वही प्रकृत योग है। यही योगी की साधना की चरितार्थता है।[3] नदी, निर्झर के तट पर, पर्वत गुहा मे, निकुज मे रहने का एकमात्र उद्देश्य चित्त को स्थिर करना है। वन्य जीव-जन्तुओ के साथ सौहार्द्र स्थापित करके, उनके साथ एकत्र वास करने से चित्त शात होता है। अरण्य केवल वृक्ष-लता आदि की समष्टि नही है, बल्कि उसकी

---

१. कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भारत।
स्नेहाना वर्जने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात्। इत्यादि। शाति ३००।
४३, ४४। शाति २७७ वां अध्याय।

२. कथा च येय नृपते प्रसक्ताः देवे महावीर्यमतौ शुभेयम्।
योगी स सर्वानभिभूय मर्त्यान्नारायणात्मा कुरुते महात्मा॥
शाति ३००।६२

३. शाति ३०६ वां अध्याय।

विनम्र, शात, स्निग्ध सम्पदा साधक को आकर्षित करती है। इसी कारण उमा-महेश्वर सवाद मे अरण्य की गुरु से तुलना की गई है।[1]

योगज विभूति—योगसिद्ध व्यक्ति के शरीर का ह्रास या वृद्धि नही होती। तीर्थोपाख्यान मे कहा गया है कि मकणक नामक एक सिद्धपुरुष थे। एक बार उनके शरीर मे कही कुशाग्र चुभ गया तो उन्होने देखा कि उस क्षत स्थान से रक्त न गिरकर एक प्रकार का शाकरस झर रहा है। यह देखकर उनके आनन्द की सीमा न रही। शरीर की क्षयवृद्धि न होना एक बहुत बडी योगसिद्धि है।[2] तापस की अपमृत्यु कभी नही होती। जल, अग्नि, वायु आदि भूतजगत् पूर्णरूपेण उसके अधीन होता है। वह उनका स्वेच्छापूर्वक व्यवहार कर सकता है। जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता तथा वायु की चचलता उसकी इच्छानुसार दूसरा रूप बदल लेती है। प्राणिसमूह पर योगी का जितना प्रभाव होता है, उतना ही जड वस्तुओ पर भी होता है।[3] योगी के वरदान के प्रभाव से श्रेयसाधन एव अभिशाप के फलस्वरूप नाश, इन दोनो के प्रचुर उदाहरण महाभारत मे मिलते है। उनका उद्भव भी योगज विभूति से ही होता है। किन्तु योगी व्यक्ति के वर या अभिशाप देने से उसकी मन शक्ति क्षीण होती है। सयत मन की अमित शक्ति से सब वस्तुओ की उपलब्धि होती है एव आकाक्षा सत्य मे परिणत हो जाती है। परन्तु यत्र-तत्र इस विभूति का माहात्म्य दिखाना सगत नही है।[4] योग के बल से दूसरे के मन की बात भी जानी जा सकती है। व्यास, नारद, सनत्कुमार आदि ऋषि किसी के स्मरण मात्र से उपस्थित हो जाते थे, इस प्रकार के उदाहरण भी महाभारत मे अगणित मिलते हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जल्दी पहुँचने के लिये योगी आकाश मार्ग से यातायात कर सकता है। नारद, सनत्कुमार आदि सिद्ध पुरुषो की इस प्रकार की विभूतियाँ जगह-जगह वर्णित है। आकाशवाणी भी शायद आकाशगामी योगियो की भविष्यवाणी होती थी।[5]

इन्द्रियो के सहयोग से आतरिक तेज के द्वारा दूसरे को अभिभूत करना भी

---

१. वर्नानित्यैर्वनचरैर्वनस्थैर्वनगोचरैः।
वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वनजीविभिः॥ अनु १४२।१३

२. पुरा मंकणकः सिद्धः कुशाग्रेणेति विश्रुतम्।
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकर सोऽस्रवत्। शल्य ३८।३९

३. नैषमृत्युरनिष्टो नो निःसृतानां गृहात् स्वयम्। इत्यादि। आश्र ३७।२७, २८

४. न च ते तपसो नाशमिच्छामि तपतां वर॥ इत्यादि। अश्व ५३।२५, २६

५. वागुवाचाशरीरिणी। आदि ७४।१०९

एक प्रकार की योगविभूति है। ब्रह्मचारिणी सुलभा ने राजर्षि जनक की शक्ति की परीक्षा लेने के उद्देश्य से उनके शरीर मे योगबल से अपना इन्द्रियतेज सचालित किया था। उन्होंने अपने अन्त करण को राजर्षि के अन्त करण मे प्रवेश करा कर उनकी ज्ञानगरिमा की भली भाँति परीक्षा ली थी। सुलभा की योगविभूति देखकर राजर्षि विस्मय से अभिभूत हो गये थे।[1] विपुल नामक एक ब्रह्मचारी ने अजितेन्द्रिया गुरुपत्नी को योग के द्वारा ही लम्पट के चगुल से छुडाया था। उसने अपनी तेजस्विता से गुरुपत्नी की इन्द्रियो को इतना शिथिल कर दिया था कि उसमे हिलने डुलने की भी शक्ति नही रह गयी थी।[2] विदुर ने योगक्रिया द्वारा युधिष्ठिर के शरीर मे प्रवेश करके शरीर त्याग किया था।[3]

योगविभूति के प्रभाव से इच्छा करते ही रूप वदला जा सकता है। ब्रह्मचारिणी सुलभा ने योगबल से अपना रूप त्याग कर अनवद्य रूप धारण किया था।[4]

योगविभूति का एक और चमत्कारिक उदाहरण महाभारत मे मिलता है, जिसे पढकर हर व्यक्ति चकित रह जाता है। वह यह कि व्यास ने अपने योगबल से कुरुक्षेत्र मे निहित वीरो को परलोक से लाकर धृतराष्ट्र आदि को दिखाया था।[5] तप के प्रभाव से पुत्र उत्पन्न करने का वर्णन भी आया है।[6] यद्यपि कहा यह गया है कि पुत्र का जन्म मृत पति से हुआ था, किन्तु इसका तात्पर्य कुछ और ही लगता है।

योग का चरम फल पाने के लिये दीर्घकाल तक तपस्या करनी पडती है, परन्तु उस पथ पर अग्रसर होते ही साधक की शक्ति मे नाना प्रकार की विभूतियो का सचार स्पष्ट रूप से अनुभूत होने लगता है। साधक जब चाहे अपनी योगशक्ति के भिन्न-भिन्न रूप दिखाकर दर्शको को आश्चर्यचकित कर सकता है। हठयोगी तो आमतौर पर ऐसी अलौकिक क्रियाएँ करते रहते है। किन्तु जो सच्चे रूप मे योग मार्ग

---

१ सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससशया।
सत्त्व सत्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपते.॥ इत्यादि। शाति ३२०।१६-१८

२ नेत्राभ्या नेत्रयोरस्या रश्मि सयोज्य रश्मिभिः।
विवेश विपुलः कायमाकाश पवनो यथा॥ अनु ४०।५७

३ ततः सोऽनिमिषो भूत्वा राजान तमुदैक्षत।
सयोज्य विदुरस्तस्मिन् दृष्टि दृष्ट्या समाहित॰॥ इत्यादि।
आश्र २६।५५-३०

४. तत्र सा विप्रहायाथ पूर्वरूपं हि योगत.।
अविभ्रदनवद्यागी रूपमन्यदनुत्तमम्॥ शाति ३२०।१०

५. आश्र ३२ वाँ अध्याय।

६ सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ। आदि १२१।३६

पर अग्रसर होना चाहता है, वह यदि इन चक्करो मे पड जाय और उसी की ओर आकृष्ट होकर बीच पथ मे यात्रा समाप्त कर दे तो यह उसके लिये परिताप का विषय बन जाता है। यद्यपि सासारिक लोगो के लिये इन सिद्धियो का प्रलोभन कम नही है, लेकिन प्रकृत योगी को तो कम से कम इन सब क्षुद्र विषयो से दूर रहना चाहिये। योग साधना के अतिम लक्ष्य तक न पहुँच सकने वाले बहुत से योगी अपनी योगविभूति से ही सतुष्ट होकर उसके आश्चर्यों से अभिभूत हो जाते हैं। योगी का यह अविवेक आत्महत्या के अन्तर्गत आ जाता है। आशिक योग-सिद्धि से नाना प्रकार की योगविभूतियाँ अधीन हो जाती हैं, स्थान व काल का व्यव-धान योगी के प्रत्यक्ष मे किसी प्रकार की बाधा नही पहुँचा पाता।[1]

युक्त व युंजान योगी—योगी दो प्रकार के होते है—युक्त और युजान। युक्त योगी नियत आत्मसमाहित होता है। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान ये तीनो इसके निर्मल अन्तर मे प्रतिफलित होते हैं। उसकी आत्मा का ईश्वर के साथ इतना घनिष्ठ सबध होता है कि किसी भी प्रकार का बाहरी कोलाहल उसकी समाधि भग नही कर पाता। युजान योगी ठीक उस मनुष्य के समान होता है जिसे तलवार के डर से दोनो हाथो मे तेल से लबालब भरा कटोरा लेकर सीढियो से ऊपर चढना पडे। उस समय तेल की एक बूंद भी नीचे न गिरने देने के लिये उसे जितनी स्थिरता व सयत दृष्टि की आवश्यकता होती है, उतनी युजान योगी के लिए किसी वस्तु की ओर चित्त लगाने मे आवश्यक होती है। जो योगी ध्यानस्थ होकर किसी वस्तु का तत्त्व तो समझ जाय, परन्तु ध्यान के बिना सदा आत्मस्थ होने का अभ्यस्त न हो, वह 'युजान' कहलाता है।[2]

योगी को मृत्युभय नहीं—योगी कभी मृत्यु से भयभीत नही होता। जन्म-मृत्यु के गूढ रहस्य से वह भली भाँति परिचित होता है। योगी अज्ञानता को ही यथार्थ मृत्यु समझता है और अज्ञान की निवृत्ति ही उसकी दृष्टि मे अमरत्व प्राप्ति होती है। सनत्कुमार के उपदेश मे यह तत्त्व विशद रूप से वर्णित हुआ है।[3]

कैवल्य परिच्छेद—उद्योग पर्व मे सनत्कुमार के उपदेश मे योग का निगूढ तत्त्व अच्छी तरह समझाया गया है। वहाँ उपदेष्टा तो है सनत्कुमार और श्रोता

---

१. अश्व ४२ वाँ अध्याय।

२. शान्ति ३१६ वाँ अध्याय। नीलकंठ देखिये।

३. प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि तथाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि। इत्यादि।
उद्योग ४२।४-११

भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद् योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्यत। इत्यादि
अश्व १३।१०

धृतराष्ट्र हैं। उसमे योगविद्या को ब्रह्मविद्या का अग माना गया है। कहा है—मनुष्य परमपुरुष का ज्ञान होते ही जन्म मृत्यु से छूट जाता है, इसके अलावा और कोई रास्ता नही है। सब विद्याओ और उपासनाओ की चरम सार्थकता भी यही है। अयोगी व्यक्ति कभी ब्रह्मतत्त्व से परिचित नही हो पाता। भला अकृतात्मा मनुष्य किस प्रकार कृतात्मा भगवान के स्वरूप को जान सकता है। जो परम शांतिस्वरूप हैं, उसको प्राप्त करने का श्रेष्ठ उपाय योग है। सनत्कुमार ने बार-बार कहा है कि "सनातन परम पुरुष को एकमात्र योगी ही जान सकते हैं"।[1] और यह जानना ही योगसाधना का परम उपेय या कैवल्य है।

महाभारतीय योग की विशिष्टता—भगवान् पतजलि ने योगसूत्र मे कहा है कि, शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधान ये अष्टाग योग के बहिरग नियम हैं। इससे पता चलता है कि ईश्वर-प्रणिधान पाँच नियमो मे से एक है, अतएव इस मत के अनुसार ईश्वर को छोड देने से भी योगसिद्धि नही हो सकती। नाना उपायो मे ईश्वर प्रणिधान भी एक उपाय है। योगी यदि भक्तिपूर्वक ईश्वर को अपना कर्मफल अर्पित कर दे तो ईश्वर की कृपा से उसके लिये प्रकृति पुरुष का ज्ञान सहज हो जाता है। किन्तु केवल इससे ईश्वर का साक्षात्कार नही होता, यही पातजल का सिद्धान्त है। महाभारत के योगदर्शन मे ईश्वर कहते हैं, "मुझमे चित्त लगाओ, मेरी भक्ति करो, पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, इस प्रकार पूर्ण रूप से मेरे ऊपर निर्भर होकर मेरे साथ अपनी आत्मा का योग करने पर मुझमे मिल जाओगे।"[2] इससे पता लगता है कि योग के द्वारा ईश्वर को पाया जा सकता है। योगी अपनी आत्मा को समाहित करके ईश्वर मे स्थितिरूप मुक्ति या शाति लाभ करता है। यही योग का चरम लक्ष्य है। ईश्वर के साथ जीव के योग के अर्थ में ही महाभारत मे योग शब्द व्यवहृत हुआ है।[3]

---

१. नाकृतात्मा कृतात्मान जातु विद्याज्जनार्दनम्। इत्यादि। उद्योग ६९।१७-२१

आगमाधिगताद् योगाद्वशी तत्त्वे प्रसीदति। इत्यादि। उद्योग ६९। २१। उद्योग ३६।५२

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्। उद्योग ४६ वाँ अध्याय।

२. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु। इत्यादि। भीष्म ३३।३४

३. युञ्जन्नेवं सदात्मान योगी नियतमानसः।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थानधिगच्छति॥ भीष्म ३०।१५

पूर्वोत्तर मीमांसा

पूर्वोत्तर मीमांसा का एकत्व—महाभारत से पता चलता है कि मीमासा सूत्र-कार महर्षि जैमिनी व्यासदेव के ही शिष्य थे।[1] गुरु के आदेशानुसार उन्होने मीमासा सूत्र का प्रणयन किया, यह प्रसिद्ध है। वेद के कर्मकाड को लेकर ही साधारणत मीमासादर्शन की रचना हुई है। महाभारत मे मीमासोक्त प्रमाण या विधि आदि का कोई विशेष विवरण नही मिलता, प्रसगवश कुछ यागयज्ञो के फल एवं कुछ आवश्यक कर्त्तव्यो का उल्लेख किया गया है। महाभारत के मतानुसार धर्ममीमासा और ब्रह्ममीमासा अर्थात् कर्मकाड और ज्ञानकाड पृथक् शास्त्र नही हैं, वरन् मीमासा के रूप मे दोनो एक ही है। कर्म द्वारा चित्त के निर्मल न होने तक ज्ञानकाड का उपदेश पल्ले नही पडता। शास्त्रविहित नित्य व नैमित्तिक कर्म का फल चित्तशुद्धि है, स्वर्गादि फल तो आनुषगिकमात्र हैं। काम्य कर्म का फल स्वर्ग आदि काम्य वस्तु की प्राप्ति होता है। विहित नित्य कर्मों का यथायथ रूप से अनुष्ठान करने के लिये कर्मकाड का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये वर्णाश्रमधर्मियो मे कर्मकाड को अधिक महत्त्व दिया जाता है।[2]

कर्मकांड की उपयोगिता—वेद की महिमा का बखान तरह-तरह से किया गया है। कहा है—शब्दब्रह्म एव परब्रह्म दोनो का ही तत्त्व जानना चाहिये।[3] शब्दब्रह्म को समझने के लिये कर्मकाड का ज्ञान होना आवश्यक है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि क्रिया तक हर सस्कार मे मन्त्र का विशेष स्थान है। शास्त्रोक्त विधि से अनुष्ठान न करने से सस्कार सम्पन्न नही होता और सस्कारच्युत व्यक्ति का ब्रह्मविद्या पर कभी अधिकार नही हो सकता। पूरा का पूरा कर्मकाड ज्ञान-काड पर अधिकार प्राप्ति का उपदेश देता है। कर्मकाड की उपेक्षा करके मोक्षपथ

---

१. विविक्ते पर्वततटे पाराशर्यो महातपाः।
वेदानध्यापयामास व्यासः शिष्यन्महातपाः। शान्ति ३२७।२६, २७

२. नास्तिक्यमन्यथा च स्याद्वेदानां पृष्ठतः क्रिया।
एतस्यानन्तमिच्छामि भगवन् श्रोतुमञ्जसा। शाति २६८।६७ (नीलकंठ)

३. वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्॥ इत्यादि। शांति २६९।१, २

का सधान पाना मूर्खता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को कर्मकाड के आदेश शिरोधार्य करके इसके अनुसार अनुष्ठान सम्पन्न करके चित्त को विशुद्ध वनाना चाहिये।[१]

कर्म का प्रधान उद्देश्य मोक्षलाभ—सरल स्वभावी, सत्यनिष्ठ, स्वधर्मरत मनुष्य का अनुष्ठित कर्म ही उसकी वधनमुक्ति का कारण वनता है।[२] वाह्य अनुष्ठान ही सव कुछ नही है, यागयज्ञ का भी मूल लक्ष्य आध्यात्मिक ज्ञान की ओर होता है, केवल वाह्य अनुष्ठानो को प्रधान समझना मनुष्य का भ्रम है। जो व्यक्ति वैदिक प्रशसा से आकृष्ट होकर काम्यकर्म के लिये उतावले हो उठते हैं एव स्वर्गलाभ को ही परम पुरुपार्थ समझते हैं, उन्हे केवल भोग-ऐश्वर्य लाभ के सूचक वैदिक वचनो की प्रशसा के अलावा और कुछ सोचने-समझने का अवकाश ही नही मिलता। फलस्वरूप एकमात्र भोग की ओर चित्त आकर्पित होने से कभी भी निश्चयात्मक वुद्धि का उदय नही हो पाता। ऐसे व्यक्ति यज्ञ आदि का सम्पादन करने पर भी प्रकृत यज्ञपुरुप नही वन पाते।[३] महाभारत मे विवेचित यज्ञतत्त्व गभीर आध्यात्मिक भाव का द्योतक है। समस्त अनुष्ठानो एव ज्ञानकाड का अतिम साध्य वही परम पुरुष है, अतएव जव तक इस पुरुषतत्त्व का ज्ञान नही होता, तव तक अनुष्ठान आवश्यक है। गीता मे कहा गया है कि जिस प्रकार वृहद् जलाशय के होते हुए क्षुद्र कूप के जल की कोई आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार भक्तिशाली ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति के लिये वेद आदि शास्त्र अनावश्यक होते हैं।[४] चाहे कोई भी अनुष्ठान किया जाय, पर उसका वास्तविक लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होना चाहिये। यहाँ तक खाना-पीना आदि जीवन की प्रधान क्रियाएँ भी उन्ही के उद्देश्य से करनी चाहिये। यागयज्ञ का अन्तर्निहित गूढतत्त्व भी यही है। अपने सव अनुष्ठान उस परम पुरुप को समर्पित किये विना वह पूरे नही होगे।[५]

---

१ कृतशुद्धशरीरो हि पात्र भवति ब्राह्मण.।
आनन्त्यमत्र वुद्ध्येद कर्मणा तद् ब्रवीमि ते॥ शाति २६९।३

२ ऋजूना समनित्याना स्वेषु कर्मेषु वर्त्तताम्।
सर्वमानन्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुति॥ शाति २६९।१८

३. यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरता पार्थ नान्यदस्तीति वादिन॥ इत्यादि भीष्म २६।४२-४४

४. यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत.॥ भीष्म २६।४६

५ यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यापि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ भीष्म ३३।२७

यज्ञ मे दी गई आहुति भी उन्ही को समर्पित होती है, यही महाभारत का सिद्धात है। भक्तिभाव सहित पत्र, पुष्प, फल, जल, चाहे कुछ भी निवेदित किया जाय; भगवान उसे ग्रहण करके भक्त के अनुष्ठान को सार्थक वना देते हैं।[1] फल की आकाक्षा न रखते हुए यदि केवल भगवान को प्रसन्न करने के हेतु यज्ञ आदि सम्पन्न किये जायँ, तो वह बंधन का कारण नही वनते। कर्ममात्र ही वन्धन का हेतु है, यह सिद्धान्त गलत है। ईश्वर की आराधना के उद्देश्य से चाहे कुछ भी किया जाय, वह वंधन का हेतु नही वनता।[2] श्रीमद्भागवतगीता मे यज्ञ की सृष्टि एव प्रसार का जो वर्णन किया गया है, उससे पता लगता है कि अनुष्ठित कर्म का आभ्यतर सत्य होता है, अर्थात् सव कर्मो मे भगवत् उपलब्धि ही क्रियाकाड का मूल रहस्य है। कृष्ण ने कहा है—सृष्टि के आरम्भ मे यज्ञ एव यज्ञ की अधिकारी प्रजा की सृष्टि करके प्रजापति वोले—"इस यज्ञ का अनुष्ठान करके तुम वृद्धि को प्राप्त होओ, यज्ञ तुम्हारा अभीष्ट पूर्ण करे। यज्ञ के द्वारा तुम देवता आदि को प्रसन्न करो और देवता भी अन्न आदि की वृद्धि करके तुम्हारा कल्याण करे। जो व्यक्ति देवता को दिया जानेवाला अन्न उन्हे न देकर स्वय खायेगा, वह चोर होगा। जो यज्ञ का अवशिष्ट अन्न भोजन के रूप मे ग्रहण करेगा, वह सव पापो से मुक्त हो जायगा और जो केवल अपने उद्देश्य से भोजन बनायेगा, वह पापाचारी पाप का ही आहार करेगा। अन्न से भूतजगत की उत्पत्ति होती है और अन्न की उत्पत्ति मेघ से होती है। अन्न का जनक मेघ यज्ञ से उत्पन्न होता है और यज्ञ का उद्भव याज्ञिक अनुष्ठाता के कर्म से होता है। कर्म वेदजनित है और वेद की उत्पत्ति अक्षर परब्रह्म से हुई है। अतएव सर्वव्यापक होते हुए भी परब्रह्म इस यज्ञ मे ही प्रतिष्ठित है"।[3] यज्ञ कितना महान होता है, यह ऊपर की पक्तियो से अच्छी तरह पता चल जाता है। इस प्रकार यज्ञ से मनुष्य के अन्दर परार्थपरता का जन्म होता है। जीवन

---

१. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन.॥ भीष्म ३३।२६

२. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥ भीष्म २७।९

३. सहयज्ञाः प्रजा· सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ इत्यादि। भीष्म २७। १०-१५
बभूव यज्ञो देवेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः॥ इत्यादि। शाति १२१। ३७-३९

केवल अपने सुख के लिये नही होता, प्रत्येक कार्य करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उस कार्य से दूसरो का उपकार हो। अपने को दूसरो के लिये उत्सर्ग करने का नाम यज्ञ है। यज्ञ केवल कहने से ही नही हो जाता। पच महायज्ञ हिन्दुओ के नित्यकर्मो मे से एक है। उसके उदार उद्देश्य की ओर लक्ष्य रखते हुए यज्ञ का सम्पादन करने से याज्ञिक का चित्त निर्मल हो जाता है। काम्ययज्ञ आदि द्वारा प्राप्त फल दीर्घकाल तक स्थायी नही रहता, पुण्य के क्षय होने पर पुन. स्वर्गलोक से मर्त्यलोक मे आने का भय रहता है। इसलिये काम्य कर्म की अपेक्षा नित्य व नैमित्तिक कर्म चित्तशुद्धि के लिये श्रेष्ठ हैं। कर्मकाड व ज्ञानकाड मे वस्तुत किसी प्रकार का विवाद या असामञ्जस्य नही है, यह प्रतिपादित करने के लिये कर्मकाड को ज्ञानकाड का परिपूरक बताया है।

यज्ञ आदि कर्मों की प्रशसा—यथायथ रूप से यज्ञ आदि क्रियाओ के सम्पन्न होने पर उस अनुष्ठान रूप धर्म से ही ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है, यज्ञ कभी मनुष्य को निराश नही करता।[1] यज्ञ वगैरह नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान आवश्यक कर्त्तव्य समझकर करने चाहिये। कर्म मे शिथिलता आने पर, वह फल नही देता। नित्य-नैमित्तिक कर्म मे जो श्रद्धा नही रखता, उसके इहलोक एव परलोक दोनो बिगडते है।[2] ससार मे अर्थसचय की कोई नापतौल नही है। गृहस्थ की सचय की लालसा यद्यपि स्वाभाविक है, किन्तु अतिसचय को बिल्कुल गर्हित बताया है। महाभारत मे कहा है—जो आवश्यकता से अधिक है, उस पर तुम्हारा कोई अधिकार नही है, उस सम्पदा के अधिकारी देवता होते हैं। वह धन यज्ञ में उत्सर्ग कर देना चाहिये। विषय-वासनाओ की पूर्ति के लिये उस धन के व्यय करने से मनुष्य पाप का भागी बनता है। विधाता मनुष्य को धन उत्सर्ग करने के लिये देते हैं, अगर उनकी इच्छा पूर्ण न करके उस धन को अपने ऊपर खर्च किया जाय तो चोर मे और उस मनुष्य मे क्या अन्तर रह जाता है? अर्जित धन का त्याग करना ही एकमात्र सद्व्यय है। व्यर्थ के कार्यों मे खुले हाथ खर्च करना और सत्कार्यों मे कजूसी दिखाना, ये दोनो ही दूषणीय हैं। उपर्युक्त वचन उपनिषद् के 'मा गृध कस्य स्विद्धनम्' इस श्लोक को चरितार्थ करते हैं।[3] द्रोणपर्व और शान्तिपर्व के षोडशराजिक प्रकरण

---

१. येषा धर्मे च विस्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्। उद्योग ४२।२८

२. शान्ति २६७ वाँ अध्याय।

३. तत्र गाथां यज्ञगीताकीर्त्तयन्तिपुराविद.।
त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञसस्तरकारिकाम्॥ इत्यादि। शान्ति २६।२४-३१

मे यागयज्ञ का माहात्म्य वताया गया है। वहुत से पडितो का मत है कि "उस काल मे अनुष्ठेय यज्ञ आदि क्रियाओ मे किंचित् शिथिलता आ गई थी, इसीलिये वर्णित राजाओ के चरित्र को उभारकर दिखाया गया है।" किंतु उसको समर्थित करने का कोई हेतु महाभारत मे नही मिलता।

यज्ञ के उपकरण व पद्धति—साधारणत देवताओ के उद्देश्य से अग्नि मे आहुति देने को यज्ञ कहते हैं। महाभारत मे, दो युद्धो का वर्णन मिलता है, जिससे यज्ञ की अनुष्ठान पद्धति के वारे मे थोडी वहुत धारणा लगायी जा सकती है। यज्ञ मे सर्वोपरि स्थान अध्वर्यु का होता है। होता का स्थान द्वितीय माना गया है इसके वाद उद्गाता एव ऋत्विक का स्थान आता है स्रुक, आज्य, विशुद्धमन्त्र, कपाल, पुरोडाश, ईध्मा, शामित्र, यूप, सोम, चमस आदि यज्ञ के उपकरण हैं। यज्ञ की समाप्ति के वाद पुनश्चिति, अवभृथ-स्नान, आदि क्रियाएँ सम्पन्न करनी पड़ती हैं।[1] यज्ञ के लिये चषाल, चमस, स्थाली, पात्री, स्रुच, श्रुव, स्फ्य, हविर्धान, इडा, वेदी, पत्नीशाला आदि और भी वहुत सी वस्तुओ की आवश्यकता पडती है।[2] अग्नि प्रज्वलित करने के लिये अग्निहोत्री को अरणी सदा अपने पास रखनी पडती थी। रगडने के लिये एक लकडी का दड भी रखना पडता था, जिसे मन्थ कहा जाता था।[3] युधिष्ठिर के यज्ञ मे लकडी के इक्कीस यूप वनाये गये थे, उनमे छह विल्व के, छह पलाश के, छह खदिर के, दो देवदारु के और एक श्लेष्मातक का था। कुछ यूप सुवर्ण के भी थे।[4]

नित्ययज्ञ—नित्ययज्ञ मे केवल अग्निहोत्र का उल्लेख मिलता है। पच महा-यज्ञ यज्ञ तो था, पर उसके सव यज्ञो मे आहुति नही डाली जाती थी, केवल दैवयज्ञ होमस्वरूप था।

अश्वमेध—जिन काम्य यज्ञो का विवरण मिलता है, उनमे अश्वमेघ ही प्रधान है। अश्वमेघ की प्रशसा जगह जगह मिलती है। युधिष्ठिर के अश्वमेघ

---

१. अस्य यज्ञस्य वेत्ता त्वं भविष्यसि जनार्दन। इत्यादि। उद्योग १४१। २९-५१। शान्ति ९८।१५-४१

२. चषालयूपचमसाः स्थाल्यः पात्र्यः स्रुचः स्रुवाः।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः॥ वन १२१।५

३. अरणीसहितं मन्थं समासक्तं वनस्पतौ। वन ३१०।१२

४. ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड् वैल्वान भरतर्षभ।
खादिरान् विल्वसमितास्तावतः सर्ववर्णिनः॥ इत्यादि। अश्व ८८। २७-२९

यज्ञ का विस्तृत वर्णन अश्वमेघपर्व मे हुआ है। उसमे यज्ञ मे काम आने वाले द्रव्यो की भी एक सक्षिप्त तालिका दी हुई है।[१] धृतराष्ट्र ने भी पाडु द्वारा अर्जित धन से कई अश्वमेघ यज्ञ किये थे।[२] अश्वानुसरण क्रिया यो तो शास्त्रीय थी, किंतु अश्वमेघ-अनुष्ठान के पूर्व पूरे देश मे एक छत्राधिपति के रूप मे अपना परिचय देना केवल दीक्षितो का नियम था। इस नियम की रक्षा करने के हेतु हर दिशा मे योद्धाओ के साथ अश्व भेजा जाता था। जो राजा बिना किसी झगडे के अश्व को छोड देते थे वे अश्व प्रेरित करने वाले की अधीनता स्वीकार कर लेते थे। और जो अपनी वीरता प्रदर्शित करने के लिये अश्व को बाँध लेते थे, उन्हें अश्वरक्षको से युद्ध करना पडता था। याज्ञिक के पक्ष की विजय होने पर समझा जाता था कि यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होगा। युधिष्ठिर के अश्वरक्षक के रूप मे स्वय अर्जुन निकले थे। उन्हे भी बहुत से विपक्षियो का सामना करना पडा था, किंतु अत में यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो गया था।

राजसूय—राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी एकमात्र क्षत्रिय होता है। इसका एक यह नियम भी है कि जिस वश मे राजसूय यज्ञ करनेवाला जीवित होगा, उसका कोई दूसरा वशज वह यज्ञ नही कर सकेगा।[३] युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ प्रसिद्ध है। इसका विस्तृत विवरण सभापर्व मे मिलता है।

सर्वमेघ व नरमेघ—नरमेघ यज्ञ का प्रचलन भी उन दिनो था। महाभारत मे एक जगह व्यास युधिष्ठिर से कहते हैं—"हे राजन्, तुम राजसूय, अश्वमेघ, सर्वमेघ एव नरमेघ यज्ञ करो।"[४]

शम्याक्षेप—'शम्याक्षेप' नामक एक यज्ञ का उल्लेख भी मिलता है। उसका नियम यह था कि यजमान एक लाठी को ढेले की तरह फेंकता था। वह लाठी जितनी दूर जाकर गिरती थी, वहाँ तक यज्ञमडल बनाया जाता था।[५]

साद्यस्क—'साद्यस्क' याग का केवल नाम ही दिया है। उसके अनुष्ठान की विधि के सबध मे कुछ नही बताया है। साद्यस्क याग के अधिकारी केवल राजर्षि होते हैं। युधिष्ठिर ने अरण्यवास के समय यह यज्ञ किया था।[६]

---

१. स्फ्यश्च कूर्वश्च सौवर्णो यच्चान्यदपि कौरव ॥ इत्यादि। अश्व ७२।१०,११
२. अश्वमेघशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः। आदि ११४।५
३. न स शक्यः क्रतुश्रेष्ठो जीवमाने युधिष्ठिरे। वन २५४।१३
४. राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधञ्च भारत।
नरमेधञ्च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर॥ अश्व ३।८
५. सहदेवोऽयजन् यत्र शम्याक्षेपेण भारत। वन ९०।५।अनु ३।१०।२८
६ ईजे राजर्षियज्ञेन साद्यस्केन विशाम्पते॥ वन २३९।१६। अनु १०३।२८

ज्योतिष्टोम—'ज्योतिष्टोम' यज्ञ कई प्रकार का होता है, बस इतना ही इस यज्ञ के बारे मे बताया गया है।[१]

राक्षस—पराशर ऋषि ने पितृहत्या के प्रतिशोधस्वरूप 'राक्षस' यज्ञ किया था।[२]

सर्पसत्र—जनमेजय ने पितृहत्या का प्रतिशोध लेने के लिये 'सर्पयज्ञ' का अनुष्ठान किया था।[३]

पुत्रेष्टि—सृष्टि प्रक्रिया भी एक प्रकार का यज्ञ है। प्रजापति कश्यप ने पुत्र कामना से यज्ञ किया था। प्राचीन काल मे पुत्र कामना से बहुत यज्ञ होते थे। दीर्घकाल तक अपुत्रक रहने पर बहुत से लोग यज्ञ करते थे।[४]

वैष्णव—'वैष्णव' यज्ञ राजसूय यज्ञ के समान होता है। यह यज्ञ दुर्योधन ने किया था।[५]

अभिचार आदि—शत्रु का अनिष्ट करने के लिये बहुत से लोग अभिचार क्रिया का अनुष्ठान करते थे। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि का नाम अभिचार है। अभिचार क्रिया के लिये रक्तपुष्प, तरह-तरह की औषधि, कटुक व कटकान्वित नाना प्रकार के फलमूल की आवश्यकता होती थी। इस क्रिया की विधि अथर्ववेद मे मिलती है।[६]

यज्ञमंडप—यज्ञ का मडप बनाने से पहले शास्त्रीय विधान के अनुसार भूमि नापने का नियम था। भूमि के माप से यज्ञ के शुभ अशुभ फल का आभास मिल जाता था।[७]

यज्ञ मे पशुहनन पर मतभेद—यज्ञ मे पशुओ का वध करना उचित है या नही, इस सबध मे उस समय भी मतभेद था। मोक्षपर्व के नारायणीय अध्याय मे कहा गया है कि एक बार इस बात को लेकर याज्ञिक ऋषियो और देवताओ मे विवाद खडा हो गया था। ऋषि पशुवध के विपक्ष मे थे और देवता पक्ष मे। जब विवाद

---

१. बहुधा निःसृतः कायाज्योतिष्टोमः क्रतुर्यथा॥ वन २२१।३२

२. ईजे च स महातेजाः सर्ववेदविदाम्बर।
ऋषी राक्षस सत्रेण शाक्त्रेयोऽथ पराशरः॥ आदि १८१।२

३. आदि ५१ वाँ अध्याय।

४. यजतः पुत्रकामस्य कश्यपस्य प्रजापते॥ आदि ३१।५। सभा १७।२१

५. एष ते वैष्णवो नाम यज्ञः सत्पुरुषोचितः। वन २५४।१९

६. औषध्यो रक्तपुष्पाश्च कटुकाः कण्टकान्विताः।
शत्रूणामभिचारार्थमथर्वेषु निर्दशिताः॥ अनु ९८।३०

७. आदि ५१ वाँ अध्याय।

बहुत बढ गया तो झगडा निपटाने के लिये नृपश्रेष्ठ उपरिचर वसु को मध्यस्थ बनाया गया। वसु ने देवताओ का पक्ष लिया। उस पर ऋषियो ने उन्हें श्राप दे दिया और फलस्वरूप अतरिक्ष मे चलने-फिरने आदि योगशक्तियो से वे वचित हो गये। यहाँ तक कि शाप के प्रभाव से बाध्य होकर उन्हे एक गर्त्त मे प्रवेश करना पडा। यह काड देखकर देवताओ ने बहुत दुखी होकर राजा को वरदान दिया। उस वर के प्रभाव से भूगर्भ मे रहते हुए भी वे याज्ञिको द्वारा प्रदत्त घृतधार से अपनी क्षुधा-तृष्णा मिटाने लगे। बहुत समय पश्चात नारायण के प्रसाद से उन्हे मुक्ति मिली थी।[1] इस उपाख्यान से पता चलता है कि पशुवध वैध हिंसा होते हुए भी बिल्कुल निर्दोष नही माना जाता था। उसमे भी हिंसाजनित पाप की आशका मानी जाती थी। पक्षपात करने के कारण उपरिचर वसु को इतना दु ख भोगना पडा। (कापिल साख्य का भी यही मत है।)

पशुहनन का पक्ष ही प्रबल—कोई कोई यह भी कहता है कि जो अश वैध हिंसा को पापजनक मानकर लिखे गये हैं, उन पर बौद्ध प्रभाव है। किंतु यह समीचीन प्रतीत नही होता। साख्य-दर्शन के मतानुसार भी हर प्रकार की हिंसा पापजनक है। यज्ञ मे की गई पशुहिंसा से पाप और यज्ञ के अनुष्ठान से पुण्य का बध एक साथ होता है। यह कहकर वे इस समस्या का समाधान करते हैं। ब्राह्मण गीता मे कहा गया है कि हिंसा के बिना मनुष्य जीवित ही नही रह सकता। हर श्वास-प्रश्वास के साथ हमे हिंसा करनी पडती है, अतएव शास्त्रीय विधान के अनुसार यज्ञ आदि मे की गई हिंसा से पाप नही लगता।[2]

पशु के सिर पर तक्षा का अधिकार—पशु के सिर का अधिकारी यूपनिर्माता बढई है, यह नियम स्वय देवेन्द्र ने बनाया था। यह विधान वृत्रासुर के निधन के समय से शुरू हुआ था।[3]

मंत्रशक्ति—मत्र के प्रभाव से यज्ञ की अग्नि से पुत्र-कन्या आदि की उत्पत्ति के भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं। धृष्टद्युम्न और द्रौपदी का जन्म भी इसी प्रकार हुआ था। बहुत से परवर्त्ती दार्शनिको ने उपनिषद् मे कथित पचाग्नि विद्या की आलोचना करते हुए इन दोनो को प्रमाणस्वरूप लिया है। अत इसको केवल रूपक कहकर बातो मे उडा देना सगत है कि नही, यह विवेचनीय विषय है। कुछ

---

१. शाति ३३७ वाँ अध्याय॥ अनु ११५।५६-५८

२. अश्व २८ वाँ अध्याय। भीष्म ४०।२४

३. शिरः पशोस्ते दास्यन्ति भागं यज्ञेषु मानवाः।
एष तेऽनुग्रहस्तक्षन् क्षिप्र कुरु मम प्रियम्॥ उद्योग ९।३७

लोगो का यह मत भी है कि इन उपाख्यानो की रचना यागयज्ञ के प्रति मनुष्य की श्रद्धा उभारने के उद्देश्य से हुई है। सत्य चाहे कुछ भी हो, परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि इन घटनाओ को पढने से यज्ञ मे मन्त्र की प्रधानता का अनुमान लग जाता है।[1]

दक्षिणा—यज्ञ की समाप्ति पर ऋत्विको को यथाविधान दक्षिणा दी जाती थी। दक्षिणा इतनी और इस प्रकार की देने का नियम था कि वृत पुरुष सन्तुष्ट हो जायँ। दक्षिणा के बिना यज्ञ की पूर्ण समाप्ति नही होती थी। प्राचीन काल मे शिविपुत्र ने यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणास्वरूप अपना पुत्र प्रदान किया था।[2]

अर्घ्य प्रदान—यज्ञ मे उपस्थित व्यक्तियो मे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को अर्घ्य देना यजमान का कर्त्तव्य माना जाता था। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे श्रीकृष्ण को अर्घ्य दिया गया था। भीष्म के कथन से पता चलता है कि आचार्य, ऋत्विक, ससुराल का कोई सबंधी मित्र, स्नातक एव नृपति ये छह अर्घ्य के प्रापक माने जाते थे। कृष्ण के अन्दर ये छहो गुण विद्यमान थे। उस सभा मे उन जैसा कोई दूसरा गुणवान व्यक्ति उपस्थित नही था, इसलिये उन्ही को अर्घ्य दिया गया था।[3]

अन्नदान—यज्ञ मे उपस्थित सब व्यक्तियो को अन्न पान आदि द्वारा परितृप्त किया जाता था। विशेषतया ब्राह्मणो की तो दक्षिणा के साथ अर्चना भी की जाती थी। इन सब विषयो के बारे मे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन करते हुए बहुत कुछ बताया गया है।[4]

अवभृथ-स्नान—यज्ञ की समाप्ति पर दीक्षित यजमान शास्त्रीय विधान के अनुसार जो स्नान करता था वह अवभृथस्नान-कहलाता था। यह स्नान भी यज्ञ के करणीय कृत्यो के अन्तर्गत गिना जाता था।[5]

सोम-सग्रह का नियम—सोमयज्ञ मे सोम का सग्रह करने का नियम था, किंतु

---

१. उत्तस्थौ पावकात्तस्मात् कुमारो देवसन्निभः। आदि १६७।३९, ४४

२. कस्मिश्चिच्च पुरा यज्ञे शैब्येन शिविसूनुना।
दक्षिणार्थेऽथ ऋत्विग्भ्यो दत्तः पुत्रः पुरा किल॥ अनु ९३।२५

३. आचार्यमृत्विजञ्चैव संयुजञ्च युधिष्ठिर।
स्नातकञ्च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा॥ सभा ३६।२३। सभा ३८।२२

४. यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः॥ सभा ३५।१९

५. ततश्चकारावभृथं विधिदृष्टेन कर्मणा॥ आदि ५८।१४

उसका क्रय-विक्रय नही होता था। किसी दूसरी वस्तु के विनिमय अथवा दान-ग्रहण करके ही वह सग्रहीत किया जाता था। सोम का विक्रय अति निन्दनीय वताया है। कहा है सोम के विक्रय से पदच्युति होती है।[1]

सोमपायी—सोमपान करने का हर व्यक्ति को अविकार नही था। वहुत धनवान व्यक्तियो को छोडकर कोई भी सोमरस नही पी सकता था। कहा है कि जिसके घर मे कम से कम तीन साल के लिये पर्याप्त अन्न वगैरह सुरक्षित हो, वही सोमरस पीने का अविकारी है। दरिद्र व्यक्ति को इसका अधिकार नही दिया गया है।[2]

होमाग्नि—काष्ठ द्वारा प्रज्वलित मत्रपूत अग्नि मे ही होम करने का नियम था। दूसरी अग्नि होम के लिये निषिद्ध वताई है।[3]

यागयज्ञ की लौकिक उपयोगिता—प्राचीन काल के यज्ञमडप ज्ञान चर्चा के अन्यतम केन्द्र थे, यह हम 'शिक्षा' प्रवध मे पहले ही वता चुके हैं। यागयज्ञ का शास्त्रीय महत् उद्देश्य तो था ही परन्तु साथ ही साथ वह लौकिक रूप से भी वहुत उपयोगी सिद्ध होता था। यज्ञ मे वहुत से लोगो को विना मूल्य भोजन मिलता था। यज्ञमडप मे शास्त्रीय आलोचना की भी व्यवस्था की जाती थी, जिससे वहाँ उपस्थित व्यक्तियो को वाध्य होकर अपने अपने अवीत शास्त्रो पर आलोचना करनी पडती थी।[4] यज्ञ के उपलक्ष्य मे हर श्रेणी के लोग वहुत सी वातो मे उपकृत होते थे। सामाजिक कल्याण के लिये यज्ञ वहुत उपयोगी सिद्ध होता था। भिन्न-भिन्न देशो से आये अतिथियो को एक दूसरे से परिचित होने व देशभ्रमण का सयोग मिलने मे यज्ञानुष्ठान सहायता पहुँचाता था।

महाभारतीय कर्मकांड की विशिष्टता—यज्ञ शब्द सर्वत्याग रूप व्यापक अर्थ मे भी लिया गया है। भगवद्गीता मे कहा गया है कि यज्ञ से ही प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की थी, यज्ञ का हविष्यान्न खाने से सव पाप दूर हो जाते हैं, यज्ञ का अव-शिष्ट ही अमृत है और उस अमृतभक्षण के फलस्वरूप सनातन ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, नित्य सर्वगत ब्रह्म यज्ञ मे ही प्रतिष्ठित है। यज्ञ मे काल का विचार नही

---

१. विक्रीणातु तथा सोमम्। अनु ९३।१२६

२. यस्य त्रैवार्षिक भक्त पर्याप्त भृत्यवृत्तये।
अधिक चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ शाति १६५।५

३. जुहोतु च स कक्षाग्नौ। अनु ९३।१२३

४ तस्मिन् यज्ञे प्रवृत्ते तु वाग्मिनो हेतुवादिनः।
हेतुवादान् वहूनाहुः परस्परजिगीषवः॥ अश्व ८५।२७

होता, मनुष्य का सपूर्ण जीवन ही एक महायज्ञ है। यज्ञ स्वरूप त्याग के माध्यम से मनुष्य सारे जगत् के साथ सबध स्थापित कर सकता है और अत मे अमरत्व का अधिकारी बनता है। त्याग, तपस्या, योग, वेदाध्ययन, ज्ञानार्जन आदि सब यज्ञ है जिसकी जिस यज्ञ मे रुचि होती है, वह उसी मे सलग्न रहता है।[1] यह ससार कर्मभूमि है, कर्म करने के लिये ही हमारा जन्म हुआ है। फल की ओर देखना व्यर्थ है। परलोक हमारी फलभूमि है। अतएव कामना का त्याग करके केवल कर्म करते जाना ही हमारा आदर्श होना चाहिये।[2] ब्राह्मणसहिता एव उपनिषद् के ये दोनो एक ही महायज्ञ या महाज्ञान के पथप्रदर्शक है। वेदपथी कर्ममीमासा एव ब्रह्ममीमासा की सहायता से सब शास्त्रो की व्याख्या करते है। इसीलिये उनके सब कर्मो एव तपस्या का चरम लक्ष्य वह परमपुरुष होता है।[3] सकाम यज्ञ महाभारत के मतानुसार प्रशस्त नही है। महाभारत मे वर्णित कर्मकाड कर्मयोग का अपूर्व उपदेश देता है। अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पित करता हूँ, इस भावना के साथ कर्म किया जाय तो वह बधन का हेतु नही बनता।[4]

कर्म का स्वरूप अत्यन्त दुर्बोध है। कवि शिह्लन मिश्र ने कहा है—'नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्य प्रभवति'। और श्रीकृष्ण ने कहा है—'गहना कर्मणो गति' (भीष्म २८।१७)। अत निष्काम, सर्वसकल्पत्यागी, निर्हंकारी, आत्मकाम एव ईश्वर की तृप्ति के उद्देश्य से कर्म करने वाले योगी का कर्म ही वास्तविक कर्म कहलाता है।[5] इस प्रकार कर्मरत रहकर ही जनक आदि कर्मवीरो ने सिद्धिलाभ किया था।[6] महाभारत के कर्मकाड

---

१. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रता.॥ भीष्म २८।२८

२. कर्मभूमिरिय ब्रह्मन् फलभूमिरसौ मता। इत्यादि। वन २६०।३५। भीष्म २७।८
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। इत्यादि। भीष्म २६।४७। भीष्म २७।१९

३. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ भीष्म २८।२४

४. यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः। इत्यादि। भीष्म २८।१९ २१

५. भीष्म ३०।४। भीष्म ४२।११, १७, ५७। भीष्म २६।७१। भीष्म २९।१०

६. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। भीष्म २७।२०

मे ईश्वर का स्थान ही प्रधान है और यही इसकी विशेषता है, जो कर्ममीमासा मे नहीं है।[1]

वेदान्त का अधिकारी—उत्तर मीमासा या वेदान्त की व्याख्या महाभारत मे जगह जगह हुई है। मोक्षधर्म, श्रीमद्भागवतगीता एव सनत्सुजातीय प्रकरण मे वेदान्त के बहुत से सिद्धान्त गृहीत हुए हैं। उन प्रकरणो को उपनिषद के भाष्य एव वार्त्तिक के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कर्मकाड का प्रथम उद्देश्य चित्तशुद्धि है। कर्म के द्वारा जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो भगवान का स्वरूप जानने की इच्छा जागरूक होती है और उसी समय से जिज्ञासु व्यक्ति वेदान्त-श्रवण का अधिकारी हो जाता है।

शिष्य की भलीभाँति परीक्षा करके ही आचार्य ब्रह्मविद्या का उपदेश देते थे, यह हम पहले ही अन्य प्रकरण मे बता चुके हैं। राग-द्वेष से विमुक्त एव ब्रह्मचारी ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी माना जाता है और ऐसे मनुष्य को दिया हुआ उपदेश ही फलता-फूलता है।[2] ब्रह्मविद्याध्ययन गुरुकुल मे रहकर ही करना पडता था। इसके लिए बहुत त्याग की आवश्यकता पडती है।[3]

श्रवण, मनन और निदिध्यासन—अध्यात्मतत्त्व समझने के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन बहुत आवश्यक है। आत्मा का गूढ स्वरूप ध्यान के द्वारा ही बुद्धि मे प्रतिबिंबित होता है। श्रवण एव मनन के बाद स्थिर चित्त होकर ध्यान लगाने से योगी को उस परम ज्योतिस्वरूप भगवान के दर्शन हो जाते हैं। निवात, निष्कम्प दीपशिखा के समान निश्चल चित्त ही निदिध्यासन के उपयुक्त होता है। चित्त जब तक शात व स्थिर नही होगा, ध्यान नही लगाया जा सकता।[4]

अद्वैतवाद वगैरह—अद्वैतवादी, द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी आदि सब सम्प्रदायो के आचार्यो ने महाभारत को और विशेपतया भगवद्गीता को बहुत श्रद्धा से

---

१. मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा। इत्यादि। भीष्म २७। ३०। भीष्म ३३।२७,२८

२. वुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या, विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या। इत्यादि। उद्योग ४४।२। उद्योग ४२।४६

३. आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य। इत्यादि। उद्योग ४४।६। शाति २४५। १६।२०। शाति ३२५ वाँ अध्याय।

४. एव सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ॥ इत्यादि। शांति २४५। ५-१२

साथ वेदान्तशास्त्र के उपदेश का साधन माना है। प्रत्येक ने महाभारत के उन अशो की, जो उनके मत का समर्थन करते हैं, अपने ढग से व्याख्या की है। अतएव यह कहना कठिन है कि महाभारत किस मत का समर्थन करता है। सनत्सुजात प्रकरण मे अद्वैत प्रतिपादक बाते ही अधिक मिलती हैं। धृतराष्ट्र के प्रश्न के उत्तर मे सनत्कुमार ने कहा है—जीव और ईश्वर मे वस्तुत कोई भेद नही है, शरीर के साथ आत्मा का योग होने के कारण घटाकाश-न्याय और जलचन्द्र-न्याय से वह पृथक् प्रतीत होते है। परमात्मा और आत्मा मे जिस प्रकार कोई भेद नही है, उसी प्रकार दृश्यमान प्रपच और ईश्वर मे भी कोई अन्तर नही हैं। यह विश्वसृष्टि इन्द्रजाल की तरह है। विकार अर्थात् माया के योग से परमात्मा ससार को प्रकाशित करते है। माया यद्यपि उनकी शक्ति है, किंतु वास्तव मे शक्ति और शक्तिमान मे कोई अन्तर नही होता।[1]

आर्थिक रूप से दरिद्र होते हुए भी जो व्यक्ति ईश्वर की उपासना मे दृढचित्त होता है वही दुर्द्धर्ष एव ब्रह्मप्राप्तिरूप कैवल्यमुक्ति का अधिकारी होता है।[2] ब्रह्म ही इस जगत की प्रतिष्ठा है, वही ससार का उपादान कारण है, प्रलयकाल मे सम्पूर्ण जगत उसी मे विलीन हो जाता है। ब्रह्म ही निर्द्वैत, अनामय एव जगदाकार मे विवर्त्तित हैं। जो व्यक्ति उसके उस स्वरूप को समझ लेता है वही ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है।[3] वनपर्व के अष्टावक्रवन्दि सवाद मे भी अद्वैतवाद का समर्थन अधिक हुआ है। टीकाकार नीलकठ ने इस प्रकरण के उपसहार मे जिस सग्रहश्लोक की रचना की है उसमे भी अतिम शब्द 'अद्वैतभागष्टावक्र' है।[4]

ब्रह्म और जीव—बृहत्, ब्रह्म, महत् आदि पर्यायवाचक शब्द है। सर्वापेक्षा जो महत् है, वही ब्रह्म है, उससे बडा विश्व मे और कुछ नही है।[5] महाभारत मे

---

१. दोषो महानत्र विभेदयोगे, ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः।
तथास्य नाधिक्यमुपैति किञ्चिदनादियोगेन भवन्ति पुंसः॥ उद्योग ४२। २०, २१

२. अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या दैवे तथा क्रतौ।
ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्यास्तान् विद्याद् ब्रह्मणस्तनुम्॥ उद्योग ४२।३९

३. सा प्रतिष्ठा तदमृत लोकास्तद् ब्रह्म तद्यशः।
भूतानि यज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र हि॥ उद्योग ४४।३०, ३१

४. वन १३४ वाँ अध्याय।

५. बृहद् ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः। शाति ३३६।२
मत्तं परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय। भीष्म ३१।७

ईश्वर, विराट, हिरण्यगर्भ आदि शब्द किसी पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त नही हुए है, ये शब्द ब्रह्म के ही वाचक हैं। जिसको जानने के बाद और कुछ सीखना शेष नही रह जाता, वही ईश्वर या ब्रह्म है।[1] जो सुख-दुख से परे है, जिसका स्वरूप समझने के बाद जीव आवागमन से छूट जाता है, वही परमब्रह्म है, वही एकमात्र वेद्य है।[2] श्रीमद्भगवतगीता के अध्ययन से पता लगता है, कि जीव ही अज्ञान-मुक्त होकर परमतत्व को प्राप्त होता है। परमार्थिक दृष्टि से दोनो मे कोई भेद नही है, यह कहा जा सकता है। जीव भगवान का ही अश होता है। त्रिगुणात्मक प्राकृत गुण के साथ जब तक जीव का योग रहता है, तब तक ही उसका जीवत्व होता है और इन सब गुणो से रहित होते ही जीव ब्रह्म बन जाता है। जीव का जन्म-मरण नही होता। केवल कर्मफल भोगने के लिये शरीर के साथ उसका जो सयोग होता है। वही जन्म और उस सयोग का टूटना मृत्यु है।[3] शुभ तथा अशुभ कृतकर्मों का फल भोगने के लिये आत्मा शरीर के साथ सयुक्त होती है।[4] शरीर और शरीरी (आत्मा) मे जो भेद है, उसकी मनुबृहस्पतिसवाद मे विशद व्याख्या हुई है।[5]

उत्तरायण और दक्षिणायन मे मृत्यु होने का फल—ज्ञानी पुरुष चाहे जब शरीर त्याग करे, उसको मुक्ति मिलने मे कोई बाधा बीच मे नही आती, यही वेदान्तदर्शन की मान्यता है। किन्तु महाभारत का सिद्धान्त इससे भिन्न है। शर-शय्याशायी भीष्म को देखकर हसरूपी महर्षि आपस मे कह रहे थे—"भीष्म महात्मा पुरुष है, वे भला दक्षिणायन मे शरीर त्याग कैसे करेंगे ?" भीष्म ने भी उनकी बात सुनकर उत्तरायण के आने तक शरीर नही छोडा था।[6] ब्रह्मसूत्र के शाकर-भाष्य मे कहा गया है कि भीष्म को पिता से इच्छामृत्यु का जो वरदान मिला था, उसके प्रदर्शन के हेतु उन्होने जल्दी प्राण नही छोडे थे।[7] देवयान व पितृयान मार्ग (आत्मा) से उनके लोकान्तरगमन का वर्णन भी महाभारत मे मिलता है।[8]

---

१. यो वेद वेद स च वेद वेद्यम्। उद्योग ४३।५३
२. वेद्यं सर्प पर ब्रह्म निर्द्वु.खमसुखञ्च यत्। इत्यादि। वन १८०।२२
३. आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्त· सयुक्त. प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥ इत्यादि। शाति १८७।२३-२७
४. शुभाशुभ कर्मफल भुनक्ति। शान्ति २०१।२३
५. शान्ति २०२ वें अध्याय से २०६ वें अध्याय तक।
६. भीष्म ११९ वाँ अध्याय।
७. ब्रह्मसूत्र ४।२।२०
८. भीष्म ३२ वाँ अध्याय।

गीता

सोलह गीता—महाभारत मे निम्नलिखित १६ गीता मिलती है। भीष्म-पर्व मे श्रीमद्भागवतगीता, २५वे अध्याय से ४२वे अध्याय तक। शान्तिपर्व मे उतथ्यगीता, ९० और ९१वाँ अध्याय। वामदेवगीता, ९२ से ९४वे अध्याय तक। ऋषभगीता १२५वे से १२८वे अध्याय तक। ब्रह्मगीता गाथा १३६वाँ अध्याय। षड्जगीता, १६७वाँ अध्याय। शम्पाकगीता, १७६वाँ अध्याय। मकिगीता १७७वाँ अध्याय। बोध्यगीता १७८ वाँ अध्याय। विचख्नुगीता, २६४वाँ अध्याय। हारीतगीता, २७७वाँ अध्याय। वृत्रगीता, २७८वाँ और २७९ वाँ अध्याय। पराशरगीता, २९० से २९८वे अध्याय तक। हसगीता २९९वाँ अध्याय। अश्वमेधपर्व मे अनुगीता १६वे से १९वें अध्याय तक और ब्राह्मणगीता, २० से ३४वे अध्याय तक।

श्रीमद्भागवतगीता और अनुगीता एक ही है। राज्यप्राप्ति के वहुत दिन बाद अर्जुन ने एक बार श्रीकृष्ण से कहा, "भगवन्, युद्ध से पहले आपने मुझे जो उपदेश दिया था, वह मुझे स्मरण नही रहा। कृपा करके वह उपदेश मुझे पुन एक बार दीजिये।" अर्जुन के वचन सुनकर पहले तो कृष्ण ने उनकी अन्यमनस्कता के लिये थोडी भर्त्सना की और फिर सक्षेप मे फिर से भगवत्गीता का सार समझाया, यही अनुगीता है। पाडवगीता या प्रपन्नगीता, भगवतीगीता आदि पौराणिक सग्रह ग्रथ है।

गीता वेदान्त का स्मृतिप्रस्थान—'गीता' शव्द से लोग श्रीमद्भगवत्गीता का ही अर्थ लगाते है। गीता महाभारतरूपी रत्नहार की मध्यमणि है। गीता के अलावा वनपर्व का अष्टावक्रवन्दि सवाद, द्विजव्याघ सवाद, यक्षयुधिष्ठिर सवाद, उद्योगपर्व का सनत्सुजातीय प्रकरण, शान्तिपर्व का मोक्षधर्म एव अश्वमेघ-पर्व का गुरुशिष्यसवाद आध्यात्मशास्त्र के रूप मे प्रख्यात है। किंतु गीता का माहात्म्य सबसे अधिक है। गीता मे उपनिषदो का दर्शनतत्त्व ही सक्षिप्त रूप मे प्रकट हुआ है। उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र—ये तीन वेदान्त के प्रस्थान माने जाते है। उपनिषद् को श्रुतिप्रस्थान, गीता को स्मृतिप्रस्थान और ब्रह्मसूत्र को न्याय-प्रस्थान कहा है। गीता को उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र भी कहा गया है। गीता के हर अध्याय की समाप्ति पर "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्या-याम् योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे" उक्त है। "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्वि-

निश्चितै—(भीष्म ३७।४) गीता के इस श्लोक मे 'ब्रह्मसूत्रपद' शब्द देखकर कोई कोई पाश्चात्य पडित कहते है कि, गीता की रचना ब्रह्मसूत्र के वाद हुई है। किन्तु ब्रह्मसूत्र मे भी इस प्रकार के सूत्र मिलते हैं, जिनमे गीता की ओर इगित है। (देखिये ब्रह्मसूत्र ४।२।२०।२१) इससे प्रतीत होता है कि इन दोनो ग्रथो की रचना एक ही काल मे हुई है, क्योकि दोनो के रचयिता भी एक ही है।

गीता का प्रक्षिप्तवाद (?) खडन—वहुत से पाश्चात्य पडितो का मत है कि गीता के रचयिता महर्षि व्यास नही है, किसी दूसरे महापडित ने वाद मे इसे महाभारत मे जोडा है। इसलिये गीता प्रक्षिप्त है। उनका तर्क यह है कि युद्ध के प्रारम्भ मे अठारह अध्यायो मे वर्णित दार्शनिक उपदेश देना कभी सभव नही हो सकता, यह बिल्कुल विसदृश एव असगत है। किन्तु इनके इस तर्क का आधार दृढ नही है। गीता के उपदेश के लिये वह स्थान और काल पूर्णतया अनुकूल था। कृष्ण के भक्त और अभिन्न सखा वीरश्रेष्ठ अर्जुन गीता के श्रोता थे और वक्ता स्वय भगवान श्रीकृष्ण थे। अत जीवनमरण के उस सधिक्षण मे कर्मयोग, ज्ञानयोग एव भक्तियोग का उपदेश देना किंचितमात्र भी अस्वाभाविक नही था। योग के प्रभाव से युद्धारभ के कोलाहल मे भी वक्ता एव श्रोता को अपना-अपना कार्य करने मे जरा भी असुविधा नही हुई। अर्जुन को जब वैराग्य हुआ था, तव तक युद्ध आरभ नही हुआ था। शखनिनाद, व्यूह-रचना आदि कार्य हो रहे थे। कृष्ण और अर्जुन के वार्तालाप के वाद भी युधिष्ठिर ने भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनो की पादवन्दना करके युद्ध की अनुमति माँगी थी। युद्ध तो इसके वहुत देर वाद शुरू हुआ था। सम्पूर्ण गीता का उपदेश देने मे तीन घटे से अधिक समय नही लग सकता। अर्जुन तो स्वय युद्ध के लिये प्रस्तुत थे फिर कार्यकाल मे विषाद कैसा ? इसके उत्तर मे वहुत से लोग कहते है कि कार्यक्षेत्र मे यह दुर्वलता अस्वाभाविक नही है महाभारत मे जगह-जगह गीता के अनुरूप वर्णन मिलता है। आदिपर्व के आरभ मे ही धृतराष्ट्र का विलाप वर्णित है। उसमे भी धृतराष्ट्र ने सजय से कहा है कि कृष्ण के विश्वरूप प्रदर्शन का सवाद सुनकर उन्होंने विजय की आशा पहले ही छोड दी थी।[1] अनुगीतापर्व के प्रारभ मे श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है, मैंने उस समय योगयुक्त होकर तुम्हे परम गुह्य तत्त्व का उपदेश दिया था।" गुरु-शिष्य सवाद मे उपदेश का उपसहार करते हुए फिर भगवान अर्जुन से कहते हैं—"मैंने महायुद्ध के आरभ मे भी तुम्हे इसी तत्त्व का उपदेश दिया था।" नारायणीय प्रकरण मे भी

---

१. यदाश्रौष कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै।
कृष्णं लोकान् दर्शयानं शरीरे तदा नाशंसे विजयाय सजय ॥ आदि १।१८१

श्रीमद्भगवद्गीता का नाम लिया गया है।[1] गीता के सबध मे ये सब कथन इतने स्पष्ट है कि गीता महाभारत मे बाद को जोडी गई है, इसका स्वत ही खडन हो जाता है और यदि गीता को प्रक्षिप्त माना जाय तो अनुगीता पर्व और गुरुशिष्यसवाद को भी प्रक्षिप्त मानना पडेगा। गीता प्रक्षिप्त नही है, इसके पक्ष मे एक तर्क और दिया जा सकता है, वह यह कि गीता का जो स्थान भीष्मपर्व मे निर्दिष्ट हुआ है, वह महाभारत के किसी भी सस्करण मे भिन्न नही है। गीता का सन्निवेश सब ग्रथो मे एक ही जगह पर हुआ है। पर्वसग्रहाध्याय मे भी गीता का नाम आया है और अनुक्रमणिकाध्याय मे धृतराष्ट्र के विलाप मे गीता का उल्लेख मिलने के सबध मे तो हम पहले ही कह चुके है।

गीता का उपदेश—परवर्ती हर श्रेणी के ग्रथकार ने गीता को सादर अपनाया है। गीता केवल दार्शनिक मीमासा का ग्रथ नही है, वल्कि यह मनुष्य को अपने आदर्श पर चलते हुए अंत मे भगवान का स्वरूप जानकर निरवच्छिन्न शान्ति लाभ का मार्ग भी दिखाती है। गीता मे उपनिषद् के बहुत से वचन उद्धृत हुए है। आस्तिक दर्शन के परस्पर विरोधी मतवादो का उत्कृष्ट सामञ्जस्य गीता मे प्रदर्शित हुआ है। इसलिये श्रौतमार्गावलम्वी मनीषियो ने इसे सर्वप्रधान स्मृतिप्रस्थान ग्रथ माना है। गीता मे प्रधानत तीन योगो की समीक्षा की गई है, यथा कर्म, ज्ञान और भक्ति। इन तीनो योगो के परिपूरक रूप मे दूसरे उपदेश भी दिये गये है।

कर्मयोग—गीता मे कर्म का उपदेश तो शतमुखो से दिया गया है। गीता का आरम्भ ही कर्मयोग से हुआ है। विरक्त अर्जुन को कर्म के लिये प्रेरित करने के उद्देश्य से गीता का उपदेश दिया गया था। कर्म के विना कोई प्राणी एक पल भी जीवित नही रह सकता। राजर्षि जनक आदि ने कर्म द्वारा ही सिद्धिलाभ किया था। कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है, कर्म के बिना जीवन निश्चल हो जाता है, अत मनुष्य कर्म करने के लिये बाध्य है। कर्म के बिना नैष्कर्म्यरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नही होती।[2] कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते रहना और अच्छे या बुरे किसी भी प्रकार के फल की आकाक्षा न रखना ही प्रकृत कर्मयोग है। अनासक्त होकर

---

१. पूर्वमप्येतदेवोक्तं युद्धकाल उपस्थिते।
मया तव महाबाहो तस्मादत्र मनः कुरु॥ अश्व ५१।४९
समुपोढष्वनीकेषु कुरुपाडवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयं॥ शान्ति ३४८।८

२. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। इत्यादि। भीष्म २७।५, ४,८

कर्म करना ही कर्मसन्यास है।[1] कर्म करने से पहले यह देख लेना चाहिये कि वह कर्म धर्मानुकूल है या नही, यदि धर्मसगत हो तो फिर विना भविष्य की चिंता किये कर्म करते रहना चाहिये। सुख-दुख, लाभ-हानि जय-पराजय सवको समान समझना चाहिये। ऐसा कर्म निष्काम कर्म कहलाता है।[2] किंतु इस निष्काम कर्म का अनुष्ठान हर किसी के लिये सभव नही है। विशिष्ट सात्विक प्रकृति के लोग ही फल की आसक्ति का त्याग कर पाते हैं।[3] कर्मसन्यास और कर्मयोग इन दोनो मे कर्मयोग को ही श्रेष्ठ माना है। रागद्वेष आदि से विमुक्त जो व्यक्ति मात्र भगवान की तृप्ति के उद्देश्य से कर्म करता है वह कर्मी होते हुए भी सर्वत्यागी सन्यासी कहलाता हे। सन्यास और कर्मयोग दोनो को परस्पर सवद्ध वताया गया है। कहा है— जो दोनो मे से एक की उपासना करेगा, उसे दोनो का फल मिलेगा।[4] जिस योगी का लक्ष्य ज्ञानयोग हो उसे सर्वप्रथम निष्काम कर्म की उपासना करनी चाहिये और चित्तविक्षेपक कर्मों का पूर्णतया त्याग करना चाहिए। जो व्यक्ति इन्द्रियो के भोग्य रूप, रस, गध आदि एव उनके भोग के अनुकूल कर्म की ओर प्रवृत्त नही होता उसी का कर्मयोग निर्मल एव विशुद्ध कहलाता है।[5] कर्म के निमित्त शरीर को कष्ट देना एकान्त गर्हित है। उपवास, व्रत कर्मानुष्ठान के आवश्यक अग नही है। कर्म का प्रधान उद्देश्य चित्तशुद्धि है। मन और इन्द्रियाँ उच्छृखल न हो, इस प्रकार विषयभोग करना निन्दनीय नही है। इन्द्रियो को सयत न करके उनके

---

१. यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग· समाचर॥ इत्यादि। भीष्म २७।९।
भीष्म २६।४७। भीष्म ३०।१। भीष्म ४०।२४

२. सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापवाप्स्यसि॥ इत्यादि। भीष्म २६।३८,
।५१। भीष्म २७।३०। भीष्म २८।१९

३ त्यक्त्वा कर्मफलासग नित्यतृप्तो निराश्रय.।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैवकिञ्चित् करोति स·॥ इत्यादि। भीष्म २८।
२०-२३

४. संन्यास कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ इत्यादि। भीष्म २९।२-४

५. अनासृत कर्मफल कार्यं कर्म करोति य ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रिय.॥ इत्यादि। भीष्म ४१।६।
भीष्म ३०।१६, १७

पूर्ण निरोध की चेष्टा करना वृथा है, उसका फल उल्टा होता है। उत्कट निरोध द्वारा शरीर को कष्ट देना गीता मे बहुत ही बुरा बताया है। योगी को शारीरिक धर्म के नियमो का यथायथ पालन करते हुए सयतभाव से जीवनयापन करना चाहिये। इस प्रकार सुचारु रूप से कर्त्तव्य-पालन करने का उपदेश ही गीता का कर्मयोग देता है।[1] गीता के नवे अध्याय मे श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे कौन्तेय, तुम जो कुछ भी करो, मुझे समर्पित कर दो। जो कुछ खाओ, दान करो, तपस्या करो, यज्ञ करो, सब मेरे उद्देश्य से करो। ऐसा करने से तुम अपने कर्मजनित अच्छे-बुरे फल से विमुक्त हो जाओगे और वह कर्म तुम्हारे लिये ससारवन्धन का हेतु नही बनेगा तथा अन्त मे युक्तात्मा होकर तुम मुझी मे विलीन हो जाओगे।"[2] गीता के उपसहार मे पुन भगवान कहते है—"मुझमे चित्त लगाने से मेरे प्रसादलब्ध ज्ञान के द्वारा मुझी को प्राप्त करोगे, मेरी शरण मे आओगे तो मैं ही तुम्हे सव पापो से विमुक्त करूँगा"।[3]

ज्ञानयोग—सात्विक कर्मयोग की विशुद्धि से ज्ञान योग की उत्पत्ति होती है, यह गीता के छठवे अध्याय के शुरू मे ही बताया गया है। अतएव कर्मयोग के बाद ही ज्ञानयोग की समीक्षा करना उचित है। ज्ञानयोग की परिणति आत्मज्ञान मे है। विषण्णचित्त अर्जुन को कृष्ण ने साख्ययोग के माध्यम से आत्मतत्त्व का ही उपदेश दिया था। कहा है, जीव नित्य होता है, अग्नि उसे जला नही सकती, जल उसे आर्द्र नही कर सकता और वायु भी उसका कुछ नही बिगाड सकती है। आत्मा अव्यक्त और अविकारी होती है। वह जन्म और मृत्यु से परे होती है, शरीर के विनाश के साथ उसका विनाश नही होता। आत्मा का यह स्वरूप समझ पाते ही मनुष्य के सव दुख दूर हो जाते है।[4] अतएव आत्मज्ञान के उद्देश्य

---

१. कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ इत्यादि। भीष्म ४१।
६। भीष्म ३०।१६, १७। भीष्म २७।३३

२. यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ इत्यादि। भीष्म ३३।२७,२८

३. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ इत्यादि। भीष्म ४२।
६५, ६६

४. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ इत्यादि। भीष्म २६।२३-२५

से की गई साधना ज्ञानयोग की प्रथम सीढी है। ज्ञानयोग मे प्रतिष्ठित होने पर साधक ज्ञानयज्ञ का अधिकारी वन जाता है। द्रव्यमय दैवयज्ञ आदि की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होता है, क्योंकि सव यज्ञो का चरम लक्ष्य ज्ञान ही है, सवका अन्तर्भाव तत्त्वज्ञान मे जाकर होता है। ज्ञानयोग का हेतु कर्मयोग है।[१] आत्मज्ञान के लिये गुरु का उपदेश अत्यावश्यक है। अर्जुन ने भी पूर्णतया कृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करके, उनके चरणो मे रहते हुए परमज्ञान प्राप्त किया था।[२] तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के उपरात मनुष्य का मोह खत्म हो जाता है और वह सम्पूर्ण जगत का दर्शन अपनी आत्मा मे ही करके आत्मा-परमात्मा का अभेद अच्छी तरह समझ जाता है।[३] प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठस्तूप को भस्मराशि मे परिणत कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सव कर्मो को भस्म कर देती है अर्थात् प्रारव्ध कर्मफल को छोडकर दूसरे कृत कर्मो का शुभ या अशुभ फल ज्ञानी को नही भोगना पडता। निष्काम कर्मयोग भक्तियोग के समान होता है, उसका अनुष्टान किये विना तत्त्व-ज्ञान नही होता। एक वार तत्त्वज्ञान हो जाने पर ज्ञानी सदा के लिए मुक्त हो जाता है।[४]

ज्ञानयोग के अविकारी के सवध मे हम ऊपर यथेष्ट वता चुके हैं। अव उसके अनधिकारी के विषय मे भी कुछ कह देना अनुचित नही होगा। जो व्यक्ति आचार्यो के उपदेश पर ध्यान नही देता, उसे अगर किसी तरह ज्ञान हो भी जाय तो उसकी नीव दृढ नही होती, कालान्तर मे सशयालु हो जाने के कारण वह लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है और तव उसके दोनो लोक अधकारपूर्ण हो जाते हैं।[५] जो व्यक्ति अपना

---

१. श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञ· परन्तप।
सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ इत्यादि। भीष्म २८।३३-३९

२. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ इत्यादि। भीष्म २८।३४, ३। भीष्म २६।७

३. यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ इत्यादि। भीष्म २८।३५, ३६

४. यथैधासि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥ इत्यादि। भीष्म २८। ३७-३९

५. अज्ञाश्चाश्रद्दधानश्च सशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ भीष्म २८।४०

आत्मबोध केवल शरीर के सुख के लिये विनष्ट कर देता है उसका कोई कर्म ज्ञान का हेतु नही बनता।[1] गीता के प्राय सभी परवर्ती अध्यायो मे ज्ञानयोग की थोडी बहुत व्याख्या अवश्य हुई है। किसी-किसी भाष्यकार ने तो एकमात्र ज्ञान को मुक्ति का कारण बताया है और किसी किसी ने भक्ति को भी सहयोगी माना है। पहले गुरु के उपदेश पर और वाद मे भगवान पर पूर्णतया निर्भर न रहने से जब मुक्ति नही मिलती तो भक्ति को अलग किया जा सकता है कि नही, यह विवेचनीय विषय है। लेकिन गीता मे कर्मयोग को स्पष्टतया ज्ञानयोग का साधन बताया है।[2]

भक्तियोग—निष्काम कर्म द्वारा आत्मज्ञान होने पर भक्ति स्वत ही मन मे घर बना लेती है। जो योगी एकमात्र ज्ञानयोग की उपासना मे ही जीवन व्यतीत कर देता है, वह एक अनिवर्चनीय अपार्थिव आस्वाद से वचित रहता है। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है, "जो एकाग्रचित्त होकर श्रद्धासहित मेरी उपासना करता है, उसी को मैं सर्वश्रेष्ठ योगी मानता हूँ। जो सत्परायण व्यक्ति अनन्य भक्तिभाव सहित मुझे पूजता है उसे मैं जरामरण से मुक्त कर देता हूँ। सन्तुष्ट, अप्रमादी, सयतचित्त व दृढनिश्चयी भक्त मुझे परम प्रिय है। निस्पृह, निराकाक्षी, नि स्वार्थी, आरभपरित्यागी, समभावी, रागद्वेष हीन, स्थिरबुद्धि भक्त पर सदा मेरी कृपादृष्टि रहती है।[3] गीता के उपसहार मे श्रीकृष्ण ने कहा है—"विशुद्ध प्रज्ञा से उद्भासित व्यक्ति ब्रह्म मे अवस्थित होता है, उसे किसी भी वस्तु की आकाक्षा नही रह जाती। ऐसा समदर्शी ज्ञानी पुरुष सर्वभूत मे मेरे दर्शन करता है, यही परा-भक्ति है। इस पराभक्ति के प्रसाद से ही मनुष्य मेरे सच्चिदानन्द एव सर्वव्यापक स्वरूप को यथायथ जान पाता है। और अत मे वह परमप्रिय भक्त मेरे अन्दर समा जाता है।[4]

भक्तिभाव सहित एकमात्र उन पर निर्भर रहने के सिवाय जीव की कोई गति नही है, यह भी कृष्ण ने अर्जुन से कहा है। आगे कहते हैं—"जो मेरा आश्रय लेकर कार्य करता है, वह मेरे प्रसाद से शाश्वत अव्यय पद पर आसीन होता है। अतएव हे अर्जुन, तुम अपने समस्त कर्म मुझे अर्पित करके योग का आश्रय लेकर मेरा ध्यान

---

१. योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निवध्नन्ति धनञ्जय॥ भीष्म २८।४१

२. न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। भीष्म २८।३८

३. भीष्म ३६ वाँ अध्याय।

४. ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ इत्यादि। भीष्म ४२।५४, ५५

करो।"[1] एकाग्रचित्त होकर भगवान को आत्मसमर्पण किये विना कोई साधना सफल नही हो सकती, यही गीता का उपदेश है। सर्वभूत के अन्तर्यामी की शरण मे जाने से मनुष्य को शाश्वत पद मिलता है।[2] नित्यप्रति भक्तिसहित भगवान का भजन करने से आत्मा मे शुभ बुद्धि का उदय होता है।[3] गायत्रीमन्त्र का अर्थ भी यही है। जो हमे शुभ बुद्धि की प्रेरणा देते है, उनका भजन करना चाहिये, यही गायत्री का तात्पर्य है।

गीता मे वर्णित भक्तियोग की व्याख्या मे तीनो योगो मे भक्तियोग को सर्वोपरि स्थान दिया है। ज्ञान के वाद शुद्धा या परा भक्ति आती है और उसका चरम साध्य परमेश्वर है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल ज्ञान द्वारा ईश्वर की अनुभूति होने के सिद्धान्त का गीता अनुमोदन नही करती। 'भक्ति के विना मुक्ति नही है', यही गीता का गीत है।

गीता का दर्शन—यो तो गीता मे अद्वैत के समर्थक श्लोक भी मिलते हैं,[4] किन्तु यदि विना किसी भाष्यकार की ओर देखे नि पक्ष भाव से कहा जाय तो, गीता मे द्वैतवाद ही अधिक स्पष्ट है। किसी किसी का मत है कि गीता मे अद्वैतवाद के बीच मे द्वैतवाद का समर्थन किया है। जव आत्मा निष्काम कर्म द्वारा ज्ञानयोग मे उन्नीत हो जाती है तो भक्ति के प्रभाव से वह एक ऐसे स्थान पर पहुँच जाती है, जहाँ उसकी अपनी कोई इच्छा ही नही रह जाती। तव वह ईश्वर की इच्छा से अपनी इच्छा को पूर्णतया मिलाकर उन्ही के आदेश से कर्त्तव्य कर्म करती जाती है। इस प्रकार अद्वैत के अन्दर द्वैतभाव ही जीव की चरम उन्नति है।[5]

महाभारत मे और भी अनेक स्थानो पर द्वैतवाद सुस्पष्ट है। नमस्कार श्लोक मे ही नारायण एव नरोत्तम नर को प्रणाम करके ग्रथ का आरभ किया गया है। वद्रिकाश्रम मे नर-नारायण की तपस्या की चर्चा भी कई जगह हुई है, उसमे भी

---

१. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्त. सतत भव ॥ इत्यादि। भीष्म ४२।५७, ५८

२. तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परा शांति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ भीष्म ४२।६२

३. तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते ॥ भीष्म ३४।१०

४. वासुदेवः सर्वम्। इत्यादि। भीष्म ३१।१९। भीष्म ३३।२९। भीष्म ३४।८। भीष्म ३५।१३ भीष्म ३९।७

५. क्षितीन्द्रनाथ ठाकुर की गीता की भूमिका देखिये।

द्वैतवाद का आभास मिलता है। आदर्श-पुरुष नर, नारायण को पाने के लिये व्याकुल रहता है और नारायण भी नर अर्थात् समस्त जगत् के कल्याण के निमित्त तपस्या मे लीन है, फलस्वरूप नर घनिष्ठ आत्मीय व सखा के रूप मे नारायण के साथ मिलकर उनके ईप्सित मानवकल्याण मे सहायता पहुँचाता है। किन्तु वह स्वय कभी भी 'नारायण' नही बनता। नर और नारायण सदा से उपासक और उपास्य रूप मे ही रहे है। गीता मे कृष्ण अर्जुन से कहते है, "हे पार्थ, इस परम पुरुष को एकमात्र भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, यह सर्वभूत उसी मे अवस्थित है, वही सारे जगत् मे व्याप्त है।"[१] इस कथन से पता लगता है कि भूतजगत के ईश्वर मे अवस्थित होते हुए भी स्वय ईश्वर भूतजगत् मे विवर्त्तित या परिणत नही है। यह द्वैतभाव कृष्ण के और भी बहुत से कथनो मे परिस्फुट हुआ है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञविभागयोग मे कहा गया है कि, "पुरुष प्रकृति मे अवस्थित रहकर स्वाभाविक सुख दु ख का भोग करता है। ये गुण ही सद् असद् योनि मे जन्मग्रहण के हेतु होते है। इस शरीर मे ही एक और भी पुरुष प्रतिष्ठित है। वही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर एव परमात्म शब्दो मे कथित होता है। जो इस पुरुष और सगुण प्रकृति को जानते है, वे किसी भी प्रकार से जीवन-यापन करते हुए मुक्त हो सकते हैं। उसी पुरुष को समझने के लिये कोई ध्यानयोग कोई ज्ञानयोग, कोई साख्ययोग और कोई कर्मयोग का अवलम्बन लेता है।[२]

पद्रहवें अध्याय मे (पुरुषोत्तम योग) जीव और ईश्वर का द्वैतभाव अच्छी तरह समझाया गया है। भगवान कहते है—क्षर और अक्षर ये दो प्रकार के पुरुष प्रसिद्ध है। समस्त भूतशरीर क्षर मे सम्मिलित है और कूटस्थ पुरुष अर्थात् जीवात्मा अक्षर के नाम से विख्यात है। क्षर और अक्षर से जो भिन्न है, वही उत्तमपुरुष या परमात्मा कहलाता है। वह निर्विकार परमात्मा तीनो लोको का पालन करता है। मैं चूंकि क्षर का अतिक्रम कर चुका हूँ और अक्षर से उत्तम हूँ, इसलिये लोक और वेद मे पुरुषोत्तम के नाम से विख्यात हूँ।"[३] आगे कृष्ण का यह कथन

---

१. पुरुष. स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यथा।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ भीष्म ३२।२२

२. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारण गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। इत्यादि। भीष्म ३७।२१-२४

३. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ इत्यादि। भीष्म ३९। १६-१८

"शरीर को क्षेत्र कहते हैं और इस क्षेत्र को जाननेवाला क्षेत्रज्ञ (जीव) कहलाता है", जहाँ द्वैत का समर्थक है, वहाँ इसके तुरत वाद का—"हे अर्जुन, समस्त क्षेत्रो मे क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझना। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही प्रकृत ज्ञान है।"[1] यह कथन भ्राति पैदा करता है। इसी प्रकार गीता के दूसरे अध्याय मे जीव के जो लक्षण वताये हैं, उनसे अद्वैत का आभास तो मिलता है पर वह स्पष्ट नही है क्योकि उसके आगे ही कृष्ण कहते है—"मैं कभी नही था, तुम कभी नही थे या ये राजा कभी नही थे, यह सोचना गलत है और हम सव आगे फिर कभी नही होंगे यह भी सही नही है।"[2] इसमे तो साफ साफ आत्मा और परमात्मा की भिन्नता झलकती है। पुरुषोत्तम योग के आरभ मे परमपद या परमधाम की महिमा का वर्णन करने के साथ ही साथ भगवान का यह कथन "यह सनातन जीव मेरा ही अंश है"[3] सगत प्रतीत नही होता क्योकि उसी मे आगे परमात्मा को क्षर और अक्षर से भिन्न वताया है।[4] और फिर निराकार परमात्मा का अश हो भी कैसे सकता है? अश का तात्पर्य तो एक खड से होता है। इसलिये 'ममैवाश'[5] इत्यादि शब्दो की व्याख्या दूसरी तरह से करनी पडेगी। "अशो नानाव्यपदेशात्"—(२।३।४३) इस आशका से ब्रह्मसूत्र के भाष्य मे श्रीमद्शकराचार्य ने भी 'अश' शब्द का गौण अर्थ लिया है। उनके मतानुसार अश शब्द अशतुल्य के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। अतएव हमे भी गीता मे प्रयुक्त 'ममैवाश' के अश शब्द का अर्थ अशतुल्य ही लेना पडेगा, तभी उससे होने वाला अद्वैत का भ्रम दूर होकर द्वैत भाव स्पष्ट होगा। समस्त जीव परमात्मा के आदेश का पालन करते है, उसी की इच्छा के अनुसार जीव की इच्छा नियन्त्रित होती है अत जीव उसके अशतुल्य है। गुणत्रयविभागयोग के प्रारभ मे कृष्ण कहते है—"मैं तुम्हे सवसे उत्तम ज्ञान दे रहा हूँ। इस ज्ञान की उपलब्धि के वाद ही मुनिगण शरीर-वधन से मुक्त हुए हैं। जो इस ज्ञान का आश्रय लेता है, वह मेरे साधर्म्य को प्राप्त होकर सृष्टिकाल मे फिर से उत्पन्न भी नही होता

---

१. क्षेत्रज्ञश्चापि मा विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञान यत्तज् ज्ञानं मतं मम॥ भीष्म ३७।२

२. न त्वेवाहं जातु नास न त्व नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्याम. सर्वे वयमतः परम्॥
भीष्म २६।१२

३. ममैवाशो जीवलोके जीवभूतः सनातन॥ भीष्म ३९।२

४. उत्तम पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत.। भीष्म ३९।१७

५. भीष्म ३९।७

और प्रलयकाल मे व्यथित भी नही होता।"[1] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि जीव को परमात्मा का केवल साधर्म्य लाभ होता है, वह परमात्मा के साथ मिलकर एक नही होता।

उपर्युक्त समीक्षा से यही निष्कर्ष निकलता है कि गीता और महाभारत में विल्कुल स्पष्ट रूप से द्वैत या अद्वैत किसी एक का समर्थन नही हुआ है। यह विषय सदा से विवादास्पद रहा है। द्वैतवादी आचार्यो ने जिन कथनो की व्याख्या द्वैत के समर्थन मे की है, उन्ही की व्याख्या अद्वैतवादियो ने अद्वैत के पक्ष मे कर ली है, अत यह कहना कठिन है कि इन दोनो ग्रथो मे ग्रंथकार ने कौन सा दर्शन अपनाया है। हाँ, श्लोको की सरल व्याख्या से अवश्य द्वैतवाद स्पष्ट होता है।

जगत और ब्रह्म—जगत् यद्यपि ब्रह्म से भिन्न है, तथापि उसी से इसकी उत्पत्ति हुई है और उसी के सहारे यह विधृत है। कृष्ण अर्जुन से कहते है—हे पार्थ, तुम मुझे सर्वभूत का चिरतन वीज समझना। मै ही सबका प्रवर्त्तक हूँ। मैं ही सृष्टि का कर्त्ता और नियन्ता हूँ। प्रकृति मेरे ही अधिष्टान मे इस चराचर विश्व की सृष्टि करती है और मेरी अध्यक्षता मे ही यह जगत् नित्य नूतनता मे परिर्वातित होता है। मेरी अपेक्षा श्रेष्ठ कुछ और नही है। माला मे पिरोई मणियाँ जिस प्रकार सूत्र के आश्रित होती है, उसी प्रकार यह विश्व मेरे सहारे अवस्थित है।[2] भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, वुद्धि, और अहंकार ये मेरी आठ प्रकृतियाँ अपरा कहलाती है। जीवस्वरूप जो प्रकृति है वह इनकी अपेक्षा प्रकृष्ट और भिन्न है और उसी के आधार पर यह जगत टिका हुआ है। हे अर्जुन, समस्त भूतजगत की उत्पत्ति इस परा और अपरा प्रकृति से ही हुई हे। ये दोनो प्रकृतियाँ मुझसे ही प्रादुर्भूत हुई हैं, अत मैं ही निखिल जगत की सृष्टि और सहार का कारण हूँ।"[3] सर्वव्यापक वायु जिस प्रकार निरन्तर आकाश मे रहते हुए भी आकाश से लिप्त नही होती, उसी प्रकार चराचर विश्व भी ईश्वर मे विवृत है। परस्पर असश्लिष्ट

---

१. परं भूयं प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।। इत्यादि। भीष्म ३८।
१, २

२. वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। इत्यादि। भीष्म ३१।
१०, ७। भीष्म ३३।१०

३. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो वुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। इत्यादि।
भीष्म ३१।४-६

होते हुए भी आधार आधेय का भाव तो बना ही रहता है।[1] प्रलयकाल में समस्त जगत् ईश्वर की ही त्रिगुणात्मक माया मे विलीन हो जाता है और सृष्टिकाल मे पुन उन्ही से प्रादुर्भूत होता है। परमात्मा यद्यपि विश्वसृष्टि के विधायक हैं, तब भी विश्व इनको बंधन मे नही बाँध पाता, उनके सब कर्म अनासक्त, उदासीन व्यक्ति के समान होते हैं।[2] विभूतियोग मे कहा गया है कि भगवान ही विश्व के प्राण हैं, यह विश्व उनकी तुलना मे बहुत ही क्षुद्र है। ईश्वर को स्पष्टतया जगत का उपादानस्वरूप न मानकर निमित्तकारण माना है।

आत्मा व परमात्मा का संबध—भूतजगत यद्यपि परमात्मा मे विधृत है, तथापि आत्मा का सबध परमात्मा से निकटतर है। जगत के वह नियन्ता हैं, किंतु आत्मा के साथ उनका सबध अधिक मधुर है। पिता के साथ पुत्र का, मित्र के साथ मित्र का जो सम्पर्क होता है, वही परमात्मा के साथ आत्मा का होता है। विश्वरूपदर्शन मे अर्जुन प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"हे देव, मेरे अपराध सहन करो।"[3] आत्मा परमात्मा को घनिष्ठ रूप मे पाना चाहती है और इसीलिये उससे मिलने के लिये व्याकुल रहती है। इसी व्याकुलता की उत्पत्ति के बाद योगसाधना होती है।

मुक्ति—निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एव भक्तियोग की साधना से आत्मा निष्कलुष होकर चिरशाति का उपभोग करती है। तब उसके सब बन्धन छिन्न हो जाते हैं, कर्म, ज्ञान आदि उसे अज्ञान मे आबद्ध नही रहने देते। भगवत् प्रीति के उद्देश्य से किया गया कर्म ही साधक को मुक्ति का आस्वादन कराता है। गीता के मतानुसार भगवान का साधर्म्यलाभ एव भगवान के अन्दर वास करना ही मुक्ति या परमपद प्राप्ति है।[4] जिस व्यक्ति का मन साम्यभावी हो जाता है, उसे

---

१. यथाकाशस्थितो नित्यं वायु सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ भीष्म ३३।६

२. सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृर्ति यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ इत्यादि। भीष्म ३३।७।९

३. पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः, प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्। भीष्म ३५।४४

४. जन्मबंधविनिर्मुक्ता पदं गच्छन्त्यनामयम्। भीष्म २६।५१
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। भीष्म २८।१०
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति। भीष्म २९।६, १७, २०, २४, २९

इस लोक मे ही परम पद मिल जाता है, समदर्शी व्यक्ति ब्रह्म मे ही स्थित होता है। जब तक जीव मुक्त नही होता, पृथ्वी पर उसका आवागमन बना रहता है। किन्तु ब्रह्म की प्राप्ति के पश्चात् फिर जन्म ग्रहण नही करना पडता।[1] भगवान के आशीर्वाद के विना शाश्वत अव्यय पद प्राप्त करना जीव के लिये सभव नही है। परा भक्ति के द्वारा ही आत्मा परमात्मा से मिलकर मक्त होती है।[2]

---

१. इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ भीष्म २९।१९
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ भीष्म ३२।१६
२. मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययं॥ भीष्म ४२।५६-५८

पंचरात्र

पंचरात्र का परिचय——पचरात्र शास्त्र को भागवत शास्त्र, भक्तिमार्ग एव सात्वत दर्शन भी कहा जाता है। ब्रह्मपुराण (जन्म खड १३२वाँ अध्याय) मे पचरात्र शब्द का अर्थ बताया गया है। जिस शास्त्र मे सात्विक, नैर्गुण्य, सर्वतत्पर, राजसिक एव तामसिक इन पाँच प्रकार के रात्र या ज्ञान की समीक्षा हो, वह पचरात्र कहलाता है।[1] ईश्वर सहिता के इक्कीसवे अध्याय मे कहा गया है कि शाडिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक और भारद्वाज इन पाँचो ऋषियो ने दीर्घकाल तक वासुदेव की तपस्या की थी। तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवान वासुदेव ने अलग-अलग पाँचो को पाँच दिन तक मुक्ति-पथ का प्रदर्शन करने के लिये जिन शास्त्रो का उपदेश दिया था, वही पचरात्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। नारदीय पचरात्र मे कुल मिलाकर सात प्रस्थानो का उल्लेख किया गया है। यथा——ब्राह्म, शैव, कौमार, वाशिष्ठ, कापिल, गौतमीय और नारदीय। अन्यत्र वाशिष्ठ, नारदीय, कापिल, गौतमीय और सनत्कुमारीय इन पाँच पचरात्र प्रस्थानो का नाम मिलता है। नारद पचरात्र नामक एक तन्त्रशास्त्रीय ग्रथ भी है। अहिर्बुध्न्य सहिता, ईश्वर सहिता, कपिञ्जल सहिता, जयाख्य सहिता, पराशर सहिता पाद्मतन्त्र, सात्वत सहिता, विष्णु सहिता आदि पचरात्र ग्रथ तो मुद्रित भी हुए हैं। नारदीय सहिता, परम सहिता, अनिरुद्ध सहिता आदि हस्तलिखित ग्रथ भी भारत के विभिन्न स्थानो मे मिलते हैं। बडौदा के ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट से प्रकाशित जयाख्य सहिता की प्रस्तावना मे बहुत से ग्रथो की तालिका दी हुई है।

चतुर्व्यूहवाद——पचरात्र के मतानुसार वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न एव अनिरुद्ध ये चतुर्व्यूहवाद प्रचलित हैं। इनमे वासुदेव को जगत्कारिणीभूत विज्ञानरूप साक्षात् परमब्रह्म माना जाता है। वासुदेव से द्वितीय व्यूह सकर्षण सज्ञक जीव की, सकर्षण से तृतीय व्यूह प्रद्युम्नसज्ञक मन की और प्रद्युम्न से चतुर्थ व्यूह अनिरुद्ध नामक अहकार की उत्पत्ति मानी है। कहा है——सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये तीनो व्यूह भी भगवान वासुदेव की मायास्वरूप हैं और उनसे अभिन्न हैं। इसीलिये सकर्षण आदि को उन्ही का अवतार माना जाता है। सक्षेप मे यही सात्वत सिद्धान्त

---

१. वाचस्पत्य अभिधान ४१९३ वाँ पृष्ठ।

है।[1] सात्वत सहिता, पौष्कर सहिता, परम सहिता, शाण्डिल्यसूत्र आदि इस मत के प्रामाणिक ग्रथ कहलाते हैं।

पंचरात्र की प्रामाणिकता—ब्रह्मसूत्र मे दूसरे अध्याय के दूसरे पाद की समाप्ति पर शाकरभाष्य मे पचरात्रमत या भागवत् मत का तर्क द्वारा खडन किया गया है। शंकराचार्य ने कहा है कि जीव की उत्पत्ति मानने पर उसकी अनित्यता भी माननी पडेगी, जो श्रुतिविरुद्ध है। श्रुति के अनुसार जीव नित्य है। महर्षि व्यास ने भी "नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य." (ब्रह्मसूत्र २।३।१७) इस सूत्र मे जीव को नित्य बताया है। भागवत शास्त्र मे उल्लिखित है कि शाण्डिल्य को जब चतुर्वेद का अध्ययन करने के बाद भी श्रेय लाभ नही हुआ तो उन्होने सात्वतशास्त्र का अध्ययन किया। इस कथन मे वेद की निन्दा झलकती है, अत भागवत शास्त्र की उपर्युक्त कल्पना असगत प्रतीत होती है। ऐसे शास्त्र को प्रामाणिक नही माना जा सकता। भाष्यकार आचार्य रामानुज ने शकर के भाष्य मे दोष निकालकर युक्ति-प्रमाण की सहायता से पचरात्र का साधुत्व स्थापित किया है। रामानुजाचार्य ने महाभारत के आधार पर ही अपना मत दिया है। महाभारत मे कहा गया है कि सब पंचरात्र शास्त्रो के वेत्ता स्वयं भगवान हैं।[2] रामानुज भाष्य मे उद्धृत अश महाभारत का पाठान्तर है। उसमे कहा गया है कि भगवान् मात्र वेत्ता ही पचरात्र के वक्ता भी हैं। "पचरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायण स्वयम्।" नीलकठ ने अपनी टीका मे कहा है कि सब शास्त्रो की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये विशिष्ट कर्त्ता का नाम जोडकर शास्त्रो की प्रशसा की गई है।[3] साख्य, योग, पाचरात्र, वेद, पाशुपद आदि सभी शास्त्रो को ज्ञानस्वरूप बताया गया है।[4] पंचरात्र शास्त्र भी भगवत्प्रणीत है—यह कहने का तात्पर्य यही है कि अलौकिक पुरुष का सबध शास्त्र से जोडने पर उसकी प्रामाणिकता के विषय मे सशय नही रह सकता। साख्य और योग एक ही शास्त्र हैं। वेद और आरण्यक भी परस्पर भिन्न नही हैं; पच-

---

१. नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजंगमम्।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम्। इत्यादि। शांति ३३९।३२-४२
वासुदेव तदेतत्ते मयोद्गीतं यथातथम्॥ इत्यादि। भीष्म ६५।६९-७२

२. पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्। शांति ३४९।६८

३. प्रामाण्यसिद्धये विशिष्टकर्तृकत्वेन सर्वाणि स्तौति। नीलकंठ, शांति ३४९।६५-६८

४. सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥ शांति ३४९।६४

रात्ररूप भक्तिशास्त्र भी इन्ही के साथ सलग्न हैं अर्थात् भक्तिवाद को छोड देने से साधना अधूरी रह जाती है और सब शास्त्रो का चरम लक्ष्य मुक्तिलाभ ही है।[1]

पचरात्र का उद्देश्य—श्रुतिप्रधान, विचारप्रधान व भक्तिप्रधान सब शास्त्रो मे ईश्वर को चरम उपेय माना है। शास्त्रीय पद्धति के अनुसार विचार करने पर अवगत होता है कि प्रस्थान भेद दिखाने के निमित्त विभिन्न शास्त्रो मे विभिन्न प्रकार की व्याख्या तो अवश्य हुई है, परन्तु तत्वविश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र ईश्वर का तत्त्व निरूपण और मोक्ष का पथ-प्रदर्शन ही आस्तिक शास्त्रो का ध्येय है। समुद्र से प्रसृत जलराशि जिस प्रकार पुन समुद्र मे ही प्रवेश करके स्थिरता एव पूर्णता को प्राप्त होती है, उसी प्रकार निखिल ज्ञानराशि भी नारायण से उत्पन्न होकर उनके तत्त्वनिरूपण मे ही सार्थक होती है। यही सात्वतशास्त्र का मर्म है। नारद ने भी यही तत्त्व प्रकट किया है।[2]

वेदान्त भाष्यकार आचार्य रामानुज ने कहा है कि, साख्य मे कथित पच्चीस तत्त्वो, योगशास्त्र मे वर्णित साधन-प्रणाली एव वेदोक्त कर्मकाड की सत्यता मे किसी प्रकार का मतभेद नही है। उपर्युक्त शास्त्र एव आरण्यक शास्त्रो का प्रयोग वास्तव मे ब्रह्म का स्वरूप समझाने के लिये होता है। पचरात्र का वर्णनीय विषय भी यही सत्य है। शारीरिक सूत्र मे साख्य आदि शास्त्रो का अस्तित्व तो स्वीकृत हुआ है, किन्तु उनके तत्त्व की ब्रह्मात्मकता का निराकरण किया गया है। दूसरे शास्त्रो मे वर्णित वेदविरुद्ध वचनो का भी खडन हुआ है, लेकिन ब्रह्मतत्त्व का विरोध कही नही मिलता। इसीलिये महाभारत मे कहा गया है कि साख्य, योग, पचरात्र, वेद तथा पाशुपत शास्त्रो की साधुता के सबध मे एकमात्र आत्मा ही प्रमाण है अथवा आत्मविवेचन मे ही इनकी सर्वजनसिद्ध प्रामाणिकता है, अतएव तर्क द्वारा इन शास्त्रो को 'न स्यात्' नही करना चाहिये। महाभारत के बगीय सस्करण मे उक्त कथन के तृतीय और चतुर्थ चरण का रूप भिन्न है। उनका तात्पर्य यह है

---

१. एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।
परस्परागान्येतानि पाचरात्रञ्च कथ्यते॥ शांति ३४८।८१

२. सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते।
यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायण. प्रभुः॥ इत्यादि। शाति ३४९।
६८-७०

यथा समुद्रात् प्रसृता जलौघास्तमेव राजन् पुनराविशन्ति। शाति ३४९।
८३-८५

कि ये सब शास्त्र ज्ञान के हेतु है, शास्त्र तो नाना प्रकार के है पर उनमे वर्णित तत्त्व-ज्ञान एक ही है। अत सब शास्त्र ही प्रामाणिक है।[१]

पंचरात्र की उपादेयता—मोक्षधर्म के ३३५वे अध्याय मे पचरात्र शास्त्र की प्रक्रिया एव प्रतिपाद्य विषय विशद रूप से वर्णित हुआ है। कहा है—पचरात्रविद भगवद्भक्तो के चरण जिस घर मे पडते हैं, वह घर पवित्र हो जाता है।[२] पचरात्र शास्त्र चतुर्वेद के समान है। मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ इन सातो ऋषियो एव स्वायभुव पचरात्र शास्त्र के प्रणेता हुए है।[३] नारायण की आज्ञा से जगत् के हित के निमित्त देवी सरस्वती ने तपस्वी ऋषियो के अन्तर मे प्रवेश करके उनसे पचरात्र की रचना कराई।[४] मोक्षधर्म के नारायणीय अध्यायो मे बहुत से भागवत् तत्त्वो की व्याख्या की गई है जो सात्वतदर्शन के ही अतर्गत आते है। विश्वोपाख्यान मे कहा गया है कि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव साधुचरित्र शूद्र अपने-अपने कर्म द्वारा सात्वतविधि के अनुसार द्वापरयुग के अत मे और कलियुग के प्रारम्भ मे वासुदेव की पूजा करेगे।[५] महाभारत मे तो कही भी पचरात्र को अवैदिक नही बताया है, किंतु नीलकठ ने अपनी टीका मे पचरात्र के सिद्धान्त को वैदिक नही माना है।[६] नीलकठ ने आगे यह भी कहा है कि "यद्यपि पचरात्र की वर्णनपद्धति वैदिक शास्त्रो की वर्णन पद्धति से नही मिलती, तथापि चरम सिद्धान्त तो सबका ही एक है। नारायण ही सर्वव्यापी है, सब तत्त्वो के सार हैं, और अनादि अनन्त स्वरूप है, इस सबध मे किसी प्रकार का मतभेद नही है।"[७]

---

१. सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै।। शांति ३४९।६४
(आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः।। रामानुजसम्मत पाठ)

२. पंचरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः।
प्रायाणं भगवत्प्रोक्त भुञ्जते वाग्रभोजनम्।। शान्ति ३३५।२५

३. वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ। इत्यादि। शांति ३३५।२८-३२

४. नारायणानुशिष्टा हि तदा देवी सरस्वती।
विवेश तानृषीन् सर्वान् लोकानां हितकाम्यया।। इत्यादि। शांति ३३५।३५–३८

५. वासुदेव इति ज्ञेयो यन्मां पृच्छसि भारत। इत्यादि। भीष्म ६६। ३८–४०

६. पाचरात्रमतस्यावैदिकस्य। इत्यादि। नीलकंठ शांति ३७१।२२
पांचरात्रशास्त्रस्य पुम्प्रणीतत्त्व वेदविरुद्धत्वञ्च सूचितम्। नीलकंठ शाति ३४९।७३

७. तथापि अवान्तरतात्पर्यभेदेऽपि परमतात्पर्यं त्वेकमेव। नीलकंठ। ३४९।७३

साख्य, योग, पचरात्र, वेद, आरण्यक आदि शास्त्र एक ही परम पुरुष के माहात्म्य वर्णन के उद्देश्य से लिखे गये हैं। सब आस्तिक शास्त्रो का चरम प्रतिपाद्य वही परम पुरुष है। जो भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुए एकाग्र चित्त से उपासना मे रत रहते हैं, वह नारायण के साथ मिलकर एक हो जाते हैं।[1] भगवत आराधना के बिना चित्त एकाग्र नही हो सकता और चित्त के एकाग्र न होने तक बुद्धि परमेश्वर की ओर नही लग सकती। चचला बुद्धि साधक को पथभ्रष्ट करती है। परमतत्त्व को जानने के लिये भक्तिमार्ग का अवलम्बन अत्यन्त आवश्यक है, मात्र ज्ञान के द्वारा उसे प्राप्त नही किया जा सकता। इसीलिये भक्तिमार्ग के श्रेष्ठ शास्त्र पचरात्र को इतना आदर दिया जाता है।[2]

---

१. पंचरात्रविदो ये तु यथाक्रमपरा नृप।
एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै॥ शांति ३४९।७२, १, २

२. भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। भीष्म ४२।५५
स्माद्भक्तौ कृत्स्नस्य शास्त्रफलस्यान्तर्भावोऽस्ति। नीलकठ, शाति ३५१।२२

अवैदिक मत

पूर्वपक्ष के रूप मे अथवा प्रसगवश तो महाभारत मे कही-कही अवैदिक मत का थोडा बहुत उल्लेख मिलता है, किंतु विशेष रूप से उसकी समीक्षा नही की गई है।

लोकायत एवं चार्वाक—मृत्यु के समय दुर्योधन ने विलाप करते हुए चार्वाक नामक एक मित्र का नाम लेकर कहा था—"वाक्विशारद, परिव्राजक मित्र चार्वाक युद्ध मे इस प्रकार मेरी मृत्यु का सवाद सुनकर अवश्य ही प्रतीकार करेगा।"[१] नीलकठ ने अपनी टीका मे कहा है—चार्वाक ब्राह्मण वेशधारी एक राक्षस का नाम था।[२]

युद्ध समाप्त होने पर जब युधिष्ठिर पुन. सिहासन पर बैठे तो वहाँ उपस्थित ब्राह्मणो ने आशीर्वाद देकर उनके कल्याण की कामना की। पुण्याहवाचन से जिस समय गगन मुखरित हो रहा था उसी समय एक भिक्षु वेशधारी ब्राह्मण ने स्वयं को ब्राह्मणो का प्रतिनिधि बताकर असंख्य जाति-बाधवो का नाश करने के हेतु युधिष्ठिर को बहुत धिक्कारा। उसके वाक्यवाणो से व्यथित होकर युधिष्ठिर ने समागत ब्राह्मणो से कातरस्वर मे क्षमा माँगी। उस भिक्षुक ब्राह्मण के इस अशिष्ट व्यवहार से लज्जित होकर अन्य ब्राह्मण बोले—"महाराज, यह व्यक्ति हमारा प्रतिनिधि नही है; इसने जो कुछ कहा है, वह हमारे द्वारा अनुमोदित नही है।" यह कहकर तपोनिष्ठ ब्राह्मणो ने ध्यान-नेत्र से इस ब्राह्मण का स्वरूप देखा और बोले—"राजन्, यह दुर्योधन का मित्र चार्वाक राक्षस है जो परिव्राजक के वेष मे दुर्योधन के प्रियकार्यों का सम्पादन करने के उद्देश्य से भ्रमण करता फिरता है।" इसके बाद उन क्रुद्ध ब्राह्मणो ने अपने तेज के प्रभाव से उस भिक्षुक को भस्म कर दिया।[३] इस उपाख्यान के 'चार्वाक' नाम मे किसी प्रकार की व्यजना है या नही, तथा वेदवित् तपोनिष्ठ ब्राह्मणो ने उसकी हत्या की, इस कथन मे चार्वाक मत के खण्डन का आभास है क्या; यह विवेचनीय है। जनकवशी राजा की राज्यसभा

---

१. यदि जानाति चार्वाकः परिव्राड् वाग्विशारदः।
करिष्यति महाभागो ध्रुवं सोऽपचितिं मम॥ शल्य ६४।३२

२. चार्वाको ब्राह्मण वेषधारी राक्षसः। नीलकंठ

३. शांति ३८वाँ अध्याय।

उन दिनो शास्त्रचर्चा का एक वृहत् केन्द्र थी। शत-शत आचार्य वहाँ रहकर ज्ञान-विज्ञान की किरणो से सम्पूर्ण देश को प्रकाशित करते थे। राजर्षि की राज्य-सभा मे प्राय आस्तिक एव नास्तिक दर्शन के महापडितो मे शास्त्रार्थ होता रहता था। नास्तिक मत का खडन करने मे लब्धप्रतिष्ठ शास्त्रज्ञो को विशेष सम्मान दिया जाता था।[1]

लोकायत दर्शन के पडितो मे वहुत से सिद्धान्त प्रचलित है। कोई कहता है, शरीर के नाश के साथ ही आत्मा भी नष्ट हो जाती है, तो कोई शरीर को ही अविनश्वर मानता है। कुछ पडित शरीर से अलग आत्मा का अस्तित्व ही नही मानते।[2] कहा है—पार्थिव, वायवीय, तैजस एव जलीय परमाणु एक साथ मिलकर शरीर-रूप मे प्रकट होते है। इनके एकत्र होने पर सुरा की मादकता की तरह शरीर मे चैतन्य का आविर्माव होता है। वह चैतन्य स्वाभाविक नियमानुसार शरीर मे ही प्रादुर्भूत होता है, घट आदि जड पदार्थों मे उसकी उत्पत्ति नही होती। देहरूप आत्मा का विनाश होने पर भी आत्मा नामक दूसरे पदार्थ का अस्तित्व जिस आगम मे स्वीकृत है, वह आगम प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक है।[3] लोकायत-दर्शन मे प्रत्यक्ष को ही प्रामाणिक माना गया है। प्रत्यक्ष से अगोचर किसी भी वस्तु की सत्ता स्वीकृत करना उनके मत के विरुद्ध है। क्लेश, दु ख, जरा, व्याधि आदि को ही मृत्यु की क्षुद्र अवस्थाएँ माना गया है। इन्द्रिय वगैरह के विनाश से शरीर की जो हानि होती है, वह भी आशिक मृत्य कहलाती है। लोकायत दर्शन-शास्त्री कहते है—आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? अग्निहोत्र आदि श्रुति की प्रामाणिकता प्रत्यक्ष विरुद्ध है एव उसमे श्रद्धा रखना एक श्रेणी के लोगो की स्वार्थपरता है अत श्रुति सर्वथा अप्रमाणिक है।[4]

---

१. तस्य स्म शतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे।
दर्शयन्त. पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिन.।। शाति २१८।४। नीलकठ देखिये

२. स तेषा प्रेत्यभावे च प्रत्यजातौ विनिश्चये।
आगमस्थः सभूयिष्ठमात्मतत्त्वेन तुष्यति।। शान्ति २१८।५

३. दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके।
आगमात् परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः।। शाति २१८।२४, २५

४. अनात्मा ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृतुर्जरामयः।
आत्मान मन्यते मोहात्तदसम्यक् पर मतम्।। इत्यादि। शाति २१८। २४, २५

दूसरे दार्शनिको द्वारा स्वीकृत अनुमान आदि के मूल मे जो प्रत्यक्ष है, उसे तो मानना ही पडेगा, फिर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को क्यो माना जाय।[1]

ईश्वर, अदृष्ट आदि पदार्थो को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ है। शरीर से शरीर की सृष्टि होती है, यही प्रत्यक्ष सिद्ध है। दूसरे अदृश्य पदार्थों को सिद्ध करने मे पाडित्य का प्रदर्शन करना केवल ढोग है।[2] शरीर से जीव पृथक् है, इसका खडन करने के लिये चार्वाकदर्शन मे कहा गया है कि सम्भावित वृहत् वटवृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि जिस प्रकार प्रच्छन्न रूप से बीज मे ही निहित होते है, उसी प्रकार शरीर के कारणभूत शुक्रबीज मे ही मन, बुद्धि, अहकार, चित्त, शरीर की आकृति आदि वस्तुएँ प्रच्छन्न रहती है, यथासमय स्वत ही उनका आविर्भाव हो जाता है। गाय घास खाती है, किन्तु उसकी परिणति दुग्ध रूप मे होती है। तडुल, गुड आदि नाना द्रव्यो का कल्क जिस प्रकार दो तीन दिन रक्खा रहे तो उसमे मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार नानागुणविशिष्ट शुक्र से अथवा चतुर्भूत संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। चुम्बक जिस प्रकार लोहे को सचालित करता है, उसी प्रकार उत्पन्न चैतन्य इन्द्रियो को उनके विषय-ग्रहण मे नियुक्त रखता है। जैसे सूर्यकात मणि का सयोग सूर्यरश्मि से होने पर ही अग्नि की उत्पत्ति होती है, मिट्टी या जल के साथ सयोग होने पर नही होती, ठीक उसी तरह पार्थिव आदि असगत भेद से ही प्रत्येक इन्द्रिय का ग्राह्य विपय भिन्न हो जाता है। घ्राणेन्द्रिय के साथ किसी चीज का सयोग होने पर गध, चक्षु इन्द्रिय के साथ सयोग होने पर रूप गृहीत होगा। इस प्रकार हर इन्द्रिय का ग्राह्य विषय भिन्न हो जाता है। भोग्य वस्तुओ के भोग के लिये शरीर के अलावा जीव की भी स्वीकृति आवश्यक नही है। अग्नि मे जैसे जलशोषक-तत्त्व गुण स्वत ही वर्तमान होता है, वैसे ही भूतसघात या शरीर मे भोक्तृत्व गुण सदा रहता है।[3]

वनवास के समय द्रोपदी ने दु ख प्रकट करते हुए युधिष्ठिर से जो बाते कही

---

१. प्रत्यक्षं ह्येतयोमूलं कृतान्तैतिह्ययोरपि।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वा न किञ्चन॥ शांति २१८।२७

२. यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपि च॥
चान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकाना मते स्थितः॥ शांति २१८।२८

३. रेतो वटकणीकायां घृतपाकाधिवासनम्।
जातिः स्मृतिरयस्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभक्षणम्॥ शान्ति २१८।२९।
(नीलकंठ टीका)

अद्यूर्ध्वं देहाद्वदन्त्येके नैतदस्तीति चापरे। अश्व ४९।२

हैं, उनमे भी चार्वाकदर्शन का आभास मिलता है। भगवान के पक्षपात आदि के संबध मे द्रौपदी ने बहुत कुछ कहा है।[1] द्रौपदी की बातें सुनकर युधिष्ठिर बोले—"तुम्हारे वचन ऐसे तो सुनने मे बहुत ही मधुर एव शोभनीय हैं, परन्तु उनसे नास्तिकता प्रकट होती है।"[2] लोकायत दर्शन को मानने वाले पाप और पुण्य नही मानते। "जब तक पृथ्वी पर रहो, आनन्द से रहो", यही उनका सिद्धान्त है।[3] किन्तु महाभारत मे नास्तिको का नरकभोग निश्चित बताकर बडी निपुणता के साथ लोकायत, चार्वाक आदि दर्शनो का निराकरण किया गया है।[4]

सौगत आदि मत—सौगत मत के कुछ सिद्धान्तो की आलोचना भी 'पाखण्ड-खडन' नामक अध्याय मे हुई है। सौगत मतावलम्बी रूप, विज्ञान, वेदना, सज्ञा और सस्कार ये पाँच स्कध मानते है। इन पाँचो की स्वीकृति मे ही उनके ऐहिक और पारत्रिक सब व्यवहार प्रतिपादित हो जाते हैं। नित्य-चैतन्य नामक किसी पदार्थ को ये भी नही मानते। पाँच स्कध और चित्त का आधार, इस तरह ये शरीर को षडायतन कहते हैं। बौद्ध मत मे अज्ञान, सस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुख और दुर्मनस्ता—ये अठारह पदार्थ कही सक्षेप मे तो कही विस्तार मे विवेचित हुए हैं। इनमे पूर्व-पूर्व के पदार्थ पर-पर पदार्थ के निमित्त माने गये हैं। कोई कोई सौगत अज्ञान आदि पदार्थो को देहातर प्राप्ति का कारण बताता है। अज्ञान के नष्ट होने पर देह या सत्त्व का नष्ट होना ही उनके मतानुसार मोक्ष है।[5] शून्यवादी बौद्ध शून्य को जगत् का कारण बताते हैं।[6]

बौद्ध सन्यासियो को क्षपणक कहा जाता था। नीलकठ ने कहा है, क्षपणक

---

१. न मातृपितृवद् राजन् धाता भूतेषु वर्त्तते।
रोषादिव प्रवृत्तोऽयं यथायमितरे जनः॥ इत्यादि। वन ३०।३८-४३

२. वल्गु चित्रपद श्लक्ष्णं याज्ञसेनि त्वया वचः।
उक्तं तच्छ्रुतनस्माभिर्नास्तिक्यन्तु प्रभाषसे॥ वन ३१।१

३. पुण्येन यशसा चान्ये नैतदस्तीति चापरे। अश्व ४९।९

४. हिंसापराश्च ये केचिद् ये च नास्तिकवृत्तयः।
लोभमोहसमायुक्तास्ते वै निरयगामिनः॥ अश्व ५०।४

५. अविद्या कर्मतृष्णा च केचिदाहुः पुनर्भवे।
कारण लोभमोहौ तु दोषाणान्तु निषेवणम्॥ इत्यादि। शाति २१८।
३२-३५ नीलकंठ देखिये।

६. नास्त्यस्तीत्यपि चापरे। इत्यादि। अश्व ४९।३। वन १३४।८

शब्द का अर्थ पाखडी भिक्षु है।[1] उस काल मे पाखण्ड शब्द वेदनिन्दक नास्तिक के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता था। मार्कण्डेय सभास्यापर्व मे उल्लिखित है कि कलियुग मे बहुत से लोग एड्रूक की पूजा करेगे। जिस स्तभ या भित्ति के अन्दर मृत व्यक्ति की अस्थियाँ रखी जाती हैं उसे एड्रूक कहते हैं। अस्थि या भस्मस्थापन बौद्धधर्म प्रवर्त्तित है जो किसी भी वैदिक शास्त्र मे नही मिलता। महाभारत मे भी इसकी निन्दा की गई है।[2] बौद्ध मतानुसार वर्ण या आश्रमव्यवस्था द्वारा किसी धर्म का पालन नही होता। स्तम्भ आदि का पूजन एव चैत्यवन्दना को ही वे धर्म के वाह्य अग मानते है।[3]

महाभारत मे पशुहनन के द्वारा जो यज्ञ निष्पन्न होते हैं. उनकी कठोरता के साथ निन्दा की गई है। इस पर बौद्धधर्म का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, क्योकि वैदिक शास्त्रो मे यद्यपि हिंसा की निन्दा हुई है, तथापि वैध हिंसा की तो प्रशसा ही की गयी है। यज्ञ मे की गई हिंसा वैदिक मतानुसार वैध हिंसा मानी गई है।[4] वैध हिंसा को भी 'क्षत्रयज्ञ' कहा गया है। जिन अध्यायो मे 'क्षत्रयज्ञ' की निन्दा हुई है उन पर जिस प्रकार बौद्ध प्रभाव होने की कल्पना की जा सकती है, उसी प्रकार यौगिक आत्मयज्ञ रूप तपस्या को श्रेष्ठ बताने के उद्देश्य से उन्हे सार्थक कहना भी असगत नही है। क्योकि बहिरग यागयज्ञ की निन्दा करने के बाद कहा गया है—आत्मा ही यज्ञभूमि है, उसका तत्त्वानुशीलन ही महायज्ञ है, स्थानविशेष मे यज्ञानुष्ठान का कोई मूल्य नही है।[5]

याज्ञिक का वृथा मास खाना भी प्रशसनीय नही माना गया है, क्योकि अहिंसा का उत्तम आदर्श तो मास बिलकुल न खाना ही है।[6] उक्त कथन भी बौद्ध प्रभावित है, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता; क्योकि वैदिक शास्त्रो मे भी मास-भक्षण अच्छा नही बताया है। धर्म के नाम पर सुरा, मधु, माँस, मत्स्य आदि का

---

१. सोऽपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तम्। आदि ३।१२६

२. एड्कान् पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः। इत्यादि। वन १९०।६५-६७

३. आश्रमास्तात चत्वारो यथा संकल्पिताः पृथक्।
तान् सर्वाननुपश्य त्वं समश्रित्येति गालव॥ शांति २८७।१२ (नीलकंठ)

४. शान्ति २७१ वाँ अध्याय।
पशुयज्ञै कथं हिंसैर्मादृशो यष्टुमर्हति। इत्यादि। शांति २७६।३२, ३३

५. जाजले तीर्थमात्मैव मास्म्य देशातिथिर्भव। शांति २६२।४१

६. यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथामासं न खादन्ति नैष धर्म प्रशस्यते॥ शांति २६४।८

व्यवहार करने को बुरा कहा है।[1] महाभारत मे इस प्रकार के उदाहरण देखकर कुछ लोग कहते हैं कि महाभारत शाक्यसिंह बुद्ध का परवर्ती ग्रथ है। किन्तु इस मन्तव्य के मूल मे भी कोई दृढ युक्ति नही है। शाक्यसिंह के जन्म से दो हजार वर्ष पहले भी बौद्धधर्म प्रचलित था। शाक्यसिंह इस धर्म के आदि प्रवर्त्तक नही थे, वे तो इस मत के परवर्ती अन्यतम साधक एव प्रचारक मात्र थे, वैदिक ग्रथो मे भी अहिंसा आदि की यथेष्ट प्रशसा की गई है। मात्र 'अहिंसा' शब्द देखकर बौद्धधर्म से तात्पर्य समझना उचित नही है।

अश्वमेधपर्व के गुरु-शिष्य सवाद मे सन्दिहान ऋषियो ने उस काल मे प्रचलित विभिन्न मतो के सबध मे ब्रह्मा से एक प्रश्न पूछा है—"भगवान, धर्म की गति विचित्र है, हम किस मत को मानकर चलें ? एक सम्प्रदायी कहते हैं, शरीर के नाश के बाद भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, लेकिन लोकायत मतवादी इस बात को नही मानते। सप्तभगीनयवादी जैन धर्मावलम्बी हर वस्तु को सदिग्ध बताते हैं तो तैर्थिक सम्प्रदायी हर वस्तु को नि सशय अर्थात्, पृथक् रूप मे अवस्थित मानते हैं। तार्किकवादी अधिकाश वस्तुओ की सृष्टि और विनाश मे विश्वास रखते है, और इसके विपरीत मीमासक जगत्प्रवाह की नित्यता स्थापित करने में जुटे हुए हैं। शून्यवादी बौद्ध शून्यवाद का समर्थन करते हैं तो सौगत वस्तुमात्र को ही क्षणिक मानते है। कुछ लोग कहते है कि विज्ञान ही ज्ञेय और ज्ञातृरूप मे विभक्त है और कुछ लोग सब वस्तुओ को परस्पर भिन्न बताते हैं। कुछ आचार्य ब्रह्म के अलावा किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नही करते तो कुछ पडित असाधारण कर्म को ही कारण रूप मे ग्रहण करते हैं। किसी सम्प्रदाय मे देश और काल का सर्वकारणत्व स्वीकृत हुआ है, लेकिन दूसरा सम्प्रदाय ऐसा भी है जो दृश्यमान जगत को स्वप्न-जाल की तरह मिथ्या मानता है। आचार व्यवहार मे भी बहुत विभिन्नता है—कोई जटा व अजिन धारण करता है तो कोई सिर घुटवा कर घूमता है। कोई नग्नता का ही पक्षपाती है। किसी सम्प्रदाय मे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को महत्त्व दिया गया है तो किसी मे गार्हस्थधर्म को श्रेष्ठ बताया है। किसी धर्म के अनुयायी उपवास आदि द्वारा शरीर के पीडन को धर्म मानते हैं, तो दूसरे धर्मावलम्बी इसके विरोधी हैं। एक सम्प्रदाय कर्मलिप्तता का पक्षपाती है, इसके विपरीत दूसरा सम्प्रदाय सन्यास को श्रेष्ठ मानता है। कुछ लोग मोक्ष को चरम पुरुषार्थ कहते हैं तो कुछ लोग भोग को ही सब प्रकार के सुखो का हेतु बताते हैं। एक अकिंचनता का पक्ष-

---

१. सुरां मत्स्यान्मधु मांसमासवकृसरौदनम्।
धूर्त्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्॥ शान्ति २६९।९

पाती है तो दूसरा अर्थ को ही मोक्ष के आसन पर आसीन करता है। कुछ पडित वैदिक हिंसा मे दोष नही मानते, लेकिन कुछ पडित इस प्रकार की हिंसा की भी निंदा करते हैं। कोई पुण्यजनक कर्म करने मे व्यस्त हैं, इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदायी पुण्य का अस्तित्व ही नही स्वीकार करते। कोई यज्ञ की प्रशसा करता है तो कोई तपस्या की। कोई ज्ञान को श्रेष्ठ बताता है तो कोई सन्यास को।[१]

उस काल मे साधना व दार्शनिक सिद्धान्तो को लेकर जो भिन्न मत प्रचलित थे, उनके बारे मे एक साधारण सी धारणा उपर्युक्त अश से लगाई जा सकती है। महाभारत के परवर्ती अध्यायो मे नास्तिकवाद का खंडन करके आस्तिक मतवादो मे सामञ्जस्य स्थापित किया गया है।

महाभारत विशाल समद्र की तरह एक ऐसा वृहत् ग्रंथ है, जिसकी गहराई तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। इस ग्रंथ को लेकर अनेको ग्रथो की रचना की जा सकती है। अब तक इसकी आलोचना मे न जाने कितने ग्रंथ हर भाषा मे लिखे जा चुके हैं और आगे भी लिखे जाते रहेगे, किंनु विवाद न तो खत्म हुआ और न होगा; क्योकि हर आलोचक इस ग्रंथ को अपनी दृष्टि से देखता है और अपने समर्थन के लिए थोडे बहुत श्लोक खोज ही लेता है।

हमने यद्यपि निष्पक्ष आलोचना का प्रयत्न किया है, तथापि कही कोई त्रुटि हो गई हो तो पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

---

१. अश्व ४९ वाँ अध्याय।